भगवत्पतञ्जलि-विरचित

व्याकरण महाभाष्य

(प्रथम नवाह्निक)

अनुवादक

चारुदेव शास्त्री

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास

भगवत्पतञ्जलि-विरचित

व्याकरण-महाभाष्य

भगवत्पतञ्जलि-विरचित

व्याकरण-महाभाष्य

(प्रथम नवाह्निक)

हिन्दी अनुवाद तथा विवरण

अनुवादक व विवरणकार

श्री गान्धिचरितम्, अनुवाद कला, उपसर्गार्थ-चन्द्रिका, प्रस्तावतरङ्गिणी,
वाक्यमुक्तावली, व्याकरणचन्द्रोदय, शब्दापशब्दविवेकः
आदि ग्रन्थों के निर्माता तथा वाक्यपदीय के परिष्कर्ता

चारुदेव शास्त्री

एम.ए., एम.ओ.एल.

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास

प्रथम संस्करण : दिल्ली, १९६८
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९८४, १९८८, १९९५

बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
१२० रॉयपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
१६ सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु० MLBD 195/- ...द)
...द)

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज़-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

नमो भगवते पतञ्जलये। नमो गुरुभ्यः।

प्रकृतकृतिविषयक किञ्चिद्वक्तव्य

महाभाष्य के प्रथम आह्निकत्रय का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मैंने लिखा था—

'यह अनुवाद किस लिये हुआ है। इस लिये नहीं कि महाभाष्य की भाषा क्लिष्ट है, दूर व्यवहित अन्वय आदि के कारण दुर्बोध है। भाषा इतनी सरल, सुन्दर तथा मधुर है जितनी कि कभी हो सकती है। वस्तुतः इतने प्रसाद और माधुर्यभरे कुछेक ही ग्रन्थ समस्त संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। जैसे मीमांसा शाबर भाष्य, शाङ्कर ब्रह्मसूत्र भाष्य, अथवा उपनिषदों के संवाद-स्थल। तो प्रश्न होता है कि फिर इस हिन्दी अनुवाद की क्या आवश्यकता थी? उत्तर में यही कहना होगा कि भाष्याशय अति गम्भीर है जो अप्रौढावस्थ सुकुमारमति छात्रों के लिये प्रायः अगम्य है। प्राचीन विवरणकारा कैयट आदि महाविद्वानों के संस्कृत में किये हुए व्याख्यान निश्चय ही आजकल अधिक जटिल प्रतीत होने लगे हैं, विशेषकर उद्द्योतकार नागेश की उक्तियाँ दुरूह तथा व्यामोहक प्रतीत होती हैं। भाष्य के विषय में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में कितना यथार्थ वचन कहा है—

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः॥

अर्थात् भाष्य में जहां अथाह गहराई है वहाँ रचना-सौन्दर्य के कारण अत्यन्त प्राञ्जलता है। इत्थम्भूत भाष्य में असंस्कृत (अपरिपक्व) बुद्धिवालों को भाष्य के आशय का निश्चित ज्ञान न हो सका। यदि भर्तृहरि के समय में तथा उससे पूर्व ऐसी अवस्था थी तो आज यदि भाष्याशय की दुर्बोधता की अनुभूति हो तो क्या आश्चर्य है। अतः हम ने भाषान्तर करते हुए सर्वत्र भाष्याशय को स्पष्ट करने का यत्न किया है। स्थान-स्थान पर भाष्य के पौर्वापर्य की संगति दिखाने के लिये तथा भाष्यकार के अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये सुविस्तृत टिप्पण दिये हैं। व्याख्येय पदों का अर्थ निर्देश तथा विग्रह आदि भी दिया है। इसी से इस कृति की कृतार्थता है, अन्यथा भाषान्तर मात्र व्यर्थ-सा होता। मुझे पूर्ण आशा है, भाष्य-मर्मज्ञ विद्वान् इस का आदर करेंगे और भाष्यार्थ जिज्ञासु संस्कृत छात्र इसे रुचि से पढ़ कर लाभ उठायेंगे।'

यह मेरी आशा पूर्ण रूप से समृद्ध हुई। विशेषज्ञ विद्वानों ने इस कृति का सविशेष समादर किया। छात्रवर्ग में इस का प्रचुर प्रचार हुआ। इस से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं इस अनुवादकार्य को आगे बढ़ाऊँ। प्रकाशक

महोदय श्रेष्ठी श्री सुन्दरलाल जी से पर्याप्त प्रवर्तना प्राप्त हुई जिस से पराङ्मुख रहना मेरे लिये दुष्कर हो गया। सो मैंने आगे बढ़ने का निश्चय किया और अगले छः आह्निकों पर कार्य प्रारम्भ किया। कार्यान्तर व्यासङ्ग के कारण यह कार्य ४ वर्ष के पश्चात् सन् १९६६ में समाप्त हुआ। दो वर्ष इस के मुद्रण में लगे। प्रथम तीन आह्निकों का फिर से पर्याप्त परिष्करण किया गया। भाव-प्रदर्शनार्थ अनेक नये टिप्पण दिये गये। अगले छः आह्निकों की सप्रपञ्च विशद व्याख्या की गई। विस्तीर्णता का इतने से अनुमान हो सकता है कि नौ आह्निकों की यह व्याख्या $\frac{१८×२२}{८}$ परिमाण के ७४३ पृष्ठों में परिपूर्ण हुई है। जहाँ भाष्यस्थ पद-वाक्यों का यथेष्ट विशकलन किया है वहाँ कैयट तथा नागेश की उक्तियों का भी परिस्फुट विवेचन किया है। यथासंभव कोई भी सन्दिग्ध स्थल व्याख्यानास्पृष्ट नहीं छोड़ा है।

मुझे महान् परितोष है कि मुद्रण अतिसुन्दर तथा परिशुद्ध हुआ है। पाठक जन इसे अत्यन्त रोचक पायेंगे।

मुद्रित पाठ की जो दुर्लभ परिशुद्धता सिद्ध हुई है उस में मेरे स्नेह-भाजन आयुष्मान् पं० दुनीचन्द्र शास्त्री वि० वै० शोध-संस्थान साधु आश्रम (होशियारपुर) के अन्यतम साहित्यसंशोधक ने जो मेरी सहायता की उसके लिये मैं इनका हृदय से आभारी हूँ। इस निष्कारण प्रणय का एकमात्र निर्वेश मैं इन्हें आशीर्वाद तथा धन्यवाद ही दे सकता हूँ। पं० देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्हों ने आर्डरी प्रूफ का भी सावधानी से पुनः परीक्षण किया।

मेरा संकल्प है कि इसी शैली से सम्पूर्ण महाभाष्य का अनुवाद तथा विवरण लिखूँ। यदि आयुः शेष हुई और जीवन निर्बाध निरातङ्क रहा तो यह पुण्य कार्य कुछ वर्षों में सिद्ध हो जायगा। यह सिद्धि भगवत्कृपा और गुरुजनों के आशीर्वाद पर निर्भर है, अतः दोनों के लिये प्रार्थना करता हुआ मैं इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

देहली
३/५४ रूपनगर।
वैशाखी पूर्णिमा, संवत् २०२५

अनुवादक तथा विवरणकार
विद्वच्चरणपङ्कजचञ्चरीक
चारुदेव शास्त्री॥

अथ शब्दानुशासनम्[1]

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्र-

---

अब शब्दानुशासन (=शब्द शिक्षण-नाम शास्त्र) का प्रारम्भ होता है।

यहां 'अथ' शब्द प्रारम्भ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शब्दानुशासन-नामक

---

१. वैयाकरण-सम्प्रदाय में इसे भाष्यकार का वचन माना जाता है। भाष्य के लक्षण में स्वपदानि च वर्ण्यन्ते ऐसा कहने से भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं इसमें कुछ भी असमञ्जस नहीं। पर मनुभाष्यकार मेधातिथि इसे भगवान् पाणिनि के सूत्र ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र मानते हैं। उनका कहना है कि—पौरुषेये-ष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् अथ शब्दानुशासनमिति सूत्रसन्दर्भमारभते (मनु० १।१)। काशिकाकार अष्टाध्यायी की व्याख्या में प्रवृत्त हुए अथ शब्दानुशासनम् को आदि में पढ़ते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं। इससे उनके मत में यह सूत्रकार का वचन है ऐसा झलकता है। अन्यदीय वचन से प्रारम्भ करने में कुछ भी औचित्य प्रतीत नहीं होता। किं च। पातञ्जल योगसूत्र का अथ योगानुशासनम् प्रथम सूत्र है, तो अथ शब्दानुशासनम् यह पाणिनीयाष्टक का प्रथम सूत्र क्यों न हो। महा-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे, इसमें ऐतिह्य के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं। वस्तुतः शब्दानुशासन अष्टाध्यायी की संज्ञा है और इसी बात को भाष्यकार शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् में नाम शब्द से स्पष्ट कर रहे हैं। अमरसिंह की अमर कृति का नाम भी प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए नामलिङ्गानुशासन है।

शब्दानुशासन शब्द में शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनम् यह षष्ठी समास है। शब्दानाम् यहां कर्म में षष्ठी है। अनुशासन क्रिया के कर्ता आचार्य पाणिनि स्वतः गम्यमान हैं अतः उन्हें शब्द द्वारा नहीं कहा गया। केवल कर्म का ही प्रयोग किया गया है। कर्ता कर्म दोनों का प्रयोग न होने से उभय प्राप्ति नहीं है, अतः यहां उभयप्राप्तौ कर्मणि से षष्ठी न हो कर कर्तृकर्मणोः कृति से षष्ठी हुई है। उस में कर्मणि च से षष्ठी समास का निषेध न होगा तो इध्मप्रव्रश्चनः की तरह शब्दानुशासनम् यह समास का रूप शुद्ध बन जायगा।

२. अथ यह निपात आरम्भ अर्थ का द्योतक है। कोषकार इसे मंगल अनन्तर, आरम्भ, मङ्गल, कार्त्स्न्यं (परिपूर्णता) इन अर्थों में पढ़ते हैं। पर

मधिकृतं वेदितव्यम्। केषां[1] शब्दानाम्। लौकिकानां वैदिकानां च। लौकिकास्तावत्[2]—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये[3] (अ. सं. १,१,१), इषे त्वोर्ज्जे त्वा (तै. सं. १,१, १,१), अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ. १,१,१), अग्न आयाहि वीतय (सा. सं. १, १,१) इति।

शास्त्र (यहां से) प्रारम्भ होता है ऐसा जानना चाहिए।

किन शब्दों का अनुशासन ? लौकिक और वैदिक—इन दोनों प्रकार के शब्दों का। लौकिक शब्द जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः (=पक्षी), मृगः, ब्राह्मणः। वैदिक भी जैसे—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्ज्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये इत्यादि।

मंगल अथ शब्द का वाच्य अर्थ नहीं। जैसे किसी दूसरे के लिये लिये जा रहे दही का दर्शन मंगल है ऐसे ही अथ शब्द का श्रवण मंगल है। भगवान् शङ्कराचार्य का वचन भी है—अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति।

१. यद्यपि शब्दानुशासन शब्द में शब्द शब्द गुणीभूत है। उत्तरपद अनुशासन के साथ उस का अर्थ संसृष्ट है पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन इस नियम के अनुसार शब्दानुशासन इस सम्पूर्ण पदार्थ के एकदेश शब्द शब्द का पृथक् परामर्श न होने से केषां शब्दानाम् यह प्रश्न अनुपपन्न है। इस के स्थान में कीदृशं शब्दानुशासनम् ? ऐसा प्रश्न होना चाहिये था। उसका उत्तर भी लौकिकानां वैदिकानां च न हो कर लौकिकं वैदिकं च ऐसा होना चाहिये तो भी सम्पूर्ण पदार्थ के एकदेश अथवा गुणीभूत शब्द शब्द का भी बुद्धि से परामर्श कर के उक्त निर्देश बन जायगा। अन्यत्र भी भाष्यकार के ऐसे प्रयोग हैं, जैसे राजपुरुषोऽयम्। कस्य राज्ञः॥

२. लौकिक का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध। लोक से यहां सर्वलोक अभिप्रेत है। साधु शब्द लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध होते हैं और अपभ्रंश कहीं-कहीं। सो यहां सर्वलोक-प्रसिद्ध साधु शब्दों का अनुशासन है, अपभ्रंशों का नहीं। लौकिक वाग्व्यवहार में पदानुपूर्वी नियत नहीं होती, वेदवाक्यों में पदानुपूर्वी नियत है, वह बदली नहीं जा सकती। अतः लौकिक शब्दों को एक-एक करके स्वतन्त्र रूप में पढ़ दिया है, पर वैदिक शब्दों को मन्त्रस्थ-क्रम-विशिष्ट ही पढ़ा है।

३. शन्नो देवी ...... यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र है। श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित तथा कलिकाता संस्कृत कालेज अनुसन्धान-ग्रन्थ-माला

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः[1]। किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः। नेत्याह। क्रिया नाम सा। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः। नेत्याह। गुणो नाम सः। यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह।

अब गौः इसमें कौनसा शब्द है ? क्या जो गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुर, सींगवाला पदार्थ है वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है— नहीं, वह तो द्रव्य है।

तो क्या जो सङ्केत करना (आंख आदि से हृदय के भाव का प्रकाशन) चेष्टा (शरीर की हलचल) तथा आँख का झपकना, वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो क्रिया है।

तो क्या जो शुक्ल, नील, कपिल (भूरा), कपोत (चितकबरा) है वह शब्द है। वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो गुण है।

तो फिर क्या जो भिन्न-भिन्न पदार्थों (द्रव्यों) में एकरूप है और जो उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता, सब में साधारण, अनुगत है वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो जाति है।

में प्रकाशित पैप्पलाद संहिता प्रथम काण्ड देखें। संभवतः भाष्यकार पिप्पलाद शाखीय अथर्ववेदी थे। खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति इस वचन से भी भाष्य-कार का अथर्ववेदी होना संकेतित माना जाता है।

१. लोक-व्यवहार से यह विदित ही है कि शब्द अर्थबोधक वर्णात्मक ध्वनि को कहते हैं, तो गौः यहां शब्द कौन सा है यह जिज्ञासा ही नहीं होती। फिर इस प्रश्न का क्या आशय है ? लोक में शब्द और अर्थ का अभेद से व्यवहार ही इस शङ्का का बीज है। सामने उपस्थित गलकम्बल आदि वाले पदार्थ के विषय में जब प्रश्न होता है—यह क्या है, अर्थात् इसका वाचक (नाम) क्या है, तो हमारा उत्तर होता है-यह गौ है। यहां यह पदार्थ का संकेत करता हुआ उद्देश्य है और गौ विधेय है। दोनों का सामानाधिकरण्य से निर्देश हुआ है। अर्थ शब्द है ऐसा कह रहे हैं। सो शब्द और द्रव्य का अभेद तो इतने से ही स्पष्ट है। इसलिये इस अभेद के कारण द्रव्य में शब्द की शङ्का उपपन्न ही है। रही जाति, गुण, क्रिया में शब्द की शङ्का की उपपत्ति, सो यूं है—जाति, गुण, क्रिया का, जो द्रव्य में रहते हैं, सीधा शब्द के साथ अभेद न सही, तो भी जाति-व्यक्ति का, गुण-गुणी का, क्रिया-क्रियावत् का अभेद होने से जाति, गुण, क्रिया से अभिन्न द्रव्य के साथ अभेद-प्राप्त हुए शब्द का जाति, गुण, क्रिया के साथ भी अभेद सिद्ध हो जाता है। गौः इस उच्चा-

आकृतिर्नाम सा। कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुद-खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः।

अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि[२]ः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेव-मुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि? रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि

तो आखिर शब्द है क्या?

जो उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुर, सींग वाले गो व्यक्तियों का बोध कराता है वह शब्द है।

अथवा लोक-व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वह शब्द कहलाता है। जैसा कि ध्वनि करते हुए एक लड़के को उद्देश करके कहा जाता है—(और अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह लड़का शब्दकारी (शोर करने वाला) है। अतः ध्वनि शब्द है।

शब्दानुशासन (शास्त्र के अध्ययन) के क्या-क्या प्रयोजन हैं?

रक्षा, ऊह (विभक्ति आदि का परिवर्तन), आगम (विधायक शास्त्र), लाघव (सरलता, आसानी), सन्देहनिवृत्ति—ये प्रयोजन हैं।

रण के अनन्तर बुद्धि में जो नाना अर्थ (द्रव्य के अतिरिक्त) जाति गुण क्रिया भासते हैं उनके साथ भी शब्द का तादात्म्य होने से उनके विषय में भी ये शब्द हैं यह शङ्का युक्त ही है।

१. वैयाकरण का मत है कि उच्चारित होकर क्षणान्तर में नष्ट हो जाने वाले वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते। उनमें वाचकत्व नहीं। जो श्रवण का विषय है वह बोधक नहीं। वैयाकरण शब्द को एक नित्य तत्त्व मानता है जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होने पर उस-उस अर्थ का बोध कराता है। इसलिये उसे 'स्फोट' कहते हैं, जिसका अर्थ है—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति।

२. यहां लोक-व्यवहार में जैसा शब्द समझा जाता है उसका लक्षण किया है, यह कार्य है, अनित्य है। नैयायिक इसे ही शब्द समझते हैं।

सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति[1]। ऊहः खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्। आगमः[3] खल्वपि। ब्राह्मणेन

(वेदों की) रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिए। क्योंकि लोप, आगम, आदेश को जानने वाला वेदों की ठीक तरह से रक्षा कर सकेगा। ऊह भी प्रयोजन है। वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों में और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़े गये। उन्हें यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरुष को अवश्य ही उचित रीति से बदलना होता है। (और) व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से बदल नहीं सकता। इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

शास्त्र भी (व्याकरणाध्ययन का) प्रयोजक (विधायक, प्रेरक) है। (वह कहता है)

---

१. भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर और वेद में उन्हें देखकर व्याकरण न जाननेवाला भ्रान्त हो सकता है और लोक का अनुसरण करते हुए वैदिक शब्दों को भी वैसे ही पढ़ने की चेष्टा करेगा ऐसी संभावना हो सकती है। देवा अदुह्र--यहां 'र्' का आगम हुआ है और 'त' का लोप। लोक में अदुहत ऐसा लङ् बहु० आ० में प्रयोग होता है। मध्या कर्तोर्विततं संजभार— यहां ह् के स्थान में भ् आदेश हुआ है। लोक में संजहार रूप प्रसिद्ध है।

२. प्रकृति याग में विनियुक्त मन्त्रों के देवतादि वाचक पदों को विकृति याग के देवता आदि का बोध कराने के लिए बदलना ऊह कहलाता है। सब इष्टियागों की दर्शपूर्णमास प्रकृति है और सभी सोमयागों की अग्निष्टोम याग प्रकृति है। जिसमें इतिकर्तव्यता पूर्णरूप से ही कही होती है वह प्रकृतियाग होता है और जिसमें प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस वचन से प्रकृति याग से ली जाती है वह विकृति। अब प्रकृति याग के अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि इस मन्त्र में आये हुए अग्नि शब्द के स्थान पर सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (ब्रह्मतेज चाहता हुआ सूर्य को चरु की आहुति दे) इस वचन के अनुसार चतुर्थ्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करके सूर्याय त्वा जुष्टं निर्-वपामि इस मन्त्र से आहुति देनी है। यह प्रकृति का ऊह है, विभक्ति का नहीं, विभक्ति वही रही। लिङ्ग का ऊह यथा—देवीरापः शुद्धाः स्थः में स्त्रीलिङ्ग, शुद्धाः के स्थानपर देवाऽऽज्य शुद्धमसि इस मन्त्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होने के कारण शुद्धम् इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम।

३. आगम के साथ आया हुआ प्रयोजन शब्द प्रयोजक को कहता है। यहां

निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। असन्देहार्थं[1] चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति[2]। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति।

ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) धर्मस्वरूप छः अंगों वाला वेद पढ़ना चाहिए और उसे जानना चाहिए। छः अंगों में व्याकरण प्रधान है और प्रधान में किया हुआ यत्न प्रचुर फल वाला होता है।

लाघव के कारण व्याकरण पढ़ना चाहिए। ब्राह्मण को शब्द अवश्य जानने हैं। व्याकरण को छोड़ और किसी लघु (छोटा, सरल) उपाय से शब्द जाने नहीं जा सकते।

सन्देह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। याज्ञिक (कर्मकाण्डी) लोग पढ़ते हैं—स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्भन करे अर्थात् भेंट दे। स्थूलपृषती इस विशेषण पद के अर्थ में सन्देह होता है, वह मोटी भी है और बिन्दुमती भी है (ऐसा अर्थ है) अथवा जिसके (शरीर पर) स्थूल बिन्दु है ऐसा। जो व्याकरण नहीं जानता वह उसके विषय में स्वर से निश्चय नहीं कर सकता। यदि (समास 'स्थूलपृषती') के पूर्वपद (स्थूल) का अपना ही स्वर यहां है तो यह बहुव्रीहि है, यदि समास का अन्त्य अच् उदात्त है तो यह तत्पुरुष है।

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः यह द्वन्द्व बहुवचनान्त है, पर प्रयोजनम् यह एकवचनान्त है। यहां एकशेष हुआ है--प्रयोजनी (रक्षा) च प्रयोजनश्च प्रयोजनश्च प्रयोजनं (लघु) प्रयोजनश्चेति प्रयोजनम्। पक्ष में प्रयोजनानि भी होगा। इसमें नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् (१।२।६९)--यह शास्त्र प्रमाण है।

१. यहां असन्देह शब्द में सन्देह का प्रागभाव समझना चाहिये। प्रध्वंस नहीं। वैयाकरण को सन्देह उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता। बल्कि उसे सर्वथा सन्देह उत्पन्न ही नहीं होता।

२. वेदार्थ में स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) नियामक है। मनमाना अर्थ

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि--तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुणेति।

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। तेऽसुराः।

दुष्टः शब्दः। "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न

शब्दानुशासन के यह और भी प्रयोजन हैं—तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इति।

वे असुर हेलयः, हेलयः (हे शत्रुओ, हे शत्रुओ) चिल्लाते हुए पराजित हो गये। इसलिये ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिये। जो अपशब्द है वह निश्चय से म्लेच्छ है। तेऽसुराः।

स्वर और वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता। वह वाणीरूप वज्र हो यजमान को मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वर दोष के कारण मारा गया। हम दोष-युक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये। दुष्टः शब्दः।

नहीं किया जा सकता। स्वर और संस्कार (=प्रकृति प्रत्ययादि से शब्द की व्युत्पत्ति) जाने बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता और स्वर संस्कार व्याकरण से ही जाने जाते हैं। स्थूलपृषती शब्द के अर्थ में जब सन्देह हुआ तो इसका निश्चय स्वर को देखकर ही हो सकता है। अब व्याकरण शास्त्र बताता है बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१) अर्थात् बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का ही अपना स्वर (=उदात्त) रहता है शेष निघात (अनुदात्त) हो जाता है। कारण कि पद में (यहां समास होकर जो नया पद बना है उसमें भी) एक अच् उदात्त होता है (अथवा स्वरित होता है) शेष अनुदात्त रहता है। स्थूल शब्द अन्तोदात्त है। इसका पृषत् के साथ समास हुआ है। समस्त पद में एक ही स्वर (उदात्त) होने से पृषत् निघात होगा। समास होकर स्त्रीत्व विवक्षा में उगितश्च (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय होगा। ङीप् प्रत्यय भी अनुदात्त होता है, अतः पृषती भी सारा अनुदात्त ही रहेगा। पर स्थूल के ल (उदात्त) से परे पृ अनुदात्त को उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।५६) से स्वरित होकर शेष दो अनुदात्तों का प्रचय रहेगा। तो स्थूलपृषती ऐसे स्वराङ्कन होगा। तत्पुरुष में समासान्त उदात्त होने से स्थूलपृषती ऐसा।

तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" ॥ इति। दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। दुष्टः शब्दः।

यदधीतम्। "यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव[2] शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥" तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं[3] व्याकरणम्। यदधीतम्।

यस्तु प्रयुङ्क्ते। "यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥ कः। वाग्योगविदेव[4]। कुत एतत्। यो हि शब्दाज्ञानात्यपशब्दा-

---

जो (मन्त्रादि) अक्षरादिरूप से ग्रहण तो किया, पर समझा नहीं, केवल पाठ मात्र से उच्चारण किया, वह कभी भी प्रकाश नहीं करता जैसे अग्नि के अभाव में सूखा ईन्धन कभी नहीं जलता। यदधीतम्।

जो शब्दों के प्रयोगविशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक-ठीक प्रयोग करता है वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता और अपशब्दों से पाप का भागी होता है।

कौन ?

शब्दार्थ सम्बन्ध जाननेवाला ही।

---

१. ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार दिया। अब त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिये एक अभिचार याग करता है। उसमें वह स्वाहेन्द्रशत्रु-र्वर्धस्व ऐसा मन्त्र पढ़ता है। यहां शत्रु क्रिया शब्द है संज्ञा शब्द नहीं। शत्रु=शातयिता =नाशक। अब त्वष्टा यह कहना चाहता था कि हे अग्नि तू ऐसे बढ़ कि तेरी ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र का नाशक हो। यह अभिप्रेत अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह इन्द्रशत्रु शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अन्त में उदात्त पढ़ता। पर उसने प्रमाद से पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे यह बहुव्रीहि समास हो गया, जो अन्य पदार्थ प्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा कि हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका ऐसे रूपवाला होता हुआ बढ़। तिस पर वृत्र उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया। यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पञ्चम प्रपाठक में दी गई है।

२. अनग्नौ—यहां उपश्लेषरूप आधार में सप्तमी है। उपश्लेष=संयोग, सामीप्य। अर्थात् जब अग्नि का ईन्धन के साथ संयोग नहीं।

३. माङ् उपपद होनेपर इङ् अध्ययने का यह लुङ् उत्तमपुरुष बहु० में रूप है।

४. प्रत्यासत्ति से (पास में श्रूयमाण होने से) वाग्योगविद् का ही दुष्यति

न्यसौ जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति।

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अथ योऽवाग्योगवित्। अज्ञानं[1] तस्य शरणम्। विषम उपन्यासः! नात्यन्तायाऽज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥ कः। अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं[2] तस्य शरणम्। क्व पुनरिदं पठितम्। भ्राजा[3] नाम श्लोकाः। किं च भोः श्लोका

ऐसा कैसे जाना?

जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है। जैसे शब्द-ज्ञान में धर्म है वैसे ही अपशब्दज्ञान में अधर्म भी। अथवा अधिक अधर्म होता है।

क्यों?

इस लिये कि अपशब्द अधिक हैं, शब्द (उनकी अपेक्षा) थोड़े हैं।

एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं, जैसे 'गौ' इस एक शब्द के गावी गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते हैं। अब जो वाग् अर्थ सम्बन्ध को नहीं जानता उसका अज्ञान रक्षक होता है, अर्थात् अज्ञान उसे पातित्य से बचायेगा। यह कथन ठीक नहीं। अज्ञान पूर्णरूप से बचा नहीं सकता। जो कोई न जानता हुआ भी ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरा पीए, मैं मानता हूँ कि वह भी पतित होगा। अच्छा तो सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः—यह जो पढ़ा है यहाँ 'दुष्यति' का कर्ता कौन है? निश्चित ही अवाग्योगविद् क्योंकि जो वागयोगविद् (शब्दार्थसम्बन्ध का जानने वाला) है विशिष्ट ज्ञान उसका रक्षक है।

यह वचन कहाँ पढ़ा है?

भ्राज नामक श्लोक हैं (वहां)।

क्यों जी, श्लोक भी प्रमाण होने लगे?

क्रिया-पद के साथ अन्वय होना चाहिये, ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय है। जिसे वह आगे युक्ति से पुष्ट करता है।

१. कहने वाले का भाव यह है कि अज्ञान से किया हुआ कर्म मानो न कियासा होता है, उस से पाप का प्रसङ्ग नहीं।

२. इसे भाष्यकार स्वयं आगे चलकर अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्मः इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट करेंगे।

३. भ्राज नाम से प्रसिद्ध कात्यायन प्रणीत श्लोक कहे जाते हैं।

अपि प्रमाणम्। किं चातः। यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति। "यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्। पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्॥" प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः। यस्त्व-प्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते॥

अविद्वांसः। "अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥" अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। अविद्वांसः॥

इससे क्या हुआ ?

यदि श्लोक भी प्रमाण हैं तो यह श्लोक भी प्रमाण हो जायेगा।

जो तांबे के वर्ण वाली मटकियों का बड़ा समूह पीआ हुआ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करा सकता तो यज्ञ (सौत्रामणी याग) में थोड़ा-सा सुरापान कभी स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता है ?

प्रमाद (अनवधान) से पढ़ा हुआ यह पूज्य का वचन है।

जो (कोई अन्य) वचन सावधान होकर पढ़ा गया है वही प्रमाण है।

अविद्वांसः। जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर (आशीर्वाद वाक्य) में (अभिवादक के) नाम को प्लुत करना नहीं जानते, बाहिर से आकर उन के प्रति भले ही अयमहम्=यह मैं हूँ ऐसा कहे जैसे स्त्रियों के विषय में कहने की रीति है। अभिवादन में हमारे प्रति स्त्रियों का सा व्यवहार न हो, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिये।

---

१. सौत्रामणी-याग में किञ्चित् सुरापान का विधान है, वह यज्ञाङ्ग है और अदृष्ट की उत्पत्ति में सहकारी है। उस अदृष्ट से दैत्यों को वञ्चित करने के हेतु महेश्वर ने प्रमत्त-सा होकर उनकी इसमें अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिये यह वचन कहा—ऐसा सम्प्रदाय है।

२. अभिवादन के विषय में मनु का ऐसा विधान है—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥
नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽयमहं ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥ (२।१२२)

अर्थात् विप्र (देवदत्त आदि) अपने से बड़ी उम्र वाले को नमस्कार करना चाहता हुआ अपने नाम का उच्चारण करते हुए अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः ऐसा अभिवादन वाक्य बोले। पर उन लोगों के प्रति जो प्रत्यभिवादन में नाम को प्लुत

विभक्तिं कुर्वन्ति । याज्ञिकाः पठन्ति—प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या[1] इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

यो वा इमाम् । यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति[2] स आर्त्विजीनो[3] भवति । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । यो वा इमाम् ॥

विभक्ति लगाकर उच्चारण करते हैं । यजुर्वेदी कर्मकाण्डी लोग पढ़ते हैं—प्रयाज मन्त्रों को विभक्ति-युक्त कर पढ़ना चाहिये, पर व्याकरण जाने बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

जो इसको । जो इस (वाणी का पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन (ऋत्विक् प्राप्ति का अधिकारी यजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याजक) होता है । हम आर्त्विजीन हों इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । यो वा इमाम् ।

करना नहीं जानते, ऐसे ही सब स्त्रियों के प्रति भी अयमहम् ही कहे । भगवान् सूत्रकार पढ़ते हैं—प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (८ । २ । ८३) । शूद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अन्यत्र वाक्य की टि को प्लुत होता है । तदनुसार आयुष्मानेधि देवदत्ता३ इस प्रकार का आशीर्वाद वाक्य होता है ।

१. जब किसी कारण कर्म-विच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की जाती है । उस पुनराधेयेष्टि की इतिकर्तव्यता के विषय में यह वचन पढ़ा गया है । प्रयाज पांच होते हैं । ये पहले ही विभक्ति सहित पड़े ही हैं, फिर इस विधान का क्या अर्थ है । विभक्ति प्रत्यय है इससे प्रकृति का आक्षेप होता है और चूँकि त्वमग्ने प्रयाजानां पुरस्तात्त्वं पश्चात् ऐसा वेदवाक्य है, अतः अग्नि शब्द ही यहां प्रकृति ली जाती है और इसे प्रथमा (सम्बुद्धि), सप्तमी, तृतीया और द्वितीया इन चार विभक्तियों से युक्त पढ़ा जाता है । समिधोऽग्ने आज्यस्य व्येतु इत्यादि पांच मन्त्र हैं । पहले चार में अग्ने अग्ने अग्नावग्ने, अग्निना अग्ने, अग्निमग्ने इस प्रकार एक और अग्नि शब्द विभक्ति युक्त पढ़ा जाता है । चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तीर्ददाति नोत्तमे इस आपस्तम्ब के वचनानुसार अन्त्य पांचवें मन्त्र में अग्नि शब्द सविभक्तिक नहीं दिया जाता ।

२. विदधाति=करोति, उच्चारण करता है । क्रिया-सामान्य से क्रियाविशेष विवक्षित है । वाजसनेय प्रातिशाख्य (८।२७) में भी कहा है—वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोपि च ।

३. आर्त्विजीन शब्द को दो प्रकार से व्युत्पादन करते हैं । सूत्रकार कहते हैं—

चत्वारि। "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥" इति। चत्वारि शृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त विभक्तयः। त्रिधा वद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति महान् देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

अपर आह—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये

चार। इसके चार सींग हैं, तीन चरण हैं दो सिर हैं और सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ वृषभ बड़ा शब्द करता है। महान् देव मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है। जो इसके चार सींग कहे हैं वे चार पदराशियां हैं और वे हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। जो इसके तीन पाद हैं वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये तीन काल हैं। जो इसके दो सिर कहे हैं वह दो प्रकार का शब्द है—एक नित्य, दूसरा कार्य (उत्पाद्य, अनित्य)। जो इसके सात हाथ हैं वे सात विभक्तियां हैं। 'तीन स्थानों में बँधा हुआ' इस का अर्थ है—छाती, कण्ठ व सिर में बँधा हुआ। (कामनाओं की) वृष्टि करने से वह वृषभ है। रोरवीति का अर्थ है शब्द करता है। यह कैसे? रु धातु शब्द करने अर्थ में पढ़ी है। महो देवः इत्यादि का अर्थ है—(वह) महान् देव रूप शब्द मरण-स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किए हुए है। उस महान् देव के साथ हमारा सायुज्य हो, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

दूसरा कहता है—वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है, इन चार पदों को मन

'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (५।१।७१) अर्थात् यज्ञ और ऋत्विक् से उसके योग्य है इस अर्थ में क्रम से घ, खञ् प्रत्यय होते हैं। इससे खञ्प्रत्ययान्त आर्त्विजीन का अर्थ यजमान हुआ। इस पर वार्तिककार का कहना है कि यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानम् इससे ऋत्विक् के कर्म में योग्य होनेवाले में प्रत्यय होकर आर्त्विजीन ऋत्विक् (याजक) का बोधक होता है।

१. ऋ० ४।५८।३॥

२. वेद में वाक् आद्युदात्त पढ़ा है। पदपाठ में भी पृथक् पद ही पढ़ा है। अतः यह प्रथमान्त स्वतन्त्र पद है ऐसा प्रतीत होता है। प्रथमान्त का अन्वय सीधा

मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थ-मित्यर्थः। चत्वारि॥

उत त्वः[2]। "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणो-त्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे[3] जायेव पत्य उशती सुवासाः॥" उत त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्धम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती[4] सुवासाः[5]। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना

का संयम किये हुए ब्राह्मण जानते हैं। इसके तीन भाग गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते। वाणी के चौथे भाग को मनुष्य (साधारण अवैयाकरण) बोलते हैं॥ चार वाणी के परिच्छेदक पद-समूह नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं। मनीषी ब्राह्मण उन्हें जानते हैं। मन पर अधिकार रखने वाले मनीषी कहलाते हैं—गुहा……… नेङ्गयन्ति का अर्थ यह है कि तीन (भाग) गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते, झपकते नहीं। तुरीयं……वदन्ति का अर्थ यह है कि यह वाणी का चौथा भाग है जो मनुष्यों में है (जो मनुष्य=अवैयाकरणों के व्यवहार में आता है)। चत्वारि।

और एक। उत त्वः—इस मन्त्र का अर्थ यह है—कोई एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, दूसरा इसे सुनता हुआ भी निश्चय ही नहीं सुनता। ऋचा का यह आधा भाग अविद्वान् के विषय में है। उतो विसस्रे का अर्थ यह है कि और किसी दूसरे के प्रति अपने स्वरूप को खोल देती है। जायेव…सुवासाः का अर्थ यह है कि जिस प्रकार सुन्दर शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए (ऋतु-स्नाता) स्त्री कामना करती

लग जाता है—वाक् चत्वारि परिमितानि पदानि भवति। षष्ठी पूर्वपद समास मानने में जहां स्वर से विरोध पड़ता है वहां समास भी असमर्थ ही होता है, क्योंकि वाक् का पदानि के साथ सम्बन्ध है। यहां चारों पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का ही ग्रहण इष्ट है, परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी का नहीं। पद कहने से ही उनका व्यवच्छेद हो जाता है।

१. ऋ० १।१६४।४५॥

२. वेद में त्व एक अर्थ का वाचक सर्वनाम है।

३. विसस्रे—यह विपूर्वक सृ का लिट् प्रथम पु० एक० का रूप है।

४. उशती—वश कान्तौ इस धातु का शत्रन्त स्त्रीलिंग रूप है।

५. सुवासाः शोभने वाससी यस्याः सा। रजस्वला स्त्री मलवद्वासाः (मैले

सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्। उत त्वः॥

सक्तुमिव। "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि॥ सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति। ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन। वाचमक्रत वाचमकृषत।

अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। क्व। य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते। वैयाकरणाः। कुत एतत्। भद्रैषां लक्ष्मी-

---

हुई अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट करती है इसी प्रकार वाणी वाणी को जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे प्रति प्रकट करे इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। उत त्वः।

सत्तुओं की तरह। जैसे सत्तुओं को चालनी से छानते हैं ऐसे ही जब (जिस अवस्था में) ज्ञानी लोग अपने प्रकृष्ट ज्ञान के बल वाणी का व्याकरण (विश्लेषण, प्रकृतिप्रत्यय-विभाग, शब्दापशब्द-विवेचन) करते हैं तब (उस अवस्था में) समान दर्शन वाले आपस में सायुज्य को अनुभव करते हैं। कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी में निहित होती है। सक्तु सच् धातु से निष्पन्न होता है, इसे धोना (साफ करना) कठिन होता है। हो सकता है कि सक्तु कस् धातु के आद्यन्त विपर्यय करने से बना हो, खिला सा होता है (इससे धात्वर्थ की संगति होती है)। तितउ का अर्थ चालनी है। यह विस्तार वाली अथवा छिद्रों वाली होती है (इस लिये तितउ नाम हुआ)। धीर ध्यानी होते हैं। मनसा का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान से। वाचमक्रत का अर्थ है वाणी को व्याकृत किया। उत त्वः॥

यहाँ समानख्याति (समान दर्शन) वाले होकर सायुज्य को अनुभव करते हैं।

कहाँ?

यह जो एक मात्र गम्य (साँकरा) दुर्गम वाणी का मार्ग है (वहाँ)।

वे कौन हैं?

कपड़ों वाली स्नान न करने से) होती है, इसीलिये उसे मलिनी भी कहते हैं। स्नान करने पर वह शुभ्र वस्त्र पहन लेती है, इसलिये उसे यहां सुवासाः कहा है।

१. अमर कोष में तितउ पुँल्लिङ्ग पढ़ा है। भाष्यकार-वचन-प्रामाण्य से नपुंसक लिङ्ग भी साधु है।

र्निहिता अधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मी-र्लक्षणात् भासनात्परिवृढा भवति। सक्तुमिव॥

सारस्वतीम्। याज्ञिकाः पठन्ति "आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।" प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। सारस्वतीम्॥

दशम्यां पुत्त्रस्य। याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्त्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरि प्रतिष्ठितम्।" तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम् इति। न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। दशम्यां पुत्त्रस्य॥

सुदेवो असि। "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनु-क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥" सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। अनुक्षरन्ति काकुदम्। काकुदं

वैयाकरण।

यह क्यों?

क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी को इसलिये लक्ष्मी कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, चमकती है। अथवा अधिकार वाली होती है।

सरस्वती देवता को दिये जाने वाली। यजुर्वेदी लोग पढ़ते हैं—अग्न्याधान करके अपशब्द का प्रयोग कर बैठने पर प्रायश्चित्त के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि-याग करें। हम प्रायश्चित्त के योग्य न हों इस लिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये। सारस्वतीम्॥

दशमी रात्रि के अनन्तर पुत्र का। याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—पुत्र के जन्म से दशमी रात के बीतने पर (अर्थात् ग्यारहवें दिन) उत्पन्न हुए पुत्र का नाम रखे, जो आदि में घोषवान् वर्णवाला हो, बीच में अन्तःस्थ वर्ण वाला हो और वृद्धि स्वर (आ, ऐ, औ) से युक्त न हो, जो पिता के तीन पूर्व पुरुषों के नाम का स्मरण कराता हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो। नाम दो अक्षर वाला अथवा चार अक्षर वाला रखें, वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। व्याकरण के बिना कृत् वा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। दशम्यां पुत्रस्य॥

तू शोभन देव है। हे वरुण तू सुदेव=सत्यदेव है जिसके गले से निकलती हुई सात नदियां (=सात विभक्तियां) तालु में बहती हैं। काकुद तालु होता है कारण कि काकु नाम जिह्वा का है और वह उसमें उठाकर लगाई जाती है। सूर्म्यं सुषिरामिव—

तालु। काकुर्जिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यथा शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्। सुदेवो असि॥

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते न पुनरन्यदपि किञ्चित्। ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्यादीन् शब्दान्पठन्ति। पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उप-

---

जैसे अग्नि सुन्दर खोखली लोहे की प्रतिमा को अन्दर प्रविष्ट होकर जलाती है इसी प्रकार सात सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियां तेरे तालु में बहती हैं। इससे तू सत्यदेव है। हम भी सत्यदेव हों, अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये। सुदेवो असि।

क्या कारण है कि केवल व्याकरण पढ़ना चाहने वालों के लिये प्रयोजन बताये जा रहे हैं, कुछ और (वेद आदि) पढ़ने वालों के लिये नहीं ? (वेद पढ़ना चाहते हुए तो) ओम् (स्वीकार करता हूँ) कहकर प्रपाठक-प्रपाठक करके 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं। पुरातन युग में ऐसा था उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ कर देते थे, तब जब वे वर्णोच्चारण-स्थान (कण्ठादि) करण (जिह्वा के अग्र, उपाग्र आदि भाग) और अनुप्रदान (आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्न=संवृत विवृत संवार विवार आदि) जान लेते थे तो उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। आजकल वैसा नहीं। (आजकल तो) पहले वेद को पढ़ते हैं और

---

१. ओम् यहां स्वीकार अर्थ में है, अभ्यादान अर्थ में नहीं। अधीष्व (पढ़ो) के उत्तर में शिष्य ओम् का उच्चारण करता है, स्वीकार करता हूँ, अर्थात् जैसे आपकी आज्ञा वैसे करता हूँ।

२. वृत्तान्तशः में शस् प्रत्यय वीप्सा अर्थ में है। वृत्तान्त का यहां प्रपाठक अर्थ है।

३. ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में करने की विधि है। ऐसी छोटी अवस्था में जब व्याकरणाध्ययन प्रारम्भ हो जाता था तो अनतिप्रौढ होने से उन बालकों को व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन विषय में जिज्ञासा नहीं होती थी, तो उस समय प्रयोजनान्वाख्यान भी नहीं होता था। पर अब वेदाध्ययन पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। वेदाध्ययन को समाप्त कर प्रौढावस्था को प्राप्त हुए ब्रह्मचारी यह शङ्का करने लगते हैं, लोक तथा वेद से हमनें उभयविध शब्द

दिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता[1] वक्तारो भवन्ति—'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणमिति।' तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे। इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणमिति।

उक्तः शब्दः। स्वरूपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि। शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम्। तत्कथं कर्तव्यम्। किं शब्दोपदेशः कर्तव्य आहोस्विदपशब्दोपदेश आहोस्विदुभयोपदेश इति। अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो[2] गम्यते। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते

पढ़कर उतावले हुए एक दम कहने लग जाते हैं—वेद से हमने वैदिक शब्द जान लिये, और लोक से लौकिक। व्याकरण का (हमें) कुछ प्रयोजन नहीं। उन विपरीत बुद्धि वाले छात्रों का सुहृद् बन कर आचार्य (पतञ्जलि, रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् को वार्तिक मानने वालों के मत में कात्यायन) इस शास्त्र (प्रयोजन निर्देशक) का अन्वाख्यान करते हैं और कहते हैं यह प्रयोजन हैं, व्याकरण पढ़ना चाहिए।

शब्द से क्या ग्राह्य है यह कह दिया। शब्द का स्वरूप भी कह दिया गया। प्रयोजन भी कह दिये। अब शब्दानुशासन करना चाहिये। सो कैसे किया जाय? क्या शब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा अपशब्दों का, अथवा दोनों का? किसी एक के उपदेश से काम चल जायगा। जैसे भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य का निषेध स्वतः ही आ जाता है। पांच नखों वाले पांच ही भक्ष्य हैं ऐसा कहने से गिनाये हुए पांच नखों वाले पांचों से अतिरिक्त पांच नख वाले अभक्ष्य हैं, ऐसा बिना कहे ही प्रतीत होता है।

लौकिक व वैदिक जान लिये, अब व्याकरण का हमें कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

१. त्वरिताः=जातत्वराः। गृहप्रवेशाय त्वरमाणाः, विवाह करके गृहस्थ बनने के लिये उतावले—ऐसा प्रदीपकार कैयट का भाव है। भाष्यकार को यह विवक्षित है वा नहीं इसमें सन्देह है।

२. नियम शब्द यहां परिसङ्ख्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मीमांसक विधि नियम और परिसङ्ख्या का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते॥

अपूर्व अत्यन्त अविदित क्रिया का जब विधान किया जाता है तब उसे विधि अथवा अपूर्व विधि कहते हैं जैसे व्रीहीन्प्रोक्षति (धान पर जल छिड़कता है)।

गम्यत एतदतोऽन्येऽभक्ष्या इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति। एवमिहापि। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति।

अथवा अभक्ष्य का निषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है जैसे गांव का कुक्कुट अभक्ष्य है, गांव का सूअर अभक्ष्य है ऐसा कहने से जंगल का भक्ष्य है ऐसा (बिना कहे ही) प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार यहां भी। यदि शब्दों का उपदेश किया जाय, गौः ऐसा उपदेश करने पर यह (स्वयं) जाना जाता है कि गावी आदि अपशब्द हैं। और यदि अपशब्दों का उपदेश किया जाय, तो गावी आदि का उपदेश किये जाने पर यह (अपने आप) जाना जाता है कि गो शब्द है।

यह वचन इदम्प्रथमतया (इससे पहले कोई दूसरा नहीं) बतलाता है कि दर्शपूर्णमास इष्टियों में व्रीहि का प्रोक्षण किया जाना चाहिये। यह व्रीहि का संस्कारक होकर यज्ञाङ्ग है। इसका अनुष्ठान न हो तो यज्ञ विकलाङ्ग होगा। प्रकृत वचन न होता तो इसका हमें कैसे पता चलता? जो क्रिया कई प्रकार से (क्रम से) सम्पादन की जा सकती हो वहां एकका नियम कर देना नियम अथवा नियमविधि कहलाती है। अब यज्ञार्थ चावल (व्रीहि) को वितुष (तुष रहित) करना इष्ट है। वितुष करना कई एक क्रियाओं द्वारा (अनेक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होने की योग्यता होने पर एक समय किसी एक से) सम्भव है जैसे अवहनन अथवा अवघात (उलूखल में मूसल से कूटने) से, मर्दन (मसलने) से अथवा नखविदलन (नाखूनों से छीलने) से। यहां शास्त्र नियम करता है व्रीहीनवहन्ति, चावलों का अवघात (ही) करे। परिसङ्ख्या वह विधि है जो अपूर्व विधान तो कुछ नहीं करती जिसके न करने से प्रत्यवाय हो, पर एक ही समय में सम्भव, पहले से विदित, दो वा दो से अधिक क्रियाओं में से एक का नियम कर देती है। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः। यह परिसङ्ख्या है। यहां पांच पांच नखोंवाले शशक आदि का भक्षण का विधान नहीं किया गया। क्षुधा की निवृत्ति के लिये यत् किंचित् शशक आदि पदार्थ का भक्षण तो प्राप्त ही (पहले से विदित ही) है। मनुष्य ने इसे शास्त्र से नहीं सीखना। अब क्षुधा के शमन के लिये वह चाहे तो एक ही समय पांच-पांच नखों वाले शशकादि को भी खा सकता है और इन पांचों से अतिरिक्त पांच नखोंवाले मनुष्य आदि को भी। अब इस प्रकार अनेक क्रियाओं की युगपत् प्राप्ति (प्रसङ्ग) होने पर शास्त्र नियम करता है पांच नखों वाले शशकादि पांच ही भक्ष्य (खाने योग्य) हैं, अर्थात्

किं पुनरत्र ज्यायः। लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।

अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः। नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं[1] वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं[2] प्रोवाच[3] नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता,

---

तो इन दो उपायों में से बढ़िया उपाय कौन सा है?

लघु होने से शब्दोपदेश। शब्दों का उपदेश दूसरे की अपेक्षा थोड़े में हो जाता है, अपशब्दों का उपदेश विस्तार से होता है। एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश (विकृत=संस्कार-रहित रूप) होते हैं। जैसे गौः इस एक शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते हैं। (साधु शब्द के प्रयोग में धर्म होता है इस कारण) इष्टप्राप्तिजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाख्यान=अनुशासन हो जाता है।

अब शब्दों का उपदेश होना चाहिये ऐसी व्यवस्था होने पर प्रश्न यह है कि शब्दों के बोध के लिये एक-एक करके शब्द पढ़े जायँ जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि। नहीं ऐसा नहीं। शब्दों के बोध में शब्दों को एक-एक करके पढ़ देना कोई उपाय नहीं। ऐसा सुनते हैं—(देवगुरु) बृहस्पति ने एक हज़ार दिव्य वर्षों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे। बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला (आचार्य) हो, और इन्द्र जैसा पढ़नेवाला शिष्य हो,

---

इन पांचों से भिन्न पांच नखवाले अभक्ष्य (न खाने योग्य) हैं। परिसङ्ख्या का निषेध में तात्पर्य होता है। प्रकृत में यदि शब्दों का उपदेश किया जाय तो उनका श्रवण से साक्षात् बोध हो जायगा और तद्भिन्न अपशब्दों का निषेध साक्षात् न कहा हुआ भी गम्यमान (=प्रतीयमान) रहेगा। पांच नखोंवाले भक्ष्य ये हैं—शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पञ्चमः—खरगोश, सेहा, गोह, गेण्डा और कछुआ।

१. मानुष वर्ष (=३६५ दिन) दिव्य (देवताओं का) एक दिन रात के बराबर है।

२. शब्दपारायण शब्द योगरूढ होकर ग्रन्थविशेष का नाम है ऐसा कैयट का कथन है। प्रतिपदोक्तानाम् इस विशेषण को देने के लिये फिर शब्दानाम् यह विशेष्य पढ़ा है, यह भास रही पुनरुक्ति को निवारण करने के निमित्त यत्न मात्र है। वस्तुतः यह वैदिक काल से चली आ रही एक शैली थी—जैसे विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१) इत्यादि अनेक स्थलों में देखी जाती है।

३. प्र पूर्वक ब्रू (वच्) का मुख्यार्थ पढ़ाना है—स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदः।

दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन[1], स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः। किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्। उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः कथंजातीयकोऽपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा कर्मण्यण्[2]। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—आतोऽनुपसर्गे कः[3]।

तिस पर भी एक हज़ार दिव्य वर्ष (लम्बा) पढ़ने का समय, तो भी समाप्ति न हो सकी, आज कल का तो कहना ही क्या। जो बहुत चिर तक जीता है वह सौ बरस जीता है।

चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है—गुरु से पढ़ते समय, स्वयं गुरुमुख से अधीत की आवृत्ति करते समय, (शिष्यों को) पढ़ाते समय और यज्ञादि कर्म में व्यवहार (प्रयोग) के समय। उस प्रतिपद-पाठ की अवस्था में इस (विद्यार्थी) की सारी आयु गुरु से पढ़ते-पढ़ते ही समाप्त हो जायगी। अतः शब्दों के बोध के लिये प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं।

तो शब्दों को कैसे जाना जाय?

कोई छोटा सा सामान्य-विशेष वाला शास्त्र बनाना चाहिये जिससे थोड़े से यत्न से बड़ी-बड़ी शब्द-राशियों को जान जायं।

ऐसे (शास्त्र) लक्षण का क्या स्वरूप है?

उत्सर्ग और अपवाद। कोई लक्षण उत्सर्गात्मक होगा, कोई अपवादात्मक।

उत्सर्ग का कैसा स्वरूप होता है। अपवाद का कैसा स्वरूप होता है?

सामान्यरूप से कथन उत्सर्ग होता है जैसे कर्मण्यण्, कर्मकारक (मात्र) उपपद होने पर धातु मात्र से अण् प्रत्यय हो। उस उत्सर्ग का विशेष कथन से अपवाद, जैसे आतोऽनुपसर्गे कः कर्म कारक (मात्र) उपपद होने पर उपसर्ग-रहित आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो।

---

१. आगमकालेन इत्यादि में आधार में करणत्व की विवक्षा करके तृतीया प्रयुक्त हुई है ऐसा नागेश का मत है। हमारा विचार है कि यहां उपलक्षण में तृतीया है, आगमकालेनोपलक्षिता विद्योपयुक्ता उपयोगवती भवति।

२. पा० ३।२।१॥ ३. पा० ३।२।३॥

किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्। उभयमित्याह। कथं ज्ञायते। उभयथा ह्याचार्य्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणाम् इत्येकशेष आरभ्यते।

क्या पद का अर्थ—जाति है अथवा द्रव्य ?

वैयाकरण कहता है—दोनों (जाति और द्रव्य)।

(यह) कैसे जाना जाय ?

दोनों अर्थों को स्वीकार कर आचार्य पाणिनि ने सूत्र पढ़े हैं।

पद का अर्थ जाति है ऐसा मान कर जात्याख्यायाम्—इत्यादि सूत्र पढ़ा है। द्रव्य पदार्थ है ऐसा स्वीकार कर सरूपाणाम् इत्यादि से एक शेष आरम्भ किया है।

---

१. व्याकरण शास्त्र में किसी एक पक्ष से सर्वत्र व्यवस्था न हो सकने से कहीं जाति को पदार्थ माना है और कहीं व्यक्ति (द्रव्य) को। यदि एक ही पक्ष का सर्वत्र आश्रयण हो, व्यक्ति ही पदार्थ है ऐसा सर्वत्र इष्ट हो तो सम्पन्ना व्रीहयः यहां व्यक्तियों (धान्य के कणों) का बहुत्व होने से बहुवचन सिद्ध है (साध्य नहीं) अतः उसके लिये जात्याख्यायाम्— इत्यादि बहुवचन-विधान-रूप यत्न सूत्रकार क्यों करे। और यदि जाति ही पदार्थ है ऐसा मत अभिमत हो तो जाति नाम एकार्थ होता है, उसे कहने के लिये एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त होता है, उसी से तज्जात्यवच्छिन्न सकल व्यक्तियों की उपस्थिति हो जायगी, अतः अनेक व्यक्तियों को कहने के लिये अनेक शब्दों के प्रयोग का प्रसङ्ग ही नहीं, तो फिर सरूपाणाम् एकशेषः— (समानरूप वाले शब्दों में से एक रहे, अन्य निवृत्त हो जायं एक विभक्ति परे होने पर) ऐसा योग-निर्माण करने का यत्न क्यों किया। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ आचार्य पाणिनि व्यक्ति पदार्थ है ऐसा मान रहे हैं। यहां इतना विशेष जान लेना चाहिये कि जहां जाति पदार्थ होता है वहां जाति में क्रिया का अन्वय न हो सकने से जात्याश्रय (जाति के अधिष्ठानभूत) व्यक्ति का जाति द्वारा बोध होता है। ब्राह्मणो न हन्तव्यः। यहां ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है, हनन क्रिया ब्राह्मणत्व जाति में संभव नहीं, उसका व्यक्ति में ही अन्वय हो सकता है। जहां व्यक्तिपरक निर्देश है—इमा गावः सुदोहाः, वहां जाति का उपलक्षक के रूप में बोध होता है। गावः=गोत्वोपलक्षिता=गोत्वावच्छिन्ना गोव्यक्तयः=सास्नादिमन्तः पदार्थाः।

किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः[1] । सङ्ग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि[2] लक्षणं प्रवर्त्यमिति ।

कथं[3] पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्—

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे[4] १–१

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।

क्या शब्द नित्य है अथवा कार्य (अनित्य) ?

संग्रह ग्रन्थ में इस पर मुख्य रूप से विचार किया गया है कि शब्द नित्य है वा अनित्य । यहाँ दोनों पक्षों में प्रसक्त दोष कह दिये हैं । शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रयोजन भी कह दिये हैं । वहाँ यही निर्णीत किया गया है, चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, दोनों पक्षों में शास्त्रारम्भ होना ही चाहिये ।

तो किस अभिप्राय को लेकर भगवान् आचार्य पाणिनि का शास्त्र प्रवृत्त हुआ है ? (उत्तर)

(वा०) शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के सिद्ध रहते हुए ।

अब यहाँ सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ?

सिद्ध शब्द नित्य का समानार्थक है ।

---

१. मीमांसक आदि कुछ लोग ध्वनि से व्यङ्ग्य नित्य वर्ण को ही शब्द मानते हैं । उन के मत में पद और वाक्य सब वर्ण-समूह-रूप ही हैं । वैयाकरण लोग वर्ण से भिन्न पदस्फोट या नित्य वाक्यस्फोट को ही शब्द मानते हैं । कुछ नैयायिक आदि केवल अनित्य ध्वनि को ही शब्द मानते हैं । उनके मत में सार्थक अनर्थक ध्वनि ही शब्द है । स्फोट की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार शब्द विषय में सन्देह होने से यह प्रश्न किया गया है कि—किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित् कार्यः ।

२. दोनों अवस्थाओं में दोषों का निराकरण किया जा सकता है । इस हेतु से ।

३. किस अभिप्राय को लेकर, अर्थात् शब्द अर्थ और इनका सम्बन्ध इनकी सिद्धि को मानकर अथवा असिद्धि को । प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि शब्द अर्थ और सम्बन्ध लोकसिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ व्यर्थ है और यदि ये असिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ शक्य ही नहीं । अर्थात् सर्वथा शास्त्र अनारम्भणीय ही ठहरता है ।

४. यह समाहार द्वन्द्व है—शब्दश्च, अर्थश्च, सम्बन्धश्चेति शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन् शब्दार्थसम्बन्धे । तीनों का त्रिकालाऽबाधित (नित्य) अवियोग दिखाने के लिये समाहार द्वन्द्व का आश्रयण किया है ।

अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूटस्थेष्वविचालिषु[1][2] भावेषु वर्तते। तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति। ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति।

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव।

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि[3]। तद्यथा—अब्भक्षो वायुभक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि। सिद्ध एव न साध्य इति।

यह कैसे जाना जाय ?

क्योंकि यह एक स्वरूप-स्थित (अविनाशी), एकत्र नित्यावस्थित पदार्थों को कहने में प्रयुक्त होता है। जैसे द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है।

क्यों जी, (सिद्ध शब्द) कृत्रिम (क्रिया से बने) पदार्थों को कहने में भी तो प्रयुक्त होता है। जैसे—भात (सिद्ध) बना है, दाल (सिद्ध) बनी है, यवागू (पतला भात) (सिद्ध) बनी है। चूंकि यह सिद्ध होने वाले अर्थों को कहने में भी प्रयुक्त होता है तो यहाँ नित्य समानार्थक का ग्रहण है न कि उस सिद्ध शब्द का जो सिद्ध होने वाले (क्रियानिष्पाद्य=कार्य) अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह कैसे जाना जाय ?

संग्रह ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द 'कार्य' शब्द के विरोधी रूप में प्रयुक्त होने से हम समझते हैं कि वहाँ 'नित्य' अर्थ वाले का ग्रहण है। यहाँ भी वैसा ही।

अथवा एक (इकेले) पद से अवधारण (नियम) देखा जाता है। जैसे—अब्भक्षः—पानी ही पीता है, वायुभक्षः, वायु ही खाता है—ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार यहाँ भी। (जो) सिद्ध ही है साध्य (कभी) नहीं, ऐसा अर्थ जाना जाता है।

---

१. कूटमयोघनः तद्वद् ये तिष्ठन्ति। अयो हन्यतेऽस्मिन्निति अयोघनः, वह लोह संघात (निहाई) जिसपर लोहे को कूटा जाता है।

२. विचालः स्थानान्तरसङ्क्रमः, दूसरे स्थान में जाना विचाल कहलाता है। दूसरी जगह अष्टाध्यायी में रूपान्तरापत्तिर्विचालः रूप का बदलना विचाल का अर्थ अभीष्ट है (काशिका ५।३।४३)।

३. एकं पदं यस्यावधारणस्य तदेकपदम् (बहुव्रीहि)। एव शब्द का प्रयोग होने पर द्विपद अवधारण (नियम) होता है। एव वहां द्योतक होता है। द्योतक के

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।

किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात्। मङ्गलार्थम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति ।

अथवा यहां पूर्वपद का लोप समझना चाहिये। अत्यन्त सिद्ध को सिद्ध कह दिया है। जैसे देवदत्त को दत्त, सत्यभामा को भामा (कह देते हैं)।

अथवा व्याख्यान (स्पष्टीकरण) से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता इस कथन के अनुसार यहां नित्यपर्यायवाची सिद्ध शब्द का ग्रहण है ऐसा व्याख्यान करेंगे।

तो फिर इस यत्न से व्याख्येय (सिद्ध) शब्द से क्या लाभ? गला खोल कर 'नित्य' शब्द ही क्यों नहीं पढ़ा, जिसके उपादान से सन्देह ही न रहता?

मङ्गल के लिये। मङ्गल (अनिन्दित अभीष्ट अर्थ की सिद्धि) चाहता हुआ आचार्य बड़े भारी शास्त्र-समुदाय (=वार्तिक समूह) के मङ्गल के लिये आदि में सिद्ध शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि आदि में मङ्गल वाले शास्त्र प्रचरित होते हैं, इनके जानने वाले वीर (वाद में विजेता) और दीर्घायुवाले होते हैं और पढ़ने वाले कृतार्थ होते हैं।

बिना भी अर्थसङ्गतिवश जब नियम का बोध हो जाता है तब एकपद अवधारण कहलाता है।

१. अत्यन्तं कालापरिच्छेदेन सिद्धः=अत्यन्तसिद्धः, अर्थात् सभी कालों में सिद्ध।

२. वर्ण्य=व्याख्या योग्य, यत्न से व्याख्येय। शक्यार्थ में कृत् प्रत्यय। यत्नेन वर्णयितुं शक्यं वर्ण्यम्। व्याख्या-गम्यम्।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि। आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते। तद्यथा—नित्यप्रहसितो[1] नित्यप्रजल्पित इति। यावताभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः[2] प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः।

अथ कं[3] पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। आकृतिमित्याह। कुत एतत्। आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम्।

यह नित्य शब्द भी एक-रूप अविनाशी तथा एकत्रावस्थित पदार्थों को ही कहता हो ऐसा कोई नियम नहीं। तो क्या ? आवृत्ति (अभ्यास) अर्थ में भी आता है। जैसे—नित्य (=बार-बार) हँसता रहता है, नित्य बोलता रहता है। जब कि यह अभ्यास अर्थ में भी आता है तो वहां भी इसीसे निर्वाह हो जायगा (इसीसे काम लेना होगा)—व्याख्यान से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता। पर आचार्य देखते हैं, आदि में प्रयुक्त हुआ सिद्ध शब्द मङ्गल के लिये रहेगा और (साथ ही) मैं इसे नित्य का पर्यायवाची भी बतला सकूँगा। अतः 'सिद्ध' शब्द ही पढ़ा है, 'नित्य' नहीं।

अब प्रश्न होता है—किसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है--शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के नित्य होने पर। आकृति को (पदार्थ मानकर)।

यह कैसे ?

आकृति नित्य है, द्रव्य अनित्य है।

---

१. नित्यं हसितुमारब्धः=प्रशब्दः आदिकर्मणि। कर्तरि क्तः।

२. आदितः=आदौ। आद्यादित्वात् तसिः। आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् से यहां सब विभक्तियों के अर्थ में तसि प्रत्यय होता है।

३. जब यह निश्चित हो चुका कि वार्तिक में सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है तो प्रश्न होता है कि शब्दार्थसम्बन्धे इसका जो शब्देऽर्थे सम्बन्धे च ऐसा विग्रह किया गया है सो किसे पदार्थ मान कर किया गया है—जाति (और आकृति) अथवा द्रव्य। प्रश्नकर्ता जाति की सिद्धता (नित्यता) को तो समझ सकता है पर उसे आकृति और द्रव्य की नित्यता खटकती है, उसे स्वीकार करने में संकोच है। शब्दार्थसम्बन्धे इस द्वन्द्व के समीप में स्थित सिद्धे इस पद का शब्द, अर्थ,

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः। सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। कथं ज्ञायते। एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरा-

---

यदि द्रव्य पदार्थ हो तो कैसा विग्रह करना चाहिये।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च इस प्रकार (विग्रह करना चाहिये)। क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है।

अथवा द्रव्य को पदार्थ मान कर भी यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च (शब्द, अर्थ, सम्बन्धों के सिद्ध होने पर)। कारण कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है।

कैसे जानें?

ऐसा लोक में देखते हैं मिट्टी किसी एक आकृति से युक्त पिण्ड (गोला) बन जाती है, पिण्ड आकार को मिटाकर छोटे-छोटे घड़े बनाए जाते हैं, इन घड़ों की आकृति को मिटाकर कुण्डिकाएँ बनाई जाती हैं। इसी प्रकार सोना किसी एक आकृति से युक्त हुआ पिण्ड बन जाता है, पिण्डाकार को मिटाकर रुचक नाम के भूषण बनाए जाते हैं, रुचकों की आकृति को मिटाकर कड़े बनाए जाते हैं, कड़ों के आकार को मिटाकर स्वस्तिक बनाए जाते हैं। गलाया हुआ फिर सुवर्ण पिण्ड बना हुआ

सम्बन्ध—इन तीनों के साथ अन्वय होता है। द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वसमीपे च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते—ऐसा न्याय है।

१. यहां द्रव्य के अनित्य होने से अर्थ को सम्बन्ध का विशेषण बना दिया गया है। पर फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनित्य अर्थों के साथ शब्दों का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? वह इस तरह से है कि शब्द में अर्थबोधन की योग्यता सहज है। यही योग्यता शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। वह अर्थ के अनित्य होते हुए भी अनित्य नहीं हो जाता। नष्ट और भावी वस्तु का भी शब्द से बोध होने से बौद्ध (आन्तर, सूक्ष्म, वासना रूप सें स्थित) अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध बना रहता है।

वृत्तः[1] सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले[2] भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति। ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्येति। नैतदस्ति। नित्याऽऽकृतिः। कथम्। न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत्तन्नित्यम्[3] इति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते।

सोना फिर किसी दूसरी आकृति से युक्त होकर खैर के (धधकते हुए) कोयले के समान दो कुण्डलों के रूप में परिणत हो जाता है। आकृति (बदलकर) और होती जाती है, द्रव्य वैसे का वैसा रहता है। आकृति-विशेष के नाश होने पर द्रव्य ही बचा रहता है।

आकृति (जाति) को भी पदार्थ मानकर यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च।

अजी अभी कहा था—आकृति अनित्य है। ऐसा नहीं। आकृति नित्य (ही) है।

कैसे ?

किसी एक द्रव्य में अनभिव्यक्त (अनुद्भूत=अप्रत्यक्ष) होने से सभी द्रव्यों में अनभिव्यक्त रहे ऐसा नहीं, दूसरे द्रव्य में तो इसकी उपलब्धि होती ही है।

अथवा कोई यही नित्य का लक्षण नहीं—जो ध्रुव (= कूटस्थ) एक मात्र रूप में अवस्थित (रूपान्तर-प्रतिभास-रहित), परिणाम-रहित, उपजन (= विपरिणाम) अपचय-रूप विकार-रहित, उत्पत्ति वृद्धि और क्षय-रहित हो वह नित्य होता है। वह भी नित्य होता है कि जिसके नष्ट होने पर उसमें रहने वाला धर्म (तत्त्व) नष्ट न हो।

---

१. आवृत्तः=आवर्तितः, औटाया हुआ, गलाया हुआ। आङ्पूर्वक वृत् (णिच्) का ऐसा अर्थ है इसमें अमरकोष का तैजसावर्तनी मूषा यह पाठ प्रमाण है।

२. इस पर नागेश का वचन है—अच्यन्ते विकृतेः कर्तृत्वं बोध्यम्। यह बात भी प्रायिक है। इस विषय में हमारी कृति शब्दापशब्दविवेक की भूमिका में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखें।

३. यहां ध्रुव शब्द का कूटस्थ व्याख्यान है, अर्थान्तर नहीं। इतना कहने से संसर्गानित्यता (संसर्ग=संश्लेष, सामीप्य के कारण जो अनित्यता) का परिहार

किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति।

लोकतः १—२

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न ताव-

---

तो तत्त्व क्या पदार्थ है?

किसी वस्तु का स्वभाव, (उसमें रहने वाला धर्म जो उसके स्वरूप को बनाता है वह) तत्त्व है। आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता।

अथवा हमें इससे क्या—यह नित्य है, यह अनित्य है, जो भी नित्य है (आकृति हो वा द्रव्य हो) उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे च।

यह कैसे जाना जाय कि शब्द, अर्थ, सम्बन्ध ये तीनों ही नित्य है?

(वा०) लोक से।

क्योंकि लोक में उस-उस अर्थ को कहने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं, पर इन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करते। परन्तु जो पदार्थ क्रिया से निष्पन्न होते हैं उनकी निष्पत्ति (सिद्धि) के निमित्त यत्न किया जाता है। जैसे—घड़े से काम लेना चाहता हुआ कुम्हार के घर जाकर कहता है—घड़ा बनाइये, मैं इससे काम लूँगा।

किया है। जैसे स्फटिक (बिलौर) के पास लाक्षा आदि के पड़े होने से उसका अपना स्वरूप तिरोहित हो जाता है और लाक्षा का रूप (लौहित्य=लाली) उसमें प्रतिभासित होने लगता है। ज्यों ही लाक्षा को परे हटाओ यह लौहित्य-प्रतिभास भी हट जाता है। विचाल कहते हैं रूपान्तरोत्पत्ति को, जो परिणाम कहलाता है। धर्मी (वस्तु) के अवस्थित रहते हुए उसमें जो पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर एक नये धर्म की उत्पत्ति होती है उसे साङ्ख्य दर्शन में परिणाम कहते हैं जैसे बदरी फल में परिपाक होने पर श्यामता तिरोहित हो जाती है और रक्तिमा (लाली) का आविर्भाव हो जाता है—यही परिणाम है। इसी प्रकार दूध का दही रूप विकार परिणाम है। अविचालि कहने से परिणामानित्यता का भी परिहार कर दिया है। शेष अनपाय-इत्यादि विशेषणों से प्रध्वंसानित्यता का निरास कर दिया है। अनपायोपजनविकारि—इसका विग्रह इस प्रकार है—अपायश्च उपजनश्च इत्यपायोपजनौ, तौ च विकारौ च (कर्मधारयः),

च्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः १—३

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। किमिदं धर्मनियम इति। धर्माय नियमो[1] धर्मनियमः, धर्मार्थो[2] वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो[3] वा नियमो धर्मनियमः।

यथा लौकिकवैदिकेषु १—४

पर शब्दों का प्रयोग करना चाहता हुआ वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता है—(मेरे लिये) शब्द बना दीजिये, मैं इन्हें प्रयुक्त करूँगा। उसी समय (विवक्षा होते ही) उस-उस अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं।

यदि लोक शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—इनमें प्रमाण है (अर्थात् ये तीनों सिद्ध हैं ऐसा बताता है) तो शास्त्र क्या बनाता है?

(वा०) लोक व्यवहार से अर्थ के निमित्त शब्द का प्रयोग सिद्ध होने पर शास्त्र धर्म का नियम करता है। धर्मनियम का क्या अर्थ है? धर्म के लिये नियम, धर्म-रूप नियम, धर्म है प्रयोजन (प्रयोजक) जिसका ऐसा नियम।

वा० जैसे लोक और वेद में १—४

अस्य स्तः, इत्यपायोपजनविकारि (मत्वर्थीय इनिः), तद्भिन्नम् अनपायोपजनविकारि। यहां वार्ष्यायणि ने जो छः भाव विकार माने हैं उन्हीं का निषेधमुख परिगणन किया गया है। अपाय, उपजन, उत्पत्ति (=सत्ता व जन्म), वृद्धि, व्यय (नाश)। व्ययेन योगोऽस्यास्ति इति व्यय-योगि, तद्भिन्नम् अव्यययोगि।

१. धर्माय नियमः—यह तादर्थ्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये अर्थ-निर्देश है, विग्रह-वाक्य नहीं।

२. यहां नियम धर्म के लिये है अतः नियम को धर्म नाम से कह दिया है। जो जिसके लिये होता है उसे वही नाम दे दिया जाता है। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। सो यहां कर्मधारय समास विवक्षित है, जिसका विग्रह होगा—धर्मश्चासौ नियमश्च।

३. धर्मप्रयोजनः का फलितार्थ धर्मप्रयोज्य है। प्रभाकर आदि के मत में लिङ् आदि का क्रियाजन्य अपूर्व (अदृष्ट) रूप कार्य वाच्य है। जब वह अपनी सिद्धि के लिये पुरुष को प्रेरित करता है तो उसे नियोग कहते हैं, वही धर्म है। यही धर्म असाधु-शब्द के निवृत्तिरूप नियम का कारण बनता है। इन के मत में अपूर्व (धर्म) ही यागादिका मुख्य फल है, स्वर्गादि तो गौण।

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये[1] यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। अथवा युक्त एवात्र तद्धितः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावद् अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्य-सूकर इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदम-भक्ष्यमिति। तथा—खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति। वेदे

दाक्षिणात्य (दक्षिण में रहने वाले) लोग तद्धित-रुचि होते हैं, जैसे लोके वेदे च (लोक व वेद में) इस प्रकार प्रयोग न कर लौकिकवैदिकेषु ऐसा व्यवहार करते हैं। अथवा यहां तद्धित युक्त ही है (इस में तद्धितप्रियत्ता कारण नहीं), जैसे लोक-प्रसिद्ध व वेदप्रसिद्ध सिद्धान्तों (सिद्धान्त प्रतिपादक वाक्यों) में। लोक में कहा जाता है—ग्राम का कुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम का सूअर अभक्ष्य है। भोज्य पदार्थ का ग्रहण क्षुधा की निवृत्ति के लिये किया जाता है और क्षुधा को पुरुष कुत्ते के मांस आदि से भी मिटा सकता है। वहां नियम किया जाता है—यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है। इसी प्रकार राग से पुरुष स्त्री से समागम करता है और स्त्री चाहे समागम योग्य हो अथवा समागम के अयोग्य, राग की निवृत्ति तो (दोनों में) एक सी है। वहां नियम किया जाता है—यह समागम-योग्य है और यह समागम के अयोग्य। वेद में

स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।
कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः॥

१. समुदायेषु वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते—अर्थात् शब्दोंका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो समुदाय-वाचक शब्द होते हैं वे समुदाय के एकदेश को कहने में भी व्यवहृत हो जाते हैं। लोक और वेद दोनों शब्द समुदायरूप अर्थ को कहते हैं और लोक के एकदेश (अवयव) और वेद के एकदेश (अवयव) को भी। ऐसी अवस्था में यथा लोके वेदे च ऐसा ही कहना युक्त (गौरवदोष-रहित) होता। पर तद्धित में रुचि-विशेष के कारण वार्तिककार समुदाय (अवयवी) लोक व वेद और इनके एकदेश (अवयव) में (जो वस्तुतः अभिन्न हैं) भेद की कल्पना करके आधाराधेय भाव रूप सम्बन्ध बनाकर तत्र भवः इस अर्थ में तद्धित (ठञ्) प्रत्यय करते हैं। अर्थ केवल 'लोक में' 'वेद में' इतना ही है। जब कृतान्त विशेष्य हो तो वह न लोकस्वरूप है न वेदस्वरूप, किंतु लोक और वेद के अन्दर वर्तमान है, वहां आधाराधेय-भाव वास्तव है, अतः तत्र भवः अर्थ में तद्धित युक्त ही है। तद्धितप्रियता तद्धितप्रत्यय करने में हेतु नहीं।

२. शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्। शक् धातु से लिङ्ग-सर्वनाम नपुंसक युक्त कर्म-सामान्य में यत् प्रत्यय कर के शक्यं क्षुत् प्रतिहन्तुम् यह रूप बना है। पीछे से क्षुध् इस स्त्रीलिङ्ग पद के साथ सम्बन्ध होने पर भी अन्तरङ्गसंस्कारो बहिरङ्ग-

खल्वपि—पयोव्रतो[1] ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो[2] वैश्य इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते। तथा बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात् इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य[3] वा पशुरनुबन्द्धुम्। तत्र नियमः क्रियते। तथा अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम् इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति। तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति। एवमिहापि

भी—ब्राह्मण दूध का आहार करे, क्षत्रिय यवागू (पतली भात) का ही और वैश्य आमिक्षा का ही। कोई भी खाद्य वस्तु आहार रूप में ली जा सकती है वह मांसौदन, आदि का भी आहार कर सकता है। वहाँ नियम किया जाता है।

इसी प्रकार यूप बिल्व का अथवा खैर का बना होना चाहिये ऐसी विधि है। यूप पशु बाँधने में उपयुक्त होता है। कोई व्यक्ति किसी भी काष्ठ को लेकर उसे छील कर (तराश कर) अथवा बिना छीले उससे पशु को बाँध सकता है। वहाँ नियम किया जाता है। इसी प्रकार अग्नि पर कपालों को रख कर उस पर मन्त्र पढ़ता है—भृगुओं और अङ्गिरस् गोत्र के ऋषियों के तेज की गरमी से तपो। मन्त्र के बिना भी जलाने की क्रिया करने वाला अग्नि कपालों को तपायेगा ही। वहाँ नियम किया जाता है—ऐसा करना कल्याणकारी होता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द और

संस्कारेण न बाध्यते। इस न्याय से शक्यम् यह नपुंसक लिङ्ग ही रहेगा। शक्या इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग नहीं बनेगा। जैसा कि रामायण में भी प्रयोग है शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः। यदि पहले से क्षुध् रूप कर्मविशेष के साथ सम्बन्ध करके शक् से यत् प्रत्यय करेंगे तो स्त्रीलिङ्ग का विशेषण शक्या क्षुत् प्रतिहन्तुम् ही बनेगा। उस में यदि प्रतिघात क्रिया का क्षुध् कर्म विवक्षित हो और शक्नोति क्रिया का प्रतिघात, तब क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यम् ऐसा तीसरा रूप बनेगा। ये तीनों ही रूप उक्त रीति से शुद्ध हैं।

१. पयो व्रतयतीति पयोव्रतः। कर्मण्यण्। यहां व्रत प्रातिपदिक से भोजन (खाने) अर्थ में णिच् होकर ण्यन्त धातु व्रति से अण् कृत् प्रत्यय हुआ है। व्रतयति=भुङ्क्ते। अन्यत्र व्रतयति=भोजनं परिहरति।

२. क्षार के योग से सन्तप्त दूध के फट जाने पर उसका जो तरल भाग है, उसे आमिक्षा कहते हैं, स्थूल भाग को वाजिन कहते हैं।

३. उच्छ्रित्य–सन्तक्ष्य, छीलकर, तराशकर। श्रिञ् का ल्यबन्त रूप है। उद् उपसर्ग-वश अर्थान्तर हुआ है यही संगत अर्थ है। गाड़कर तथा सीधा खड़ा कर यह अर्थ नहीं, कारण कि यहां दो प्रकार का नियम किया गया है। पशुबन्धन काष्ठ बिल्व होना चाहिये या खैर, इस से अतिरिक्त नहीं। दूसरा नियम यह है कि वह काष्ठ यूप-

समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।

अस्त्यप्रयुक्तः

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः। प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः।

इदं तावद् विप्रतिषिद्धं यदुच्यते सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात्। नैतद् विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद् ब्रूमः, यदेताञ्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते।

अपशब्द से एक बराबर अर्थ बोध होने पर धर्म नियम किया जाता है—शब्द से अर्थ कहना चाहिये, अपशब्द से नहीं। ऐसा करने से अभ्युदय होता है।

(वा०) अप्रयुक्त (शब्द) भी है।

निश्चय ही अप्रयुक्त शब्द भी हैं। जैसे—ऊष, तेर, चक्र, पेच।

इससे क्या, यदि अप्रयुक्त शब्द भी हैं?

आप प्रयोग से ही तो शब्दों के साधुत्व का निश्चय करते हैं। हो सकता है जो अप्रयुक्त हैं वे असाधु हों।

यह कहना कि अप्रयुक्त शब्द हैं, परस्पर-विरुद्ध है। यदि शब्द हैं तो अप्रयुक्त नहीं हैं, और यदि अप्रयुक्त हैं तो नहीं हैं, हैं भी और अप्रयुक्त भी, यह परस्पर-विरोधी बात है। (और यह भी बड़ा कौतुक है कि) आप ऊष तेर आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए ही यह कहते हैं कि (ये) शब्द अप्रयुक्त हैं।

इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा? (नहीं) यह परस्पर विरोधी वचन नहीं है। हम कहते हैं शब्द हैं क्योंकि शास्त्रकार इनका शास्त्र

रूप होना चाहिये। यूप-रूपापत्ति विना तक्षण आदि व्यापार के संभविनी नहीं, क्योंकि कहा है—अष्टाश्रिर्यूपो भवति (आठ किनारों वाला यूप होता है)। अतः निखनन (गाड़ना) और उच्छ्रयण (सीधा खड़ा करना) यद्यपि दोनों विधि के अंग हैं पर प्रकृत नियम,का विषय नहीं हैं। यूपमुच्छ्रयते इस नियम विधि का यहां श्रवण भी नहीं है।

१. साधु का यहां कुशल अर्थ है। यहां भाष्यकार की प्रशंसा में तात्पर्य है। दूसरे लोग यहां सोत्प्रास (कटाक्षगर्भित) कथन समझते हैं। प्रयोग करना और साथ ही कहना कि ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते, यह तो बड़ी चतुराई (चालाकी) है।

अप्रयुक्ता इति ब्रूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते—कश्चेदानीमभ्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किन्तर्हि लोकेऽप्रयुक्ता इति। ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके। अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः।[2]

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्। तन्न। किं कारणम्। अर्थे शब्दप्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते।

अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्[3]

द्वारा अनुकरण (अथवा अन्वाख्यान) करते हैं। हम कहते हैं ये अप्रयुक्त हैं, क्योंकि लोक में इनका प्रयोग नहीं। यह तुम्हारा कहना कि इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा, (इसमें हमारा यह कहना है कि) हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं, किन्तु लोक में अप्रयुक्त हैं।

क्यों जी, आप भी तो लोक के भीतर ही हैं।

(ठीक है) मैं लोक के भीतर हूँ, पर लोक तो नहीं हूँ।

(वा०) शब्द अप्रयुक्त भी होता है—यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से।

शब्द अप्रयुक्त भी है ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग होता है और इन शब्दों के अर्थ हैं जिनमें ये प्रयुक्त होते हैं।

(वा०) अप्रयोग (भी ठीक ही है), इनके स्थान में अन्य शब्दों का प्रयोग होने से।

---

१. इससे अप्रयुक्त (असाधु) शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाली व्याकरणस्मृति अप्रमाण हो जायगी।

२. अभ्यन्तरोहं लोके इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोक शब्दों को अर्थ बोधन कराने के लिये प्रयुक्त करता है वैसे मैंने इनका प्रयोग नहीं किया, मैंने तो इनका स्वरूप दिखाने के लिये उच्चारण किया है। लोक शब्द से भाष्यकार का अभिप्राय जन समुदाय से है जो अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करता है। ऊष, तेर, चक्र, पेच—ये क्रम से वस्, तॄ, कृ, पच् धातुओं के लिट् लकार के मध्यम पुरुष बहुवचन में रूप हैं।

३. प्रयुज्यत इति प्रयोगः शब्दः, सोऽन्यो यस्यार्थस्य स प्रयोगान्यः। यहां पूर्वनिपात-प्रकरण के अनित्य होने से सर्वनाम अन्य का पर निपात हुआ।

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्तः, पेचेत्यस्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः। तद्यथा दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि[1] वार्षसहस्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो[2] धर्म[3] इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते।

सर्वे देशान्तरे[4]

इन शब्दों का अप्रयोग भी ठीक ही है। कैसे? अन्य शब्दों का प्रयोग होने से। क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे—ऊष इस शब्द के अर्थ में क्व यूयमुषिताः (आप कहाँ रहे) इस वाक्य में उषित शब्द का प्रयोग, तेर इस शब्द के अर्थ में क्व यूयं तीर्णाः (तुम कहाँ तैरे) इस वाक्य में तीर्ण शब्द का प्रयोग और चक्रे शब्द के अर्थ में क्व यूयं कृतवन्तः (तुमने कहाँ कार्य किया) इस वाक्य में कृतवन्तः शब्द का प्रयोग तथा पेचे इस शब्द के अर्थ में क्व यूयं पक्ववन्तः (तुमने कहाँ पकाया) इस वाक्य में पक्ववन्तः शब्द का प्रयोग।

(वा०) अप्रयुक्त शब्दों के विषय में दीर्घसत्रों की तरह।

यद्यपि अप्रयुक्त हैं तो भी लम्बे समय तक रहने वाले यज्ञों की तरह शास्त्र-द्वारा इनका अन्वाख्यान करना ही होता है। जैसे सौ वर्ष तक और हजार वर्ष तक रहने वाले यज्ञ होते हैं, पर आजकल इन्हें कोई नहीं करता। केवल वेदाध्ययन धर्म है ऐसा मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से इनका अन्वाख्यान करते हैं।

(वा०) सभी (अप्रयुक्त शब्द) दूसरे देशों में।

---

१. वर्षाणां शतं वर्षशतम्। वर्षशतं(द्वितीया)भावीनि वार्षशतिकानि। प्राग्वतीयष्ठञ्।

२. ऋषि=वेद। सम्प्रदायः—सम्यक् प्रकर्षेण दीयते गुरुणा शिष्यायेति। गुर्वध्ययनपूर्वक ही शिष्य का वेदाध्ययन होता है।

३. जिस प्रकार दीर्घ सत्रों के आजकल न किये जाने पर भी उनके विषय के अध्ययन और ज्ञान से पुण्य होता है, इसी प्रकार पाणिनि के समय में अप्रयुक्त पर उससे पूर्व प्रयुक्त शब्दों के ज्ञानमात्र से पुण्य होता है, अतः उनका इस व्याकरण में अनुशासन समूल और युक्त ही है। किं च। इन शब्दों का पूर्वकाल में प्रयोग होता था, यह भी वर्तमान व्याकरणस्मृति में इनके अनुशासन के बल पर ही जाना जाता है।

४. वस्तुतः जिन शब्दों को हम अप्रयुक्त समझते हैं वे भी किसी न किसी

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या[1] बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं[2], नवधाऽऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्[3], इतिहासः, पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः

ये सभी (अप्रयुक्त) शब्द दूसरे देशों में प्रयुक्त होते हैं, पर हमारी उपलब्धि का विषय तो नहीं हैं। उपलब्धि के लिये यत्न करना चाहिये। शब्द प्रयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र है। प्रथम तो पृथिवी के ही सात द्वीप हैं। तीन लोक हैं। चार वेद हैं अङ्ग और रहस्य सहित। इनके नाना भेद हैं—यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद के १००० मार्ग हैं, बह्वृचों का आम्नाय २१ प्रकार से भिन्न है और अथर्ववेद ९ प्रकार से। (यही नहीं) वाकोवाक्य भी है, इतिहास है, पुराण है और वैद्यक भी—इतना शब्द के प्रयोग का विषय है। इस सारे शब्द के विषय को जाने बिना 'अप्रयुक्त शब्द भी हैं' ऐसा कहना केवल साहसमात्र है।

इस बहुत बड़े प्रयोगक्षेत्र में शब्द अपने-अपने नियत विषय में ही प्रयुक्त होते हैं।

जैसे शव् धातु का तिङन्त रूप में कम्बोज लोग ही प्रयोग करते हैं, आर्य लोग इससे बने हुए (कृदन्त) शव का प्रयोग करते हैं। हम्म् धातु सुराष्ट्र देश में, रंह् प्राच्य और मध्य देश में देखी जाती हैं। आर्य लोग तो (इस अर्थ में) गम् का

दूसरे देश में प्रयुक्त होते हैं। केवल हमारा उनके विषय में ज्ञान नहीं होता, कारण कि प्रयोग का क्षेत्र अति महान् है।

१. रहस्य शब्द का अर्थ उपनिषद् है, कोई वेदमूलक मन्वादि स्मृति को भी रहस्य कहते हैं।

२. बहव ऋच एषां सन्ति ते बह्वृचाः, ऋग्वेदिनः। बह्वृचानाम् आम्नायः (वेदः) बाह्वृच्यम्।

३. प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ को वाकोवाक्य कहते हैं। जैसे—किं स्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महत् (यजुः २३।४५-४६)।

प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते । दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु ।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते । क्व । वेदे । तद्यथा—'सप्तास्ये रेवती रेवदूषँ, यद्वो रेवती रेवत्यं तदूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' इति ।

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे ।[1]

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

ही प्रयोग करते हैं । दा (तिङन्त) का काटने अर्थ में प्रयोग प्राच्य लोगों में होता है, दात्र (कृदन्त नाम) का प्रयोग उदीच्य लोग करते हैं ।

और जो शब्द आपने अप्रयुक्त मान रखे हैं उनका प्रयोग भी होता है । कहाँ ? वेद में । जैसे सप्तास्ये इत्यादि श्रुति में ऊष का प्रयोग है, यन्मे इत्यादि श्रुतियों में चक्र शब्द का प्रयोग है ।

क्या शब्द के ज्ञान में धर्म (-लाभ) होता है अथवा प्रयोग में ?

(वा०) यदि ज्ञान में धर्म हो तो वैसे अधर्म (भी होना चाहिये) ।

ज्ञान में धर्म कहोगे तो अधर्म भी होना चाहिये । जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म होता है इसी प्रकार अपशब्द ज्ञान में अधर्म भी होगा । अथवा अधर्म अधिक होगा । अपशब्द अधिक हैं और उनकी अपेक्षा शब्द थोड़े हैं । एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं । जैसे गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं ।

---

१. ऋ० सं० ४।५१।४ ॥ ऋ० सं० १।६५।११ ॥ ऋ० सं० १।८९।९॥

२. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति—ऐसी श्रुति है । वार्तिककार से कहा हुआ धर्म-नियम श्रुतिमूलक है । पर इस श्रुति में ज्ञान और प्रयोग दोनों में धर्म (अभ्युदयरूप फलवाला) कहा गया है । अतः प्रकृत में प्रश्न किया गया है । क्या ऐसा समझा जाय कि ज्ञान से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग तो केवल इस बात का सूचक होता है कि शब्द अच्छी तरह जाना गया है अथवा यूँ समझें कि शुद्ध प्रयोग से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग हुआ है इसका सम्यक् ज्ञान से अनुमान होता है ।

आचारे नियमः

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुरिति।

अस्तु तर्हि प्रयोगे।

प्रयोगे सर्वलोकस्य

यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः।

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते।

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यते हि—कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यतिरेकोपि स्यात्।

(वा०) आचार में नियम है।

वेद आचार (प्रयोग) में नियम बतलाता है। वे असुर हेऽलयः, हेऽलयः ऐसा अपप्रयोग करते हुए पराजित हो गये।

तो प्रयोग में (धर्म) सही।

(वा०) प्रयोग में धर्म मानने से सभी का (एक समान अभ्युदय होगा)। यदि प्रयोग में धर्म हो तो सभी अभ्युदय से युक्त हो जायेंगे।

तो इसमें आपको जलन क्यों?

जलन कोई नहीं, प्रयत्न तो व्यर्थ पड़ता है। प्रयत्न को फलवान् होना चाहिये। प्रयत्न फलव्यतिरिक्त (फलरहित) नहीं होना चाहिये।

अजी, जिन्होंने प्रयत्न किया है वे दूसरों की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह (अति शुद्ध रूप में) शब्दों का प्रयोग करेंगे और वे ही अधिक अभ्युदय से युक्त होंगे।

वैपरीत्य (उल्टापन) भी देखा जाता है—(व्याकरण में) प्रयत्न करने पर भी कोई (प्रयोग में) प्रवीण नहीं होते और कोई एक बिना प्रयत्न किये (प्रयोग में) प्रवीण होते हैं। (जैसे प्रवीणता का भेद है वैसे) वहां अभ्युदय-रूप फल का भी अभाव रहेगा।

---

१. आचार=व्यवहार, प्रयोग। नियम=सङ्कोच। अपशब्दों के प्रयोग का अनिष्ट फल-निर्देश करने से वेद, साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये, ऐसा नियम सूचित करता है।

एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव। किन्तर्हि

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेदशब्देन। वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।

अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति।

अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म इति। ननु चोक्तम्—ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म इति। नैष दोषः। शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्।

ऐसी स्थिति में (प्रयत्न की अनर्थकता होने पर) यह मानना होगा कि न तो केवल ज्ञान में धर्म है और न केवल प्रयोग में, किन्तु—

(वा०) शास्त्रबोध-पूर्वक प्रयोग में धर्म है, वेद भी ऐसा ही कहता है। जो कोई शास्त्र को जानकर (साधु रूप से) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। वेद के शब्द भी ऐसी ही बात कहते हैं—जो अग्निष्टोम याग करता है और जो इसे (शास्त्र से) जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जो इस चयन को (विधिशास्त्र से) जानता है।

दूसरा कोई तत्तुल्यं वेदशब्देन इसका इस प्रकार व्याख्यान करता है—जिस प्रकार वेद के शब्द नियमपूर्वक पढ़े गये फल वाले होते हैं इसी प्रकार जो शास्त्रज्ञान-पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है।

अथवा फिर ज्ञान में ही धर्म मान लो। अजी, अभी कहा था—

यदि ज्ञान में धर्म मानोगे तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होगा। यह कोई दोष नहीं। हम शब्द (श्रुति आप्तोपदेश) को प्रमाण मानते हैं। शब्द शब्द के ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता। और जो कोई कर्म न

---

१. यहां शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयान्—इस न्याय से य उ चैनमेवं वेद इसका अर्थ पहले होना चाहिये। जो अग्निष्टोम को जानकर इसका अनुष्ठान करता है। यहां वेद भी ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का विधान करता है।

यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। तद्यथा हिक्कित-हसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। यो ह्यपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति। तदेवं ज्ञाने धर्म इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म इति।

अथवा कूपखानकवदेतद्भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन्यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स दोषो निर्हण्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि। यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते[3] भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति।

तो विहित हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उसके करने से न दोष होता है और न अभ्युदय, जैसे हिचकची, हंसी और खुजली करना न दोषकारक होता है और न ही अभ्युदयकारक।

अथवा अपशब्द-ज्ञान शब्दज्ञान में उपाय ही है। जो कोई अपशब्दों को जानता है वह शब्दों को भी जानता है। इस प्रकार ज्ञान में धर्म है ऐसा कहने वाले के लिये पूर्व में अपशब्द ज्ञान होने पर जो शब्दज्ञान होता है उसमें धर्म है यह अर्थ-सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाता है।

अथवा यह कूएँ को खोदने वाले की तरह होगा। जैसे कूएँ को खोदने वाला कूएँ को खोदता हुआ मिट्टी और धूलि से विलिप्त (दूषित) हो जाता है, पर पानी निकलने पर वह उस स्नानपान आदि इष्ट-साधन उत्कर्ष को प्राप्त होता है जिससे वह दोष नष्ट हो जाता है, और बड़े अभ्युदय से योग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी। यद्यपि अपशब्द ज्ञान में अधर्म है (ऐसा मान भी लिया जाय) तो भी जो शब्द-ज्ञान में धर्म है उससे दोष (पाप) नष्ट हो जायगा और बड़े अभ्युदय से योग होगा।

---

१. शब्द ज्ञान में अविनाभावी रूप से अपशब्द ज्ञान होता है, अपशब्दज्ञान उसमें सहकारी (सहायक) होता है। अपशब्दों को स्वरूपतः जान लेने पर तद्भिन्न शब्दों का ज्ञान होता है। फल शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है, तदङ्गभूत अपशब्द-ज्ञान का पृथक् फल कुछ नहीं।

२. यहां कर्ता में ण्वुल् किया है, प्रकृत में शिल्पी विवक्षित न होने से शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५॥ से ष्वुन् नहीं हुआ। ष्वुन् होनेपर खनक रूप होता।

३. निर् पूर्वक हन् धातु का कर्मवाचक लृट् का प्र० पु० एक० में रूप है।

यदप्युच्यते आचारे नियम इति। याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियमः। एवं हि श्रूयते—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परावरज्ञा[1] विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः[2]। ते तत्र भवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः।

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः।

सूत्रम्।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—व्याकरणस्य सूत्रमिति। किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात्।

और जो कहा है कि आचार अर्थात् व्यवहार में धर्म का नियम है, वह नियम यज्ञसम्बन्धी कर्म में लागू होता है, अन्यत्र नहीं। ऐसा सुनते हैं—यर्वन् और तर्वन् नाम के ऋषि हुए धर्म को साक्षात् किये हुए जो पर और अवर ब्रह्म को जानते थे, जिन्हें ज्ञेयमात्र का ज्ञान था और जिन्होंने ज्ञेय के सत्य वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किया था। वे पूज्य लोग यद्वा नः, तद्वा नः (जो कुछ हमारे लिये हो, वही हमारे लिये हो) ऐसा न कहकर यर्वाणस्तर्वाणः इस तरह का प्रयोग करते थे (जिससे उनकी इसी नाम से प्रसिद्धि हो गई), पर वे यज्ञ कर्म में अपभाषण नहीं करते थे। असुरों ने यज्ञ कर्म में अपभाषण किया, अतः वे पराजित हुए।

अब (यह विचार्य है) कि व्याकरण शब्द का क्या अर्थ है।

सूत्र (अर्थ है)।

(वा०) व्याकरण का अर्थ यदि सूत्र हो तो षष्ठी का अर्थ संगत नहीं होता व्याकरण का सूत्र। व्याकरण सूत्र से कौनसा भिन्न पदार्थ है जिसका वह सूत्र हो।

विकल्प से चिण्वद्भाव होने से हन् के ह् को घ् हुआ और उपधा वृद्धि हुई। पक्ष में निर्हणिष्यते ऐसा रूप होगा।

१. प्रायः मुद्रित भाष्य पुस्तकों में परापरज्ञाः ऐसा पाठ है, पर द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चैवावरं च—इत्यादि में अवर देखा जाता है, वही प्रकृत में होना चाहिये। परापरज्ञाः ऐसा पाठ हो तो परा विद्या और अपरा विद्या इन दोनों को जानने वाले—यह अर्थ है।

२. यथातथं भावः=याथातथ्यम्। तथाऽनतिक्रम्य यथातथम्।

शब्दाप्रतिपत्तिः

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे इति। न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि व्याख्यानतश्च।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। न केवलानि चर्चा-पदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐज् इति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्यु-दाहरणं वाक्याध्याहार[1] इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।

एवं तर्हि शब्दः।

शब्दे ल्युडर्थः

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो[2] नोपपद्यते। व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। न हि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते। केन तर्हि। सूत्रेण।

(वा०) शब्दों का बोध भी नहीं।

(सूत्र अर्थ होने पर) शब्दों का बोध न हो सकेगा। 'हम व्याकरण से शब्दों को जानते हैं' ऐसा व्यवहार भी न बन सकेगा। सूत्र मात्र से तो शब्दों को जानते नहीं।

तो किससे ?

व्याख्यान से भी।

अजी, वही सूत्र पदच्छेद करके पढ़ा हुआ व्याख्यान हो जाता है।

केवल विभाग करके पढ़े गये पद व्याख्यान नहीं बन जाते—

वृद्धिः, आत्, ऐच्।

तो क्या ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलजुलकर व्याख्यान बनता है।

तो ऐसी अवस्था में व्याकरण का अर्थ शब्द मान लो।

(वा०) शब्द अर्थ हो तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता। यह व्याकरण है इस लिये कि इससे शब्दों का प्रकृतिप्रत्यय-आदि-रूप विभाग किया जाता है। शब्द से तो कुछ भी विभाग नहीं किया जाता।

तो किससे ?

सूत्र से।

---

१. वाक्य को बनानेवाले पद जो दूसरे सूत्रों में पड़े हैं उनकी स्वरितप्रतिज्ञा के बल पर कल्पना करना प्रकृत में वाक्याध्याहार है।

२. यहां यह मानकर आक्षेप किया गया है कि ल्युट् करण (और अधिकरण) में ही होता है।

भवे च तद्धितः

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति। नहि शब्दे भवो योगः। क्व तर्हि। सूत्रे।

प्रोक्तादयश्च तद्धिताः

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। आपिशलं काशकृत्स्नमिति। नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः। किं तर्हि। सूत्रम्।

किमर्थमिदमुभयमुच्यते भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति। न प्रोक्तादयश्च इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात्।

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं 'भवे च तद्धितः' इति पठितम्। तत उत्तरकालमिदं दृष्टं प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति, तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।

अयं तावददोषः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थे' इति। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते। किं तर्हि। अन्येष्वपि कारकेषु कृत्यल्युटो बहुलम् इति। तद्यथा—प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति।

(वा०) तत्रभवः 'उसमें होता है' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय भी नहीं हो सकेगा—व्याकरण में होनेवाला योग वैयाकरण होता है। (यहां व्याकरण से तद्धित अण् हुआ है)। शब्द में तो योग होता नहीं।

कहां होता है।

सूत्र में।

वा० तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१॥) से होने वाले तद्धित भी न हो सकेंगे। पाणिनि से प्रोक्त को पाणिनीय कहते हैं, इसी तरह आपिशलि से प्रोक्त आपिशल और काशकृत्स्नि से प्रोक्त काशकृत्स्न कहलाता है। पर पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया, सूत्र का किया है।

ये दोनों बातें भव अर्थ में तद्धित, और प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित क्यों कही जाती हैं? और प्रोक्त आदि तद्धित कहने से ही क्या भव अर्थ में भी तद्धित प्रत्यय का आक्षेप (=संकेत) न हो जायगा?

पहले आचार्य की दृष्टि में भवे च तद्धितः आया और उसे उन्होंने पढ़ दिया, पीछे उन्होंने प्रोक्तादयश्च तद्धिताः इसे देखा और इसे भी पढ़ दिया। अब आचार्य सूत्रों को पढ़कर नहीं हटाते हैं।

---

१. प्रपतति अस्माद् इति प्रपतनम् प्रपातः = भृगुः, अतटः, विना ढलान के सीधी खड़ी हुई ऊँची चट्टान।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते[1]—तद्यथा—गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति।

अयं तर्हि दोषः—भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति।

एवं तर्हि—

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम्। शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्। एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति। नैष दोषः। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा—पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्,

---

जो कहा था कि शब्द अर्थ होने पर शब्द में ल्युट् प्रत्यय का अर्थ न घटेगा। इसमें कोई दोष नहीं। करण तथा अधिकरण में ही ल्युट् प्रत्यय होता है इसमें कोई नियम नहीं। बहुत बार दूसरे कारकों के अर्थ में भी कृत्य और ल्युट् देखे जाते हैं, जैसे प्रस्कन्दन, प्रपतन इत्यादि (में)।

अथवा शब्द भी दूसरे शब्दों का व्याख्यान करते हैं जैसे गो कहने से सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, न घोड़ा है न गधा।

यह एक दोष रह गया—'उसमें होता है' इस अर्थ में और प्रोक्त आदि तद्धित नहीं हो सकेंगे।

तो इस अवस्था में।

(वा०) लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है। लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है। शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। ऐसा होने पर यह दोष बना रहेगा—समुदाय में प्रवृत्त होने वाला व्याकरण शब्द अवयव में प्रवृत्त न हो सकेगा। केवल सूत्रों को पढ़नेवाले को भी वैयाकरण कहना इष्ट ही है। यह कोई दोष नहीं। समुदाय को कहनेवाले (जिनका समुदायत्व प्रवृत्ति-निमित्त है) शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे पञ्चाल के पूर्वभाग को पूर्वपञ्चाल कहते हैं, उत्तर भाग को उत्तरपञ्चाल, औषध आदि में संस्कृत तैल और घृत की मात्रा को लक्ष्य करके कहने की रीति है—(मैंने) तेल खाया, (मैंने) घी खाया। वस्त्र आदि के एक देश के शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण आदि होने पर कहा जाता है वस्त्र आदि शुक्ल

---

१. व्याक्रिया से यहां भी पृथग्भाव (जुदा करना) अथवा प्रविभाग अर्थ विवक्षित है।

शुक्लो नीलः कपिलः, कृष्ण इति। एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तो ऽवयवेष्वपि वर्तते।

अथवा पुनरस्तु सूत्रम्।

ननु चोक्तम्—सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्न इति। नैष दोषः। व्यपदेशिवद्भावेन[1] भविष्यति।

यदप्युच्यते शब्दाप्रतिपत्तिरिति। न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किन्तर्हि व्याख्यानतश्चेति। परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति। ननु चोक्तम्—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐजिति। किन्तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवतीति। अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान्प्रतिपद्यन्ते। आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत।

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः।

नील, कपिल अथवा कृष्ण है। इसी प्रकार यह व्याकरण शब्द समुदाय का वाचक होता हुआ भी अवयवों को भी कहने में प्रवृत्त होता है।

अजी, वहाँ यह भी तो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर व्याकरण से षष्ठी विभक्ति संगत न होगी। यह कोई दोष नहीं। मुख्य के साथ जैसा व्यवहार होता है गौण (कल्पित) के साथ भी वैसा व्यवहार होता है इस न्याय से षष्ठी विभक्ति की संगति लग जायगी।

और जो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर शब्दों का बोध न हो पायेगा, क्योंकि (केवल)सूत्र से शब्दों को नहीं जानते हैं किन्तु व्याख्यान से भी। इस दोष का परिहार किया जा चुका जब यह कहा गया कि वही सूत्र पदच्छेद से व्याख्यान बन जाता है। अजी यह भी तो कहा गया था—केवल विभाग करके पढ़े हुए पद व्याख्यान नहीं हो जाते—वृद्धिः, आत्, ऐच्। तो क्या? उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलजुल कर व्याख्यान होता है। न जाननेवाले के लिये ऐसा होता है, सूत्र से ही शब्दों को जानते हैं। और इस हेतु से भी सूत्र से ही जानते हैं—जो भी सूत्र का अतिक्रम करके कहेगा, वह उसका वचन न माना जायगा।

अब यह विचार्य है कि वर्णों का उपदेश किस लिये किया गया है।

---

१. व्यपदेशिवद्भावेन—जिस पदार्थ का किन्हीं निमित्तों के कारण एक विशिष्ट मुख्य नाम (व्यपदेश) होता है जिससे उसे कहा जाता है उसे व्यपदेशी कहते हैं, पर उन निमित्तों की अनुपस्थिति में भी एक अकेले पदार्थ से व्यपदेशी के तुल्य (जैसे व्यपदेशी से) शास्त्र में कहे हुए कार्य किये जाते हैं। इस अतिदेश को

वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः

वृत्तिसमवायार्थों वर्णानामुपदेशः। किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति। वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थों वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्ति-प्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः। का पुनर्वृत्तिः। शास्त्रप्रवृत्तिः[1]। अथ कः समवायः। वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः। अथ क उपदेशः। उच्चारणम्। कुत एतत्। दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति।

(वा०) वृत्ति समवाय के लिये वर्णों का उपदेश है।

वृत्ति समवाय क्या चीज है?

वृत्ति के लिये समवाय वृत्तिसमवाय है, वृत्ति का उपकारक समवाय वृत्ति-समवाय है अथवा वृत्ति का प्रयोजक समवाय वृत्तिसमवाय है।

वृत्ति क्या चीज है?

शास्त्र की प्रवृत्ति।

समवाय क्या पदार्थ है?

वर्णों का क्रम से रखना।

उपदेश क्या है?

उच्चारण।

यह कैसे?

दिश् धातु उच्चारणार्थक है। उच्चारण करके ही तो कहता है इन वर्णों का उपदेश हो गया।

व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। अत इञ् (४।१।९५) से अदन्त प्रातिपदिक (सुबन्त बनाकर) से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय का विधान है, सो अदन्त दक्ष से इञ् होकर दाक्षि सिद्ध होता है। अब अ अन्त में होने से दक्ष शब्द का अदन्त यह व्यपदेश (विशिष्ट-अपदेश=नाम) है, सो यह इस व्यपदेशवाला अथवा व्यपदेशी है, पर अ (=विष्णु) तो असहाय अकेला है, इसे अदन्त इस व्यपदेश वाला अर्थात् व्यपदेशी तो नहीं कहा जा सकता, तो भी जहां तक शास्त्र कार्य का सम्बन्ध है इससे भी व्यपदेशी का सा व्यवहार किया जाता है। अस्यापत्यम् इः। इञ् प्रत्यय होता है। भाष्यकार आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०) के स्थान पर व्यपदेशिवदेकस्मिन् ऐसा न्यास चाहते हैं।

१. वर्ण समाम्नाय के होनेपर अच् आदि संज्ञाओं की सिद्धि होने से थोड़े में ही शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकेगी और इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४५) आदि यथा-सङ्ख्य संज्ञा भी हो सकेगी।

अनुबन्धकरणार्थश्च

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति। न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च। वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम्। प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः।

इष्टबुद्ध्यर्थश्च

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः—इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामहे[1] इति। न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम्।

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः। एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते।

(वा०) अनुबन्ध लगाने के लिये भी।

अनुबन्ध लगाने के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है—मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा। पर वर्णों का उच्चारण किये विना अनुबन्ध लगाए नहीं जा सकते। सो वह वर्णों का उपदेश वृत्ति-समवाय (=शास्त्र-प्रवृत्ति) के लिये भी है और अनुबन्ध लगाने के लिये भी। वृत्तिसमवाय और अनुबन्ध लगाना प्रत्याहार बनाने के लिये है। प्रत्याहार शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है।

(वा०) इष्ट (वर्णों) के बोधन के लिये भी।

इष्ट वर्णों के बोध के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है, हम इष्ट वर्णों को जानेंगे इसलिये। क्योंकि बिना उपदेश किये इष्ट वर्ण जाने नहीं जा सकते।

(वा०) इष्टवर्णों के बोध के लिये यदि वर्णों का उपदेश मानते हो तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत—इनका भी उपदेश करना चाहिये। इन गुणों वाले वर्ण भी इष्ट ही हैं।

(वा०) जातिपरक निर्देश होने से इष्टसिद्धि हो जायगी। अत्व जाति का उपदेश होने से सभी प्रकार की अ व्यक्तियों का ग्रहण (बोध) हो जायगा। इसी प्रकार इत्व जाति का और उत्व जाति का उपदेश सभी प्रकार के इवर्ण और उवर्ण का ग्रहण करा देगा।

---

१. भोत्स्यामहे=बोधयिष्यामः। यहां णिच् का अर्थ अन्तर्भूत है, प्रत्यय से नहीं कहा गया।

२. प्रत्याहारसूत्रों में के अ इ उ आदि अचों का एकश्रुति से पाठ होने से यह प्रश्न है।

आकृत्युपदेशात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । के पुनः संवृतादयः । संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति । अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥ इति ।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

नैष दोषः ।

(वा०) आकृति उपदेश से यदि इष्टसिद्धि मानते हो तो संवृत आदि (दोषों) का प्रतिषेध करना चाहिये ।

तो संवृत आदि कौन से हैं ।

संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत, क्ष्विण्ण और रोमश । दूसरा कोई (वृत्तिकार) कहता है—ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, सन्दष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण—ये स्वर दोष हैं । इनसे भिन्न व्यञ्जनोच्चारण के दोष हैं ।

---

१. संवृत आदि स्वरों के उच्चारण में दोष परिगणित किये हैं । संवृत अ का तो गुण ही है, शेष स्वरों के विषय में दोष रहेगा । जिह्वामूल की कण्ठ के समीप स्थिति होने से संवृतता नामक गुण ह्रस्व अ में आता है । कल=अपने स्थान को छोड दूसरे स्थान से उच्चारित होना, जिसे काकली कहते हैं । ध्मात—जब श्वास की अधिकता से ह्रस्व भी दीर्घ झलकता है । एणीकृत—साधारण रूप, जहां यह सन्देह हो कि इसने ओ का उच्चारण किया है अथवा औ का । अम्बूकृत—जो व्यक्त होता हुआ भी मुँह के अन्दर उच्चारित हुआ सा सुनता है । अर्धक—जो दीर्घ भी ह्रस्व प्रतीत होता है । ग्रस्त—जो जिह्वामूल में निगृहीत, अव्यक्त । निरस्त—निष्ठुर (कर्कश) अथवा मतान्तर में त्वरित । प्रगीत—साम की तरह गाकर उच्चारण किया हुआ । उपगीत—समीप में दूसरे वर्ण के गाने से अनुरक्त । क्ष्विण्ण—कम्प युक्त । रोमश—गम्भीर । अवलम्बित—वर्णान्तर से मिला हुआ । निर्हत—रूक्ष । सन्दष्ट—बढ़ाकर उच्चारण किया हुआ । विकीर्ण—आगे आनेवाले दूसरे वर्ण में जा मिला हुआ अथवा एक होता हुआ भी जो अनेक भासता हो ।

गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः ॥

गर्गादिं बिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।

अस्त्यन्यद् गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम् । किम् । समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति । एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि । सा तर्हि वक्तव्या ।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ॥

(वा०) गर्गादि गण तथा बिदादि गण-पाठ से (अनिष्ट) संवृत आदि की निवृत्ति हो जायगी ।

गर्गादि, बिदादि पाठ का तो और प्रयोजन है । क्या ?

(गर्गादि) समुदायों का साधुत्व हो इसलिये ।

ऐसी अवस्था में जैसे कलादिदोष रहित अठारह प्रकार के अ की शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति (=पुनः स्वरूप प्राप्ति) कही है वैसे ही 'इ', 'उ' आदि के विषय में भी कह दूँगा ।

तो यह प्रत्यापत्ति तुम्हें कहनी पड़ेगी (अर्थात् इससे गौरव दोष आयगा) ।

(वा०) कलादि-दोषरूप लिङ्गों की निवृत्ति के लिये भी प्रत्यापत्ति रहेगी (और इससे अनुबन्धों के स्थान में इन दोषों को लिङ्ग स्वीकार करने से अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी, जिससे कुछ भी गौरव नहीं होगा) ।

---

१. समुदाय से यहां गर्ग आदि समुदाय अभिप्रेत हैं । जहां इनके गण पाठ में उपदेश से विशिष्टवर्णानुपूर्वी का साधुत्व ज्ञात होता है वहां इनके अन्तर्गत अकार आदि में कलादि दोषों की शून्यता भी प्रतीत होती है । क्योंकि आचार्य ने इन्हें शुद्ध ही पढ़ा है, पर इतने से गार्ग्य आदि अन्य समुदायों में वर्तमान अकार आदि के कल आदि दोषों की निवृत्ति न हो सकेगी—ऐसा कैयट के अनुसार अर्थ है । नागेश इससे विपरीत अर्थ लेते हैं । उनका कहना है कि गर्ग आदि के गण में पाठ का प्रयोजन गर्ग आदि प्रकृतियों से यञ् आदि प्रत्यय करके निष्पन्न गार्ग्य आदि समुदायों का साधुत्व बताना है, इस में चरितार्थ हुआ गर्गादि पाठ संवृत आदि दोषों की निवृत्ति न कर सकेगा ।

लिङ्गार्था सा तर्हि भवति। तत्तर्हि वक्तव्यम्। [1]यद्यप्येतदुच्यते, अथ[2] वैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। यदनुबन्धैः[3] क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते।

सिध्यत्येवम्, [4]अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेध इति। परिहृतमेतत्—गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यतीति। ननु चान्यद्

तब धातु आदि में कलादि लिङ्ग कर दिये जायँ। जब यह कहा जाय तो सैंकड़ों अनुबन्ध नहीं लगाने पड़ेंगे, इत्संज्ञा भी नहीं करनी होगी, (इत्संज्ञक का) लोप भी नहीं कहना पड़ेगा। जो कार्य अनुबन्धों द्वारा होता है वह (सब) कलादि लिङ्गों द्वारा किया जायगा।

हाँ इस तरह भी इष्ट सिद्धि हो जायगी, पर यह पाणिनीय शास्त्र के प्रतिकूल होगा। तो आकृत्युपदेशात् सिद्धम्—यह जो कहा था, वही ठीक है। अजी वही ठीक कैसे? उसके मानने से तो प्रसक्त हुए संवृत आदि दोषों का निषेध करना चाहिये ऐसा कहा था। पर उसका उत्तर दिया जा चुका जब यह कहा गया—गर्गादि, बिदादि गण पाठ से संवृत आदि (दोषों) की निवृत्ति हो जाएगी। अजी वहां यह भी तो कहा गया था कि गर्गादि, बिदादिगण-पाठ का दूसरा प्रयोजन है। क्या? (गर्गादि) समुदायों की साधुता जिससे हो। अच्छा तो गर्गादि बिदादि पाठ से दोनों कार्य

---

१. यद्यपि = यदा, जब।

२. अथवैतर्हि = तदा, तब।

३. जैसे अधिकार सूचित करने के लिये स्वरित चिह्न कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मनेपद के लिये एध् शीङ् आदि धातुओं को अनुदात्तेत् और ङित् न पढ़कर कलदोषयुक्त पढ़ दिया जायगा। कलादात्मनेपदम् ऐसा सूत्र-न्यास कर दिया जायगा। इसी प्रकार स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं को ध्मातदोषयुक्त पढ़ दिया जायगा। तब ध्मातात्कर्तृगामिनि क्रियाफले—ऐसा सूत्र-न्यास होगा। ये कलादि दोष लिङ्ग-रूप से आसक्त किये गये प्रक्रिया दशा में श्रूयमाण होंगे, प्रयोग में तो अकार आदि शुद्ध ही होंगे, क्योंकि शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति कह दी गई है।

४. वर्ण समाम्नाय का समर्थन करते हुए जब यह कहा कि इसमें अचों और हलों का जातिपरक निर्देश है, तब संवृत (अकार में यह दोष नहीं प्रत्युत गुण ही है) आदि दोष अतिप्रसक्त हुआ, इसके वारण के लिए गौरव-युक्त व्याख्यानसापेक्ष इस प्रकार के समस्त शास्त्र के अन्यथाकरण (अदल बदल) में वृश्चिकविषभीतः सर्पेण दष्टः

गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम्। किम्। समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति। एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते। कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्। लभ्यमित्याह। कथम्। द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद्यथा आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति। तथा वाक्यानि द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति।

अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति। आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते। विकारेषु तर्हि। विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रत्ययेषु तर्हि। प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। धातुषु तर्हि। धातवोपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रातिपदिकेषु तर्हि। प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि

किए जाते हैं—पाठ भी विशिष्ट होता है (इस-इस आनुपूर्वी-विशेष वाले गर्ग आदि प्रातिपदिकों से यञ् प्रत्यय हो औरों से न हो) और कल आदि दोष भी निवृत्त किए जाते हैं[1]।

पर क्या एक ही यत्न से दो फलों की प्राप्ति हो सकती है?

हाँ, हो सकती है।

कैसे?

कुछ हेतु ऐसे होते हैं जो दो प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। (जैसे जब आम्रवृक्ष के मूल में बैठा हुआ मनुष्य पितृतर्पण करता है तो) आमों का सिंचन भी हो जाता है और पितरों की तृप्ति भी। इसी प्रकार वाक्य भी द्व्यर्थक होते हैं—श्वेतो धावति इस वाक्य के दो अर्थ हैं—कुत्ता यहां से दौड़ता है, श्वेत गुणवाला दौड़ता है। अलम्बुसानां याता इस वाक्य के भी दो अर्थ हैं—अलम्बुस नामक देश को जानेवाला, बुसों को प्राप्त करने वाला समर्थ है।

अथवा इससे (आकृत्युपदेश से संवृतादि दोषों की प्रसक्ति बतानेवाले से) हम पूछते हैं कि ये संवृतादि कहां सुने जा सकते हैं। यदि कहो आगमों में। आगम तो (आचार्य ने) शुद्ध पढ़े हैं। तो विकारों (आदेशों) में सही। विकार (आदेश) भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रत्ययों में। प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े हैं। तो धातुओं में। धातु भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रातिपदिकों में। प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े हैं। तो फिर जिन प्रातिपदिकों

(विच्छू के विष से डरे हुए को सांप ने डसा) यह न्याय लागू होता है।

१. गर्ग आदि गण-पठित प्रातिपदिकों के अकारादि तो आचार्य के उच्चारण से दोष-शून्य ही हैं, अपठित प्रातिपदिकों के अकारादि भी ऐसे ही शुद्ध जानने चाहियें, यह अभिप्राय है।

पठ्यन्ते। यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि। एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः। शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्।

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः॥

इति प्रथमं पस्पशाह्निकम्।

का विधिवाक्यों में उद्देश नहीं किया है (उनमें)। उनका भी स्वर और वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिए सङ्ग्रह इष्ट है, ताकि शश के स्थान में षष, पलाश के स्थान में पलाष, मञ्चक के स्थान में मञ्जक न हो।

आगम, आदेश, प्रत्यय और धातु—ये सभी शुद्ध उच्चारण किए हैं, अतः इन कलादि दोषों का प्रसङ्ग ही नहीं॥

यहां पस्पशा नामक प्रथम आह्निक समाप्त हुआ।

द्वितीय आह्निक का संक्षिप्त सार

इस आह्निक के अ इ उ ण् ॥१ १.१॥ इस सूत्र से लेकर झ भ ञ् ॥१.१.८॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

अ इ उ ण्

१. प्रक्रिया दशा में अकार विवृत है यह अ अ (८।४।६८) सूत्र से ज्ञापित करके विवृतोपदेश के प्रयोजन बताये हैं।

२. अस्य च्वौ इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों के अकार को सर्वत्र एक मान कर अण् सिद्ध किया है।

३. अकार को एक मानने में प्राप्त दोषों का समाधान किया है। फिर व्यक्तिपक्ष में अकार की भिन्नता दिखा कर आकृतिपक्ष में सर्वत्र एक अकार सिद्ध किया है।

ऋ ऌक्

ऌकारोपदेश का प्रयोजन बताकर वार्तिककार ने ऌकार का खण्डन कर दिया है। किन्तु भाष्यकार ने अशक्तिजानुकरणार्थ ऌकारोपदेश को माना है।

ए ओ ङ्, ऐ औ च्

१. एत् ओत् ङ्, ऐत् औत् च् इस प्रकार तपरनिर्देशयुक्त सूत्रन्यास का खण्डन करके ए ओ ङ्, ऐ औ च् यही न्यास निर्दोष सिद्ध किया है।

२. वर्ण ग्रहण में वर्णैकदेशों का ग्रहण नहीं होता यह सिद्ध करते हुए उस पक्ष में प्राप्त दोषों का समाधान किया है।

ह य व र ट्

१. ह य व र ट् और हल् यहां हकार के दो बार उपदेश का प्रयोजन बताकर ह य व र ट् इस न्यास को निर्दोष सिद्ध किया है। साथ ही ह र य व ट् इस न्यास में दिए गए दोषों का समाधान भी कर दिया है।

२. अयोगवाहों का लक्षण तथा उदाहरण देकर उनके पाठ का प्रयोजन बताया है।

३. वर्णों की अर्थवत्ता और अनर्थकता पर विचार करते हुए धातु-प्रातिपदिक-प्रत्ययनिपातस्थ वर्णों को अर्थवान् सिद्ध किया है।

४. प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता यह बताकर अणुदित्सूत्र में अण् ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

लण्

अ इ उ ण् और ल ण् में दो बार णकार अनुबन्ध लगाने का प्रयोजन बताते हुए व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् यह परिभाषा ज्ञापित की है।

ञ् म ङ ण न म्, झ भ ञ्

ञ म ङ ण न म् में मकार अनुबन्ध का खण्डन किया है। अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर उसका अर्थ किया है। साथ ही अक्षर समाम्नाय के ज्ञान से स्वर्गप्राप्ति रूप फल का निर्देश भी किया है॥

अथ द्वितीयाह्निकम्

अ इ उ ण् ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । आकारग्रहणार्थः । अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात् । किं च कारणं न गृह्णीयात् । विवारभेदात् । किमुच्यते विवारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि । यथैव ह्ययं विवारभिन्नः, एवं कालभिन्नोपि । सत्यमेव तत् । वक्ष्यति—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च

अ इ उ ण् ॥१॥

(वा०) अकार विवृत उपदेश करना चाहिये, आकार के ग्रहण के लिये ।

अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? आकार के ग्रहण (बोधन) के लिये । ताकि अकार अपने सवर्ण के ग्रहणद्वारा आकार का भी ग्रहण कराये । क्या कारण है कि ग्रहण नहीं करायेगा ? विवृत-प्रयत्न रूप भेद से । विवृत-प्रयत्न-भेद से—ऐसा क्यों कहते हो, कालभेद से भी—ऐसा क्यों नहीं कहते ? जैसे यह आकार विवृत होने से भिन्न है वैसे ही काल से (द्विमात्रिक होने से) भी भिन्न है । ठीक है, पर आचार्य तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इस सूत्र में आस्य-ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए कहेंगे—जिनके आस्य (मुख) में स्थान और प्रयत्न समान हैं वे (आपस में) सवर्णसंज्ञक होते हैं । काल तो आस्य से बाहर है । अतः काल-भेद होते हुए भी अकार आकार का ग्रहण करा देगा, पर विवृतरूप प्रयत्नभेद के कारण नहीं करा सकेगा ।

---

१. यहां अ इ उ आदि वर्णों के अर्थवान् होने पर भी अर्थवत्ता की विवक्षा न होने से उन से परे सु आदि विभक्ति की उत्पत्ति नहीं की गई है । आद्गुणः आदि अच् सन्धि भी इसी लिये नहीं होती कि वर्णोपदेशकाल में अभी अच् आदि संज्ञाओं की निष्पत्ति नहीं हुई । जब तक पहले पृथक् २ वर्ण नहीं पढ़े जायेंगे तब तक अच् आदि प्रत्याहार कैसे बनेंगे ? और जब तक अजादि प्रत्याहार नहीं बन जाते तब तक आद्गुणः आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

२. अकार लोक में संवृत ही है, पर शास्त्र प्रक्रिया में जब तक इसे विवृत न माना जाय, काम नहीं चल सकता । प्रयत्नभेद के कारण अ और आ की सवर्ण संज्ञा न होगी, और इस लिये । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९) इस ग्रहणक शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से अस्य च्वौ (७।४।३२) इत्यादि में अ से आ का ग्रहण (बोध) नहीं होगा । जिससे गङ्गी भवति इत्यादि रूप की सिद्धि न होगी ।

ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति। बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः[१]। तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य।

किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित्संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते। विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते। कथं ज्ञायते। यदयम्—अ अ इति[२] इत्यकारस्य विवृतस्य संवृततापत्यापत्तिं शास्ति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। अतिखट्वः, अतिमाल इत्यत्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति,

---

यहाँ (इस वार्तिक में) क्या समझा जाय—क्या किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है अथवा संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये यह कहा जा रहा है? किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है। यह कैसे जाना जाय? इससे कि आचार्य (शास्त्र के अन्त में) अ अ इति सूत्र के द्वारा विवृत अकार को पुनः संवृत गुण की प्राप्ति का विधान करते हैं।

यह कोई इस बात का ज्ञापक नहीं। अ अ इति इस वचन का कोई और प्रयोजन है।

क्या?

अतिखट्वः, अतिमालः यहाँ सदृशतम आदेश विवृत के स्थान में विवृत प्राप्त

---

१. काल के विषय में कई मत हैं, पर मुख्य दो हैं--

(१) क्रिया ही काल है।

(२) क्रिया से अतिरिक्त क्षण समूह काल है। किसी वस्तु के अन्दर होनेवाली क्रिया को दूसरी वस्तु की क्रिया परिच्छिन्न करती है। यहां दूसरी बाह्य वस्तु की अपेक्षा करने से काल को बाह्य कहा गया है। जैसे निमेष आदि क्रिया के भेद से मात्रा आदि काल कहा जाता है।

अथवा नाभि प्रदेश में ही किए गए विशिष्ट प्रयत्न (वायु की अल्पता, अधिकता) से ह्रस्व, दीर्घ रूप काल की अभिव्यक्ति होने से और नाभि आस्य (मुख) से बाह्य है इस कारण से भी काल को बाह्य कहा है।

२. यह अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र है। इसमें प्रथम अ उद्देश्य है और द्वितीय विधेय है। अर्थ यह है कि अभी तक प्रक्रिया (प्रयोग साधना) के निमित्त इस अष्टाध्यायी शास्त्र में जो ह्रस्व अ विवृत माना गया था, वह प्रयोग-दशा में सर्वत्र संवृत होता है ऐसा समझना चाहिए। इसी लिए पूर्व के विवृत होने से और उससे उत्तरवर्ती द्वितीय अ के संवृत होने से प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं हुआ।

संवृतः स्यादित्येवमर्थां प्रत्यापत्तिः[1]। नैतदस्ति। नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोस्ति। कस्तर्हि। संवृतः। योस्ति स भविष्यति। तदेतत्प्रत्यापत्तिवचनं ज्ञापकमेव भविष्यति विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति। कः पुनरत्र विशेषः। विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायेत, संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोद्येतेति। न खलु कश्चिद्विशेषः। आहोपुरुषिकामात्रं[2] तु। भवानाह—संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यत इति। वयं तु ब्रूमो—विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति।

होता है, संवृत हो, अतः आचार्य ने प्रत्यापत्ति का विधान किया है। नहीं, ऐसा नहीं। न तो लोक में और न ही वेद में अकार कहीं विवृत है।

तो कैसा ?

संवृत। जो है वही तो (आदेशरूप में) होगा।

इसलिए यह अ अ इति रूप प्रत्यापत्ति का शासन इस बात का ज्ञापक ही रहेगा कि किए गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है।

इसमें क्या भेद है—किए गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ऐसा मानें अथवा संवृतोच्चारण किए गए के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, ऐसा ?

कुछ भी भेद नहीं। अभिमानमात्र है। आप कहते हैं—किए गए संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, हम कहते हैं—किए गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है।

---

१. ज्ञापक का खण्डन करने के लिए कहते हैं कि इस अ अ रूप प्रत्यापत्ति का और प्रयोजन है और प्रयोजन रहते ज्ञापक होता नहीं। प्रयोजन यह है कि अतिखट्वः आदि प्रयोगों में जहां गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से दीर्घ आकार को ह्रस्व होता है वहां वह ह्रस्व संवृत हो, स्थानी आ के विवृत होने से आन्तरतम्य (सदृशतम होने से) उसके स्थान में ह्रस्व अ विवृत न हो जाय। अतः अकार का आचार्य ने विवृत-गुण-युक्त उपदेश किया है इसमें कोई ज्ञापक नहीं। यदि कहो कि अकार के विवृत उपदेश के बिना अकार और आकार का सावर्ण्य न होने से आकार के अच् न होने पर अतिखट्वः के आकार को ह्रस्व प्राप्त ही नहीं (इसलिए आचार्य ने अकार का विवृतोपदेश किया है ऐसा मानना होगा) तो इसका उत्तर यह है—उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः (७।३।४६) इस ज्ञापक से सिद्ध होता है कि आकार को भी ह्रस्व होता है। क्योंकि उदीचामातः० यह सूत्र आकार के स्थान में हुए ह्रस्व अकार को इत्व विकल्प करता है।

२. अहो अहं पुरुष इत्यहोपुरुषः। मयूरव्यंसकादि समासः। तस्य भाव आहोपुरुषिका। मनोज्ञादि होने से वुञ्। अर्थ—अहंकार।

तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि[1] विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥२॥

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क्वाऽन्यत्र। धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य। किं प्रयोजनम्। सवर्णग्रहणार्थः। आक्षरसमाम्नायिकेनाऽस्य ग्रहणं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात्। विवारभेदादेव। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणमिति। यदयम्—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति प्रत्याहारेऽको[2] ग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्।

(वा०) इस अकार का यहां (प्रत्याहार सूत्र में) विवृतोपदेश से अन्यत्र भी विवृतोपदेश करना चाहिए, सवर्ण ग्रहण के लिए।

इस अकार का जैसे अक्षरसमाम्नाय में विवृतोच्चारण किया है वैसे ही अन्यत्र भी करना चाहिये।

अन्यत्र कहाँ ?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात में श्रूयमाण अकार का।

क्या प्रयोजन ?

सवर्ण ग्रहण के लिये।

अक्षर समाम्नाय वाला अकार इस दूसरे अकार का ग्रहण करा सके।

किस कारण ग्रहण नहीं करा सकता ?

विवृतरूप प्रयत्न भेदसे।

आचार्य का व्यवहार ज्ञापन करता है कि अक्षरसमाम्नाय वाला (विवृत) अकार धातु आदि में वर्तमान (संवृत) अकार का ग्रहण कराता ही है। क्योंकि आचार्य अकः सवर्णे दीर्घः इस सूत्र में प्रत्याहार के रूप में अक् का ग्रहण करता है।

यह कैसे ज्ञापक बनता है ?

अक्षर-समाम्नाय-स्थित दो अकारों की एक ही काल में सह-स्थिति का संभव नहीं।

यह कोई ज्ञापक नहीं।

---

१. अन्यत्र धातु आदि में। पढ़े हुए धातु आदि का अकार जो कि (व्यक्ति पक्ष में उच्चारण-उच्चारण में वर्णभेद होने से) अक्षरसाम्नाय वाले अकार से भिन्न है, उसके विषय में भी विवृतत्व की प्रतिज्ञा करनी चाहिये, क्योंकि वह आचार्य ने संवृत ही पढ़ा है।

२. अक्षर समाम्नाय के अकार का विवृतोपदेश होने पर भी (व्यक्तिपक्ष में) तद्भिन्न प्रयोगस्थ अ तो संवृत ही रहा, प्रयत्न-भेद के कारण अक्षरसमाम्नायस्थ अ इसका ग्रहण न करा सकेगा, सा इसे भी कार्यार्थ विवृत करना चाहिए। इस पर

अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यस्याक्षरसमाम्नायिकेन ग्रहणमस्ति तदर्थमेतत्स्यात्—खट्वाऽऽढकम्, मालाऽऽढकमिति। सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति। तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क एष यत्नश्चोद्यते विवृतोपदेशो नाम। विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा। को न्वत्र विशेषः। स एष सर्व एवमर्थो यत्नः क्रियते—यान्येतानि प्रातिपदिकान्यग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति। तस्माद् वक्तव्यं धात्वादिस्थश्च विवृत इति।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इस (अकः सवर्णे दीर्घः) वचन में अक् ग्रहण का कोई और प्रयोजन है।

क्या?

जिस (आ) का इस अक्षर-समाम्नाय वाले ह्रस्व (विवृत) अ से (सवर्णता के कारण) ग्रहण होता है उसके लिये यह अक् ग्रहण चरितार्थ है। (जैसे) खट्वाढकम्, मालाढकम् (यहाँ खट्वा आढकम्, माला आढकम् दो (विवृत अत एव सवर्ण) आकारों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ)। जब प्रयोजन सिद्ध होता हो, तो ज्ञापक नहीं बनता। इस लिये धातु आदि में का अकार विवृतोच्चारण करना चाहिये।

विवृत उच्चारण करना चाहिये इसमें वार्तिककार का क्या अभिप्राय है?

सूत्र अथवा गणों में पढ़े हुए धातु आदि में आये हुए सभी अवर्णों को आचार्य पाणिनि विवृत पढ़ देंगे, विवृत पढ़ें अथवा संवृत, प्रयास का तारतम्य कुछ भी न होने से गौरव-लाघव कुछ भी नहीं। सो यह यत्न इस लिये किया जा रहा है कि जिन शश, पलाश, मञ्चक आदि प्रातिपदिकों को किसी सूत्र व गण में नहीं पढ़ा है उनके भी अकार का इस उपाय से विवृत उच्चारण विधान किया जा रहा है, अन्यथा स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् उनका उच्चारण करने से गौरव होता। इस लिये (लाघव के लिये) धातु आदि में के अकार का विवृत उच्चारण करना चाहिये ऐसा वचन अपेक्षित है।

(वा०) दीर्घ और प्लुत (आदेश) विधान में भी संवृत की निवृत्ति के लिये धातु आदि में वर्तमान अ का विवृत उपदेश करना चाहिये।

कहते हैं कि एक लौकिक प्रयोग में एक साथ दो तो क्या एक भी अक्षर समाम्नायस्थ अ दुर्लभ है, पर आचार्य ने अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।१०१) सूत्र में अ से प्रारम्भ करके अक् प्रत्याहार पढ़ा है। अक् का अ अक्षरसमाम्नायस्थ अ है, ककार रूप चिह्न के होने से, सो यह प्रतिज्ञा से विवृत है। इसका धात्वादिस्थ अ सवर्ण तभी हो सकता है जब कि वह भी इसी प्रकार विवृत हो। यदि वह आचार्य को विवृत अभिप्रेत नहीं था, तो अक् प्रत्याहार के स्थान में इक् प्रत्याहार पढ़ते।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थौ विवृतोपदेशः कर्तव्यः। दीर्घप्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति। वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता ३ इति। नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः। कौ तर्हि। विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः।

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत्। अनुस्वारो यथा यणम्। तद्यथा—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम् इति। अनुस्वारः स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति। विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सतस्तत्र प्रक्लृप्तिर्भवति। सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः। कौ तर्हि। विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः। एवमपि कुत एतत्—तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्याताम्, ईकार ऊकारो वेति। वक्ष्यति—स्थानेन्तरतम इत्यत्र स्थाने इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनं यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो भवतीति।

इस लिये कि (ह्रस्व अ के स्थान में) किये हुए दीर्घ और प्लुत कहीं संवृत न हो जाँय। वृक्षाभ्याम् (वृक्ष भ्याम्), देवदत्ता ३ (देवदत्त ३)। (परन्तु यह कोई प्रयोजन नहीं) क्योंकि न लोक में और नहीं वेद में दीर्घ और प्लुत संवृत होते हैं। तो कैसे होते हैं ? विवृत। जैसे होते हैं वैसे आदिष्ट होंगे।

पर संवृत स्थानी अपने सदृश संवृत दीर्घ और प्लुत की कल्पना कर लेगा, जैसे अनुस्वार अपने सदृश अनुनासिक यण् की। जैसे—सँय्यन्ता (संयन्ता), सँव्वत्सरः (संवत्सरः), यँल्लोकम् (यं लोकम्), तँल्लोकम् (तं लोकम्) इत्यादि में अनुस्वार (जो अनुनासिक के स्थान में हुआ है) अपने स्थान में अनुनासिक यण् (य व ल) की कल्पना करता है। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। जो विद्यमान (सिद्ध) है उसकी कल्पना तो युक्त है। यण् (य व ल—दोनों) प्रकार के प्रसिद्ध हैं, पर दीर्घ व प्लुत कहीं भी संवृत नहीं, न लोक में, न वेद में। तो कैसे हैं ?

विवृत।

जैसे हैं वैसे होंगे।

ऐसा होने पर भी यह क्योंकर है कि ह्रस्व (संवृत) अ के स्थान में तुल्य स्थान (कण्ठ्य) पर भिन्न-प्रयत्न वाले (अर्थात् विवृत) दीर्घ और प्लुत आकार तो होते हैं, तुल्य प्रयत्न वाले पर भिन्न-स्थान वाले ईकार अथवा ऊकार नहीं ? (उत्तर)—

स्थानेऽन्तरतमः इस सूत्र में आचार्य कहेंगे—स्थाने पद की (षष्ठी स्थाने योगा इस सूत्र से) अनुवृत्ति आने पर भी फिर स्थाने ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ

---

१. ऋवृतः संवृता अन्यत्राभंवसाम्नः यह वचन किन्हीं सामग आचार्यों का है।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति अस्य च्वौ, यस्येति च। किं कारणम् अनण्त्वात्। न ह्येतेऽणः, येऽनुवृत्तौ। के तर्हि। येऽक्षर-समाम्नाय उपदिश्यन्ते।

एकत्वादकारस्य सिद्धम् ॥

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः।

अनुबन्धसङ्करस्तु ॥

नाना प्रकार का सादृश्य हो वहां स्थान-कृत सादृश्य बलवत्तर होता है।

(वा०) तो भी साक्षात् शास्त्र-प्रवृत्ति के अनुकूल सूत्र-निर्देश (अर्थात् प्रत्याहार-रहित) में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह निर्देश, अण् नहीं। जैसे, अस्य च्वौ सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा, तथा यस्येति च सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा। इन सूत्रों में उच्चारण किए हुए अ, इ अण् नहीं। अण् से अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट अ इ उ इत्यादि का ग्रहण होता है।

(वा०) अकार के एक होने से इष्ट सिद्धि हो जाएगी (अर्थात् उक्तदोष नहीं आएगा)।

जो अकार अक्षर समाम्नाय में है, जो प्रत्याहार-रहित सूत्रनिर्देश में, जो धातु आदि में है, वह सब एक ही हैं।

(वा०) पर ऐसा होने से अनुबन्ध-सङ्कर प्राप्त होता है।

उनके मत में ईकार ऊकार भी संवृत प्रयत्न वाले होते हैं। इस लिए संवृत अकार के स्थान में संवृत ईकार ऊकार प्राप्त होते हैं। जैसे संवृत अकार के स्थान में तुल्य स्थान वाले भिन्न प्रयत्न वाले दीर्घ प्लुत अकार प्राप्त होते हैं वैसे तुल्य प्रयत्न वाले भिन्न स्थानवाले ईकार ऊकार क्यों न हो जावें यह प्रश्न है॥

१. अनुवृत्तिनिर्देशः — वृत्तिमनुगत इत्यनुवृत्तिः। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इससे प्रादिसमास, अनुवृत्तिश्चासौ निर्देशश्च=अनुवृत्तिनिर्देशः। वृत्ति= शास्त्रप्रवृत्ति, उसके अनुकूल निर्देश, जहां प्रत्याहार का आश्रयण न करके वर्णों का लक्ष्य-संस्कार के लिए सीधा उच्चारण है, जैसे अस्य च्वौ (७।४।३२) में अ का।

२. अस्य च्वौ— इस में जो अ पढ़ा है यह अण् नहीं, जैसे आ अण् नहीं वैसे ही अ भी नहीं, क्यों प्रति उच्चारण में वर्णभेद होता है ऐसा व्यक्तिपक्ष में माना जाता है। प्रत्याहारस्थ क् (जैसे अक् में, ण् जैसे अण् में) आदि से अक्षरसमाम्नायस्थ अ का अनुमान हो जाता है, पर अस्य च्वौ में तो वैसा चिह्न नहीं है।

३. अकार, इकार आदि नित्य व्यक्तियां हैं, एक ही अ व्यञ्जक-ध्वनि-भेद से भिन्न सा भासता है, जैसे एक ही मुख आदि खड्ग, तैल, आदर्श (दर्पण) में प्रतिबिम्बभेद

अनुबन्धसंकरस्तु प्राप्नोति। कर्मण्यण् आतोऽनुपसर्गे कः, इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः ॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिर्भवति। तत्र को दोषः। किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। इह च घटेन तरति घटिक इति द्व्यज्लक्षणष्ठन् न प्राप्नोति।

द्रव्यवच्चोपचाराः ॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति। तद्यथा द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको युगपत्कार्यं करोति। एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत्।

विषयेण[1] तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

अर्थात् अ के एक होने से एक अनुबन्ध के कार्य के साथ साथ दूसरे अनुबन्ध के निमित्त से कार्यान्तर भी प्रसक्त होता है, जैसे क प्रत्यय का अ और अण् प्रत्यय का अ यदि एक ही है तो आतोनुपसर्गे कः, की प्रवृत्ति होने पर गोद रूप बनेगा और स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होगा नकि टाप्, कारण कि क का अ इत्संज्ञक णकार वाला भी है ऐसा समझा जाएगा। इतना ही नहीं णित्व के कारण आतो युक्—से युक् आगम भी प्राप्त होता है।

(वा०) जिन सूत्रों में एकाच् अनेकाच् का—निमित्त रूप से ग्रहण किया है उनमें इष्ट रूप की असिद्धि रहेगी।

इससे यह दोष आयगा कि किरिणा, गिरिणा यहां एकाच् हो जाने से विभक्ति अन्तोदात्त हो जाएगी और घटेन तरति घटिकः यह रूप न बन सकेगा, कारण कि ठन् प्रत्यय द्व्यच्क से विधान किया है, पर यहां अ व्यक्ति के एकत्व के कारण घट शब्द एकाच् हो जाएगा।

(वा०) अकार के साथ द्रव्य का-सा व्यवहार प्राप्त होता है। जैसे द्रव्यों के विषय में ऐसा है कि अनेक लोग एक ही घट से एक ही समय में कार्य नहीं करते। इसी तरह अनेक लोग इस एक अकार को एक साथ उच्चारण न कर सकेंगे।

(वा०) विषय विषय में जो आचार्य अकार के साथ भिन्न-भिन्न लिङ्ग

से नाना भासता है। अतः सब अ अण् ही, है। अतः सर्वत्र ग्रहणक शास्त्र (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) की प्रवृत्ति होगी। यह व्यक्ति-स्फोट वादी सिद्धान्त्येकदेशी का मत है।

१. वार्तिककार ने विषयत्व–रूप सामान्य को लेकर और अधिकरणत्व के स्थान में करणत्व की विवक्षा कर विषयेण यह तृतीया-एक वचन का प्रयोग किया है, भाष्यकार विषय-भेद को दृष्टि में रखकर अधिकरणता का बोध कराने के लिए विषये–ऐसा, प्रयोग करते हैं।

यदयं विषये विषये नानालिङ्गमकारं करोति—कर्मण्यण्, आतोनुपसर्गे कः, इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यान्नानालिङ्गकरणमनर्थकं स्यात् । एकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत् । नैतदस्ति ज्ञापकम् । इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यात् । न ह्ययमनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम् । इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात् । आयम्य[2] हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात् । कयोः । आद्यन्तयोः । एवं तर्हि—

विषयेण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

यदयं विषये विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—प्राग्दीव्यतोऽण्, शिवादिभ्योण् इति । तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्गकरणमनर्थकं स्यात् ।

अथवा पुनरस्तु

जोड़ता है, जैसे कर्मण्यण्—इसमें ण् आतोनुपसर्गे कः—इसमें क्, इस से जानते हैं कि एक ही स्थल में नानाऽनुबन्ध-निमित्तक कार्यों का साङ्कर्य नहीं होगा । यदि यह साङ्कर्य हो जाय, तो भिन्न-भिन्न लिङ्ग लगाना व्यर्थ हो जाए । एक अकार को सभी अनुबन्धों सहित पढ़ दे । यह कोई ज्ञापक नहीं । नानालिङ्गों (अनुबन्धों) का लगाना इत्संज्ञा की सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा । एक ही अकार को शल्यक (सेहा जो ऊपर नीचे कांटों से ढपा हुआ होता है) की तरह अनुबन्धों से ढांपा नहीं जा सकता, कारण कि इत्संज्ञा में दोष आएगा । यत्न करने पर दो की इत्संज्ञा हो सकेगी । आदि और अन्त के हलों की । अच्छा तो—

(वा०) विषय-विषय में जो आचार्य अकार को बार-बार एक ही लिङ्ग (अनुबन्ध) से युक्त करते हैं, जैसे प्राग्दीव्यतोऽण्— यहां और फिर शिवादिभ्योऽण् — यहां भी, इससे जानते हैं कि अनुबन्ध-संकर नहीं होता । यदि हो तो बार-बार एक ही लिङ्ग को लगाना व्यर्थ हो जाय ।

अथवा फिर वही पहले पढ़ा हुआ--

---

१. गुण से यहां अनुबन्ध विवक्षित है । अनुवन्ध कार्य करने के लिए आश्रित किये जाते हैं, अतः उपकारक होने से गुण शब्द से व्यपदिष्ट किए जाते हैं । सर्वगुणम् = सर्वानुबन्धम् । कर्मण्यण् न कह कर कर्मणि कण्ट् ऐसा कहे ।

२. आयम्य, यत्न कर । आङ् यम् का अर्थ खींचना, लम्बा करना होता है । यत्न करना गौणार्थ है । कण्ट् इस अनुवन्ध समुदाय के आदि क् की लशक्वतद्धिते (१।३।८) से इत्संज्ञा हो जायगी, अन्त्य ट् की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत्संज्ञा हो जाएगी, पर बीच के ण् की तो किसी शास्त्र से इत्संज्ञा न हो सकेगी ।

विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

इत्येव। ननु चोक्तम्—इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यादिति। नैष दोषः। लोकत एतत्सिद्धम्। तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—
इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भवेति। यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते। एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते।

यदप्युच्यते—एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिरिति—

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात्।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति। तद्यथा—सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् इत्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति। एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति। भवेदावृत्तितः

(वा०) विषयेण तु नाना इत्यादि वार्तिक न्यास ही अनुबन्ध-सङ्कर-रूप दोष की निवृत्ति कर देगा। अजी, अभी कहा था कि नाना लिङ्गों का लगाना इत्संज्ञा की सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा और ज्ञापक न हो सकेगा। मत हो, इससे कुछ बिगड़ता नहीं। नाना-लिङ्ग-हेतुक सङ्कर का अभाव तो लोक से सिद्ध है। जैसे लोक में कोई देवदत्त को ऐसे कहता है—

यहां (संन्यासाश्रम में) मुण्डी हो, यहां (ब्रह्मचर्याश्रम में) जटावान् हो, यहां (गृहस्थाश्रम में) शिखावाला हो। (एक होता हुआ भी वह देवदत्त) जिस चिह्न वाला जहां कहा जाता है उस चिह्न वाला वहां उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार अकार भी जिस चिह्नवाला (णित्त्व, कित्त्व, टित्त्वादि) जहां कहा जाता है उस चिह्नवाला वहां उपस्थित हो जाएगा।

और जो कहा गया है कि जिन सूत्रों में एकाच्, अनेकाच् का ग्रहण है वहां इष्टसिद्धि नहीं होगी, उसका उत्तर यह है—

(वा०) एकाच् अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति द्वारा लब्ध संख्या से अनेकाच्त्व हो जायगा। जैसे (वेद में कहा है) विकृतियाग में सत्तरह समिदाधान के मन्त्र होते हैं। वस्तुतः वहां तेरह मन्त्र होते हैं, जिनके प्रथम और अन्तिम मन्त्र को तीन बार उच्चारण करके सत्तरह संख्या बन जाती है। इसी प्रकार यहां (घट आदि में) आवृत्ति से अनेकाच्त्व हो जाएगा, (जिससे द्व्यच् से विहित ठन् प्रत्यय हो जाएगा और घटिकः यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाएगा)। अच्छा आवृत्ति करके इष्टकार्य सिद्ध हो जाने से दूषण (सूत्र की अव्याप्ति) का परिहार संभव होने पर भी यहां किरिणा गिरिणा में स्वरूप से एकाच्त्व (एक ही इकार) के होने से एकाच्

कार्यं परिहृतम्[1]। इह तु खलु किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येव[2]। एतदपि सिद्धम्। कथम्। लोकतः। तद्यथा ऋषिसहस्रमेकां[3] कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः। एवमिहाप्यनेकाच्त्वं भविष्यति। यदप्युच्यते द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्तीति। भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात्।

को मानकर जो विभक्ति की अन्तोदात्तता प्राप्त होती हैं वह तो होकर रहेगी (यह दूषण अपरिहृत रहा)।

इसका परिहार भी हो जाएगा।

कैसे ?

लोक व्यवहार से।

जैसे एक हजार ऋषि एक-एक करके एक ही कपिला गौ को हजार बार (किसी ब्राह्मण को) देते हैं, इससे वे सहस्र गोदान करनेवाले कहे जाते हैं (सहस्र गोदान का फल उन्हें मिलता है, न कि एक गोदान का)। इसी प्रकार यहां भी अनेकाच्त्व हो जाएगा। जो यह कहा है कि अकार के एक होने से इसके साथ द्रव्य का सा व्यवहार प्राप्त होता है। (उसमें हमें यह कहना है)— जो कार्य असम्भव है वह भले ही अनेक पुरुष एक ही समय न कर सकें, जो कार्य हो सकता हैं उसे अनेक लोग भी एक साथ

---

१. यदि अ एक ही है तो घट शब्द एकाच् हो जाएगा, तव इससे तरति इस अर्थ में नौद्व्यचः ठन् (४।४।७॥) से ठन् प्रत्यय न हो सकेगा और घटेन तरति, इस अर्थ में घटिकः यह इष्ट रूप न वन सकेगा। इस सूत्र से यहां अव्याप्ति रहेगी। इसका परिहार आवृत्ति से किया है।

२. किरि, गिरि में यदि इकार व्यक्ति एक ही है तो यह किरि (सूअर) और गिरि शब्द स्वरूप से एकाच् हुए, तो सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (६।१।१६८) इस सूत्र की अतिव्याप्ति होकर किरिणा, गिरिणा—ये पद अन्तोदात्त हो जायेंगे।

३. यहां कुछ विद्वान् दान प्रतिग्रहमाला समझते हैं। वे ऋषि दाता भी हैं और प्रतिग्रहीता भी। सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम ऋषि केवल दाता ही होगा, प्रतिग्रहीता नहीं। ऋषियों का प्रतिग्रहीतृत्व उनके दातृत्व का अपकर्षक भी है। वस्तुतः स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक दानकर किसी प्रतिग्रहीता ब्राह्मण से प्रत्येक ऋषि उस एक कपिला गौ को मोल लेकर उसे ही प्रतिग्रह–रूप में लौटा देता है। यहां लोकव्यवहार से यह सिद्ध होता है कि — गौणी मुख्या वा उत्तरा सङ्ख्या पूर्वां संख्यां बाधते, आवृत्ति से यहां एक ही गौ सहस्र = संख्याक हो गयी, क्योंकि उन सहस्र ऋषियों को एक गोदान का फल नहीं मिला, किन्तु सहस्र गौओं के दान का। ऐसे ही प्रकृत में

यत्खलु संभवि कार्यमनेकोपि तद्युगपत्करोति। तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा। संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम, अनेकोऽपि तद् युगपत्करिष्यति।

आन्यभाव्यं[1] तु कालशब्दव्यवायात्॥ ११॥

आन्यभाव्यं त्वकारस्य। कुतः। कालशब्दव्यवायात्। कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च। कालव्यवायाद्—दण्ड अग्रम्। शब्दव्यवायात्–दण्डः। न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम्। भवति चेद्भवत्यान्यभाव्यमकारस्य।

युगपच्च देशपृक्त्वदर्शनात्॥ १२॥

युगपच्च देश[2]पृथक्त्वदर्शनान्मन्यामह आन्यभाव्यमकारस्येति। यदयं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते—अश्वः, अर्कः, अर्थ इति। न ह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च।

यदि पुनरिमे वर्णाः

करते हैं जैसे घड़े का स्पर्श और दर्शन। अकार का उच्चारण–रूप कार्य भी हो सकता है, अनेक लोग इसे एक-साथ उच्चारण कर सकते हैं।

(वा०) अकार अन्यान्य (नाना) होने चाहियें कालकृत व्यवधान तथा शब्द कृत व्यवधान होने से।

अकार का नानात्व सिद्ध होता है। कैसे? कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान के कारण। कालकृत व्यवधान, जैसे दण्ड अग्रम्, यहां। शब्द कृतव्यवधान, जैसे दण्ड, यहां। एक ही पदार्थ में व्यवधान नहीं होता है तो (निश्चित ही) अकार नाना है।

(वा०) एक साथ नाना देशों (स्थानों) में उपलब्ध होने से।

एक साथ नाना स्थानों में देखे जाने से. हम समझते हैं कि अकार नाना है। क्योंकि यह अश्व, अर्क इत्यादि स्थलों में एक–साथ देखा जाता है। एक ही देवदत्त एक साथ स्रुघ्न और मथुरा में नहीं हो सकता।

यदि ये वर्ण पक्षियों की तरह होवें।

स्वरूप से यद्यपि किरि, गिरि (इ के एक होने से) एकाच् हैं, पर आवृत्ति से प्राप्त हुई उत्तर संख्या द्व्यच्कता स्वरूप–सिद्ध पूर्व संख्या एकाच्त्व को बाध लेगी और इससे यहां सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

१. अन्यस्य भावः=अन्यभावः स एव आन्यभाव्यम्। स्वार्थे ष्यञ्।

२. देश से यहां वर्ण–समुदाय रूप शब्द का ग्रहण है।

शकुनिवत्स्युः ॥

तद्यथा शकुनय आशुगामित्वात्पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते। अयमकारो द इत्यत्र दृष्टो ण्ड इत्यत्र दृश्यते।

नैवं शक्यम्। अनित्यत्वमेवं स्यात्। नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। यदि पुनरिमे वर्णाः—

आदित्यवत्स्युः ॥

तद्यथा—एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते। विषम उपन्यासः। नैको द्रष्टाऽऽदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभतेऽकारं पुनरुपलभते। अकारमपि नोपलभते। किं कारणम्। श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः[1] प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्। आकाशदेशा अपि बहवः। यावता बहवस्तस्मादान्यभाव्यमकारस्य।

जैसे पक्षी आगे की ओर उड़े हुए शीघ्रगति के कारण पीछे की ओर देखे जाते हैं इसी प्रकार द में देखा हुआ अ ण्ड में (पीछ की ओर) देखा जाता है (अर्थात् वर्ण-संक्रम = स्थान परिवर्तन हो जाता है)।

यह नहीं हो सकता, कारण कि इस प्रकार शब्द में अनित्यता आ जायगी। परन्तु शब्दों में वर्णों को कूटस्थ (नित्य अवस्थित) स्थानपरिवर्तन-रहित, ह्रास, वृद्धि और आदेश से रहित होना चाहिये।

यदि ये वर्ण—

(वा०) आदित्य की तरह हों

जैसे एक ही सूर्य उदय आदि काल में अनेक स्थानों में स्थित, भिन्न-भिन्न स्थानों में (रहने वाले लोगों से) एक-साथ देखा जाता है (ऐसेही एक ही अकार भी)। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। (यहां विषमता है और वह यह है कि) एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान सूर्य को भिन्न-भिन्न स्थानों में एक-साथ नहीं देख पाता, अकार को तो देखता है (इससे अकार व्यक्तियों का नानात्व ही सिद्ध होता है)। इस पर एकत्ववादी फिर कहता है— अकार को भी इस प्रकार पृथक् पृथक् स्थानों में नहीं देखता। क्या कारण ? शब्द (स्फोट रूप) श्रोत्र से उपलब्ध तथा बुद्धि से निर्गृहीत, ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, और आकाश इसका देश है। आकाश एक अखण्ड वस्तु है। (नहीं) आकाश के भी नाना प्रदेश हैं। (अर्थात् उपाधिभेद से मठाकाश घटाकाश, इत्यादि नाना आकाश-देश हैं)। चूँकि नाना प्रदेश हैं इसीलिये तदाश्रित अकार भी नाना हैं एक नहीं।

---

१. श्रोत्रोपलब्धिः = श्रोत्रेणोपलभ्यत इति। कर्मणि क्तिन्।

आकृतिग्रहणात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति, तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः।

तद्वच्च तपरकरणम् ॥

एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते—आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति। ननु च सवर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन्। प्रत्याख्यायते तत्—सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्चेति।

हल्ग्रहणेषु च ॥

किम्। आकृतिग्रहणात्सिद्धमित्येव। झलो झलि, अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त[2]। यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति।

(वा०) आकृति (जाति) का ही सर्वत्र ग्रहण होने से समस्त दोषों का वारण और सर्वेष्ट सिद्धि हो जायगी।

अकार जाति का निर्देश होने से सारे अकार-कुल का अर्थात् अठारह प्रकार के अकार का ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार इकार जाति का निर्देश होने से, इसी प्रकार उकार जाति का (शेष सभी वर्णों के विषय में भी ऐसे ही जानो)।

(वा०) इसी लिये तो तपर किया गया है।

आकृति ग्रहण (जातिनिर्देश से जहाँ अतिप्रसङ्ग का भय होता है वहाँ आचार्य तपर करते हैं)।

क्यों जी, तपर तो जहाँ सवर्ण ग्रहण से अतिप्रसङ्ग होता हो उस के वारण के लिये भी किया गया हो सकता है। (नहीं) सवर्ण-ग्राहक शास्त्र में पढ़े हुए अण् का सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च इस वचन से प्रत्याख्यान किया गया है।

---

१. त्यदादीनामः, इत्यादि में वर्णसमाम्नाय में जातिपरक निर्देश है इस पक्ष में तथा उदात्त आदि गुण भेदक नहीं होते इस पक्ष में दीर्घ आदि के वारण के लिये अणुदित्सूत्र में अप्रत्यय (= अविधीयमान) का ग्रहण करना आवश्यक है। उदित् ग्रहण भी इष्ट है, केवल अण् का प्रत्याख्यान किया गया है।

२. व्यक्तिपक्ष में झल् से एक तकार-व्यक्ति का बोध होगा। झलो झलि सूत्र में यदि पञ्च न्त झलः पद से त् का ग्रहण होगा तो सप्तम्यन्त झलि पद से दूसरी तकार-व्यक्ति का हण नहीं हो सकता। तो प्रकृत में (अवात् स् ताम् इत्यादि में) स् का लोप न । सकेगा और इष्ट-रूप अवात्ताम् सिद्ध न होगा। (ऐसा होने पर

रूपसामान्याद्वा ॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत्। तद्यथा—तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम्, तानेव शालीन्भुञ्ज्महे ये मगधेषु, तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्, अन्यस्मिंश्चान्यस्मिन् रूपसामान्यात् तदेवेदमिति। एवमिहापि रूपसामान्यात्सिद्धम् ॥

(वा०) जिन सूत्रों में हल् का ग्रहण है उनमें भी आकृति-निर्देश से इष्ट-सिद्धि हो जायगी।

जहाँ अण् नहीं और इस लिये सवर्णग्रहण का प्रसङ्ग ही नहीं, जैसे झल् से परे स् का लोप होता है झल् परे होने पर—अवात् स् ताम्=अवात्ताम्, अवात्स् तम् = अवात्तम् , अवात्स्त = अवात्त।

(वा०) अथवा (जातिपक्ष का आश्रयण न करनेपर) हल्ग्रहण वाले सूत्रों में रूप की समानता को लेकर इष्टसिद्धि हो जायगी।

जैसे—हम उन्ही शाटकों को पहन रहे हैं, जो मथुरा में थे, उन्हीं चावलों को खा रहे हैं जो मगध में थे, यह आप का वही कार्षापण है जिसे (आपने) मथुरा में लिया था। और-और पदार्थ में केवल रूप—सादृश्य से ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही है। इसी प्रकार प्रकृत में हल् वर्णों में (प्रति उच्चारण वर्णभेद होने पर भी) रूपसादृश्यसे यह वही वर्ण है ऐसी प्रतीति होने से सब इष्ट (कार्य) सिद्ध हो जायगा ॥

भी सूत्र (झलो झलि) व्यर्थ नहीं हो जाता। वह अबान्ध् स् ताम् इत्यादि स्थलों में चरितार्थ रहेगा, क्यों कि वहाँ झल् पद से दो भिन्न व्यक्तियों ध् त् का ग्रहण है)। अतः अवात्ताम् आदि की सिद्धि के लिये जातिपक्ष स्वीकार करना होगा। तब झल् से जो त् गृहीत होता है वह तत्वावच्छिन्न परक है। वह तकारमात्र लिया जाएगा।

१. व्यक्ति पक्ष में उदात्त आदि, ह्रस्वदीर्घादि अनुनासिक, निरनुनासिक आदि भेद के कारण अचों में रूप-सामान्य दुर्लभ है, अतः वहाँ रूपसामान्य को लेकर निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, हलों में इस प्रकार का कोई धर्मभेद न होने से रूप—सामान्य का आश्रय करके सामान्य—मूलक अभेद का आरोप करके निर्वाह हो जायगा। झल् पद से गृहीत हुए एक तकार व्यक्ति के साथ दूसरे तकार व्यक्ति का रूपसामान्य होने से अभेदा-रोप करके झल्त्वेन ग्रहण हो जायगा, जिससे अवात्ताम् आदि रूप—सिद्धि में बाधा न होगी।

ऋलृक् ॥

अथ लृकारोपदेशः किमर्थः। किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते। यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति, लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य हि लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः। यश्चापि प्रयोगविषयः सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव। क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्। तस्यासिद्धत्वादृकारस्यैवाच्कार्याणि भविष्यन्ति। नार्थं लृकारोपदेशेन।

अत उत्तरं पठति—

लृकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः॥

लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्याद्यर्थश्च। यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चित् लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः—दध्य्लृतकाय देहि, मध्व्लृतकाय देहि उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाःक्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।

ऋलृक्।

यहाँ प्रश्न होता है कि (अक्षरसमाम्नाय में) लृकार उपदेश (लृकार पढ़ने) का क्या प्रयोजन है। पर विशेष करके लृकारोपदेश के विषय में क्यों पूछते हो, दूसरे वर्णों के उपदेश के विषय में क्यों नहीं पूछते हो। यदि दूसरे वर्णों के उपदेश का कोई प्रयोजन है वह लृकारोपदेश का भी हो सकता है। अथवा भेद क्या है ? भेद यह है—प्रथम तो लृकार के प्रयोग का विषय ही थोड़ा है और जो है भी वह क्लृप् धातु के लृकार का ही। और क्लृप् का लत्व असिद्ध होने से अच्कार्य (अच्स्थानिक, अच्–निमित्तक कार्य) ऋकार को ही हो जायंगे, लृकारोपदेश का कुछ प्रयोजन नहीं।

इसलिये उत्तर पढ़ते हैं—

(वा०) लृकारोपदेश यदृच्छा (संज्ञाशब्द), अशक्ति से किये हुए अनुकरण, तथा प्लुत आदि कार्यों के लिए चाहिये।

पहले यदृच्छा को लीजिये—अपनी इच्छा से किये गये संकेतके कारण कोई लृतक नाम से प्रसिद्ध है। उस लृतक नाम के परे रहते अच् निमित्तक कार्य जिस प्रकार हो सकें—(जैसे)

दध्य्लृतकाय देहि (लृतक नामक पुरुष को दही दो), मध्व्लृतकाय देहि (शहद लृतक नामक पुरुष को दो)—इन दो वाक्यों में दधि और मधु के इ, उ के अनन्तर

अशक्तिजानुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम्। तस्यानुकरणं ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह कुमार्य्ॣ्लृतक इत्याह।

प्लुत्याद्यर्थश्च। के पुनः प्लुत्यादयः। प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः। क्लृ३प्तशिखः। क्लृप्तः। प्रक्लृप्तः। प्लुत्यादिषु कार्येषु कृपेर्लत्वं सिद्धम्। तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिध्यन्ति। तस्माद् लृकारोपदेशः क्रियते।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि।

लृतक के लृकार आने पर लृ को अच् मानकर इ, उ के स्थान में यण् हुआ है और जैसे उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् (लृतक उत्तर की ओर गया, लृतक पश्चिम की ओर गया) इन दो वाक्यों में उदङ् और प्रत्यङ् के ङ् से परे लृतक का लृकार होने से अच् मानकर ङुट् आगम हुआ है। चार प्रकार के शब्दों का प्रयोग देखा जाता है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और चौथे यदृच्छाशब्द।

अशक्ति से किए गए उच्चारण के अनुकरण के लिए—(जैसे) किसी एक ब्राह्मणी ने असामर्थ्य के कारण ऋतक उच्चारण न करके लृतक ऐसा उच्चारण कर दिया। दूसरा यह बताने के लिए कि उस ब्राह्मणी ने कैसा उच्चारण किया उसका अनुकरण करते हुए कहता है—ब्राह्मण्य् लृतक इत्याह, कुमार्य्लृतक इत्याह (यहां लृ को अच् मानकर ब्राह्मणी-शब्द के अन्त्य ई को यण् हुआ है)।

प्लुत आदि कार्यों के लिए भी (अचों में लृ का उपदेश (पाठ) होना चाहिए)— यहां प्लुत आदि कौन से कार्य समझने चाहिएं? प्लुत[1] द्विर्वचन[2] और स्वरित[3]। प्लुत जैसे क्लृ३प्तशिख में, द्विर्वचन (द्वित्व) जैसे क्ल्लृप्तः में, स्वरित जैसे प्रक्लृप्तः में। इन कार्यों के प्रति कृपो रो लः (८।२।१८) सूत्र से कृप् धातु के ऋ के स्थान में जो लृकार हुआ है वह सिद्ध है (क्योंकि यह कार्य त्रिपादी होने पर पर हैं और लत्वविधि पूर्व है)। लृ का अचों में पाठ किए बिना ये कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, अतः लृ का अक्षरसमाम्नाय में अचों के मध्य में पाठ किया गया है।

ये प्रयोजन नहीं— (इसमें हेतु)—

---

१. गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) से प्लुत।

२. अनचि च (८।४।४७) से द्वित्व।

३. प्रक्लृप्तः में गतिरनन्तरः (६।२।४९) से प्र के प्रकृति-स्वर उदात्त होने से शेष निघात होने से उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६६) से क्लृ स्वरित होता है। गतिरनन्तरः की प्रवृत्ति के लिए यहां क्लृप् का अन्तर्भावित ण्यर्थ समझना चाहिए, तभी उसमें सकर्मकता आयगी।

न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु ॥

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात्कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते। ऋतक एवासौ न लृतक इति। अपर आह— न्याय्य ऋतक शब्दः शास्त्रान्वितोस्ति, स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु। ऋतक एवासौ, न लृतक इति। अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिड लृफिड्डश्चेति। एषोपि ऋफिड ऋफिड्डश्च। कथम्? अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते, फिड्-फिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ। त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः — जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।

अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथा कृत्वा परिहारः। सन्ति यदृच्छा-शब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तं न[1] सन्तीति परिहारः। समाने[2] चार्थे शास्त्रा-

---

(वा०) न्याय्य (प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न) ऋतक शब्द के होने से उसी का संज्ञा आदि में प्रयोग करना उचित है ऐसा मानते हैं। अतः उस पुरुष का संस्कृत नाम ऋतक है, लृतक नहीं। दूसरा कोई वृत्तिकार इस वार्तिक का ऐसा व्याख्यान करता है शास्त्रानुकूल संस्कारवान् ऋतक शब्द है, उसी का संज्ञा आदि में प्रयुक्त हुए असाधु शब्द के स्थान में अनुमान कर लेना चाहिए, वह ऋतक ही है, लृतक नहीं (इससे ऋतक के ऋ को निमित्त आदि मानकर अच्कार्य हो जाएगा, लृ के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं)।

अच्छा तो यह यदृच्छाशब्द मानना ही होगा—लृफिड, लृफिड्ड। यह भी व्युत्पन्न साधुरूप में ऋफिड और ऋफिड्ड ही है। कैसे? ऋ धातु का प्रयोग लोक में देखते ही हैं, फिड् और फिड्ड औणादिक प्रत्यय हैं। इस लिए कहना होगा कि शब्द तीन प्रकार के ही हैं—जाति-शब्द, गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्द। यदृच्छा-शब्द कोई नहीं है।

एक प्रकार का कथन करके प्रयोजन बताया, और उससे भिन्न प्रकार का कथन करके परिहार बताया यदृच्छा शब्द हैं, इस पक्ष को स्वीकार कर लृकारोपदेश का प्रयोजन बताया। यदृच्छा शब्द नहीं होते ऐसा मानकर लृकारोपदेश की कर्तव्यता का निषेध कर दिया (सो उचित नहीं)। (और रही न्याय्य शब्द ऋतक आदि के प्रयोग अथवा अनुमान की बात) वहां हमें यह कहना है कि वाच्यार्थ के एक होते हुए ही

---

१. न सन्ति–यदृच्छा शब्दों का क्रियशब्दों में अन्तर्भाव करके। आचार्य ने अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण करके लृकार का उपदेश किया है, वार्तिककार व्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण कर इसका खण्डन करते हैं।

२. समाने चार्थे। यहां ऋतक शब्द असाधु लृतक शब्द का निवर्तक होगा यह जो पूर्व युक्ति न्याय्याभावात्कल्पनं संज्ञादिषु में दी गई है वह ठीक नहीं। कारण कि अर्थ के समान होते हुए शास्त्रानुसारी (शास्त्रव्युत्पादित) रूप अशास्त्रान्वित (अव्यु-

न्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद्यथा—देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन्। नैष दोषः। पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति।

अनुकरणं शिष्टाशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य वा साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा, नैव तद् दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। यथा लौकिकवैदिकेषु। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावत्—य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजते, य एवमसावधीत इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चाधीयीत च। सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते।

संस्कारवान् शब्द संस्कारहीन का निवर्तक होता है जैसे—देवदत्त शब्द देवदिण्ण शब्द को हटा देता है, पर गावी आदि (संस्कारहीन भिन्नार्थक) शब्दों को तो नहीं हटाता। यह कोई दोष नहीं, पक्षान्तर का आश्रयण कर के भी परिहार (खण्डन आदि) होते हैं।

(वा०) अनुकरण शिष्ट (विहित) का अथवा जो न तो शिष्ट हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उस का, साधु होता है, जैसे—लौकिक तथा वैदिक क्रियाओं में।

अनुकरण शिष्ट का साधु होता है, अथवा जो न शिष्ट हो और न ही प्रतिषिद्ध हो, उसका। यह दूसरा अनुकरण न कुछ हानि करता है और न मङ्गलकारी होता है। जैसे लौकिक और वैदिक कर्मों में। पहले लोक में उदाहरण लीजिये—जो इस प्रकार देता है, जो इस प्रकार यज्ञ करता है, जो इस प्रकार पढ़ता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई दे, यज्ञ करे अथवा पढ़े, वह भी मङ्गल से युक्त होगा। वेद में भी—जो ये प्रजापति लोग इस प्रकार दीर्घ-काल-भावी यज्ञों को करते हैं उन का

त्पादित) रूप का निवर्तक होता है। यहां तो अर्थ भेद है—ऋतक में क्रिया प्रवृत्तिनिमित्त है और लृतक में शब्द प्रवृत्तिनिमित्त है। इसका भाष्य में उत्तर नहीं दिया था। इस पर कैयट का यह कहना है कि अव्युत्पन्न-संज्ञाशब्दपक्ष में भी परम्पराप्राप्त शिष्टजनों से प्रयुक्त-पूर्व संज्ञाएं ही प्रयोग में लानी चाहियें। भाव यह है कि ऋतक भिन्नार्थक होने से लृतक का निवर्तक मत हो, शिष्टद्वारा प्रयुक्त न होने से ही उसकी निवृत्ति हो जाएगी।

१. जैसे द्रव्यपक्ष में सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ इस का आरम्भ किया गया है और जातिपक्ष में प्रत्याख्यान। व्यक्तिपक्ष में अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस सूत्र में अण् ग्रहण किया जाता है, जातिपक्ष में इसका प्रत्याख्यान। उपदेशेऽजनुनासिकः—यहां अनुबन्ध अनेकान्त (अनवयव=अवयव-भिन्न) हैं ऐसा मान कर उपदेश ग्रहण किया जाता है, अनुबन्ध एकान्त (अवयव) हैं इस पक्ष में उपदेश ग्रहण का प्रत्याख्यान। ऐसे ही और भी पक्षान्तर-द्वारक परिहार के उदाहरण हैं।

वेदेऽपि—य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते इति तेषामनुकुर्वंस्तद्वत्स-त्राण्यध्यासीत, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। अशिष्टाप्रतिषिद्धं यथा—य एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति तस्यानुकुर्वन् हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च नैव च तद्दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय। यस्तु खल्वसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबतीति तस्यानुकुर्वन्ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोपि मन्ये पतितः स्यात्।

विषम उपन्यासः[1]। यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति, उभौ तौ हतः। यश्चापि पिबति, यश्चानुपिबति, उभौ तौ पिबतः। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एव-मसौ सुरां वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं

अनुकरण करता हुआ कोई और दीर्घ कालभावी यज्ञ करे वह भी मङ्गल से युक्त होगा। अशिष्ट-अप्रतिषिद्ध का उदाहरण यह है— जो यह इस प्रकार हिचकचाता है, जो यह इस प्रकार हंसता है, जो यह इस प्रकार खुजली करता है, उसका अनुकरण करता हुआ कोई दूसरा हिचकचाए, हंसे अथवा खुजली करे, न तो यह अनुकरण कुछ हानि करेगा और न मङ्गल। पर जो ब्राह्मण की हत्या करता है (यह निषिद्ध कर्म है) और जो इस प्रकार सुरा पीता है (यह भी निषिद्ध कर्म है) उसका अनुकरण करता हुआ कोई दूसरा ब्राह्मण की हत्या करे अथवा सुरा पीए वह भी निश्चित ही पाप कर्म करने से पतित हो जाएगा।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं। जो इस प्रकार मारता है और जो उसका अनुकरण करते हुए मारता हैं, वे दोनों (एक समान) मारते हैं। और जो पीता है और जो उसका अनु-करण करते हुए पीता है, वे दोनों बराबर पीते हैं। पर जो कोई इस प्रकार ब्राह्मण को मारता है और जो कोई इस प्रकार सुरा पीता है, उसका अनुकरण करता हुआ स्नान पूर्वक चन्दन—लेप कर गले में पुष्पमाला धारण किए कदली—स्तम्भ को काटे अथवा

---

१. विषम उपन्यासः। वार्तिककार का दिया हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं। यहां एक पहले मारता है और दूसरा पीछे मारता है, हनन क्रिया दोनों की एक ही है। अनुकरण पश्चात्करण को नहीं कहते। क्रिया-सादृश्य होना चाहिए, जैसे भाष्यकार उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। अनुकार्य के असाधु होने पर भी अनुकरण साधु ही होता है। जिस प्रकार कोई ब्राह्मण की हत्या करता है, अथवा सुरापान करता है, उसी प्रकार यदि कोई कदली-स्तम्भ का छेदन करता है अथवा दूध पीता है तो दोषी नहीं होता। इस बात को झलकाने के लिए भाष्यकार स्नातानुलिप्तः, और माल्यगुणकण्ठः— ये दो विशेषण देते हैं। पहले विशेषण से उसकी स्वस्थचित्तता टपकती है, दूसरे से स्वलङ्कृत होने से प्रत्यक्षविषयता अथवा प्रकटरूपता प्रतीत होती है, क्योंकि अलङ्क्रिया अपने आपको दूसरों की रुचिका विषय बनाने के लिए की जाती है। अकृत्य निषिद्ध कर्म करने वाला न तु स्वस्थचित होता है और न प्रकट-रूप। वह लज्जा-वश छिपना चाहता है।

छिन्द्यात्पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात्। एवमिहापि य एवमसावप-शब्दं प्रयुङ्क्त इति तस्यानुकुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात्।

अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न चाप-शब्दार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यतेऽ-पशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्याऽपशब्दः स्यात्। न चैषोऽपशब्दः।

अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। साध्वृलृकारमधीते, मध्वॢकारमधीत इति। कस्थस्य पुनरेतदनुकरणम्। क्लृपिस्थस्य। यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्, तस्यासिद्धत्वादृकार एवाच्कार्याणि भविष्यन्ति। भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात्। अयं त्वन्यः क्लृपिस्थपदार्थकः शब्दः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। इदमवश्यं

दूध पिए, मेरे विचार में वह पतित न होगा। इसी प्रकार जो कोई अपशब्द का प्रयोग करता है उसका अनुकरण करता हुआ स्वयम् भी अपशब्द का प्रयोग करे, वह अपशब्द प्रयोग के कारण से दोषी होगा।

परन्तु जहां (अनुकार्य) अपशब्द का प्रत्यायक (बोधक, वाचक) (अनुकरण) शब्द प्रयुक्त होता है उसके लिए वर्ण-समाम्नाय में ऌकार का उपदेश करना ही होगा। अपशब्द का वाचक शब्द स्वयम् अपशब्द नहीं होता। ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा। जो ऐसा मानता है कि अपशब्द का वाचक शब्द भी अपशब्द होता है, उसके लिए अपशब्द भी अपशब्द (असाधु शब्द) हो जाएगा, पर वस्तुतः अपशब्द अपशब्द नहीं।

किंच। एक (साधु) अनुकार्य ऌ भी है जिसके अनुकरण (जो साधु ही होगा) के लिए अवश्य वर्ण-समाम्नाय में उपदेश करना होगा। यथा साध्वॢकारमधीते (ऌकार का शुद्ध उच्चारण करता है), मध्वॢकारमधीते (ऌकार का मधुर उच्चारण करता है) इन स्थलों में। यदि पूछो कि यह कहां के ऌकार का अनुकरण है तो हम कहेंगे-क्लृप् धातु के ऌकार का। यदि क्लृप् धातु के ऌकार का (प्रकृत में) अनुकरण है, तो हो, पर इसके लिए वर्णसमाम्नाय में ऌकार उपदेश करने का कुछ प्रयोजन नहीं। कारण कि क्लृप् का ऌ पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्ध है, अच्-निमित्तक कार्य (प्रकृत में यण्) ऋ को मानकर हो जाएगा। क्लृप् के ऌ के लिए उपदेश भले ही व्यर्थ हो। पर मध्वॢकार इत्यादि में जो ऌ है वह क्लृप् का ऌ नहीं, किन्तु उसका अनुकार्य रूप से बोधन कराने के लिए अनुकरण-रूप है। (अनुकार्य अनुकरण का भेद

---

१. अपशब्दं प्रयुञ्जीत, अपशब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त करे तो उसने वही क्रिया की, अनुकरण नहीं किया, इससे वह दोषी होगा।

कर्तव्यम् प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति। किं प्रयोजनम्। द्विः पचन्त्वित्याह तिङ्ङतिङ इति निघातो यथा स्यात्। अग्नी इत्याह ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यमिति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात्। यदि प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्युच्यते, अपशब्द एवासौ भवति — कुमार्य् लृतक इत्याह। ब्राह्मण्य्लृतक इत्याह। अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः। न चापशब्दः प्रकृतिः। न ह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते। न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति।

स्वीकार कर) इस अनुकरण रूप ऌ में अच् कार्य हो सकें तदर्थ इसका वर्ण समाम्नाय में अचों के मध्य में पाठ होना चाहिए। (इस पर एकदेशी कहता है) ऌ के पाठ की कोई आवश्यकता नहीं। इसके स्थान में प्रकृतिवदनुकरणं भवति (अनुकरण में प्रकृति=अनुकार्य का धर्म आ जाता है) यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिए। (जिससे अनुकरण ऌ में असिद्धता आ जाएगी)। तो इस परिभाषा का (और) क्या प्रयोजन है? द्विः पचन्तु इत्याह — दो बार पचन्तु इस शब्द का उच्चारण करता है -- यहां अतिङन्त द्विः शब्द से परे आए हुए पचन्तु शब्द को तिङन्त मानने से उसे तिङ्अतिङः (८।१।२८) सूत्र से निघात (सर्वानुदात्त) होता है। इसी प्रकार अग्नी इत्याह में भी अग्नी को द्वित्वबोधक द्विवचनान्त मानकर प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होता है। और यदि प्रकृतिवत्--इस परिभाषा को मान लो तो कुमार्य्लृतक् इत्याह इत्यादि में अनुकरण लृतक प्रकृति (अनुकार्य ऌतक) के धर्म को लिए हुए अपशब्द ही ठहरता है। (अपशब्द = असाधु शब्द में शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इसके लिए ऌ का उपदेश अनावश्यक है)। (इस पर सिद्धान्ती का कहना है) पर शास्त्र में कहीं भी अपशब्द प्रकृति नहीं।

---

१. द्विः पचन्तु इत्याह में पचन्तु शब्द तिङन्त प्रतिरूपक है, तिङन्त नहीं, शब्दपरक निर्देश होने से क्रिया और कारक का यहाँ कुछ भी अभिधान नहीं, इसी प्रकार अग्नी इत्याह में अग्नी द्विवचनान्त-प्रतिभासी होता हुआ भी द्वित्व का अनभिधायक होने से (अर्थात् दो अग्नियां इस अर्थ को न कहने से) द्विवचनान्त नहीं है। प्रकृतिवदनुकरणं भवति इस न्याय से पचन्तु को तिङन्त और अग्नी को द्विचनान्त मानकर शास्त्रप्राप्त कार्य किया गया है।

२. मध्व्लृकारमधीते इत्यादि में साधु ऌ के अनुकरण के लिए वर्ण समाम्नाय में लृकारोपदेश का कुछ भी प्रयोजन नहीं यह प्रतिपादन कर पूर्वपक्षी आगे बढ़ता है और यह कहना चाहता है कि अशक्तिज (अतएव असाधु) शब्द के अनुकरण के लिए भी लृकारोपदेश व्यर्थ है।

३. प्रकरण से शास्त्रीय प्रकृति ही अभिप्रेत है, शास्त्र-निबन्धन कार्य का ही अतिदेश विधान किया जा रहा है। अपशब्दत्व न तो शास्त्रीय कार्य है और न उसका

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्लुत्यादयः ॥

एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति प्लुत्यादयोपि भविष्यन्ति । यदि एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति इत्युच्येत, राज्ञः क च, राजकीयम् अल्लोपोऽन इति लोपः प्राप्नोति ।

एकदेशविकृतमनन्यवत् षष्ठीनिर्दिष्टस्य । यदि षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते क्लृ३प्तशिख इति प्लुतो न प्राप्नोति । न ह्यत्र ऋकारः षष्ठीनिर्दिष्टः । कस्तर्हि । रेफः । ऋकारोप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः । कथम् । अविभक्तिको निर्देशः—कृप उः रः लः कृपो रो ल इति ।

आचार्य ने अपशब्दों का उच्चारण नहीं किया और बिना उच्चारण किये प्रकृति नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।

(वा०) रहे प्लुति आदि कार्य, वे भी ऋ के अवयव-भूत रेफ को लत्व रूप विकार हो जानेपर भी अन्य न हो जाने से सिद्ध हो जायंगे (सो उन कार्यों के लिये भी लृ का उपदेश अनावश्यक है) । [लोक में भी देखा जाता है किसी वस्तु के एकदेश के विकृत हो जाने से वह अन्य नहीं हो जाती । पूँछ कट जाने पर भी यह कुत्ता है ऐसा व्यवहार होता ही है] पर प्रयोजनवादी इस लौकिक न्याय को मानने में यह दोष देखता है—राज्ञः क च (४।२।१४०) इस सूत्र से राजन् शब्द से शैषिक छ प्रत्यय होता है और साथ ही क अन्तादेश होता है । जिससे राजकीय शब्द सिद्ध होता है । यदि एकदेश विकृत होने पर राजक् में राजन् बुद्धि बनी रहती है तो अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) इस शास्त्र से अल्लोप होना चाहिये । इस पर प्रत्याख्याता कहता है—एकदेश विकृत होने पर वही स्थानी अन्यवत् नहीं होता जिसका विकार (=आदेश) विधायक शास्त्र में षष्ठी से निर्देश किया गया हो । प्रकृत सूत्र में अनः ऐसा षष्ठीनिर्देश करके अक् रूप आदेश नहीं विधान किया है, किन्तु राजन् के न् के स्थान में क् अन्तादेश विधान किया है, सो यहां राजक् रूप के अक् में अन् बुद्धि नहीं लाई जा सकती है । अन् न होने से अल्लोपोऽनः का प्रसङ्ग नहीं । इसपर शङ्का होती है—यदि षष्ठी-निर्दिष्ट (स्थानी) में ही एकदेशविकार होनेपर अनन्य बुद्धि होती है तो क्लृ३प्तशिख में कृपो रो लः सूत्र में ऋ के षष्ठीनिर्दिष्ट न होने से लृ में (ऋ का धर्म) अच्त्व नहीं आएगा, सो प्लुत न हो सकेगा । क्योंकि उक्त सूत्र में रेफ षष्ठीनिर्दिष्ट है, न कि ऋकार । नहीं । ऋकार भी यहाँ षष्ठीनिर्दिष्ट है । कैसे ? सूत्र में कृप यह विभक्तिरहित निर्देश है, ततः उः यह ऋ का षष्ठी से निर्देश है । ततः रः यह भी षष्ठ्यन्त पढ़ा है ।

अतिदेश किया जा सकता है । इस कथन से भाष्यकार अशक्तिज के अनुकरण के लिए लृकारोपदेश आवश्यक है इसकी स्थापना करते हैं ।

अथवा पुनरस्तु अविशेषेण। ननु चोक्तं राज्ञः क च राजकीयम् अल्लो-पोऽन इति प्राप्नोति इति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत् श्वादीनां सम्प्रसारणे नका-रान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम् इति। तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते—अल्लो-पोऽनः, नकारान्तस्येति। इह तर्हि क्लृ३प्तशिखे अनृत इति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

रवत्प्रतिषेधाच्च।

रवत्प्रतिषेधाच्चैतत्सिध्यति। गुरोररवतं इति वक्ष्यामि। यदि अरवत

अथवा जो भी कोई एकदेश-विकृत होता है (चाहे वह विकार विधि में षष्ठी-निर्दिष्ट हो अथवा न हो) वह अन्यवत् नहीं होता, ऐसा ही कहो।

अजी, अभी कहा था—राज्ञः क च सूत्र से राजकीय शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ अल्लोपोऽनः सूत्र से राजक् में राजन् बुद्धि के बने रहने से अन् के अ का लोप प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। आगे (६।४।१३३ पर) वार्तिककार श्वादीनां सम्प्रसारणे······इत्यादि वार्तिक पढ़ेंगे जिसका अर्थ यह है कि नकारान्त श्वन् आदि शब्दों को सम्प्रसारण हो, अनकारान्तों को न हो। उसकी अनुवृत्ति अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) सूत्र में आएगी, अर्थ होगा नकारान्त अन्। (यहाँ तो ककारान्त अन् है)। पर इस न्याय के बल पर लृ में ऋ बुद्धि होने से क्लृ३प्तशिख में गुरोरनृतोऽन-न्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) सूत्र से ऋ को प्लुत का निषेध प्राप्त होता है।

रेफवान् का प्रतिषेध करने से (क्लृ३प्तशिख में) प्लुत रूप इष्ट सिद्धि हो जायगी। गुरोरवत इस प्रकार सूत्र को पढ़ूँगा। यदि ऐसा न्यास करोगे अर्थात् जो रेफवाला न हो उसे प्लुत होता है ऐसा कहोगे तो होतृ ऋकार यहाँ सवर्णदीर्घ होकर होतॄ३ कार

---

१. भाव यह है कि लौकिक न्याय से द्वित्व और स्वरित क्लृपिस्थ लृ में ऋ बुद्धि करके सिद्ध हो जायँगे उससे लृ में अच्त्व आ जाएगा, पर क्लृ३प्तशिख में प्लुत न हो सकेगा, अतः जैसे अशक्तिज के अनुकरण के लिए लृकारोपदेश आवश्यक है वैसे ही प्लुति के लिये भी लृ पढ़ना होगा।

२. गुरोरनृतः—इस को बदल कर गुरोररवतः—इत्यादि रूप से पढ़ दूँगा—यह लृकारोपदेश-खण्डक (लृकारोपदेश के प्रयोजन को न माननेवाला) कहता है। इस नये न्यास से प्रयोजनवादी द्वारा दिये गये दोष का परिहार करना चाहता है। यहाँ रवान् में नित्ययोग में मतुप् किया है। नित्य रेफ वाला ऋ ही है लृ नहीं। (यद्यपि लृ में एकदेश विकृतन्याय से ऋबुद्धि हो जाएगी) पर जैसे पुच्छहीन श्वा में श्वत्व व्यपदेश होने पर भी पुच्छवान् यह व्यवहार नहीं होता, ऐसे ही लृ रेफवान् है ऐसा व्यवहार नहीं होता।

इत्युच्यते होतृ ऋकार होतॄ ३ कार अत्र न प्राप्नोति। 'गुरोररवतो ह्रस्वस्य' इति वक्ष्यामि। स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन्प्रत्याख्यायते, सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाऽनुकृष्यते॥

एओङ् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

इदं विचार्यते—इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन् एत् ओतुङ् ऐत् औत् च् इति, अतपराणि वा यथान्यासम् इति। कश्चात्र विशेषः।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम्।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम्।

प्लुत्यादिष्वज्विधिः।

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति। गो३ त्रात नौ ३ त्रात इत्यत्र अनचि च इत्यच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति। इह च प्रत्यङ्ङे३तिकायन, उदङ्ङौ ३ पगव इति अचि ङमुडागमो न प्राप्नोति।

में प्लुत न हो सकेगा, कारण कि ऋ रेफवान् है। इस दोष के वारण के लिए मैं गुरोररवतो ह्रस्वस्य ऐसा पढ़ूँगा। सो यह सूत्र को अदलबदल करके जो प्लुति आदि के लिए लृकारोपदेश प्रयोजनवान् है उसका प्रत्याख्यान एक बड़े वंश स्तम्ब (बांसझुट) से लट्वा नामक (तुच्छ फल) को खैंच कर उतारने के समान है। (अर्थात् आयास अत्यधिक और फल अत्यल्प, अतः युक्त नहीं)॥

ऐ ओङ् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

यहां यह विचार का विषय है—ये सन्ध्यक्षर तपर पढ़े जाएं, एत् ओतुङ् ऐत् औत् च् इस प्रकार, अथवा अतपर जैसे कि सूत्रों में पढ़े हैं। इसमें क्या भेद है?

(वा०) सन्ध्यक्षरों (ए ओ ऐ औ) में यदि तपरोच्चारण का फल है तो इन्हें तपर पढ़ना चाहिये। (पर फल न होने से आचार्य ने तपर नहीं किया)

(वा०) प्लुत आदि होने पर अच् को मानकर जो विधि प्राप्त होती है वह न हो सकेगी। गो ३ त्रात यहाँ अनचि च इस सूत्र से अच् से परे यर् को द्विर्वचन विधान किया है, सो (द्विमात्रिक ओ, औ की अच् संज्ञा होनेसे) न हो सकेगा। और प्रत्यङ्ङे ३ तिकायन, उदङ्ङौ ३ पगव यहाँ अच् को आश्रय करके जो ङमुट् आगम का विधान किया है (तपर होने से द्विमात्रिक ए, ओ, ऐ, औ को अच् संज्ञा होगी, त्रिमात्रिक की नहीं।) सो यह ङमुट् आगम न हो सकेगा।

---

१. ऐसा न्यास करने से नित्य रेफवान् जो ह्रस्व हो उसी को प्लुत का निषेध होगा, दीर्घ को नहीं, इससे कुछ भी अनिष्ट-प्रसङ्ग न होगा। गुरोररवतो ह्रस्वस्य=गुरो रवतो ह्रस्वस्य न। अमानोनाः प्रतिषेधे इस वचन के आधार पर व्यस्त अ शब्द निषेधार्थ स्वीकार किया जाता है।

प्लुतसंज्ञा च ।

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति । ऐ ३ तिकायन, औ ३ पगव ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति । सन्तु तर्ह्यतपराणि ।

अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे ।

यद्यतपराणि एच इग्घ्रस्वादेश इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । एङो ह्रस्वादेशशासनेष्वर्धं एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति । ननु च यस्यापि[२] तपराणि तेनाप्येतद्वक्तव्यम् । इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोः, तयो र्ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्, कदाचिद् इवर्णोवर्णौ ।

(वा०) प्लुतसंज्ञा भी ।

प्लुतसञ्ज्ञा भी न हो सकेगी । ऐ३तिकायन, औ३पगव । ऊकालो ज्झ्रस्वदीर्घप्लुत इस शास्त्र से तपर (द्विमात्रिक) एच् की अच् संज्ञा होने से त्रिमात्रिक एच् अच् ही नहीं तो उसकी प्लुत संज्ञा कैसे होगी ? त्रिमात्रिक अच् की ही तो प्लुत संज्ञा विधान की है । अच्छा तो तपररहित जैसे अब पढ़े हैं वैसे रहने दीजिये ।

(वा०) यदि ए ओ ऐ औ अतपर ही रहें जैसे पढ़े हैं, तो एच् के स्थान में ह्रस्वादेश कर्तव्य हो, तो इक् ही ह्रस्व हो यह वचन करना पड़ेगा । इस वचन का क्या प्रयोजन है ? जहां जहां एङ् को ह्रस्वादेश विधान किया गया है वहां वहां अर्ध एकार, अर्ध ओकार न हो जाए । अजी, जो इन्हें तपर पढ़ना चाहता है उसे भी यह वचन (सूत्र) करना ही होगा । (कारण कि) ये ऐच् (ऐ औ) समाहार वर्ण हैं, जिनमें एक मात्रा अवर्ण की है और एक-एक मात्रा इवर्ण और उवर्ण की । उनको ह्रस्व करते समय कभी अवर्ण हो जाएगा कभी इवर्ण वा उवर्ण । अवर्ण कभी भी न हो (इस लिए) । ऐच् को ह्रस्व कर्तव्य हो तो एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४८) इस वचन से कुछ प्रयोजन नहीं । ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् इस वार्तिक से इसका प्रत्याख्यान कर दिया

---

१. अतपरत्व की दशा में ए, ओ द्विमात्रिक भी होंगे, एकमात्रिक भी । एकमात्रिक ए ओ का भी अच् करके ग्रहण होगा । द्विमात्रिक ए ओ के स्थान में अन्तरतम होने से अर्ध ए, अर्ध ओ (एक मात्रिक ए, एकमात्रिक ओ) ह्रस्व हो जायेंगे, सो एङ् के लिए सूत्र करना पड़ेगा ।

२. तपरत्व पक्ष में भी ऐच् के लिये सूत्र के आरम्भ की आवश्यकता है, कारण कि ऐच् समाहार वर्ण हैं, इन में अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण एक-एक मात्रा के हैं जिससे कभी अ (ह्रस्व) होगा और कभी इ वा उ । ऐच् में अवर्ण के विश्लिष्ट= स्फुट उपलभ्यमान होने से संश्लिष्ट अवर्ण होने की अवस्था में प्रसक्त हुए अर्ध एकार व अर्ध ओकार ह्रस्वादेश का तो संभव नहीं ।

मा कदाचिद्वर्णो भूदिति। प्रत्याख्यायत एतत्—ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वाद् इति। यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—सिद्धमेङः सस्थानत्वाद् इति। ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यद् इति। पारिषदकृतिरेषा तत्र भवताम्। नैवं लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति।

एकादेशे दीर्घग्रहणम्।

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—आद्गुणो दीर्घः, वृद्धिरेचि दीर्घः इति। किं प्रयोजनम्। आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा

है। रही एङ् को ह्रस्व कर्तव्यता के निमित्त एच इग् इस सूत्र की आवश्यकता, सो भी नहीं। सिद्धमेङः सस्थानत्वात् इस वार्तिक से सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। वार्तिकार्थ यह है—एङ् के स्थान में ह्रस्वादेश इ, उ ही होंगे कारण कि इ उ, ये ए, ओ के तुल्य स्थान वाले हैं। अजी, अर्ध एकार अर्ध ओकार इनके साथ अधिक स्थान तुल्यता रखते हैं (वे हो जायंगे)। नहीं। वे तो हैं ही नहीं। यदि ये होते तो आचार्य उन्हीं को पढ़ते। अजी, यह कैसे कहते हो कि अर्ध एकार अर्ध ओकार हैं ही नहीं, देखिये सात्यमुग्रिराणायनीय सामगान करने वाले ऋषि सुजाते एश्व सूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यत् इत्यादि मन्त्रों में अर्ध एकार अर्ध ओकार पढ़ते हैं। यह तो उन पूज्यों की अपनी परिषदों में उच्चारण करने की रीति है। न तो लोक में और न ही किसी दूसरे (साम से भिन्न) वेद में अर्ध एकार अर्ध ओकार देखा जाता है।

(वा०) एकादेश में दीर्घ का ग्रहण।

जहाँ (पूर्व और पर के स्थान में) एकादेश विधान किया है वहाँ दीर्घ का ग्रहण (उच्चारण) करना पड़ेगा—आद् गुणः इस सूत्र को आद्गुणो दीर्घः ऐसे पढ़ना पड़ेगा, वृद्धरेचि इसे वृद्धिरेचि दीर्घः ऐसे पढ़ना पड़ेगा। इसका क्या प्रयोजन है? जहाँ (पूर्व और पर) स्थानी (मिलकर) त्रिमात्र व चतुर्मात्र हो जाते हैं वहाँ उनके स्थान में एकादेश कहीं त्रिमात्र व चतुर्मात्र न हो जाय, कारण कि आदेश स्थानी के अन्तरतम=सदृशतम होना चाहिये। दीर्घ ग्रहण करने से द्विमात्रिक एच्

---

१. ऐ औ में अ की ½ मात्रा और इ, उ की १½ मात्रा है, इस लिये कहा है यहां उत्तर भाग भूयान् (अपेक्षया अधिक) है।

२. एङः सस्थानत्वात्। प्रातिशाख्यमत है कि ए, ओ शुद्ध तालव्य और शुद्ध कण्ठ्य हैं।

आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति। तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते—अकः सवर्णे एको भवति। ततो दीर्घः। दीर्घश्च स भवति। यः स एकः पूर्वपरयोः इत्येवं निर्दिष्ट इति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—पशुम्, विद्धम्, पचन्तीति। नैष दोषः। इह तावत्पशुमिति 'अम्येकः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनं यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्यादिति। विद्धमिति। पूर्व इत्येवानुवर्तते। अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेन सम्प्र-

---

(ए ओ, ए औ) ही आदेश होगा। खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम्=खट्वोदकम्, खट्वा ईषा=खट्वेषा, खट्वा ऊढा=खट्वोढा, खट्वाएलका=खट्वैलका, खट्वा ओदनः=खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः=खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः=खट्वौपगवः (यहाँ पहले चार उदाहरणों में स्थानियों के त्रिमात्र होने से आदेश त्रिमात्र प्राप्त था, पिछले चार उदाहरणों में स्थानियों के चतुर्मात्र होने से आदेश चतुर्मात्र प्राप्त था)। तो क्या दीर्घग्रहण करना ही पड़ेगा? दीर्घ ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। (कैसे?) अगले सूत्र अकः सवर्णे दीर्घः को इस प्रकार विभक्त करके पढ़ेंगे—(१) अकः सवर्णे एको भवति (यहाँ एकः पूर्वपरयोः से एकः यह आ रहा है), दीर्घः (२), वह दीर्घ होता है (कौन?) वही जो पूर्व और पर के स्थान में एक हुआ है। अच्छा यहाँ (दिये हुए गुण वृद्धि के उदाहरणों में) तो निर्वाह हो जायगा, पर इससे अन्यत्र भी दीर्घ की प्राप्ति हो जायगी—पशुम्, विद्धम्, पचन्ति इत्यादि स्थलों में (यहाँ सर्वत्र एकादेश विधि है)। नहीं इससे कुछ दोष नहीं आयगा। पहले पशुम् को लीजिये। यहाँ अम्येकः ऐसा सूत्र न्यास करते तो भी एकादेश हो जाता, फिर अमि पूर्वः ऐसा जो न्यास किया अर्थात् जो वहाँ पूर्व ग्रहण किया उसका यह प्रयोजन है जिस प्रकार का पूर्व (स्थानी) है उसी प्रकार का आदेश दोनों के स्थान में हो (इससे पशुम् में ह्रस्व एकादेश, रमाम् और वातप्रमीम् में दीर्घ होता है)। विद्धम्—यहाँ व्यध् क्त इस अवस्था में ग्रहिज्या—सूत्र से य् को सम्प्रसारण इ हो जानेपर सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०८) सूत्र में पूर्वः की अनुवृत्ति होने से पूर्व के ही सदृश एक आदेश होता है, पूर्व ह्रस्व इ के सदृश ही अ, इ—इन दोनों के स्थान में आदेश होता है।

अथवा आचार्य (पाणिनि) की प्रवृत्ति बतलाती है कि सम्प्रसारणाच्च से

सारणस्य दीर्घो भवतीति यदयं हल उत्तरस्य सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति। पचन्तीति। 'अतो गुणे परः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम् यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीयकमुभयोर्यथा स्यादिति। इह तर्हि खट्वर्श्यो मालर्श्य इति दीर्घवचनादकारो न, अनान्तर्यादेकारौकारौ न। तत्र को दोषः। विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत। न ब्रूमो यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। किं तर्हि। यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। क्व च क्रियमाणे न दोषः। संज्ञाविधौ—वृद्धिरादैच् दीर्घः, अदेङ् गुणो दीर्घ इति। तर्त्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। तपरे गुणवृद्धी। ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपरः। यदि तादपि परस्तपरः ऋदोरप् इतीहैव स्यात्—यवः

जो एकादेश होता है वह दीर्घ नहीं होता, कारण कि आचार्य हलः (६।४।२) इस सूत्र से जो सम्प्रसारण को दीर्घ विधान करते हैं वह नियमार्थ रहेगा। पचन्ति (पच् अ अन्ति) में अतो गुणे परः ऐसा कहने से ही पर-रूप एकादेश हो जाता, तो भी जो रूप ग्रहण करते हैं (अतो गुणे पररूपम्) इससे यह बतलाना चाहते हैं कि यहां जैसा पर का रूप है (वह ह्रस्व है) वैसा ही दोनों के स्थान में एकादेश होता है। अच्छा, तो खट्वा ऋश्यः, माला ऋश्यः यहां गुण न हो सकेगा। एकादेश दीर्घ होता है इससे अकार (जो गुणसंज्ञक हैं) न हो सकेगा। एकार और ओकार (जो दीर्घ गुणसंज्ञक हैं) भी न हो सकेंगे, क्योंकि वे स्थानियों के अन्तरतम नहीं हैं। ऐसी अवस्था में खट्वा ऋश्यः, माला ऋश्यः ऐसा जुदा-जुदा ही श्रवण होगा, यह दोष आएगा।

हम यह नहीं कहते हैं कि जहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष आता है वहां दीर्घ ग्रहण किया जाए, किन्तु जहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता वहां दीर्घ ग्रहण करना चाहिए। कहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता? संज्ञाविधि में। वृद्धि संज्ञा-विधायक वृद्धिरादैच् सूत्र को वृद्धिरादैच् दीर्घः ऐसे पढ़ेंगे। गुण-संज्ञा-विधायक सूत्र को अदेङ् गुणो दीर्घः ऐसे पढ़ेंगे। तो क्या फिर दीर्घ ग्रहण करना चाहिए? नहीं करना चाहिए। तो फिर त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को सदृशतम त्रिमात्र चतुर्मात्र (गुण-वृद्धि-रूप) आदेश क्यों न होंगे? गुणवृद्धिसंज्ञा-विधायक शास्त्र में संज्ञी एङ् व ऐच् तपर पढ़े है। अजी तपर का अर्थ तो तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः (त् परे हो जिससे वह तपर होता है) ऐसा बहुव्रीहि समास मान कर अर्थ किया जाता है। नहीं। पञ्चमी तत्पुरुष मानकर तादपि परस्तपरः त् से जो परे हो वह भी तपर कहलाता है। इससे तपर (तत्काल = द्विमात्रिक ए ओ की गुण संज्ञा, और तत्काल=द्विमात्रिक ऐ औ की वृद्धि संज्ञा होगी)। यदि त् से परे जो हो वह भी

स्तवः, लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे[1]। यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपीति[2]।

तपर होता है तो ॠदोरप् (३।३।५७) इस सूत्र से (उ के तपर होने से) यवः, स्तवः में ही अप् प्रत्यय हो सकेगा, लवः, पवः में नहीं। (क्योंकि यहां लू, पू—ये दीर्घ ऊकारान्त धातु हैं)। यहां स्वतः सिद्ध तकार नहीं जिसे जश्त्व होकर दकार हो गया है, किन्तु स्वतः सिद्ध दकार है। दकार का क्या प्रजोजन है? हम आपसे पूछते हैं तकार का क्या प्रयोजन है? यदि कहो असन्देह (सन्देह निवृत्ति के लिए) तकार पढ़ा है, दकार का भी असन्देह के लिए ही उच्चारण माना जा सकता है। यदि कहो तकार, उच्चारण—सौकर्य के लिए पढ़ा है, दकार का भी वही प्रयोजन माना जा सकता है।

---

१. समास—द्वय-वादी पूछता है—आप जो यहां केवल बहुव्रीहि समास मानते हैं, तो तपरकरण व्यर्थ हो जाता है। दीर्घ ॠकार अण् नहीं। अतः अणुदित्सूत्र से तद्भिन्नकाल वाले ऋकारों के ग्रहण का कोई प्रसङ्ग नहीं। अनण् होने से (अण् न होने से) ही गुण अभेदक होंगे, अतः उनकी प्राप्ति (तद्भेद-भिन्नों के ग्रहण) के लिए भी तपर करने का कुछ प्रयोजन नहीं।

२. दकारोपीति।

यदि कहो कि उक्त भाष्य का तित्स्वरितम् सूत्रस्थ भाष्य से विरोध है। क्योंकि वहां तित् में प्रत्ययग्रहण किया है जिससे तित् प्रत्यय को स्वरित हो। तित् आदेश को स्वरित न हो। उससे द्युभ्याम् में दिव उत् से हुए ह्रस्व उकार आदेश को स्वरित नहीं होता। फिर वहां प्रत्यय ग्रहण का खण्डन करते हुए दिव उत् में तपर न मानकर उद् इस प्रकार दपर माना है और तपरस्तत्कालस्य सूत्र में तपर के समान दपर में भी तत्कालता स्वीकार की है। यहां ॠदोरप् में दपर मानकर तत्कालता का अभाव मान रहे हैं तो इसका उत्तर है कि ॠदोरप् में दकार से तात्पर्य थकार या धकार से है। ॠदोरप् में दपर नहीं समझना चाहिए बल्कि थपर या धपर है। थ या ध को जश्त्व होकर दकार हो गया है। इस लिए दपर न होने से तत्कालता नहीं होगी। दकार को चर्त्व होकर तपरस्तत्कालस्य ऐसा सूत्र अभीष्ट है। वस्तुतः तित्स्वरितम् सूत्र का भाष्य केवल प्रौढिवाद मात्र है। दपर में तत्कालता इष्ट नहीं है। तपर में ही इष्ट है। इस लिए ॠदोरप् में तपर न होने से दोष न होगा और द्युभ्याम् में उत् आदेश के तपर होने पर भी तित्स्वरितम् से स्वरित न होगा। क्योंकि प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् इस परिभाषा से तित् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा, आदेश का नहीं।

इदं विचार्यते—य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तर-समानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति। कुतः पुनरियं विचारणा। इह हि समुदाया अप्युपदिश्यन्ते अवयवा अपि। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद्यथा वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति। तत्र समुदायस्थस्यावयस्यावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा नवेति विचारणा। कश्चात्र विशेषः।

अब यह विचार का विषय है—ये जो वर्णों में वर्तमान वर्णों के अवयव, जो स्वतन्त्र वर्णों के समानाकार हैं, अवयव सदृश स्वतन्त्र वर्ण मानकर जो कार्य स्वतन्त्र वर्णों को प्राप्त होता है वह इनमें होगा अथवा नहीं। यह विचार (सन्देह) क्योंकर उत्पन्न होता है ? इस लिए कि यहां शास्त्र में समुदायों का भी उपदेश है और उनके अवयवों का भी। और अवयव समुदाय के भीतर वर्तमान होता है, जिस प्रकार वृक्ष जब हिलता है तो अपने अवयवों को साथ लिए हुए ही हिलता है। इस लिए समुदाय के भीतर वर्तमान अवयव को पृथग्ग्रहण करके तन्निमित्त कार्य होना चाहिए अथवा नहीं, यह सन्देह होता है। तो इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

---

१. आकार आदि में अकार आदि सदृश अवयव, ऋकार ऌकार में रेफ लकार सदृश अवयव, सन्ध्यक्षरों में अकार इकार उकार सदृश अवयव दीख पड़ते हैं, इन में केवल (=स्वतन्त्रतया प्रयोग में श्रूयमाण) अकारादि को जो कार्य प्राप्त होता है, वह होगा अथवा नहीं—यह विचार है।

२. समुदायों का भी उपदेश है। यथा ऋऌ, एऐ, ओऔ का। अवयवों का भी, जैसे अ इ उ (ण्) र (ट्) ल (ण्) का। यहां दो पक्ष उपस्थित होते हैं—(१) ग्रहणपक्ष (२) अग्रहणपक्ष। ग्रहणपक्ष में सन्देह का बीज यह है कि जहां समुदाय-परक निर्देश है (यथा ऋऌ एऐ इत्यादि) वहां अवयवों (रेफ ल अ इ इत्यादि) का प्राधान्य से निर्देश नहीं। तिसपर अवयवभूत अकार की एच् आदि समुदाय संज्ञा न होने पर भी स्वतन्त्र अकार के रूप में उसका ग्रहण संभवी है। अग्रहण पक्ष में अवयवों के समुदाय में तिरोहित होने से, समुदाय के घटकतया उपकारक होने से, अपने कार्य के प्रति अप्रयोजक होने से जैसे नरसिंह में नरत्वादि कुछ भी नहीं। समुदाय एच् आदि के अवयव में अत्व आदि कुछ भी न होने से वर्णान्तर के साथ सारूप्यमात्र से उसमें तन्निबन्धन कार्य नहीं होना चाहिए—यह शङ्का का बीज है। इस पक्ष में वृक्ष दृष्टान्त दिया है। समुदाय को कार्य हुआ तो उसके अवयवों को अपने आप हो गया, समुदाय-रूप वृक्ष के कम्प में अवयवों का कम्प नान्तरीयकतया सिद्ध ही है।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः[1]।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः। अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्, अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं प्राप्नोति।

दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः।

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः। आलूय प्रलूय ह्रस्वस्य पिति कृति तुग् इति तुक् प्राप्नोति। नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? 'पदान्ताद्वा'[2] इति विभाषां वक्ष्यामीति। यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि दीर्घात्पदा-

---

(वा०) वर्णों के अवयवों को यदि स्वतन्त्र वर्ण (जिनके वे सदृश हैं) मान लिया जाए तो सन्ध्यक्षरों में समानाक्षरों के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा—अग्ने इन्द्र—यहां सन्ध्यक्षर ए के अवयव इ को पृथक् वर्ण मानकर अकः सवर्णे दीर्घः इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होता है। इसी तरह वायो उदकम्—यहां भी ओ के अवयवभूत उ को मानकर दीर्घ प्राप्त होता है।

(वा०) दीर्घ में ह्रस्व के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा। आलूय प्रलूय—यहां लू के ऊकार के अवयव ह्रस्व उ को पृथग् वर्ण मान कर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् इस सूत्र से तुक् का आगम प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है कि दीर्घ में (उसके अवयव) ह्रस्व के आश्रित विधि नहीं होती, क्योंकि आचार्य दीर्घ से परे छ परे होने पर तुक् का विधान करते हैं। यह ज्ञापक नहीं बन सकता। इस वचन का कुछ और प्रयोजन है। क्या? पदान्ताद्वा इस विकल्प विधायक शास्त्र में दीर्घात् इसकी अनुवृत्ति हो, इस लिए। अच्छा, तो जो दीर्घात्पदान्ताद्वा इस प्रकार एक सूत्र न करके योगविभाग करके दीर्घात् यह जुदा सूत्र पढ़ा है यह ज्ञापक रहेगा। (अन्यथा अपदान्त दीर्घ, चेच्छिद्यते इत्यादि के चकारोत्तरवर्ती ए के अवयव इ (ह्रस्व) से परे छे च से ही तुक् की सिद्धि हो

---

१. समान शब्द से यहां पूर्वाचार्यों के संकेतानुसार अक् वर्णों का ग्रहण होता है। पूर्वाचार्यों का सूत्र है--दश समानाः--अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ--ये दस समानाक्षर कहलाते हैं।

२. यदि दीर्घात् ऐसा न पढ़ा जाए तो कुडयच्छाया यहां भी विकल्प से तुक् होगा।

न्ताद्वा इत्येव ब्रूयात् । इह तर्हि—खट्वाभिः, अतो भिस ऐस् इत्यैस्भावः प्राप्नोति । तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति । इह तर्हि याता वाता अतो लोप आर्धधातुक इत्यकारलोपः प्राप्नोति । ननु चात्रपि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति । अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम् । किम् । सर्वस्य लोपो मा भूदिति । अथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति । परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च । एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाकारस्थस्याऽकारस्य लोपो भवतीति । यदयम् आतोऽनुपसर्गे कः इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । कित्करणे एतत्प्रयोजनम्—क्तितीत्याकारलोपो यथा स्यादिति । यद्याकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यात्,

---

जाने से दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होता)। अच्छा तो खट्वाभिः यहां ह्रस्वाश्रय विधि अतो भिस ऐस् से भिस् के स्थान में ऐस् प्राप्त होता है। (उत्तर) अकार तो तपर करने के बल पर यहां ऐस् नहीं होगा (प्रकृत में यदि ऐस् हो जाए तो तपरकरण व्यर्थ हो जाय)। अच्छा तो याता वाता — यहां अतो लोप आर्धधातुके इस सूत्र से आ के भीतर के ह्रस्व अ का लोप होना चाहिए। अजी यहां भी तपरकरण के बल पर ही लोप नहीं होगा। नहीं, यहां तपरकरण का कोई दूसरा प्रयोजन है। क्या! सारे दीर्घ आ का लोप न हो जाए (आ के एक अवयव अ का लोप तो होगा ही)। यदि पूछो तपर करने पर भी परले अ का लोप होने पर पूर्व अ का लोप क्यों नहीं होता तो हम कहेंगे स्थानिवद्भाव होने से और असिद्ध होने से। ऐसी अवस्था में आचार्य-प्रवृत्ति बतलाती है—

आकार के भीतर वर्तमान अ का लोप नहीं होता, क्योंकि आचार्य आतोऽनुपसर्गे कः (३ । २ । ३) इस सूत्र में प्रत्यय को इत्संज्ञक ककार-सहित पढ़ते हैं। यह क्यों कर ज्ञापक हुआ? कित्करण में यही तो प्रयोजन है कि कित्प्रत्यय परे होने पर (धातु के) आ का लोप हो जाय। यदि आकार के भीतर वर्तमान अ

---

१. अतपर होने पर अ अपने सवर्णों का ग्राहक होगा, जिससे सम्पूर्ण आ का लोप होने लगेगा।

२. असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) इस शास्त्र से। यह इस तरह समझना चाहिये—अपाचितराम् में चिणो लुक् (६।४।१०४) इस शास्त्र से त का लुक् होनेपर तराम् शब्द का भी जब इसी शास्त्र से लुक् प्राप्त हुआ तो इसी शास्त्र से किए हुए त—लुक् को असिद्धवत् मान कर व्यवधान होने से तराम् शब्द के लुक् को रोका जाता है, इसी प्रकार प्रकृत में अतो लोपः शास्त्र से किये गये परले अ के लोप को असिद्धवत् मानकर इसी शास्त्र से प्राप्त पूर्व अ के लोप को रोका जाता है।

कित्करणमनर्थकं स्यात्। परस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूपं स्याद् गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्य्यो नाकारस्थ-स्याऽकारस्य लोपः स्यादिति, अतः ककारमनुबन्धं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः इति। यत्तर्हि गापोष्टक् इत्यनन्यार्थं[1] ककारमनुबन्धं करोति।

एकवर्णवच्च।

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। वाचा तरतीति द्व्यज्लक्षणष्ठन्मा भूदिति। इह च वाचो निमित्तम्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ इत्यनुवर्तमाने गोद्व्यचः इति द्व्यज्लक्षणो यन्मा भूदिति। अत्रापि गोनौग्रहणं ज्ञापकम्—दीर्घाद् द्व्यज्लक्षणो विधिर्न भवतीति। अयं तु सर्वेषामेव परिहारः—

का (अतो लोपः से) लोप हो जाय तो इस सूत्र में कित्करण व्यर्थ हो जाय। आ (=अ+अ) के परले अ का लोप होने पर प्रत्यय के अ और प्रकृति के अवशिष्ट अ के स्थान में (अतो गुणे ६।१।९७ से) पररूप एकादेश होने पर इष्ट रूप गोदः, कम्बलदः सिद्ध हो जायगा। पर आचार्य जानते हैं आकार के अवयव-भूत अ का लोप न होगा। अतः ककार अनुबन्ध लगाते हैं। पर यह तो ज्ञापक नहीं बन सकता। यहाँ का क प्रत्यय उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये रहेगा। जैसे तुन्द-शोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५) इस सूत्र में। अच्छा तो जो गापोष्टक् (३।२।८) में जो ककार अनुबन्ध लगाया है जिस का दूसरा प्रयोजन ही नहीं, वह ज्ञापक रहेगा।

(वा०) एक वर्ण की तरह।

दीर्घ एक वर्ण एकाच् होता है ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? वाचा तरति इस विग्रह को आश्रित कर वाच् से (नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७ से) द्व्यच्कता (दो अचों) को मान कर कहीं ठन् प्रत्यय न हो जाय। और वाचो निमित्तं संयोग उत्पातो वा इस विग्रह को आश्रित कर के गोद्व्यचः (५।१।३९) इस सूत्र से वाच् में द्व्यच्कता को मान कर कहीं, यत् न हो जाय। नहीं, ऐसा नहीं होगा। यहाँ भी गो और नौ का इन दोनों सूत्रों में द्व्यच् से जुदा ग्रहण होने से ज्ञापित होता है दीर्घ से द्व्यज्-निमित्तक विधि नहीं होती। पर वक्ष्यमाण उत्तर सभी दोषों का एक ही परिहार है—

---

१. सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति प्रयोजन हो तो ज्ञापक नहीं होता। यहाँ तो कित् करण प्रयोजनवान् है। यदि प्रत्यय कित् न हो (जो यहाँ है) तो आकार के उत्तर-भाग अकार का अतो लोपः से लोप होने पर धातु के अवशिष्ट अ और प्रत्यय के अ का पररूप एकादेश हो जाने पर और इस को धातु के प्रति अन्तवद्भाव होने

नाऽव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु[1] ।

नाऽव्यपवृक्तस्याऽवयवाश्रयो विधिर्भवति यथा द्रव्येषु। तद्यथा द्रव्येषु सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। विषम उपन्यासः। प्रत्यृचं चैव हि तत्कर्म चोद्यते। असम्भवश्चाग्नौ वेद्यां च। यथा तर्हि सप्तदश प्रादेशमात्रीराश्वत्थीः समिधोऽभ्यादधीत इति न सप्तदशप्रादेशमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। अत्रापि प्रतिप्रणवं चैतत्कर्म चोद्यते। तुल्यश्चासंभवोऽग्नौ वेद्यां च। यथा तर्हि

(वा०) अभिन्नतया भासमान वर्ण समुदाय के अपृथग्-भूत (अस्वतन्त्र) अवयव को तत्सदृश, स्वतन्त्र, भिन्न वर्ण के तुल्य विधि नहीं होती जैसे द्रव्यों में। जैसे (वेद में कहा है) सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति अर्थात् समिदाधान के सत्तरह ऋग्मन्त्रों से सत्तरह (एक-एक हाथ लम्बी) समिधा रखी जाती हैं, पर इस वचन के आधार पर सत्तरह हाथ लम्बी एक ही लकड़ी तो अग्नि में नहीं रखी जाती (यद्यपि वहाँ भी एक एक हाथ लम्बे टुकड़े समुदाय-घटकतया विद्यमान हैं, पर वे अभिन्न-बुद्धि-गम्य-समुदाय के अभिन्न अस्वतन्त्र अवयव हैं, सत्तरह हाथ लम्बे उस एक काष्ठ में सत्तरह काष्ठ हैं ऐसी बुद्धि[2] नहीं होती, अतः तदाश्रित कार्य नहीं होता)। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। एक एक ऋचा को उच्चारण कर एक-एक समिधा को रखने का विधान है और अग्नि व वेदी में सत्तरह हाथ लम्बा काष्ठ रखा भी नहीं जा सकता। (अच्छा तो दूसरा दृष्टान्त लीजिए) जैसे सत्तरह एक-एक बालिश्त लम्बी अश्वत्थ (पीपल) की समिधाओं को अग्नि में धरे—इस विधान बल पर सत्तरह बालिश्त लम्बा एक ही काष्ठ अग्नि में नहीं धरा जाता। (यहां भी दृष्टान्तविषमता है) यहां भी प्रति ओंकार उच्चारण के साथ एक-एक काष्ठ धरने की विधि है। और (यद्यपि बालिश्त अल्प-प्रमाण है, हाथ का आधा है तो भी) यहां भी १७ बालिश्त लम्बे एक ही काष्ठ के अग्नि व वेदी में आधान का पहले जैसा असम्भव है। अच्छा तो

से और उसे सुपि च से दीर्घ होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से धात्वन्तावयव ही रहने से छन्दोगाय यहाँ आतो धातोः (६।४।१४०) से आ लोप होने लगेगा। यह कोई दोष नहीं। सन्निपात परिभाषा से यहाँ लोप नहीं होगा। अदन्त अङ्ग अर्थात् अ को आश्रित कर के जो ङेर्यः से य हुआ है वह अ के लोप का निमित्त नहीं बनेगा।

१. व्यपवृक्तं व्यपवर्गो भेदः। अविद्यमानं व्यपवृक्तमस्येत्यव्यपवृक्तम्, तस्य अभिन्नबुद्धिविषयसमुदायस्य। अव्यपवृक्तस्य और अवयवस्य— ये दोनों व्यधिकरण षष्ठियाँ हैं, समानाधिकरण नहीं, अव्यपवृक्त के अवयव का ऐसा अर्थ है, न कि अव्यपवृक्त जो अवयव उस का ऐसा।

२. और सम्भवमात्र को लेकर कार्य नहीं होते, कार्य-निमित्तक बुद्धि हो तभी होते हैं।

तैलं न विक्रेतव्यम्, मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते, अव्यपवृक्तं—गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते। तथा लोम नखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम् इति व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्। अव्यपवृक्ते कामचारः। यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति। क्व च व्यपवर्गोऽस्ति। सन्ध्यक्षरेषु।

सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात्।

यदत्राऽवर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णाद्। ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम्। अथवा पुनर्नैव गृह्यन्ते।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणम्।

यह दृष्टान्त लीजिए— (स्मृतिकार का वचन है) तेल नहीं बेचना चाहिए, मांस नहीं बेचना चाहिए, पर पृथग्भूत तो बेचा जाता है, और अपृथग्-भूत जैसे गौ और तिल नहीं बेचे जाते। इसी प्रकार (स्मृति है—) लोमों को और नखों को छूकर स्नान करे। यहां जुदा हुए-हुए लोमों और नखों को छूकर अवश्य स्नान करना होगा, परन्तु शरीरस्थ लोम, नखों को छूकर इच्छा हो स्नान करे, अनिच्छा हो, न करे। अच्छा तो जिस समुदाय में पृथक्ता भास रही हो (वहां अवयवाश्रित कार्य क्यों न हो?)। कहां पृथक्ता भासती है? सन्ध्यक्षरों में।

(वा०) सन्ध्यक्षरों में विवृत होने से (अवयवाश्रित कार्य नहीं होगा)। इन सन्ध्यक्षरों में जो अवर्ण (अवयव) है वह लोक में प्रयुक्त स्वतन्त्र अ की अपेक्षा विवृततर है (अतः यह उसका सवर्ण नहीं) और जो इ वर्ण और उ वर्ण है वे भी दूसरे इवर्ण उवर्ण से विवृततर हैं (अतः यहां के इवर्ण उवर्ण स्वतन्त्र इवर्ण उवर्ण के सवर्ण नहीं)। अथवा इन अवयवों का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण नहीं होता—यह पक्ष रहे।

(वा०) यदि ग्रहण नहीं होता तो नुट् विधि, लादेश, विनाम (णत्व) की कर्तव्यता में ऋकार का ग्रहण करना होगा।

---

१. परमार्थतः पृथग् उपलभ्यमान स्वतन्त्र वर्णों की समुदाय में अवयव-रूप से अन्तः सत्ता नहीं है, केवल वर्णान्तर सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है। समुदाय वर्णों में समुदाय बुद्धि भी तात्त्विकी नहीं है, यहां भ्रान्तिवश अवयवाभास होने से वैसी बुद्धि कल्पित होती है।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

इस वाक्यपदीय-वचन के अनुसार स्फोट को सिद्धान्त माननेवाले वैयाकरणों के लिये इस पूर्व पक्ष का कौन सा अवसर है।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (७।४।७१) ऋकारे चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—आनृधतुः, आनृधुरिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते द्विहल इत्येव तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। द्विहल्ग्रहणं न करिष्यते तस्मान्नुड् भवतीत्येव। यदि न क्रियते आटतुः, आटुरित्यत्रापि प्राप्नोति। अश्नोतिग्रहणं नियमार्थं भविष्यति, अश्नोतेरेवाऽवर्णोपधस्य, नान्यस्याऽवर्णोपधस्येति। (नुड्विधिः)।

लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। कृपो रो लः ऋकारस्य चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—क्लृप्तः क्लृप्तवानिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते र इत्येव तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। ऋकारोप्यत्र निर्दिश्यते। कथम्। अविभक्तिको निर्देशः—कृप, उः, रः, लः, कृपो रो ल इति।

तस्मान्नुड् द्विहलः इस सूत्र में ऋकारे च (ऋकार परे होने पर भी) ऐसा पढ़ना होगा ताकि आनृधतुः (ऋध् का प्र० पु० द्विवचन में लिट्), आनृधुः (बहु० में लिट्) यहाँ भी नुट् का आगम हो जाय। जिसके मत में वर्णों के एकदेश का स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है, उसके लिए द्विहलः कहने से ही नुट् आगम हो जाएगा। जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसमें भी यह (ऋकारग्रहणरूप) दोष नहीं आता। वह द्विहल् का ग्रहण न करेगा तस्मान्नुड् (भवति), इतना ही सूत्र न्यास करेगा। यदि ऐसा किया जाएगा, आटतुः, आटुः—यहाँ भी नुट् की प्राप्ति होगी। (नहीं होगी) अश्नोतेश्च (७।४।७२) सूत्र में अशूङ् धातु का नुट् विधान के लिए जो ग्रहण किया है वह नियमार्थ होगा, अर्थात् अवर्ण उपधावाले धातु को यदि नुट् हो तो अशूङ् को ही हो, अन्य को न हो। (नुड्विधि के विषय में कह दिया)।

लादेश विधि में भी ऋकार का ग्रहण करना होगा। कृपो रो लः (८।२।१८) यहाँ ऋकारस्य च (ऋकार को लादेश हो) ऐसा पढ़ना चाहिए, ताकि क्लृप्तः क्लृप्तवान्—यहाँ भी लत्व हो जाय। जिसका यह पक्ष है वर्णों के एकदेशों का स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है उसके लिये तो सूत्र में पढ़े हुए रः से ही कार्यसिद्धि हो जायगी। (ऋकारस्थ रेफ भाग को लत्व करने से इष्ट सिद्धि हो जायगी)। जिसका पक्ष है ग्रहण नहीं होता, उसके विषय में भी ऋकारग्रहण गौरव रूप दोष नहीं आता। (क्योंकि) यहाँ ऋकार का निर्देश पहले से ही किया हुआ है। वह कैसे? कृपो रो लः सूत्र में कृप यह अविभक्तिक (विभक्ति-रहित) निर्देश है, ऋ का षष्ठ्यन्त रूप उः है, कृप के पकारोत्तरवर्ती अकार से मिल कर ओ गुण हुआ है।

अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति। (लादेशः)

विनामे ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। रषाभ्यां नो णः समानपदे ऋकाराच्चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—मातॄणां पितॄणामिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते रषाभ्यामित्येव तस्य सिद्धम्। न सिध्यति। यत्तद्रेफात्परं भक्तेस्तेन व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। अड्व्यवाये इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा भवन्ति। यच्चापि रेफात्परं भक्तेः, न तत्क्वचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते। एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते, रषाभ्यां नो णः समानपदे, ततः 'व्यवाये'। व्यवाये च रषाभ्यां नो णो भवतीति। ततः 'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः'[२] इति। इदमिदानीं किमर्थम्। नियमार्थम्। एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये, नान्यैः,

---

अथवा ऐसा समझिये कि यहाँ (कृपो रो लः) सूत्र में दोनों स्थानी र और आदेश ल में जातिस्फोट र, ल का निर्देश है। (यह लादेश विषय में कह दिया)

विनाम (णत्व विधि) में ऋकार का ग्रहण करना होगा। जहाँ णत्व विधायक शास्त्र रषाभ्यां नो णः समानपदे पढ़ा है वहीं उसके साथ ऋकाराच्च (ऋकार से परे भी) ऐसा कहना चाहिये। ताकि मातॄणाम् पितॄणाम्-यहाँ भी णत्व हो सके। जिस का ग्रहण पक्ष है उसके मत में तो रषाभ्याम् इतने से ही कार्य-सिद्धि हो जायगी। नहीं होगी। जो रेफ रूप भाग से परे अज्-भक्ति है उससे व्यवधान के कारण रषाभ्याम्— इस सूत्र से प्राप्ति ही नहीं। मत हो। अट्कुप्वाङ् सूत्र से अट्रूप व्यवधान होने पर भी णत्व होता है, (सो णत्व निर्बाध है)। णत्व (इस सूत्र से भी) नहीं हो सकेगा। वर्णों के एकदेश (अवयव) वे ही तो वर्णरूप से गृहीत होते हैं जिनके सदृश स्वतन्त्र वर्ण हैं। रेफ रूप भाग से परे जो अच् भक्ति मानी जाती है वह (तत्सदृश वर्ण) कहीं भी दीखता नहीं। अच्छा तो हम योगविभाग करेंगे। रषाभ्याम्-इस सूत्र को पढ़कर व्यवाये यह वचन पढ़ेंगे, अर्थ होगा र् ष् से परे न् को ण् होता है और (किसी वर्णके) व्यवधायक होने पर (भी) यह णत्व हो जाता है। इसके अनन्तर अट्कुप्वाङ्नुम्भिः (अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् इनके द्वारा व्यवधान होने पर) ऐसा पढ़ेंगे। यह किस लिये? नियम करने के लिये[२]। अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट वर्णों द्वारा यदि व्यवधान हो तो इन्हीं (अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम्) द्वारा व्यवधान होने पर णत्व हो, अन्य

---

१. कृपः उः रेफस्य लत्वम्—यह एक वाक्य, कृपो रेफस्य लत्वम्—यह दूसरा। इस प्रकार वाक्यभेद हो जाता है। पर यह न्याय है कि एकवाक्यता के संभव होने पर वाक्य-भेद का आश्रयण युक्त नहीं, अतः भाष्यकार पक्षान्तर का उपन्यास करते हैं।

२. यह नियम अक्षर-समाम्नाय में पढ़े हुए वर्णों द्वारा व्यवधान का संकोच करता

इति। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति ऋकारान्नो णत्वमिति, यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः। यत्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति। यच्चापि नृनमनशब्दं पठति। ननु चोक्तं वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्। वहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम्। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे। अथवा उपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते। ऋतः नो णो भवति। ततः 'छन्दस्यवग्रहात्' ऋत इत्येव।

प्लुतावैच इदुतौ॥

एतच्च वक्तव्यम्। यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोरनृतेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। क्रियत एतन्न्यास एव।

द्वारा व्यवधान होने पर न हो। जिसका अग्रहण पक्ष है उसे भी यह ऋकार ग्रहण-रूप दोष नहीं आता। आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है ऋकार से परे न् को ण् होता है जो वे क्षुभ्नाति गण में नृनमन शब्द पढ़ते हैं (प्राप्त था तभी तो वारण करने के लिये क्षुभ्नाति गण में पाठ कर दिया)। नहीं यह कोई ज्ञापक नहीं। इस (नृनमन) का पाठ तो इसलिये किया गया हो सकता है कि जब अपत्यार्थ इञ् प्रत्यय आने पर आदि-वृद्धि होकर पूर्व पद में रकार मिल जाय तब उससे परे न् को ण् न हो। नार्नमनिः ऐसा रूप हो। अच्छा जो इसी गण में तृप्नोति शब्द पढ़ा है, यह ज्ञापक रहेगा। और नृनमन शब्द का पाठ भी ज्ञापक होगा। अजी अभी कहा था कि उसका पाठ वृद्धि होकर नार्नमनिः रूप में रकारनिमित्तक णत्व को रोकने के लिये हो सकता है। नहीं। (बहिर्भूत निमित्त इञ् प्रत्यय होने से) वृद्धि बहिरङ्ग है और (अन्तर्भूत निमित्त होने से) णत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग शास्त्र की दृष्टि में बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है (सो ऋकार निमित्तक णत्व को रोकने के लिये ही नृनमन शब्द का पाठ है)। अथवा अगले सूत्र को विभाग करके पढ़ेंगे—ऋतः (सूत्र के अविभक्तिक ऋत् की पञ्चमी। और अर्थ होगा ऋ से परे न् को ण् होता है। तब छन्दस्यवग्रहात् पढ़ेंगे जिसमें पूर्व सूत्र से ऋतः इसकी अनुवृत्ति होगी।

(ग्रहणवादी का कथन)—प्लुतावैच इदुतौ (८।२।१०६) अर्थात् ऐच् के अवयव इ, उ को प्लुत होता है—यह तुम्हें कहना पड़ेगा। जिस के मत में अवयवी का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण होता है, उस के मत में गुरोरनृतः इत्यादि सूत्र से ही प्लुत हो जायगा। (उत्तर) जिस के मत में ग्रहण नहीं होता, उस में भी कोई दोष नहीं (गौरव नहीं आता)। सूत्रकार ने पहले ही इस वचन को सूत्ररूप में पढ़ रखा है (यहाँ कोई अपूर्व वचन नहीं पढ़ना है)।

है। रेफ रूप भाग से परे जो अज्भक्ति मानी जाती है उसका नहीं, सो वहां व्यवाये इस योगविभाग से निर्बाध णत्व होगा।

/ तुल्यरूपे[1] संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न सिध्यति कु३क्कुटः, पि३प्पली, पि३त्तमिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। कथम्। मात्राकालोऽत्र गम्यते। न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्। असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्। यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति। इह तु कथम्—सय्ँय्यन्ता, सव्ँव्वत्सरः, यल्ँल्लोकम्, तलँल्लोकम् इति। यत्रैतदस्त्यण् सवर्णान्

(वा०) (ग्रहणवादी फिर दोष देता है)—तुल्यरूपवाले अवयव जिस वर्ण में हैं और जो संयोगसंज्ञा के योग्य (एक) वर्ण है वहां तुम्हें (अग्रहणवादी को) हल्-द्वय-आश्रित संयोगसंज्ञा अप्राप्त होने से कहनी चाहिये। जिस से संयोग के परे होने पर पूर्व की गुरु संज्ञा होने से गुरोरनृतः— से कु३क्कुट, पि३प्पली, पि३त्त इत्यादि में प्लुत हो सके। (हमारे मत में अवयव-भूत ककारादि को लेकर दो ककार, दो पकार, दो तकार हैं)। (उत्तर—) जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसके मत में भी दो ही ककार, दो ही पकार और दो ही तकार हैं। तुम पूछो कैसे? (तुम्हारा यहाँ क्क, प्प, त्त में एक वर्ण मानना भ्रान्ति है) कारण कि मात्रा काल संयोग का बोध हो रहा है, पर मात्रा काल वाला व्यञ्जन तो है नहीं। जब आचार्य ने उसका प्रत्याहारसूत्रों में उपदेश नहीं किया तो उसकी सत्ता कैसे जानी जाय और जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाय। यहाँ पूर्वपक्षी (ग्रहणवादी) कहता है कि जहां अण् भिन्न वर्णों क्क, प्प, त्त आदि में अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९) ग्रहणकशास्त्र नहीं लगता वहां तुम भले ही उपदेशाभाव और असत्त्वरूप अग्रहण में हेतु दे सको, पर जहां सय्ँय्यन्ता, सव्ँव्वत्सरः, यल्ँल्लोकम्, तलँल्लोकम् आदि में अण् से गृहीत होने से साक्षात् उपदेश न होने पर भी उपदिष्टत्व और सत्त्व है ही। वहां अण् रूप य्, व्, ल् अपने सवर्णों का ग्राहक होने से दो य्य, दो व्व, दो ल्ल को एक वर्ण हल् के रूप में ग्रहण (बोध) करायँगे सो अग्रहण पक्ष में दो हल् न होने से संयोग संज्ञा न बनेगी। (उत्तर—) यकारादि के अण् होने पर भी द्वियकारादि को वह ग्रहण नहीं करा सकता, जो है उसीका ग्रहण करा सकता है। य्य आदि मात्राका-

---

१. तुल्यरूपावयवः संयोगस्तुल्यरूपः। मध्यमपदलोपी समासः। तुल्यरूपसंयोग की पूर्वपक्ष में एकवर्णता है, सिद्धान्त में वर्णद्वयरूपता। शीघ्रोच्चारणवशात् एकत्व ज्ञान तो भ्रान्त है।

गृह्णातीति। अत्रापि मात्राकालो गृह्यते। न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति[1]। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्। असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्।

हयवरट् ॥ ५ ॥

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वश्चैव परश्च। यदि पुनः पूर्व एवोपदिश्येत, पर एव वा। कश्चात्र विशेषः।

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणम् ॥

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणं कर्तव्यम् आतोऽटि नित्यम्, शश्छोऽटि[2], दीर्घादटि समानपादे हकारे चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—महाँ हि सः।

उत्वे च[3] ॥

उत्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् अतो रोरप्लुतादप्लुते हशि च हकारे

लिक हैं, व्यञ्जन (हल्) तो मात्राकालिक होता नहीं (वह तो अर्धमात्रिक होता है), उसका आचार्य ने उपदेश नहीं किया, उपदेश के बिना उसकी सत्ता कैसे जानी जाय। जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाए ?

हयवरट् ॥५॥

सभी वर्णों का (वर्णसमाम्नाय में) एक ही बार उच्चारण किया गया है, पर हकार ही का दो बार उच्चारण किया गया है, पहले भी और पीछे भी। यदि पहले ही उच्चारण किया जाए अथवा पीछे ही, तो इसमें क्या भेद पड़ता है ?

(वा०) हकार के केवल पर उपदेश होने पर जिन सूत्रों में अट् ग्रहण किया है उनमें हकार भी ग्रहण करना चाहिए, (जैसे) आतोऽटि नित्यम्, शश्छोऽटि[2], दीर्घादटि समानपदे इन सूत्रों में हकार परे होने पर भी (इन सूत्रों से विहित कार्य) होते हैं ऐसा कहना चाहिए ताकि महाँ हि सः—यहाँ भी रुत्व और अनुनासिक हो जाय।

(वा०) उत्व की कर्तव्यता में भी हकार ग्रहण करना चाहिये अतो रोरप्लुताद-

---

१. सानुनासिक और निरनुनासिक यहाँ दो वर्ण हैं।

२. यह सूत्र अट्प्रत्याहारार्थ हकार के उपदेश में प्रसङ्गोच्चारित है। अट्कुप्वाङ् आदि के साथ प्रसङ्ग से पढ़ दिया है। वस्तुतः इस अट् में हकार के उपदेश का कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि हकार परे रहते शकार का मिलना सर्वथा असम्भव है।

३. उत्व के साथ भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि यहाँ अश् प्रत्याहार में भी हकार के उपदेश का प्रयोजन समझना चाहिये। भो हसति देवा हसन्ति, आदि में हकार परे रहते रु को यत्व होता है।

चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति ब्राह्मणो हसतीति । अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

पूर्वोपदेशे कित्त्वक्सेड्विधयो[1] झल्ग्रहणानि च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं विधेयम्—स्निहित्वा, स्नेहित्वा, सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति रलो व्युपधाद्धलादेः इति कित्त्वं न प्राप्नोति। क्सविधिः—क्सश्च विधेयः—अधुक्षत्, अलिक्षत् शल इगुपधादनिटः क्स इति क्सो न प्राप्नोति । इड्विधिः—इट् च विधेयः—रुदिहि वलादिलक्षण इण्न प्राप्नोति । झल्ग्रहणानि च । किम् । अहकाराणि स्युः । तत्र को दोषः । झलो झलि इतीह न स्यात्—अदाग्धाम् अदाग्धम् । तस्मात्पूर्वश्चैवोपदेष्टव्यः परश्च । यदि च किंचिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः ।

इदं विचार्यते–अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्व एवोपदिश्येत हरयवट् इति, पर एव वा यथान्यासम् इति । कश्चात्र विशेषः ।

प्लुते की अनुवृत्ति करते हुए हशि च सूत्र में हकार परे होने पर भी उत्व हो ऐसा कहना चाहिये ताकि पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसति यहाँ भी उत्व हो जाय । अच्छा तो पूर्व ही उपदेश हो ।

(वा०) यदि पूर्व ही उपदेश हो तो कित्त्व विधि, क्स विधि तथा इट् विधियाँ नहीं सिद्ध होतीं और जहाँ झल् ग्रहण किया गया है वह हकार-रहित होगा ।

यदि पूर्वोपदेश ही किया जाय तो कित्त्व का विधान करना पड़ेगा । स्निहित्वा, सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति में रलो व्युपधाद्धलादेः—इस सूत्र से हकार के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से सेट् क्त्वा और इडादि सन् विकल्प से कित् नहीं हो सकते । क्सविधिः—क्स का भी विधान करना पड़ेगा। अधुक्षत्, अलिक्षत् (दुह् और लिह् का लुङ्) में शल इगुपधादनिटः क्सः इस सूत्र से क्स की प्राप्ति नहीं होती। इड्विधि—इट् का भी विधान करना होगा (क्यों कि अब) वलादि प्रत्ययनिमित्तक इट् की प्राप्ति नहीं। झल्ग्रहण भी । क्या कहना चाहते हो ? यही कि झल् प्रत्याहार हकार रहित हो जायेंगे।

अब इस बात पर विचार किया जाता है रेफ का यकार वकार से पूर्व ही उच्चारण करके (सूत्र को) हरयवट् इस रूप से पढ़ा जाय अथवा जैसे आचार्य ने इसे रखा है (हयवरट् के रूप में) । तो इसमें क्या विशेष है ?

---

१. यहाँ विधि शब्द में कर्मणि कि प्रत्यय समझना चाहिये । कित्त्व क्स इट्—ये विधेय हैं ।

२. वर्णों का उपदेश किसी शास्त्रीय प्रयोजन के लिये किया जाता है (केवल) स्वरूपबोधन के लिये नहीं ।

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनुनासिकस्य—स्वर्नयति, प्रातर्नयति यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति। द्विर्वचनस्य—मद्रह्रदः, भद्रह्रदः यरः (८।४।४६) इति द्विर्वचनं प्राप्नोति। परसवर्णस्य—कुण्डं रथेन, वनं रथेन अनुस्वारस्य ययि (८।४।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे कित्त्वप्रतिषेधो व्यलोपवचनं च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं प्रतिषेध्यम्। देवित्वा दिदेविषति रलो व्युपधादिति कित्त्वं प्राप्नोति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते रलः व्युपधादिति। किं तर्हि। रलः अव् व्युपधादिति। किमिदम् अव् व्युपधादिति। अवकारान्ताद् व्युपधाद् अव्व्युपधादिति। व्यलोपवचनं च—व्योश्च लोपो वक्तव्यः।

(वा०) रेफ का पर उपदेश करने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का निषेध कहना होगा। अनुनासिक के निषेध का विषय स्वर्नयति, प्रातर्नयति, यहाँ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा इस सूत्र से रेफ को यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुनासिक प्राप्त होता है। द्विर्वचन के निषेध का विषय—मद्रह्रदः, भद्रह्रदः यहाँ अचो रहाभ्यां द्वे सूत्र से रेफ के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से द्वित्व प्राप्त होता है। परसवर्ण के निषेध का विषय—कुण्डं रथेन, वनं रथेन यहाँ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः इस सूत्र से रेफ के यय् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुस्वार को परसवर्ण प्राप्त होता है। अच्छा तो (रेफ का) पूर्व उपदेश ही हो।

(वा०) पूर्व उपदेश होने पर कित्व का प्रतिषेध करना होगा और वकार यकार का लोप भी कहना होगा।

यदि (रेफ का) पूर्व उपदेश किया जाय तो कित्व का प्रतिषेध करना होगा देवित्वा दिदेविषति। यहाँ व् के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) इस सूत्र से सेट् क्त्वा और सेट् सन्प्रत्यय को विकल्प से कित्व प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। हम सूत्र का पदच्छेद रलः व्युपधात् ऐसा नहीं समझते किन्तु रलः अव् व्युपधात् ऐसा समझते हैं। तो अव् व्युपधात् इसका क्या अर्थ है? जो व्युपध हो पर वकारान्त न हो उससे। व् य् का लोप भी—गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीव् धातु से रदानु प्रत्यय करने पर — ऐसे स्थलों में कहना होगा, कारण कि अब रेफ वल्प्रत्याहारान्तर्गत न रहा अतः लोपोव्योर्वलि (६।१।६६) इस सूत्र से लोप न हो सकेगा। यह कोई दोष नहीं। व्योर्वलि सूत्र में रेफ का भी निर्देश (उच्चारण) आचार्य

गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीवे रदानुः—जीरदानुः। वलीति लोपो न प्राप्नोति। नैष दोषः। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते लोपो व्योर् वलि इति, रेफे च वलि चेति।

अथवा पुनरस्तु परोपदेशः। ननु चोक्तं रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेध इति। अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति। द्विर्वचनेऽपि। नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य। किं तर्हि। निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य। तद्यथा ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषातामिति। नेदानीं तौ भुञ्जाते[1]।

इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां

ने किया है, लोपो व्योर्वलि ऐसा सूत्रन्यास अभिप्रेत है। (संहिता कार्य से रेफ का लोप हुआ है)। अर्थ हुआ वल् परे होने पर भी लोप हो और रेफ परे होने पर भी।

अथवा (सूत्रानुसार) परोपदेश ही रहे (क्या हानि है ?)। अजी अभी कहा था, परोपदेश होने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा। अनुनासिक और परसवर्ण के निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि रेफ और ऊष्म वर्ण (श ष स ह) के सवर्ण नहीं होते। रहा द्विर्वचन का निषेध, सो भी न कहना होगा, कारण कि हकार यर् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से द्वित्व-रूप कार्य का भागी ही नहीं, और रेफ यद्यपि यर् है तो भी द्वित्व विधि में निमित्त होने से कार्यी नहीं हो सकता। (इसमें लौकिक दृष्टान्त देते हैं) जैसे ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, माठर और कौण्डिन्य (मठर और कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण) भोजन परोसें। परोसते हुए वे स्वयम् भोजन नहीं करते।

अब इस बात पर विचार किया जाता है कि इन अयोगवाह नामक वर्णों का कहीं भी उपदेश नहीं किया, पर शास्त्र में और लोकव्यवहार में इनका श्रवण होता है। अतः शास्त्र-कार्य के लिए इनका उपदेश होना चाहिए। अयोगवाह नाम के कौन से

---

१. सामान्यतया यह लोकव्यवहारसिद्ध बात है कि विशेष विधि द्वारा सामान्य विधि की बाधा हुआ करती है। अचो रहाभ्यां द्वे इस द्वित्व विधि में यर् सामान्य है। रेफ विशेष है। उसका निमित्तत्व प्रत्यक्ष विहित है। यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने पर भी उसका कार्यित्व प्रत्यक्ष विहित नहीं है किन्तु अनुमेय है। प्रत्यक्षविहित रेफ का निमित्तत्व उसके कार्यित्व को बाध लेगा तो मद्रह्रदः में रेफ को द्वित्व नहीं होगा। दध्युदकम् आदि में इको यणचि से होनेवाले यणादेश में तो इक् का स्थानित्व प्रत्यक्ष है। अचि इस निमित्त के अन्तर्गत इक् का निमित्तत्व अनुमेय है। वहां इक् का

कार्यार्थमुपदेशः कर्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः। विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः। यदयुक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते। क्व पुनरेषामुपदेशः कर्तव्यः।

अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ॥

अयोगवाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्। णत्वम् उरःकेण, उरᳵकेण, उरःपेण, उरᳵपेण। अड्व्यवाय इति णत्वं सिद्धं भवति।

शर्षु जश्भावषत्वे ॥

शर्षूपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्। जश्भावषत्वे। अयमुब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते। तत्र जश्त्वे कृते उब्जिता, उब्जितुमित्येतद्रूपं यथा स्यात्। यद्युब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते, उब्जिजिषतीत्युपध्मानीयादेरेव द्विर्वचनं प्राप्नोति।

वर्ण हैं ? (उत्तर)—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक और यम। इन्हें अयोगवाह क्यों कहते हैं ? इसलिये कि इनका योग=उपदेश (अक्षरसमाम्नाय में) किया नहीं, और इनका शास्त्र और लोक में वहन=व्यवहार होता है। तो इनका कहाँ उपदेश करना चाहिये ?

(वा०) अयोगवाहों का अट् प्रत्याहार में अन्तर्भाव करना चाहिये। इससे क्या सिद्ध होगा ? (उत्तर) णत्व। उरः केण, उरᳵकेण उरःपेण उरᳵपेण, यहाँ अट्कृत व्यवधान होने पर भी णत्व सिद्ध होता है।

(वा०) शर् प्रत्याहार में अयोगवाहों का अन्तर्भाव करना चाहिये। इससे क्या सिद्ध होगा ? जश् भाव और षत्व।

उब्ज् धातु उपध्मानीयोपध (जिसमें उपध्मानीय उपधा है) पढ़ा है। शर् में पाठ होने से (शर् झल् के अन्तर्गत है) झलां जश् झशि (८।४।५३) इस सूत्र से उपध्मानीय को जश् होने पर उब्जिता, उब्जितुम् ऐसा रूप सिद्ध होगा। (शङ्का) यदि उब्ज् उपध्मानीयोपध पढ़ा है ऐसा स्वीकार करते हो तो अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) सूत्र से उपध्मानीय सहित द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त होता

स्थानित्व प्रत्यक्ष होता हुआ भी उसके निमित्तत्व का बाधक नहीं होता, क्योंकि तस्मादित्युत्तरस्य इत्यादि यण् विधान रूप ज्ञापकों से स्थानी होता हुआ भी इक्, यण् का निमित्त बन जाएगा। उदकम् का उकार इक् भी है और अच् भी है। वहाँ उकार का स्थानित्व प्रत्यक्ष है। निमित्तत्व अनुमेय है। लक्ष्यानुरोध से कहीं पर बाध्यबाधक भाव में विशेष आदर भी नहीं किया जाता। जैसे चिचीषति यहां दीर्घ और कित्व दोनों की प्राप्ति में कोई भी पहले हो सकता है।

१. यदि द्विर्वचन की कर्तव्यता में जश्त्व असिद्ध है अथवा यदि पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने इस परिभाषा के अनुसार जश्त्व सिद्ध ही है। दोनों अवस्थाओं में उबिब्जिषति ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है।

दकारोपधे पुनर् 'न न्द्राः संयोगादयः' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति। यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः उब्जिता उब्जितुमिति।

असिद्धे भ उद्जेः॥

इदमस्ति—"स्तोः श्चुना श्चुः" इति, ततो वक्ष्यामि भ उद्जेः, उद्जेः श्चुना सन्निपाते भो भवतीति। तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। निपातनादेव सिद्धम्। किं निपातनम्। "भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः" इति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—अभ्युद्गः समुद्गः इति। अकुत्वविषये तन्निपातनम्। अथवा नैतदुब्जे रूपम्। गमेरेतद् द्व्युपसर्गाड्डो विधीयते। अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्ग इति। षत्वं च प्रयोजनम्। सर्पिःषु धनुःषु। शर्व्यवाये इति षत्वं सिद्धं भवतीति। 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति। नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं सर्पींषि धनूंषि।

है इससे उब्जिजिषति यह इष्ट रूप सिद्ध न होगा। दकारोपध (उद्ज्) मानने पर तो, न न्द्राः संयोगादयः, (६।१।३) इस सूत्र से दकार के द्विर्वचन का निषेध हो जाने से द्वितीय एकाच् जिस् को द्वित्व होगा। यदि दकारोपध (उद्ज्) पाठ है तो उब्जिता, उब्जितुम् इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी?

असिद्धे भ उद्जेः॥

असिद्ध काण्ड त्रिपादी में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) यह पढ़ा है, वहां इसके आगे भ उद्जेः ऐसा पढ़ देंगे, अर्थ होगा— श्चु (शकार चवर्ग) के योग में उद्ज् के सकार तवर्ग को भ हो (और वह अव्यवहितपूर्व द् को ही होगा)। तो क्या ऐसा अपूर्व वचन करना चाहिए? नहीं। निपातन से ही इष्टसिद्धि हो जाएगी। कौन सा निपातन? भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः (७।३।६१) (यहाँ न्युब्ज में द् के स्थान में भ् निपातित है, और जश्त्व से उसे ब् हुआ है)। यदि निपातन मानते हो तो (बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति इस वचन के अनुसार) अभ्युद्गः समुद्गः यहाँ भी दकार का श्रवण न होकर ब् का ही श्रवण होना चाहिए। (उत्तर) यह विशिष्टविषयक निपातन है जहां चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२) सूत्र से कुत्व प्राप्त हो और कुत्वाभाव निपातन किया हो वही इस भत्व का विषय है। अथवा यूँ समझिए— ये दोनों रूप उब्ज् धातु के नहीं हैं। ये तो गम् धातु से दो उपसर्ग अभि उद्, और सम् उद् रहते ड प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं। अभ्युद्ग= अभ्युद्गत, समुद्ग=समुद्गत।

शर् पाठ में षत्व भी प्रयोजन है। जैसे सर्पिःषु धनुःषु यहां शर् कृत व्यवधान होने पर षत्व सिद्ध होता है। इस पाठ का यह भी लाभ है नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि

अनुस्वारे कृते 'शर्व्यवाये' इत्येव सिद्धम्। अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम्। अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम्। नुमो योऽनुस्वारस्तस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्विति। अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्।

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्त्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः॥

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्, उ३ब्जक, हलोऽनन्तराः संयोग इति संयोगसंज्ञा। संयोगे गुर्विति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो भवति। उपधा-संज्ञा च प्रयोजनम्—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुष्पीतम्, निष्पीतम्, इदुदु-

(८।३।५८)—इस सूत्र में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता (यह लाघव है)। तो सूत्र में नुम् का ग्रहण भी छोड़ा जा सकता है। यदि पूछो सर्पींषि, धनूंषि में षत्व कैसे सिद्ध होगा ? नुम् को अनुस्वार करने पर अनुस्वार अयोगवाह के शर् अन्तःपाती होने से शर् व्यवाये—इसी से षत्व हो जायगा। (नहीं) नुम् का तो अवश्य ग्रहण करना होगा। सूत्र में नुम् ग्रहण अनुस्वार का विशेषण है (अनुस्वार विशेष्य है), अर्थ हुआ नुम् का (नुम्स्थानिक) जो अनुस्वार तत्कृत व्यवधान होने पर षत्व हो, इससे पुंसु यहां षत्व नहीं होता (यहां पुम्स् के म् को अनुस्वार हुआ है)।

अथवा किसी प्रत्याहारविशेष में न पढ़कर अयोगवाहों को अल् आदि सामान्य प्रत्याहारों में पढ़ना चाहिए। क्या प्रयोजन है ?

(वा०) सामान्यरूप से अल् आदि प्रत्याहारों में अयोगवाहों के पाठ के ये प्रयोजन हैं—संयोगसंज्ञा, अलोन्त्यविधि, द्विर्वचन तथा स्थानिवद्भावप्रतिषेध-सिद्धि।

सामान्य रूप से अल् अन्तर्गत होने से संयोगसंज्ञा-रूप प्रयोजन सिद्ध होता है—उ३ब्जक, यहां हलोनन्तराः संयोगः (१।१।७) इस सूत्र से संयोगसंज्ञा, संयोगे गुरु (१।४।११) इस से गुरु संज्ञा और उस गुरु को गुरोरनृतः (८।२।८६) इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध होता है। उपधा संज्ञा प्रयोजन है—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुष्पीतम्, निष्पीतम्—यहां दुष्कृतम् इत्यादि में विसर्जनीय (जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) को अल्

१. अनुस्वार शर् प्रत्याहारान्तर्गत है, इस लिए अनुस्वार-कृत व्यवाय में भी षत्व सिद्ध ही था, तो नुम्-ग्रहण क्यों किया ? नुम्-ग्रहण नियमार्थ है। नुम् के स्थान में जो अनुस्वार हुआ उसी के व्यवाय होने पर षत्व हो अन्यत्र मत हो। जिस तरह नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् (नक्षत्र दर्शन होने पर मौन व्रत तोड़ दे) यहां नक्षत्रदर्शन काल-विशेष का उपलक्षण है, जिससे दिन में नक्षत्र दर्शन होने पर भी मौन-त्याग नहीं होता, और रात्रि को मेघादि के होने से नक्षत्र दर्शन न होने पर मौन त्याग होता है, इसी तरह नुम् के होते हुए अनुस्वार के अभाव में षत्व नहीं होता, पर नुम् के न रहने पर तत्स्थानापन्न अनुस्वार के होने पर षत्व होगा।

पधस्य चाप्रत्ययस्येति षत्वं सिद्धं भवति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। न इदुदुपध-ग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते। किं तर्हि। सकारो विशेष्यते—इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति। अथवोपधाग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्जनीयस्येति। अलोऽन्त्यविधिश्च प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति। अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यलोऽन्त्यस्य सत्वं सिद्धं भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति विसर्जनीयस्यैव भविष्यति। द्विर्वचनं च प्रयोजनम् उर××कः ः उर××पः ः अनचि च अच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति। स्थानिवद्भावप्रतिषेधश्च प्रयोजनम्—यथेह भवति उरःकेण, उरःपेणेति अड्व्यवाय इति णत्वम्, एवमिहापि स्थानिवद्भावात् प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन महोरस्केनेति। तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः सिद्धो भवति।

मानकर उकार, इकार की अलोन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६५) इस शास्त्र से उपधा संज्ञा सिद्ध होती है। तब इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (८।३।४१) इस सूत्र से विसर्जनीय को षत्व हो जाता है। यह कोई प्रयोजन नहीं। इदुदुपध—यह विसर्जनीय का विशेषण नहीं; तो किस का ? यह सकार का विशेषण है (विसर्ग होने से पूर्व सान्तावस्था में इकारोपध उकारोपध जो सकार उस के विसर्ग को षत्व होता है ऐसा अर्थ होगा)। अथवा प्रकृतसूत्र में उपधा ग्रहण न करेंगे, इकार उकार को परविसर्जनीय का विशेषण बनायेंगे। अर्थ होगा—इ, उ से अव्यवहित उत्तर जो विसर्ग उसे षत्व होता है। अलोन्त्यविधि भी प्रयोजन है—जैसे वृक्षः तरति, प्लक्षः तरति में विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) इस सूत्र से विसर्जनीयान्त को स् प्राप्त होने पर षष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्त्य अल् के स्थान में होता है, इस वचन से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान में होता है। यह भी प्रयोजन नहीं। सकार आदेश है और आदेश सूत्र में साक्षात् निर्दिष्ट के स्थान में होते हैं इस परिभाषा के अनुसार स् विसर्ग के ही स्थान में होगा। द्विर्वचन भी प्रयोजन है—उर××कः :, उर×× पः : यहाँ विसर्जनीय, जिह्वामूलीय उपध्मानीय के अल् प्रत्याहार में पाठ करने से यर् प्रत्याहारान्तर्गत होना भी अपने आप सिद्ध हो जाता है, तब अनचि च सूत्र से अच् से परे यर् को द्वित्व हो जाता है। स्थानिवद्भावप्रतिषेध भी प्रयोजन है—जैसे उरः केण, उरःपेण अड्व्यवाय होने पर भी णत्व होता है, वैसे ही स्थानिवद्भाव से व्यूढोरस्केन महोरस्केन यहाँ भी प्राप्त होता है। अब विसर्जनीय के अल् होने से स्थानी अल् के आश्रित यदि कोई विधि कर्तव्य हो तो अनल्विधौ इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है (जिस से स् का व्यवधान होने से णत्व रुक जाता है)।

किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः, आहोस्विदनर्थकाः ।

अर्थवन्तो वर्णधातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥

अर्थवन्तो वर्णाः । कुतः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् । धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति—अधीते इति । प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति आभ्याम्, एभिः, एषु । प्रत्यया अर्थवन्तः—औपगवः, कापटवः । निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः—अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनान्मन्यामहे—अर्थवन्तो वर्णा इति ।

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् ॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपो यूप इति । कूप इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते । सूप इति ककारा-

---

तो क्या ये (सभी) वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक हैं ?

(वा०) वर्ण अर्थवान् हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एकवर्णघटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात अर्थ वाले हैं ।

वर्ण अर्थवान् हैं । यह क्योंकर ? इसलिये कि एक वर्ण वाले धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों का अर्थ देखने में आता है । धातु एकवर्णघटित अर्थवान् देखे जाते हैं (जैसे) इण् (गत्यर्थक), अधिइक् (स्मरणार्थक), अधि इङ् (अध्ययनार्थक) । प्रातिपदिक एकवर्णघटित अर्थ वाले देखे जाते हैं (जैसे) आभ्याम्, एभिः, एषु (यहाँ विभक्ति परे होने पर इदम् के स्थान में अ मात्र अवशिष्ट रहता है और यही तदर्थ का बोधक है) । प्रत्यय (एकवर्णघटित) अर्थ वाले देखे जाते हैं, (जैसे) औपगवः, कापटवः (यहाँ अण् प्रत्यय है) । एक वर्ण वाले निपात अर्थवाले देखे जाते हैं, (जैसे) अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम (यहाँ अ, इ, उ का वितर्क आदि अर्थ है) । सो धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात—इनका एकवर्णघटित होने पर भी अर्थ देखा जाने से हम समझते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं ।

(वा०) वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से ॥

वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं । (उदाहरण) कूपः, सूपः, यूपः । कूप शब्द में जब तक ककार है तब कुछ विशेष

---

१. प्रक्रियोपयोगी प्रकृति-प्रत्ययों का वर्ण स्फोट मान कर वाचकत्व कहा गया है । शास्त्र-व्यवहार में ही इसका उपयोग है । इस वासना से वासितान्तःकरण शास्त्रज्ञ भी लोकव्यवहार में ऐसा कहते हैं ।

पाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। यूप इति ककारसकारापाये यकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। तेन मन्यामहे – यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति।

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः ॥

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। वृक्ष ऋक्षः, काण्डीर आण्डीरः। वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, ऋक्ष इति वकारापाये सोर्थो न गम्यते। काण्डीर इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते, आण्डीर इति ककारापाये सोर्थो न गम्यते। किं तर्ह्युच्यते—अनर्थगतेरिति। न साधीयो ह्यत्रार्थस्य गतिर्भवति। एवं तर्हीदं पठितव्यं स्यात्—वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेरिति। किमिदमतदर्थगतेरिति। तस्यार्थस्तदर्थः। तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः। न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। अथवा सोर्थस्तदर्थस्तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। स

अर्थ का बोध होता है। सूप में ककार के चले जाने से और सकार के आ जाने से कोई दूसरा अर्थ प्रतीत होता है। यूप में ककार सकार दोनों के चले जाने से और यकार के आ जाने से कुछ और ही अर्थ का बोध होता है। इससे हम जानते हैं कि कूप शब्द में जो कूआं अर्थ है वह ककार का है, सूप में जो सूप अर्थ है वह सकार का है और यूप में जो यूपार्थ (यज्ञिय पशु-बन्धन काष्ठ) है वह यकार का है।

(वा०) वर्ण का अदर्शन (अश्रवण) होने पर (पूर्व) अर्थ का बोध न होने से ॥

(भा०) वर्ण का अदर्शन (अश्रवण) होने पर जो (पूर्व) अर्थ का बोध नहीं होता इससे हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् है। (उदाहरण) वृक्ष ऋक्ष, काण्डीर आण्डीर। वकार सहित वृक्ष का कुछ विशेष अर्थ (पादप) अवगत होता है, जब वकार नहीं रहता तो ऋक्ष मात्र से उस अर्थ का बोध नहीं होता। इसी प्रकार काण्डीर शब्द जब ककार सहित है तब किसी एक अर्थ का बोधक होता है, जब ककारके चले जाने से आण्डीर रूप रहता है तब उस अर्थ का बोधक नहीं होता। अनर्थगतेः यहां क्यों कहा है? इस वचन से अच्छी तरह अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। अच्छा तो ऐसा पढ़ना चाहिए — वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेः। अतदर्थगतेः इसका क्या अर्थ है? तदर्थः=उसका अर्थ। तदर्थगतिः=उसके अर्थ की प्रतीति। नञ्पूर्वक पञ्चम्यर्थ का अर्थ होगा=उसके अर्थ की प्रतीति न होने से। अथवा तदर्थः (समानाधिकरण तत्पुरुष मानकर)=वह अर्थ। तदर्थगतिः=उस अर्थ का बोध। नञ्पूर्वक पञ्चम्यन्त अतदर्थगतेः का अर्थ होगा—उस अर्थ का बोध न होने से। तो फिर ऐसा निर्देश करना चाहिए

---

१. ऋक्ष=नक्षत्र (नपुंसक लिंग में), भालू (पुँल्लिग में)। काण्डीर=काण्डवान् =शरधारी। आण्डीर=अण्डवान्। अण्डपर्याय आण्ड भी है और आण्डी भी।

तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा—उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः, खरमुखः। एवमतदर्थगतेरनर्थगतेरिति।

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च ॥

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहे अर्थवन्तो वर्णा इति। येषां संघाता अर्थवन्तः, अवयवा अपि तेषामर्थवन्तः। [येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः] तद्यथा—एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः तत्समुदायः शतमपि समर्थम्। एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थः तत्समुदायः खार्यपि तैलदाने समर्था। येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद्यथा—एकोन्धो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायः शतमप्यसमर्थम्। एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम्।

यदि तर्हीमे वर्णा अर्थवन्तः, अर्थवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति। कानि। अर्थवत्प्रातिपदकम् इति प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्तिः, सुबन्तं पदमिति पदसंज्ञा। तत्र को दोषः। 'पदस्य' इति नलोपादीनि प्राप्नुवन्ति धनं वनमिति।

नहीं। अनर्थगतेः में (नञ् की अपेक्षा से) उत्तरपद तद् का लोप समझना चाहिए। जैसे (अन्यत्र भी) उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य इस विग्रह के आश्रित उष्ट्रमुखः (और इसी प्रकार खरमुखः) में उत्तरपद मुख का लोप देखा जाता है। ऐसे ही अतदर्थगतेः के स्थान में अनर्थगतेः (उत्तरपद तद् का लोप करके कहा है)।

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के अर्थवान् होने से ॥

सङ्घात के अर्थवान् होने से हम जानते हैं वर्ण अर्थवान् होते हैं। (इसमें हेतु=अनुकूल तर्क यह है)। (जिन अवयवों के) सङ्घात अर्थवान् होते हैं वे अवयव भी अर्थवान् होते हैं। [और जिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके सङ्घात=समुदाय भी अनर्थक होते हैं] जैसे एक पुरुष आंखोंवाला देखने में समर्थ है ऐसे सौ का समुदाय भी समर्थ है। एक तिल तेल देने में समर्थ है ऐसे तिलों का समुदाय खारी परिमाण भी तेल देने में समर्थ है। और जिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके समुदाय भी अनर्थक होते हैं। जैसे एक अन्धा पुरुष देखने में असमर्थ है, ऐसों का समुदाय सौ अन्धे भी देखने में असमर्थ हैं। रेत का एक कण तेल देने में असमर्थ है, उनका समुदाय सौ खारी परिमाण भी तेल देने में असमर्थ है।

यदि ये वर्ण अर्थवान् हैं ऐसा स्वीकार करते हो तो जो (शास्त्रीय) कार्य अर्थवान् को होते हैं इन्हें भी होने लगेंगे। वे कौन से हैं? अर्थवान् शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, प्रातिपदिक से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है और स्वादि-प्रत्ययान्त (सुबन्त) की पदसंज्ञा होती है। इसमें क्या दोष आता है? पदसंज्ञा होने पर नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य इत्यादि से धनं वनं इत्यादि में नलोप आदि प्राप्त होते हैं।

सङ्घातस्यैकार्थ्यात्सुब्भावो वर्णात् ॥

सङ्घातस्यैकत्वमर्थः । तेन वर्णात्सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति ।

अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः । प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । नहि प्रतिवर्णमर्था उपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति । वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ।

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति । वर्णव्यत्यये—कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः । वर्णव्यत्ययो नार्थव्यत्ययः । अपायो लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । वर्णापायो नार्थापायः । उपजन आगमः—लविता लवितुम् । वर्णोपजनो नार्थोपजनः । विकार आदेशः—घातयति घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः ।

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के एकार्थवाचक होने से प्रतिवर्ण से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं होती ।

सङ्घात (वर्ण समुदाय) का एकत्व अर्थ है, अतः सङ्घात से सु प्रत्यय की उत्पत्ति होगी, प्रतिवर्ण से नहीं (यद्यपि एक-एक वर्ण का भी एकत्व अर्थ है) ।

(वा०) वर्ण तो अनर्थक हैं प्रतिवर्ण में अर्थ की उपलब्धि न होने से ॥

वर्ण तो अनर्थक हैं । कैसे ? प्रत्येक वर्ण में अर्थ के न देखे जाने से । वर्ण-वर्ण में तो अर्थों की उपलब्धि होती नहीं । प्रतिवर्णम् का क्या अर्थ है ? वर्ण वर्ण में ।

(वा०) वर्ण व्यत्यय (पूर्वापर वर्ण व्यत्यास), वर्णापाय (वर्ण-लोप), वर्णोपजन (वर्णागम) और वर्णविकार (वर्ण-आदेश) के होने पर अर्थ देखे जाने से ॥

वर्णव्यत्यय, अपाय, उपजन, विकार इन के होने पर (भी) अर्थ देखे जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक हैं । वर्णव्यत्यय होने पर कृती छेदने से तर्क सिद्ध होता है, कस गतौ से सिकता, हिसि हिंसायाम् से सिंह । यहाँ वर्णव्यत्यय तो स्पष्ट है पर अर्थव्यत्यय कुछ भी नहीं । अपाय नाम लोप का है । जैसे हतः घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन् में हन् धातु के मध्यवर्ती अकार का लोप हुआ है । वर्णापाय तो है पर अर्थापाय कुछ भी नहीं । उपजन नाम आगम का है । जैसे लविता लवितुम्—यहाँ लूधातु से आर्धधातुक प्रत्यय को इट् आगम (उपजन) हुआ है, पर अर्थोपजन कुछ भी नहीं । विकार नाम आदेश का है । जैसे घातयति, घातकः । यहाँ हन् के ह् को घ हुआ । वर्णविकार तो हुआ है अर्थविकार कुछ भी नहीं । (यदि वर्ण अर्थवान् होते तो) जैसे

यथैव वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारा भवन्ति, तद्वदर्थव्यत्ययापायोपजनविकारैर्भवितव्यम्। न चेह तद्वत्। अतो मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति।

उभयमिदं वर्णेषूक्तम्—अर्थवन्तोऽनर्थका इति च। किमत्र न्याय्यम्। उभयमित्याह। कुतः। स्वभावतः। तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न।

न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत्। कथं य एष भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरुपदिष्टः—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद्व्यत्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः सङ्घातार्थवत्त्वाच्चेति। सङ्घातान्तराण्येवैतान्येवञ्जातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते कूपः सूपो यूप इति। यदि हि वर्णव्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्, सूपार्थश्च कूपे, कूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च कूपे, सूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च सूपे।

वर्णव्यत्यय आदि होते हैं वैसे ही अर्थव्यत्य आदि भी होने चाहियें थे, पर ऐसा होता नहीं। इस से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक हैं।

वर्णों के विषय में यह दोनों बातें कही गई हैं—वर्ण अर्थवान् हैं, वर्ण अनर्थक हैं। इस में न्याय्य पक्ष कौनसा है? दोनों पक्ष न्याय्य हैं। यह कैसे? स्वभाव से। जैसे एक बराबर यत्न करते हुए और पढ़ते हुए छात्रों में से कुछ अर्थवान् (सफल) होते हैं, दूसरे नहीं।

किसी एक के अर्थवान् (सफल, अर्थयुक्त) होने से सभी तो अर्थवान् नहीं हो जाते और न ही कोई एक अर्थशून्य (असफल, अर्थरहित) है तो इतने से सभी असफल हों ऐसा कोई नियम है। यहाँ हमें क्या सिद्धान्त करना चाहिये—यही कि एक वर्णघटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात अर्थवान् हैं, इनसे अतिरिक्त अनर्थक हैं। और यह स्वभावसिद्ध है। ये जो पूर्वपक्षी ने वर्णों की अर्थवत्ता (सार्थकता) में हेतु दिये हैं—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् इत्यादि उनका क्या समाधान है? (इस पर सिद्धान्ती कहता है) कूप, सूप, यूप, इत्यादि स्वतन्त्र एक दूसरे से असम्बद्ध सङ्घात हैं और इसीलिये भिन्न-भिन्न अर्थों में वर्तमान हैं। यदि वर्ण के बदलने से सङ्घात (एक माना हुआ) का अर्थ बदलता हो, तो बहुतसा कूपार्थ सूपशब्द से बोधित होना चाहिये (कुछ अंश न भी हो), सूप का बहुतसा अर्थ कूप शब्द से, बहुतसा कूपार्थ यूपशब्द से, बहुतसा यूपार्थ कूपशब्द से, बहुत सा सूपार्थ यूपशब्द से और बहुतसा यूपार्थ सूपशब्द से। पर चूँकि सूप का अंशमात्र अर्थ भी

यतस्तु खलु न किञ्चित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे, सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, सूपस्य वा यूपे। अतो मन्यामहे—सङ्घातान्तराण्येतान्येवञ्जातीयान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति।

इदं खल्वपि भवता वर्णानामर्थवत्तां ब्रुवता साधीयोऽनर्थकत्वं द्योतितम्। यो हि मन्यते--यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति, ऊपशब्दस्त्वस्यानर्थकः स्यात्। तत्रेदमपरिहृतं सङ्घातार्थवत्त्वाच्च इति। एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति[२]।

अ इ उ ण्, ऋलृक्, ए ओङ्, ऐ औच्।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न

यूपशब्द से बोधित नहीं होता, नाहीं सूप का यूपशब्द से, यूप का कूपशब्द से, कूप का यूपशब्द से, सूप का कूपशब्द से, कूप का सूप शब्द से, इससे हम जानते हैं कि कूप, सूप, यूप—ये स्वतन्त्र सङ्घात अपने-अपने अर्थों में व्यवहृत होते हैं।

आपने वर्णों की अर्थवत्ता का उपपादन करते हुए बहुत अच्छी तरह से उन की अनर्थकता झलका दी। यह जो आप मानते हैं कि जो कूप शब्द में कूपार्थ है वह ककार का है, सूप शब्द में जो सूपार्थ है वह सकार का है, यूपशब्द में जो यूपार्थ है वह यकार का है, ऐसा मानने से 'ऊप' शब्द तो अनर्थक हो जाता है (यह क्यों नहीं देखते!)। रहा सङ्घातार्थवत्वाच्च इस हेतु का उत्तर, सो उसे भी प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' में कहेंगे।

अ इ उण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच्।

(वा०) अच् प्रत्याहार में जो अनुबन्ध (ण्, क्, ङ्, च्) सुने जाते हैं उन का अच् ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं होता?

---

१. इसी बात को वाक्यपदीयकार महावैयाकरण श्रीभर्तृहरि ने इस प्रकार कारिका में निबन्धन किया है—

न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं सङ्घातस्यैव गम्यते॥

२. वहाँ यह परिहार कहा है—दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः, ऐसा देखा जाता है कि एक-एक अवयव में जो गुण नहीं है वह भी कहीं अवयवी (सङ्घात) में आ जाता है जैसे रथ के प्रत्येक अङ्ग में गति क्रियाविषयक सामर्थ्य नहीं तो भी समुदाय रथ में गति—सामर्थ्य होता है, अथवा जैसे सुरा के प्रत्येक घटक अवयव—द्रव्य में मादकता गुण नहीं तो भी अवयवी (उन अवयवों से घटित) (समुदाय) सुरा में मादकता देखी जाती है, सो यह कोई नियम नहीं कि संघात यदि अर्थवान् है तो अवयव भी अर्थवान् ही हों। अतः जहां अन्वय-व्यतिरेक से अर्थवत्ता सिद्ध हो वहीं स्वीकार करनी चाहिए, न कि सर्वत्र।

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्न भवति। किं च स्यात्। दधि णकारीयति, इको यणचि इति यणादेशः प्रसज्येत।

आचारात्[1]

किमिदमाचारादिति। आचार्याणामुपचारात्। नैतेष्वाचार्या अच्कार्याणि कृतवन्तः।

अप्रधानत्वात्[2]

अप्रधानत्वाच्च। न खल्वेतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते। क्व तर्हि। हल्षु। कुतः। एषा ह्याचार्यस्य शैली[3] लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हल्षु।

लोपश्च बलवत्तरः[4]

जो ये अचों में प्रत्याहार (अक्, अण् आदि) के लिए अनुबन्ध क्, ण्, आदि किए गये हैं इनका अज्ग्रहण से (अच् कहने से) ग्रहण क्यों नहीं होता? क्या हो (यदि हो जाय)? दधि णकारीयति—यहां इको यणचि (६।१।७७) से यणादेश होने लगेगा।

आचारात्

आचार इसका अर्थ है। आचार्यों का व्यवहार, उससे। आचार्यों ने इन क् ण् आदि के परे होने पर अच्-निमित्तक कार्य नहीं किया।

अप्रधान होने से

अप्रधान होने से भी। इन क् ण् आदि का अचों में प्रधानतया उपदेश (उच्चारण) नहीं किया है। तो कहां प्रधानतया उच्चारण किया है? हलों में। यह क्यों कर? आचार्य की ऐसी शैली दीखती है कि तुल्य जाति के वर्णों को एक साथ उपदेश करते हैं अचों का एक साथ उपदेश करके पश्चात् हलों का उपदेश करते हैं।

लोप भी बलवत्तर है।

---

१. आचार्यों का व्यवहार, उससे। तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य (१।२।२५) में मृषि के इ से परे कृषि के ककार के परे होने पर यण् न करना—यह आचार है।

२. प्रधानाप्रधानसंनिधौ प्रधानमेव कार्याणां प्रयोजकम् अर्थात् प्रधान व अप्रधान के साथ उच्चारित होने पर प्रधान को ही कार्य होता है ऐसा न्याय है। परार्थ होने से अनुबन्ध अप्रधान हैं, अतः इनकी अच् संज्ञा नहीं होती।

३. शीलादागता शैली, समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः।

४. लोप पर, नित्य और अन्तरङ्ग होने से बलवत्तर है, अर्थात् पहले ही अनुबन्धों का लोप होने से संज्ञा-विधान काल में उनके न होने से उनकी अच् संज्ञा नहीं

लोपः खल्वपि तावद्भवति।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत्[1]।
अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति॥

अथवा योगविभागः करिष्यते--ऊ कालोऽच् उ ऊ उ ३ इत्येवं-कालो भवति। ततो 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च स भवति ऊकालोऽच्। एवमपि कुक्कुटं इत्यत्रापि प्राप्नोति। तस्मात्पूर्वोक्त[2] एव परिहारः। एष एवार्थः। अपर आह—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु।

लोप भी निश्चय से इन क् ण् आदि का हो जाता है।

(वा०) ऊकालो ऽच् ऐसा योगविभाग करने से उ ऊ उ ३ काल वाले वर्णों की अच् संज्ञा होने से इन क् ण् आदि को अच् निमित्तक कार्य नहीं होता।

अथवा योगविभाग किया जायगा। ऊकालोऽच् इतना एक सूत्र होगा। अर्थ होगा उ (एकमात्रिक) ऊ. (द्विमात्रिक), उ ३ (त्रिमात्रिक) वर्णों की अच् संज्ञा होती है। दूसरा सूत्र होगा— ह्रस्वदीर्घप्लुतः, अर्थ होगा— एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होता है।

पर इस प्रकार एकमात्रिक वर्ण की अच् संज्ञा होने से कुक्कुट में क्क (संयोग-रूपएक अक्षर) की (एक मात्रिक होने से) अच् संज्ञा होने लगेगी, अतः पूर्वोक्त परिहार ही ठीक रहा। (ऊकालोऽज् वार्तिक से कहे हुए।) अर्थ को दूसरा वार्तिककार ऋषि यूं[3] कहता है—

(वा०) ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, इस सूत्र में ह्रस्वदीर्घप्लुतः इस अंश से

होती। अनुबन्धों की उच्चारण-काल में ही सत्ता है, इत्संज्ञा के आधार पर जो कार्य प्राप्त होता है उसे वे अविद्यमान होते हुए भी करते हैं, स्वयं किसी कार्य का विषय नहीं बनते।

१. अकार आदि का उपदेश होने से और सवर्णों का ग्रहण होने से अच्त्व सिद्ध ही है, योग विभाग से काल-विशिष्ट विशेष-विशिष्ट अकारादि की ही अच् संज्ञा होने से अनुबन्धों का ऊकाल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक) न होने से अच्त्व नहीं।

२. वर्ण समाम्नाय में ककार जाति का निर्देश होने से मात्रिक क्क् को अच् समझ कर प्रश्न है।

३. यद्यपि यहां—'दो ककार हैं, और दो वर्णों से एक जाति की अभिव्यक्ति नहीं होती', यह भी परिहार हो सकता है, तो भी पूर्व कहा हुआ—मात्राकालोऽत्र गम्यते, न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति—यह परिहार अभिमत है।

अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि ॥

अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते। इह स यँ् यँ् यन्ता। स वँ् वँ् वत्सरः, य लँ् लँ् लोकं, त लँ् लँ् लोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वाद्-नुस्वारस्यैव द्विर्वचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—द्विर्वचने परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यमिति। यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण एव तावद्भवति। परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणाद् द्विर्वचनं यथा स्यात्। मा भूद् द्विर्वचनम्। ननु च भेदो भवति—सति द्विर्वचने त्रियकारकम्। असति द्विर्वचने द्वियकारकम्। नास्ति भेदः। सत्यपि द्विर्वचने द्वियकारकमेव। कथम्। 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेकस्य लोपेन

पूर्व ऊकालोऽच् इत्येत्र रूप ही पृथक् योग रहे, जिससे एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक अचों को ही अच् को उद्देश्य अथवा निमित्त मान कर विधान किए कार्य हो सकें।

अब इस पर विचार किया जाता है कि अन्तःस्थ वर्ण य व ल का अण् प्रत्याहार में पाठ करने का क्या प्रयोजन है। यहाँ सं यन्ता, सं वत्सरः, यं लोकम्, तं लोकम्, इस अवस्था में वा पदान्तस्य (८।४।५९) इससे यय् परे होने पर अनुस्वार को परसवर्ण भी प्राप्त होता है और अनचि च से द्वित्व भी। द्विर्वचन शास्त्र अनचि च (८।४।४७) की दृष्टि में परसवर्ण शास्त्र वा पदान्तस्य (८।४।५९) के असिद्ध होने से अनुस्वार को द्वित्व ही होगा। तब स ं ं यन्ता इस अवस्था में परले अनुस्वार को परसवर्ण यँ् करने पर ग्रहणक शास्त्र अणुदित्— के लगने पर अण्त्वेन गृहीत होने पर सानुनासिक यकार के यय् प्रत्याहारान्तःपाती हो जाने से पूर्व अनुस्वार को भी परसवर्ण हो जाय (यह प्रयोजन है)। (जिससे स यँ् यँ्-यन्ता रूप सिद्ध हो जाय)। यह कोई प्रयोजन नहीं। आगे कहेंगे कि द्विर्वचन की कर्तव्यता में परसवर्ण को सिद्ध कहना चाहिए। अब चूँकि परसवर्ण सिद्ध है, अतः पर होने से पहले परसवर्ण ही होगा। अच्छा तो अब भी अण् में पाठ का प्रयोजन बना रहा, कारण कि अनुस्वार को परसवर्ण यँ् होने पर और ग्रहणक शास्त्र के बल पर इसे यर् मान कर अनचि च से द्वित्व हो जाएगा। मत हो द्वित्व (द्वित्व का कुछ प्रयोजन नहीं, अतः अण् में पाठ की सार्थकता नहीं)। अजी द्वित्व सप्रयोजन है, इससे शब्दरूप में भेद होता है। जब द्वित्व हो तो शब्द (स यँ् यँ् यन्ता) तीन यकारों वाला होता है, द्वित्व न हो तो द्वियकार वाला। नहीं कुछ भेद नहीं। द्वित्व होने पर भी द्वियकार वाला ही रूप होता है। कैसे? हलो यमां यमि लोपः (८।४।६४) इससे एक यकार का लोप हो जाएगा। तो

भवितव्यम्। एवमपि भेदः। सति द्विर्वचने कदाचिद् द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम्। असति त्रियकारकमेव। स एष कथं भेदो न स्यात्। यदि नित्यो लोपः स्यात्। विभाषा च स लोपः। यथाऽभेदस्तथास्तु।

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम्।

यदयं 'शरोऽचि' इति द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुवर्तते विभाषेति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्।

नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात्।

यदि नित्यो लोपः स्यात् प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात्। अस्त्वत्र द्विर्वचनम्, 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपो भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यः- विभाषा स लोप इति ततो द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। नित्येपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽवश्यं वक्तव्यः। यदेतत् 'अचो रहाभ्याम्' इति द्विर्वचनं लोपापवादः स विज्ञायते। कथम्। यर इत्युच्यते। एतावन्तश्च

भी भेद रहेगा। द्वित्व होने पर कभी (पाक्षिक लोप होने पर) द्वियकारवाला, कभी (लोपाभाव पक्ष में) तीन यकार वाला। जब द्वित्व हुआ हीं नहीं तो द्वियकारवाला एक ही रूप होता है। यह भेद कैसे न हो? तभी जब हलो यमां— यह लोप नित्य हो। पर यह लोप विभाषा होता है। जिस प्रकार (द्वित्व शास्त्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति में) एक समान रूप रहे वैसे ही हो।

(वा०) हलो यमां— में झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६२) से विभाषा (अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है। क्योंकि आचार्य शरोऽचि (८।४।४९) सूत्र से द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं। यह ज्ञापक कैसे हुआ!

(वा०) उस हलो यमां— लोप के नित्य होने पर शरोऽचि से द्वित्व प्रतिषेध करना व्यर्थ है।

यदि लोप नित्य हो तो प्रतिषेध-वचन (शरोऽचि) व्यर्थ हो जायगा। निषेध वचन न हो, द्वित्व हो, तो भी झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से द्वित्व से निष्पन्न हुए एक यकार का (नित्य) लोप हो जायगा। पर आचार्य जानते हैं कि वह झरो झरि सवर्णे से विहित लोप वैकल्पिक है, अत एव द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं। यह कोई ज्ञापक नहीं। झरो झरि सवर्णे के लोप के नित्य होने पर भी वह प्रतिषेध (शरोऽचि) अवश्य कहना होगा। यह जो अचो रहाभ्याम् (८।४।४६) द्वित्व शास्त्र है, यह लोप का अपवाद है। कैसे? द्वित्व यर् को कहा है। इतने ही तो यर् हैं—यम् और

यरः। यदुत झरो वा यमो वा। यदि चात्र लोपः स्याद् द्विर्वचनमनर्थकं स्यात्। किन्तर्हि तयोर्योगयोरुदाहरणम्। यदकृते द्विर्वचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः—प्रत्तम्, अवत्तम्, आदित्यः। इहेदानीं सामर्थ्याल्लोपो न भवति, एवमिहापि लोपो न स्यात् कर्षति वर्षतीति। तस्मान्नित्येपि लोपेऽचश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः। तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तत आचार्याणां विभाषाऽनुवर्तते न वेति[1]।

लण् ॥६॥

अयं णकारो द्विरनुबध्यते पूर्वश्चैव परश्च। तत्राण्ग्रहणेष्विण्ग्रहणेषु च सन्देहो भवति पूर्वेण वा स्युः परेण वेति। कतमस्मिंस्तावदण्ग्रहणे सन्देहः, ढ्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः इति।

(असन्दिग्धम्)

असन्दिग्धं पूर्वेण न परेण। कुत एतत्।

झर्। यदि यहाँ (द्वित्व होने पर) लोप हो, तब द्वित्वविधान अनर्थक हो जायगा। तो इन झरो झरि, हलो यमां— इनका क्या उदाहरण है? जहाँ द्वित्व किये विना तीन व्यञ्जनों का समुदाय है, जैसे प्रत्तम् (प्र दा तम्=प्रद् त् तम्), अवत्तम्, आदित्यः (आदित् य्य)। कर्त्ता हर्त्ता में अचो रहाभ्यां द्वे द्वित्व विधान व्यर्थ मत हो इसलिये झरो झरि से लोप नहीं होता। जैसे द्वित्व सामर्थ्य से लोप नहीं होता, इसी प्रकार कर्षति वर्षति में भी लोप नहीं होगा। इसलिये लोप के नित्य होने पर भी शरोऽचि यह प्रतिषेध कहना पड़ेगा। सो यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि आचार्यों के मत में हलो यमां यमि लोपः, झरो झरि सवर्णे में झयो होऽन्यतरस्याम् से विभाषा (=अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है अथवा नहीं।

लण् ॥ ६ ॥

यह णकार दो बार अनुबन्ध-रूप से आया है—पहले और पीछे। सूत्रों में जहाँ जहाँ अण् ग्रहण किया है अथवा इण् ग्रहण किया है वहाँ पूर्व णकार (अ इ उ ण् इस सूत्र के णकार) से प्रत्याहार समझना चाहिये अथवा परले णकार (लण् सूत्र के णकार) से।

कौन से अण्ग्रहण में सन्देह है? ढ्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१११) इससूत्र के अण् के विषय में।

(निःसन्देह)

निःसन्देह यहाँ अण् पूर्व णकार से लिया जाता है पर से नहीं। यह क्योंकर?

---

१. फिर भी आचार्यों के उपदेशपारम्पर्य से तथा वृत्तिकारों की सूत्रों पर रचित

पराऽभावात् ।

नहि ढ्रलोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—आतृढ आवृढ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इत्येव ब्रूयात् । अथ चैतदपि न ब्रूयाद् अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—केऽणः इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । पराभावात् । नहि के परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—गोका नौकेति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । केऽचः इत्येव ब्रूयात् । अथचैतदपि न ब्रूयात् । अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

(वा०) पर अण् के न होने से ।

ढ्रलोप होने पर परले अण् (ऋ से लेकर ऌ तक) होते ही नहीं । देखिये (ढलोप होने पर) आतृढ-आवृढ में ऋ रूप पर अण् मिलता है । अच्छा, तो अण् ग्रहण-सामर्थ्य से हम जानते हैं कि यहाँ पूर्व ण् से अण् ग्रहण होता है, पर से नहीं । यदि परले से हो अण्-ग्रहण अनर्थक हो जाय । तब तो ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः ऐसा ही कहे । अथवा अचः कहने की आवश्यकता नहीं । ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अच् को ही तो होते हैं (ये अच् मात्र के धर्म हैं) ।

तो इस अण्-ग्रहण में सन्देह है केऽणः (७।४।१३) इति । निःसन्देह पूर्व ण् से ग्रहण होता है, परले से नहीं । कैसे जानें ? परले अण् के अविद्यमान होने से । क समासान्त परे रहते परले अण् का संभव नहीं है ! अजी यह देखिये गोका नौका में क परे रहते ओ-औरूप परला अण् मिलता है । अच्छा तो अण्-ग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व ण् से अण् लिया जाएगा, पर से नहीं । यदि पर ण् से ग्रहण हो, तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाय । केऽचः ऐसा ही कह दे । अथवा अचः यह भी न कहे, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अच् को ही तो होते हैं ।

वृत्तियों से यह स्पष्ट जाना जाता है कि लोप में विभाषा की अनुवृत्ति आती है । हलो यमां यमि लोपः में भी और झरो झरि सवर्णे में भी । इस लिये सय्यँय्यँन्ता आदि में द्वित्व हुए यकार के लोपाभावपक्ष में तीन यकारों के श्रवण के लिये अणुदित्सूत्र में अण्ग्रहण करना आवश्यक है । यदि दो यकार वाला रूप ही अभीष्ट होता तो अण् ग्रहण न करके अजुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस प्रकार अच् ग्रहण ही पर्याप्त था ।

१. यदि कहो अल्पोपानत्का (अल्पा उपानत् यस्याः सा) यहाँ क परे रहते परला

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति। असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्। पराभावात्। नहि पदान्ताः परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति—कर्तृ हर्तृ इति। एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण,

---

तो इस अण्ग्रहण में सन्देह है—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५७)। निःसन्देह यहाँ पूर्व ण् से अण् लिया जायेगा, परले से नहीं। कैसे जानें? परले अण् न होने से। पदान्त परले अण् नहीं मिलते। अजी कर्तृ हर्तृ में पदान्त परला ऋ-रूप अण् मिलता है। अच्छा तो अण्ग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व णकार से अण् लिया जायगा,

---

अण् नह् का हकार संभव है। नहो धः से उपानत् में हुए हकार के धकार को पूर्वत्रासिद्धीय होने से असिद्ध मान कर हकार सुनाई देगा। इसी प्रकार गीष्का (गीरेव गीष्का) यहां गिर् का रेफ भी विसर्ग के असिद्ध होने से परला अण् क परे रहते संभव है, तो इसका उत्तर है—न मु ने में न इस योगविभाग से नहो धः, खरवसानयोः आदि के असिद्धत्व का निषेध हो जायगा तो उक्त प्रयोगों में परला अण् न मिलेगा।

१. यदि कहो वृक्षं वृश्चतीति वृक्षवृट्। तमाचष्टे वृक्षव्। यहां णाविष्ठवद्भाव से टिलोप होकर णिजन्त वृक्षवि शब्द सिद्ध हुआ, उससे विच् परे रहते णिलोप होकर वृक्षव् यह रूप बनता है। इसमें परला अण् वकार पदान्त में संभव है। तो इसका उत्तर है अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः में अप्रगृह्यस्य इस पर्युदास से अच् रूप अण् को ही अनुनासिक होना माना जायगा, हल् रूप अण् को नहीं। क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा अच् की ही होती है। वृक्षव् में वकार हल् रूप अण् है, अच् रूप नहीं है। इस लिये उसे अनुनासिक नहीं होगा। भाष्य का पदान्त अणों के अभाव में तात्पर्य नहीं, किन्तु अनुनासिक प्राप्ति योग्य पदान्त अण् नहीं मिलते इसमें तात्पर्य है। वृक्षवृश्च् इस क्विबन्त से तदाचष्टे अर्थ में णिच् तथा टिलोप होकर वृक्षवि यह नामधातु बनता है। उससे कर्ता अर्थ में यदि विच् न करके क्विप् करें तो क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवत् के वचन से णिलोप टिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वृक्षव् के वकार को ग्रहिज्या० से सम्प्रसारण प्राप्त होता है। साथ ही लोपो व्योर्वलि से वकारलोप भी प्राप्त होता है। विच् करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो सम्प्रसारण तथा वलोप दोनों ही रुक जाते हैं। वृक्षव् करोति इस सन्धि में हलि सर्वेषाम् (८।३।२२) से वकार का लोप करने में तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वकार का लोप प्राप्त होता है वह अश् ग्रहण की अनुवृत्ति करके रुक जाता है। उससे अश् प्रत्याहारान्तर्गत हल् परे रहते ही हलि सर्वेषाम् से वकार का लोप होगा। करोति का ककार अश् से बाह्य हल् है इस लिये वृक्षव् करोति में वकार का लोप नहीं होता।

न परेण। यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्। अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः-'उरण् रपरः'। असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्। पराभावात्। न ह्युः स्थाने परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति कर्त्रर्थं हर्त्रर्थमिति। किं च स्याद्यद्यत्र रपरत्वं स्यात्। द्वयो रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत। 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेकस्यात्र लोपो भविष्यतीति। विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत। अयं तर्हि नित्यो लोपः 'रो रि' इति। पदान्तस्येत्येवं सः। न शक्यः स पदान्तस्येत्येवं विज्ञातुम्। इह हि लोपो न स्यात्-जर्गृधेर्लङ् अजर्घाः, पास्पर्द्धेः अपास्पाः इति। इह तर्हि मातॄणां पितॄणामिति रपरत्वं प्रसज्यते। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नात्र रपरत्वं भवतीति। यदयम् 'ऋत इद्धातोः' इति धातुग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। धातुग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत् मातॄणां पितॄणामिति। यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्यात्।

परले से नहीं। यदि परले से ग्रहण हो अण्-ग्रहण व्यर्थ हो जाय। अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ऐसा ही कहे। अथवा अचः यह भी न कहे, अच् को ही उद्देश्य कर के प्रगृह्य संज्ञा विधान की गई है।

तो इस अण्ग्रहण में सन्देह है—उरण् रपरः (१।१।५१)। निःसन्देह पूर्व णकार से अण् लिया जायगा। परले से नहीं। यह क्योंकर? परले अण् के न होने से (ऋ के स्थान में परले अण् मिलते ही नहीं)। अजी कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम् में ऐसा ररूप अण् मिलता है। क्या हानि हो यदि यहाँ रपर हो जाय। दो रेफ सुनाई देंगे। (नहीं) हलो यमां यमि लोपः इस से एक का लोप हो जायगा। वह लोप विभाषा है (नित्य नहीं), अतः पक्ष में (दो रेफों का) श्रवण प्रसक्त होगा। अच्छा (हलो यमां यमि-से लोप नहीं करेंगे किन्तु) रो रि (८।३।१४) जो नित्य विधि है, उस से लोप करेंगे। पर रो रि तो पदान्त रेफ का लोप विधान करता है। नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता। गृध् धातु के यङ्लुक् के लङ् लकार में और स्पर्ध् धातु के यङ्लुक् के लङ् में अजर्घाः, अपास्पाः—ये रूप न बन सकेंगे। अच्छा तो मातॄणाम्, पितॄणाम्—यहाँ रपर हो जायगा। (नहीं होगा) आचार्य की प्रवृत्ति (व्यवहार) बतलाती है कि यहाँ रपरत्व नहीं होता। कारण कि आचार्य ऋत इद्धातोः (७।१।१००) इस सूत्र में धातु ग्रहण करते हैं। कैसे ज्ञापक हुआ? धातु ग्रहण का यही प्रयोजन है कि मातॄणां पितॄणाम् में रपरत्व न हो। यदि यहाँ भी रपरत्व हो जाय, धातुग्रहण व्यर्थ हो जाय। कारण कि रपरत्व होने पर (मातॄर्) ऋ अन्त्य न रहा, तो इत्व प्राप्त ही न हो। आचार्य जानते हैं कि यहाँ (अधातु के अवयव

रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्वं न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो नात्र रपरत्वं भवतीति, ततो धातुग्रहणं करोति। इहापि तर्हि न प्राप्नोति चिकीर्षति, जिहीर्षतीति। मा भूदेवम्। 'उपधायाश्च' इत्येवं भविष्यति। इहापि तर्हि प्राप्नोति मातॄणां पितॄणामिति। तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्तव्यम्। एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण। यदि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्, उरञ्रपर इत्येव ब्रूयात्।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति। असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण। कुत एतत्।

सवर्णेऽण् तु परं ह्युर्ऋत्।

यदयम् उर्ऋत् इत्यृकारे तपरकरणं करोति। तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणेति।

इण्ग्रहणेषु तर्हि सन्देहः। असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण। कुत एतत्।

ऋकार को दीर्घ करते समय) रपरत्व नहीं होता, अतः धातु ग्रहण करते हैं। तो यहाँ भी—कृ, हृ से सन् प्रत्यय परे रहते ऋ को दीर्घ रपर ॠ होने पर इत्व की प्राप्ति न रहेगी। ॠतइद्धातोः से इत्व न हो, उपधायाश्च (७।१।१०१) इस सूत्र से इत्व हो जायगा। तो इसी सूत्र से मतॄणाम् पितॄणाम् में (रपर दीर्घ होने पर) भी उपधा को इत्व होने लगेगा। इसलिये ॠत इद्धातोः में धातु ग्रहण सप्रयोजन होने से करना ही होगा (सो यह ज्ञापक न हुआ)। इसलिये प्रकृत अण्ग्रहण पूर्व ण् से होगा, परले ण् से नहीं। यदि परले ण् से हो तो अण् ग्रहण व्यर्थ हो जाय, उरच् रपरः ऐसा ही पढ़ देते।

अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९)। निःसन्देह परले ण् से अण् लिया जायगा, पूर्व से नहीं। यह कैसे?

(वा०) अणुदित्सवर्णस्य सूत्र में अण् परले णकार से लिया जाता है पूर्व से नहीं इसमें उर्ऋत् इस सूत्र में जो तपर किया है वह ज्ञापक है।

आचार्य जो उर्ऋत् (७।४।७) ऋ के स्थान में ऋ का विधान करते हुए उसे तपर करते हैं इससे ज्ञापित करते हैं कि अण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है पहले से नहीं।

तो इण् ग्रहण में सन्देह है। निःसन्देह इण् परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं। यह कैसे?

---

१. उर्ऋत् (७।४।७) इस सूत्र में तपर इस लिये किया है कि अचीकृतत् में ऋकार के स्थान में ऋकार ही हो। दीर्घ ॠकार न हो। यदि पूर्व णकार से अण् ग्रहण हो तो ऋकार अण् नहीं, अतः भिन्न काल (ॠ) का ग्राहक नहीं होगा।

य्वोरन्यत्र परेणेण् स्यात् ।

यत्रेच्छति पूर्वेण, संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति—य्वोरिति । तच्च गुरु भवति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्य ग्रहणे चार्द्धचतस्रो मात्राः । प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः । सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणेति ।

किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविवायं णकारो द्विरनुबध्यते ।

व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ।

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । अणुदित्सवर्णस्य इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण्ग्रहणम्, परेणेण् ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

(वा०) इ का संमर्दन (यणादेश से निवृत्ति) करके जहाँ इकार उकार का ग्रहण किया है जैसे अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोः (६।४।७७) सूत्र में, उसे छोड़कर अन्यत्र सब स्थलों में इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है ।

जहाँ आचार्य चाहते हैं कि पूर्व णकार से इण् प्रत्याहार लिया जाय वहाँ वे इण् का ग्रहण न करके इ को यणादेश करके य्वोः ऐसा निर्देश करते हैं । यह निर्देश गुरु होता है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? यणादेश करके विभक्तिसहित य्वोः ऐसा उच्चारण करने पर ३½ मात्रायें होती हैं । प्रत्याहार (विभक्ति सहित) इणः उच्चारण में ३ मात्रायें होती हैं । आचार्य जो लघु न्यास (मात्रा-त्रयात्मक) से कार्य सिद्ध होने पर गुरुतर न्यास (३½ मात्रात्मक) करते हैं इससे यह जतलाते हैं कि इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं ।

प्रत्याहार सूत्रों में यह ण् क्यों दो बार लगाया गया है ? क्या दूसरा वर्ण लगाने को नहीं रहा था ?

(वा०) णकार का दो बार उच्चारण होने से (परम्परा प्राप्त) व्याख्यान से शब्द (अण्,इण्) शक्ति का निश्चय होगा ।

ण् रूप अनुबन्ध दो बार लगाने से आचार्य यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यह परिभाषा होती है—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् अर्थात् (सन्देह होने पर) व्याख्यान से एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण (=शास्त्र) अलक्षण (अननुष्ठापक) नहीं हो जाता । हम ऐसा व्याख्यान करेंगे कि अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस एक को

तपर होने से ॠकार के न तो स्थानी होने का कोई प्रसङ्ग है, न आदेश । चूंकि तपर (ॠत्) किया है, यह ज्ञापक हुआ कि अण् परले णकार से लिया जाता है ।

ञमङणनम् ॥७॥ झभञ् ॥८॥

किमर्थमिमौ मुखनासिकावचनावुभावनुबध्येते, न ञकार एवानुबध्येत। कथं यानि मकारेण ग्रहणानि, सन्तु ञकारेण। कथं—'हलो यमां यमि लोपः' इति। अस्तु ञकारेण। हलो यञां यञि लोपः इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरयोरपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत। न झकारभकारौ झकारभकारयोः स्तः। कथं—पुमः खय्यम्परे इति। एतदप्यस्तु ञकारेण 'पुमः खय्यञ्परे' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरेऽपि हि खयि रुः प्रसज्येत। न झकारभकारपरः खयस्ति। कथं—'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इति। एतदप्यस्तु ञकारेण 'ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमौ स्याताम्। न झकारभकारौ पदान्तौ[1] स्तः। एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो

छोड़कर अण् प्रत्याहार पूर्व णकार से लिया जाता है और इण् परले णकार से ही।

ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥ ८ ॥

क्या कारण है कि यहाँ दो अनुनासिक म्, ञ् अनुबन्ध रूप से पढ़े हैं ? क्या एक ही ञकार अनुबन्ध से काम न चलेगा ? जिन प्रत्याहारों में मकार अनुबन्ध है वहाँ कैसे होगा ? वहाँ भी मकार के स्थान में ञकार अनुबन्ध रहे। उदाहरण—हलो यमां यमि लोपः यहाँ मकार प्रत्याहार-सम्पादक अनुबन्ध है, अब इस के हट जाने से शास्त्र कैसे प्रवृत्त होगा ? ञकार अनुबन्ध लगा देंगे और हलो यञां यञि लोपः ऐसे पढ़ेंगे। ऐसा नहीं हो सकता। झ भ परे रहते भी पूर्व झ भ का लोप होने लगेगा।

(नहीं यह कोई दोष नहीं) झ भ परक झ भ हैं ही नहीं। अच्छा पुमः खय्यम्परे (८।३।६) यहाँ मकारानुबन्ध से अम् प्रत्याहार पढ़ा है, यहाँ कैसे इष्ट कार्य होगा ? यहाँ भी म् के स्थान में ञ् अनुबन्ध लगा देंगे। और सूत्र को पुमः खय्यञ्परे ऐसे पढ़ेंगे। ऐसा नहीं हो सकता। झकारभकार परक खय् होने पर भी पूर्व पुम्स् के स् को रु होने लगेगा। (यह कोई दोष नहीं)। झकारभकार-परक खय् मिलता ही नहीं। अच्छा तो ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् (८।३।३२)। यहाँ कैसे होगा ? इसे भी ञकार अनुबन्ध से पढ़ देंगे और सूत्र का रूप होगा—ङञो ह्रस्वादचि ङमुञ् नित्यम्। ऐसा नहीं हो सकता। पदान्त झकारभकार को क्रम से झकार भकार आगम होने लगेंगे। (यह कोई दोष नहीं) पदान्त झकार भकार मिलते ही नहीं। ऐसी अवस्था में भी (लक्ष्यसंस्कार वेला में) आगम पांच (ङ म ण झ भ)

---

१. झ भ को पदान्त में जश् हो जाने से तदभाव प्रसिद्ध ही है। रहा उज्झ् का झ, उसका संयोगान्तस्य लोपः से लोप हो जाता है।

वैषम्यात्सङ्ख्यातानुदेशो न प्राप्नोति। सन्तु तावद्येषामागमानामागमिनः सन्ति। झकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वाऽऽगमावपि न भविष्यतः।[१]

अथ किमिदमक्षरमिति।[२]

अक्षरं नक्षरं[३] विद्यात्।

न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम्।

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।[४]

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन्प्रत्ययः। अश्नुत इत्यक्षरम्।

वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते।

किमर्थमुपदिश्यते

होंगे और आगमी केवल तीन (ङ म ण), सो सङ्ख्या-विषमता के कारण सङ्ख्यातानुदेश न होगा। (अर्थात् तीन आगमियों में प्रत्येक को पांच आगम होंगे। यह कोई दोष नहीं)। जिन आगमों के आगमी हैं उन्हें वे हो जाएं, झकार भकार पदान्त हैं ही नहीं उनके आगम भी नहीं होंगे।

अब यह विचार प्रस्तुत होता है कि अक्षर किसे कहते हैं ?

(वा०) अक्षर को नक्षर समझे। अथवा जो क्षीण नहीं होता अथवा जो अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं।

अशूङ् (व्याप्त्यर्थक) से औणादिक सरन् प्रत्यय किया गया है, जो व्याप्त होता है।

पूर्व सूत्र (पूर्वाचार्यों के व्याकरण) में वर्ण की अक्षर संज्ञा की गई है।

वा० अक्षर (वर्णों) का किस लिये उपदेश किया है ?

---

१. इस प्रकार भाष्यकार ने मकार अनुबन्ध का खण्डन कर दिया है।

२. भाष्य में अक्षर समाम्नाय इस शब्द का व्यवहार हुआ है, यो वा इमां स्वरशोऽक्षरशः इत्यादि प्रयोजन-परक भाष्य में अक्षर शब्द का, अतः तदर्थबोध के लिये प्रकृत प्रश्न है।

३. अक्षर यह क्रियाशब्द है, चाहे क्षि क्षये से व्युत्पन्न माना जाय चाहे क्षर संचलने से। परमार्थ रूप में ब्रह्मतत्त्व ही अक्षर (अविनाशी) है। वर्णपदवाक्य-रूप स्फोट अथवा जाति स्फोट की तो व्यावहारिकी नित्यता है। सभी शब्दों का आकाशादि की तरह सृष्टि के आदि में उत्पत्ति और प्रलय में विनाश होता है।

४. अशूङ् व्याप्तौ—इस धातु से औणादिक सरन् प्रत्यय से अक्षर शब्द निष्पन्न होता है। अर्थमश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्।

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते।

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे
द्वितीयमाह्निकम्॥

(उत्तर) वा०—यह अक्षर समाम्नाय जिससे वर्ण जाने जाते हैं (जो वर्णों का ज्ञापक है), जो वाणी का बन्धन (प्रतिपादक) है, जिसमें ब्रह्म (=वेद) स्थित है उस (शास्त्र[1]) की प्रवृत्ति के लिये, (इष्टबुद्ध्यर्थं) कलादिदोष रहित वर्णज्ञान के लिये, (लघ्वर्थं) अनुबन्धकरण के लिये उपदेश किया गया है।

सो यह अक्षर-समाम्न्य (वाक्समाम्नाय) वाणी के सङ्ग्रह का उपाय है। इसे पुष्प (दृष्टफल) युक्त, फल (अदृष्ट फल) युक्त, चन्द्र और तारों की तरह स्वलंकृत ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूपतया भासमान समझना चाहिये। इसके परिज्ञान से सर्ववेदाध्ययन-लभ्य पुण्य-फल की प्राप्ति होती है, इसके ज्ञाता के माता पिता (भी) स्वर्गलोक में सम्मान के पात्र होते हैं॥

---

१. चतुर्दशसूत्री-रूप (माहेश्वर सूत्र नाम से प्रसिद्ध) और तन्मूलक भगवत्पाणिनिकृत अष्टाध्यायी शास्त्र।

तृतीय आह्निक का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में वृद्धिरादैच् ॥१।१।१॥ इस सूत्र से लेकर इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया है। क्रमशः प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

वृद्धिरादैच्— १. वृद्धिरादैच् में चोः कुः से प्राप्त कुत्व का समाधान किया है, तथा तद्भावित अतद्भावित सभी आदैचों की वृद्धि संज्ञा स्वीकार की है।

२. संज्ञाधिकार का प्रयोजन बताकर उसका खण्डन किया है। संज्ञा संज्ञी के असन्देह को भी युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया है।

३. वृद्धिरादैच् के वृद्धि शब्द को मङ्गलार्थ मानते हुए वृद्धि संज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रय दोष का समाधान किया है।

४. 'प्रत्येक' शब्द के बिना भी आ ऐ औ इनमें प्रत्येक की वृद्धि संज्ञा सिद्ध करके आदैच् में तपरकरण ऐच् के लिये सिद्ध किया है।

इको गुणवृद्धी— १. इक् ग्रहण का प्रयोजन बताकर सूत्र को सार्थक सिद्ध किया है।

२. गुण, वृद्धि शब्दों से विहित गुणवृद्धि में ही इक् परिभाषा की उपस्थिति मानी है।

३. इक् परिभाषा को अलोन्त्यपरिभाषा का शेष अथवा अलोन्त्य का अपवाद दोनों ही न मानकर स्वतन्त्र परिभाषा स्वीकार किया है। उससे अनिश्चित गुण, वृद्धि के स्थानियों में इक् पद की उपस्थिति होती है यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है। पक्षान्तर में अलोन्त्यशेष में प्राप्त दोषों का समाधान भी किया है।

४. वृद्धि ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए अतो हलादेर्लघोः में अकार ग्रहण से सिच्यन्तरङ्गं नास्ति यह ज्ञापित किया है।

५. इक् परिभाषा को स्वतन्त्र विधि न मान कर विधिशेषभूत सिद्ध किया।

अथ तृतीयमाह्निकम् ।

वृद्धिरादैच् ॥ (१।१।१)॥

कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्य इति । भत्वात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि च्छन्दसि इति । छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः । छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति । यदि भसंज्ञा, "वृद्धिरादैजदेङ् गुणः" इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति । उभयसंज्ञान्यपि च्छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा 'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' पदत्वात्कुत्वम् । भत्वाज्जश्त्वं न भवति । एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वं भत्वात्कुत्वं न भविष्यति ।

किं पुनरिदं तद्भावितग्रहणम्—वृद्धिरित्येवं ये आकारैकारौकारा

वृद्धिरादैच् (१।१।१) इस सूत्र में पदान्त च् को चोः कुः (८।२।३०) सूत्र से कवर्गादेश क्यों नहीं हुआ ?

भसंज्ञा होने से ।

भसंज्ञा कैसे (हुई) ?

— अयस्मयादीनि च्छन्दसि (१।४।२०) इस सूत्र से ।

पर यहाँ तो छन्दोविषय में यह भसंज्ञा-विधि है ऐसा कहा है, और यह (प्रकृतसूत्र) छन्द (वेद) नहीं है ।

यदि भसंज्ञा मानकर (कुत्व का वारण करते हो) तो वृद्धिरादैजदेङ् गुणः ऐसा संहितापाठ में जश्त्व (चकार के स्थान ज्) भी न हो सकेगा ।

छन्दों में एक-साथ दोना संज्ञायें देखी जाती हैं । जैसे—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन—यहाँ ऋक्वता में पदसंज्ञा होने से ऋच् के च् को कुत्व हो गया, पर साथ ही भसंज्ञा होने से जश्त्व (क् को ग्) न हुआ । इसी प्रकार यहाँ भी (सूत्र में भी) पदसंज्ञा मानकर जश्त्व हो गया, पर भसंज्ञा मानकर कुत्व न होगा ।

अब यह विचार है कि सूत्र में तद्भावितों का ग्रहण है[1] अर्थात् वृद्धि शब्द उच्चारण कर के जो आकार, ऐकार, औकार भावित (विहित, उत्पादित) होते हैं

---

१. सूत्र में आदैच् मात्र का ही ग्रहण प्रतीत होता है, अतः यह प्रश्न अनुपपन्न है । नहीं । शास्त्र में पक्षद्वय के देखे जाने से प्रश्न युक्त ही है । लुगादि संज्ञाओं में

भाव्यन्ते, तेषां ग्रहणम्, आहोस्विदादैज्मात्रस्य। किं चातः। यदि तद्भावितग्रहणं शालीयो मालीय इति वृद्धलक्षणश्छो न प्राप्नोति। आम्रमयम्, शालमयम्, वृद्धलक्षणो मयण्न प्राप्नोति। आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, वृद्धलक्षणः फिञ् न प्राप्नोति।

अथादैज्मात्रस्य ग्रहणम्, सर्वो भासः सर्वभास इति "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" इत्येष विधिः प्राप्नोति। इह च तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्यः "वृद्धिनिमित्तस्य–" इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि-आदैज्मात्रस्य ग्रहणम्। ननु चोक्तम्—सर्वो भासः सर्वभासः इत्य् "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" इत्येष विधिः प्राप्नोतीति। नैष दोषः। नैवं

उन का ग्रहण है, अथवा जो भी कोई आकार, ऐकार, औकार हों उन सबका? इससे क्या?

यदि तद्भाविता का ग्रहण है तो शालीयः, मालीयः—यहाँ वृद्धाच्छः (४।२।११४) इस सूत्र से छप्रत्यय की प्राप्ति ही नहीं। आम्रमयम्, शालमयम्—यहां नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४४) से वृद्धसंज्ञा को निमित्त मान कर होनेवाला विकार और अवयव अर्थ में विहित मयट् न हो सकेगा। आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, यहाँ 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (४।१।१५७) से (अपत्यार्थ में) फिञ् न हो सकेगा। (आम्रगुप्तस्यापत्यम् आम्रगुप्तायनिः)।

यदि कहो कि यहाँ आकार, ऐकार, औकार मात्र (तद्भावित हों अथवा अतद्भावित) का ग्रहण है, तो सर्वो भासः सर्वभासः यहाँ (कर्मधारय तत्पुरुष समास में) उत्तरपद में वृद्धिसंज्ञक आकार होने से उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च (६।२।१०५) से सर्वशब्द अन्तोदात्त हो जायगा। और तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्यः—यहाँ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे (६।३।३९) से [आ सर्वनाम्नः (६।३।९१) से आये आकार की भी वृद्धिसंज्ञा होने से और उसके सत्त्व में तद्धित प्रत्यय वतुप् की निमित्तता से] पुंवद्भाव निषेध प्राप्त होता है।

अच्छा (यदि तद्भावित पक्ष में दिये हुए दूषणों का उद्धार नहीं हो सकता) तो आकार, ऐकार औकार मात्र का ग्रहण सही, (इसमें क्या हानि है?)।

अजी अभी कहा गया है कि कर्मधारय तत्पुरुष सर्वभासः में 'उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च (६।२।१०५) से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा।

यह कोई दोष नहीं। उत्तरपदवृद्धौ इस पद का उत्तरपद की वृद्धि होने पर

तद्भावित पक्ष का ग्रहण है और लोप संज्ञा में अदर्शन मात्र का ग्रहण है। सूत्र में वृद्धि तन्त्रेणोच्चारित है ऐसा मानकर, इसकी आवृत्ति स्वीकार कर अथवा एकशेष अङ्गीकार कर तद्भावित आदैच् का ग्रहण होता है। उस अवस्था में एक वृद्धि शब्द संज्ञावान् आदैच् का विशेषण रहेगा और दूसरा संज्ञापरक।

विज्ञायते—उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तरपदवृद्धावितिति। कथं तर्हि। "उत्तरपदस्य" इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। तद्भावितग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारकः सर्वकारक इति।

यदप्युच्यते—इह तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्य इति च "वृद्धिनिमित्तस्य—" इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति। कथं तर्हि। वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन्सोयं वृद्धिनिमित्तः, वृद्धिनिमित्तस्येति। किं च वृद्धेर्निमित्तम्। योऽसौ ककारो ञकारो णकारो वा। अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। यस्त्रयाणामाकारैकारौकाराणाम्।

संज्ञाधिकारः संज्ञासम्प्रत्ययार्थः ॥

"अथ संज्ञा" इत्येवं प्रकृत्य वृद्धयादयः शब्दाः पठितव्याः। किं

ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये, किन्तु उत्तरपदस्य (७।३।१०) इस अधिकार में जो वृद्धि विधान की गई हो तद्युक्त उत्तरपद परे होने पर, ऐसा अर्थ है। और अवश्य ऐसा ही अर्थ मानना होगा। कारण कि तद्भावित आ के ग्रहण करने पर भी सर्वकारकः इस तत्पुरुष समास में भी (जहाँ कारक में कृ के ऋ को अचोञ्णिति से वृद्धि होकर आ हुआ है) उक्त सूत्र से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा।

और जो यह कहा है कि तावद्भार्यः, यावद्भार्यः में (तद्भावित ग्रहण न करने पर) वृद्धिनिमित्तस्य—इस सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है, सो यह भी कोई दोष नहीं। वृद्धिनिमित्तस्य इस पद का वृद्धिका निमित्त, उसका ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु वृद्धि का निमित्त जिसमें है, उसका ऐसा अर्थ है।

फिर वृद्धि का निमित्त है क्या?

जो (इत्संज्ञक) प्रसिद्ध क्, ञ्, ण्। अथवा जो सकल वृद्धि का निमित्त हो।

सकल वृद्धि का कौन सा निमित्त है?

जो तीनों अर्थात् आकार, ऐकार, औकार का निमित्त हो।

(वा०) संज्ञा का अधिकार करना चाहिये संज्ञा के बोध के लिए। अथ संज्ञा अब संज्ञा-विधान का प्रारम्भ होता है—ऐसा कह कर वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों

---

१. निमित्त शब्द के उपादान से ही यहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि लिया जाता है, अन्यथा वृद्धेस्तद्धितस्य ऐसा ही कहे, वृद्धि का निमित्त होने से तद्धित को वृद्धि कह दिया जायगा। (जैसे आयुर्वै घृतम् में आयु का निमित्त होने से घृत को आयु कह दिया है)

२. अथवा वृद्धीनां निमित्तम्—ऐसा विग्रह समझना चाहिये। व्यधिकरण बहुव्रीहि की अपेक्षा तत्पुरुष मानने में लाघव भी है।

प्रयोजनम्। संज्ञासम्प्रत्ययार्थः। वृद्ध्यादीनां शब्दानां संज्ञा इत्येष सम्प्रत्ययो यथा स्यात्।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके ॥

अक्रियमाणे हि संज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां संज्ञेत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात्। इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात्। अनर्थकमित्याह। कथम्। यथा लोके। लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थवन्ति तावत्—देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् इति। अनर्थकानि—दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पलालपिण्डः, अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।

संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥

क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः। कुतो ह्येतत्—वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति। न पुनरादैचः संज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति।

को पढ़ना चाहिये।

क्या प्रयोजन है?

संज्ञाओं के बोध के लिये। वृद्धि आदि शब्दों के विषय में ये संज्ञाएँ हैं ऐसा बोध हो सके, इस लिये।

(वा०) नहीं तो ऐसा बोध न हो सकेगा जैसे लोक में।

यदि संज्ञाधिकार न किया जाय तो वृद्धि आदि शब्द संज्ञाएँ हैं ऐसा बोध न होगा। ऐसा होने पर बहुत से सूत्र अनर्थक हो जायंगे। यह जो आप अनर्थक कहते हैं सो कैसे? जैसे लोक में। लोक में दोनों प्रकार के वाक्य देखे जाते हैं—सार्थक और अनर्थक। पहले सार्थकों को लीजिये—देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन (देवदत्त सफेद गौ को डंडे से हांको) देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् (देवदत्त काली गौ को हांको)। अनर्थक जैसे—दस दाडिम (दाड़ू), छः अपूप (पूए), कुण्ड, बकरी का चाम, फल-शून्य काण्डों का समूह, कुमारी का यह लहंगा, स्फ्यकृत् का पिता प्रतिश्याय युक्त है।

(वा०) संज्ञा और संज्ञी का असंदिग्धरूप से निर्देश होना चाहिये।

संज्ञा अधिकार के किये जाने पर भी यह संज्ञा है, यह संज्ञी है इसका विस्पष्ट रूप से कथन होना चाहिये। क्या कारण है कि वृद्धि शब्द संज्ञा हो और आदैच् संज्ञी हों? आदैच् संज्ञा और वृद्धि शब्द संज्ञी क्यों न हो?

यत्तावदुच्यते—संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इति, न कर्तव्यः।

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः॥

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति। किमिदमाचार्याचारादिति। आचार्याणामुपचारात्।

यथा लौकिकवैदिकेषु॥

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावत् मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरुपचारादन्येपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। एवमिहापि—इहैव तावत्केचिद् व्याचक्षाणा आहुः वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति। अपरे पुनः 'सिचि वृद्धिः' इत्युक्त्वाऽऽकारैकारौकारानुदाहरन्ति। तेन मन्यामहे यया प्रत्याय्यन्ते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति।

यदप्युच्यते—क्रियमाणेपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो

यह जो कहा गया है कि संज्ञाधिकार करना चाहिये संज्ञाओं के बोध के लिये। इसके करने की कोई आवश्यकता नहीं।

(वा) आचार्यों के व्यवहार से संज्ञा की सिद्धि हो जायगी।

आचार्यों के आचार से संज्ञा-सिद्धि हो जायगी।

आचार्याचार से क्या अभिप्राय है ?

आचार्यों (वृत्तिकारों) का व्यवहार।

(वा०) जैसे लौकिक व वैदिक व्यवहारों में।

जैसे लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में (संज्ञा जानी जाती है)। लोक में देखते हैं कि माता-पिता नवजात पुत्र का गुह्य स्थान (घर के भीतर में देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम धरते हैं उन के व्यवहार से दूसरे लोग भी जानते हैं कि यह उस बालक की संज्ञा है। वेद में याज्ञिक (यज्ञकाण्ड के द्रष्टा ऋषि) यज्ञोपकरणों के स्फ्य[1], यूप[2], चषाल[3] इत्यादि नाम धरते हैं। उन पूज्यों के व्यवहार से दूसरे भी जानते हैं कि यह उस-उस पदार्थ की संज्ञा है। इस से हम जानते हैं कि जिस शब्द से पदार्थों का प्रत्यायन किया जाता है वह संज्ञा है, जो प्रतीत होते हैं वे संज्ञी हैं।

जो यह कहा गया है कि संज्ञाधिकार करने पर भी संज्ञा और संज्ञी का

---

१. खैर का बना हुआ खड्ग सदृश यज्ञसाधन।

२. छील तराश कर बनाया हुआ यज्ञियपशुबन्धन-काष्ठ।

३. यूप के अग्र भाग में स्थापित यूप-वलय-नामक काष्ठ।

वक्तव्य इति।

संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥

संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहः सिद्धः। कुतः। आचार्याचारादेव। उक्त आचार्याचारः।

अनाकृतिः ॥

अथवाऽनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

लिङ्गेन वा ॥

अथवा किञ्चिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि इत्थंलिङ्गा संज्ञेति। वृद्धिशब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादैच्छब्दे।

इदं तावदयुक्तं यदुच्यते—आचार्याचारादिति। किमत्रायुक्तम्। तमेवोपालभ्य अगमकं ते सूत्रम् इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतद-

---

रूप से निर्देश करना चाहिये।

(वा०) संज्ञा और संज्ञीका असन्देह[1] (विवेक) सिद्ध ही है। कैसे? आचार्यों के आचार से। आचार्यों का आचार क्या चीज है यह पहले बता चुके हैं।

(वा०) अनाकृति (आकृतिरहित)।

अथवा आकृति-रहित शब्द संज्ञा है और आकृति वाले शब्द संज्ञी हैं। लोक में भी आकृति वाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' यह संज्ञा की जाती है।

(वा०) अथवा लिङ्ग (चिह्न) से।

अथवा कुछ चिह्न लगा कर कहूँगा इस प्रकार के चिह्न वाला संज्ञा शब्द है। 'वृद्धि' शब्द में वह कल आदि दोष रूप चिह्न कर दिया जायगा। आदैच् शब्द में नहीं किया जायगा।

आपका यह कहना कि आचार्य (सूत्रकार) के व्यवहार से (संज्ञा का पता चल जायगा) युक्त नहीं।

इस में क्या अयुक्त है?

यही कि पहले (हे सूत्रकार) तेरा सूत्र (सम्बन्ध का ज्ञापक न होने से) अबाधक (अनर्थक) है, इस प्रकार-निन्दावचन कहकर पीछे उसी को (अर्थात् उसी

---

१. (वार्तिक में) असन्देहः—यह बहुव्रीहि है, अविद्यमानः सन्देहोत्र। सन्देह का निवर्तक शब्द कहना चाहिये, अर्थात् "परा संज्ञा" ऐसा वचन पढ़ना चाहिये।

युक्तम्। अपरितुष्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण 'अनाकृतिर्लिङ्गेन वा' इत्याह।

तच्चापि वक्तव्यम्। यद्यप्येतदुच्यते। अथवैतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या लोपश्च न वक्तव्यः। संज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते। न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते। स्वभावतः संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तते। तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति। सिध्यत्येवम्। अपाणिनीयं तु भवति।

यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—संज्ञाधिकारः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोक इति। न च यथा लोके तथा व्याकरणे। प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण। किमतो यदशक्यम्। अतः संज्ञासंज्ञिनावेव। कुतो नु खल्वेतत् संज्ञासंज्ञिनावेवेति। न पुनः साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे साधु-

---

के वृत्तिकारों को) प्रमाण मानना। और आपने भी इस समाधान से असन्तुष्ट होकर ही अनाकृतिर्लिङ्गेन वा—यह दूसरा समाधान कहा है।

तो लिङ्ग लगाना होगा। (इस प्रकार के लिङ्ग वाला शब्द संज्ञा है ऐसा कहना होगा)। यद्यपि ऐसा वचन करने से (गौरव होगा तो भी अपेक्षाकृत लाघव ही होगा) कारण कि अब (अनुबन्धों को) इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, इत्संज्ञकों का लोप भी नहीं कहना पड़ेगा। संज्ञा का लिङ्ग (कल आदि चिह्न) अनुबन्धों में किया जायगा। संज्ञा की निवृत्ति वचनसाध्य नहीं है। संज्ञा का ऐसा स्वभाव है, संज्ञी का बोध करा कर स्वयं निवृत्त हो जाती है। इससे अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी (इतना लाघव होगा)। हाँ ठीक है, पर ऐसा करना अपाणिनीय होगा।

तो जैसे आचार्य ने सूत्र पढ़ा है वैसे ही रहने दो। अजी, अभी आपने कहा था—संज्ञाधिकार कहना चाहिये ताकि कौन शब्द संज्ञा है यह बोध हो सके, नहीं तो सम्बन्ध की प्रतीति न होगी जैसे लोक में। नहीं, जैसे लोक में वैसे ही व्याकरण-शास्त्र में हो—यह कोई नियम नहीं। प्रामाण्य को प्राप्त भगवान् सूत्रकार ने कुशापीड से पवित्रपाणि हो, शुद्ध-प्रदेश में स्थित हो, पूर्व की ओर मुँह कर, आसन पर बैठ, बड़े प्रयत्न से इन सूत्रों को रचा है उनमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने वर्णों से घटित समग्र सूत्र की अनर्थकता तो दूर रही।

इस से क्या यदि एक वर्ण भी अनर्थक नहीं ?

इस से यही आता है कि वृद्धिशब्द संज्ञा है और आदैच् संज्ञी है।

क्या शब्दसाधुत्व का अनुशासन करनेवाले इस शास्त्र में इन दो वृद्धि और आदैच् का साधुत्व तो नहीं बताया जा रहा ?

---

१. प्रमाणभूत आचार्यः—प्रामाण्यं प्राप्तः। भू प्राप्तावात्मनेपदी।

त्वमनेन क्रियते। कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्। वृधिरस्माय विशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन्प्रत्ययः। आदैचोप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः।

प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—वृद्धिशब्दात्परे आदैचः प्रयोक्तव्या इति। नेह प्रयोगनियम आरभ्यते। किन्तर्हि संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति।

आदेशास्तर्हीमे स्युः। वृद्धिशब्दस्यादैच आदेशाः। षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा भवन्ति¹। न चात्र षष्ठीं पश्यामः।

आगमास्तर्हीमे स्युर्वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः। आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते। लिङ्गेन च। न चात्र षष्ठीं न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः।

इनका साधुत्व पहले ही बताया जाचुका है। धातुपाठ में व्याकरणाध्येता के लिये वृध् का सामान्यरूपेण उपदेश कर दिया गया है, उससे परे क्तिन् प्रत्यय विहित है, आदैच् भी अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट हैं।

तो यह सूत्र प्रयोगविषयक नियम करनेवाला हो सकता है—अर्थात् वृद्धिशब्द से परे (नकि पूर्व) आदैच् शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। इस शास्त्र में प्रयोग (प्रयुज्यमान पदों का क्रमविषयक) नियम बताने का उपक्रम नहीं किया गया है, किन्तु उन प्रयोगों का साधुत्वान्वाख्यान मात्र किया जाता है, पीछे वक्ता की इच्छानुसार उनका परस्पर सम्बन्ध होता है, जैसे आहर पात्रम् (पात्र लाओ) ऐसी आनुपूर्वी से भी कहा जाता है, पात्रमाहर ऐसा भी।

तो ये आदेश हो सकते हैं। वृद्धिशब्द के स्थान में आदैच् आदेश होते हैं। पर आदेश षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में होते हैं, और यहाँ (इस सूत्र में) षष्ठी विभक्ति दीखती नहीं।

तो ये आगम हो सकते हैं—वृद्धिशब्द को आदैच् का आगम हो। पर आगम भी षष्ठीनिर्दिष्ट को ही होते हैं। और आगम लिङ्ग (क्, ट्) से जाने जाते हैं। न तो यहाँ षष्ठी दीखती है और नहीं आगम-लिङ्ग दीखता है।

और यहाँ प्रकृत-सूत्र में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ये दोनों पद वृद्धि और आदैच् समानाधिकरण और एकविभक्तिक हैं। और ऐसा सम्बन्ध केवल दो का होता है। कौन से दो का?

---

१. यहां षष्ठी शब्द से षष्ठ्यर्थ का अभिप्राय है। जहां षष्ठी विभक्ति के अर्थ का निर्देश है वहीं आदेश होते हैं, षष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने पर भी यदि षष्ठी का अर्थ है तो आदेश हो जाते हैं। जैसे नाभि नभं च, परस्त्री परशुं च यहाँ नाभि को नभ और परस्त्री को परशु आदेश होते हैं यद्यपि नाभि, परस्त्री में षष्ठी विभक्ति का निर्देश नहीं है किन्तु षष्ठी का अर्थ है।

इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तिकत्वं च[1]। द्वयोश्चैत-द्भवति। कयोः। विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा। तत्रैतत्स्यात्—विशेषणविशेष्ये इति। तच्च न। द्वयो र्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोके विशेषण-विशेष्यभावो भवति न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः। तस्मात्संज्ञासंज्ञिनावेव।

तत्र त्वेतावान्सन्देहः—कः संज्ञी का संज्ञेति। स चापि क्व सन्देहः। यत्रोभे समानाक्षरे। यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद्गुरु स संज्ञी। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्राप्ययं नावश्यं गुरुलघुतामेवोपलक्ष-यितुमर्हति, किन्तर्हि, अनाकृतितामपि। अनाकृतिः संज्ञा आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति। वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः। तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः।

या तो विशेषण विशेष्यका, या संज्ञा और संज्ञी का। तो ये दोनों विशेषण-विशेष्य हो सकते हैं। नहीं। प्रसिद्ध अर्थवाले दो शब्दों का लोक में विशेषण-विशेष्य भाव होता है। पर लोक में आदैच् तो अप्रसिद्ध हैं। इसलिए यहां संज्ञासंज्ञिभाव ही मानना चाहिए।

अब इसमें इतना सन्देह रहता है—संज्ञी (संज्ञावाला) कौन है, संज्ञा कौन है। वह सन्देह भी कहां होता है? जहां दोनों उद्दिश्यमान और प्रतिनिर्दिश्यमान शब्द समसंख्यक अक्षरों वाले हों। पर जहां दोनों में से एक लघ्वक्षर हो, वह संज्ञा समझनी चाहिए, जो अधिकाक्षर हो वह संज्ञी। यह क्योंकर? व्यवहार में लाघव के लिए संज्ञा की जाती है। पर केवल गुरुलघुता को निर्णायक रूप से स्वीकार करना युक्त न होगा, अनाकृतिता (आकृति-हीनता) को भी। संज्ञा अनाकृति होती है, संज्ञी आकृतिमान् होते हैं। लोक में भी आकृतिवाले मांसपिण्ड की देवदत्त यह संज्ञा की जाती है।

अथवा जो संज्ञायें होती हैं उनकी विधिसूत्रों में आवृत्ति (पुनः पुनः उच्चारण) होती है। वृद्धिशब्द की आवृत्ति देखी जाती है, आदैच् शब्द की नहीं। जैसे अन्यत्र (लोक) में भी देवदत्त शब्द की आवृत्ति होती है, मांस पिण्ड की नहीं।

---

१. देवदत्तः पचति यहां सामानाधिकरण्य है किन्तु एकविभक्तिकत्व नहीं है। गौरश्वः यहां एक विभक्तिकत्व है, सामानाधिकरण्य नहीं। वृद्धिरादैच् यहां सामानाधि-करण्य और एकविभक्तिकत्व दोनों हैं। इस लिये दोनों का अलग अलग ग्रहण किया है। कुछ लोग सामानाधिकरण्य शब्द का मानते हैं कुछ अर्थ का। दोनों के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है।

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा। कुत एतत्। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

कथं वृद्धिरादैज् इति। एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति। सर्वत्रैव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा 'अदेङ् गुण' इति यथा।

दोषवान्खल्वपि संज्ञाधिकारः। अष्टमेपि हि संज्ञा क्रियते—तस्य परमाम्रेडितम् इति। तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात्।

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदीदं

अथवा जिसका पूर्वोच्चारण है वह संज्ञी जानना चाहिए, जिसका पीछे उच्चारण है वह संज्ञा। यह क्योंकर? इसलिए कि बुद्धिद्वारा विषयीकृत अर्थ को पहले शब्द से कह कर उसको संज्ञा आदि कार्य विधान किया जाता है, जैसे अन्यत्र (लोक में), बुद्धिसद्रूप मांसपिण्ड की देवदत्त संज्ञा की जाती है।

तो वृद्धिरादैच् यह सूत्र-न्यास कैसे हुआ? (यहां जो क्रम का व्युत्क्रम हुआ है) वह आचार्य ने मङ्गल के लिए किया है, सो यह एक दोष मर्षणीय है। मङ्गलाकाङ्क्षी आचार्य ने बृहत् सूत्रसमूह के मङ्गल के लिए वृद्धि शब्द को आदि में प्रयुक्त किया है। कारण कि आदि में मङ्गलयुक्त शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं, श्रोता बाद में वीर (अपराजित) तथा चिरंजीव होते हैं, और अध्येता वृद्धि-युक्त होते हैं। व्याकरण में सर्वत्र पहले उच्चारित संज्ञी होता है और पीछे उच्चारित संज्ञा। जैसे अदेङ् गुणः इस सूत्र में।

संज्ञाऽधिकार करना भी दोषयुक्त ही है। अष्टम अध्याय में भी संज्ञायें की जाती हैं जैसे तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२)। जहां दो उच्चरित किए जाते हैं उनमें से दूसरे को आम्रेडित कहते हैं। वहां भी इस अधिकार की अनुवृत्ति होगी।

अथवा संज्ञा आदि निर्देश-रूप यत्न का कोई अवसर नहीं। संज्ञा आदि

---

१. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः यह संज्ञा सूत्र न मानकर परिभाषा सूत्र मान लिया जाएगा इस प्रकार सर्वत्र व्याकरण में संज्ञा का उच्चारण संज्ञी के बाद किया हुआ सिद्ध हो जाता है।

लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्। तद्यथा—अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति—अयं गौरिति। न चास्मायाचष्टे इयमस्य संज्ञेति। भवति चास्य सम्प्रत्ययः।

तत्रैतत्स्यात्—कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्ध इति। इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः। आचार्यैः। तत्रैतत्स्यात्—यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृत इति। लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः। अथ तत्र कृतः, इहापि कृतो द्रष्टव्यः॥

सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः॥

सतः संज्ञिनः संज्ञाभावात्। तदाश्रये संज्ञाश्रये संज्ञिनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः। का इतरेतराश्रयता। सतामादैचां संज्ञया

निर्देश न होना कोई लोक से न्यारी बात नहीं है। यदि शास्त्र में लोक से न्यारी बात हो तो अवश्य इसके लिए वचन-रूप यत्न करना होगा। जैसे कोई गौ को पहचानता नहीं, उसे दूसरा कोई गौ को ऊरुभाग अथवा कान से पकड़ कर बताता है—यह गौ (बैल) है, और यह नहीं कहता कि यह इसकी संज्ञा (नाम) है। तिसपर भी उसे यथेष्ट बोध हो जाता है।

वहां तो यह हो सकता है कि वृद्धों ने अपने व्यवहार से गो शब्द का उस पदार्थ के साथ (वाच्य वाचक) सम्बन्ध किया हुआ है। यहां भी पूर्व लोगों ने सम्बन्ध किया हुआ है। किन्होंने? आचार्यों ने। उसमें भी ऐसा हो सकता है कि जिसके लिए अब उपदेश हो रहा है उसके लिए तो यह सम्बन्ध असिद्ध है। (पर यह भी लोक के न्यारी बात नहीं) लोक में भी जिसे गवादि शब्दार्थ सम्बन्ध अभी बताया जा रहा है उसके लिए तो असिद्ध ही है। (यदि अनुमान आदि द्वारा) लोक में सिद्ध माना जाता है, तो शास्त्र में भी सिद्ध मानने में कोई अड़चन नहीं।

(वा०) निष्पन्न का वृद्ध्यादि संज्ञा के साथ सम्बन्ध होने से तथा संज्ञी का संज्ञाऽऽश्रित होने से अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ की सिद्धि न होगी।

संज्ञी के विद्यमान होने पर संज्ञा होने से। तदाश्रये अर्थात् संज्ञाऽऽश्रय संज्ञी होने पर वृद्ध्यादि पदों में अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ न बन सकेगा।

यहां कौन सा अन्योन्याश्रय है?

आदैच् पहले सिद्ध हों तो उनकी वृद्धिसंज्ञा हो, और संज्ञा से आदैच् की

भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते। तदेतद् इतरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा—नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति।

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा—नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति। अन्यदपि तत्र किञ्चिद् भवति जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति। जले नौः शकटं वहति।

यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम्। तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति। इदं पुनरितरेतराश्रयमेव।

सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥

सिद्धमेतत्। कथम्। नित्यशब्दत्वात्। नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते, न च संज्ञयाऽऽदैचो भाव्यन्ते।

उत्पत्ति होती है, अन्योन्याश्रय है। अन्योन्याश्रितकार्य[1] नहीं सिद्ध होते। जैसे एक (कर्णधार रहित) नौका ऐसी ही दूसरी नौका से बांधी हुई एक दूसरे की रक्षा करने में असमर्थ होती है।

अजी अन्योन्याश्रित कार्य भी सिद्ध होते हुए देखे जाते हैं, जैसे नौका छकड़े को देशान्तर में ले जाती है और छकड़ा नौका को। (यह दृष्टान्त ठीक नहीं) कुछ और भी वहां विशेष होता है जल अथवा स्थल। स्थल में छकड़ा नौका को ले जाता है, जल में नौका छकड़े को (सो यहां अन्योन्याश्रय नहीं)।

अच्छा तो त्रिविष्टब्धक दृष्टान्त सही। यहां भी भीतर कीलकादि कारणान्तर सिद्धि का प्रयोजक है। प्रकृत में तो अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य ही ठहरा।

(वा०) शब्द की नित्यता के कारण अन्योन्याश्रय दोष न होगा।

इस दोष का परिहार हो जाता है।

कैसे ?

शब्द नित्य हैं, इस हेतु से।

शब्द नित्य हैं, शब्दों के नित्य होते हुए (पहले से) विद्यमान आ, ऐ, औ की (वृद्धि) संज्ञा की जाती है न कि संज्ञा द्वारा (अपूर्व) आ, ऐ, औ को बनाया जाता है।

---

१. संज्ञा द्वारा वृद्धिविधायक मृजे र्वृद्धिः इत्यादि शास्त्र में।

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम् ।

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥

निवर्तकं शास्त्रम् । कथम् । मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः । तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते मृजेरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति ।

वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं वचनम् ॥

वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम् । प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समुदाये मा भूतामिति ।

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये संज्ञाऽप्रसङ्गः ॥

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये वृद्धिगुणसंज्ञयोरप्रसङ्गः । यत्रेच्छति

यदि शब्द नित्य हैं, तो शास्त्र किस काम का रहा ?

(वा०) यदि पूछो शास्त्र किस काम का रहा, शास्त्र निवर्तक होने से सफल है ।

शास्त्र निवर्तक है । कैसे ? अध्येता के लिए मृज् धातु का सामान्यरूप से उपदेश कर दिया गया है । उसकी सर्वत्र मृज् रूप ही साधु है ऐसी बुद्धि होने लगी । तब शास्त्र इस प्रकार इसकी निवृत्ति करता है—कित् ङित्-भिन्न प्रत्ययों के परे रहते मृज् के प्रसङ्ग (अवसर) में मार्जि रूप साधु होता है ।

(वा०) वृद्धिगुण संज्ञा करते समय प्रत्येक शब्द का उच्चारण करना चाहिए ।

अर्थात् यह कहना चाहिए कि वृद्धि और गुणसंज्ञा आदैच् (आ, ऐ, औ) और अदेङ् (अ, ए, ओ) में के प्रत्येक की होती है ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

समुदाय (आदैच् अदेङ्) की मत हो ।

(वा०) जहां सह शब्द उच्चारित नहीं होता वहां समुदाय की संज्ञा का प्रसङ्ग ही नहीं ।

जहां आचार्य समुदाय को कार्य करना चाहते हैं वहां सह शब्द का उच्चारण

सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम्। तद्यथा "सह सुपा" "उभे अभ्यस्तं सह" इति।

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तेः।

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते। तद्यथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति। न चोच्यते प्रत्येकमिति। प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते।

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति। तद्यथा गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येकं दण्डयन्ति। सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियते, इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवति, इहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन॥

अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते।

आकारस्य तपरकरणं सवर्णार्थम्॥

आकारस्य तपरकरणं क्रियते। किं प्रयोजनम्। सवर्णार्थम्। तपरस्त-

करते हैं जैसे सह सुपा (२।१।४) उभेअभ्यस्तं (६।१।५) सह इत्यादि में।

(वा०) प्रत्येक में भी वाक्यार्थ की परिसमाप्ति देखी जाती है इस लिए भी प्रत्येक की संज्ञा होगी। जैसे देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र को भोजन खिलाओ। यह नहीं कहा जाता कि इनमें से प्रत्येक को, पर प्रत्येक में भोजन क्रिया पर्यवसित (पूर्णरूप से समाप्त) होती है।

अजी यह भी तो दृष्टान्त है—समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति होती है। जैसे गर्ग लोगों से सौ दण्ड (जुर्माना) लिया जाए। राजाओं को धन की अपेक्षा होती है पर वे प्रत्येक से दण्ड नहीं लेते। इस दृष्टान्त के होते हुए भी यदि वहां (गर्गदण्डन में) सह ग्रहण किया जाता हो तो यहां प्रकृत में भी प्रत्येकम् यह कहना चाहिए। पर यदि वहां बिना सहग्रहण समुदाय को कार्य होता है, तो यहां भी प्रत्येकम् इस वचन का कुछ प्रयोजन नहीं।

अब यह विचार उपस्थित होता है कि सूत्र में आकार तपर क्यों किया गया है।

(वा०) आकार का तपर करना सवर्ण ग्रहण के लिए है। आकार तपर किया गया है। इसका क्या प्रयोजन है? सवर्ण ग्रहण के लिए। तपरस्तत्कालस्य

इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्। केषाम्। उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्। किं च कारणं न स्यात्।

भेदकत्वात्स्वरस्य ॥

भेदका उदात्तादयः। कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति। एवं दृश्यते लोके य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्त्वं करोषीति।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किन्तर्हि। इति--

भेदकत्वाद्गुणस्य ॥

भेदकत्वाद्गुणस्येति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। आनुनासिक्यं नाम गुणः, तद्भिन्नस्यापि ग्रहणं यथा स्यात्। किं च कारणं न स्यात्। भेदकत्वाद् गुणस्य। भेदका गुणाः। कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति। एवं हि दृश्यते

इस शास्त्र से अपने समान कालवाले दूसरे सवर्ण आकारों का भी ग्रहण हो सके, इस लिए। किन का?

उदात्त अनुदात्त स्वरित (आकारों) का।

क्या कारण है कि (तपर किए बिना) इनका ग्रहण न होगा?

(वा०) उदात्त आदि स्वरों के भेदक होने से ॥

उदात्त आदि भेदक हैं।

यह कैसे जाना कि उदात्त आदि भेदक होते हैं?

ऐसा लोक में देखा जाता है जो शिष्य उदात्त उच्चारण करने के स्थान में अनुदात्त उच्चारण करता है खण्डिकोपाध्याय उसके मुंह पर चपत देता है यह कहते हुए कि तू कुछ और का उच्चारण कर रहा है।

तो यह तपरत्व का प्रयोजन ठहरा न? तो क्या कहना है? यह कि--

(वा०) गुणों के भेदक होने से ॥

गुण के भेदक होने से यह कहना चाहिए।

आनुनासिक्य गुण है, तद्गुणविशिष्ट का ग्रहण हो जाए इस लिए। क्या कारण है कि आनुनासिक्य गुण (धर्म) वाले आदैच् (आ ऐ और औ) का ग्रहण नहीं होता?

लोके—एकोऽयमात्मा उदकं नाम, तस्य गुणभेदादन्यत्त्वं भवति-अन्यदिदं शीतम्, अन्यदिदमुष्णमिति ।

ननु भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते । तद्यथा देवदत्तो मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति, तथा बालो युवा वृद्धो वत्सो दम्यो बलीवर्द इति ।

उभयमिदं गुणेषूक्तम्—भेदका अभेदका इति । किं पुनरत्र न्याय्यम् । अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम् । कुत एतत् । यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्य-क्ष्णामनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति । यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत् ।

गुणों के भेदक होने से । गुण भेदक हैं ।

कैसे जानते हो कि गुण भेदक होते हैं ?

ऐसा ही लोक में देखते हैं । सभी जल एक अभिन्नद्रव्य है । उसका गुणभेद से भेद हो जाता है, यह शीत जल और है और यह उष्ण जल और ।

अजी गुण अभेदक भी देखे जाते है, जैसे देवदत्त चाहे मुण्डित सिर वाला हो, चाहे जटा वाला और चाहे शिखा वाला, अपने (देवदत्त इस) नाम को नहीं छोड़ता इसी प्रकार वही देवदत्त बाल्य यौवन और वृद्धत्व को प्राप्त हुआ भी देवदत्त ही रहता है । तथा एक ही गो-पिण्ड अवस्थाभेद से वत्स, दम्य और बलीवर्द कहलाता है ।

गुणों के विषय में दोनों बातें देखी जाती हैं—गुण भेदक भी हैं और अभेदक भी । शास्त्र में कौन सा पक्ष न्याय्य (युक्त) है । गुण अभेदक हैं यही न्याय्य है ।

यह कैसे जानें ?

जो आचार्य अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः इस सूत्र में अनङ् को उदात्त बतलाते हैं इससे ज्ञापित करते हैं कि गुण अभेदक होते हैं । गुणों के अभेदक होने से उच्चारित किए गए उदात्त अनङ् की तरह अनुच्चारित अनुदात्त का भी ग्रहण होता । यदि गुण भेदक हों तो उदात्तगुणयुक्त अनङ् का उच्चारण कर दे (जिससे तद्गुणविशिष्ट का ही ग्रहण होगा दूसरे का नहीं) ।

---

१. आत्मन् शब्द यहां द्रव्यवाची है ।

२. आम्नाय शब्दों में स्वर नियत है, अतः वेद में गुण भेदक ही हैं । लोक में दोनों तरह से व्यवहार है । एक ही गोपिण्ड का वत्स आदि अवस्था

यदि तर्ह्यभेदका गुणा अनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तत्स्वरितादेः स्वरितान्ताच्च प्राप्नोति। नैष दोषः। आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति। तद्यथा-शुक्लमालभेत, कृष्णमालभेत। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते, न हि तेन यथोक्तं कृतं भवति।

असन्देहार्थस्तर्हि तकारः। ऐजित्युच्यमाने सन्देहः स्यात् किमिमावैचावेव, आहोस्विदाकारोऽप्यत्र निर्दिश्यत इति। सन्देहमात्रमेतद्भवति। सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति। त्रयाणां ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः। अन्यत्राप्येवञ्जातीयकेषु

अच्छा यदि गुण अभेदक हैं तो जो कार्य अनुदात्तादि अथवा अन्तोदात्त को विधान किया जाता है वह स्वरितादि अथवा स्वरितान्त को भी होने लगेगा। यह कोई दोष नहीं। स्व-वाचक शब्द द्वारा निर्दिष्ट गुण भेदक ही होता है। जैसे शुक्ल का आलम्भन (यागार्थ वध) करे, कृष्ण का आलम्भन करे। ऐसी चोदना होते हुए जो शुक्ल के स्थान में कृष्ण का आलम्भन करता है, वह शास्त्रोक्त अनुष्ठान नहीं करता।

अच्छा तो प्रकृत में तपर नहीं किया है, असन्देह के लिए तकार का उच्चारण किया है ऐसा समझना चाहिए। यदि त् न पढ़ा जाय, केवल ऐच् ही पढ़ा जाय तो सन्देह होगा कि यहां ऐच् मात्र का निर्देश है अथवा आकार भी प्रश्लिष्ट है। यह केवल सन्देह है (कोई दोष नहीं), और जहां भी सन्देह हो वहां यह परिभाषा उपस्थित होती है—व्याख्यान से विशेष बोध होता है, सन्देह होने से ही लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता। तीनों का ग्रहण इष्ट है ऐसा विवरण कर देंगे। अन्यत्र भी

भेद से व्यवहार है, और यह वही गोपिण्ड है ऐसी पहचान होने से अभेद से भी। अत्र=शास्त्रे।

१. गुण-रहित का उच्चारण तो होगा नहीं, उच्चारण अवश्य ही उदात्त अथवा स्वरित सहित ही होगा। यदि गुण अभेदक होते हैं यह पक्ष है तो किसी एक स्वर से उच्चारण किया हुआ अकारादि स्वरान्तर-युक्त अकारादि का भी बोधक हो सकता है जब तक कि वह उच्चारितस्वर विवक्षित है यह बताने के लिए उसके साथ तद्वाचक उदात्त आदि शब्द का उच्चारण न हो। यदि गुण भेदक होते हैं यह पक्ष है तो किसी एक स्वर से उच्चारण करना ही अन्य-स्वर-युक्त अकारादि की निवृत्ति के लिए पर्याप्त होगा।

२. प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम् (६।२।८७) इस सूत्र से इन्द्रप्रस्थः की तरह मालाप्रस्थः

सन्देहेषु न कंचिद् यत्नं करोति। तद्यथा—"औतोम्शसोः" इति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति।

अथ क्रियमाणेपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। तपरस्तत्कालस्य इति नियमात्। ननु तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपरः। यदि

इस प्रकार के सन्देहों में कोई वचन-रूप यत्न नहीं किया जाता, जैसे औतोम्शसोः इस सूत्र में व्याख्यान से अवगत होता है कि आकार और ओकार-दोनों का निर्देश है।

तो तपर करण का यह प्रयोजन है—आन्तरतम्य से त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश न होने लग जायं। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः (यहां ए त्रिमात्र न हो), खट्वा उदकं खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा (यहां ए चतुर्मात्र न हो), खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका (यहां ऐ चतुर्मात्र न हो) खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः, खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः।

प्रश्न यह है कि तकार उच्चारण करने पर भी किस कारण त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश नहीं होते? तपरस्तत्कालस्य इस नियम से। पर त् जिससे परे हो वह तपर होता है (ऐच् से तो त् पूर्वोच्चारित है)। नहीं, त् से जो परे हो वह भी तपर होता है। यदि त् से परे भी तपर होता

में भी पूर्वपद आद्युदात्त विधान किया है। वह आकार की वृद्धि संज्ञा को सिद्ध करता है। माला के आकार की वृद्धि संज्ञा होकर माला यह शब्द समुदाय वृद्धिर्यस्याचामादिस् तद् वृद्धम् से वृद्धसंज्ञक हो जाता है। अवृद्ध न रहने से प्रस्थेऽवृद्धम् से पूर्वपद आद्युदात्त प्राप्त नहीं था उसके विधान के लिए मालादीनां च (६।२।८८) यह चरितार्थ हो जाता है। अन्यथा माला शब्द वृद्ध संज्ञक न हो कर अवृद्ध ही रहता तो प्रस्थेऽवृद्धम् से ही उसमें स्वर सिद्ध था। यही व्याख्यान है। औतोऽम्शसोः में भी इसी प्रकार व्याख्यान से आ ओतः यह छेद समझा जाता है।

तादपि परस्तपरः, "ऋदोरप्" इतीहैव स्यात्—यवः स्तवः, लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे। यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपि। वृद्धिरादैच् ॥

इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥

इग्ग्रहणं किमर्थम्।

इग्ग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥

इग्ग्रहणं क्रियते। किं प्रयोजनम्। आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च।

आकारनिवृत्त्यर्थं तावत्—याता वाता। आकारस्य गुणः प्राप्नोति। इग्ग्रहणान्न भवति। सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति म्लायति। सन्ध्यक्षर-

---

है तो ऋदोरप् (३।३।५७) इस सूत्र से यवः स्तवः यहां ही अप् प्रत्यय हो सकेगा, लवः पवः यहां नहीं। पर इस सूत्र में तकार नहीं है। तो क्या है? दकार। दकारोच्चारण का क्या प्रयोजन है? हम आप से पूछते हैं तकार उच्चारण का क्या प्रयोजन है। यदि संदेहाभाव के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है। और यदि उच्चारण सौकर्य के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है। यहां वृद्धिरादैच् सूत्र की व्याख्या समाप्त हुई ॥

इको गुणवृद्धी ॥

इस सूत्र में इक् का ग्रहण किस लिए किया है?

(वा०) इक् का ग्रहण, आकार सन्ध्यक्षर और व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये (किया गया है) ॥

इक् का ग्रहण किया है। प्रयोजन क्या है?

आकार-निवृत्ति के लिये, सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये तथा व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये।

आकार की निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण अर्थवान् है—याता वाता। यहाँ आकार को गुण प्राप्त होता है। इक् ग्रहण से रुक जाता है। सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण चाहिये ग्लायति म्लायति। यहाँ सन्ध्यक्षर को गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण

---

१. यु स्तु (अदादि) ह्रस्व उकारान्त हैं लू पू (क्यादि)-दीर्घ ऊकारान्त हैं।

स्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति । व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम्–उम्भिता उम्भितुम् । उम्भितव्यम् । व्यञ्जनस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ।

आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–नाकारस्य गुणो भवतीति । यदयम् "आतोऽनुपसर्गे कः" इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । कित्करण एतत्प्रयोजनम्–कितीत्याकारलोपो यथा स्यात् । यदि चाकारस्य गुणः स्यात् कित्करणमनर्थकं स्यात् । गुणे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं गोदः कम्बलद इति । पश्यति त्वाचार्यो नाकारस्य गुणो भवतीति, ततः ककारमनुबन्धं करोति ।

सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । उपदेशसामर्थ्यात् सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवति ।

व्यञ्जननिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति । यदयं जनेर्ड शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । डित्करण

से रुक जाता है । व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण चाहिये उम्भिता उम्भितुम् । यहाँ व्यञ्जन (भ्) के स्थान में (ओष्ठ्य होने से) (ओ) गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण से रुक जाता है ।

आकार निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार बताता है कि आकार को गुण नहीं होता । आचार्य का आतोऽनुपसर्गे कः इस सूत्र में ककार अनुबन्ध लगाना इसमें ज्ञापक है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? कित् करने का यही प्रयोजन है कित् प्रत्यय को निमित्त बनाकर (आतो लोप इटि च (६।४।६४) इस सूत्र से धातु के आकार का लोप हो जाय । (पर) यदि आकार को गुण (अ) होता हो तो कित् करना व्यर्थ हो जाय । गुण होने पर (गुण-रूप) अ और (प्रत्यय-रूप) अ के (अतो गुणे ६।१।९७) इस सूत्र से पररूप होने से गोदः कम्बलदः—ये रूप सिद्ध हो जायंगे । आचार्य जानते हैं कि आ को गुण नहीं होता, अतः इष्ट-रूप सिद्धि के लिये ककार अनुबन्ध लगाते हैं ।

सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं । आचार्य ने (ऐ औ) सन्ध्यक्षरों को वर्णसमाम्नाय में पढ़ा है, वह पढ़ना (उपदेश) व्यर्थ हो जायगा यदि ऐ औ के स्थान में गुण (ए, ओ) हो जाय ।

व्यञ्जन निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । आचार्य का व्यवहार बताता है कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता । आचार्य का जन् धातु से ड प्रत्यय करना इस में ज्ञापक है ।

एतत्प्रयोजनम्—डितीति टिलोपो यथा स्यात्। यदि व्यञ्जनस्य गुणः स्याद् डित्करणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृते त्रयाणामकाराणां पररूपेण सिद्धं रूपं स्यादुपसरजो मन्दुरज इति। पश्यति त्वाचार्यो न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। ततो जनेर्डं शास्ति।

नैतानि सन्ति ज्ञापकानि। यत्तावदुच्यते—कित्करणं ज्ञापकं नाकारस्य गुणो भवतीति। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—"तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" इति।

यत्तर्हि "गापोष्टक्" इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति।

यदप्युच्यते—उपदेशसामर्थ्यात्सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवतीति। यदि यद्यत्सन्ध्यक्षरस्य प्राप्नोति तत्तदुपदेश-सामर्थ्याद् बाध्यते, आयादयोपि तर्हि न प्राप्नुवन्ति। नैष दोषः। यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, स विधिर्बाध्यते[1]। यस्य तु विधेर्निमित्तमेव, नासौ बाध्यते। गुणं च

डित् करने का यही प्रयोजन है कि डित् प्रत्यय को निमित्त मानकर टि-लोप हो जाय। (पर) यदि व्यञ्जन को गुण होता हो तो डित् करना व्यर्थ हो जाय। (कारण कि) गुण होने पर तीन अकारों (जकारोत्तरवर्ती अकार, न् को गुण करने से प्राप्त अ तथा प्रत्यय का अ) का पर-रूप होने से उपसरजः, मन्दुरजः ये रूप सिद्ध हो जायंगे। आचार्य जानते हैं कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता, अतः जन् धातु से ड प्रत्यय का विधान करते हैं। (और इस तरह इष्ट रूप की सिद्धि करते हैं)।

ये ज्ञापक नहीं हैं। यह जो कहा गया है कि आतोऽनुपसर्गे कः में कित् करना इस बात का ज्ञापक है कि आकार को गुण नहीं होता, सो यह (सप्रयोजन होने से) उत्तर-सूत्र तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः में अनुवृत्ति के लिये होने से ज्ञापक नहीं।

अच्छा तो गापोष्टक् में ककारानुबन्ध का तो और कुछ प्रयोजन नहीं सो यह ज्ञापक होगा।

यह जो कहा गया है उपदेश की सार्थकता के लिए सन्ध्यक्षर को गुण न होगा। यदि जो-जो कार्य सन्ध्यक्षर को प्राप्त हो उस उस कार्य का उपदेश के बल पर बाध हो जाय तो सन्ध्यक्षरों को आय् आदि आदेश भी न हो सकेंगे। यह कोई दोष नहीं। जिस विधि के होने से उपदेश अनर्थक होता हो उस विधि का बाध होता है। जिस विधि का सन्ध्यक्षर निमित्त ही हो उसका बाध क्योंकर हो? गुण

---

१. ग्लै के स्थान में ग्लाय् भी नहीं पढ़ सकते। उस अवस्था में त्वया

प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥

यदप्युच्यते—जनेर्डवचनं ज्ञापकम्—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति। न च जनेर्गुणेन सिध्यति। कुतो ह्येतत्—जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरकारो वा स्यादोकारो वेति आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति। एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति। पर-रूपेण शुद्धो भविष्यति। एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वक्तव्यः। गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति। तस्मादिग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

के प्रति (यदि गुण हो जाय) उपदेश अनर्थक हो जाता है, आय् आदि आदेशों का तो निमित्त ही है।

यह जो कहा गया है कि जन् धातु से ड विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता, (सो यह भी ज्ञापक नहीं) (प्रकारान्तर से) कार्य सिद्धि होते हुए जो विधि आरम्भ की जाती है वह (व्यर्थ होने से) ज्ञापक होती है। जन् को गुण करने से तो इष्टरूप सिद्ध नहीं होता। इसमें क्या हेतु है कि जन् के नकार के स्थान में अ गुण हो, ए अथवा ओ न हो ? (उत्तर) आन्तरतम्य से अर्धमात्रिक व्यञ्जन के स्थान में एकमात्रिक अ ही होना उचित है (द्विमात्रिक ए ओ नहीं)। पर अनुनासिक न् के स्थान में अनुनासिक अँ होगा। (कोई हर्ज नहीं, अतो गुणे से) पर-रूप होने (पर=शुद्ध प्रत्यय का अ ही रूप होने) से शुद्ध अकार मिल जाएगा। अच्छा यदि यह बात है (तो भी ज्ञापक नहीं बन सकता) यह ड उत्तरत्र अनुवृत्ति के लिए सार्थक है। अन्येष्वपि दृश्यते इस वचन से गम् से भी ड विधान किया जाता है। यदि गम् को गुण विधान किया जाय तो स्थान के आन्तरतम्य से (ओष्ठ्य होने से) म् के स्थान में ओ होगा। अतः इक् ग्रहण करना चाहिए।

ग्लायते इत्यादि रूप नहीं बनेगें। इसलिए ग्लै के स्थान में ग्ले ही पढ़ा जा सकता था वैसा न पढ़ कर जो ग्लै पढ़ा है उससे गुण का अभाव ज्ञापित होता है। आयादेश तो ग्लै पढ़ने पर ही प्राप्त हो सकता है इस लिए ग्लै पढ़ने के सामर्थ्य से आयादेश का अभाव नहीं हो सकता। हाँ ग्ले न पढ़ कर ग्लै पढ़ने से जैसे गुण का अभाव ज्ञापित होता है वैसे आदेच उपदेशेऽशिति से होने वाला जो. ग्ला यह आत्त्व है उसका अभाव भी प्राप्त होता है वह न ध्याख्यापॄमूर्छिमदाम् इस ज्ञापक से रुक जाएगा।

यदीग्ग्रहणं क्रियते द्यौः, पन्थाः, सः, इमम् इति, एतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति ।

संज्ञया विधाने नियमः ॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः ।

किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । गुणवृद्धिग्रहण-सामर्थ्यात्[1] । कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम् । प्रकृतं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते । क्व[3] प्रकृतम् । "वृद्धिरादैजदेङ्गुणः" इति । यदि

यदि इक् ग्रहण किया जाता है तो दिव औत् (७।१।८४) दिव् के इक् के स्थान में औ (वृद्धि) होनी चाहिए, पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५) से पथिन् के इक् के स्थान में औ (वृद्धि) होनी चाहिए, त्यदादीनामः (७।२।१०२) से तद् में इक् न होने से अ (गुण) न हो सकेगा, तथा इदम् के द्वितीया एकवचन में भी।

(वा०) जहां गुण वृद्धि शब्द उच्चारण करके गुण वृद्धि का विधान है वहां इक् के स्थान में वे गुण वृद्धि हों ऐसा नियम है।

संज्ञापूर्वक जो गुण वृद्धि विधान किए जाते हैं उनमें यह नियम है।

क्या इस वार्तिक रूप वचन के कहने की आवश्यकता है ? नहीं। बिना वचन किए इस नियम का कैसे बोध होगा ? इस सूत्र में गुणवृद्धिग्रहण के बल पर। पर यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण न करें (अर्थात् इकः इतना ही सूत्र पढ़ें) तो इक् के स्थान में गुणवृद्धि हों इस विधेय का लाभ कैसे होगा ? गुणवृद्धि का अधिकार (प्रस्ताव, प्रारम्भ) है सो इस सूत्र में गुणवृद्धि की अनुवृत्ति आती है (उससे)। वह कौन सा अधिकार ? वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः। (यह सूत्र-द्वय)।

---

१. पूर्व सूत्रों से गुण वृद्धि की अनुवृत्ति आने से गुणवृद्धि इक् के स्थान में होंगे, तो यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण किसलिए किया ? इसलिए कि जहां गुणवृद्धि-शब्दोच्चारण पूर्वक (गुण हो, वृद्धि हो) अदेङ्, आदैच् का विधान है वह इक् के स्थान में हो। (अन्यत्र नियम नहीं। वहां अनिक् के स्थान में भी गुणवृद्धि होने में कोई बाधा नहीं)।

२. इस प्रश्न का उत्थान इस तरह होता है—जब प्रकृतसूत्र में गुणवृद्धि शब्द संज्ञापूर्वक विधान में इनका नियमन करने में चरितार्थ = क्षीणशक्तिक हो गए तब गुणवृद्धि का विधान कैसे होगा। अर्थात् उसके लिए अतिरिक्त गुणवृद्धि चाहिए।

३. पूर्व सूत्र वृद्धिरादैच् में वृद्धि शब्द जैसे स्वरूपपदार्थक है (संज्ञापरक है)

तदनुवर्तते अदेङ्गुणो वृद्धिश्च इत्यदेङां वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति। सम्बन्धमनुवर्तिष्यते—वृद्धिरादैच्। अदेङ्गुणः इति वृद्धिरादैच्। ततः इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम्।

अथवा मण्डूकगतयोधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः।

अथवैकयोगः करिष्यते—वृद्धिरादैजदेङ्गुणः, तत इको गुणवृद्धी इति। न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति।

अथवा अन्यवचनाच्चकाराकरणाच्च प्रकृतापवादो विज्ञायते, यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति। अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्चकारस्य चानुकर्षणार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका भविष्यति। यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति।

यदि ऐसा है तो अदेङ् गुणः में वृद्धि की अनुवृत्ति होने से अदेङ् की वृद्धिसंज्ञा भी प्रसक्त होती है। सम्बध्यमान (जिस का आगे सम्बन्ध जुड़ता है) की अनुवृत्ति होगी। पहले वृद्धिरादैच्, तदनन्तर अदेङ् गुणः, तदनन्तर अनुवृत्त सूत्र वृद्धिरादैच्, तब इको गुणवृद्धी—इसमें केवल गुणवृद्धि की अनुवृत्ति होगी, आदैच् अदेङ् की निवृत्ति हो जायगी।

अथवा अधिकार मेंढक की चाल चलते है, जैसे मेंढक उछल-उछल कर (थोड़ा-थोड़ा अवकाश छोड़कर पदन्यास करते हुए) चलते हैं, ऐसे ही अधिकार (अर्थात् वृद्धि शब्द वृद्धिरादैच् सूत्र से चलकर बीच में आये अदेङ्गुणः को फांद कर इस प्रकृत सूत्र इको गुणवृद्धी में आजाता है, गुण शब्द अनन्तरपूर्व सूत्र से चला आता है)।

अथवा वृद्धिरादैच् और अदेङ् गुणः को एकसूत्र के रूप में पढ़ा जायगा, तब इको गुणवृद्धी इसे पढ़ देंगे। एक योग में अनुवृत्ति का झञ्झट ही नहीं।

अथवा अन्य संज्ञा (गुणसंज्ञा) कहने से और पूर्वसूत्र में कही हुई संज्ञा (वृद्धिसंज्ञा) के अनुकर्षण (आगे को खेंच लाने) के लिये चकार न पढ़ने से प्रकृत्त वृद्धि संज्ञा को गुण संज्ञा बाध लेगी, जिस प्रकार उत्सर्ग से प्राप्त हुए कार्य का अपवाद बाधक होता है।

वैसे ही अदेङ्गुणः में अनुवृत्त हुआ हुआ भी। यहां अर्थाधिकार का आश्रयण है, शब्दाधिकार का नहीं।

१. सम्बध्यत इति सम्बन्धं कर्मणि घञ्। आदैच् का संज्ञाभूत वृद्धि शब्द

अथवा वक्ष्यत्येतत्—'अनुवर्तन्ते च नाम विधयः। न चानुवर्तना-देव भवन्ति। किन्तर्हि यत्नाद्भवन्ती'ति।

अथवा उभयं निवृत्तम्—तदपेक्षिष्यामहे॥

किं पुनरयमलोन्त्यशेषः, आहोस्विदलोन्त्यापवादः। कथं चायं तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः।

यद्येकं वाक्यम्—तच्चेदं च, अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अलोन्त्यस्य इति। ततोयं तच्छेषः। अथ नानावक्यम्—तच्चेदं च, अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अन्त्यस्य चानन्त्यस्य च इति। ततोऽयं तदपवादः।

कश्चात्र विशेषः।

अथवा (आचार्य गोनर्दीय) विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः (५।२।४) में कहेंगे—पूर्वविधिवाक्यों की उत्तर विधिवाक्यों में अनुवृत्ति होती है, पर अनुवृत्ति मात्र से उन का सम्बन्ध नहीं बन जाता, जब तक सम्बन्ध-स्थापन के लिये यत्नविशेष न किया जाय। वहाँ विभाषा ग्रहणरूप यत्न है और प्रकृत सूत्र में पुनः गुणवृद्धि ग्रहणरूप यत्न है।

अथवा वृद्धिरादैच् तथा अदेङ् गुणः इन दोनों की स्वरितादिलिङ्ग के अभाव में निवृत्ति हो गई अब अपेक्षा-लक्षण लौकिक अधिकार का आश्रयण करेंगे॥

अब यह विचार का विषय है कि क्या यह इको गुणवृद्धी अलोन्त्यस्य का शेष है अथवा अलोन्त्यस्य का अपवाद है।

यह किस प्रकार उसका शेष हो सकता है, और किस प्रकार उसका अपवाद?

यदि (वह और यह) ये दोनों मिल कर एक वाक्य बनायें। षष्ठीनिर्दिष्ट के अन्त्य अल् को विधियाँ होती हैं, इको गुणवृद्धी को इसके साथ मिला कर इस प्रकार का एक वाक्य होगा—अन्त्य अल् इक् को गुण वृद्धि होते हैं। अब इको गुणवृद्धी अलोन्त्यस्य का शेष (अङ्ग) हो जाता है। यदि भिन्न-भिन्न दो वाक्य रहें—अन्त्य अल् के स्थान में विधियाँ होती हैं, इक् के स्थान में गुण वृद्धि होते हैं चाहे वह इक् अन्त्य हो अथवा अनन्त्य। तब यह अलोन्त्यस्य का अपवाद हो जाता है।

इसमें क्या अन्तर है?

अदेङ् गुणः यहाँ अनुवृत्त हो रहा है, यतः अदेङ् के साथ इस का सम्बन्ध बनता नहीं, अतः अनुवृत्त हुआ आदैच् को छोड़ देता है, जैसे कान्तार (महारण्य) के पार करने के लिये सार्थ का उपादान और पार करने पर उस का परित्याग।

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशि-
क्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम् ॥

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशि क्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम्। मिदेर्गुणः इक इति वक्तव्यम्। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। मृजेर्वृद्धिः इक इति वक्तव्यम्। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। पुगन्तलघूपधस्य गुणः इक इति वक्तव्यम् अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। ऋच्छेर्लिटि गुणः इक इति वक्तव्यम्। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। ऋदृशोऽङि गुणः इक इति वक्तव्यम्। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुणः इक इति वक्तव्यम्। अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति।

सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति। याता वाता। किं कारणम्।

(वा०) यदि वृद्धि और गुण अन्त्य अल् इक के स्थान में होते हैं तो मिद्, मृज्, पुगन्तलघूपध, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र, क्षुद्र—इनके इक् को गुण हो ऐसा वचन करना पड़ेगा। मिदेर्गुणः—यहाँ इक् के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये। (इ) यहाँ अन्त्य नहीं है अतः गुण की प्राप्ति नहीं। मृजेर्वृद्धिः—यहाँ इक् के स्थान में वृद्धि हो ऐसा वचन करना पड़ेगा, इक् (ऋ) यहाँ अन्त्य नहीं, अतः वृद्धि की प्राप्ति नहीं। पुगन्तलघूपधस्य च पुगन्त और लघूपध को सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है सो अब यह न हो सकेगा, अतः इनके इक् के स्थान में गुण होता है ऐसा कहना चाहिये, इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं। (ऋच्छ्) धातु को लिट् परे रहते ऋच्छत्यृतां गुणः (७।४।११) इससे गुण विधान किया गया है, वहाँ वह इसके इक् (ऋ) के स्थान में हो ऐसा कहना चाहिये, इक् (ऋ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति ही नहीं। ऋदृशोऽङि गुणः—इसमें अङ् परे होने पर दृश् को गुण विधान किया है, यहाँ इक् (ऋ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि इक् (ऋ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं। क्षिप्रक्षुद्र शब्दों को (ईयस् इष्ठन्, इमनिच् प्रत्ययों के परे रहते) गुण-विधान किया है, यहाँ भी इक् (इ, उ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, कारण कि इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं।

(वा०) जो अङ्ग इगन्त नहीं है उस सारे के स्थान में गुण प्रसक्त होता है। जैसे याता वाता में या, वा को गुण प्राप्त होता है।

(इस प्राप्ति का) क्या कारण है?

"अलोन्त्यस्य" इति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसंक्रान्ता, अङ्गस्येति च स्थानषष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति।

नैष दोषः। यथैव ह्यलोन्त्यस्येति षष्ठी अन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्ता, एवमङ्गस्येत्यपि स्थानषष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तत्र षष्ठ्येव नास्ति, कुतो गुणः, कुतः सर्वादेशः।

एवं तर्हि नायं दोषसमुच्चयः। किं तर्हि। पूर्वापेक्षोयं दोषः। ह्यर्थे चायं चः पठितः—मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य इति।

मिदेर्गुणः इक इति वचनादन्त्यस्य न, अलोन्त्यस्य इति वचनादिको न। उच्यते च गुणः। स सर्वादेशः प्राप्नोति। एवं सर्वत्र॥

अस्तु तर्हि तदपवादः।

तच्छेष पक्ष में अलोन्त्यस्य इस षष्ठी का अङ्ग के अन्त्य इक् के साथ सम्बन्ध हो जाता है, अङ्गस्य यह स्थानषष्ठी है। अब जो अनिगन्त अङ्ग हैं (वहाँ षष्ठी का अन्त्य अल् में उपसंहार (सम्बन्ध) न होने से) मिदेर्गुणः इत्यादि में मिद् आदि समुदाय के स्थान में गुण प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। जिस प्रकार अलोन्त्यस्य यह षष्ठी अन्त्य इक् में उपसंहृत हो जाती है (इक् के साथ जुड़ जाती है), इसी प्रकार अङ्गस्य यह स्थान षष्ठी भी अन्त्य इक् में उपसंहृत हो जाती है। अब जो अनिगन्त अङ्ग है वहाँ षष्ठी (अर्थात् अन्त्य इक् में उपसंहृत षष्ठी) ही नहीं है, तो तच्छेष पक्ष में गुण की भी प्राप्ति नहीं रहती, सर्वादेश का तो क्या कहना।

तो यहाँ पूर्व दोष से भिन्न एक और दोष दिया है, ऐसा नहीं। तो कैसे है? पूर्व निर्दिष्ट दोष में यह हेतुकथन है। चकार यहाँ हि के अर्थ (हेतु) में पढ़ा है। इन दोनों वार्तिकों को एक वाक्य के रूप में इस प्रकार पढ़ना चाहिए—मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य।

मिदेर्गुणः, यहाँ जो गुण विधान किया है वह गुण वृद्धि इक् के स्थान में होते हैं', इस वचन से अन्त्य द् के स्थान में नहीं हो सकता, षष्ठी निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान में कार्य होता है इस वचन से इक् के स्थान में नहीं होता। पर आचार्य ने गुण-विधान किया है, (शास्त्र व्यर्थ न हो) इसलिए वह सारे मिद् रूप अङ्ग के स्थान में होगा, इसी प्रकार मृज् आदि के विषय में जानो। (अतः यह व्यवस्थित हुआ कि इक् का ग्रहण करना चाहिए)।

अच्छा तो यह अलोन्त्यस्य का अपवाद हो।

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः ॥

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्य-प्रतिषेधो वक्तव्यः। जुसि गुणः—स यथेह भवति अजुहवुः अबिभयुः इति। एवम् अनेनिजुः पर्यवेविषुः अत्रापि प्राप्नोति। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणः—स यथेह भवति—कर्ता हर्ता नयति तरति इति। एवम् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इत्यत्रापि प्राप्नोति। ह्रस्वस्य गुणः—स यथेह भवति–हे अग्ने हे वायो इति। एवं हे अग्निचित् सोमसुद् इत्यत्रापि प्राप्नोति। जसि गुणः–स यथेह भवति–अग्नयो वायव इति। एवम् अग्निचितः सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोर्गुणः—स यथेह भवति – कर्तरि कर्तारौ कर्तार इति। एवं सुकृति सुकृतौ सुकृत इत्यत्रापि प्राप्नोति। घेर्ङिति गुणः—स यथेह भवति-अग्नये वायवे इति। एवम् अग्निचिते सोमसुते इत्यत्रापि

(वा०) यदि इक् मात्र (अन्त्य अथवा अनन्त्य इक्) को गुण-वृद्धि होते हैं (यही अपवाद पक्ष है) तो जुस् परे रहते गुण, सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण, ह्रस्वादियों को गुण, उ को गुण—इन विधियों में अनन्त्य इक् को भी गुण प्राप्त होता है उसका प्रतिषेध करना चाहिए।

जुस् प्रत्यय परे रहते (जुसि च ७।३।८३ से) जैसे अजुहवुः, अबिभयुः में अन्त्य इक् को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजुः, पर्यवेविषुः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते कर्ता हर्ता नयति तरति में अन्त्य इक् को गुण होता है वैसे ही ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

ह्रस्व को गुण जैसे हे अग्ने, हे वायो में अन्त्य इक् को होता है वैसे ही हे अग्निचित् हे सोमसुत् में अनन्त्य इक् (चित् में इ, सुत् में उ) को भी होने लगेगा।

जस् प्रत्यय परे रहते जैसे अग्नयः, वायवः में अन्त्य इक् को गुण होता है वैसे ही अग्निचितः सोमसुतः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७।३।११०) इस सूत्र से विहित गुण जैसे कर्तरि कर्तारौ कर्तारः में अन्त्य इक् (ऋ) को होता है वैसे ही सुकृति सुकृतौ सुकृतः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

घेर्ङिति (७।३।१११) इस सूत्र से जैसे अग्नये वायवे में अन्त्य इक् (उ) को गुण होता है वैसे ही अग्निचिते सोमसुते में अनन्त्य इक् (चित् में इ, तथा सुत्

प्राप्नोति । ओर्गुणः—स यथेह भवति वाभ्रव्यो माण्डव्य इति। एवं सुश्रुत् सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

नैष दोषः।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति। पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति।

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात्। किं च प्रकृतम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति। तेन भवेदिह नियमान्न स्याद् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इति। ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति।

अथाप्येवं नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति। एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति।

में उ) को भी होने लगेगा।

ओर्गुणः (६।४।१४६) इस सूत्र से भसंज्ञक के उ को जैसे वाभ्रव्यः, माण्डव्यः में (जहां उ अन्त्य है) गुण होता है वैसे ही सुश्रुत् सौश्रुत में अनन्त्य इक् को भी गुण होने लगेगा।

यह कोई दोष नहीं।

(वा०) पुगन्तलघूपध ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिए होगा। यदि अनन्त्य इक् को गुण हो तो पुगन्त और लघूपध अङ्ग के ही अनन्त्य इक् को हो और किसी अनन्त्य इक् को नहीं (ऐसा नियम होगा)।

पर नियम प्रकृत का ही होगा।

क्या प्रकृत है ?

सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४)। इससे हो सकता है कि ईहिता, ईहितुम् ईहितव्यम्, में नियम की प्रवृत्ति होने से गुण न हो, पर (ह्रस्वस्य गुणः इत्यादि शास्त्र से) ह्रस्वादियों को जो गुण-विधान है उसका नियम न होने से वह अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

नियम इस प्रकार भी हो सकता है—पुगन्तलघूपध को यदि गुण हो तो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही हो। इस तरह भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते जो गुण विधि है उसका नियम न होगा। वह गुण अनन्त्य इक् के स्थान में भी होने लगेगा, अर्थात् ईहिता, ईहितुम्, ईहितव्यम् में गुण का प्रसङ्ग होगा।

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोः। सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति। एवमप्ययं जुसि गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति अनेनिजुः पर्यवेविषुः इति।[1]

एवं तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः। अन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया।

परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—

नियमादिको गुणवृद्धी भवतो[4] विप्रतिषेधेन॥ इति।

अथवा दोनों प्रकार का नियम होगा—पुगन्तलघूपध को ही सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर, पुगन्तलघूपध को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर ही। ऐसा होने पर भी जुस् प्रत्यय परे रहते गुण का नियम न होगा। वह अनन्त्य इक् को होने लगेगा।

अतः (दोनों पक्षों में दोष होने से) न तो यह उसका शेष है और न अपवाद। यह एक स्वतन्त्र परिभाषा है जो अलोन्त्यपरिभाषा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

(इस पक्ष में क्रोष्ट्रीय लोगों का समर्थन भी प्राप्त है)। क्रोष्ट्रीय लोग इसे परिभाषान्तर (स्वतन्त्र परिभाषा) मानकर ऐसा (विप्रतिषेध वार्तिक) पढ़ते हैं—

नियम (अलोन्त्यस्य) को बाधकर विप्रतिषेध से इको गुणवृद्धी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है।

---

१. अनेनिजुः में लघूपध अङ्ग है और सार्वधातुक प्रत्यय भी है, तो अनन्त्य इक् को भी गुण की प्राप्ति है।

पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र के उभयतो नियमार्थ मानने पर भी जहाँ सार्वधातुक आर्धधातुक तथा पुगन्तलघूपध दोनों ही नहीं हैं वहां का नियम न होगा तो हे पिचव्य! हे बुद्धे! बुद्धयः यहां ह्रस्वस्य गुणः तथा जसि च से पिचव्य में पि के अनन्त्य इकार तथा बुद्धि में बु के अनन्त्य उकार को गुण प्राप्त होता है।

२. परिभाषान्तरम्—अन्तर=विशेष। अतः अन्यत् भी कहा और अन्तर भी। पर्यायवचन न होने से दोनों के एक साथ प्रयोग में कोई विरोध नहीं।

३. असम्बद्धम्=न तो इन परिभाषाओं में शेष-शेषिभाव (=अङ्गाङ्गिभाव, गुणप्रधान-भाव) है और न उत्सर्गापवाद-भाव है।

४. विधेय (गुण वृद्धि) के द्वित्व का सूत्र में आरोप करके भवतः में द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

यदि चायं तच्छेषः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तो विप्रतिषेधः। अथापि तद्पवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। तत्र नियमस्यावकाशः[1]—"राज्ञः क च" राजकीयम्। "इको गुणवृद्धी" इत्यस्यावकाशः—चयनं[2] चायको लवनं लावक इति। इहोभयं प्राप्नोति—मेद्यति मार्ष्टीति। इको गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन।

नैवं युक्तो विप्रतिषेधः। "विप्रतिषेधे परम्" इत्युच्यते। पूर्वश्चायं योगः, परो नियमः।

इष्टवाची परशब्दः। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति। एवमप्य-

यदि यह इको गुणवृद्धी उसका शेष हो, तो उसी के साथ इसका विप्रतिषेध (तुल्य बलविरोध) युक्त न होगा। और यदि यह उसका अपवाद है, तो भी उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध अयुक्त है। नियम (अलोन्त्यस्य) का अवकाश है—राज्ञः क च (राजन् से छ प्रत्यय हो और अन्त्य अल् न् को ककारादेश हो)— सिद्धरूप हुआ—राजकीयम्। इको गुणवृद्धी इसका अवकाश है चयनं चायकः लवनं लावकः। यहां दोनों की प्राप्ति है—मेद्यति मार्ष्टि। इको गुणवृद्धी इसकी प्रवृत्ति होती है विप्रतिषेध से।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं। विप्रतिषेध होने पर परशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह सूत्र (इको गुणवृद्धी) तो पूर्व है, और नियम (अलोन्त्यस्य) पर है।

परशब्द इष्टवाची है। विप्रतिषेध होने पर पर जो इष्टरूप का साधक है वह होता है।

तो भी यहां विप्रतिषेध युक्त नहीं। स्थानी का दो कार्यों के साथ योग होना विप्रतिषेध कहलाता है। यहां तो एक स्थानी को दो कार्यों के साथ योग (दो कार्यों की प्राप्ति) नहीं है।

---

१. पूर्वाचार्य अलोन्त्यस्य को नियम-नाम से कहते हैं।

२. अलोन्त्यपरिभाषा का यहाँ कुछ फल न होने से उसकी उपस्थिति नहीं, ऐसा आशय है।

यद्यपि चायकः लावकः यहां अचोञ्णिति से होनेवाली वृद्धि में अच् स्थानी के निर्दिष्ट होने से इक् परिभाषा की उपस्थिति अनावश्यक है तो भी वृद्धिग्रहण के लिङ्ग से अच् को विशेषण मान कर अच्सम्बन्धी जो इक् उसको वृद्धि हो इस प्रकार इक् की उपस्थिति मानने में कोई हानि नहीं ऐसा आशय है।

युक्तो विप्रतिषेधः । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः । नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किंतर्हि । असम्भवोपि । स चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । इह तावद् वृक्षेभ्यः प्लक्षेभ्य इति । एकः स्थानी, द्वावादेशौ, न चास्ति संभवः यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ स्याताम् । इहेदानीं—मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति द्वौ स्थानिनौ, एकादेशः, न चास्ति संभवः । द्वयोः स्थानिनोरेक आदेश स्यादित्येषोऽसम्भवः । सत्येतस्मिन्नसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति । अनवकाशश्चायं योगः ।

ननु चेदानीमेवास्यावकाशः प्रक्लृप्तः चयनं चायको लवनं लावक

यह कोई नियम नहीं कि दो कार्यों की युगपत् प्राप्ति ही विप्रतिषेध होता है । तो क्या ? असम्भव भी विप्रतिषेध होता है । वह असंभव यहां है । वह असम्भव किं-स्वरूप है ? इसका प्रथम निदर्शन है—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः । यहां सुपि च से यञादि सुप् प्रत्यय भ्यस् परे होने पर अदन्त अङ्गरूप स्थानी को दीर्घ प्राप्त होता है और बहुवचने झल्येत् से उसी को ए प्राप्त होता है । यह सम्भव नहीं कि एक स्थानी को दो आदेश हों । द्वितीय निदर्शन है—मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति–यहां दो स्थानी हैं, एक आदेश है (इको गुणवृद्धी से मिद् का इ स्थानी है और अलोन्त्यस्य से मिद् का द् स्थानी है । यह संभव नहीं कि दो स्थानियों को एक आदेश हो) । सो इस प्रकार के असम्भव के होने से विप्रतिषेध युक्त ही है ।

ऐसा होने पर भी विप्रतिषेध अयुक्त ही है, कारण कि अपने-अपने विषय में सावकाश (चरितार्थ) एकत्र युगपत्प्राप्त दो विधिशास्त्रों का विप्रतिषेध होता है । यह योग (इको गुणवृद्धी) तो अनवकाश है (इसका अलोन्त्य—से अनवरुद्ध (न घिरा हुआ) स्वतन्त्र विषय नहीं है) ।

अजी अभी अभी इसका अवकाश दिखाया गया है—चयनं चायकः, लवनं

---

१. द्विकार्ययोगः— यह बहुव्रीहि है । द्वाभ्यां कार्याभ्यां योगो यस्य स्थानिनः स द्विकार्ययोगः । इसका विप्रतिषेध के साथ सामानाधिकरण्य इस तरह से हुआ कि विप्रतिषेध का विषय होने से स्थानी को ही विप्रतिषेध कह दिया है ।

२. एक साथ दो आदेश न हो सकने में हेतु यह है कि अ को दीर्घत्व अनन्तर यञ् परे होने पर विहित है और एत्व अनन्तर झल् परे होने पर । अब यह संभव नहीं कि इन दोनों कार्यों का अपने अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य हो ।

इति । अत्रापि नियमः प्राप्नोति । नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते । यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि कथंचिद् "इको गुणवृद्धी" इत्यस्यावकाशः स्यात्, एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः, पर्यवेविषुरिति ।

एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र ब्रूयाद् इक इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । किं कृतं भवति । द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते । तत्र कामचारः, गृह्यमाणेन चेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम् । यावता कामचारः, इह तावन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेषु गृह्यमाणमिकं विशेषयिष्यामः—एतेषां य इगिति । इहेदानीं जुसि सार्वधातुकार्धधातुक-

---

लावकः । यहां भी अलोन्त्यस्य की प्राप्ति है । इसकी प्राप्ति होने पर ही इको गुणवृद्धी इस सूत्र का आरम्भ है । चूँकि अलोन्त्यस्य की प्राप्ति होने पर ही इसका आरम्भ होता है अतः येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति इस न्याय से यह इको गुणवृद्धी अलोन्त्यस्य का अपवाद ठहरता है और उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध युक्त नहीं । और यदि किसी प्रकार (ज्यों त्यों अर्थात् अलोन्त्यस्य की प्रवृत्ति का कुछ फल न होने से उसकी अप्रवृत्ति मानकर) इको गुणवृद्धी इसका स्वतन्त्र अवकाश मिल जाय, तो भी जैसे पूर्व विप्रतिषेध से मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति में इक् को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजुः, पर्यवेविषुः में भी इक् को गुण होने लगेगा ।

(अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं) तो ऐसा समझना चाहिए कि जहां सूत्रकार यह कहे वृद्धि हो, गुण हो, वहां इकः यह पद उपस्थित हो जाता है (इसे पदोपस्थिति पक्ष कहते हैं) ऐसा समझना चाहिए ।

इससे क्या होता है ?

एक दूसरा षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । ऐसा होने पर यह स्वेच्छाचार है कि चाहे हम गृह्यमाण (सूत्र में पढ़े हुए षष्ठ्यन्त) पद को विशेषण मानकर इक् को उसका विशेष्य मानें, अथवा इक् को विशेषण तथा गृह्यमाण षष्ठ्यन्त पद को विशेष्य (पहली अवस्था में अङ्गस्य यह अवयव षष्ठी होगी । दूसरी अवस्था में अङ्गस्य स्थानषष्ठी होगी और इक् के विशेषण होने से तदन्तविधि होगी, अर्थात् इगन्त अङ्ग को कार्य होगा) । इससे सर्वेष्टसिद्धि हो जायगी । मिदिमृजिपुगन्त- इत्यादि वार्तिक में पढ़े हुए शब्दों से इक् को विशिष्ट करेंगे, अर्थ होगा—इनका जो अवयव इक् उसे गुण होता है । जुसि सार्वधातुक० इत्यादि में इक् से गृह्यमाण

ह्रस्वाद्योर्गुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति, 'इकः' इगन्तानामिति।

अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानी निर्दिश्यते। इह तावन्मिदेरित्यविभक्तिको निर्देशः, मिद् एः मिदेरिति। अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिदः इः, मिदिः, मिदेरिति।

पुगन्तलघूपधस्येति। नैवं विज्ञायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति। कथं तर्हि। पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्, अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत भिनत्ति छिनत्तीति।

ऋच्छेरपि प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ॠ ॠताम्=ऋच्छत्यॄताम् इति।

(पढ़े हुए स्थानी शब्दों) को विशिष्ट करेंगे—अर्थ होगा इनको गुण होता है, इग्विशिष्ट अर्थात् इगन्तों को।

अथवा इन सबमें स्थानी का निर्देश पहले से ही हुआ है। (कैसे?) मिद् को ही पहले लीजिए। यहां मिदेः में मिद् अविभक्तिक निर्देश है और एः इ का षष्ठ्यन्त रूप है। अथवा मिदेः यह षष्ठी समास समझना चाहिए—मिदः इः (मिद् का इकार) मिदिः, उसका षष्ठ्यन्त रूप हुआ—मिदेः। (इस प्रकार यहां स्थानी इक् (इ) का स्पष्ट निर्देश है।

पुगन्तलघूपधस्य– यहां भी स्थानी निर्दिष्ट है (कैसे?) पुगन्त और लघूपध अङ्ग का ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु पुक् परे होने पर (पुक् आगम वाले) अङ्ग के अन्त्य अवयव का और लघ्वी उपधा का, ऐसा अर्थ है। (लघूपधा यह विशेषणविशेष्य समास है), पीछे पुगन्तश्च लघूपधा च इन दोनों का समाहार द्वन्द्व पुगन्तलघूपधम् ऐसा हुआ। उसका षष्ठ्यन्तरूप है पुगन्तलघूपधस्य। अवश्य ऐसा विग्रह समझना चाहिए, कारण कि यदि लघूपध अङ्ग का विशेषण हो तो भिनत्ति छिनत्ति में भी गुण प्रसक्त होगा।

ऋच्छि (धातु) में भी स्थानी का प्रश्लेष से निर्देश है—ऋच्छति ऋॠ ॠताम्=ऋच्छत्यॄताम्।

---

१. यदि पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र में लघ्वी उपधा लघूपधा तस्या गुणो भवति इस प्रकार स्थानी का निर्देश मानने तथा तच्छेष पक्ष के आश्रयण से वहां इक् परिभाषा की उपस्थिति नहीं मानी जाएगी तो लघूपधगुण के इग्लक्षण न होने से भिन्नम् छिन्नम् में क्ङिति च से गुण का निषेध नहीं प्राप्त होगा तो इसका उत्तर है—त्रसिगृधि-

दृशेरपि योगविभागः करिष्यते—"उरङि गुणः" उः अङि गुणो भवति ततो "दृशेः" दृशेश्चाङि गुणो भवति। उरित्येव।

क्षिप्रक्षुद्रयोरपि "यणादिपरं गुणः" इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—इको यथा स्यादनिको मा भूदिति।

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम्। किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते न पुनर्गुणग्रहणमपि। यदि किञ्चिद्गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः।

अयमस्ति विशेषः। गुणविधौ न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते। तत्रावश्यं स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम्। वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी

दृशि (दृश् धातु) के विषय में योगविभाग से स्थानी की लब्धि हो जाएगी ऋदृशोऽङि गुणः इस सूत्र का इस प्रकार विभाग करेंगे—उरङि गुणः ऋ को अङ् प्रत्यय परे रहते गुण होता है। तब पढ़ेंगे दृशेश्चाङि गुणः। इसमें पूर्व योग से ऋ की अनुवृत्ति आएगी, अर्थ होगा—दृश् को अङ् परे रहते गुण होता है और वह उसके ऋ को हो।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (६।४।१५६) यहां भी क्षुद्र और क्षिप्र के विषय में स्थानी का निर्देश किया हुआ है। यहां यणादिपरं गुणः ऐसा न्यास करने से भी लोप और (उ, इ को) गुण हो जाते, फिर जो पूर्व ग्रहण किया है उसका प्रयोजन यह है कि गुण इक् को हो, इक् से भिन्न (व्यञ्जन) को न हो।

अब यह विचार का विषय है कि इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण का क्या प्रयोजन है। यह प्रश्न वृद्धि ग्रहण के विषय में ही क्यों करते हो गुण ग्रहण के विषय में भी क्यों नहीं करते ? यदि सूत्र में गुण ग्रहण का कुछ प्रयोजन है, (ऐसा समझते हो) वही वृद्धि ग्रहण का भी हो सकता है। अथवा इनमें क्या अन्तर है ?

यह अन्तर है—गुण विधि में स्थानी का निर्देश किसी स्थल में हुआ है किसी में नहीं भी हुआ। वहां स्थानी (इक्) के निर्देश के लिए गुण ग्रहण अवश्य ही करना चाहिए। वृद्धि विधि में तो स्थानी प्रायः सर्वत्र निर्दिष्ट है—जैसे अचोञ्णिति

धृषिक्षिपेः क्नुः यहां क्नु प्रत्यय को और हलन्ताच्च से सन् प्रत्यय को जो कित् किया है उस ज्ञापक से इग्लक्षण न होने पर भी लघूपधगुण का निषेध हो जाएगा। अन्यथा गृध्नुः बिभित्सति यहां क्नु सन् प्रत्ययों में लघूपधगुण के इग्लक्षण न होने से क्ङिति च से निषेध की प्राप्ति ही नहीं तो कित् करना व्यर्थ है।

निर्दिश्यते "अचोञ्णिति" "अत उपधायाः" "तद्धितेष्वचामादेः" इति।

अत उत्तरं पठति—

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते। किमर्थम्। उत्तरार्थम्। "क्ङिति" इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। स वृद्धेरपि यथा स्यात्।

कश्चेदानीं क्ङित्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः। यावता "ञ्णिति" इत्युच्यते।

तच्च मृज्यर्थम् ॥

मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते। सा क्ङिति मा भूत्—मृष्टः मृष्टवानिति।

इहार्थं चापि ॥

इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्यात्, अनिको मा भूदिति।

(७।२।११५) अत उपधायाः (७।२।११६), तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) में, सो वृद्धि ग्रहण के विषय में प्रश्न युक्त ही है।

इसका उत्तर वार्तिककार पढ़ते हैं—

(वा०) वृद्धि ग्रहण उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिए है।

वृद्धि ग्रहण किया है। किस लिए? उत्तर सूत्र के लिए। क्ङिति च इससे प्रतिषेध कहेंगे, वह प्रतिषेध जैसे गुण का है वैसे वृद्धि का भी हो।

पर क्ङित्प्रत्यय परे रहते वृद्धि का कौन सा प्रसङ्ग (अवसर) है क्योंकि वृद्धि की प्राप्ति ञित्, णित् प्रत्यय परे होने पर होती है।

(वा०) वह वृद्धि ग्रहण मृजि के लिए (मृज् धातुविषयक वृद्धि निषेध के लिए) है।

मृज् धातु को सामान्यरूप से (प्रत्यय-विशेष का आश्रयण किए बिना) वृद्धि विधान की है। वह वृद्धि क्ङित् प्रत्यय परे होने पर न हो—मृष्टः, मृष्टवान्।

(वा०) यहां=मृजि वृद्धि के लिए भी।

यहां अर्थात् मृजेर्वृद्धिः के लिए भी वृद्धि ग्रहण करना चाहिए। मृज् को वृद्धि सामान्यरूपेण अर्थात् (इष्ट) स्थानी का उच्चारण किए बिना विधान की गई है। वह इक् को हो, इक्-भिन्न को न हो, इस लिए इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण इक् पद की उपस्थिति के लिए सफल है।

---

१. अलोन्त्य परिभाषा से अन्त्य के स्थान में वृद्धि होगी, अन्त्य यहां ज् है—यह अभिप्राय है।

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभाग त्सिद्धम् ॥

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते— "मृजेर्वृद्धिरचः"। ततः "ञ्णिति" ञिति णिति च वृद्धिर्भवति 'अचः' इत्येव।

यद्यचो वृद्धिरुच्यते, न्यमार्ट् अटोपि वृद्धिः प्राप्नोति।

अटि चोक्तम् ॥

किमुक्तम्। 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति' इति।

वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक्प्रकरणात् [तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः]

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते। किं कारणम्। इक्प्रकरणात्। इग्ल-

---

(वा०) मृज् के इक् को वृद्धि हो इस लिए वृद्धि ग्रहण किया है यदि ऐसा कहते हो तो वह तो कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि योगविभाग से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा।

मृज् के लिए यदि कहते हो, तो यहां योगविभाग कर लेंगे—मृजेर्वृद्धिरचः, ऐसा एक योग पढ़ेंगे (अर्थात् अगले सूत्र का अचः इस पूर्व योग के साथ पढ़ेंगे), इसके अनन्तर ञ्णिति यह पढ़ देंगे। इसमें पूर्व योग से अचः की अनुवृत्ति आ जाएगी।

यदि यहां वृद्धि अच् को विहित है ऐसा कहते हो तो लावस्था में ही अट् (आगम) होने पर पश्चात् अच् के स्थान में होने वाली वृद्धि अट् को भी होने लगेगी।

(वा०) अट् के विषय में उत्तर दिया जा चुका है। क्या?

यह न्याय है कि जब दो अनन्त्य स्थानियों को आदेश प्राप्त होता हो तो उस अनन्त्य के स्थान में आदेश हो जो अन्त्य के समीप हो। (इससे अन्त्य ज् के समीपवर्ती ऋ को ही वृद्धि होगी)।

(वा०) वृद्धि का प्रतिषेध तो उपपन्न नहीं होता, इक् का प्रस्ताव (प्रक्रम= प्रकरण) होने से।

वृद्धि का प्रतिषेध तो नहीं बनता। क्या कारण है? इक् प्रकरण होने से।

---

१. लावस्था में ही अट् करने पर अट् सहित मृज् भी मृज् ही है, अतः मृजेर्वृद्धिरचः इस योग से अट् के अ को भी वृद्धि होने लगेगी।

क्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिर्भवति। तस्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या।

एवं तर्हि—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु परिममृजतुः परिममार्जतुरित्याद्यर्थम्। तदिहापि साध्यम्। तस्मिन्साध्ये योगविभागः करिष्यते 'मृजेर्वृद्धिरचो" भवति। ततः "अचि क्ङिति" अजादौ च क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जतुः।

किमर्थमिदम्।

नियमार्थम्, अजादावेव क्ङिति नान्यत्र। क्वान्यत्र मा भूत्। मृष्टः मृष्टवानिति। ततो "वा" वाऽचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजतुः परिममार्जतुरिति।

क्ङिति शास्त्र इक्-स्थानिक गुणवृद्धि का प्रतिषेध करता है। पर ऊपर कहे हुए योग विभाग से मृज् की वृद्धि इग्लक्षणा इक् को निमित्त मान कर न होगी, अतः क्ङिति से इस अज् लक्षणा वृद्धि का निषेध न हो सकेगा। इस लिए निषेध की सिद्धि के लिए स्थानी के लाभार्थ यहां इक् परिभाषा की उपस्थिति स्वीकार करनी चाहिए।

इस पर इक् परिभाषा की अनुपस्थिति सूचित करते हुए एकदेशी कहता है—पाणिनि से अतिरिक्त वैयाकरण यहां अर्थात् मृज् के विषय में अजादि सङ्क्रम में अर्थात् गुण–वृद्धि–प्रतिषेधक अजादि कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से वृद्धि का विधान करते हैं। उदाहरण—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु, परिममृजतुः, परिममार्जतुः। यह वैकल्पिक वृद्धि पाणिनीय लोगों को भी इष्ट होने से साध्य है। इसके साधन के लिए योगविभाग करेंगे—मृजेर्वृद्धिरचः ऐसा पढ़ेंगे, तदनन्तर अचि क्ङिति ऐसा पढ़ेंगे। अर्थ होगा—अजादि कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर भी मृज् को वृद्धि होती है। परिमार्जन्ति, परिमार्जन्तु परिममार्जतुः।

तो इस योगविभाग का क्या प्रयोजन है?

यह उत्तर योग नियमार्थ रहेगा—अजादि ही कित्, ङित् प्रत्यय परे होने पर वृद्धि हो।

और कहां न हो—मृष्टः मृष्टवान् (यहां क्त क्तवतु कित् हैं पर अजादि नहीं)।

इसके अनन्तर वा यह पृथक् योग पढ़ेंगे, पूर्वसूत्र से अचि क्ङिति की अनुवृत्ति आएगी जिससे इष्ट वैकल्पिकरूप—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिममृजतुः परिममार्जतुः सिद्ध हो जायेंगे।

इहार्थमेवं तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्याद् अनिको मा भूदिति। कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति। अकारस्य। अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत्। नैतदस्ति। लोपोऽत्र बाधको भविष्यति। आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत्[२] अवासीत्। नास्त्यत्र विशेषः सत्यां वृद्धावसत्यां वा। सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति। नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति।

अच्छा तो जैसे मृजि के लिए, वैसे सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१) से विधीयमान वृद्धि इक्स्थानिक हो इसके लिए इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण करना चाहिए। कारण कि सिज्निमित्तक वृद्धि सामान्येन=स्थानिविशेष का आश्रयण किए बिना विधान की गई है, वह इक् के स्थान में हो, इक्-भिन्न के स्थान में न हो।

पर सिचि वृद्धि कौन से अनिक् के स्थान में प्राप्त होती है?

अकार के स्थान में। अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत्—यहां।

नहीं, अतो लोप आर्धधातुके से अचिकीर्ष, अजिहीर्ष इन सन्नन्त अङ्गों के अन्त्य अ का लोप इस वृद्धि का बाधक होगा।

अच्छा तो आकार के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है—अयासीत्, अवासीत्—यहाँ।

यहाँ वृद्धि हो अथवा न हो, कुछ अन्तर नहीं पड़ता (रूप एक ही रहता है)।

सन्ध्यक्षर को वृद्धि प्राप्त होती है।

पर अन्त्य (वृद्धियोग्य) सन्ध्यक्षर मिलेगा ही नहीं।

---

१. एव यहां अपि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. यह अपवाद होने से सक् और इट् आगम पहले हो जायेंगे, तब आकार अन्त्य नहीं रहेगा सो सिचिवृद्धि न हो सकेगी, यह परिहार भी दिया जा सकता था—कैयट।

३. यदि कहो गो शब्द से आचार क्विप् करने पर गौरिवाचारीत् अगवीत् यहां नामधातु में गो यह सन्ध्यक्षर अन्त्य है जिसे वृद्धि सम्भव है तो उसका उत्तर है सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु में ऋत इद्धातोः से धातु ग्रहण की अनुवृत्ति करके शुद्ध धातु रूप जो धातु है उसे वृद्धि मानी जायगी। पीछे धातु बने नामधातु में सिचि वृद्धि न होगी। उससे अगवीत् में दोष न होगा।

ननु चेदमस्ति ढलोपे कृते उद्वोढाम् उद्वोढम् उद्वोढेति। नैतदस्ति। असिद्धो ढलोपः। तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति। व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति अभैत्सीत् अच्छैत्सीत्। हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका भविष्यति यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते "नेटि" इति अकोषीत् अमोषीत्। सिचि वृद्धेरप्येष प्रतिषेधः। कथम्। लक्षणं[1] हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठते।

अजी ऐसा सन्ध्यक्षर यहाँ उदवोढाम्, उदवोढम्, उद्वोढ में ढलोप होने पर मिलता है (उसे वृद्धि का प्रसङ्ग है)।

नहीं, ऐसा नहीं। ढलोप के असिद्ध होने से पहले हलन्तलक्षणा वृद्धि होगी, तब ढलोप के होने पर उस के असिद्ध होने से ओकार अन्त्य न होगा, अतः उसे सिचि वृद्धिः से वृद्धि न होगी।

तो व्यञ्जन के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है। अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत् यहाँ हलन्तलक्षणा वृद्धि इस वृद्धिकी बाधिका होगी।

पर जहाँ हलन्तलक्षणा का निषेध है नेटि (७।२।४) इस सूत्रसे जैसे अकोषीत्, अमोषीत् (वहाँ व्यञ्जन को ही हो जाएगी)।

नेटि प्रतिषेध हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही नहीं, सिचि वृद्धि का भी है। यह कैसे?

लक्षण (सूत्र, शास्त्र) का स्वभाव है कि वह (अव्यक्त रूप से) ध्वनन करता हुआ सर्वत्र व्यापृत होता है, अत एव किसी एक लक्ष्य में ही विश्रान्त नहीं हो जाता।

---

१. नेटि यह शास्त्र सामान्यरूप से इडादि परस्मैपद-परक सिच् पर होने पर हलन्त को जो भी कोई वृद्धि प्राप्त होती है उस सबका निषेध करता है। अव्यक्त= निर्विशेष रूप से कथन को ध्वनन कहते हैं। यहां भी नेटि हलन्त-लक्षणा वृद्धि का ही निषेध करता है ऐसी व्यक्ति (स्पष्टता) नहीं। ऐसा हो सकता है कि शास्त्र की प्रतिषेध्य विषय में प्रवृत्ति होने से चरितार्थता होने पर दूसरे प्रतिषेध्य विषय में उसकी प्रवृत्ति न हो, अतः कहा है—भ्रमति अर्थात् सर्वत्र व्यापृत होता है। यह भी हो सकता है कि जब यह (शास्त्र) एक के निषेध में व्यापृत हो रहा है उसी काल में द्वितीय विधि प्रवृत्त हो रही है और प्रवृत्त हुए विधि का निषेध हो नहीं सकता,

अथवा "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका। तस्या अपि "नेटि" इति प्रतिषेधः।

अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोपि न भवति[1]। अस्तीत्याह—सुजाते अश्वसूनृते, अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते अन्यदिति। पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽयादयोपि न भवन्ति[2]।

उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशे-

---

अथवा सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु इससे समान्य रूप से सिच् को निमित्त मानकर परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर वृद्धि प्राप्त होती है। इसे हलन्तलक्षणा वृद्धि बाधती है और इस हलन्तलक्षणा का नेटि यह प्रतिषेध करता है।

क्या कहीं अन्यत्र भी ऐसा होता है कि अपवाद का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति न हो? हाँ होता है, देखिये सुजाते अश्वसूनृते अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते अन्यदिति। यहाँ प्रकृतिभाव से पूर्वरूप का निषेध हो जाने पर अयादि आदेश भी नहीं होते।

अच्छा तो उत्तरार्थ ही अर्थात् सिचि वृद्धि के लिये इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण करना चाहिये। सिचिवृद्धि सामान्यरूपेण (बिना प्रत्यय विशेष का आश्र-

---

अतः कहा है शास्त्र मुहूर्त्तमपि इत्यादि। भाव यह है कि दोनों स्थानों में युगपत् (एक साथ) व्यापार होता है। और वह शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः इस न्याय के बल पर।

१. अपवादे प्रतिषिद्धेऽप्युत्सर्गो न भवति यदि कहो फिर तो वृक्षौ में वृद्धि के अपवाद पूर्वसवर्ण दीर्घ के नादिचि से प्रतिषिद्ध हो जाने पर फिर वृद्धिरेचि यह उत्सर्ग कार्य नहीं होना चाहिए तो उसका उत्तर है—वहां संयोद्घौ॰, तौ सत् इत्यादि ज्ञापकों से उत्सर्ग कार्य की पुनः प्रवृत्ति हो जाएगी।

२. नान्तः पादमव्यपरे ऐसा सूत्र पाठ मानकर यह कहा है। प्रकृत्याऽन्तः पादमव्यपरे ऐसा न्यास स्वीकार करने पर तो उत्सर्ग एचोऽयवायावः और तदपवाद एङः पदान्तादति—इन दोनों की निवृत्ति प्रकृत्या—सूत्र से हो जाती है। न कि अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध।

३. भ्रष्टावसर न्याय से।

षेणोच्यते सा क्ङिति मा भूत् न्यनुवीत्[1] न्यधुवीत्[2]। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अन्तरङ्गत्वादत्रोवङ्ङादेशे[3] कृतेऽनन्त्यत्वाद्[4] वृद्धिर्न भविष्यति। यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्गं भवति—अकार्षीत् अहार्षीत्, गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। "हलन्तस्य—" इत्येवं भविष्यति। इह तर्हि न्यस्तारीत्[5] न्यदारीत्[6]। गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। ऌान्तस्य इत्येवं

यण किये), विधान की गई है, वह कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर न हो, यथा न्यनुवीत् न्यधुवीत् में नहीं होती।

यह कोई प्रयोजन नहीं।

उवङ् आदेश अन्तरङ्ग है वृद्धि बहिरङ्ग है, उवङ् आदेश हो जाने पर अङ्ग के अजन्त न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं रहती।

यदि सिच् प्रत्यय परे होने पर अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो तो अकार्षीत् अहार्षीत्—यहाँ (अन्तरङ्ग) गुण हो जाने पर रपर होने पर अच् के अनन्त्य होने से ही सिचि वृद्धि नहीं होगी।

सिचि वृद्धि मत हो हलन्तलक्षणा वृद्धि हो जाएगी।

अच्छा तो न्यस्तारीत न्यदारीत् में (अन्तरङ्ग गुण और रपरत्व होने पर अच् के अन्त्य न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति नहीं और रही हलन्तलक्षणा, उसका प्रकृत में नेटि से निषेध हो जाता है।

---

१. न्यनुवीत्—निपूर्व णू स्तवने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप।

२. न्यधुवीत्—निपूर्व धू विधूनने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप।

३. उवङ् आदेश को इडादि सिच् की ही अपेक्षा है, वृद्धि को सिच् और परस्मैपद—इन दोनों की। अतः उवङ् आदेश अल्पापेक्ष होने से अन्तरङ्ग है।

४. अनन्त्यत्वात्=अचोऽनन्त्यत्वात्। यद्यपि इक् परिभाषा की अनुपस्थिति में सिचिवृद्धि अन्त्य अल् मात्र को प्राप्त होती है, तथापि हलन्तलक्षणा वृद्धि द्वारा वाधित होने से इसका अजन्त अङ्ग ही विषय रह जाता है। अतः अन्त्य अच् के न होने से ऐसा कहा।

५. न्यस्तारीत्—निपूर्वक स्तृञ् आच्छादने का लुङ् में रूप।

६. न्यदारीत् निपूर्वक दॄ विदारणे का लुङ् में रूप।

भविष्यति। इह तर्हि अलावीत् अयावीत्[1]। गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। "ल्रान्तस्य" इत्येवं भविष्यति। "ल्रान्तस्य" इत्युच्यते, न चेदं ल्रान्तम्। "ल्रान्तस्य" इत्यत्र वकारोपि निर्दिश्यते। किं वकारो न श्रूयते। लुप्तनिर्दिष्टो वकारः। यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत्[2]। अत्रापि प्राप्नोति। अविमव्योर्नेति वक्ष्यामि। तद्वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। णिश्विभ्यां तौ निमातव्यौ[3]। यद्यप्येतदुच्यते। अथ वैतर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। गुणे कृतेऽयादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति।

सिचि वृद्धि मत हो, अतो ल्रान्तस्य (७।२।२) इससे यहाँ वृद्धि हो जाएगी। अच्छा अलावीत्, अयावीत् — यहाँ (अन्तरङ्ग) गुण होने पर अवादेश हो जाने पर अच् अन्त्य न मिलने से सिचि वृद्धि न होगी। हलन्तलक्षणा का प्रकृत में नेटि से निषेध प्राप्त है।

सिचि वृद्धि मत हो, अतो ल्रान्तस्य से यहाँ वृद्धि हो जाएगी। पर सूत्र में ल्रान्तस्य ऐसा पढ़ा है, यहाँ तो अङ्ग न लान्त है और न रान्त, किंतर्हि अवादेश हो जाने से वान्त है। व भी यहाँ निर्दिष्ट होकर पीछे लोपो व्योर्वलि से लुप्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

यदि ऐसा मानते हो तो अनिष्ट प्रसङ्ग होता है मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् यहां भी वृद्धि प्राप्त होती है।

इसके वारण के लिये अविमव्योर्न ऐसा निषेध वचन पढ़ दूँगा।

तो क्या ऐसा अपूर्व वचन पढ़ना होगा ?

नहीं, ह्म्यन्तक्षण—" (७।२।५) इत्यादि सूत्र में णि श्वि के स्थान में अव् और मव् को पढ़ दिया जायगा। यद्यपि ऐसा कहा जाय तो भी गौरव कुछ भी नहीं, परन्तु लाघव है—णि श्वि का सूत्र में प्रतिषेध नहीं करना पड़ता। अन्तरङ्ग गुण हो जाने पर अयादेश होने पर अङ्ग के यान्त होने से ही निषेध सिद्ध होगा।

---

१. अयावीत्—यु मिश्रणामिश्रणयोः आदादिक का लुङ् में रूप।

२. (अ) मवीत्—मव—बन्धने भ्वादि प० माङ् के योग से अडागम का लोप होने पर लुङ् में रूप।

३. निमातव्यौ—निपूर्वक मेङ् प्रणिदाने भौवादिकं से तव्य प्रत्यय। इस धातु का नि के बिना प्रयोग दुर्लभ है।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति[1] यदयम् "अतो हलादेर्लघोः" इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अकारग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत्—अकोषीत्[2] अमोषीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद् अकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति, ततोऽकारग्रहणं करोति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तदर्थमेतत् स्यात् न्यकुटीत् न्यपुटीत्[3]।

अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति बताती है सिच् परे रहते अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, इसी हेतु आचार्य अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) में अकार ग्रहण करते हैं।

यह ज्ञापक कैसे है ?

अकार—ग्रहण का यह प्रयोजन है—अकोषीत् अमोषीत् में वैकल्पिकी वृद्धि न हो। यदि सिच् परे रहते अन्तरङ्ग (गुण) हो तो अकार ग्रहण व्यर्थ हो जाय, गुण होने पर लघु अक्षर न होने से यह वृद्धि न होगी। पर आचार्य जानते हैं सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अकार ग्रहण करते हैं।

नहीं। यह ज्ञापक नहीं बनता। इस वचन का और प्रयोजन है।

जहां गुण का प्रतिषेध है वहां के लिए 'अतो हलादेः—' में अकार ग्रहण किया है—न्यकुटीत्, न्यपुटीत्। अच्छा तो जो णि श्वि का प्रतिषेध किया है वह इस

---

१. सिच् परे रहते अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता इस विषय में येन नाप्राप्ति न्याय ही बहुत बड़ा समर्थक है। गुण आदि की अवश्य प्राप्ति में सिचि वृद्धि का विधान किया है इस लिये वह अन्तरङ्ग गुण आदि को बाध लेगी। उसके चिरि जिरि के लुङ् में अचिरायीत्, अजिरायीत् तथा यङ्लुगन्त नेनी चची के लुङ् में अनेनायीत् अचेचायीत् ये इष्ट रूप बन जाते हैं। अन्यथा अन्तरङ्ग गुण तथा अयादेश हो कर यान्त हो जाते ह्मयन्तक्षण० से वृद्धि प्रतिषेध हो जाता तो अनिष्ट रूप प्राप्त होता।

२. अकोषीत्—कुष निष्कर्षे क्र्यादि सेट् परस्मैपदी। इसका तिप् परे लुङ् में रूप है।

३. न्यपुटीत्—निपूर्वक पुट संश्लेषणे कुटादि तुदादि सेट् परस्मैपदी इसका तिप् परे रहते लुङ् में रूप।

न्यकुटीत् न्यपुटीत्—यहां गुण वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, उससे वृद्धि

यत्तर्हि णिश्व्योः[1] प्रतिषेधं शास्ति तेन नेहान्तरङ्गमिति दर्शयति। यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेपि।

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

बात का ज्ञापक है कि सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। और जो लघु कहने पर भी उसे अ से विशिष्ट करते हैं यह भी ज्ञापक है।

(वा०) अतः यह व्यवस्थित हुआ सिचि वृद्धि इग्लक्षणा माननी चाहिए ॥

का बाध होता है, पीछे कुटादित्व रूप हेतु से गुण का निषेध होने पर भी पाक्षिकी वृद्धि नहीं होती, इसमें अतो हलादेर्लघोः में अत्–ग्रहण कारण है न कि भ्रष्टावसर न्याय जो सिद्धान्त में है ही नहीं। अतः अत् ग्रहण की ज्ञापकता सिद्ध न हुई।

१. अच्छा तो णि श्वि का जो प्रतिषेध किया है वह ज्ञापक रहेगा कि सिच् परे अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यदि हो, तो गुण होने पर यान्त होने से ही निषेध सिद्ध है। ज्ञापक होने पर उक्त निमान (परिवर्तन) का कुछ भी उपयोग नहीं। अयावीत् अलावीत्—यहां सिच्यन्तरङ्गं नास्ति इस बात के ज्ञापित हो जाने पर अन्तरङ्ग गुण न होने से अङ्ग के (ओ के स्थान में अवादेश के न होने से वान्त न होने के कारण अतो ल्रान्तस्य में वकार प्रश्लेष न करना पड़ेगा और न अव् मव् में अतिप्रसक्त वृद्धि को वारण करने के लिए अविमव्योर्न ऐसा निषेध वचन पढ़ना होगा और न हीं अपूर्ववचन करने के गौरव के परिहार के लिये ह्म्यन्त—सूत्र में णि श्वि के स्थान में अव् मव् को पढ़ने की आवश्यकता होगी।

२. निरस्त किए हुए ज्ञापक को सिंहावलोकनन्याय से पुनः स्थिर करते हैं— अतो हलादेर्लघोः में लघु ग्रहण करने पर भी जो अत् ग्रहण किया—यह ज्ञापक ही है। भाव यह है—यदि सिचि वृद्धिः—में इक् ग्रहण न हो तो अकोषीत् इत्यादि में अन्त्य अल् (व्यञ्जन) को वृद्धि प्राप्त होती है उसे रोकने के लिए बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष को लेकर जो आपने सिचि वृद्धि के अपवाद हलन्तलक्षणा वृद्धि का नेटि से निषेध होने पर भ्रष्टावसरन्याय से सिचि वृद्धि की अप्राप्ति स्वीकार की, उस रीति से न्यकुटीत् इत्यादि में भी वृद्धि की अप्राप्ति रहेगी।

३. तस्मात् अतः न्यनुवीत् इत्यादि में उवङ् को बाध कर प्राप्त हुई वृद्धि के निषेध के लिए इग्लक्षणा सिचि वृद्धि होती है, यह मानना होगा। कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर इग्लक्षणा गुणवृद्धि का निषेध हो इस लिए और अकोषीत् इत्यादि में

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वादिग्निवृत्तिः ॥

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति दधि मधु। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्।

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्—सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति।

प्रसारणे च ॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति-वाता वाता। पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात्।

(वा०) इको गुणवृद्धी इस सूत्र में (इकः) यह षष्ठी स्थानषष्ठी है अतः इक् की निवृत्ति (प्राप्त होती है)।

इकः इस षष्ठी के स्थानेयोगा षष्ठी होने से इक् मात्र का इको गुणवृद्धी से विधीयमान गुणवृद्धि रूप आदेश द्वारा निवृत्ति प्राप्त होती है।

(यदि इको गुणवृद्धी स्वतन्त्र विधि है अनियमे नियमकारिणी परिभाषा नहीं? तो मिदेर्गुणः इत्यादि से) पुनः गुण आदि विधान किस लिए किया?

(वा०) अन्यतर (दो में से एक गुण अथवा वृद्धि के लिये।) पुनः विधान रहेगा।

[इको गुणवृद्धी से पर्याय (क्रम) से प्राप्त गुण वृद्धि में से] एक के विधान के लिये पुनः विधान हो सकता है जैसे सार्वधातुकार्धधातुकयोः में सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय—रूप निमित्त होने पर गुण ही हो (वृद्धि न हो)।

(वा०) सम्प्रसारण में भी सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है। याता वाता यहाँ भी। तो वचिस्वपि— इत्यादि पुनः सम्प्रसारण–विधान किस लिये किया?

अनिक् को गुण न हो इस लिए भी सिचि वृद्धि इग्लक्षणा स्वीकार करनी चाहिये। बाध्यसामान्यचिन्ता और भ्रष्टावसर न्याय तो एकदेशी की उक्ति है सिद्धान्त नहीं॥

१. इको गुणवृद्धी यह स्वतन्त्र विधायक शास्त्र है। इको यणचि इसे अपने विषय में बाध लेगा, इससे वह शास्त्र व्यर्थ नहीं होता। इस पूर्व पक्ष का उत्थान विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान् इस न्याय के आश्रयण से होता है।

२. इग्यणः सम्प्रसारणम् में यणः को स्थानषष्ठी मान कर स्वतन्त्र विधायक

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥

विषयार्थमेतत्स्यात् वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ।

उरण् रपरे च ॥

उरण् रपरे च सर्वेषामृकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति—कर्तृ हर्तृ इति ।

सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठ्यधिकारे इमे योगाः कर्तव्याः । एकस्तावत् क्रियते तत्रैव । इमावपि योगौ षष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते । अथवा षष्ठ्यधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे । अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः—'सार्वधातुकार्ध-

---

विषय नियम (=निमित्त-नियम) के लिये हो सकता है —वचिस्वपि और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय परे होने पर ही सम्प्रसारण हो (अकित् परे रहते न हो)।

उरण् रपरः में भी (स्थानषष्ठी मान कर) ऋकार मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है । कर्तृ हर्तृ यहाँ भी ।

(वा०) षष्ठ्यधिकार में पढ़ने से इष्टसिद्धि (सर्वाक्षेप समाधान-रूप) हो जाती है ।

इन आक्षेपों का समाधान हो जाता है । कैसे ? षष्ठी स्थानेयोगा से प्रारम्भ हुए षष्ठ्यधिकार में ये सूत्र पढ़ने चाहियें । एक=उरण् रपरः का तो पहले ही इस अधिकार में पाठ किया हुआ है । इस सूत्र से पूर्व अथवा पश्चात् इको गुणवृद्धी तथा इग्यणः सम्प्रसारणम् पढ़ दिया जाएगा ।

अथवा षष्ठ्यधिकार में इन योगों (इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम्) की अपेक्षा करेंगे ।

अथवा स्वतन्त्र विधि मानने वाले से हम यह पूछते हैं—सार्वधातुकार्ध-

---

शास्त्र स्वीकार कर अर्थ होगा—यण् मात्र के स्थान में इक् हो और उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । इससे यण् मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है ।

१. उरण् रपरः—यहाँ भी ऋ के स्थान में अण् हो और वह रपर हो—यह अर्थ होगा ।

२. शास्त्रीयाधिकार में जैसे सम्बन्ध आकाङ्क्षामूलक होता है वैसे ही लौकिकाधिकार में भी, अतः शास्त्रीयाधिकार को कह कर अब लौकिक अपेक्षा-लक्षण अधिकार

धातुकयोर्गुणो भवति इतीह कस्मान्न भवति—याता वाता। इदं तत्रापेक्षिष्यते—'इको गुणवृद्धी' इति। यथैव तर्हि इदं तत्रापेक्षिष्यते एवमिहापि तदपेक्षिष्यामहे सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति॥ इको गुणवृद्धी॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकं समाप्तम्॥

धातुकयोः इस शास्त्र से जो गुण होता है वह याता वाता में क्यों नहीं होता? तुम्हारा उत्तर यही होगा न—इको गुणवृद्धी कि यहां हम इको गुणवृद्धी की अपेक्षा करेंगे (अर्थात् सार्वधातुकार्ध॰ से विहित गुण किसे हो इस अपेक्षा=आकाङ्क्षा से इको गुणवृद्धी के साथ इसकी एकवाक्यता करेंगे) इस लिये जैसे इको गुणवृद्धी इसकी सार्वधातुको॰ में अपेक्षा है ऐसे ही इस में सार्वधातुका॰ की अपेक्षा है जिससे इको गुणवृद्धी स्वतन्त्र विधि है इसका प्रत्याख्यान हो जाता है।

को कहते हैं। इसके लिए षष्ठी स्थानेयोगा को दो योगों में विभक्त कर दिया जायगा—(१) षष्ठी, (२) स्थानेयोगा। पूर्वयोग का अर्थ होगा—षष्ठ्यधिकार में जो कुछ अनुक्रम से कहा गया है वह जहां षष्ठीनिर्दिष्ट को कार्य विधान किया गया है, वहां उपस्थित हो जाता है। योग्यता के अनुसार (इष्ट और व्याख्यान से भी) इको गुणवृद्धी तथा इग्यणः सम्प्रसारणम् इन दो की ही अपेक्षा होगी, न कि अनुक्रान्त मात्र की।

१. जिस प्रकार विधि को स्थानी की अपेक्षा=आकाङ्क्षा होती है इसी प्रकार इस (इको गुणवृद्धी) को भी अपने सम्बन्धी विधेय के बोधक शास्त्र (सार्वधातुका॰) की अपेक्षा होती है॥

चतुर्थ आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में न धातुलोप आर्धधातुके ॥१।१।४॥ इस सूत्र से लेकर नाज्झलौ ॥१।१।१०॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

न धातुलोप आर्धधातुके ॥१।१।४॥

(क) सूत्र का पदकृत्य दिखा कर आर्धधातुक ग्रहण को लोप तथा गुणवृद्धि दोनों का विशेषण निर्दोष सिद्ध किया है।

(ख) सूत्र के इष्ट विषय का परिगणन करके इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए परिगणन का प्रत्याख्यान किया है।

(ग) अन्त में स्थानिवद्भाव द्वारा इष्टसिद्धि मान कर सूत्र का ही खण्डन कर दिया है।

क्ङिति च ॥१।१।५॥

(क) तन्निमित्त ग्रहण के प्रयोजन बताकर उसका खण्डन किया है।

(ख) इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए लैगवायनः, कामयते में वृद्धिनिषेध का अभाव सिद्ध किया है।

(ग) अचिनवम्, असुनवम् आदि में स्थानिवद्भाव से प्राप्त लङ् लकार का ङित्त्व मान कर उसके परे रहते ङित्कार्य का यासुट् के ङिद्वचन से निराकरण किया है।

दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर उसका सर्वथा खण्डन कर दिया है।

हलोनन्तराः संयोगः ॥१।१।७॥

(क) अनन्तराः शब्द में दोनों विग्रहों को निर्दोष सिद्ध कर हलों में प्रत्येक की संयोगसंज्ञा रोकने के लिए कहे गये 'सह' शब्द के ग्रहण को अन्यथासिद्ध दिखाया है।

(ख) केवल दो हलों के समुदाय में दो की मिली हुई एक संयोग संज्ञा मानी है, किन्तु बहुत हलों के समुदाय में दो दो की भी अलग संयोग संज्ञा स्वीकार की है और सारे समुदाय की भी।

(ग) निर्ग्लैयात् इत्यादि में समुदाय की संयोगसंज्ञा पक्ष में प्राप्त दोष का दो २ की संयोगसंज्ञा मानकर निराकरण किया है।

(घ) भिन्नजातीय को ही सर्वत्र व्यवधायक मानते हुए स्वरानन्तर्हितवचनम् इस वार्तिक का खण्डन किया है। साथ ही ग्राम शब्द के बहुत अर्थ बताये हैं।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।८॥

(क) मुखनासिकावचनः का विग्रहपूर्वक अर्थ बताकर मुख और नासिका ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

(ख) प्रासादवासिन्याय से मुख ग्रहण का खण्डन कर दिया है।

(ग) शब्दों को नित्य मानकर अनुनासिकसंज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रयदोष का समाधान किया है।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।९॥

(क) सूत्रस्थ पदों का अलग २ विग्रहपूर्वक अर्थ-निर्देश करके समस्त सूत्र का अर्थ बताया है।

(ख) आस्य शब्द के मुख और मुख में होनेवाले स्थान प्रयत्न ये दोनों अर्थ स्वीकार किये हैं।

(ग) मुख में होनेवाले आभ्यन्तर प्रयत्नों की तुल्यता में ही सवर्णसंज्ञा मानते हुए आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम् इस वार्तिककारकृत सूत्रन्यास का खण्डन किया है।

(घ) बाह्य प्रयत्न बता कर सवर्णसंज्ञा में उनकी तुल्यता को अनावश्यक माना है।

(ङ) ज ब ग ड द इन तुल्यप्रयत्न वाले भिन्नस्थान वाले वर्णों की तथा श छ, ष ठ, स थ इन तुल्यस्थान वाले भिन्न आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्णसंज्ञा रोकने के लिए तुल्यास्यप्रयत्नम् में द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास न मानकर त्रिपद बहुव्रीहि या तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहि समास स्वीकार किया है।

(च) ऋकार ऌकार की सवर्णसंज्ञा मान कर ऋति ऋ वा, ऌति ऌ वा वचनम् इन वार्तिकों का खण्डन कर दिया है।

नाज्झलौ ॥१।१।१०॥

(क) सूत्रस्थ अच् शब्द के इको यणचि इत्यादि की तरह अपने सवर्णियों का ग्राहक समझते हुए इकार का सवर्णी हल् शकार, दीर्घ ईकार की तरह अच् है ऐसा मान कर इस सूत्र से शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्तिरूप दोष

दिखाया है फिर इकार शकार के प्रयत्नभेद से या वाक्यापरिसमाप्ति न्याय द्वारा उसका समाधान करते हुए वाक्यपरिसमाप्ति का स्वरूप दिखाया है।

(ख) पक्षान्तर में शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में भी कोई हानि नहीं यह दिखाते हुए परश्शतानि कार्याणि में दो शकार हों या तीन हों श्रवण में कोई भेद नहीं पड़ता यह सिद्ध किया है।

(ग) ऊष्मों का ईषद्विवृत और स्वरों या अचों का विवृत प्रयत्न मानते हुए एक प्रकार से इस सूत्र का खण्डन भी कर दिया है।

अथ चतुर्थमाह्निकम्

न धातुलोप आर्धधातुके ॥१।१।४॥

धातुग्रहणं किमर्थम् ? ॥

इह मा भूत् । लूञ्-लविता । लवितुम् । पूञ्-पविता । पवितुम् ॥

आर्धधातुकग्रहणं किमर्थम् ? ॥

सूत्र में धातुग्रहण किस लिये किया है । क्योंकि आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय धातु से ही विहित होता है । उस के परे होने पर धातु का ही लोप समझा जायगा ।[1]

धातुग्रहण के अभाव में जिस किसी का भी लोप होने पर गुण वृद्धि का निषेध प्राप्त होगा । लविता लवितुम् । पविता पवितुम् (लूञ् पूञ् इट् तृच् , तुमुन्) यहां लूञ् पूञ् के ञकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी इस सूत्र से सार्वधातुकगुण का निषेध प्राप्त होता है वह न होवे इस लिये धातुग्रहण किया है । लूञ् पूञ् में ञकार अनुबन्ध है, धातु नहीं है । धातु तो केवल क्रियावाची होने से लू पू हैं । तृच्, तुमुन् प्रत्यय आर्धधातुक हैं । उन के परे होने पर सार्वधातुक गुण हो जाता है ।[2]

आर्धधातुकग्रहण किस लिये किया है ?

---

१. सम्पूर्ण धातु का लोप होने पर तो गुणवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं उठता जिस के लिये निषेध की आवश्यकता हो । जब धातु ही लुप्त हो गया तो गुणवृद्धि किसे करेंगे ऐसी अवस्था में यहां धातु के एकदेश अथवा अवयव में धातुशब्द लाक्षणिक माना गया है । जैसे कपड़े का कुछ हिस्सा जल जाने पर भी कपड़ा जल गया ऐसा प्रयोग होता है इसी प्रकार यहां आर्धधातुक परे रहते धातु के अवयव का लोप होने पर गुणवृद्धि का निषेध होता है । यह सूत्र का अर्थ है ।

२. यदि लोप और गुणवृद्धि दोनों जब एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हों तभी निषेध माना जाय तब तो धातुग्रहण व्यर्थ है । उसकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि लूञ् पूञ् के ञकार अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है । बिना किसी को निमित्त माने हो जाता है । तृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों के आने से पूर्व ही हो गया है इस लिये लविता, लवितुम् में गुणनिषेध न होगा । यह बात आगे स्पष्ट होगी ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥

किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम्। आर्धधातुकनिमित्ते धातुलोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति। आहोस्विद् गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम्। धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति ॥

किं चातः ? ॥

यदि लोपविशेषणम्। उपेद्धः प्रेद्धः अत्रापि प्राप्नोति। अथ

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति यहां रोरवीति (रोरूय-ईट् तिप्) इस वैदिक प्रयोग में यङ्लुगन्त रोरूय धातु के अवयव य का लोप आर्धधातुक परे होने पर नहीं हुआ बल्कि उस से परे सार्वधातुक तिप् प्रत्यय है। उस में गुणनिषेध न हो जावे इस लिए आर्धधातुकग्रहण किया है।

क्या सूत्र में यह आर्धधातुकग्रहण केवल लोप का ही विशेषण माना है, गुणवृद्धि का नहीं ? जहां आर्धधातुक को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहां प्राप्त गुणवृद्धि का यह निषेध करता है। गुणवृद्धि चाहे आर्धधातुक को निमित्त मान कर न भी हो। लोप अवश्य आर्धधातुक निमित्तक होना चाहिए ऐसा मानते हैं ? या गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकग्रहण माना है, लोप का नहीं। जहां धातुलोप होने पर आर्धधातुक को निमित्त मान कर गुणवृद्धि प्राप्त हो वहां यह गुणवृद्धि का निषेध करता है। लोप चाहे आर्धधातुकनिमित्तक न भी हो ऐसा मानते हैं ?

इससे क्या ?

यदि लोप का विशेषण आर्धधातुकग्रहण को मानते हैं तो उपेद्धः, प्रेद्धः (उप, प्र-इन्ध्-क्त) यहां भी गुणनिषेध प्राप्त होगा। क्योंकि यहां इन्ध् के नकार का लोप आर्धधातुक क्त प्रत्यय को मान कर अनिदितां हलः० सूत्र से हुआ है। परन्तु उप और इन्ध् में आद्गुणः से होने वाला गुण एकादेश आर्धधातुक को मान

---

१. रोरवीति में यङोचि च से हुआ यङ् का लुक् अनैमित्तिक है। तिप् सार्वधातुक के आने से पहले ही हो जाता है इस लिये लोप और गुण की एक आर्धधातुक निमित्तकता न होने से यह प्रयोजन भी अन्यथा सिद्ध हो जाता है।

गुणवृद्धिविशेषणम्। क्नोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति॥

यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु लोपविशेषणम्॥

कथम् उपेद्धः प्रेद्ध इति?॥

बहिरङ्गो गुणः। अन्तरङ्गः प्रतिषेधः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे॥

कर नहीं हुआ है। और यदि गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकग्रहण को मानते हैं तो क्नोपयति (क्नूयू, पुक्, णिच्, तिप्) यहां भी गुण का निषेध प्राप्त होगा। क्योंकि यहां आर्धधातुक णिच् प्रत्यय को मान कर पुगन्त गुण हुआ है किन्तु लोपो व्योर्वलि से होनेवाला क्नूय के यकार का लोप आर्धधातुक को मान कर नहीं हुआ है।

जैसी इच्छा हो वैसा मान लीजिये। आर्धधातुक को लोप का विशेषण मान लीजिये।

आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानने पर उपेद्धः, प्रेद्धः कैसे बनेंगे?

उपेद्धः, प्रेद्धः में आद्गुणः से होनेवाला गुण उप और इन्ध् इन दो पदों की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है। न धातुलोप सूत्र से होने वाला गुण का निषेध केवल इन्ध् की अपेक्षा रखने से अन्तरङ्ग है। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है इस परिभाषा के बल से बहिरङ्ग हुआ गुण असिद्ध है। निषेध सूत्र की दृष्टि में नहीं आता। यदि पहले उप और इन्ध् का सम्बन्ध करके फिर क्त प्रत्यय लावें तब यद्यपि गुण अन्तरङ्ग है और निषेध सूत्र बहिरङ्ग है तो भी हर हालत में जो भी बहिरङ्ग है उसके असिद्ध होने से दोष नहीं होगा।

---

१. यदि कहो नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः इस परिभाषा द्वारा असिद्ध परिभाषा का निषेध हो जाने से उक्त समाधान ठीक नहीं बनता तो इसका उत्तर है कि यह परिभाषा जहां दो अचों का आनन्तर्य सूत्रविहित है वहीं असिद्ध परिभाषा का निषेध करती हैं। न धातुलोप सूत्र में यह प्रवृत्त नहीं हो सकती। इको यणचि इत्यादि सूत्रों में दो अचों का अव्यवहित आश्रयण स्पष्ट निर्दिष्ट है वहीं यह परिभाषा असिद्ध परिभाषा का निषेध करेगी। जैसे अक्षद्यूः (अक्ष दिव् क्विप्) यहां दिव् के वकार के स्थान में च्छ्वोः शूड० से ऊठ् आदेश होता है वह क्विप् की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है। नाजानन्तर्ये इस परिभाषा द्वारा इको यणचि से दि के इकार को यण् करने में बहिरङ्ग होता हुआ भी ऊठ् असिद्ध नहीं होता। उपेद्धः, प्रेद्धः यहां न धातुलोप सूत्र से गुणनिषेध करने में अव्यवहित अचों का आश्रयण सूत्रोपात्त नहीं है, अतः नाजानन्तर्ये इस परिभाषा का यह सूत्र विषय नहीं है। वैसे भी आद्गुणः यह गुण इग्लक्षण नहीं है इस लिए न धातुलोप सूत्र का विषय उपेद्धः, प्रेद्धः नहीं हो सकता।

यद्येवं नार्थो धातुग्रहणेन। इह कस्मान्न भवति। लूञ् लविता। लवितुम्। पूञ्-पविता पवितुम्। आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः। न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः।

अथवा पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम्॥

ननु चोक्तं क्नोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति?

नैष दोषः। निपातनात् सिद्धम्। किं निपातनम्। चेले क्नोपेः इति॥

परिगणनं कर्तव्यम्।

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधः।

यङ्यक्क्यवलोपे प्रतिषेधो वक्तव्यः। यङ्। बेभिदिता। मरीमृजः।

यदि आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानते हैं तो सूत्र में धातुग्रहण की आवश्यकता नहीं। लविता, लवितुम्। पविता, पवितुम् यहां अकार अनुबन्ध का लोप होने पर गुणनिषेध क्यों नहीं होता? इस लिये नहीं होता कि यहां तृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों को निमित्त मान कर अनुबन्ध का लोप नहीं हुआ है। वह तो अनैमित्तिक है। आर्धधातुक के आने से पहले ही बिना किसी निमित्त को मान कर हो जाता है। आर्धधातुक को निमित्त मान कर जहां लोप होगा वहीं यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करेगा। इस लिये धातुग्रहण के अभाव में भी लविता, लवितुम् में दोष न होगा।

ठीक है। चाहे आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मान लीजिये।

क्नोपयति में जो गुणनिषेध की प्राप्ति का दोष कहा था वह आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मानने में कैसे समाहित होगा?

यह कोई दोष नहीं। क्योंकि चेले क्नोपेः इस सूत्र में क्नोपेः इस निपातन से यहां गुण सिद्ध हो जायगा। उक्त निपातन से गुण का निषेध न मान कर गुण का विधान ही स्वीकार किया जायगा।

इस सूत्र के विषय का परिगणन कर देना चाहिये कि यहां २ पर गुण-वृद्धि का निषेध होता है। यङ् यक् क्यच् और वकार के लोप में गुणवृद्धि का निषेध होता है ऐसा कहना चाहिये। बेभिदिता (बेभिद्यइट् तृच्) यहां यङन्त बेभिद्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर यस्य हलः से यङ् के यकार (समुदाय) का लोप हुआ है उसी तृच् को मान कर प्राप्त होने वाला लघूपधगुण नहीं होता। मरीमृजः (मरीमृज्य-अच्) यहां यङन्त मरीमृज्य धातु में अच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यङोचि च से यङ् का लुक् हुआ है। उसी अच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली मृजेर्वृद्धिः से वृद्धि नहीं होती। कुषुभिता (कुषुभ्य-

यक्। कुषुभिता। मगधकः। क्य। समिधिता। दृषदकः। वलोपे — जीरदानुः। किं प्रयोजनम्?

नुम्लोपस्त्रिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम्।

नुम्लोपे स्त्रिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति। नुम्लोपे। अभाजि। रागः। उपबर्हणम्। स्त्रिवेः अस्रेमाणम्। अनुबन्धलोपे—लूञ् लविता लवितुम्।

इट् तृच्) यहां कण्ड्वादियगन्त कुषुभ्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हलः से लोप हुआ है। उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण नहीं होता। मगधकः (मगध्य-ण्वुल्) यहां कण्ड्वादियगन्त मगध्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हलः से लोप हुआ है उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधावृद्धि नहीं होती। समिधिता (समिध्य-इट् तृच्) यहां इच्छा क्यजन्त समिध्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाषा से लोप हुआ है। उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होनेवाला लघूपधगुण नहीं होता। दृषदकः (दृषद्य-ण्वुल्) यहां इच्छाक्यजन्त दृषद्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाषा से लोप हुआ है। उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधा-वृद्धि नहीं होती। वलोप का उदाहरण जीरदानुः है। यहां जीव् धातु से रदानु प्रत्यय आर्धधातुक परे रहते लोपो व्योर्वलि से जीव् के वकार का लोप हुआ है। उसी रदानु को मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण नहीं होता।

इस परिगणन का क्या प्रयोजन है? यही कि नुम्लोप[1] अर्थात् नकार के लोप में, स्त्रिव धातु के वकारलोप में तथा अनुबन्ध के लोप में गुणवृद्धि का निषेध न होवे। नुम्लोप में जैसे—अभाजि। रागः। उपबर्हणम्। ये उदाहरण हैं। इन में गुणवृद्धि का निषेध नहीं हुआ। अभाजि (भञ्ज्-चिण् लुङ्) यहां चिण् को मान कर भञ्जेश्च चिणि से भञ्ज् के नकार का लोप हुआ है। उसी चिण् को मान कर उपधावृद्धि हो गई। रागः (रञ्ज्-घञ्) यहां घञ् को मान कर घञि च भाव-करणयोः से रञ्ज् के नकार का लोप हुआ है। उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि हो गई। उपबर्हणम् (उप बृह्-ल्युट्) यहां ल्युट् प्रत्यय को मान कर बृहेरच्यनिटि इस वार्तिक से बृह् के नकार का लोप हुआ है उसी ल्युट् को मान कर लघूपध गुण हो गया। स्त्रिव् का अस्रेमाणम् यह उदाहरण है। अस्त्रिव्-मनिन् यहां नञ् पूर्वक स्त्रिव् धातु से मनिन् प्रत्यय हुआ है। मनिन् प्रत्यय को मान कर लोपो व्योर्वलि से स्त्रिव् के वकार का लोप होता है। उसी मनिन् को मान कर सार्वधातुक गुण हो

---

१. प्राचीन आचार्यों के मत में नकार की नुम्संज्ञा है इसलिए नुम्लोप से तात्पर्य नकारलोप का है।

यदि परिगणनं क्रियते स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथ इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

वक्ष्यत्येतत्—निपातनात् स्यदादिषु इति।

तत्तर्हि परिगणनं कर्तव्यम्?

न कर्तव्यम्।

नुम्लोपे कस्मान्न भवति?

इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धिः।

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः। न चैषेग्लक्षणा वृद्धिः।

यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः। स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः

गया। अनुबन्ध लोप में लविता, लवितुम् ये उदाहरण हैं। यहां लूञ् के ञकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी तृच्, तुमुन् प्रत्ययों को मान कर सार्वधातुक गुण हो गया।

यदि सूत्र के विषय का परिगणन करते हैं तो स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः यहां भी उपधावृद्धि प्राप्त होती है। क्योंकि न धातुलोप सूत्र तो यङ् यक् क्य आदि परिगणित विषय में ही गुणवृद्धि का निषेध कर सकेगा। स्यदः (स्यन्द्-घञ्)। प्रश्रथः, हिमश्रथः (प्र, हिम श्रन्थ्-घञ्) यहां स्यन्द् श्रन्थ् धातुओं से घञ् हुआ है। घञ् को मान कर स्यदो जवे, अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः इन सूत्रों से नकार का लोप होता है। उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है।

इसका उत्तर निपातनात् स्यदादिषु इस वचन से आगे अभी देंगे। अर्थात् स्यदो जवे, अवोदैधौद्म० सूत्रों में स्यद आदि निपातन करने से उपधावृद्धि का अभाव समझा जायगा।

तो फिर परिगणन कर देना चाहिये?

नहीं करना चाहिये।

नकारलोप वाले अभाजि, रागः इन उदाहरणों में धातु के अवयव नकार का लोप होने पर उपधावृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता?

न धातुलोप सूत्र में इको गुणवृद्धी इस पूर्वसूत्र से इक् पद की अनुवृत्ति आती है। इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह निषेध करता है। अभाजि, रागः में उपधालक्षण वृद्धि है, इग्लक्षण नहीं तो निषेध नहीं होगा। जहां इक् शब्द से वृद्धि कह कर वृद्धि की जाती है वह इग्लक्षणा वृद्धि होती है।

यदि जहां इको गुणवृद्धी यह परिभाषा सूत्र इक् पद की उपस्थिति कराता है उस इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है अन्य का नहीं तो स्यदः,

इत्यत्र न प्राप्नोति। इह च प्राप्नोति। अवोदः एधः ओद्मः इति॥

निपातनात् स्यदादिषु।

निपातनात् स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति। न च भविष्यति॥

यदीग्लक्षणयोर्गुणवृद्धयोः प्रतिषेधः। क्निव्यनुबन्धलोपे कथम्?॥

प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः। न चैष आर्धधातुकनिमित्तो लोपः॥

यद्यार्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः। जीरदानुरित्यत्र न प्राप्नोति॥

प्रश्रथः, हिमश्रथः में उपधावृद्धि हो जानी चाहिये क्योंकि यहां इग्लक्षण वृद्धि नहीं है। न धातुलोप सूत्र से यहां निषेध नहीं प्राप्त होता। और अवोदः (अव उन्द्-घञ्)। एधः (इन्ध्-घञ्)। ओद्मः (उन्द्-मन) यहां इग्लक्षण गुणवृद्धि होने से उसका निषेध प्राप्त होता है।

स्यदः, अवोदः आदि में स्यदो जवे, अवोदैधो० इत्यादि निपातन करने से गुणवृद्धि का भाव अभाव समझा जायगा। स्यदः में इग्लक्षण न होने पर भी निपातन से वृद्धि का निषेध हो जायगा। अवोदः में इग्लक्षण होने पर भी निपातन से गुण का निषेध नहीं होगा।

यदि इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है तो क्निव् के अस्रेमाणम् में और लूञ्-लविता, लवितुम् यहां ञकार अनुबन्ध के लोप में कैसे होगा? यहां इग्लक्षण गुण होने से उसका निषेध क्यों नहीं होता?

अन्यत्र अर्थात् अस्रेमाणम् और लविता, लवितुम् में प्रत्ययाश्रय होने से आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानने से दोष न होगा। जहां आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहीं इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध होगा। अस्रेमाणम्, लविता, लवितुम् में वकार और अनुबन्ध का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है इस लिये इग्लक्षण गुण होने पर भी उसका निषेध नहीं होगा। लविता, लवितुम् में तो स्पष्ट ही ञकार अनुबन्ध का लोप अनैमित्तिक है। वह किसी निमित्त को मान कर नहीं हुआ। अस्रेमाणम् में यद्यपि मनिन् को मान कर लोपो व्योर्वलि से वकार का लोप हुआ है तो भी उसका निमित्त वल् वर्ण ही है, आर्धधातुक प्रत्यय नहीं है। इस लिये दोनों जगह गुण का निषेध नहीं होगा।

यदि आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हुए धातुलोप में इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हैं तो जीरदानुः में गुण का निषेध नहीं प्राप्त होता।

रकि ज्यः सम्प्रसारणम् ।

नैतज्जीवे रूपम् । रकि एतद् ज्यः सम्प्रसारणं भवति । यावता । यावता चेदानीं रकि जीवेरपि सिद्धं भवति ॥

कथमुपबर्हणम् ? ॥

बृहिः प्रकृत्यन्तरम् ।

कथं ज्ञायते बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति ? ॥

अचीति हि लोप उच्यते । अनजादावपि दृश्यते-निबृह्यते । अनिटीति चोच्यते । इडादावपि दृश्यते—निबर्हिता निबर्हितुम् इति ।

क्योंकि यहां भी लोपोव्योर्वलि से हुआ वकार का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है । केवल वल् वर्ण को निमित्त माना है ।

जीरदानुः को जीव् धातु से नहीं बनायेंगे। यह जीव् धातु का रूप नहीं मानेंगे। बल्कि ज्या धातु से रक् प्रत्यय करके ग्रहिज्या० से सम्प्रसारण और हलः से दीर्घ हो कर जीरः बन जायगा । उस का दानु शब्द से बहुव्रीहि समास करेंगे तो पूर्वपद-प्रकृतिस्वर हो कर जीरऽदानुः इस प्रकार अवग्रह होगा और रेफ का अकार प्रत्यय के आद्युदात्त होने से उदात्त होगा जो कि इष्ट है । सब पदपाठकारों ने यही माना है । रदानु प्रत्यय मानने में स्वर सिद्ध होने पर भी अवग्रह नहीं बनता इस लिये रदानु प्रत्यय नहीं मानेंगे। रक् प्रत्यय मानने पर न केवल ज्या से बल्कि जीव् धातु से भी जीरः बन सकेगा । लोपो व्योर्वलि से जीव के वकार का लोप होकर जीरः की सिद्धि आसान ही है । जीव् से बनाने में रक् प्रत्यय के कित् होने से क्ङिति च से ही गुण निषेध सिद्ध हो जायगा ।

उपबर्हणम् कैसे सिद्ध होगा ?। क्योंकि यहां ल्युट् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर बृंह् धातु के नकार का लोप हुआ है तो इग्लक्षण लघूपध गुण का न धातुलोप सूत्र से निषेध प्राप्त होता है ।

उपबर्हणम् में बृंह् धातु न मान कर बृह् धातु मानेंगे। क्योंकि बृह बृहि वृद्धौ इस प्रकार धातुपाठ में बृह् धातु पृथक् पढ़ा गया है । उससे ल्युट् प्रत्यय करके उपबर्हणम् बन जायगा। नकार लोप का झगड़ा ही न रहेगा। बृंहेरच्यनिटि इस वार्तिक की भी आवश्यकता न होगी।

कैसे जानें कि बृंह् से पृथक् बृह् धातु भी है ?

बृंहेरच्यनिटि इस वार्तिक से अजादि प्रत्यय परे रहते लोप कहा है किन्तु अजादि परे न होने पर भी नकार का लोप दीखता है जैसे—निबृह्यते। यहां अजादिभिन्न यक् प्रत्यय परे होने पर नकार नहीं दीखता। इडादिभिन्न प्रत्यय परे रहते लोप कहा है किन्तु इडादि प्रत्यय परे रहने पर भी नकारलोप दीखता है । जैसे—निबर्हिता । निबर्हितुम् । यहां इडादि तृच् परे रहते नकार नहीं दीखता।

अजादावपि न दृश्यते—बृंहयति। बृंहकः। तस्मान्नार्थः परिगणनेन॥

यदि परिगणनं न क्रियते। भेद्यते छेद्यते अत्रापि प्राप्नोति॥

नैष दोषः। धातुलोप इति नैवं विज्ञायते-धातोर्लोपो धातुलोपो धातुलोपे इति। कथं तर्हि? धातोर्लोपो यस्मिंस्तदिदं धातुलोपं धातुलोपे इति। तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः॥

यदि तर्हीग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। पापचकः। पापठकः।

अजादि परे रहते भी लोप नहीं दीखता। जैसे—बृंहयति (बृंह् णिच्) बृंहकः (बृंह् ण्वुल्)। इस से सिद्ध होता है कि बृह बृंह् दो धातु पृथक् २ हैं। जहां नकार नहीं सुनाई देता वहां बृह् धातु मानी जाएगी तो उपबर्हणम् यह बृह्धातु से ही बन जायगा। इस लिये परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं। जो यङ् यक् क्यवलोप० इस परिगणन के व्यावर्त्य थे वे सब अन्यथासिद्ध कर दिये गये हैं।

यदि परिगणन नहीं करते हैं तो भेद्यते छेद्यते यहां भी लघूपध गुण का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है। क्योंकि (भिद्-णिच्-यक्-त) इस अवस्था में यक् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर णेरनिटि से धातु के अवयव णि का लोप हुआ है और णित्र प्रत्यय को मान कर लघूपध गुण हुआ है।

यह कोई दोष नहीं। धातुलोप शब्द में धातोर्लोपः धातुलोपः इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं माना जाता बल्कि धातोर्लोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम् इस प्रकार बहुव्रीहि समास माना जाता है। उस से लोप और गुणवृद्धि दोनों के एक ही आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त होने पर गुणवृद्धि का निषेध होगा। भेद्यते में लोप तो यक् को मानकर हुआ है और लघूपधगुण णिच् को मान कर हुआ है। दोनों का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त नहीं है, भिन्न २ है इस लिये यहां गुण का निषेध नहीं होगा।

इस प्रकार एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहां धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वहीं यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है अन्यत्र नहीं यह स्थित हो गया। तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः कहते हुए भाष्यकार ने इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह सूत्र निषेध करता है इस बात को स्पष्ट पुष्ट कर दिया है।

यदि एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहां धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हों वहीं यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है तो पापचकः (पापच्य-ण्वुल्)। पापठकः (पापठ्य-ण्वुल्)। मगधकः (मगध्य-ण्वुल्)। दृषदकः (दृषद्य-ण्वुल्) यहां इग्लक्षण गुणवृद्धि न होने

मगधकः । दृषद्कः । अत्र न प्राप्नोति ॥

अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् ।

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः ॥

अनारम्भो वा

कथं वेभिदिता । मरीमृजकः । कुषुभिता । मगधकः । समिधिता इति ? ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । क्व च

से उपधावृद्धि का निषेध नहीं प्राप्त होता । उक्त स्थलों में एक ही ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर धातु के अवयव यङ् और यक् के अकार यकार का अतो लोपः, यस्य हलः से लोप हुआ है। उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

पापचकः आदि में अकारलोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होगी । अचः परस्मिन् पूर्वविधौ सूत्र से पर ण्वुल् प्रत्यय को निमित्त मान कर अतो लोपः से हुआ यङ् के अकार का लोप पूर्वविधि करने में स्थानिवत् हो जायगा तो धातुस्थ अकार के उपधा में न रहने से वृद्धि न होगी ।

इस सूत्र का आरम्भ न करना भी ठीक है । अर्थात् यदि यह सूत्र न बनाया जाय तो भी कोई हानि नहीं । इसके सब प्रयोजन अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं ।

इस सूत्र के अभाव में वेभिदिता, मरीमृजकः, कुषुभिता, मगधकः, समिधिता ये कैसे बनेंगे ?

इन सब में भी यङ् , यक्, क्यच् के अकार का लोप अचः परस्मिन् सूत्र से स्थानिवत् मान लेंगे तो गुणवृद्धि न होंगे ।

जहां स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता वहां गुणवृद्धि रोकने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है । स्थानिवद्भाव कहां नहीं हो सकता ? जहां हल् और अच् दोनों के स्थान में आदेश हुआ है जैसे—लोलुवः । (लोलूय-अच्) । पोपुवः (पोपूय-अच्) । मरीमृजः (मरीमृज्य-अच्) । सरीसृपः (सरीसृप्य-अच्) । यहां लोलूय आदि यङन्त धातुओं में यङोचि च से यङ् का लुक् होता है । वह हल् और अच् दोनों के स्थान में

स्थानिवद्भावो नास्ति । यत्र हलचोरादेशः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । सरीसृप इति ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

लुकि कृते न प्राप्नोति ।

इदमिह सम्प्रधार्यं लुक् क्रियतामल्लोपो वेति। किमत्र कर्तव्यम् । परत्वादल्लोपः ।

नित्यो लुक् । कृतेप्यल्लोपे प्राप्नोति अकृतेपि प्राप्नोति ।

लुगप्यनित्यः । कथम् । अन्यस्य कृते लोपे प्राप्नोति, अन्यस्याकृते । शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति ॥

आदेश है। उसमें अचः परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि अचः परस्मिन् सूत्र तो केवल अच् के स्थान में हुए आदेश को ही स्थानिवत् करता है। इस लिए लोलुवः आदि में गुणवृद्धि रोकने के लिए न धातुलोप सूत्र की आवश्यकता है ।

यहां भी यङ् के अकार का लोप अतो लोपः से करके अवशिष्ट य् का यङोचि च से लुक् कर देंगे । उसमें अकारलोप के अचः परस्मिन् से स्थानिवत् होने से गुणवृद्धि न होंगे ।

पहले यङोचि च से यङ् का लुक् होने पर अतो लोपः से अकारलोप प्राप्त ही नहीं तो कैसा स्थानिवद्भाव ? और उससे गुणवृद्धि का प्रतिषेध ?

यहां यह विचारना चाहिए कि पहले यङोचि च से यङ् का लुक् करें या अतोलोपः से अकार का लोप ? । क्या करना चाहिए ? यङोचि च की अपेक्षा अतो लोपः सूत्र के पर होने से विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियम से पहले अकार का लोप करना चाहिए ।

लुक् नित्य है । अकार का लोप करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी।

लुक् अनित्य भी है । क्योंकि अतो लोपः के लगने पर केवल य् को प्राप्त होता है और उसके न लगने पर पूरे य शब्द को प्राप्त होता है । यह नियम है कि जो विधि शब्दान्तर को प्राप्त होती है अर्थात् पहले किसी और शब्द को, बाद में किसी और शब्द को वह अनित्य होती है । इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला लुक् अनित्य ठहरता है ।

अनवकाशस्तर्हि लुक्।

सावकाशो लुक्।

कोऽवकाशः ?

अवशिष्टः। अथापि कथंचिदनवकाशो लुक् स्यादेवमपि न दोषः। अल्लोपे योगविभागः करिष्यते। अतो लोपः। ततो यस्य। यस्य च लोपो भवति। अत इत्येव। किमर्थमिदम्। लुकं वक्ष्यति तद्बाधनार्थम्। ततो हलः। हल उत्तरस्य यस्य च लोपो भवति॥

इह तर्हि परत्वाद् योगविभागाद्वा लोपो लुकं बाधेत। कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्। (ऋ० १,७९,२) नोनूयतेर्नोनाव।

समानाश्रयो लुक् लोपेन बाध्यते। कश्च समानाश्रयः। यः

अच्छा तो लुक् अनवकाश है। अर्थात् अतो लोपः के लगने पर लुक् को लगने का कहीं अवकाश नहीं।

लुक् सावकाश है। लोप के लगने पर भी लुक् को अवकाश है।

क्या अवकाश है ?

बाकी बचा य् शब्द लुक् का अवकाश है। अकार लोप होने पर शेष य् का लुक् हो सकता है। यदि किसी प्रकार लुक् को अनवकाश मान भी लें तो भी दोष नहीं। क्योंकि अकार लोप के करने में योगविभाग कर लिया जायगा। जैसे अतो लोपः यह तो है ही। इसके बाद यस्य हलः इस सूत्र का योगविभाग करके यस्य और हलः ये दो सूत्र बना देंगे। यस्य सूत्र में अतः की अनुवृत्ति लायेंगे तो अर्थ होगा—यकार के अकार का लोप होता है आर्धधातुक में। आगे हलः इस सूत्र में यस्य की अनुवृत्ति रहेगी। यस्य यह नया बनाया हुआ सूत्र किस लिए होगा ? इस लिए कि यङोचि च से जो सीधा य शब्द का लुक् प्राप्त होता है उसे बाध ले। इस प्रकार विशेष यत्न करके लोलुवः आदि में भी अकारलोप ही करेंगे और उसे स्थानिवत् मान कर गुणवृद्धि रोक लेंगे। इस सूत्र की आवश्यकता नहीं।

यूं तो कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् इस ऋग्वेदीय मन्त्र के नोनाव इस यङन्त नोनूय धातु के लिङन्त प्रयोग में भी अकार का लोप पर होने से या योगविभाग के सामर्थ्य से यङोचि च से प्राप्त लुक् को बाध लेवे और उसके स्थानिवत् होने से अचोञ्णिति वृद्धि नहीं होनी चाहिए ?

समानाश्रया अर्थात् समान निमित्त वाला लोप लुक् का बाधक होगा। लोलुवः आदि में अच् प्रत्यय दोनों का समान निमित्त है। नोनाव में तो लिट्

प्रत्ययाश्रयः। अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग् भवति।

कथं स्यदः प्रश्रथः हिमश्रथः। जीरदानुः। निकुचितः इति।

उक्तं शेषे।

किमुक्तम्। निपातनात् स्यदादिषु। प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्। रकि ज्यः सम्प्रसारणम्। निकुचितेऽप्युक्तम्। "संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति।

प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व ही यङोचि च से यङ् का लुक् हो जाता है। उस सूत्र में चकार ग्रहण का प्रयोजन यही है कि बिना निमित्त के भी सर्वप्रथम यङ् का लुक् हो जावे।

इस सूत्र के अभाव में स्यदः, प्रश्रथः आदि कैसे बनेंगे?

स्यदः प्रश्रथः जीरदानुः आदि शेष सब प्रयोगों के विषय में पहले उत्तर दिया जा चुका है। क्या? निपातनात् स्यदादिषु। प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम्। रकि ज्यः सम्प्रसारणम् इत्यादि। निकुचितः के विषय में भी समाधान कहा गया है। क्या? संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य इस परिभाषा से निकुचितः में दोष नहीं होगा। संनिपात परिभाषा का अर्थ है—जो दो के परस्पर संनिपात =सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाली विधि का हेतु नहीं बन सकता। जो जिससे बने वह उसी का विघात नहीं कर सकता। निकुचितः (निकुञ्च्-इट् क्त) में जिस सेट् क्त प्रत्यय के कित्त्व के कारण कुञ्च् धातु के नकार का अनिदितां० से लोप होकर वह उदुपध बना है। उदुपध अर्थात् ह्रस्व उकार उपधावाला होकर वह कुञ्च् (कुच्) धातु उदुपधाद् भावादिकर्मणोः० सूत्र द्वारा क्त प्रत्यय के कित्त्व सम्बन्ध को नष्ट करने में हेतु नहीं बनेगा। अर्थात् क्त प्रत्यय में कित्त्व का निषेध न होकर कित्त्व ही रहेगा तो क्ङिति च सूत्र से लघूपध गुण का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाएगा। उसके लिए न धातुलोप सूत्र द्वारा गुण-निषेध करने की आवश्यकता नहीं है।[1]

---

१. इस प्रकार सब प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध करके भाष्यकार तथा वार्तिककार ने न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। अन्त में प्रदीपकार कैयट लिखते हैं कि यदि सर्वत्र यङन्त में यङोचि च से यङ् का लुक् न मान कर यस्य इस सूत्र से यङ् के अकार का लोप कर उसे स्थानिवत् मानेंगे तो जङ्गमः (जङ्गम्य-अच्) यहां यङन्त जंगम्य धातु के अवयव यङ् के अकारलोप को स्थानिवत् मानने से गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि सूत्र से गम् की उपधा का लोप प्राप्त होता है इस शङ्का का समाधान भी वे साथ ही कर देते हैं कि स्थानिवत् होकर अङ् पर हो जाएगा तो अनङि यह निषेध होकर उपधालोप न होगा।

क्ङिति च ॥१।१।५॥

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् ॥

क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम्। क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम्।

उपधारोरवीत्यर्थम् ।

उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च। उपधार्थं तावद्। भिन्नः। भिन्नवान् इति। किं पुनः कारणं न सिध्यति। क्ङितीत्युच्यते तेन यत्र क्ङित्यनन्तरो गुणो भाव्यस्ति तत्रैव स्यात्। चितम्। स्तुतम्। इह तु न स्याद् भिन्नः, भिन्नवान् इति ॥

क्ङिति च सूत्र से गुणवृद्धि का निषेध करने में तन्निमित्त ग्रहण करना चाहिये अर्थात् उस कित्, गित्, ङित् प्रत्यय को निमित्त मान कर जो इग्लक्षण गुण और वृद्धि प्राप्त हों उनका निषेध होता है ऐसा कहना चाहिये। (अन्यथा क्ङिति यह सप्तमी परसप्तमी या सत्सप्तमी भी संभव है—क्ङिति परतः क्ङिति सति वा। परसप्तमी मानने पर अर्थ होगा कित्, गित्, ङित् प्रत्यय परे रहते जो इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हों वे न होवें। और सत्सप्तमी मानने पर अर्थ होगा—कित्, गित्, ङित् की विद्यमानता में जो इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हों वे न होवें। निमित्त ग्रहण करने पर यह निमित्त-सप्तमी बन जायगी तो अर्थ होगा—कित्, गित्, ङित् को निमित्त मान कर जो इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हों वे ना होवें।

निमित्तग्रहण का क्या प्रयोजन होगा? यही कि उपधा में गुण का निषेध हो जायगा और रोरवीति (रोरूय-लट् ईट् तिप्) यहां यङ्लुगन्त रु धातु में गुण निषेध न होगा। उपधा मे जैसे—भिन्नः, भिन्नवान् (भिद्—क्त, क्तवतु) यहां भिद् धातु की उपधा मे लघु इकार है। उस से परे क्त, क्तवतु प्रत्यय कित् हैं। उनको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले पुगन्तलघूपधस्य च इस लघूपध गुण का इस सूत्र से निषेध हो जाता है। क्या कारण है जो उपधा में गुण निषेध सिद्ध नहीं होता? यदि तन्निमित्त ग्रहण न करें तो क्ङिति यह सप्तमी परसप्तमी समझी जायगी उस अवस्था में तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य इस परिभाषा बल से जहां कित्, गित्, ङित् प्रत्यय परे रहते अनन्तर अर्थात् व्यवधानरहित सीधा इक् होगा, वहीं इस सूत्र से गुण का निषेध हो सकेगा। जैसे चितम्, स्तुतम् यहां चि स्तु धातुओं के इकार उकार से सीधा परे क्त प्रत्यय कित् है इस लिये यहाँ ही इस सूत्र से गुण निषेध होगा। भिन्नः, भिन्नवान्

ननु च यस्य गुण उच्यते तं क्ङित्परत्वेन विशेषयिष्यामः । पुगन्तलघूपधस्याङ्गस्य गुण उच्यते तच्चात्र क्ङित्परम् ॥

पुगन्तलघूपधस्येति नैवं विज्ञायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति । कथं तर्हि । पुकि अन्तः पुगन्तः । लघ्वी उपधा लघूपधा पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधं पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत—भिनत्ति छिनत्ति इति ।

रोरवीत्यर्थं च । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।

में भिद् के दकार का व्यवधान होने से निषेध प्राप्त नहीं हो सकेगा । निमित्तग्रहण करने पर तो व्यवधान होने पर भी निषेध सिद्ध हो जायगा । क्यों कि भिन्नः, भिन्नवान् में क्त क्तवतु को निमित्त मान कर गुण प्राप्त होता है वह व्यवधान में भी संभव है ।

परसप्तमी मानने में भी दोष नहीं है क्योंकि जिसको गुण कहा है उसका ही विशेषण कित्, गित्, ङित् को बनायेंगे अन्य का नहीं । जैसे पुगन्त० सूत्र में लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण कहा है उपधा को नहीं, इस लिये लघु उपधा वाले अङ्ग से सीधे परे कित् गित् ङित् होने चाहियें ऐसा मानेंगे और वे भिन्नः, भिन्नवान् में हैं ही । भिद् यह लघु उपधा वाला अङ्ग है उससे सीधा परे क्त क्तवतु प्रत्यय कित् हैं इसलिये इस सूत्र से गुण निषेध हो जायगा ।

पुगन्त० सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि—पुक् है अन्त में जिसके उस अङ्ग को और लघु है उपधा में जिसके उस अङ्ग को गुण हो, बल्कि यह अर्थ है—पुक् परे रहते जो अन्तिम अक्षर है उसको और लघु जो उपधा है उसको गुण हो । उक्त सूत्र का ऐसा ही अर्थ मानना भी चाहिये । अन्यथा यदि लघु उपधा को गुण न मान कर लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण मानेंगे तो भिनत्ति, छिनत्ति (भिद् छिद् श्नम्-तिप्) यहां श्नम् विकरणविशिष्ट भिनद् छिनद् अङ्ग भी लघु अकार उपधा वाले होने से यहां भी भेनत्ति छेनत्ति इस प्रकार लघूपध गुण होकर अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा ।

रोरवीति के लिए भी निमित्तग्रहण करना चाहिये । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति इस वेद-मन्त्र के रोरवीति प्रयोग में इस सूत्र से गुणनिषेध न होवे । रोरवीति (रोरूय-लट् ईट् तिप्) में ङित् यङ् प्रत्यय का यङोचि च से लुक् हुआ है । वह प्रत्यय लक्षण से विद्यमान है । उसकी विद्यमानता में इस सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । निमित्तग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहता क्योंकि सार्वधातुक

यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते, शचङन्ते दोषः। रियति पियति धियति। प्रादुद्रुवत्। प्रासुस्रुवत्। अत्र न प्राप्नोति।

शचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् सिद्धम्।

अन्तरङ्गलक्षणत्वादियङुवङोः कृतयोरनुपधात्वाद् गुणो न भविष्यति। एवं क्रियेत चेदं तन्निमित्तग्रहणं न च कश्चिद्दोषो भवति।

गुण का निमित्त यङ् प्रत्यय नहीं है बल्कि तिप् है। वह ङित् नहीं है अतः यहां गुण का निषेध नहीं हो सकता।

यदि इस सूत्र में निमित्तग्रहण करते हैं तो श और चङ्विकरणान्त प्रयोगों में दोष होगा। रियति, पियति, धियति (रि पि धि-शतिप्) यहां तुदादिगणीय रि, पि, धि धातुओं से तिप् प्रत्यय परे रहते श विकरण हुआ है। तिप् परे रहते रि अ, पि अ, धि अ इतना अङ्ग है। और श परे रहते रि, पि, धि अङ्ग हैं। श प्रत्यय सार्वधातुकमपित् से ङित् है। अतः उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होने पर भी तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण कैसे रुकेगा? वह निमित्त ग्रहण करने पर भी नहीं रुक सकता। क्ङिति यह सत्सप्तमी मानने पर तो यहां लघूपध गुण का निषेध हो सकता है। क्योंकि श प्रत्यय ङित् विद्यमान है। उसकी विद्यामानता में गुण का निषेध हो जायगा। चाहे उसे निमित्त मान कर गुण प्राप्त हो या न मान कर। निमित्तग्रहण के अभाव में हम क्ङिति इस सप्तमी को किसी भी अर्थ में ले सकते हैं। किन्तु निमित्तग्रहण करने पर वैसा नहीं हो सकता अतः यहां गुणनिषेध का उपाय सोचना होगा। इसी प्रकार प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् (प्र द्रु स्रु चङ्-लुङ् तिप्) यहां प्रपूर्वक द्रु स्रु धातुओं से लुङ् में तिप् परे रहते चङ् विकरण हुआ है। तिप् परे रहते द्रु अ, स्रु अ अङ्ग हैं। चङ् परे रहते केवल द्रु, स्रु। चङ् ङित् है उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले सार्वधातुक गुण का इससे निषेध होने पर भी तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपधगुण कैसे रुकेगा। निमित्तग्रहण करने पर भी यह सूत्र गुण का निषेध नहीं कर सकता।

निमित्त ग्रहण करने में जो श और चङ् विकरणान्तों का दोष कहा वह कोई दोष नहीं। क्योंकि यहां रियति, पियति इत्यादि में लघूपध गुण की अपेक्षा इयङ् उवङ् के अन्तरङ्ग होने से गुण को बाधकर पहले अचि श्नुधातु॰ सूत्र से इयङ् उवङ् हो जायेंगे फिर लघु उपधा के न रहने से गुण की प्राप्ति ही नहीं रहती। रियति आदि में लघूपध गुण तिप् को मान कर प्राप्त है वह बहिर्वर्ती होने से बहिरङ्ग है। और इयङ् उवङ् केवल चङ् के अकार को मान कर प्राप्त हैं वे अन्तर्वर्ती होने से

इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि—हतो हथः। उपोयते। औयत। लौयमानिः। पौयमानिः। नेनिक्ते इति॥

अन्तरङ्ग है। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा बल से अन्तरङ्ग कार्य में वहिरङ्ग असिद्ध होता है अतः पहले इयङ् उवङ् ही हो जायेंगे फिर गुण न होगा। इस प्रकार निमित्तग्रहण करने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता। वल्कि निमित्तग्रहण के ये भी बहुत से प्रयोजन हैं—हतः, हथः। उपोयते। औयत। लौयमानिः। पौयमानिः। नेनिक्ते॥ हतः, हथः (हन्–लट् तस् थस्) यहां अदादिगणीय हन् धातु से लट् लकार में तस् थस् प्रत्यय परे रहते शप् का लुक् हुआ है। तस्, थस् प्रत्यय सार्वधातुकमपित् से ङित् हैं। यदि सूत्र में निमित्तग्रहण नहीं करते हैं तो तस्, थस् के ङित् होने से उन की विद्यमानता में हन् के गुणसंज्ञक अकार का अभाव हो जाना चाहिये। उस अवस्था में क्ङिति यह सत्सप्तमी मान कर सूत्र का अर्थ होगा कित् गित् ङित् की विद्यमानता में गुण वृद्धि नहीं रहते। हन् में अकार गुण है वह नहीं रहना चाहिए। निमित्तग्रहण करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यहां तस्, थस् को निमित्त मान कर हन् को अकार गुण नहीं हुआ है। वह तो पूर्व से ही धातु में विद्यमान है। उपोयते (उप-ऊयते) यहां उपपूर्वक वेञ् धातु से कर्मवाच्य के लट् लकार में यक् परे रहते वेञ् को सम्प्रसारण और दीर्घ होकर उप के साथ ऊ का आद्गुणः से ओकाररूप गुण एकादेश हुआ है। औयत यहां वेञ् धातु को लङ् लकार के कर्मवाच्य में यक् परे रहते सम्प्रसारण और दीर्घ होकर आटश्च से आडागम के साथ ऊ को औ वृद्धि एकादेश हुआ है। निमित्तग्रहण न करने पर क्ङिति यह सत्सप्तमी मानी जाएगी। यहां यक् प्रत्यय कित् विद्यमान है। उसकी विद्यमानता में इस सूत्र से ओ औ में गुणवृद्धि न रहने चाहियें। निमित्तग्रहण करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यहां ओ औ ये गुणवृद्धि कित् यक् प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुए हैं इस लिए उनका निषेध नहीं होगा।

लौयमानिः, पौयमानिः (लूयमानस्यापत्यम्, पूयमानस्यापत्यम्) यहां लूयमान पूयमान शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय हुआ है। उसको निमित्त मान कर तद्धितेष्वचामादेः से आदि वृद्धि औकार हुई है। लूयमान पूयमान में कित् यक् प्रत्यय के विद्यमान होने पर भी इस सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि वह यक् को निमित्त मान कर नहीं हुई बल्कि इञ् प्रत्यय को निमित्त मान कर हुई है। नेनिक्ते (निज्-लट् त) यहां निज् धातु से परे लट् लकार में त प्रत्यय ङित् है। उसके परे रहते जुहोत्यादिभ्यः श्लुः से शप् को श्लु होकर श्लौ से निज् को द्वित्व हुआ है। श्लुविषय में अभ्यास के निज् शब्द का निजां त्रयाणां गुणः श्लौ

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। इह तावत् हतो हथ इति प्रसक्तस्यानभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। अयं च धातूपदेशावस्थायामेवाकारः। इह चोपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिः इति। वहिरङ्गे गुणवृद्धी। अन्तरङ्गः प्रतिषेधः। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे। नेनिक्ते इति परेण रूपेण व्यवहितत्वान्न भविष्यति।

उपधार्थेन तावन्नार्थः। धातोरिति वर्तते। धातुं क्ङित्परत्वेन

से गुण होता है। उस अभ्यास के गुण का इस सूत्र से निषेध नहीं होता क्योंकि वह ङित् तप्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है।

निमित्तग्रहण करने के हतः, हथः इत्यादि कोई प्रयोजन नहीं। हतः हथः में तो हन् धातु को उपदेशावस्था में पहले ही अकार विद्यमान है उसका निषेध यह सूत्र नहीं कर सकता। क्योंकि जो कार्य प्रसक्त अर्थात् किसी से प्राप्त नहीं हो और अनभिनिर्वृत्त अर्थात् अभी हुआ न हो उसी को निषेध द्वारा रोका जा सकता है। हतः, हथः में अकारगुण धातु में पूर्व से विद्यमान है किसी से प्राप्त नहीं है अतः उसका निषेध इस सूत्र से नहीं हो सकता। उपोयते आदि में गुणवृद्धि बहिरङ्ग हैं। उनका निषेध अन्तरङ्ग है। उपोयते में उप और ऊयते इन दो पदों का आश्रयण करने से ओकार गुण बहिरङ्ग है। निषेध केवल ऊयते इस एकपदस्थ यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है। औयत में आ और ऊ इन दो का आश्रयण करने से औकार वृद्धि बहिरङ्ग है। इसी प्रकार लौयमानिः, पौयमानिः में यक् से परवर्ती इञ् प्रत्यय का आश्रयण करने से वृद्धि बहिरङ्ग है। निषेध केवल यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषाबल से निषेध करने में गुणवृद्धि असिद्ध रहेंगे तो निषेध किस का होगा। नेनिक्ते में भी अभ्यास के निज् शब्द को जो गुण हुआ है उस का निषेध नहीं होगा क्योंकि ङित् तप्रत्यय के परे रहते पररूप अर्थात् दूसरा अङ्गसंज्ञक जो निज् शब्द है उसका व्यवधान है। व्यवधान होने से निषेध न होगा। अभ्यास को गुण कहा गया है उस से सीधा परे तप्रत्यय नहीं है। सत्सप्तमी मानने पर भी यहां श्लुविषयक गुण का निषेध नहीं होगा क्योंकि तप्रत्यय और अभ्यास दोनों के मध्य में दूसरे निज् शब्द का व्यवधान है। हां, तप्रत्यय के निकटवर्ती अङ्गसंज्ञक निज् शब्द को जो उपधा गुण प्राप्त होता है उसका तो निषेध होगा ही।

वस्तुतः उपधा के लिये भी निमित्तग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। क्ङिति च सूत्र में न धातु लोप आर्धधातुके इस पूर्वसूत्र से धातु की अनुवृत्ति आ

विशेषयिष्यामः। यदि धातुर्विशेष्यते विकरणस्य न प्राप्नोति। चिनुतः। सुनुतः। लुनीतः पुनीतः इति। नैष दोषः। विहितविशेषणं धातुग्रहणम्। धातोर्यो विहित इति। धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति। नैवं विज्ञायते धातोर्विहितस्य क्ङितीति। कथं तर्हि, धातोर्विहिते क्ङितीति।

अथवा

कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्।

यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति क्ङिति नेति॥

ही रही है। कित् गित् ङित् को उस धातु का विशेषण बनायेंगे अर्थात् क्ङित् परे रहते जो धातु उसके इक् को गुणवृद्धि नहीं होते ऐसा अर्थ करेंगे तो भिन्नः, भिन्नवान् में क्त क्तवतु इन कित् प्रत्ययों के इसी प्रकार चिनुतः, सुनुतः में ङित् श्नु से अव्यवहितपूर्व चि, सु के इक् को गुण नहीं होता। परे रहते भिद् धातु है ही, उसके इक् को गुणनिषेध सिद्ध हो जायगा। क्ङित् को धातु का विशेषण मानने पर चिनुतः, सुनुतः (चि सु-श्नु-तस्) लुनीतः, पुनीतः (लू-पू, श्ना-तस्) यहां ङित् तस् प्रत्यय के परे रहते चिनु, लुनी आदि में श्नु, श्ना विकरण हैं, धातु नहीं है इस लिये विकरण को गुणनिषेध नहीं हो सकेगा सो कोई दोष नहीं। क्योंकि धातु को विहित का विशेषण बनायेंगे। अर्थ होगा—धातु से जो विहित है उसे गुणवृद्धि नहीं होते क्ङित् प्रत्यय परे होने पर। श्नु श्ना धातु से विहित है अतः इन्हें गुण नहीं होगा। पर विहित विशेषण मानने से धातु को ही गुण निषेध प्राप्त नहीं होगा यह दोष आता है। नहीं। धातु से जो विहित उसको गुणवृद्धि का निषेध होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि धातु से विहित (विधान किया हुआ) जो क्ङित् प्रत्यय उस के परे रहते (चाहे वह धातु हो चाहे विकरण दोनों को ही) गुणवृद्धि नहीं होते। तब चिनुतः, लुनीतः में धातु के साथ विकरण को भी गुणनिषेध सिद्ध हो जायगा। क्योंकि धातु से विहित श्नु श्ना ये विकरण भी ङित् हैं। इस प्रकार क्ङित् परे रहते न केवल धातु को ही बल्कि धातु से विहित क्ङित् विकरण को भी गुण वृद्धि नहीं होंगे।

अथवा कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस नियम से काम हो जायगा। इस नियम का अर्थ है—संज्ञा और परिभाषा का जहां काम पड़े वहीं उन की उपस्थिति मानी जाती है। इस लिये पुगन्तलघूपधस्य इस सूत्र में क्ङिति च यह सूत्र परिभाषारूप बना हुआ उपस्थित होगा तो उस समय सूत्र का अर्थ होगा—पुगन्त को और अङ्ग की लघु उपधा इक् को क्ङित् परे रहते गुण नहीं होता। तब भिन्नः, भिन्नवान् में

अथवा यदेतस्मिन् योगे क्ङिद्ग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाशत्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः॥

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध इति। यदयं त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः। इको झल्, हलन्ताच्चेति क्नुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। कित्करणस्यैतत्प्रयोजनम्।

भिद् के दकार का व्यवधान होने पर भी येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेपि वचनप्रामाण्यात् इस न्यायबल से गुण निषेध सिद्ध हो जायगा। इस न्याय का अर्थ है जिस विधि में एक अक्षर का व्यवधान सर्वथा अनिवार्य है, जो किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता वहां उस विधिवचन के प्रमाण से (विधिवचन की सार्थकता के लिये एक के व्यवधान में भी कार्य हो जाता है। न व्यवधानम्=अव्यवधानम्। न अव्यवधानं नाव्यवधानम् अर्थात् अवश्य होनेवाला व्यवधान। क्योंकि क्ङित् परे रहते सर्वथा व्यवधान रहित लघु उपधा इक् का मिलना असंभव है। एक अक्षर के व्यवधान से तो उपधा ही बनती है इसलिये पुगन्त सूत्र के वचनप्रमाण के आधार पर जरूरी होने से केवल एक अक्षर दकार का व्यवधान सह्य होगा। वहां व्यवधान होने पर भी गुण का निषेध माना जायगा।

अथवा पुगन्त० सूत्र में उपस्थित हुआ क्ङिति च यह निषेध सूत्र अनवकाश है। अनवकाश होने से गुणवृद्धि न होंगे। अर्थात् क्ङिति च यह सूत्र गुणविधि-होने से प्रधानविधि पुगन्त० सूत्र को निश्चित विषय के परिष्कार के लिये अपने अनुरूप बनायेगा तो पुगन्त सूत्र वाला यह सूत्र अन्य प्रधान विधि सम्बद्ध क्ङिति च सूत्रों से भिन्न हो जायगा। पुगन्त सूत्र के लक्ष्यों में व्यवधान के कारण अप्रवृत्ति से यह अवकाश रहित बन जायगा। क्योंकि क्ङित् परे रहते अव्यवहित लघु उपधा इक् कदापि कहीं नहीं मिल सकता जहां यह साक्षात् निषेध कर सके। उस अवस्था में अवकाशशून्य होने से यह सूत्र भिन्नः, भिन्नवान् इत्यादि व्यवहित स्थलों में भी प्रवृत्त हो जायगा। अन्यथा उपधागुण के विषय में कहीं निषेध न कर सकने से यह उस अंश में व्यर्थ होगा।

अथवा आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उपधालक्षण गुण का भी इस सूत्र से निषेध होता है। जो त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः इस सूत्र में क्नु प्रत्यय को तथा इको झल् के बाद हलन्ताच्च इस सूत्र से सन् को कित्त्व किया गया है उससे ज्ञापित होता है कि लघूपध गुण का भी यह सूत्र निषेध करता है। कैसे? क्नु और सन् को कित् करने का यही तो प्रयोजन है कि गृध्नुः,

गुणः कथं न स्यादिति। यदि चात्र गुणनिषेधो न स्यात् कित्करण-मनर्थकं स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो भवत्युपधालक्षणस्यापि गुणस्य प्रतिषेध इति ततः क्नुसनौ कितौ करोति॥

रोरवीत्यर्थेनापि नार्थः। क्ङितीत्युच्यते। न चात्र कितं ङितं वा पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति।

न लुमता तस्मिन्।

इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। अथापि न लुमताङ्गस्येत्युच्यते। एवमपि न दोषः। कथम्। न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। किं तर्हि, योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवतीति। अथाप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते एवमपि न दोषः। कथम्। कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति क्ङिति नेति।

क्षिप्नुः यहां गृध्, क्षिप् को और बिभित्सति, बुभुत्सते यहां भिद् बुध् को लघूपधगुण न हो। यदि उपधा इक् में व्यवधान होने से यह निषेध न लगे तो उक्त प्रत्ययों को कित् करना व्यर्थ है। किन्तु आचार्य समझते हैं कि उपधा इक् में व्यवधान होने पर भी उपधालक्षण गुण की प्राप्ति होती है उसको रोकने के लिए क्नु, सन् को कित् करना आवश्यक है अतः उन्हें कित् करते हैं। इस प्रकार अनेक परिहारों के प्रदर्शन से निमित्तग्रहण का खण्डन आसानी से हो जाता है।

रोरवीति प्रयोग के लिए भी निमित्तग्रहण की आवश्यकता नहीं है। कित्, गित्, ङित् परे रहते गुणवृद्धि का निषेध कहा है। रोरवीति में कित्, गित्, ङित् कुछ भी परे नहीं। यङोचि च से ङित् यङ् प्रत्यय का लुक् हुआ है वह प्रत्ययलक्षण से विद्यमान है। न लुमता तस्मिन् इस वार्तिक से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाएगा तो ङित् परे नहीं रहेगा। वैसे न लुमताङ्गस्य इस पाणिनिसूत्र से भी प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कोई दोष न होगा। हम न लुमताङ्गस्य का यह अर्थ नहीं करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर केवल अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं होता बल्कि यह अर्थ करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर जो भी अङ्ग है उसको कार्य नहीं होता, चाहे वह कार्य अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर का हो। यङ् प्रत्यय लुमान् शब्द से लुप्त है उसके परे होने पर रोरु यह अङ्ग है उस का कार्य क्ङिति च से सार्वधातुक गुण का निषेध है वह नहीं होगा तो गुण निर्बाध हो जाएगा। यदि न लुमताङ्गस्य सूत्र में अङ्गाधिकारीय कार्य का

अथवा छान्दसमेतत्। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।

अथवा वहिरङ्गो गुणः। अन्तरङ्गः प्रतिषेधः। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे।

अथवा पूर्वस्मिन् योगे यदार्धधातुकग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाशत्वाद् गुणो भविष्यति।

ही निषेध मानें तो भी दोष नहीं। क्योंकि कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस उक्त नियम से क्ङिति च यह सूत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोः इस सूत्र में उपस्थित होकर अङ्गाधिकार का बन जायगा। सार्वधातुकार्धधातुकयोः यह सूत्र अङ्गाधिकार का है।

अथवा रोरवीति यह प्रयोग छान्दस अर्थात् वैदिक है और छन्द में दृष्टानुविधि अर्थात् दृष्ट का अनुसरण होता है। वेद में जैसा देखा वैसा कर लिया। रोरवीति में गुण दीखता है तो गुण ही रहेगा उसका निषेध नहीं होगा।

अथवा रोरवीति में वहिर्वर्ती तिप् को मान कर होने वाला सार्वधातुक गुण वहिरङ्ग है और अन्तर्वर्ती यङ् के ङित् को मान कर होने वाला क्ङिति च से निषेध अन्तरङ्ग है। असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा के बल से बहिरङ्ग गुण असिद्ध रहेगा तो निषेध किसका होगा।

अथवा पहले गये हुए न धातुलोप सूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है वह अनवकाश है अर्थात् निष्प्रयोजन है। उससे यहां प्रयोजन ले लिया जायगा। उसके अनवकाश होने से सार्वधातुक परे रहते गुणनिषेध न होगा। न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण के विना भी धातुलोप शब्द में धातोर्लोपो यस्मिन् इस प्रकार बहुव्रीहि समास समझ लिया जायगा जिस प्रकार एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र के एकाचः शब्द में एकोऽच् यस्मिन् यह बहुव्रीहि समझ लिया जाता है, तो फिर आर्धधातुक ग्रहण का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। इस प्रकार पूर्व सूत्र में व्यर्थ हुआ आर्धधातुक ग्रहण इस बात का सामर्थ्य रखेगा कि आर्धधातुक से भिन्न सार्वधातुक में किसी से भी प्राप्त गुणनिषेध न हो, केवल आर्धधातुक में ही गुण का निषेध हो। रोरवीति में तिप् सार्वधातुक है अतः क्ङिति च सूत्र से प्राप्त गुणनिषेध भी आर्धधातुक के बल से रुक जायगा। रोरवीति में यङ् का लुक् अनैमित्तिक है अर्थात् वह आर्धधातुक या सार्वधातुक किसी को भी निमित्त मान कर नहीं होता। यहां तिप् के आने से पूर्व ही हो गया है। आर्धधातुक के परे रहते होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता अतः आर्धधातुक ग्रहण का व्यावर्त्य कुछ

इह कस्मान्न भवति। लैंगवायनः। कामयते।

तद्धितकाम्योरिक् प्रकरणात्।

इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। न चैते इग्लक्षणे।

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः।

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति। अचिनवम्।

भी नहीं सिवाय इसके कि वह सार्वधातुक में गुणनिषेध को रोके चाहे वह किसी से प्राप्त हो।[1]

यहां लैगवायनः और कामयते इन प्रयोगों में क्ङिति च सूत्र से वृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता? लिगोरपत्यं लैगवायनः। लिगुशब्द से गोत्रापत्य में नडादिभ्यः फक् से फक् प्रत्यय होकर किति च से आदिवृद्धि ऐकार हुई है। कामयते में कम् धातु से स्वार्थ में कमेर्णिङ् से णिङ् प्रत्यय होकर अत उपधायाः से आकार वृद्धि हुई है। फक् के कित् होने और णिङ् के ङित् होने से वृद्धिनिषेध प्राप्त होता है।

तद्धित के लैगवायनः और कम् धातु के कामयते प्रयोग में वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि इको गुणवृद्धि इस पूर्व सूत्र से यहां इक् पद की अनुवृत्ति आती है। इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही इस सूत्र से निषेध होगा। उक्त प्रयोगों में इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं है। लैगवयनः में अचामादेः से कही हुई वृद्धि अज्लक्षण है। और कामयते में उपधा अकार को कही हुई वृद्धि उपधालक्षण है। इग्लक्षण अर्थात् इक् शब्द की उपस्थिति से कही हुई वृद्धि नहीं है अतः यहां निषेध नहीं होगा।

जो लकार ङित् हैं उनके स्थान में आदेश होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से ङित् प्राप्त होते हैं। जैसे—अचिनवम् असुनवम् (चि सु-श्नु-लङ् मिप् अम्) अकरवम् (कृ-उ-लङ् मिप् अम्) यहां चि आदि धातुओं से परे लङ् लकार के स्थान में उत्तम पुरुष का एकवचन मिप् (अम्) आदेश हुआ है। वह ङित् लकार के स्थान में होने से स्थानिवद्भाव के नियमानुसार पित् होता हुआ भी ङित्

---

१. यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यङ्लुक् को छान्दस मान कर ही आर्धधातुकग्रहण व्यर्थ होता है अन्यथा नहीं। यदि लोक में भी यङ्लुक् का प्रयोग मानें जैसा कि प्रायः प्रयोग में माना जाता है तब तो तोतोर्ति (तुर्व्-यङ् लुक्-तिप्) दोधोर्ति (धुर्व्-यङ् लुक्-तिप्) इत्यादि यङ्लुगन्त प्रयोगों में तिप् सार्वधातुक के परे गुण निषेध रोकने के लिये आर्धधातुकग्रहण सर्वथा आवश्यक है उस अवस्था में भाष्यकार का यह अन्तिम समाधान छोड़ देना होगा।

असुनवम्। अकरवम्।

लकारस्य ङित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो ङिद्वचनात् सिद्धम्।

यदयं यासुटो ङिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न ङिदादेशा ङितो भवन्तीति।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं नित्यं ङितः। 'इतश्चेति'। ङितो यत् कार्यं तद् भवति। ङिति यत्कार्यं तन्न भवतीति।

माना जायगा तो उसके परे रहते क्ङिति च सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है। यदि कहो कि मिप् पित् है और पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न भवति अर्थात् जो पित् है वह ङित् नहीं होता और जो ङित् है वह पित् नहीं होता तो यह कल्पना तो भाष्यकार की है, वार्तिककार की नहीं, इस लिये उनके मत से ङित् लकार के स्थान में होने वाला मिप् ङित् ही है।

लङ् लकार के अचिनवम् आदि में कोई दोष नहीं। क्योंकि यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च इस सूत्र में जो लिङ् में होने वाले यासुट् को ङित् किया है वह आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि ङित् लकार के स्थान में होने वाले तिप् आदि आदेश ङित् नहीं माने जाते। लिङ् लकार स्वयं ङित् है। उसके स्थान में होने वाले आदेश यदि स्थानिवद्भाव से ङित् माने जाते तो तिप् आदि के ङित् हो जाने से उनको लिङ् में हुआ यासुट् आगम भी यदागमन्याय से ङित् हो ही जाता फिर उसे ङित् करना व्यर्थ है। इस ङित् वचन से सिद्ध होता है कि लकार का ङित्त्व आदेश में नहीं आता। इस लिये लङ् का ङित्त्व मिप् में नहीं आयगा तो अचिनवम् आदि में गुण का निषेध नहीं होगा।

यदि यह कहो कि उक्त ज्ञापक से लकार का ङित्त्व आदेश में न मानने पर नित्यं ङितः, इतश्च इन सूत्रों से होने वाले कार्य कैसे सिद्ध होंगे। नित्यं ङितः से ङित् लकार के स्थान में होने वाले आदेश को स्थानिवद्भाव से ङित् मान कर सकार का लोप होता है। जैसे—अभवाव, अभवाम, अचिनुम इत्यादि। इसी प्रकार इतश्च से ङित् लकार के आदेश को ङित् मान कर अभवन्, अचिनोत् इत्यादि में तिप् के इकार का लोप होता है—सो कोई दोष नहीं। इन कार्यों में तो स्थानिवद्भाव से ङित्त्व हो ही जायगा। क्योंकि जो ङित् को होने वाला कार्य है वह तो स्थानिवद्भाव से आदेश को भी ङित् मान कर हो जायगा लेकिन जो ङित् परे रहते किसी अन्य को होने वाला कार्य है वह आदेश को स्थानिवद्भाव से ङित् मान कर नहीं होगा।

किं वक्तव्यमेतत्। नहि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। यासुट एव ङिद्वचनात्। अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् समुदायस्य ङित्त्वे, ङितं चैनं करोति। तस्यैतत् प्रयोजनं ङितो यत्कार्यं तद् यथा स्यात्, ङिति यत्कार्यं तन्मा भूदिति॥

दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

किमर्थमिदमुच्यते॥

गुणवृद्धी मा भूताम् इति। आदीध्यनम्। आदीध्यकः। आवेव्यनम्।

क्या यह बात कहनी होगी? नहीं। विना कहे कैसे समझी जायगी? यासुट् के ही ङित् वचन से यह बात समझी जायगी। क्योंकि जो ङित् को होनेवाला कार्य है वह यासुट् को कुछ भी विधेय नहीं है जिसके लिये उसे ङित् किया जाय। हां, ङित् परे रहते जो अङ्ग को सम्प्रसारण या गुणवृद्धि निषेध आदि कार्य हैं उन के लिये यासुट् को ङित् किया गया है। वह यासुट् का कार्य है। जिससे वे कार्य यासुट् के परे रहते हो जावें। क्योंकि अकेले यासुट् आगम को ङित् किया है इस लिये वह अपने आगमी लादेश समुदाय तिप् आदि को ङित् बनाने में असमर्थ है। यद्यपि लादेश तिप् आदि ही गुणवृद्धि के निमित्त हैं, यासुट् नहीं, फिर भी यासुट् के ङित् वचन से उसके परे रहते भी गुणवृद्धि का निषेध हो जायगा। या यों समझिये—क्योंकि यासुट्, तिप् आदि की सहायता से ही अपना ङित्त्व काम में ला सकता है। सम्प्रसारण आदि के निमित्त तिप् आदि ही हैं यासुट् नहीं। इस लिये उसको किया हुआ ङित्त्व तिप् आदि समुदाय के लिये उपयुक्त होगा। अर्थात् उसके ङित्त्व से वे ङित् समझे जायेंगे तो उनके परे रहते ङित् कार्य हो सकेंगे। वे तिबादि स्वयं लकार के ङित्त्व से यदि ङित् बन जाते तो यासुट् को ङित् करना व्यर्थ था। वे तो ङित् थे ही। यासुट् भी उनको आगम होकर ङित् बन ही जाता। यह यासुट् को ङित् करना ही इस बात का सूचक है कि ङित् तिबादि के परे रहते जो कार्य करने हैं वे यासुट् के ङित्त्व द्वारा सिद्ध कर दिये जावें। अर्थात् यासुट् के ङित्त्व को लेकर तिबादि ङित् माने जावें और उनके परे रहते अङ्ग को सम्प्रसारणादि कार्य हो जावें। इससे स्पष्ट है कि ङित् परे रहते जो कार्य अङ्ग को करने है उनके विषय में स्थानिवद्भाव से लकार का ङित्त्व आदेश में नहीं माना जाता। केवल ङित् को जो कार्य ताम् तम् सलोप आदि करने हैं उन का ङित्त्व आदेश में स्थानिवद्भाव से माना जाता है।

दीधीवेवीटाम् यह सूत्र किस लिये बनाया है?

दीधीङ् वेवीङ् इन दो धातुओं तथा इडागम को गुणवृद्धि न होवें इस लिये

आवेव्यकः ॥

अयं योगः शक्योऽकर्तुम्। कथम्।

दीर्धीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्य दीधेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः।

दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। दीधीवेव्यौ छन्दसोविषयौ। दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसः। दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति। अदीधेत्, अदीधयुः इत्यत्र च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः। प्रजापतिर्वै यत् किंचिन्मनसा अदीधेत्। होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्। अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः।

भवेदिदं युक्तमुदाहरणमदीधेदिति। इदं त्वयुक्तमदीधयुरिति। अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते स यथैव क्ङिति चेत्येनं बाधते

यह सूत्र बनाया है। जैसे—आदीध्यनम्, (आ दीधी—ल्युट् अन) आदीध्यकः, (आ दीधी—ण्वुल् अक) आवेव्यनम् (आ वेवी—ल्युट् अन) आवेव्यकः (आ वेवी—ण्वुल् अक) यहां आङ्पूर्वक दीधीङ् वेवीङ् धातुओं से ल्युट् और ण्वुल् प्रत्यय परे रहते क्रम से सार्वधातुक गुण तथा अचोञ्णिति वृद्धि प्राप्त होती है। इस सूत्र से उनका निषेध होकर एरनेकाचः से यण् हो जाता है।

यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि दीधी वेवी दोनों धातु छान्दस हैं। वैदिक हैं। छन्द में दृष्ट का अनुविधान होता है। वेद में जैसा दीखे वैसा कर लिया जाता है। वेद में ही अदीधेत् (दीधी-लङ् तिप्) अदीधयुः (दीधी-लङ् झि-जुस्) इत्यादि प्रयोगों में गुण भी दिखाई देता है इस कारण यह निषेध अनर्थक है। प्रजापतिर्वै··· इत्यादि स्थल दीधी धातु को गुण होता है यह दिखा रहे हैं।

अदीधेत्, अदीधयुः इन दो उदाहरणों में अदीधेत् यह उदाहरण तो ठीक है, पर अदीधयुः ठीक नहीं। क्योंकि यहां दीधी धातु से लङ् लकार में प्रथम-पुरुष का बहुवचन जुस् है। जुस् में जुसि च इस सूत्र से होने वाला गुण, निषेध विषय को बाधने के लिये बनाया है वह जैसे—क्ङिति च इस गुणनिषेध को बाधता है वैसे दीधीवेवीटाम् इस गुणनिषेध को भी बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष को लेकर बाध लेगा तो यहां अनिवार्य रूप से गुण ही होगा। गुणनिषेध हो ही नहीं सकता फिर यह उदा॰ण इस सूत्र की अनर्थकता को कैसे सिद्ध कर सकता है। हां, अदीधेत् में तो यह निषेध प्राप्त है उसको कोई रोकने वाला नहीं।

एवमेनमपि बाधेत ।

नैष दोषः । जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीयं प्रतिषेधं बाधते । कश्च तुल्यजातीयः प्रतिषेधः । यः प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् । अथवा येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति । न चाप्राप्ते क्ङिति नेत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च ॥

यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते, कथं दीध्यत् इति, वेव्यत् इति च ॥

दीध्यदिति श्यन्व्यत्ययेन ।

फिर भी वहां गुण का निषेध नहीं हो रहा इस से यह सूत्र अनथक सिद्ध हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । इस सूत्र को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये अदीधयुः उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि जुसि च से होने वाला गुण अपने समानजातीय निषेध को ही बाधेगा । जुस् प्रत्यय है इस लिये क्ङित् प्रत्ययों के आश्रित क्ङिति च सूत्र वाले गुणनिषेध को ही वह बाध सकेगा । दीधीवेवीटाम् को नहीं । यह निषेध दीधी वेवी धातुओं का आश्रयण करने से प्रकृत्याश्रय है । अथवा येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति इस न्याय से जुसि च सूत्र क्ङिति च को ही बाधेगा इसको नहीं । इस न्याय का अर्थ है—जिसकी अवश्य प्राप्ति में जो विधि आरम्भ की जाती है वह उसी अवश्यप्राप्त विधि को ही बाधेगी । किसी अंश में प्राप्त किसी में अप्राप्त ऐसी विधि को वह नहीं बाधेगी । न प्राप्त=अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त अर्थात् अवश्यप्राप्त । यहां बाध्यविशेष को देखना होगा । क्ङिति च सूत्र की अवश्य प्राप्ति में जुसि च का आरम्भ है । क्योंकि जुस् प्रत्यय सार्वधातुकमपित् से ङित् है । उसके परे रहते सर्वदा क्ङिति च से गुणनिषेध प्राप्त है उसको बाधने के लिये जुसि च बनाया है । दीधीवेवीटाम् में यह बात नहीं । दीधी वेवी धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं में (जो दीधीवेवी० निषेध का अविषय हैं) भी जुसि च को प्रवृत्ति होती है । इस लिये यह निषेध नाप्राप्त नहीं बल्कि प्राप्त तथा अप्राप्त है ।

यदि यह सूत्र नहीं बनाते हैं तो दीध्यत् वेव्यत् ये प्रयोग कैसे बनेंगे ? ये दोनों लेट् लकार के रूप हैं । लेटोऽडाटौ से तिप् को अडागम और इतश्च लोपः परस्मैपदेषु से तिप् के इकार का लोप होता है । फिर गुण का निषेध हो कर एरनेकाचः से यण् हो जाता है । इस सूत्र के अभाव में यहां गुणनिषेध कैसे होगा ?

दीध्यदिति वेव्यदिति च श्यन्व्यत्ययेन भविष्यति ॥

इटश्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथम् अकणिषम् अरणिषम्। कणिता श्वो रणिता श्वः इति। आर्धधातुकस्येड्वलादेरित्यत्र इडित्यनुवर्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्य प्रयोजनम् इट् इडेव यथा स्यात्। यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति। किं चान्यत् प्राप्नोति। गुणः॥

यदि नियमः क्रियते पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः दीर्घत्वं न प्राप्नोति॥

नैष दोषः। आङ्गं यत्कार्यं तन्नियम्यते न चैतदाङ्गम्। अथवा असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति॥

दीध्यत्, वेव्यत् ये दोनों प्रयोग व्यत्यय से श्यन् विकरण करने पर बन जायेंगे। व्यत्ययो बहुलम् सूत्र से वेद में दीधी वेवी धातुओं को दिवादिगण का मान कर श्यन् विकरण लेट् लकार में हो जायगा। श्यन् प्रत्यय सार्वधातुकमपित् से ङित् है। उसके परे रहते क्ङिति च से गुणनिषेध हो कर यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः सूत्र से दीधी वेवी के ईकार का लोप जायगा।

सूत्र में इट् का ग्रहण भी नहीं करना चाहिये। यदि कहो अकणिषम्, अरणिषम् (कण् रण् सिच्-लुङ् मिप् अम्) कणिता, रणिता (कण्-रण् तास्-लुट् तिप् डा) कैसे बनेंगे। अर्थात् यहां इडागम को प्राप्त लघूपधगुण का निषेध कैसे होगा? तो इस का उत्तर है आर्धधातुकस्येड्वलादेः सूत्र में नेड्वशि कृति सूत्र से इट् की अनुवृत्ति आने पर भी जो फिर इट्ग्रहण किया है उसका यह प्रयोजन समझा जायगा कि इट् इट् ही रहे। किसी विकार को प्राप्त न हो। उसे जो अन्य कार्य प्राप्त हैं वे न हों। अन्य कार्य कौन से प्राप्त होते हैं? गुण होने से इट् इट् नहीं रहता। विकृत हो जाता है इस लिये गुण नहीं होगा।

यदि दुबारा इट्ग्रहण से इट् इट् ही रहे ऐसा नियम करते हैं तो पिपठीः (पिपठिष् क्विप्) यहां सन्नन्त पठ् धातु में सन् को इट् का आगम हुआ है। उस से परे अप्रत्यय अर्थात् अविद्यमान प्रत्यय क्विप् किया। कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हो कर प्रथमा का एकवचन सु प्रत्यय किया फिर सुबन्त होने से पद संज्ञा हुई। पदान्त में र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से इट् को दीर्घ होता है वह नहीं होना चाहिये। उससे भी इट् विकृत हो जाता है।

यह कोई दोष नहीं। केवल अङ्गाधिकारीय कार्य का ही नियम होगा। र्वोरुपधाया दीर्घ इकः सूत्र तो पदाधिकार का है, अङ्गाधिकार का नहीं, इस लिये इस

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥२।१।७॥

अनन्तरा[1] इति कथमिदं विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति। आहोस्विदविद्यमाना अन्तरा येषामिति। किं चातः। यदि विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति। अवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति। अप्सु इत्यप्ऽसु इति। विद्यते ह्यत्रान्तरमिति। अथ विज्ञायते अविद्यमाना अन्तरा येषामिति, न दोषो भवति॥

का नियम न होगा। अथवा वॉरुपधायाः सूत्र पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण का है उसके असिद्ध होने से वह नियम कोटि में नहीं आता। पिपठीः में इट् को दीर्घ होने पर भी उस दीर्घ के असिद्ध होने के कारण इट् अविकृत ही दिखाई देगा।[2]

सूत्र के अनन्तराः इस समस्त पद में कैसा विग्रह समझना चाहिये? क्या अविद्यमानमन्तरं येषाम्, ऐसा या अविद्यमाना अन्तरा येषाम्, ऐसा। पहले विग्रह में अन्तर शब्द है जिसका अर्थ अवकाश, व्यवधान है। दूसरे विग्रह में अन्तरा शब्द है जिसका अर्थ मध्य है। इस से क्या? अविद्यमानमन्तरं येषाम् ऐसा विग्रह मानने पर अवग्रह में संयोगसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। आधी मात्रा काल वाला अवग्रह माना जाता है। अप्सु इति अप्ऽसु। यहां अप् के पकार और सु के मध्य में अवग्रह-जन्य अन्तर कालकृत व्यवधान होने से संयोग संज्ञा न हो सकेगी। अविद्यमाना अन्तरा येषाम् इस विग्रह को यदि मानें तो कोई दोष नहीं होता। उस विग्रह में अर्थ होगा-जिन के मध्य में अन्य वर्ण अविद्यमान हैं वे हल् संयोग संज्ञक होते हैं।

---

१. अनन्तराः ऐसा कहने से क्य आधार काल का निषेध अभिप्रेत है अथवा आधेय वर्ण का, यह जिज्ञासा है।

२. ग्रहीता ग्रहीतुम् में जो इट् को दीर्घ होता है वह ग्रहोऽलिटि दीर्घः इस वचनसामर्थ्य से सद्ध होगा। इसी प्रकार अलावीत् इत्यादि में इट् को जो सवर्णदीर्घ एकादेश होता है वह भी सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः इस वचन के सामर्थ्य से क्षन्तव्य समझना चाहिये। पिपठिष शब्द के नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में पिपठिषि कुलानि यह रूप बनता है। पिपठींषि नहीं बनता। वह अशुद्ध है। क्योंकि पिपठिष शब्द में सन् प्रत्यय के अकार का क्विप् परे रहते लोप हो जाने पर उसके स्थानिवत् होने से झलन्त नहीं; स्वविधिं प्रति स्थानिवन्न इस वचन से अजन्त भी नहीं, तो नपुंसकस्य झलचः से नुम् होगा ही नहीं, इसलिये वहां सान्तमहतः संयोगस्य से इट् को दीर्घ होने का प्रश्न ही नहीं उठता॥ इस प्रकार भाष्यकार ने इस सूत्र का संपूर्णरूप से खण्डन कर दिया॥

क्कौ विधिं प्रति न स्थानिवत् ऐसी व्यवस्था होने से क्वि-निमित्तक कार्य में स्थानिवद्भावका निषेध है कि परे रहते लुप्त में स्थानिवत् का निषेध नहीं है। इसलिये नुम् के क्वि-निमित्तक कार्य होने से स्थानिवद्भाव निर्बाध होगा।

यथा न दोषस्तथास्तु। अथवा पुनरस्तु अविद्यमानमन्तरं येषामिति। ननु चोक्तम् अवग्रहे संयोगसंज्ञा न प्राप्नोति अप्सु इत्यप्ऽसु इति। विद्यते ह्यत्रान्तरमिति। नैव दोषो न प्रयोजनम्॥

संयोगसंज्ञायां सहवचनं यथान्यत्र।

संयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम्। हलोनन्तराः संयोगः सहेति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादेकैकस्य मा भूदिति। यथान्यत्र। तद्यथा अन्यत्रापि यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम्। तद्यथा 'सह सुपा'। 'उभे अभ्यस्तं सह इति'॥

किं च स्याद् यद्येकैकस्य संयोगसंज्ञा स्यात्?

इह निर्यायात् निर्वायात्। 'वान्यस्य संयोगादेः इति' एत्वं प्रसज्येत।

जिस विग्रह में दोष न हो वही मान लो। या अविद्यमानमन्तरं येषाम् यही विग्रह मान लो। अवग्रह में संयोगसंज्ञा न हो सकने का जो दोष कहा है वह कोई दोष नहीं। अप्ऽसु इस अवग्रह काल में पकार सकार की संयोग संज्ञा न होने से न कुछ दोष है और न प्रयोजन है। अवग्रहकाल के अन्तर से संयोगसंज्ञा के होने न होने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। प्सु के परे रहते जो संयोगे गुरु से अप् के अकार की गुरु संज्ञा है वह यथावत् बनी रहेगी। यदि न भी रहे तो भी गुरोरनृतः इत्यादि से होने वाले प्लुतकार्य-अवग्रहकाल में अभीष्ट न होने से न होंगे। अप्सु भवम्=अप्सव्यम्। यहां अप्सव्य शब्द में अप्ऽसव्यम् ऐसा अवग्रह पदपाठकार नहीं करते हैं इस लिये वहां भी दोष न होगा।

संयोगसंज्ञा में सह ग्रहण करना चाहिये। जैसे अन्यत्र स्थानों में किया गया है। हलोनन्तराः संयोगः सह ऐसा सूत्र बनाना चाहिये। उस से क्या लाभ होगा? सब की एक साथ मिले हुओं की संयोगसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। एक २ की अलग २ न होगी। अन्यत्र भी आचार्य पाणिनि या कात्यायन जहां संमिलितों को एक साथ कार्य करना चाहते हैं वहां सह ग्रहण करते हैं जैसे सह सुपा, उभे अभ्यस्तं सह यहां समाससंज्ञा और अभ्यस्तसंज्ञा में सह ग्रहण किया है।

क्या हो जायगा यदि संमिलित हलों में एक २ की अलग २ संयोगसंज्ञा मान ली जावे?

निर्यायात् निर्वायात् (निर् या वा-लिङ् तिप्) यहां निर् उपसर्गपूर्वक या धातु है। रेफ और यकार संमिलित हैं। उन में एक २ की अलग २ संयोग संज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि बन जायगा तो वान्यस्य संयोगादेः से एत्वविकल्प

इह च संह्वषीष्टेति 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीट् प्रसज्येत। इह च संह्वियते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योरि'ति गुणः प्रसज्येत। इह च दृषत्करोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्ये'ति लोपः प्रसज्येत। इह च शक्ता वस्तेति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति लोपः प्रसज्येत। इह च निर्यातो निर्वातः। 'संयोगादेरातो धातोरि'ति निष्ठानत्वं प्रसज्येत॥

नैष दोषः। यत्तावदुच्यते इह तावत् निर्यायात् निर्वायात् वान्यस्य संयोगादेः इत्येत्वं प्रसज्येतेति। नैवं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति। कथं तर्हि। संयोगौ आदी यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति। एवं तावत् सर्वमाङ्गं परिहृतम्। यदप्युच्यते इह च दृषत्करोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपः

प्राप्त होगा। इसी प्रकार संह्वषीष्ट (सम् ह्व-लिङ् सीयुट् त) यहां सम् पूर्वक ह्व धातु है। मकार और हकार संमिलित हैं। एक २ की अलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर ह्व धातु संयोगादि बन जायगा तो ऋतश्च संयोगादेः से सीयुट् को इट् प्राप्त होगा। संह्वियते (सम् ह्व-लट् यक् त) में गुणोर्तिसंयोगाद्योः से ह्व को गुण प्राप्त होगा। दृषत् करोति समित् करोति यहां तकार और ककार संमिलित हैं। दोनों की अलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर दृषत् समित् ये संयोगान्त पद बन जायेंगे तो संयोगान्तस्य लोपः से तकार का लोप प्राप्त होगा। शक्ता वस्ता (शक् वस्-तृच्) यहां ककार तकार या सकार तकार संमिलित हैं। दोनों की अलग अलग संयोगसंज्ञा मानने पर तकार झल् के परे रहते ककार सकार आदिभूत संयोग हैं उनका स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से लोप प्राप्त होगा। निर्यातः निर्वातः (निर् या वा-क्त) यहां रेफ और यकार सम्मिलित हैं। दोनों की अलग अलग संयोगसंज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि बन जायगा तो संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः से निष्ठानत्व प्राप्त होगा।

ये कोई दोष नहीं। यह जो कहा कि निर्यायात् निर्वायात् में वान्यस्य संयोगादेः से एत्वविकल्प प्राप्त होगा, सो नहीं होगा क्योंकि संयोगादि शब्द का यह अर्थ नहीं करेंगे कि संयोग है आदि में जिसके उसको एत्वविकल्प होता है बल्कि ऐसा अर्थ करेंगे कि दो संयोग हैं आदि में जिसके उस अङ्ग को एत्वविकल्प होता है। निर्यायात् निर्वायात् में दो संयोग आदि में नहीं हैं इस लिये एत्वविकल्प नहीं होगा। इस प्रकार ऋतश्च संयोगादेः, गुणोर्तिसंयोगाद्योः यहां संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर संह्वषीष्ट संह्वियते इत्यादि सब अङ्गाधिकारीय प्रयोगों में दोष का समाधान हो जायगा। दृषत् करोति समित्करोति में भी संयोगान्तस्य लोपः के संयोगान्त शब्द में दो संयोग हैं अन्त में जिसके इस प्रकार द्विवचनान्त

प्रसज्येतेति । नैवं विज्ञायते संयोगोऽन्तो यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति । कथं तर्हि । संयोगौ अन्तौ यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति । यदप्युच्यते इह च शक्ता वस्तेति 'स्कोः संयोगाद्योः' इति लोपः प्रसज्येतेति । नैवं विज्ञायते संयोगौ आदी संयोगादी संयोगाद्योरिति । कथं तर्हि । संयोगयोरादी संयोगादी संयोगाद्योरिति । यदप्युच्यते इह च निर्यातः निर्वातः इति 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वं प्रसज्येतेति । नैवं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति । कथं तर्हि । संयोगावादी यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति ॥

कथं कृत्वैकैकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति ? ॥

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति । तद्यथा । वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवतः ॥

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । तद्यथा

विग्रह करने पर दोष न होगा । दृषत्, समित् पदों के अन्त में दो संयोग नहीं हैं । शक्ता वस्ता में भी स्कोः संयोगाद्योः के संयोगादि शब्द में संयोगौ स्कौ आदी (आदिभूत संयोगसंज्ञक सकार ककार) ऐसा कर्मधारयसमास वाला विग्रह न करके संयोगयोः आदी स्कौ (दो संयोगों के आदि में आने वाले सकार ककार) इस प्रकार षष्ठी समासवाला विग्रह करेंगे तो शक्ता वस्ता में तकार झल् परे रहते दो संयोग नहीं हैं इसलिये ककार सकार का लोप न होगा । निर्यातः निर्वातः में भी संयोगादेरातो धातोः सूत्र के संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर निष्ठानत्व नहीं होगा । क्योंकि या धातु के आदि में दो संयोग नहीं हैं ।

संमिलित हलों में एक एक की अलग संयोगसंज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

क्योंकि समुदाय में प्रत्येक का अलग अलग वाक्यार्थ बोध भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे—वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः ये वृद्धिगुण संज्ञायें आदैच्, अदेङ् समुदाय में प्रत्येक को अलग अलग होती हैं । अर्थात् आ ऐ औ इन तीनों की अलग अलग वृद्धिसंज्ञा और अ ए ओ इन तीनों की अलग अलग गुणसंज्ञा होती है । सब की समुदित एक वृद्धिसंज्ञा और गुणसंज्ञा नहीं होती । इसी प्रकार संयोगसंज्ञा भी संमिलितों में प्रत्येक की अलग २ प्राप्त होती है । प्रत्येकं प्रत्यवयवं वा वाक्यपरिसमाप्तिः यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है ।

जहां प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है वहां समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः यह भी तो प्रसिद्ध न्याय है । इसका अर्थ है वाक्यार्थबोध सारे

गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येकं दण्डयन्ति। सत्येतस्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यते इहापि सहग्रहणं कर्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येकं गुणवृद्धि-संज्ञे भवतः, इहापि नार्थः सहग्रहणेन॥

अथ यत्र बहूनामानन्तर्यं किं तत्र द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा भवति आहोस्विदविशेषेण। कश्चात्र विशेषः? समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेः। समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेर्न सिध्यति। मङ्क्ता। मङ्क्तुम्। इह च

समुदाय में होता है अलग अलग अवयवों में नहीं। जैसे यह दृष्टान्त है—गर्गगोत्रीय लोगों को राजा की ओर से सौ सुवर्ण का दण्ड हो ऐसा आदेश होता है। वह सारे गर्गसमुदाय पर लागू होता है उसके प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं। क्योंकि राजाओं को तो सौ सुवर्ण दण्ड चाहिये वे (गर्ग समुदाय से प्राप्त हो जाने पर उसके) प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित नहीं करते। इस प्रकार ये दोनों न्याय प्रसिद्ध हैं। दोनों की प्रसिद्धि में यदि गर्गशतदण्डनन्याय को देखते हुए समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः को प्रबल मानें तो वृद्धि और गुण संज्ञाओं में समुदाय की संज्ञा रोकने के लिये प्रत्येक शब्द का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् गुणवृद्धि संज्ञायें समुदाय की न हों कर प्रत्येक की होती हैं ऐसा कहना चाहिये। यदि प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः को प्रवल मानें तो यहां प्रत्येक की संयोगसंज्ञा रोकने के लिये सह शब्द का ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यदि लक्ष्यानुरोध से गुणवृद्धि संज्ञाओं में प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय को मान लें तो वहां स्वयमेव प्रत्येक की गुणवृद्धि संज्ञायें हो जायेंगी। इस लिये प्रत्येक शब्द के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। यहां संयोगसंज्ञा में यदि समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय को मान लें तो यहां भी स्वयमेव समुदाय की संयोगसंज्ञा हो जायगी इस लिये सहग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है।

जहां बहुत से हलों का आनन्तर्य हो, अर्थात् बहुत से हल् व्यवधानरहित हों वहां दो दो की भी सयोगसंज्ञा होती है या सामान्यतया संमिलित बहुतों की ही? इसमें क्या विशेष है? हल् समुदाय में बहुतों की संयोगसंज्ञा मानने पर मस्ज् धातु के मङ्क्ता मङ्क्तुम् रूपों में स्कोः संयोगाद्योरन्ते च सूत्र से होने वाला संयोगादि सकार का लोप नहीं प्राप्त होता। मङ्क्ता, मङ्क्तुम् (मस्ज्-तृच्, तुमुन्) यहां मस्ज् धातु से तृच् तुमुन् प्रत्यय परे रहते मस्जिनशोर्झलि से प्राप्त नुमागम मिदचोन्त्यात्परः के नियम से मकार के अकार से परे हुआ तो मन्स्ज् बना। न, स, ज तीनों की संयोगसंज्ञा में सकार आदि में न

निग्लैंयात् निग्लायात् निम्लैंयात् निम्लायात्। 'वान्यस्य संयोगादेरि'-त्येत्वं न प्राप्नोति। इह च संस्वरिषीष्टेति ऋतश्च संयोगादेरितीट् न प्राप्नोति। इह च संस्वर्यते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणो न प्राप्नोति। इह च गोमान् करोति यवमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न प्राप्नोति। इह च निग्लानो निम्लानः इति संयोगादेरातो धातो-र्यण्वतः इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति॥

अस्तु तर्हि द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनम्।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनं न सिध्यति। इन्द्रमिच्छति

रहने से स्कोः संयो० सूत्र से सकार का लोप न हो सकेगा। दो की संयोगसंज्ञा में तो नस और सज ये दो संयोग हैं उनमें सज संयोग के आदि में सकार के होने से सलोप सिद्ध हो जाता है। यहां नुम् करते हुए अभी मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः इस वार्तिक का ध्यान नहीं किया गया है। उसका ध्यान आगे दिलावेंगे। क्योंकि सिद्धान्ततः वह आवश्यक है। उस नियम के अनुसार मस्ज् के जकार से पूर्व नुम् होगा तो स, न, ज इन तीनों की संयोगसंज्ञा में सकार के संयोगादि हो जाने से सलोप निर्बाध है। निग्लैंयात् निग्लायात् यहां ग्ला में दो हलों का आनन्तर्य है, बहुतों का नहीं इस लिए संयोगसंज्ञा न होगी तो वान्यस्य संयोगादेः सूत्र से एत्वविकल्प नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार संस्वरिषीष्ट यहां स्वृ में बहुत हल् न होने से संयोगसंज्ञा न होगी तो ऋतश्च संयोगादेः सूत्र से इट् नहीं प्राप्त होता और संस्वर्यते में गुणोर्ति-संयोगाद्योः से गुण नहीं प्राप्त होता। गोमान् करोति यहां मतुप् प्रत्ययान्त गोमत् शब्द को सु परे रहते नुमागम होकर न, त इन दो हलों का संयोग है बहुतों का नहीं, इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगान्तस्य लोपः से तकार का लोप नहीं प्राप्त होता। निग्लानः यहां ग्ला में दो हलों का संयोग है बहुतों का नहीं इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगादेरातो धातोः सूत्र से निष्ठा-नत्व नहीं प्राप्त होता।

अच्छा तो बहुतों में दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मान लीजिए।

यदि बहुतों में दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मानते हैं तो द्वित्व सिद्ध नहीं होता। इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति। यहां इन्द्रशब्द से इच्छार्थ में क्यच् हुआ।

इन्द्रीयति । इन्द्रीयतेः सन् । इन्दिद्रीयिषति । न न्द्राः संयोगादय इति दकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति ॥

न वाज्विधेः ।

नवा एष दोषः । किं कारणम् । अज्विधेः । न्द्राः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते । अजादेरिति वर्तते ॥

अथ यद्येव बहूनां संयोगसंज्ञा । अथापि द्वयोर्द्वयोः । किं गतमेतदियता सूत्रेण । आहोस्विदन्यतरस्मिन् पक्षे भूयः सूत्रं कर्तव्यम् ॥

गतमित्याह । कथम् । यदा तावद् बहूनां संयोगसंज्ञा तदैवं विग्रहः करिष्यते--अविद्यमानमन्तरमेषाम् इति । यदा द्वयोर्द्वयोः

क्यचि च से ईकार हो गया। इन्द्रीय नामधातु से फिर इच्छार्थ में सन् हुआ। सन् परे रहते धातु के द्वितीय एकाच् न्द्री शब्द को द्वित्व करने में नन्द्राः संयोगादयः के वचन से जहां संयोगादि नकार छोड़ा जायगा वहां दकार भी संयोगादि होने से छूट जायगा तो दकार सहित द्री शब्द को द्वित्व न हो सकेगा । क्योंकि दो दो की संयोगसंज्ञा में यहां नद और दर ये दो संयोग हैं। पहले संयोग में नकार आदि है। दूसरे में दकार। नन्द्राः० सूत्र से दोनों का ही द्वित्व निषेध प्राप्त होता है। बहुतों की संयोगसंज्ञा पक्ष में तो दकार संयोग के आदि में नहीं आता इसलिए उसके द्वित्व का निषेध नहीं हो सकता।

यह कोई दोष नहीं। नन्द्राः संयोगादयः इस सूत्र में अजादेर्द्वितीयस्य से अच् की अनुवृत्ति आती है। वह अच् से परे संयोग के आदि में आने वाले नदर के द्वित्व का निषेध करता है। सो इन्द्री शब्द में नकार तो इकार रूप अच् से परे है इसलिये उसके द्वित्व का निषेध तो हो जायगा लेकिन दकार अच् से परे नहीं है। उस को द्वित्व का निषेध नहीं होगा तो दकार को द्वित्व होकर इष्ट रूप बन जायगा।

संमिलित हल् समुदाय में चाहे बहुतों की संयोगसंज्ञा मानो चाहे दो २ की, क्या ये दोनों पक्ष हलोनन्तराः संयोगः इस इतने सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे या दोनों में से किसी एक पक्ष के लिये दूसरा सूत्र बनाना होगा।

हां दोनों पक्ष इसी सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे। कैसे ? जब बहुतों की संयोग-संज्ञा अभीष्ट होगी तब अविद्यमानमन्तरमेषाम् ऐसा विग्रह करेंगे। और जब दो २

---

१. अनुवृत्त हुआ अजादेः यह पद कर्मधारय है, अतः आदिभूत अच् से परे ऐसा अर्थ होगा।

संयोगसंज्ञा तदैवं विग्रहः करिष्यते—अविद्यमाना अन्तरा येषामिति। द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद् विद्यते वा न वा॥

एवमपि बहूनामेव प्राप्नोति। यान् हि भवानत्र षष्ठ्या प्रतिनिर्दिशति एतेषामन्येन व्यवायेन न भवितव्यम्॥

अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा। ननु चोक्तं समुदाये संयोगादिलोपो मस्जेरिति। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत् 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्' इति॥

की अभीष्ट होगी तब अविद्यमाना अन्तरा येषाम् ऐसा। क्योंकि अन्तरा शब्द मध्यवाची है और मध्य में जो रखा जाता है वह दो २ के ही संभव है। दो के ही बीच किसी का होना न होना होता है। अर्थात् दो ही मध्य बनाते हैं। बहुत होने पर भी उन का मध्य दो दो से ही बनेगा। इस लिये वहां अन्तरा शब्द से विग्रह होगा। बहुतों में मध्य का ठीक मापदण्ड न होने से वहां अन्तरा शब्द से विग्रह न हो कर अन्तर शब्द से होगा। अन्तर का अर्थ व्यवधान, विवर है। बहुतों में अन्तर के अविद्यमान होने पर संयोगसंज्ञा होगी।

उक्त विग्रह (अविद्यमाना अन्तरा येषाम्) करने पर भी हल् समुदाय में बहुतों की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होती है। दो २ की नहीं। क्योंकि 'दो दो अवयव वाले समुदाय को' इस अर्थ वाली द्वयोर्द्वयोः इस षष्ठी से जिन वर्णों के मध्य में आप अन्य को अविद्यमान कहते हैं वे तो बहुत हैं। यह ठीक है कि उन में दो २ का बीच ठीक बन जायगा लेकिन जब वे दो २ ही अव्यवहित होंगे तो बहुत बन जायेंगे उस अवस्था में बहुतों की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होगी।

अच्छा तो हल् समुदाय की ही संयोगसंज्ञा मान लो। यह जो मङ्क्ता मङ्क्तुम् में दोष दिया था वह कोई दोष नहीं। क्योंकि मिदचोन्त्यात्परः का अपवाद मस्जेरन्त्यात्पूर्वो मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् यह वार्तिक है। उससे मस्ज् के जकार से पूर्व नुम् होगा मकार के अकार से परे नहीं होगा तो सकार के संयोगादि हो जाने से स्कोः० सूत्र से सकार का लोप सिद्ध हो जायगा। उस वार्तिक का अर्थ है—मस्ज् धातु के अन्तिम अक्षर जकार से पहले मित् अर्थात् नुम् का आगम होता है अनुषङ्गलोप (नुम् के नकार का लोप) और संयोगादि लोप की सिद्धि के लिये। अनुषङ्ग यह नुम् के नकार की पूर्वाचार्यकृत संज्ञा है। अनुषङ्ग का उदाहरण मग्नः मग्नवान् है। (मस्ज्-क्त, क्तवतु) यहां मस्ज् धातु से क्त, क्तवतु परे रहते मस्जिनशोर्झलि से प्राप्त नुमागम मस्जेरन्त्यात् पूर्वः० इस वचन से मस्ज् के जकार से पूर्व हो जायगा तो नकार के उपधा में आ जाने से अनिदितां

अथवा अविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते द्वयोरपि बहूनामपि। तत्र द्वयोर्या संयोगसंज्ञा तदाश्रयो लोपो भविष्यति। यदप्युच्यते इह निर्ग्लैयात् निर्ग्लायात् निर्म्लैयात् निर्म्लायात् 'वान्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं न प्राप्नोति। अङ्गेन संयोगादिं विशेषयिष्यामः। अङ्गस्य संयोगादेरिति। एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम्। यदप्युच्यते इह च गोमान् करोति यवमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न प्राप्नोतीति, पदेन संयोगान्तं विशेषयिष्यामः। पदस्य संयोगान्तस्येति। यदप्युच्यते इह च निर्ग्लानो निर्म्लान इति 'संयोगादेरातो धातोः' इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोतीति धातुना संयोगादिं विशेषयिष्यामः। धातोः संयोगादे-रिति।

हल उपधायाः क्ङिति सूत्र से नकार का लोप सिद्ध हो जायगा और साथ ही सकार के संयोगादि हो जाने से स्कोः० सूत्र से सकार का लोप भी सिद्ध हो जायगा।

अथवा अव्यवहित हल् समुदाय की उपस्थिति में सामान्यरूप से दोनों की संयोगसंज्ञा मानी जायगी—बहुतों की भी और दो दो की भी। जहां केवल दो ही होंगे वहां तो दो की होगी। किन्तु समुदाय में दोनों पक्ष माने जायेंगे तो मङ्क्ता मङ्क्तुम् में मस्ज् के मकार के अकार से परे नुम् करने पर भी नसज इस समुदाय में सज भी संयोग है, उसके आदिभूत सकार का स्कोः० सूत्र से लोप हो जायगा। जो निर्ग्लैयात् आदि में दोष कहा था वह भी दो दो की संयोगसंज्ञा मानने पर न होगा। यद्यपि निर्ग्लैयात् इत्यादि में र ग ल आदि तीन हलों का समुदाय है इस लिये जहां ग ल आदि दोनों की संयोगसंज्ञा होने से इष्टसिद्ध होगा वहां रेफादिसहित समुदाय की भी संयोगसंज्ञा होने से दोष प्राप्त होता है तथापि उसका समाधान यह है कि वान्यस्य संयोगादेः आदि में संयोगादि को अङ्ग से विशिष्ट बनायेंगे अर्थात् अङ्ग जो संयोगादि उसको एत्व विकल्प होता है ऐसा अर्थ करेंगे। निर् का रेफ अङ्ग में शामिल नहीं है वह समुदाय से छूट जायगा। इस प्रकार संस्वरिषीष्ट आदि सब अङ्गाधिकारीय प्रयोगों में दोष का परिहार हो गया। गोमान् करोति यहां भी नतक समुदाय की संयोग संज्ञा होने पर संयोगान्त को पद से विशिष्ट बनायेंगे अर्थात् पद जो संयोगान्त उसका लोप होता है ऐसा अर्थ करेंगे तो करोति का ककार स्वयं समुदाय से छूट जायगा। निर्ग्लानः में भी रगल समुदाय की संयोगसंज्ञा में संयोगादेरातो धातोः सूत्र के संयोगादि शब्द को धातु से विशिष्ट बनायेंगे अर्थात् धातु जो संयोगादि उस से परे निष्ठा-नत्व होता है ऐसा अर्थ करेंगे तो निर् का रेफ स्वयं समुदाय से छूट जायगा।

स्वरानन्तर्हितवचनम् ।

स्वरैरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । व्यवहितानां मा भूत् । पचति पनसम् ॥

ननु चानन्तरा इत्युच्यते तेन व्यवहितानां न भविष्यति ॥

दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेपि । व्यवहितेप्यनन्तरशब्दो दृश्यते । तद्यथा अनन्तराविमौ ग्रामावित्युच्यते तयोश्चैवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति ॥

यदि तर्हि अनन्तरशब्दो व्यवहितेपि भवति आनन्तर्यवचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

आनन्तर्यवचनं किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् । एकस्य हलः संयोगसंज्ञा मा भूदिति ॥

किं च स्याद् यद्येकस्य हलः संयोगसंज्ञा स्यात् ?

इयेष उवोष । इजादेश्च गुरुमतोनृच्छ इत्याम् प्रसज्येत ॥

स्वर अर्थात् अच् उन से अनन्तर्हित अव्यवहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? पचति पनसम् यहां पनसम् में सकार मकार के बीच में अकार का व्यवधान है । उसके व्यवधान में सकार मकार की संयोगसंज्ञा न हो । अन्यथा स्कोः संयोगाद्योरन्ते च सूत्र से संयोगादि सकार का लोप प्राप्त होता है ।

यदि कहो कि सूत्र में अनन्तराः यह कहा हुआ है उस से अच् के व्यवधान में संयोगसंज्ञा न होगी तो इसका उत्तर है—

व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग दीखता है । जैसे-अनन्तरौ इमौ ग्रामौ । यह दोनों गांव एक दूसरे के अनन्तर हैं ऐसा कहते हैं लेकिन उन के मध्य में नदियां और पहाड़ होते हैं ।

यदि कहो कि व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग होने पर सूत्र में अनन्तराः यह किस लिये कहा गया है तो उत्तर है—

एक हल् की संयोगसंज्ञा रोकने के लिये सूत्र में अनन्तराः कहा गया है ।

क्या हो जायगा यदि एक हल् की भी संयोगसंज्ञा हो जावे?

यही होगा कि इयेष उवोष (इष् उष्-लिट् तिप् णल्) यहां इष् उष् धातुओं के हल् षकार की संयोगसंज्ञा होने पर संयोगे गुरु से इ, उ की गुरुसंज्ञा होगी तो

नवाऽतज्जातीयव्यवायात् ।

न वा एष दोषः। किं कारणम्। अतज्जातीयस्य व्यवायात् । अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति। कथं पुनर्ज्ञायते अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवतीति । एवं हि कंचित् कश्चित् पृच्छति- अनन्तरे एते ब्राह्मणकुले इति। स आह नानन्तरे । वृषलकुलमनयो-रन्तरेति ॥

किं पुनः कारणं क्वचिदतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति क्वचिन्नेति ? ॥

सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥

कथमनन्तराविमौ ग्रामाविति? ॥

ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा- ग्रामो दग्ध इति । अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते । तद्यथा ग्रामं प्रविष्ट इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा ग्रामो गतो ग्राम आगत इति।

धातु गुरुमान् हो जायेंगे। इजादि हैं ही। तब इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः सूत्र से लिट् परे रहते आम् विकरण प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि अपने से भिन्न जाति वाले का ही व्यवधान माना जाता है। अपने समानजातीय का नहीं। कैसे जाना ? लोक में यही दीखता है कि भिन्न जातिवाला ही व्यवधायक होता है। कोई किसी से यूं पूछता है ये दोनों ब्राह्मणकुल अनन्तर हैं ? अव्यवहित हैं ? वह उत्तर देता है नहीं। अनन्तर नहीं है। इन के मध्य में शूद्रकुल का व्यवधान है।

क्या कारण है लोक में कहीं तो भिन्नजातीय का व्यवधान माना जाता है कहीं नहीं माना जाता ?

सभी जगह लोक में भिन्नजातीय का व्यवधान माना जाता है।

फिर अनन्तराविमौ ग्रामौ, यह प्रयोग कैसे होता है ?

ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ हैं। एक तो बहुत घरों का समूह ग्राम कहलाता है। जैसे ग्राम जल गया। यहां घरसमूह के लिये ग्राम शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक कांटों वाला निकृष्ट मार्ग या बाड़ा भी ग्राम कहाता है। जैसे ग्राम में घुस गया। यहां कण्टकाकीर्ण मार्ग बाड़ या श्मशान के लिये ग्राम का प्रयोग है। एक

अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते अनन्तराविमौ ग्रामाविति। सर्वत्रैव ह्येतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।८॥

किमिदं मुखनासिकावचनम् ? ॥

मुखं च नासिका च मुखनासिकम् । मुखनासिकं वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥

यद्येवं मुखनासिकवचन इति प्राप्नोति ।

मनुष्यवाचक ग्राम शब्द है । जैसे ग्राम गया ग्राम आ गया । यहां मनुष्यों के लिये ग्राम शब्द का प्रयोग है । एक अरण्यसहित सीमासहित और पहाड़ी टीले आदि भूमि सहित ग्राम कहलाता है । जैसे गांव की सीमा आने पर कह देते हैं—ग्राम आ गया । इन उक्त अर्थों में जो अरण्य सीमा पर्वत आदि सहित अर्थ वाला ग्राम शब्द है उस का विचार करके अन्तराविमौ ग्रामौ (ये दो गांव व्यवधान रहित हैं) यह प्रयोग होता है । उस अर्थ में नदी पर्वत आदि से ग्राम भिन्नजातीय नहीं रहता है इसलिये सर्वत्र भिन्न जातीय का ही व्यवधान होता है या भिन्नजाति वाला ही व्यवधान करने वाला होता है यह समझना चाहिये । हलोनन्तराः सूत्र में हल् से भिन्न जाति वाले स्वर (अच्) ही हैं अतः उन के व्यवधान का निषेध संयोगसंज्ञा में समझा जायगा तो स्वरानन्तर्हितवचनम् इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं है ।

यहां भाष्यकार ने जो ग्राम शब्द के कई अर्थ कहे हैं वे आधुनिक कोषों में अन्वेषणीय हैं । कुछ लोग अर्थभेद होने पर भी शब्द में भेद नहीं मानते । उन के मत में एक ही शब्द अनेकार्थबोधक शक्ति रखता है इस लिये एक ही ग्राम शब्द भिन्न २ अर्थों का बोधक है किन्तु कुछ लोग अर्थ के भेद होने से शब्द में भी भेद मानते हैं । उन के मत में शालासमुदाय आदि भिन्न २ अर्थों के वाचक ग्राम शब्द भी भिन्न २ हैं । यहां भाष्यकार ने अर्थभेद से शब्दभेद मानते हुए भिन्न २ ग्राम शब्द स्वीकार किये हैं ॥

सूत्र में यह मुखनासिकावचनः क्या है ?

मुख और नासिका इन दोनों का समाहार द्वन्द्व मुखनासिक है । मुखनासिक जिस का वचन है, उच्चारणसाधन है वह मुखनासिकावचन है ।

तब तो मुखनासिकवचनः ऐसा होना चाहिये ।

निपातनाद् दीर्घत्वं भविष्यति। अथवा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः। अथ किमिदमावचनमिति। ईषद्वचनमावचनम्। किंचिन्मुखवचनं किंचिन्नासिकावचनम्। मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः। मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः॥

अथ मुखग्रहणं किमर्थम्?

नासिकावचनोऽनुनासिकः इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्राप्नोति। मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम्?॥

इस सूत्र में निपातन से दीर्घ होकर मुखनासिकावचनः हो जायगा। या इस में आवचन शब्द समझेंगे। आवचन का क्या अर्थ होगा? ईषत् (थोड़ा) अर्थ में आङ् शब्द मानकर थोड़ा वचन उच्चारण साधन ऐसा अर्थ होगा। जिस में कुछ मुख से बोला जाय कुछ नासिका से, उसे मुखनासिकावचनः ऐसा कहेंगे। या मुखद्वितीया नासिका अथवा मुखोपसंहिता नासिका मुखनासिका। इस प्रकार मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास करके उसका वचन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करेंगे। उस अवस्था में समाहारद्वन्द्व न होने से नासिका को ह्रस्व न होगा तो इष्ट रूप बन जायगा।

मुखग्रहण किस लिये किया है?

मुखग्रहण के अभाव में केवल नासिकावचनोऽनुनासिकः इतना सूत्र होने पर यम और अनुस्वार की ही अनुनासिकसंज्ञा प्राप्त होगी। कुँ खुँ गुँ घुँ ये ४ यम हैं। पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, जग्ग्मिः, जघ्घ्नुः यहां वर्गों के पञ्चम अक्षर परे रहते जो क, ख, ग, घ हैं उनके पूर्ववर्ती क, ख, ग, घ यम कहाते हैं। और ० यह अनुस्वार का चिह्न है। अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमिष्यते इस पाणिनि शिक्षा के वचनानुसार अनुस्वार और यमों का नासिका स्थान है। ये केवल नासिका से बोले जाते हैं। इनकी अनुनासिकसंज्ञा होने से आङोऽनुनासिकश्छन्दसि इत्यादि अनुनासिकविधान स्थलों में ये ही आदेश प्राप्त होंगे जो कि अनिष्ट हैं। विड्वनोरनुनासिकस्यात् इत्यादि अनुनासिक के अनुवादस्थलों में इनका अभाव होने से उन सूत्रों के अर्थ की अप्रतिपत्ति होगी। इसलिये नासिका के साथ मुखग्रहण भी करना चाहिये। मुखग्रहण करने पर जो मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं ङ, ञ, ण, न, म इत्यादि, उनकी अनुनासिकसंज्ञा हो जायगी तो कोई दोष न होगा।

नासिका ग्रहण किस लिये किया है?

मुखवचनोऽनुनासिक इतीयत्युच्यमाने कचटतपानामेव प्राप्नोति। नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति॥

मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम्। केनेदानीमुभयवचनानां सिद्धं भविष्यति। प्रासादवासिन्यायेन। तद्यथा केचित्प्रासादवासिनः। केचिद् भूमिवासिनः। केचिदुभयवासिनः। तत्र ये प्रासादवासिनो, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिनो, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च। एवमिहापि केचिन्मुखवचनाः। केचिन्नासिकावचनाः। केचिदुभयवचनाः। तत्र ये मुखवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन। ये नासिकावचना, गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन। ये उभयवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च॥

नासिकाग्रहण के अभाव में मुखवचनोऽनुनासिकः इतना सूत्र होने पर जो केवल मुख से बोले जाते हैं क च ट त प आदि, उनकी अनुनासिकसंज्ञा प्राप्त होगी। उस अवस्था में पक्त्म् (पच्-क्त) यहां पच् धातु के चकार को अनुनासिक मान कर उससे कित् क्त प्रत्यय परे रहते अनुदात्तोपदेशवनति० सूत्र से चकार का लोप प्राप्त होगा। ओदनं पचतीति ओदनपक् यहां क्विबन्त पच् धातु के चकार को अनुनासिक मान कर क्विप् परे रहते अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति सूत्र से उपधा-दीर्घ प्राप्त होगा। इसलिये मुखग्रहण के साथ नासिका ग्रहण भी करना चाहिये। नासिकाग्रहण करने पर कोई दोष न होगा। उस से मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्ण की ही अनुनासिकसंज्ञा सिद्ध हो जायगी।

सूत्र में मुख ग्रहण तो हटा ही देना चाहिये। यदि कहो मुखग्रहण के अभाव में मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्णों की कैसे अनुनासिकसंज्ञा होगी तो इसका उत्तर है—प्रासादवासिन्याय से। जैसे कुछ लोग प्रासाद (महल) में रहनेवाले हों। कुछ भूमि पर रहने वाले हों। कुछ प्रासाद और भूमि दोनों पर रहने वाले हों। उन में जो केवल प्रासाद में रहने वाले हैं वे प्रासादवासी कहलायेंगे। जो केवल भूमि पर रहने वाले हैं वे भूमिवासी कहलायेंगे। जो प्रासाद और भूमि दोनों पर रहने वाले हैं वे प्रासादवासी और भूमिवासी दोनों कहलायेंगे। इसी प्रकार यहां भी कुछ वर्ण मुख से बोले जाते हैं वे मुखवचन कहलायेंगे। कुछ नासिका से बोले जाते हैं वे नासिकावचन कहलायेंगे। कुछ मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं वे मुखवचन और नासिकावचन दोनों ही कहलायेंगे।

भवेदुभयवचनानां सिद्धम्। यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति।

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

इतरेतराश्रयं तु भवति। का इतरेतराश्रयता? सतोऽनुनासिकस्य संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया चानुनासिको भाव्यते। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ॥

अनुनासिकसंज्ञायामितरेतराश्रये उक्तम्।

किमुक्तम्। 'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति'। नित्याः शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु सतोऽनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते। न संज्ञया अनुनासिको भाव्यते ॥

यह ठीक है कि जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं वे मुखवचन या नासिकावचन दोनों कहे जा सकते हैं जैसे ङ ञ ण न म आदि। केवल नासिकावचनोऽनुनासिकः इतना सूत्र होने पर भी उन की अनुनासिकसंज्ञा सिद्ध हो जायगी, लेकिन जो केवल नासिका से ही बोले जाते हैं जैसे यम और अनुस्वार, वे भी तो नासिकावचनः० इतने सूत्र से अनुनासिक प्राप्त होंगे जो कि अनिष्ट हैं।

यम और अनुस्वारों की अनुनासिकसंज्ञा होने पर न तो कोई दोष है और न प्रयोजन है। क्योंकि अनुनासिक के अनुवादस्थलों में तो उन का सर्वथा अभाव ही है। रहे विधिस्थल, उन में भी स्थानेन्तरतमः इस अन्तरतम परिभाषा से मुखवचन के स्थान में मुखनासिका दोनों से बोले जाने वाला वर्ण ही आदेश होगा, न केवल नासिका से बोला जाने वाला ॥[1]

अनुनासिकसंज्ञा में इतरेताश्रयदोष तो आता है? कैसा इतरेतराश्रयदोष? यही कि अनुनासिक वर्ण के पहले से विद्यमान होने पर तो अनुनासिकसंज्ञा होगी। और अनुनासिकसंज्ञा द्वारा अनुनासिक वर्ण का विधान होगा यह इतरेतराश्रय दोष है। इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय का अर्थ है—एक दूसरे के सहारे से होना। यह हो तो वह हो और वह हो तो यह हो इस प्रकार एक दूसरे पर आश्रित होने वाले कार्य नहीं हो सकते।

अनुनासिकसंज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रय दोष के विषय में पहले वृद्धिरादैच् सूत्र में समाधान कह चुके हैं कि शब्द नित्य है। नित्य शब्दों में पहले से ही अनादि काल से अनुनासिक वर्ण विद्यमान है। उस को विद्यमान मान कर अनुनासिक-

---

१. इस प्रकार मुखग्रहण का खण्डन कर दिया गया है।

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः किमर्थं शास्त्रम् ?॥

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात् सिद्धम्

निवर्तकं हि शास्त्रम्। कथम्। आङ्स्मायविशेषेणोपदिष्टोऽननुनासिकस्तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते। छन्दस्यचि परत आङोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेऽनुनासिकः साधुर्भवतीति॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।९॥

तुलया संमितं तुल्यम्। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम्।

संज्ञा हो जायगी। अनुनासिकसंज्ञाद्वारा नया अनुनासिक वर्ण नहीं विधान किया जाता।

यदि शब्द नित्य हैं, पूर्व से ही अवस्थित हैं तो अनुनासिकसंज्ञा द्वारा अनुनासिकविधान शास्त्र किस लिये है ?

नित्य शब्दों में अनुनासिक विधान शास्त्र अभीष्ट विषय में अनुनासिक के अभाव को निवृत्त करने के लिये है। जैसे—आङोनुनासिकश्छन्दसि यह अनुनासिक विधान शास्त्र आङ् शब्द को अनुनासिक विधान करता है। उस विधान शास्त्र से पूर्व आङ् शब्द इस अध्येता के लिये सामान्य रूप से अनुनासिकरहित उपदिष्ट है। उस आङ् को वह अध्येता सर्वत्र अनुनासिकरहित ही समझता किन्तु अनुनासिक-विधान शास्त्र उसकी इस बुद्धि को अभीष्ट विषय में निवृत्त कर देता है जिससे वह समझ जाता है कि छन्द में अच् परे रहते आङ् को अनुनासिक प्रयुक्त करना साधु है। वहां अनुनासिकरहित प्रयोग अशुद्ध है। असाधु है। इस प्रकार नित्य शब्द रहते हुए भी शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त शब्द के अन्तर्वर्ती पदों का विग्रहपूर्वक अर्थ दिखाते हैं—तुलया संमितं तुल्यम्। जो तुला अर्थात् तराजू से ठीक तुला हुआ है वह तुल्य होता है। यहां तुला शब्द केवल तुल्य की व्युत्पत्ति द्वारा साधुत्व प्रदर्शन के लिये उपयुक्त हुआ है। वैसे तुल्यशब्द प्रवीण कुशल आदि की तरह सदृश अर्थ में रूढ है। इसमें अवयवार्थ कुछ नहीं। स्वभावतः सदृश अर्थ में तुल्य शब्द की प्रवृत्ति होने से वही उसका प्रवृत्तिनिमित्त है। आस्य और प्रयत्न का

तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्नं च सवर्णसंज्ञं भवति।

किं पुनरास्यम्?

लौकिकमास्यम्। ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकात्।

कथं पुनरास्यम्?

अस्यन्त्यनेन वर्णानिति आस्यम्। अन्नमेतदास्यन्दते इति वा आस्यम्।

अथ कः प्रयत्नः?

प्रयतनं प्रयत्नः। प्रपूर्वाद् यततेर्भावसाधनो नङ् प्रत्ययः।

यदि लौकिकमास्यं, किमास्योपादाने प्रयोजनम्। सर्वेषां हि तत् तुल्यम्॥

समाहारद्वन्द्व होकर आस्यप्रयत्नम् बनता है। फिर उसका तुल्य शब्द से बहुव्रीहि-समास करके सूत्र का अर्थ होगा—आस्य और प्रयत्न जिसके तुल्य हैं उसकी सवर्ण-संज्ञा होती है।

आस्य किसे कहते हैं?

लोकप्रसिद्ध मुख को आस्य कहते हैं। जो ओष्ठ से लेकर काकलक (टेंटुआ नामक ग्रीवा में उभरा हुआ प्रदेश) से पूर्व तक शरीर का अवयव है।

मुख को आस्य क्यों कहते हैं?

क्योंकि इस मुख से वर्णों को फेंकते हैं, उच्चारण करते हैं, बाहर निकालते हैं इसलिये मुख को आस्य कहते हैं। या खाया जाता हुआ अन्न इस मुख को गीला करता है इसलिये भी मुख को आस्य कहते हैं। असु क्षेपणे या आङ्पूर्वक स्यन्द् इन धातुओं से आस्य शब्द सिद्ध होता है।

प्रयत्न किसे कहते हैं?

वर्णों के उच्चारण में जो जिह्वा के अग्र उपाग्र आदि भागों से स्पर्श या हरकत होती है उसे प्रयत्न कहते हैं। प्रपूर्वक यत् धातु से भाव में यजयाचयत-विच्छप्रच्छरक्षो नङ् सूत्र से नङ् प्रत्यय होकर प्रयत्न शब्द सिद्ध होता है।

यदि लोकप्रसिद्ध मुख ही आस्य है तो सूत्र में आस्यग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? क्योंकि मुख तो सभी वर्णों के उच्चारण में तुल्य है। मुख के व्यापार के विना किसी वर्ण का उच्चारण संभव नहीं।

वक्ष्यत्येतत्—प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमिति।

सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात्।

सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति। जबगडदशाम्। किं कारणम्। प्रयत्नसामान्यात्। एतेषां हि समानः प्रयत्नः॥

सिद्धं त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्नं सवर्णम्

सिद्धमेतत्। कथम्। आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्॥

एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनम्। सर्वेषां हि तत् तुल्यम्॥

प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम्। सन्ति ह्यास्याद् बाह्याः प्रयत्नाः। ते हापिता भवन्ति। तेषु सत्स्वसत्स्वपि सवर्णसंज्ञा सिद्धा भवति।

यह बात अभी आगे कहेंगे कि प्रयत्न का विशेषण बनाने के लिए सूत्र में आस्य ग्रहण किया है।

सवर्णसंज्ञा करने में जिन वर्णों का स्थान भिन्न है, किन्तु प्रयत्न तुल्य है उन की सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है। जैसे ज ब ग ड द इन वर्णों का स्पृष्टसंज्ञक प्रयत्न तो तुल्य है किन्तु स्थान सब का भिन्न भिन्न है। ज का तालु। ब का ओष्ठ। ग का कण्ठ। ड का मूर्धा और द का दन्त। अभी तक तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् इस सूत्र का यही अर्थ है कि जिन का मुख और प्रयत्न तुल्य हो वे सवर्णसंज्ञक होते हैं। इन सब का मुख और प्रयत्न तुल्य है केवल स्थान भिन्न है। इस लिये मुख और प्रयत्न के तुल्य होने से इन की आपस में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है।

अच्छा तो आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्ति ऐसा सूत्र बना देंगे तब ज ब ग ड द की सवर्णसंज्ञा न होगी। उस सूत्र का अर्थ होगा मुख में जिन वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य है उन की सवर्णसंज्ञा होती है। ज ब ग ड द का स्थान तुल्य न होने से सवर्णसंज्ञा न होगी।

इस नये सूत्र में भी आस्य ग्रहण का क्या प्रयोजन है क्योंकि स्थान और प्रयत्न तो मुख में ही होते हैं। वह सब का तुल्य है।

आस्ये येषां तुल्यो देशः० इस नये सूत्र में आस्यग्रहण प्रयत्न का विशेषण बनाने के लिये किया गया है। आस्य अर्थात् मुख, उस में जो स्पृष्ट ईषत्-स्पृष्ट आदि प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता होने पर सवर्णसंज्ञा हो। मुख से बाहर जो विवार

के पुनस्ते? विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति। तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च। एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः। तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः। एकेऽल्पप्राणाः। अपरे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः। आनुनासिक्यवर्जम्। आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः॥

एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति। बाह्यं ह्यास्यात् स्थानमवर्णस्य॥

सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति॥

एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते–आस्ये येषां तुल्यो देश इति॥

संवार आदि प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता सवर्णसंज्ञा में आवश्यक नहीं। सवर्णसंज्ञा में बाह्य प्रयत्न छोड़ दिये जायेंगे। उन की तुल्यता होने न होने पर भी सवर्णसंज्ञा हो जायगी। वे बाह्य प्रयत्न कौन से हैं? विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण ये बाह्य प्रयत्न हैं। उन में कवर्ग आदि पांच वर्गों के पहले दूसरे क ख च छ आदि वर्ण विवार श्वास अघोष हैं। उन में भी पहले क च ट त प ये वर्ण अल्पप्राण हैं। दूसरे ख छ ठ थ फ ये वर्ण महाप्राण हैं। तीसरे चौथे ग घ ज झ आदि वर्ण संवार नाद घोष हैं। उन में भी तीसरे ग ज ड द ब अल्पप्राण हैं और चौथे घ झ ढ ध भ महाप्राण हैं। पांचवें ङ ञ ण न म वर्ण तीसरे वर्णों के समान हैं केवल अनुनासिक धर्म को छोड़ कर। अनुनासिक धर्म इन पांचवें वर्णों का अधिक है। अर्थात् पांचवें वर्ण संवार नाद घोष अल्पप्राण तथा अनुनासिक हैं।

ऐसा होने पर भी अवर्ण की सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि कुछ आचार्यों के मत में अवर्ण का स्थान काकलक से नीचे ग्रीवा के जोड़ के आसपास है। वह आस्य से बाहर है। आस्य में नहीं आता।

अवर्ण की सवर्णसंज्ञा हो जायगी। क्योंकि कुछ आचार्य अवर्ण का स्थान सारा मुख में ही मानते हैं। उन के मत में आस्य के अन्दर ही अवर्ण आ जायगा।

अवर्ण का स्थान सारा मुख मानने पर मुख ही अवर्ण का स्थान हो गया। मुख में स्थान न रहा। उस अवस्था में मुख में जिनका स्थान तुल्य है यह व्यपदेश (कथन) नहीं बनेगा।

व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति ॥

सिध्यति। सूत्रं तर्हि भिद्यते । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं सवर्णसंज्ञायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् इति। नैष दोषः। नहि लौकिकमास्यम् । किं तर्हि । तद्धितान्तमास्यम् । आस्ये भवम् आस्यम्। 'शरीरावयवाद्यत्' । किं पुनरास्ये भवम् । स्थानं करणं च ॥

एवमपि प्रयत..ऽविशेषितो भवति ॥

प्रयत्नश्च विशेषितः। कथम्। नहि प्रयतनं प्रयत्नः। किं तर्हि।

व्यपदेशिवद्भाव से मुखरूप स्थान को भी मुख में स्थान मान लिया जायगा अमुख्य में मुख्य के समान व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। जैसे राहोः शिरः राहु का सिर, यहां सिररूप राहु होने पर भी राहु का सिर ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार यहां भी मुखरूप स्थान को ही उपचार से मुख में स्थान मान लेंगे तो कोई दोष न होगा।

इस प्रकार आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्ति इस नूतन सूत्र से इष्ट सवर्णसंज्ञा सिद्ध तो हो जायगी किन्तु तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् इस पाणिनि सूत्र का भङ्ग हो जायगा। इस लिये नया सूत्र न बना कर जैसा पाणिनि का सूत्र है वैसा तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् यह सूत्र ही रहने दो। यह जो ज ब ग-ड द आदि में सवर्णसंज्ञा प्राप्ति का दोष कहा था वह कोई दोष नहीं । क्योंकि हम लोक प्रसिद्ध मुख को आस्य नहीं मानेंगे किन्तु आस्ये भवम् आस्यम् इस प्रकार आस्य शब्द से तत्र भवः अर्थ में शरीरावयवाद्यत् सूत्र से तद्धित यत् प्रत्यय करके आस्य शब्द बनायेंगे। उसका अर्थ होगा आस्य में अर्थात् मुख में होने वाला। क्या? स्थान और प्रयत्न। जिन वर्णों के स्थान और प्रयत्न तुल्य होंगे वे सवर्णसंज्ञक हो जायेंगे तो ज ब ग ड द की स्थान के तुल्य न होने से सवर्णसंज्ञा न होगी।

तद्धित प्रत्ययान्त आस्य मानने पर भी प्रयत्न अविशेषित रहता है। अर्थात् प्रयत्न का विशेषण आस्य न रहा। तुल्यास्य प्रयत्नम् यह द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि है, ऐसा मान कर यह आक्षेप है, उस अवस्था में मुख से बाहर होने वाले प्रयत्न भी सवर्णसंज्ञा में आवश्यक हो जायेंगे।

प्रयत्न को भी विशेषित अर्थात् विशेषणयुक्त कर देंगे । कैसे? केवल प्रयतनमात्र को प्रयत्न नहीं मानेंगे अपितु यत्न के प्रारम्भ को प्रयत्न मानेंगे।

प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः ।

यदि प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः एवमप्यवर्णस्य एङोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ।

प्रश्लिष्टावर्णावेतौ ।

अवर्णस्य तर्ह्यैचोश्च सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ।

विवृततरावर्णावेतौ ।

एतयोरेव तर्हि मिथः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति ।

नैतौ तुल्यस्थानौ ।

उदात्तादीनां तर्हि सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति ।

यत्न का प्रारम्भ स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों से होता है इस लिये उन की तुल्यता में ही सवर्णसंज्ञा होगी । उस में बाह्यों की आवश्यकता नहीं ।

यत्न के प्रारम्भ को प्रयत्न मानने पर अवर्ण और एङ् (ए ओ) की भी सवर्णसंज्ञा प्राप्त होगी । क्योंकि ए ओ में अवर्ण के मिश्रित होने से उन के उच्चारण में यत्न का प्रारम्भ अवर्ण से है ।

ए ओ में यद्यपि अवर्ण मिश्रित है परन्तु वह प्रश्लिष्ट है । जैसे धूल और पानी मिले हुए पृथक् नहीं किये जा सकते वैसे ही ए ओ में मिश्रित अकार है ।

ऐ औ में सही । वहां तो अवर्ण विश्लिष्ट किया जा सकता है । यत्न का प्रारम्भ प्रयत्न मानने पर 'ऐ' 'औ' में मिश्रित अवर्ण की ऐ औ के साथ सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है ।

ऐ औ में जो मिश्रित अवर्ण है वह स्वतन्त्र अवर्ण से विवृततर है । स्वतन्त्र अवर्ण का प्रयत्न विवृत है । ऐ औ मिश्रित का विवृततर है । इस प्रकार प्रयत्नभेद होने से सवर्णसंज्ञा न होगी ।

ऐ औ की ही आपस में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होती है ।

ऐ औ दोनों तुल्यस्थान वाले नहीं हैं । ऐ कण्ठ तालु है । औ कण्ठोष्ठ है । इस लिये यत्न का प्रारम्भ प्रयत्न मानने पर भी तुल्यस्थान वाले न होने से ऐ औ की सवर्णसंज्ञा नहीं होगी ।

उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों के उच्चारण में यत्न के प्रारम्भ का भेद होने से उदात्तादि भेदभिन्न वर्णों की सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती है ।

अभेदका उदात्तादयः ।

अथवा किं न एतेन प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न इति । प्रयतनमेव प्रयत्नः तदेव च तद्धितान्तमास्यम् । यत् समानं तदाश्रयिष्यामः ॥

किं सति भेदे ? ॥

सतीत्याह । सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम् । कुत एतत् ।

उदात्तादि स्वर अभेदक माने गये हैं इस लिये उन में भेद न होने से वहां सवर्णसंज्ञा हो जायगी । जब तक विशेष शब्द द्वारा उदात्त आदि का विधान न किया जावे तब तक उदात्तादि का परस्पर भेद नहीं माना जाता यह सिद्धान्त अस्थि दधि० सूत्र के उदात्तग्रहण से ज्ञापित होता है जो पहले वृद्धिरादैच् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट हो चुका है ।

अथवा हमें इस से क्या कि यत्न के प्रारम्भ को ही प्रयत्न मानें, हम सामान्य प्रयत्नमात्र को प्रयत्न मान लेंगे । और तद्धितप्रत्ययान्त आस्य शब्द को मानेंगे । बाह्य और आन्तर सब प्रकार के प्रयत्नों में जो भी समान एवं तुल्य होगा उस की तुल्यता होने पर सवर्णसंज्ञा हो जायगी ।

क्या कुछ प्रयत्नों के भिन्न होने पर और कुछ के समान होने पर जो उन में समान प्रयत्न होंगे उन की तुल्यता में सवर्णसंज्ञा मानोगे या सर्वथा सब प्रयत्नों के समान होने पर ? भाव यह है कि जिस प्रकार स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के समान होने पर और विवार संवार आदि बाह्य प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानते हो वैसे विवार संवार आदि बाह्य प्रयत्नों के समान होने तथा स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानते हो या नहीं ?

कुछ प्रयत्न भिन्न होने पर ही समान प्रयत्नवालों की सवर्णसंज्ञा मानेंगे । क्योंकि भेद होते हुए समानता में सवर्णसंज्ञा ने होना है । वह भेदमूलक ही होती है । यदि जहां सब कुछ समान हो वहां सवर्णसंज्ञा मानी जावे तो सवर्णसंज्ञा करना ही व्यर्थ होगा । भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है इस विषय में झरो झरि सवर्णे सूत्र का सवर्णग्रहण ही ज्ञापक है । उस सूत्र में सवर्णग्रहण इस लिये किया है कि यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इस यथासंख्य नियम को रोक कर हल् से परे जो झर् उस का सवर्णी झर् परे रहते लोप हो जावे । जैसे शिण्ढि यहां शिष् धातु के लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में श्नम् विकरण के अकार का लोप होकर शिन्ष्-धि इस अवस्था में झलां जश् झशि से ष को ड, ष्टुना ष्टुः से ध

भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा। यदि हि यत्र सर्वं समानं तत्र स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

यदि तर्हि सति भेदे किंचित्समानमिति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति। शकारछकारयोः षकारठकारयोः सकारथकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। एतेषां हि सर्वमन्यत् समानं करणवर्जम् ॥

एवं तर्हि प्रयतनमेव प्रयत्नः। तदेव हि तद्धितान्तमास्यम्। न त्वयं द्वन्द्वः आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नमिति। किं तर्हि त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः। तुल्य आस्ये प्रयत्न एषामिति। अथवा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो

को ढ होता है। फिर न् को अनुस्वार परसवर्ण होकर ण् होता है। उस हल् णकार से परे झर् डकार का उस के सवर्णी झर् ढकार के परे रहते लोप होता है। यदि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा हो तो यहां डकार ढकार सवर्ण न बन सकेंगे। सवर्ण न बनने पर ढकार परे रहते डकार का लोप न हो सकेगा। क्योंकि डकार ढकार की अन्य सब समानता होने पर भी अल्पप्राण तथा महाप्राण-रूप बाह्य प्रयत्न की असमानता है। डकार अल्पप्राण है। ढकार महाप्राण है। संवार नाद घोष तथा स्पृष्ट प्रयत्न एवं मूर्धा स्थान दोनों के समान हैं। सब कुछ समानता होने पर यथासंख्य नियम से ही काम चल जाता तो सवर्णग्रहण व्यर्थ था। इस लिये वह इस बात का ज्ञापक है कि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती।

यदि भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है तो शकार छकार, षकार ठकार और सकार थकार इन की भी आपस में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होगी। क्योंकि इन वर्णों का और सब समान है केवल आभ्यन्तर प्रयत्न को छोड़ कर। श ष स का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है और छ ठ थ का स्पृष्ट है। अन्य तालु आदि स्थान तथा विवार श्वास अघोष महाप्राण ये सब प्रयत्न समान हैं।

अच्छा तो प्रयत्न तो सामान्य प्रयत्न ही माना जायगा। और आस्य भी तद्धितप्रत्ययान्त ही मानेंगे किन्तु तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त पद में आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् तुल्यमास्यप्रयत्नं यस्य ऐसा द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास न मान कर तुल्य आस्ये प्रयत्न एषाम् इस प्रकार त्रिपद बहुव्रीहि मानेंगे। अथवा तुल्य आस्ये तुल्यास्यः[1] इस प्रकार पहले पदों का तत्पुरुष करके फिर प्रयत्न शब्द

---

१. मयूरव्यंसकादि होने से यहां सप्तम्यन्त उत्तरपद वाला तत्पुरुष है।

बहुव्रीहिः। तुल्य आस्ये तुल्यास्यः। तुल्यास्यः प्रयत्न एषामिति। अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः। आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः। तुल्य आस्यप्रयत्न एषामिति॥

तस्य।

तस्येति तु वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः स तस्य सवर्णसंज्ञो यथा स्यात्। अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञो मा भूत्॥

तस्यावचनं वचनप्रामाण्यात्।

तस्येति न वक्तव्यम्। अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः कस्मान्न भवति। वचनप्रामाण्यात्। सवर्णसंज्ञावचनसामर्थ्यात्। यदि हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसंज्ञः स्यात् सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात्।

के साथ बहुव्रीहि मानेंगे। या आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्न इस प्रकार पिछले पदों का तत्पुरुष करके फिर तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि समास मानेंगे तो उन सब का अर्थ होगा जिन का एक ही स्थान में तुल्य प्रयत्न हो उन की सवर्णसंज्ञा होती है तो शकार छकारादि की आपस में सवर्णसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि शकार छकारादि का जो स्थान है तालु आदि, वह जहां है वहीं प्रयत्न तुल्य होना चाहिये। अर्थात् स्थान और प्रयत्न दोनों की एक जगह होनी चाहिये। दोनों एक ही स्थान पर हों, अलग अलग न हों। तालु आदि मुख में हैं तो आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता में सवर्णसंज्ञा होगी बाह्य की तुल्यता में नहीं। शकार छकारादि का आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य न होने से सवर्णसंज्ञा न होगी।

सवर्णसंज्ञा में तस्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये। जिस से जो जिस का समान स्थान प्रयत्न वाला है उस की उस से ही सवर्णसंज्ञा हो। अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसंज्ञा न हो।

सवर्णसंज्ञा में तस्य शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। सवर्णसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से ही अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसंज्ञा न होगी। यदि अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसंज्ञा हो जावे तो सवर्णसंज्ञा वचन ही व्यर्थ हो जायगा। सवर्णसंज्ञा इसी लिये की जाती है कि जिस का जिस के साथ स्थानप्रयत्न मिलता है वह उसी के साथ

---

१. त्रिपद बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात होना चाहिये था, तुल्य आस्ये

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दः मातरि वर्तितव्यम् । पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि स्वस्मिन् पितरीति । सम्बन्धाच्चैतद् गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति । एवमिहापि तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमित्यत्र सम्बन्धिशब्दावेतौ । तत्र सम्बन्धादेतदवगन्तव्यं यत्प्रति यत् तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत् सवर्णसंज्ञं भवतीति ।

ऋकारऌकारयोः सवर्णविधिः ।

ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया । होतृ-ऌकारः होतॄकार इति । किं प्रयोजनम् । अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ।

सवर्णसंज्ञक हो । दूसरे के साथ नहीं । वैसे भी यह बात सम्बन्धी शब्दों के तुल्य समझिये । जैसे सम्बन्धी शब्द माता पिता आदि हैं । जब हम कहते हैं कि माता का आदर करना चाहिये या पिता की सेवा करनी चाहिये तो वहां अपनी माता या अपने पिता न कहने पर भी अपने ही माता पिता समझे जाते हैं दूसरे के नहीं । सम्बन्ध से यह स्वयं समझ लिया जाता है कि जो जिस की माता और पिता है वह उस का आदर या सेवा करे । इसी प्रकार यहां सवर्णसंज्ञा में भी तुल्यास्यप्रयत्न और सवर्ण ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं । वहां दोनों के सम्बन्ध से यह बात स्वयं समझ ली जायगी कि जिसका जिसके साथ स्थान प्रयत्न तुल्य है उस की उस के साथ सवर्णसंज्ञा होती है । दूसरे की दूसरे के साथ नहीं ।

ऋकार और ऌकार की सवर्णसंज्ञा कहनी चाहिये । क्योंकि दोनों के स्थान न मिलने से तुल्यास्य० सूत्र से सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । होतृ-ऌकारः यहां होतृ के ऋकार से ऌकार परे रहते सवर्णसंज्ञा हो जाने से अकः सवर्णे दीर्घः सूत्र से दोनों के स्थान में दीर्घ ॠकार आदेश होकर होतॄ कारः यह रूप सिद्ध हो जायगा । ॡवर्ण क्योंकि दीर्घ नहीं होता इस लिये ऋ ऌ के स्थान में ॡ का सवर्ण ॠ दीर्घ हो जाता है ।

तुल्यास्यः यह तत्पुरुष पूर्वपदार्थ प्रधान होने से अगतिक की गति है, अतः भाष्य में यह तृतीय प्रकार का समास माना है ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत् सवर्णदीर्घत्वे ऋति ऋ वा वचनम् । ऌति ऌ वा वचनमिति ।

तत्सवर्णे यथा स्यात् । इह मा भूत् । दध्य्ऌकारः मध्व्ऌकार इति ॥

यदेतत् सवर्णदीर्घत्वे ऋतीति एतद् ऋतः इति वक्ष्यामि । ततः ऌति । ऌकारे परतः ऌकारो वा भवतीति । ऋत इत्येव ॥

तन्न वक्तव्यं भवति ॥

यह कोई प्रयोजन नहीं । आगे अकः सवर्णे० सूत्र पर वार्तिक कहेंगे ऋति ऋ वा वचनम् । ऌति ऌ वा वचनम् । उन का अर्थ है अक् से परे ऋकार होने पर पक्ष में रेफद्वययुक्त द्विमात्रिक ऋ होता है और पक्ष में दीर्घ होता है । ऌकार परे रहते पक्ष में ऌकारद्वययुक्त द्विमात्रिक ऌ होता है और पक्ष में दीर्घ होता है । उस से होतृऌकारः यहां ऌकार परे रहते ऌ के दीर्घ न होने के कारण स्थानेन्तरतम परिभाषा से पक्ष में ॠकार दीर्घ होकर होतॄकारः यह रूप बन जायगा ।

उन वार्तिकों से दीर्घ विधान एवं ऋ ऌ विधान करनें में भी सवर्णसंज्ञा की आवश्यकता है । जिस से सवर्णी ऋकार ऌकार परे रहते ही पक्ष में दीर्घहो । दधि-ऌकारः मधु-ऌकारः यहां दीर्घ न हो । इकार उकार का सवर्णी ऌ नहीं है इसलिये दीर्घ न होकर यण् होता है । ऋ ऌ की सवर्णसंज्ञा के अभाव में यहां भी दीर्घ ॠकार हो जाता ।

ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया इस वचन के विना भी होतृ-ऌकारः=होतॄकारः यह रूप बन जायगा । ऋति ऋ वा वचनम् इस वार्तिक में जो ऋति यह सप्तम्यन्त है उसे बदल कर ऋतः इस प्रकार पञ्चम्यन्त करेंगे । ऋतः ऋ वा वचनम् का अर्थ होगा ऋ से सवर्णी अच् परे रहते रेफद्वययुक्त ऋ हो और पक्ष में दीर्घ हो । ऋ का सवर्णी ऋ ही होता है इस लिये होतृ-ऋकारः यहां रेफद्वययुक्त ऋ के पक्ष में होतृकारः और दीर्घपक्ष में होतॄकारः ये दो रूप बन जायेंगे । ऌति ऌ वा वचनम् में ऋतः इस पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति करके अर्थ होगा ऋकार से परे ऌकार होने पर पक्ष में रेफलकारयुक्त ऌ और दीर्घ होता है । होतृ-ऌकारः यहां पक्ष में ऌ और दीर्घ होकर होत् ऌकारः, होतॄकारः ये दो रूप विना सवर्णसंज्ञा के भी बन जायेंगे ।

सवर्णसंज्ञाविधायक इस वार्तिक के बनने पर ऋति ऋ वा वचनम्, ऌति ऌ वा वचनम् इन वार्तिकों के बनाने की आवश्यकता नहीं रहती । (सवर्णसंज्ञा-

अवश्यं तद् वक्तव्यम्। ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञो भवतीत्युच्यते। न च ऋकार लृकारो वाऽजस्ति॥

ऋकारस्य लृकारस्य चाच्त्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। प्लुतो यथा स्यात्। होतृ-ऋकारः-होतृकारः। होतृ ३ कार इति। होतृ-लृकारः। होत्लृकारः। होत्लृ ३ कार इति॥

किं पुनरत्र ज्यायः॥

विधायक एक वार्तिक करने में ही लाघव है) क्योंकि दोनों वार्तिकों से विधीयमान रेफद्वययुक्त ॠ और रेफलकारयुक्त ॡ दीर्घ माने गये हैं। ऋकारलृकारयोः वार्तिक से ॠ ॡ की सवर्णसंज्ञा होने पर अकः सवर्णे दीर्घः सूत्र से होतृ-ऋकारः यहां दो ऋकारों के रेफद्वययुक्त होने से और विवृत होने से ॠ और ॠ दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होतृकारः, होतॄकारः ये दोनों रूप बन जायेंगे। इसी प्रकार होतृ-लृकारः यहां भी ॡ और ॠ ये दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होत्ॡकारः, होतॄकारः ये रूप बन जायेंगे।

ॠति ॠ वा, ॡति ॡ वा ये दोनों वार्तिक तो अवश्य बनाने होंगे क्योंकि किन्हीं आचार्यों के मत में ये विधीयमान ॠ ॡ ढाईमात्रावाले या ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले होने से अच् प्रत्याहारस्थ विवृत प्रयत्नवाले ऋ लृ के सवर्णी नहीं होंगे तो अकः सवर्णे से पक्ष में दीर्घ न हो सकेंगे। ऊकालोऽज् ह्रस्वदीर्घप्लुतः सूत्र से द्विमात्रिक अच् की दीर्घ संज्ञा होती है। ढाईमात्रावाले की नहीं। इस अवस्था में विधीयमान ॠ ॡ अच् ही न होंगे तो दीर्घ कैसे होंगे।

वार्तिकों द्वारा विधीयमान ॠ ॡ को अच् माना जायगा। पर चूंकि अच्त्व होने पर भी जब तक द्विमात्रिक नहीं तब तक इन की दीर्घसंज्ञा न होगी, इस लिये इन्हें द्विमात्रिक मानना होगा। द्विमात्रिक मान कर दीर्घ संज्ञा हो जाने पर अकःसवर्णे० सूत्र से दोनों प्रकार के दीर्घ होकर चारों रूप सिद्ध हो जायेंगे। ॠ ॡ को अच् मानना वार्तिकद्वय पढ़ने वाले के लिये भी अत्यावश्यक है जिस से होतृ-ऋकारः=होतॄकारः यहां रेफद्वययुक्त ॠ को दूराद्धूते आदि विषय में प्लुत हो कर होतृ ३ कारः यह रूप बन सके। इसी प्रकार होतृ-लृकारः=होत्ॡकारः यहां रेफलकारयुक्त ॡ को प्लुत होकर होत्ॡ३कारः यह बन सके। अन्यथा ॠ ॡ का विधान मात्र होगा, अच्-निमित्तक प्लुत कार्य न हो सकेगा।

ॠ ॡ की सवर्णसंज्ञा करने और ॠति ॠ वा, ॡति ॡ वा वार्तिकों से ॠ ॡ विधान करने में कौन अधिक उपयुक्त होगा? अर्थात् ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः इस वचन द्वारा ॠ ॡ की सवर्णसंज्ञा का विधान करना अच्छा है या ॠति ॠ वा, ॡति ॡ वा वार्तिकों का बनाना अच्छा है?

सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः। दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति। अपि च ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति। यथेह भवति। ऋत्यकः खट्व ऋश्यः माल ऋश्यः। इदमपि सिद्धं भवति खट्व लृकारो माल लृकार इति। "वा सुप्यापिशलेः"। उपर्कारीयति, उपार्कारीयति। इदमपि सिद्धं भवति। उपल्कारीयति। उपाल्कारीयति॥

यदि तर्हि ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति। उरण् रपरः। लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति॥

लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। असत्यां सवर्णसंज्ञायां विध्यर्थम्। तदेव सत्यां रेफबाधनार्थं भविष्यति॥

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा विधान करना ही अधिक अच्छा है। ऋति ऋ वा, लृति लृ वा विधान की अपेक्षा यही अधिक उपयुक्त होगा। दोनों की सवर्णसंज्ञा होने पर एक तो अकः सवर्णे॰ सूत्र से दीर्घ सिद्ध हो जायगा जिस में चारों रूप उक्त रीति से बन जायेंगे। और अन्यत्र स्थानों में ऋकार से लृकार का ग्रहण भी कर लिया जायगा। जैसे ऋत्यकः यह सूत्र खट्वा-ऋश्यः=खट्वऋश्यः। माला-ऋश्यः मालऋश्यः यहां ऋकार परे रहते ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव करता है वैसे खट्वा-लृकारः=खट्वलृकारः। माला-लृकारः=माललृकारः यहां लृकार परे रहते भी कर देगा। वा सुप्यापिशलेः यह सूत्र जैसे उप-ऋकारीयति=उपर्कारीयति, उपार्कारीयति यहां ऋकार परे रहते वृद्धिविकल्प करता है वैसे उप-लृकारीयति–उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति यहां लृकार परे रहते भी लग जायगा

ऋकार से लृकार का ग्रहण मानने पर उरण्रपरः सूत्र में भी ऋकार से लृकार का ग्रहण होगा तो लृकार के स्थान में ऋकार की तरह रपर प्राप्त होगा। इस का उत्तर है —

लृकार के स्थान में होने वाले अण् को रपर न कह कर लपर कह देंगे। अर्थात् रपर शब्द में र शब्द र संज्ञक प्रत्याहार माना जायगा जो हयवरट् सूत्र के रेफ से लेकर लण् सूत्र के अकार तक मध्य में आने वाले रेफ और लकार इन दो वर्णों का ग्राहक होगा। उस से ऋ के स्थान में रपर और लृ के स्थान में लपर सिद्ध हो जायगा। लपर का कहना आवश्यक भी है। ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर वह विध्यर्थ होगा। नया विधान होगा। और दोनों की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ के स्थान में रेफ को बाधने के लिये उपयुक्त होगा।

इह तर्हि रषाभ्यां नो णः समानपदे इत्यत्र ऋकारग्रहणं चोदितम्। मातॄणां पितॄणामित्येतदर्थम्। तदिहापि प्राप्नोति क्लृप्यमानं पश्येति॥

अथासत्यामपि सवर्णसंज्ञायामिह कस्मान्न भवति प्रक्लृप्यमानं पश्येति। 'चुटुतुलशर्व्यवाये ने'ति वक्ष्यामि। अपर आह 'त्रिभिश्च-मध्यमैर्वर्गैर्लशसैश्च व्यवाये ने'ति वक्ष्यामि इति। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते इति योऽसौ लृकारे लकारस्तदाश्रयः प्रतिषेधो भविष्यति। यद्येवं नार्थो रषाभ्यां नो णत्वे ऋकारग्रहणेन। वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्त इति योऽसौ ऋकारे रेफस्तदाश्रयं णत्वं भविष्यति॥

नाज्झलौ ॥१।१।१०॥

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झलत्वात्।

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः

ऋकार लृकार की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ को ऋ समझा जायगा तो क्लृप्यमानं पश्य यहां रषाभ्यां नो णः० सूत्र में पठित ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् इस वार्तिक से न् को ण् प्राप्त होगा। इस का उत्तर यह है—

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर भी प्रक्लृप्यमानं पश्य यहां कृत्यचः सूत्र से प्राप्त न् को ण् क्यों नहीं होता? तो आप कहेंगे चुटुतुलशर्व्यवाये न या त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैर्लशसैश्च व्यवाये न इन वचनों से निषेध हो जायगा इस लिये यहां णत्व नहीं होता। उक्त दोनों वचनों का अर्थ है—चवर्ग टवर्ग तवर्ग लकार शकार के व्यवधान में र ष से परे न को ण नहीं होता। प्रक्लृप्यमानम् में वर्णों के एकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं इस पक्ष को लेकर लृकार के एकदेश (अवयव) लकार का व्यवधान होने से णत्व नहीं होगा तो प्रक्लृप्यमानम् पश्य यहां भी दोष नहीं। क्योंकि वर्णैकदेशों को वर्णग्रहण से गृहीत मानने पर रषाभ्यां नो णः० सूत्र में ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् इस वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं रहती। ऋवर्ण में जो उस का एकदेश रेफ है उस को वर्णग्रहण से गृहीत मान कर रेफ समझा जायगा। उस अवस्था में रषाभ्यां०सूत्र से ही ऋवर्ण से परे भी णत्व सिद्ध हो जायगा। क्लृप्यमानम् में रेफ न होने से णत्व न होगा। यदि वर्णैकदेशों को वर्णग्रहण से गृहीत न मानें तो मातॄणाम् पितॄणाम् में णत्व करने के लिये रषभ्यां० सूत्र में ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् यह वार्तिक बनाना पड़ेगा। उस समय ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा मानने पर क्लृप्यमानम् में णत्व प्राप्त होता है वह क्षुभ्नादिषु च सूत्र से रोक दिया जायगा। इस प्रकार ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा करने में कहीं कोई दोष नहीं आता॥

तुल्य स्थान प्रयत्न वाले अच् और हल् की आपस में सवर्णसंज्ञा नहीं होती यह इस सूत्र का अर्थ है। सूत्र में पठित अच् शब्द इको यणचि आदि की तरह अपने सब सवर्णियों को ग्रहण कर रहा है ऐसा समझते हुए शङ्का करते हैं कि

प्राप्नोति। किं कारणम्। अज्झल्त्वात्। अच्चैव हि शकारो हल् च। कथं तावदच्त्वम्। इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम्। हल्षु चोपदेशाद् हल्त्वम्।

तत्र को दोषः। तत्र सवर्णलोपे दोषः। तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति। परश्शतानि कार्याणि। झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति॥

सिद्धमनच्त्वात्।

सिद्धमेतत्। कथम। अनचत्वात। कथमनच्त्वम्। स्पृष्टं करणं

अच् हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा के निषेध में शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है क्योंकि शकार अच् और हल् दोनों हैं। अच् कैसे है? इकार सवर्णग्रहण (सवर्णग्राहक अणुदित् शास्त्र) से जैसे ईकार को गृहण करता है वैसे स्थान प्रयत्न तुल्य होने से शकार को भी ग्रहण करेगा तो ईकार की तरह शकार भी अच् हो जायगा। हल् प्रत्याहारों में पठित होने से शकार हल् है ही। स्वयं अपने अन्दर सूत्र का व्यापार न होने से नाज्झलौ यह सूत्र इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध नहीं करेगा। यस्येति च इत्यादि विधियों में तो इस शास्त्र से सवर्णत्व का निषेध हो जाने से इकार से शकार का ग्रहण न होगा। अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त इकार शकार की सवर्णसंज्ञा बनी रहेगी सवर्णग्रहण से शकार अच् और हल् दोनों प्रकार का रहेगा। उस अच् हल् रूप शकार का हल् शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है।

शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में क्या दोष है? सवर्णलोप में दोष है। परश्शतानि कार्याणि यहां शतानि का शकार परे रहते पूर्ववर्ती दूसरे सवर्णी शकार का झरो झरि सवर्णे से लोप नहीं प्राप्त होगा। परश्शतानि में शतात् पराणि यह पञ्चमी तत्पुरुष समास है। उस में पर शब्द का पूर्वनिपात हुआ है। पारस्करादि गणपठित होने से शत से पूर्व सुट् का आगम होकर सुट् के स को रु, रु को विसर्ग, विसर्ग को वा शरि से पक्ष में सकार और सकार को श्चुत्व से शकार होता है। अनचि च से उस शकार को पक्ष में द्वित्व हो कर परश्श्शतानि इस प्रकार तीन शकारवाला रूप बनता है। झरो झरि सवर्णे से हल् रूप पूर्व शकार से परं वर्तमान मध्यवर्ती दूसरे शकार का सवर्णसंज्ञक शतानि के शकार के परे रहते पक्ष में लोप अभीष्ट है वह शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा न होने से प्राप्त नहीं होता।

शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। उसका निषेध

स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् । विवृतमूष्मणाम् । ईषदित्येवानुवर्तते । स्वराणां च विवृतम् । ईषदिति निवृत्तम् ॥

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा ।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत् । किमिदं वाक्यापरिसमाप्ते-रिति । वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येन सहेतेति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा । सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति सवर्णग्रहणम् । एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। नचात्रेकारः शकारं गृह्णाति ॥

नहीं होगा । क्योंकि शकार के अच् न होने से वह हल् ही रहेगा । शकार का विवृत प्रयत्न न मान कर ईषद्विवृत मानेंगे । इकार का केवल विवृत । तब प्रयत्नभेद होने से सवर्णसंज्ञा प्राप्त ही न होगी तो नाज्झलौ इस निषेध सूत्र की भी आवश्यकता नहीं रहती । कवर्ग से पवर्ग तक २५ स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है । य व र ल इन अन्तस्थों का ईषत्स्पृष्ट है । श ष स ह इन ऊष्मों का ईषत् की अनुवृत्ति ला कर ईषद्विवृत प्रयत्न है । स्वरों का केवल विवृत है । उसमें ईषत् शब्द की अनुवृत्ति नहीं आती ।

इकार शकार का विवृत प्रयत्न मानने पर भी वाक्य की परिसमाप्ति न होने से दोष न होगा । वाक्य परिमाप्ति में इकार शकार को ग्रहण नहीं करेगा इस लिये शकार अच् न होने से हल् ही रहेगा । यह वाक्यापरिसमाप्ति क्या है ? पहले वर्णों का उपदेश, उपदेश के बाद उपदेशेऽजनुनासिक इत् हलन्त्यम् इन सूत्रों से इत्संज्ञा, इत्संज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहेता सूत्र से प्रत्याहार, प्रत्याहार के बाद तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्, नाज्झलौ इन दोनों सूत्रों से मिल कर सवर्णसंज्ञा, सवर्णसंज्ञा के बाद अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस ग्रहणक शास्त्र से सवर्ण का ग्रहण होता है । यह क्रमिक वाक्यार्थबोध वाक्यपरिसमाप्ति कहाता है । इसका अभाव वाक्यापरिसमाप्ति है । इस वाक्यपरिसमाप्ति में शकार अच् नहीं बनता । क्योंकि अपवादविषय को छोड़ कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति का नियम है इसलिये नाज्झलौ इस अपवादरूप निषेध सूत्र का वाक्यार्थबोध निष्पन्न होने पर ही तुल्यास्य० सूत्र से सवर्णसंज्ञा पूर्ण परिष्कृत होती है । उस में इकार के अच् और शकार के हल् होने से उन की सवर्णसंज्ञा का निषेध हो जायगा । जब इकार शकार सवर्ण ही नहीं बने तो अणुदित्सूत्र से अण् संज्ञक इकार, शकार को कैसे ग्रहण करेगा । केवल सवर्ण होने से शकार अच् नहीं हो सकता जब तक अणुदित्सूत्र से इकार

यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णाति एवमीकारमपि न गृह्णीयात्, तत्र को दोषः । कुमारी-ईहते=कुमारीहते । अकः सवर्णे दीर्घः इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ॥

नैष दोषः। यदेतदकः सवर्णे इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं तत्रेकारः ईकारं गृह्णाति शकारं न गृह्णाति ॥

अपर आह।

द्वारा उस का ग्रहण न हो। अणुदित्सूत्र के वाक्यार्थबोध से पूर्व (पदार्थोपस्थिति वेलामें) स्वयं अणुदित्सूत्र के अण् ग्रहण में, नाज्झलौ इस निषेधसूत्र के अच् ग्रहण में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकता। इस लिये नाज्झलौ में जो अच् शब्द है वह केवल प्रत्याहारपठित अक्षरों का बोधक है उसके सवर्णियों का नहीं तो इकार के साथ शकार को अच् नहीं माना जायगा। उस अवस्था में शकार केवल हल् ही होगा। अच् हल् दोनों न होने से शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध न होगा तो परश्शतानि में शकार का लोप सिद्ध हो जायगा। उपदेश, इत्संज्ञा, प्रत्याहार और सवर्णसंज्ञा इन सब का पहले वाक्यार्थबोध होकर फिर अणुदित्सूत्र की प्रवृत्ति होती है। न तो उपदेश आदि अङ्गों में और न अपने अन्दर। इनसे अन्यत्र अस्य च्वौ इत्यादि स्थलों में अण सवर्ण को ग्रहण करता है। इस वाक्य परिसमाप्ति में नाज्झलौ से सवर्णसंज्ञा का निषेध होने से इकार शकार को ग्रहण नहीं करेगा तो शकार अच् न होगा। हां, दीर्घ ईकार शकार की तो सवर्णसंज्ञा बनी रहेगी। शकार के समान दीर्घ ईकार भी नाज्झलौ के अच् में न आने से उसका निषेध नहीं हो सकता। पर वहां दोनों में से किसी के भी अण् न होने से अणुदित् से सवर्णग्रहण न होगा तो कोई दोष न होगा। इसी लिये कुमारी शेते में ईकार शकार के सवर्ण होने पर भी ग्रहण न होने से शकार अच् नहीं बनता है तो सवर्ण दीर्घ नहीं होता।

यदि इस प्रकार इकार शकार को ग्रहण नहीं कर सकता तो ईकार को भी ग्रहण न करे। वहां क्या दोष है? कुमारी-ईहते=कुमारीहते यहां अकः सवर्णे सूत्र से दीर्घ नहीं प्राप्त होगा।

यह कोई दोष नहीं। अकः सवर्णे सूत्र में जो अक् अच् प्रत्याहार हैं उन में इकार, ईकार को तो ग्रहण कर लेगा किन्तु शकार को ग्रहण नहीं करेगा। क्योंकि अकः सवर्णे के वाक्यार्थ बोध काल में अणुदित्० पर्यन्त महावाक्य के अर्थ की परिपूर्णता हो जाने से वाक्यपरिसमाप्ति न्याय से इकार और ईकार की तुल्यास्य सूत्र द्वारा सवर्णसंज्ञा हो कर इकार रूप अण् से ईकार का ग्रहण हो जायगा।

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्त्वात् ।

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति। किं कारणम्। अज्झल्त्वात्। अच्चैव हि शकारो हल् च। कथं तावदच्त्वम्। इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्त्वम्। हल्षूपदेशाद् हल्त्वम्। तत्र को दोषः। तत्र सवर्णलोपे दोषः। तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति। परश्शतानि कार्याणि। झरोझरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति। सिद्धमनच्त्वात्। सिद्धमेतत्। कथम्। अनच्त्वात्। कथमनच्त्वम्। वाक्यापरिसमाप्तेर्वा। उक्ता वाक्यापरिसमाप्तिः॥

अस्मिन् पक्षे वेत्येतदसमर्थितं भवति॥

एतच्च समर्थितम्। कथम्। अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञा मा वा भूत्। ननु चोक्तं परश्शतानि कार्याणि। झरो झरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोतीति। मा भूल्लोपः॥

ननु च भेदो भवति। सति लोपे द्विशकारकम्। असति लोपे त्रिशकारकम्। नास्ति भेदः। असत्यपि लोपे द्विशकारकमेव। कथम्।

परन्तु इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का इस सूत्र द्वारा निषेध हो जाने से शकार सवर्ण न होगा तो इकार से उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

इसी उक्त बात को दूसरे व्याख्याता इस प्रकार कहते हैं। अज्झलोः प्रतिषेधे० इत्यादि का अर्थ पूर्ववत् ही है। केवल शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये वाक्यापरिसमाप्ति यह एक ही हेतु दिया गया है। उस में वा शब्द का प्रयोग किया है।

इस दूसरी व्याख्या में वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यह 'वा' शब्द निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये केवल वाक्यापरिसमाप्ति रूप एक ही हेतु दिया गया है। उस में विकल्पार्थक वा शब्द व्यर्थ है।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यहां वा शब्द व्यर्थ नहीं है। बल्कि प्रयोजन वाला है। इस वा शब्द का यह अर्थ है कि शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा हो या न हो, कोई हानि नहीं। परश्शतानि में झरो झरि सूत्र से शकार का लोप न हो तो भी कोई दोष नहीं।

दोष क्यों नहीं। जब कि रूप में भेद होता है। लोप होने पर दो शकार वाला रूप होगा। लोप न होने पर तीन शकार वाला। यह भेद नहीं होने देंगे।

विभाषा द्विर्वचनम् । एवमपि भेदः । असति लोपे कदाचिद् द्विशकारकं कदाचित् त्रिशकारकम् । सति लोपे द्विशकारकमेव । स एष कथं भेदो न? ॥

स्याद् यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा तु स लोपः । यथाऽभेद-स्तथास्तु ॥

लोप न होने पर भी दो शकार वाला ही रूप रहेगा। कैसे? अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है। जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होगा। वहां दो शकार वाला रूप निर्बाध रहेगा। भेद तो फिर भी रहेगा ही। क्योंकि लोप न होने पर द्वित्व के विकल्प से कभी दो शकार वाला, कभी तीन शकार वाला रूप होगा। लोप होने पर तो सर्वथा दो शकार वाला ही रूप रहेगा। इस प्रकार यह भेद क्यों नहीं है?

भेद तब होता यदि झरो झरि से लोप नित्य होता। जब झरो झरि से लोप भी विकल्प से होता है और अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है तब भेद कैसे हो सकता है। अनचि च में यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा से विकल्प की अनुवृत्ति आती है और झरो झरि सवर्णे में झयो होन्यतरस्याम् से विकल्प की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार दोनों का विकल्प होने से जिस प्रकार रूप में अभेद अथवा भेद का अभाव हो सके वैसा कर लेंगे। अर्थात् जब तीन शकार वाला परश्शशतानि यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व करके लोप का अभाव रखेंगे। जब दो शकार वाला परश्शतानि ऐसा, जैसा प्रायः लिखा जाता है यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व का अभाव रखेंगे। द्वित्व के अभाव में लोप के होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भाव यह है कि परश्शशतानि में शकार को द्वित्व कर के लोप के भावाभाव विकल्प में क्यों पड़ते हो। द्वित्व ही न करो, केवल दो शकार वाला रूप ही इष्ट मान लो= तव अज्झलोः प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधः० यह वार्तिक भी अनावश्यक होने से समूल उन्मूलित हो जायगा॥

इति चतुर्थमाह्निकम् ॥

पञ्चम आह्निक के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥ सूत्र से लेकर क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२६॥ सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित विचार ये हैं—

इदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥

(क) ईदूदेत्० में तपर का प्रयोजन बता कर तपर के रहने पर भी प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) सूत्र के अर्थ में ४ पक्ष दिखा कर उनमें शेष पक्षों का खण्डन करके दूसरे पक्ष को स्वीकार किया गया है। वे पक्ष हैं—

१. ईकारादि रूप जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

२. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

३. ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

४. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दसमुदाय उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अदसो मात् ॥१।१।१२॥

(क) अमी अत्र, अमू अत्र, अमी आसते, अमू आसाते यहां ईत्व ऊत्वमत्व की असिद्धता विविध युक्तियों से निराकरण कर प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) अदस् के मकार से परे ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा न मान कर ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा मानी है।

(ग) अदसः। मात्। इस प्रकार योगविभाग करके पूर्व सूत्र इदूदेत् से आने वाली एकारान्त की अनुवृत्ति का निषेध भी किया है।

शे ॥१।१।१३॥ काशे कुशे वंशे हरिशे बभ्रशे आदि में श्रूयमाण 'शे' शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

निपात एकाजनाङ् ॥१।१।१४॥

(क) निपातः, एकाच्, अनाङ् इन सत्र का पदकृत्य दिखाया है।

(ख) एक ग्रहण का खण्डन करके उससे वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा ज्ञापित की है।

(ग) आङ् कहां ङित् है, कहां अङित् है यह ईषदर्थे क्रियायोगे० इत्यादि श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया है।

ओत् ॥१।१।१५॥ सूत्र के आहो इति, उताहो इति इन उदाहरणों की अन्यथा-सिद्धता का खण्डन करके अदोऽभवत्, तिरोऽभवत्, गोऽभवत् इन च्विप्रत्ययान्त ओदन्त निपातों की प्रगृह्यसंज्ञाप्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

उञ ऊँ ॥१।१।१७॥

(क) आहो इति, उताहो इति में उञ् मान कर ऊँ आदेश की प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

(ख) शाकल्य के मत में उ इति, ऊँ इति ये दो रूप तथा अन्य आचार्यों के मत में विति यह एक रूप सिद्ध करने के लिए उञः। ऊँ। इस प्रकार योगविभाग भी किया है।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१।१।१९॥ ईदूतौ सप्तमीत्येव० इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा अर्थग्रहण का खण्डन करके उस प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता यह सिद्ध किया है। पक्षान्तर में समासावयव ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा रोकने के लिए अर्थग्रहण को स्वीकार भी किया है।

दाधा घ्वदाप् ॥१।१।२०॥

(क) दाधा प्रकृति की घुसंज्ञा मानने में प्रकृति ग्रहण का खण्डन किया है।

(ख) गामादाग्रहणेष्वविशेषः इस परिभाषा द्वारा लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्। इस परिभाषा की अनित्यता सिद्ध की है।

(ग) प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दाधा के समान शब्द दाधा की घुसंज्ञा का निषेध किया है तथा प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में यदागमन्याय से दा धा की घुसंज्ञा मानी है।

(घ) शब्दों को नित्य मानते हुए सर्वे सर्वपदादेशाः० इस वचन द्वारा आगमों को आदेशरूप स्वीकार किया है।

(ङ) स्थाघ्वोरिच्च के कार्य में दीङ् धातु की घुसंज्ञा का निषेध संनिपात-परिभाषा द्वारा अन्यथासिद्ध कर दिया है।

(च) अदाप् से दैप् का निषेध भी मानते हुए नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् इस ज्ञापकसिद्धपरिभाषा को स्वीकार किया है। पक्षान्तर में दैप् धातु न मान कर उसे भी दाप् ही मान लिया है।

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥१।१।२१॥

(क) सूत्र का प्रयोजन बताते हुए उसके स्थान में व्यपदेशिवदेकस्मिन् यह

परिभाषा स्वीकार की है। फिर लोकव्यवहार से आद्यन्तवदेकस्मिन् तथा व्यपदेशिवदेकस्मिन् इन दोनों का ही खण्डन कर दिया है।

(ख) ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ बताए हैं।

(ग) भाष्यकार ने आदि और अन्त का वार्तिककार से भिन्न स्वनिर्मित लक्षण करके सूत्र को स्वीकार किया है।

(घ) आद्यन्तवद्भाव के सब प्रयोजन भी बताये हैं।

तरप् तमपौ घः ॥१।१।२२॥ नदीतर में तर शब्द की घुसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१।१।२३॥

(क) बहु गण आदि के साथ एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा अन्यथासिद्ध करके दिखाई है।

(ख) **कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति** इस परिभाषा के प्रयोजन को दिखाते हुए उसके विरोध में **उभयगतिरिह भवति** इस परिभाषा को भी स्वीकार किया है।

(ग) अध्यर्ध, अर्धपञ्चम, अधिक इन शब्दों की संख्यासंज्ञा वाचिक मानी है।

(घ) अन्त में ज्ञापकसिद्ध होने से बहुगण० सूत्र का खण्डन भी कर दिया है।

ष्णान्ता षट् ॥१।१।२४॥

(क) षट्संज्ञा में उपदेशग्रहण का खण्डन किया है।

(ख) एक शब्द के बहुत से अर्थ दिखाये हैं।

(ग) **यथालक्षणमप्रयुक्ते** कह कर प्रियाष्टौ, प्रियाष्टाः इत्यादि अप्रयुक्त शब्दों को अशुद्ध स्वीकार किया है।

डति च ॥१।१।२५॥ बहुगणवतुडति संख्या वाले डति ग्रहण में तथा डति च वाले डति ग्रहण में किसी एक का प्रत्याख्यान कर दिया है।

क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२६॥ लोतः, गर्तः में क्त शब्द के समान त शब्द की निष्ठासंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

अथ पञ्चमाह्निकम्

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥

किमर्थमीदादीनां तपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ? ॥

तपरस्तत्कालस्येति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् । केषाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् ॥

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति । प्लुतानां तु प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् । अतत्कालत्वात् । नहि प्लुतास्तत्कालाः ॥

असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

ईत् ऊत् एत् की प्रगृह्यसंज्ञा में ईकार ऊकार एकार को तपर किस लिये किया है ?

तपरस्तत्कालस्य सूत्र के नियम से द्विमात्रारूप समान काल वाले ईकार ऊकार एकार का ग्रहण हो कर उन की प्रगृह्यसंज्ञा हो सके । भिन्नकाल वाले की न हो इसलिये ईकार ऊकार एकार को तपर किया है । द्विमात्रारूप समान काल वाले कौन से ईकार ऊकार एकार हैं ? उदात्त अनुदात्त और स्वरित । तपर करने से द्विमात्रिक उदात्त ईकार की तरह द्विमात्रिक अनुदात्त या स्वरित ईकार की भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अन्यथा स्वर भेद से न होती[1] ।

तपर का यह प्रयोजन ठीक तो है किन्तु प्लुत ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती क्योंकि प्लुत त्रिमात्रिक होने से भिन्न काल वाला है ।

दूराद्धूते च आदि सूत्रों से विहित प्लुत पूर्वत्रासिद्धीय होने से प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति असिद्ध है । उस के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही ईकारादि दीखेंगे तो तत्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञक हो जायेंगे ।

---

१. यदि अभेदका उदात्तादयः के अनुसार उदात्तादि स्वर को अभेदक मानें और व्यक्ति पक्ष को छोड़ कर जाति पक्ष को मानते हुए ईकार, ऊकार, एकार अपने सवर्णियों का ग्रहण करें तब तो तपर करना व्यर्थ है । केवल ई, ऊ, ए में सन्ध्यभाव द्वारा असन्देह के लिये ही होगा ।

सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु ॥

कथं ज्ञायते सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति ॥

यदयं 'प्लुतः प्रकृत्ये'ति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? ॥

अप्लुतादप्लुते इत्येतन्न वक्तव्यं भवति ॥

किमतो यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु। संज्ञाविधावसिद्धः। तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

संज्ञाविधौ च सिद्धः। कथम्? कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्। प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति-ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति ॥

स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत सिद्ध माना गया है। उस के सिद्ध होने से तत्काल न होंगे तो प्लुतों की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी।

यह कैसे जाना कि स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत को सिद्ध माना गया है।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् सूत्र से जो प्लुत को प्रकृतिभाव विधान किया है वही इस बात का ज्ञापक है कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है। क्योंकि कार्यी अर्थात् जिसको कार्य होना है उस के होने पर ही कार्य हो सकता है। प्लुत के विद्यमान होने पर ही उसे प्रकृतिभाव किया जा सकता है।

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने का क्या प्रयोजन है?

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने से अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र में अप्लुताद-प्लुते यह नहीं कहना पड़ेगा तो लाघव होगा। अतोऽति इतने सूत्र से प्लुत की व्यावृत्ति हो जायगी। अतः अति में तपर होने से रु को उत्व करने में एकमात्रा काल वाला ही अकार लिया जायगा। प्लुत त्रिमात्रिक है अतः प्लुत अकार में रु को उत्व नहीं होगा।

स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है. इस से क्या? प्रगृह्यसंज्ञा में तो असिद्ध है। उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकार ऊकार एकार तत्काल हो जायेंगे।

प्रगृह्यसंज्ञा में भी प्लुत सिद्ध है। क्योंकि कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। इस नियम से जहां प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है वहीं यह ईदूदेत्० सूत्रोक्त प्रगृह्यसंज्ञा उपस्थित

किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम् ॥

प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

मा भूदेवम् । प्लुतः प्रकृत्येत्येवं भविष्यति ॥

नैवं शक्यम् । उपस्थिते हि दोषः स्यात् । "अप्लुतवदुपस्थिते" इत्यत्र पठिष्यति ह्याचार्यः—वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम् । प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वादिति । तस्मात् प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञैषितव्या । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

हो जायगी तो प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् इस स्वरसन्धि में प्रगृह्यसंज्ञा के उपस्थित हो जाने से प्रगृह्यसंज्ञा में भी प्लुत सिद्ध हो जाता है ।

प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

प्लुतों की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव होना प्रयोजन है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । प्लुत होने से ही प्लुतों को प्रकृतिभाव हो सकता है । क्योंकि प्लुत और प्रगृह्य दोनों को प्रकृतिभाव कहा है ।

ऐसा नहीं हो सकता । प्लुत ईकारादि को केवल प्लुत के कारण प्रकृतिभाव मानने पर उपस्थित में दोष होगा । लौकिक इति शब्द को उपस्थित कहते हैं । अग्नी ३ इति यहां पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे रहते अग्नी ३ के प्लुत ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा अभीष्ट है । जिस से अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र से अप्लुतवद्भाव के कारण प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव के रुकने पर भी प्रगृह्य के कारण प्रकृतिभाव हो सके । यह सूत्र प्लुत (=त्रिमात्रता) का निषेध नहीं करता, केवल प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव को रोकता है । प्लुत (त्रिमात्र) अवस्थित रहता है । उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होने पर प्रगृह्य के कारण होने वाला प्रकृतिभाव रह जायगा । अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र में वत्करण का प्रयोजन आचार्य कहेंगे कि प्लुत का कार्य रोकने के लिये अप्लुतवत् में वत् किया है । वत्करण के अभाव में अप्लुतः इस शब्द से प्लुत का ही निषेध हो जाता तो प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत का कार्य भी निषिद्ध हो जाता । वत् करने पर प्लुत का कार्य रुक जाने पर भी अन्य जो प्रगृह्यसंज्ञा है उस से विहित प्रकृतिभाव न रुकेगा । वह हो जायगा । तो अग्नी ३ इति यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा । इस लिये प्लुत ईकारादि की भी प्रगृह्यसंज्ञा करनी आवश्यक है । जिस से प्रगृह्य को मान कर होने वाला प्रकृतिभाव हो सके ।

यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत ॥

एवमप्येकार एवैकः सवर्णान् गृह्णीयात्। ईकारोकारौ न गृह्णीयाताम्। किं कारणम्? अनणुत्वात् ॥

यदि पुनर्ह्रस्वानामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ॥

नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत। अकुर्वहि अत्र, अकुर्वह्यत्रेति। तस्माद् दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा वक्तव्या। दीर्घाणां चोच्यमाना प्लुतानां न प्राप्नोति ॥

एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति। असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं यत् तज्ज्ञापकमुक्तं प्लुतप्रगृह्या अचीति ॥

प्लुतभावी प्रकृत्येत्येवमेतद् विज्ञायते।

यदि तपररहित दीर्घ ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दें तो क्या हानि है?

तपररहितों की प्रगृह्यसंज्ञा करने में केवल एक एकार ही अण् होने से अपने सवर्णी प्लुत एकार अथवा उदात्त अनुदात्त स्वरित एकार को ग्रहण कर सकेगा। ईकार ऊकार अण् न होने से अपने सवर्णी प्लुत आदि को ग्रहण न कर सकेंगे। तो प्लुत ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी।

यदि तपररहित ह्रस्व इकार उकार तथा एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दें तो क्या हानि है?

ऐसा भी नहीं हो सकता। अकुर्वहि अत्र यहां अकुर्वहि (कृ-लङ् वहि) के इकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हो जायगी तो अकुर्वह्यत्र में यण् न हो सकेगा। इसलिये तपरसहित दीर्घ ईकारादि की ही प्रगृह्यसंज्ञा की जा सकती है। वैसा करने पर प्लुतों की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है। हम प्लुत को असिद्ध ही मानेंगे। उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकारादि भी तत्काल (द्विमात्रिक) हो जायेंगे।

प्लुत को सिद्ध मानने में जो प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् यह सूत्र ज्ञापक कहा था उस का क्या होगा?

उस सूत्र का आशय यह समझेंगे कि प्लुतभावी को प्रकृतिभाव हो। अर्थात् जिस को आगे प्लुत होना है ऐसे प्लुतरहित स्थानी में प्लुतबुद्धि करके उस

कथं यत् तत्प्रयोजनमुक्तम् ? ॥

क्रियते तन्न्यास एव । 'अप्लुतादप्लुते' इति ॥

एवमपि यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तत् प्लुतस्य न प्राप्नोति । 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन कार्यकालं संज्ञापरिभाषमिति । यथोद्देशमेव संज्ञापरिभाषम् । अत्र चासावसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात्

को प्रकृतिभाव होगा । उस अवस्था में प्लुत की अविद्यमानता में भी प्रकृतिभाव हो जायगा ।

और वह जो अतो रोरप्लुतादप्लुते में अप्लुतादप्लुते न कहने का लाघव रूप प्रयोजन कहा था उस का क्या होगा ?

वह कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता । अतो रोरप्लुतादप्लुते में अप्लुतादप्लुते यह कहा हुआ है ही ।

ऐसा होने पर भी (पूर्वपक्षी से कहे हुए ज्ञापक तथा प्रयोजन के निराकृत हो जाने पर भी) जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में प्लुत सिद्ध है वह कार्य प्लुत को नहीं प्राप्त होता । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः यह सूत्र प्रगृह्यसंज्ञकभिन्न अण् को अनुनासिक करता है इस से अग्नी ३ यहां प्लुत ईकार के प्रगृह्यसंज्ञक होने से ईकार अनुनासिक नहीं होता । कार्यकाल पक्ष को लेकर अणोऽप्रगृह्य० सूत्र के साथ एकवाक्यता को प्राप्त हुए ईदूदेत्० संज्ञा सूत्र के प्रति दूराद्धूते च आदि से विहित प्लुत सिद्ध है । उसके सिद्ध होने से द्विमात्रिक ईकार न दीखेगा तो ईदूदेत्० सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी ऐसी अवस्था में अनुनासिक का निषेध नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि हम कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इसी नियम को मानें । हम यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् इस नियम को मानेंगे । इस नियम का अर्थ है—संज्ञा और परिभाषायें यथोद्देश होती हैं । उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् । अर्थात् अपने स्थान पर रहती हुई ही विधिशास्त्रों में उपयुक्त होती हैं । इस नियम से ईदूदेत्० यह प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र अपने स्थान पर रहता हुआ ही अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः इस विधिसूत्र का उपकारक होगा । इस संज्ञासूत्र के प्रति अणोऽप्रगृह्य० यह विधि सूत्र असिद्ध है ही इसलिये उसके असिद्ध होने से वह प्रवृत्त नहीं होगा । भाव यह है कि अनुनासिक शास्त्र के प्रति प्लुत शास्त्र के सिद्ध होने पर भी इस प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र के प्रति प्लुत शास्त्र के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही ईकार

तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं पुनरिदं विज्ञायते-ईदादयो यद् द्विवचनमाहोस्विद् ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति। कश्चात्र विशेषः ?

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य विधिः ।

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया। पचेते इति। पचेथे इति। वचनाद् भविष्यति। अस्ति वचने प्रयोजनम्। किम्। खट्वे इति। माले इति ॥

अस्तु तर्हि ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति चेदेकस्य विधिः। ईदाद्यन्तं द्विवचनमिति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया। खट्वे इति, माले इति ॥

दीखेगा तो तत्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी। अप्रगृह्य न होने से अग्नी ३ में ईकार अनुनासिक न होगा।

क्या ईकार ऊकार एकार रूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो या ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो। इस प्रकार सूत्र के अर्थ में ये दो पक्ष बनते हैं। इन दोनों में क्या विशेष है ? यदि ईकारादिरूप द्विवचन की प्रगह्यसंज्ञा मानते हो तो द्विवचन के अन्त्य ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी। जैसे—पचेते इति। पचेथे इति। यहां पचेते पचेथे (पच्-लट् आताम् आथाम्) में आताम् आथाम् को टेरेत्व हो कर आते आथे बनते हैं। यहाँ एकाररूप द्विवचन नहीं है किन्तु एकार द्विवचन के अन्त में है इस की प्रगृह्यसंज्ञा विधान करनी होगी। प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से यहां प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी अर्थात् द्विवचन शब्द की द्विवचन का अन्तावयव इस अर्थ में लक्षणा मानी जायगी। प्रगृह्यसंज्ञा के वचन का प्रयोजन तो खट्वे इति, माले इति (खट्वा माला-औ=शी) यहां ईकार रूप (मुख्य) द्विवचन मिल जाने से सिद्ध हो जाता है।

अच्छा तो ईकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मान लें।

यदि ईकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हैं तो ईकारादिरूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी। जैसे—खट्वे इति, माले इति यहां ईकारान्त या एकारान्त द्विवचन नहीं है किन्तु ईकाररूप या एकाररूप है। यहां प्रगृह्यसंज्ञा कहनी होगी।

नवाद्यन्तवत्त्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । आद्यन्तवत्त्वात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्येवमेकस्यापि भविष्यति । अथवा एवं वक्ष्यामि-ईदाद्यन्त यद् द्विवचनान्तमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधः ।

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् वध्वोरगारं वध्वगारम् । एतद्धीदाद्यन्तं श्रूयते द्विवचनान्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ।

सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ।

यह कोई दोष नहीं । क्योंकि अद्यान्तवदेकस्मिन् इस सूत्र से एक में भी आदि अन्त के समान कार्य होते हैं तो खट्वे माले में ईकार एकाररूप द्विवचन को भी ईकारान्त या एकारान्त द्विवचन मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा ईदूदेत्० सूत्र की यूं व्याख्या करेंगे कि ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । यह तीसरा पक्ष बन जाता है । उससे खट्वे माले पचेते पचेथे इन सब जगह प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी क्योंकि खट्वे आदि सभी ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द हैं । सभी के अन्त में द्विवचन है ।[1]

यदि ईदूदेत्० सूत्र का तीसरा अर्थ करके ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो तो जहां द्विवचन का लुक् हो गया है उसको प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है उसका निषेध कहना होगा । जैसे—कुमार्योरगारं=कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं=वध्वगारम् । यहां षष्ठीतत्पुरुष समास में कुमार्योः के षष्ठी द्विवचन ओस् का लुक् हुआ है । कुमारी यह ईकारान्त श्रूयमाण है और प्रत्ययलक्षण से ओस् को मान कर द्विवचनान्त भी है इसकी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने से यण् न हो सकेगा ।

---

१. यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति इस परिभाषा से द्विवचन रूप प्रत्यय की प्रगृह्यसंज्ञा करने में तदन्तविधि का निषेध होने से ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है इस अर्थ वाला यह तीसरा पक्ष नहीं बन सकता तथापि यह बात आगे चतुर्थपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार स्वयं ही कहेंगे ।

यदयमीदूतौ च सप्तम्यर्थे इत्यर्थग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति।

तत्तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहणं कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम्। ईदादिभिर्द्विवचनं विशेषयिष्यामः। ईदादिविशिष्टेन च द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति। ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तदन्तमीदाद्यन्तमिति।

एवमप्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इति

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे इस सूत्र में जो अर्थग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि प्रगृह्यसज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। क्योंकि ईदूतौ च सप्तम्यर्थे में अर्थग्रहण का यही प्रयोजन है कि सोमो गौरी अधिश्रितः यहाँ गौर्याम् का अर्थ रखनेवाले गौरी शब्द में सप्तमी का लुक् हो जाने पर भी उसके अर्थ में वर्तमान ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो जावे। यदि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण होवे तो गौरी में सुपां सु लुक्० से हुए सप्तमी विभक्ति के लुक् को प्रत्ययलक्षण से मान कर गौरी यह सप्तम्यन्त बन जायगा तो अर्थग्रहण के बिना भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जाने से अर्थग्रहण व्यर्थ है।

तो क्या उक्त बात के ज्ञापन के लिए ईदूतौ च सप्तम्यर्थे सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिये ?

अर्थ ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं इस सूत्र में ईकारादि से द्विवचन को विशेषित करेंगे तो विशेषण में तदन्तविधि होकर ईकाराद्यन्त जो द्विवचन ऐसा अर्थ होगा, फिर तद्विशिष्ट द्विवचन को शब्दरूप का विशेषण बनायेंगे। येन विधिस्तदन्तस्य के नियम से ईकारादिविशिष्ट द्विवचन से तदन्तविधि हो कर अर्थ होगा ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। यह चौथा पक्ष बनेगा। इस पक्ष में कुमार्यगारम्, वध्वगारम् में ओस् द्विवचन के ईकाराद्यन्त न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी।

इस चौथे पक्ष के अर्थ में भी अशुक्ले शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे यहाँ च्विप्रत्ययान्त शुक्ली शब्द के ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। शुक्ल शब्द से नपुंसक में औ को शी होकर उससे परे अभूततद्भाव अर्थ में तद्धित च्विप्रत्यय हुआ। तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से शी का लुक् होता है। अस्य च्वौ से च्वि परे रहते शुक्ल के अकार को ईकार होकर च्वि का सर्वापहारी लोप हो गया। ऊर्यादिच्विडाचश्च से च्व्यन्त की अव्ययसंज्ञा हो कर

अत्र प्राप्नोति। अत्र हीदादि च द्विवचनं तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन।

अत्राप्यकृते शीभावे लुग् भविष्यति।

इदमिह सम्प्रधार्यम्। लुक् क्रियतां शीभाव इति। किमत्र कर्तव्यम्। परत्वाच्छीभावः। नित्यो लुक्। कृते शीभावे प्राप्नोत्यकृतेपि। अनित्यो लुक्। अन्यस्याकृते शीभावे प्राप्नोति अन्यस्य कृते। शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति। शीभावोप्यनित्यः। न हि कृते लुकि प्राप्नोति। उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः। शीभावे कृते लुक्। अथापि कथं चिन्नित्यो लुक् स्यादेवमपि दोषः। वक्ष्यत्येतत्—'पद-संज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थ-

---

आगे आने वाले सुप् का लुक् हो जाता है। इस प्रकार यहां अस्य च्वौ से हुआ ईकार श्रूयमाण है और सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुआ शी शब्द प्रत्ययलक्षण से ईकारान्त द्विवचन है। शुक्ली यह ईकाराद्यन्त शब्द समुदाय बन जाता है। इसकी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने से यण् न हो सकेगा।

यहां भी शी आदेश करने से पहले ही सुपो धातु० से औ का लुक् हो जायगा तो ईकारान्त द्विवचन न होने से दोष न होगा।

लुक् और शी आदेश में यह विचारना चाहिये कि पहले औ का लुक् किया जाय या औ को शी आदेश। क्या करना चाहिये? सुपो धातु० के लुक् से नपुंसकाच्च से होनेवाला शी आदेश सूत्रपाठ में पर है इस लिये विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियमानुसार शी आदेश पहले होना चाहिये। लुक् नित्य है, औ को शी करने पर भी प्राप्त होता है, न करने पर भी। लुक् अनित्य है। शी न करने पर अन्य औ को प्राप्त होता है, करने पर अन्य शी को। शब्दान्तर को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है। यूं तो शी भी अनित्य है। औ का लुक् करने पर नहीं प्राप्त होता। दोनों के अनित्य होने से पर होने के कारण शी भाव ही पहले होगा। शी करने पर लुक् होगा तो ईकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। यदि किसी प्रकार लुक् को नित्य भी मान लें तो भी दोष है। आगे सुप्तिङन्तं पदम् इस पदसंज्ञा सूत्र में कहेंगे कि वहां अन्तग्रहण इस बात का ज्ञापन करने के लिये किया है कि प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती। सुप् तिङ् प्रत्यय हैं। उनकी पदसंज्ञा करने में यदि तदन्तविधि हो जावे तो अन्तग्रहण के बिना भी सुबन्त तिङन्त समझ लिये जावेंगे उसके लिये अन्त ग्रहण करना व्यर्थ है। वह व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि अन्यत्र प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती। यहां ईदूदेत्० सूत्र में ईकारादि द्विवचन भी प्रत्यय हैं।

मिति।' इदं चापि प्रत्ययग्रहणमयं चापि संज्ञाविधिः। अवश्यं खल्वस्मिन् पक्षे आद्यन्तवद्भाव एषितव्यः।

तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः॥

अदसो मात् ॥१।१।१२॥

मात्प्रगृह्यसंज्ञायां तस्यासिद्धत्वादयावेकादेशप्रतिषेधः।

मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्वस्य ऊत्वस्य चासिद्धत्वादयावेकादेशाः प्राप्नुवन्ति तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अमी अत्र। अमू अत्र। अमीं आसते। अमू आसाते। ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति।

उन प्रत्ययों की प्रगृह्यसंज्ञा करनी है अतः तदन्तविधि न होने से ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त जो शब्दरूप। ऐसा अर्थ ही न होगा तो चौथे पक्ष का उत्थान भी असंभव है और इस चौथे पक्ष में भी आद्यन्तवद्भाव मानना आवश्यक है। क्योंकि अमी यहां ईकारान्त द्विवचन नहीं है- केवल ईकाररूप है उसको आद्यन्तवद्भाव से ही ईकारान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो सकेगी॥

इस लिये तब तो वही मध्यम पक्ष अर्थात् दूसरा पक्ष निर्दोष होने से स्वीकार करना चाहिये। ईकाराद्यन्त द्विवचन शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है यही सूत्र का अर्थ मानना चाहिये। ऐसा मानने पर ईकारादिरूप द्विवचन वाले प्रथम पक्ष के खट्वे इति, माले इति आदि उदाहरणों में आद्यन्तवद्भाव से ईकाराद्यन्त द्विवचन हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी। प्रत्ययों की संज्ञा में तदन्तविधि न होने से तीसरे चौथे पक्ष का संभव ही नहीं। इस लिये दूसरे पक्ष का मानना ही ठीक है। उसके मानने पर कोई दोष नहीं आता।

अदस् शब्द के मकार से परे ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा करने में ईकार ऊकार के असिद्ध होने से अय् आव् और पूर्वरूप एकादेश प्राप्त होते हैं। उनका निषेध कहना चाहिये। अमी अत्र यहां अदस् शब्द से परे जस् रहते त्यदाद्यत्व पररूप हो कर जस् को शी होता है। फिर आद् गुणः से गुण हो कर अदे बनता है। एत ईद्बहुवचने से दकार को मकार तथा एकार को ईकार हो कर अमी बन जाता है। एत ईद्बहुवचने से विहित ईकार के पूर्वत्रासिद्धीय होने के कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदे दीखेगा तो एङः पदान्तादति से पूर्वरूप प्राप्त होता है। अमू अत्र यहां अदस् शब्द से औ परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप तथा वृद्धि एकादेश होकर

वचनार्थौ हि सिद्धे ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थमेतत् स्यात् । 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति[1] । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् तत्रैवायं ब्रूयादणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो नेति ।

विप्रतिषेधाद्वा ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियताम् अयादयो वेति । प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति

अदौ बनता है । फिर अदसोऽसेर्दादु दो मः से दकार को मकार एवं औकार को ऊकार हो कर अमू बन जाता है । अदसोऽसेर्दा० से विहित उकार पूर्वत्रासिद्धीय होने के कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदौ दीखेगा तो एचोऽयवायावः से आव् आदेश प्राप्त होता है । इसी प्रकार अमी आसते, अमू आसाते यहां क्रमशः अय् आव् आदेश प्राप्त होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से अयादि आदेश नहीं होंगे । प्रगृह्यसंज्ञा के वचन से अयादि की निवृत्ति नहीं हो सकती । प्रगृह्यसंज्ञा वचन का तो अन्य प्रयोजन है । क्या ? जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईकार ऊकार सिद्ध हैं वहां प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र चरितार्थ हो सकता है । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः इस सूत्र के प्रति अदसोऽसे० और एत ईद्० से विहित ईकार ऊकार सिद्ध हैं क्योंकि पूर्वत्रासिद्धम् के अनुसार त्रिपादी में पूर्व के प्रति पर असिद्ध होता है । पर के प्रति पूर्व सिद्ध रहता है अदसोऽसे०, एत ईद्० ये दोनों सूत्र अणोप्रगृह्यस्यानुनासिकः से पूर्व होने के कारण सिद्ध हैं । कार्यकाल पक्ष का आश्रयण करने से यह दोनों सूत्र अदसो मात् इस संज्ञासूत्र के प्रति भी सिद्ध हैं । इस लिये अमी, अमू यहां अनुनासिक रोकने के लिये यह प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र रह सकता है ।

केवल एक प्रयोजन के लिए इतना बड़ा अदसो मात् यह प्रगृह्यसंज्ञासूत्र नहीं बनाया जा सकता । यदि एक अनुनासिक रोकना ही प्रगृह्यसंज्ञा का प्रयोजन होता तो यहां प्रगृह्यसंज्ञा न करके वहीं अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः के साथ अदसो न ऐसा कह देते । उसका अर्थ होता—अदस् शब्द के अण् को अनुनासिक नहीं होता है ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा और अयादि के तुल्यबलविरोध में विप्रतिषेधे परं कार्यम्

---

१. संज्ञासूत्र अनेक कार्यों की सिद्धि के लिये बनाये जाते हैं । दूसरे सूत्र तो एकमात्र प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं जैसे मुद्रादण् इत्यादि ।

विप्रतिषेधेनेति ।

नैष युक्तो विप्रतिषेधः । विप्रतिषेधे परमित्युच्यते । पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा परेऽयादयः । परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते । सूत्रविपर्यासः कृतो भवति ।

एवं तर्हि परैव प्रगृह्यसंज्ञा । कथम् । कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति अदसो मादिति ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । कथम् । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । नचात्रैको द्विकार्ययुक्तः । एचामयादयः । ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा ।

नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किं तर्हि असंभवोपि । स

के नियमानुसार पर होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अमी अत्र आदि में अयादि न होंगे ।

यह विप्रतिषेध एवं तुल्यबलविरोध का नियम यहां ठीक नहीं बनता क्योंकि विप्रतिषेध में पर का कार्य होता है । प्रगृह्यसंज्ञा पूर्व है । अयादि पर हैं । सूत्रपाठ में पश्चात्पठित हैं । इसलिये अयादि ही होने चाहियें । प्रगृह्यसंज्ञा को अयादि से पर बना देंगे तब तो सूत्र परिवर्तन करना होगा ।

अच्छा तो सूत्र परिवर्तन के बिना ही प्रगृह्यसंज्ञा पर बन जायगी । कैसे ? कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् इस नियम से संज्ञाओं का जहां कार्य पड़े वहीं उपस्थिति मानी जाती है । प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् सूत्र में प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य होने से वहीं यह अदसो मात् सूत्र उपस्थित हो जायगा तो अयादि से पर बन जायगा । क्योंकि एचोऽयवायावः आदि सूत्रों से परे प्लुतप्रगृह्या अचि० इस सूत्र का पाठ है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बनता । कैसे ? द्विकार्ययोग में विप्रतिषेध होता है । जहां एक ही जगह दो कार्य युगपत् प्राप्त हों वहां विप्रतिषेध के नियम से व्यवस्था होती है । यहां ऐसी बात नहीं । अदे, अदौ इस स्थिति में एचों को अयादि प्राप्त होते हैं । अमी, अमू इस स्थिति में ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है ।

यह आवश्यक नहीं कि द्विकार्ययुक्त ही विप्रतिषेध का विषय होता है बल्कि असंभव भी होता है । और वह असंभव यहां है ही । कौन सा असंभव है ?

चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । प्रगृह्यसंज्ञाऽभिनिर्वर्तमाना अयादीन् बाधते । अयादयोऽभिनिर्वर्तमानाः प्रगृह्यसंज्ञाया निमित्तं विघ्नन्तीत्येषोऽसंभवः । सत्यसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति । न चात्रेत्वोत्वे स्तः । नापि मकारः । उभयमप्यसिद्धम् ॥

आश्रयात् सिद्धत्वं च यथा रोरुत्वे ।

आश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति । तद्यथा रुरुत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति ॥

किं पुनः कारणं रुरुत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति । न पुनर्यत्रैव रुः सिद्धस्तत्रैवोत्वमप्युच्येत ॥

प्रगृह्यसंज्ञा यदि हो जाती है तो अयादि रुक जाते हैं । और अयादि यदि हो जाते हैं तो प्रगृह्यसंज्ञा के निमित्त को नष्ट कर देते हैं यही असंभव है । असंभव होने पर विप्रतिषेध युक्त ही है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बन सकता । क्योंकि दोनों के विद्यमान होने पर विप्रतिषेध हुआ करता है । अमी, अमू यहां ईकार ऊकार मकार हैं ही नहीं । पूर्वत्रासिद्धीय होने से दोनों ईकार ऊकार तथा मकार सभी असिद्ध हैं ।

ईकार ऊकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी । जैसे अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र से रु को उत्व करने में रु आश्रय से सिद्ध होता है । अदसो मात् सूत्र में ईकार ऊकार मकार का आश्रयण करके प्रगृह्य-संज्ञा की गई है इस लिये वे पूर्वत्रासिद्धीय होने पर भी आश्रीयमाण होने के कारण सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या कारण है जो अतो रोरप्लुता० में रु को आश्रय से सिद्ध माना जाता है। क्यों न जहां पर रखने से रु स्वयं सिद्ध हो सकता है वहीं रु को रख कर उत्व कहा जाय । रोः सुपि इस सूत्र के बाद अत उरति ऐसा सूत्र बना दें । उस का अर्थ होगा अकार से परे रु को उत्व होता है अकार परे होने पर । ससजुषो रुः यह रु विधान करने वाला सूत्र रोः सुपि इत्यादि से पूर्व पठित है । इसलिये अत उरति इस उत्व के प्रति स्वतः सिद्ध है । वहां पूर्वत्रासिद्धम् से रु के असिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता । और प्लुतप्रकरण भी अत उरति से पूर्व पठित होने के कारण सिद्ध रहेगा तो अतः के तपरकरण से प्लुत स्वतः व्यावृत्त हो जायगा उसके लिये अप्लुतादप्लुते कहने की भी आवश्यकता न होगी ।

नैवं शक्यम् ।

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणाप्रसिद्धिः ।

असिद्धे ह्युत्वे आद्गुणस्याप्रसिद्धिः स्यात् । वृक्षोऽत्र । प्लक्षोऽत्र । तस्मात् तत्राश्रयात् सिद्धत्वमेषितव्यम् । यथा तत्राश्रयात् सिद्धत्वं भवति । एवमिहाप्याश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

अथवा योगविभागः करिष्यते । अदसः । अदसः परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । ततो मात् । माच्च परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । अदस इत्येव । किमर्थो योगविभागः । एको यत् तत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थः । अपरो यदसिद्धे ॥

ऐसा नहीं हो सकता । उत्व को पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण में नहीं रखा जा सकता। अतो रोरप्लुतादप्लुते इस उत्वविधायक सूत्र को सपादसप्ताध्यायी से निकाल कर यदि रोः सुपि के बाद अत उरति इस प्रकार परिवर्तन द्वारा पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में रख देंगे तो वह आद्गुणः इस सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र के प्रति असिद्ध हो जायगा । उस के असिद्ध होने से वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र यहां उ को गुण न हो सकेगा । इस लिये जैसे उत्व करने में रु को आश्रय से सिद्ध मानना पड़ता है वैसे यहां प्रगृह्यसंज्ञा में भी ईकार ऊकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा के वचन सामर्थ्य से अयादि न होंगे । यथोद्देश पक्ष में संज्ञाशास्त्रों का जो स्थान है वहीं विधिशास्त्रों को अपने परिष्कार के लिये आना होता है । अदसोऽसे० और एत ईद्० ये दोनों सूत्र इस संज्ञासूत्र से सम्बन्ध रखने के कारण इसी स्थान के हो जायेंगे तो एचोऽयवायावः आदि की दृष्टि में असिद्ध न हो सकेंगे ।

अथवा अदसो मात् इस सूत्र का योगविभाग करेंगे । अदसः । मात् । ये दो सूत्र बना देंगे । अदसः का अर्थ होगा अदस् से परे ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उस के बाद मात् इस सूत्र का अर्थ होगा अदस् के मकार से परे भी ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । योगविभाग किस लिये होगा ? एक (=दूसरा) मात् यह सूत्र तो जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईकार ऊकार मकार सिद्ध हैं उन के लिये रहेगा । अपर (=पहला) अदस् यह सूत्र असिद्ध ईत्वं ऊत्व मत्व वाले प्रगृह्यसंज्ञा के कार्यों के लिये होगा ।

इहापि तर्हि प्राप्नोति । अमुया । अमुयोरिति । किं च स्यात् यद्यत्र प्रगृह्यसंज्ञा स्यात् । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावः प्रसज्येत ॥

नैष दोषः । पदान्तप्रकरणे[1] प्रकृतिभावः । न चैष पदान्तः ॥

एवमप्यमुकेऽत्र, अत्रापि प्राप्नोति । द्विवचनमिति वर्तते । यदि द्विवचनमिति वर्तते अमी अत्र न प्राप्नोति ॥

एवं तर्हि एदन्तमिति निवृत्तम् । अथवाहायमदसो मादिति । न च ईत्वोत्वे स्तः । नापि मकारः । तत एवं विज्ञास्यामः मार्थादीदाद्यर्थानामिति ।

अदसः यह पृथक् सूत्र होने पर अमुया अमुयोः यहां भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । अदस् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में टा ओस् परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप टाप् तथा सवर्णदीर्घ हो कर आङि चापः से एकार होता है । अदे आ, अदे ओस् इस स्थिति में अदसः सूत्र में मकार विशेषण के न रहने से यहां अदे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । क्या हो जायगा यदि यहां प्रगृह्यसंज्ञा हो जाय तो ? प्रगृह्यसंज्ञा से होने वाला प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । उस से फिर एचोऽयवायावः सूत्र से अयादेश न हो सकेगा ।

यह कोई दोष नहीं । प्लुतप्रगृह्या अचि० सूत्र से पदान्त में प्रकृतिभाव होता है । अदे आ, अदे ओस् का एकार पदान्त नहीं है किन्तु भसंज्ञक है ।

फिर भी अदसः इस सूत्र में मकार विशेषण न होने से अमुकेऽत्र यहां एकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । अदस् शब्द से स्वार्थ में अकच् कर के अदकस् बना । उससे जस् परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप होकर जस् को शी हो गया । अदसोऽसेर्दादु दो मः से द को मुत्व हो कर अमुके बन जाता है । इसकी प्रगृह्यसंज्ञा होने से अत्र शब्द का अच् परे रहते एङः पदान्तादति से होने वाला पूर्वरूप न हो सकेगा । ईदूदेत्० इस पूर्वसूत्र से द्विवचन की अनुवृत्ति कर के द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा होगी तब तो अमी यहां बहुवचन में न हो सकेगी ।

इस से तो इस सूत्र में पूर्वसूत्र से एदन्त की अनुवृत्ति न लाना ही ठीक है । उससे अमुया, अमुयोः, अमुके इत्यादि एकारान्तों में प्रगृह्यसंज्ञा न होने से अदसः इस पृथक् सूत्र में कोई दोष न होगा ।[2] अथवा जब पाणिनि आचार्य अदसो मात्

---

१. एङः पदान्तादति—यहां से पदान्त प्रकरण है ।

२. यदि अदसो मात् यह एक सूत्र रखते हैं तो माद्ग्रहण का व्यावर्त्यन होने से वह व्यर्थ हो जाता है । यह मात् ग्रहण ही एदन्त की निवृत्ति का सूचक है ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् ।

अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे सिद्धे वक्तव्ये । प्रगृह्यसंज्ञायां चेति ॥

तत्र सकि दोषः ।

तत्र सककारे दोषो भवति । अमुकेऽत्र ॥

नवा ग्रहणविशेषणत्वात् ।

न माद्ग्रहणेन ईदाद्यन्तं विशेष्यते, किं तर्हि । ईदादयो विशेष्यन्ते मात्परे ये ईदादय इति ॥

यह सूत्र बना कर अदस् के मकार से परे ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा कहते हैं और वह ईकार ऊकार के असिद्ध होने से बनती नहीं तो सूत्र का यह तात्पर्य समझा जायगा कि मकार का अर्थ रखने वाले अदस् शब्द से परे ईकार ऊकार का अर्थ रखने वाले शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । मात्=मार्थात् । ईदादीनाम्=ईदाद्यर्थानाम् । इस प्रकार अर्थ विषयक बुद्धिपरिकल्पना में ईकार ऊकार मकार की असिद्धता नहीं होगी । अदस् शब्द में ईकार ऊकार मकार के अर्थ की बुद्धि करके प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा आगे न मु ने सूत्र पर वार्तिक कहेंगे—अदस ईत्वोत्वे स्वरे बहिष्पद-लक्षणे सिद्धे वक्तव्ये प्रगृह्यसंज्ञायां च । इस का अर्थ है—बहिष्पदलक्षण स्वर परे रहते अर्थात् एक पद से दूसरे पद का अच् परे रहते अयादि आदेश करने में अदस् शब्द के ईकार ऊकार सिद्ध माने जाते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा में भी वे सिद्ध समझे जाते हैं । इस वचन से ईत्वादि की असिद्धता का निषेध होकर सिद्धता हो जायगी ।

ईदूदेत्० के सूत्र के समान यहां भी ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा समझ कर यह दोष प्राप्त होता है । उस अवस्था में इस सूत्र का अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे ईकाराद्यन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । तब सक अर्थात् ककारसहित अमुके इस प्रयोग में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्ति रूप दोष होता है । अमुके यह अदस् के मकार से परे उके एकारान्त है इसकी प्रगृह्यसंज्ञा होनी चाहिये । प्रगृह्यसंज्ञा हो कर एङः पदान्तादति से पूर्वरूप न हो सकेगा ।

मात् शब्द के ग्रहण का विशेषण होने से यह कोई दोष नहीं । अदसो

क्योंकि अदस् के मकार से परे ईकार ऊकार ही संभव हैं । एकार नहीं । इस तरह मात् ग्रहण एदन्त की निवृत्ति में तात्पर्यग्राहक होने से सफल हो सकता है । योगविभाग में तो एदन्त की निवृत्ति सर्वथा आवश्यक है । एकयोग में मात् ग्रहण के सामर्थ्य से एदन्त की निवृत्ति हो जायगी ।

शे १।१।१३॥

इह कस्मान्न भवति काशे कुशे वंशे इति॥

शेऽर्थवद्ग्रहणात्।

अर्थवतः शे शब्दस्य ग्रहणम्। न चैषोऽर्थवान्॥

एवमपि हरिशे बभ्रुशे इत्यत्रापि प्राप्नोति॥

मात् सूत्र में इदूदेत् का ग्रहण है। ईदूदेदन्त का नहीं। जिसका सूत्र में ग्रहण है, उच्चारण है उसी का विशेषण मात् को बनायेंगे तो अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे जो ईकारादि उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमुके में मकार से परे एकार नहीं है बल्कि एकारान्त उके है। मकार और एकार के बीच में उकार ककार का व्यवधान है इस लिये वहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।[1]

काशे कुशे वंशे यहां शे शब्द की इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती?

शे की प्रगृह्यसंज्ञा में अर्थवान् शे शब्द का ग्रहण किया गया है। काशे आदि में शे शब्द अर्थवान् नहीं है। इस लिये उस की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। शे यह सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः इस सूत्र से वेद में सुपों के स्थान में विहित आदेश है। शकार की लशक्वतद्धिते से इत्संज्ञा होने से लोप कर के ए रह जाता है। जैसे युष्मे अस्मे त्वे इति। यह शे शब्द विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है। काशे आदि का शे शब्द निरर्थक है। काश, कुश, वंश शब्दों से सप्तमी के एकवचन ङि के परे रहते आद्गुणः से गुण होकर काशे, कुशे, वंशे बनते हैं। इस शे में शकार तो काश आदि शब्दों का अवयव है। और इकार सप्तमी का एकवचन है। यद्यपि सप्तमी का एकवचन इकार अपने विभक्त्यर्थ से अर्थवान् है तो भी काश आदि के शकार और सप्तमी के इकार से मिल कर बना हुआ शे यह समुदाय निरर्थक ही है। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा के अनुसार अर्थवान् शे शब्द के ग्रहण में अनर्थक शे शब्द का ग्रहण नहीं होगा।

अर्थवान् शे शब्द का ग्रहण मानने पर भी हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। हरि बभ्रु शब्दों से लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः सूत्र से मत्वर्थीय श प्रत्यय होकर उससे सप्तमी के एकवचन में शे बन जाता है।

---

१. इस प्रकार भाष्यकार ने मात् को ग्रहण का विशेषण मान कर यहां एकार की अनुवृत्ति लाने में भी कोई दोष नहीं यह सिद्ध कर दिया है।

एवं तर्हि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवे'त्येवं न भविष्यति। अथवा पुनरस्तु 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्ये'ति। कथं तर्हि—हरिशे बभ्रुशे इति। एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान्। अपरस्तद्धितार्थेन। समुदायोऽनर्थकः॥

निपात एकाजनाङ् ॥१।१।१४॥

निपात इति किमर्थम्?

चकारात्र। जहारात्र।

एकाजिति किमर्थम्?

प्रेदं ब्रह्म। प्रेदं क्षत्रम्।

यहां श और इ दोनों प्रत्यय के अर्थ से अर्थवान् हैं। इस लिये इस शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा हो जानी चाहिये।

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्, इस परिभाषा से हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। इस परिभाषा का अर्थ है लक्षण अर्थात् सूत्र, उस से निष्पन्न और प्रतिपदोक्त साक्षात् उच्चरित स्वतः सिद्ध इन दोनों में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है। हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द साक्षादुच्चरित नहीं है बल्कि लक्षणों द्वारा निष्पन्न होने से लाक्षणिक है अतः प्रतिपदोक्त न होने के कारण उसका यहां ग्रहण नहीं होगा।

केवल अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा को मानने से भी यहां दोष नहीं है। हरिशे, बभ्रुशे कैसे बनेंगे? यहां एक इ तो सप्तमी विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है। दूसरा तद्धित श प्रत्यय मत्वर्थ के अर्थ से अर्थवान् है। दोनों का समुदाय शे शब्द सर्वथा अनर्थक है। इसलिए यहां शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।[1]

निपातग्रहण किस लिए किया है?

चकारात्र। जहारात्र। यहां चकार, जहार (कृ, हृ-लिट्, तिप्, णल्) में णल् का अकार एकाच् तो है पर निपात नहीं है। निपात न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो अत्र के साथ सवर्णदीर्घ हो जाता है।

एकाच् ग्रहण किस लिए किया है?

प्रेदम् यहां प्र शब्द उपसर्ग होने से निपात तो है पर एकाच् नहीं है। एकाच् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो इदम् के साथ गुण एकादेश हो जाता है।

---

१. अर्थवान् का समुदाय भी अर्थवान् ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है। जैसे—दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनम्। इत्यादि पदों के अलग २ अर्थवान् होने पर भी सारा पदसमुदाय अन्वयरहित होने से अनर्थक ही है।

एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति । एषोऽपि ह्येकाच् ।

एकाजिति नायं बहुव्रीहिः । एकोऽज् यस्मिन् सोऽयमेकाच् एकाजिति । किं तर्हि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः । एकः अच् एकाच् एकाजिति ।

यदि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणो नार्थ एकग्रहणेन । इह कस्मान्न भवति । प्रेदं ब्रह्म । प्रेदं क्षत्रम् ।

अजेव यो निपात इत्येवं विज्ञायते । किं वक्तव्यमेतत् । नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । अज्ग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि अच्च अन्यच्च तत्र स्याद् अज्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ॥

अस्ति ह्यन्यदज्ग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । अजन्तस्य यथा स्यात् हलन्तस्य मा भूत् ॥

एकाच् ग्रहण करने पर भी प्रेदम् में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । यहां प्र शब्द भी एकाच् ही है ।

एकाच् शब्द में एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान कर एक अच् वाला यह अर्थ नहीं लिया गया है बल्कि एकश्चासौ अच् एकाच् इस प्रकार कर्मधारय तत्पुरुष मान कर एक अच्रूप यह अर्थ लिया गया है । प्र शब्द एक अच् वाला तो है पर एक अच्रूप नहीं है इसलिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

यदि एकाच् शब्द में कर्मधारय तत्पुरुष समास मानते हैं तो एक ग्रहण की कोई आवश्यता नहीं । यदि आप पूछें कि एक ग्रहण के अभाव में प्रेदम् में प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती तो इसका उत्तर है—

अज्रूप जो निपात उसकी प्रगृह्यसंज्ञा समझी जायगी । प्रेदम् में प्र शब्द अच् रूप निपात नहीं है । उसके साथ हल् अक्षर भी हैं । इस लिये एक ग्रहण के बिना भी वहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्या यह बात कहनी होगी कि यहां अच् रूप निपात लिया गया है ? नहीं । बिना कहे कैसे समझी जायगी ? अच् ग्रहण के सामर्थ्य से । यदि अच् और अच् से अन्य हल् दोनों मिले हुए निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होवे तो अच् ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जाता है ।

अच् ग्रहण करने का प्रयोजन तो कुछ और भी हो सकता है । क्या ? अजन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो, हलन्त की न हो ।

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

एवमपि कुत एतत् । द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयो— 'राद्यन्तवदेकस्मिन्' 'येन विधिस्तदन्तस्येति' च । इयमिह परिभाषा भविष्यति आद्यन्तवदेकस्मिन् इति । इयं च न भविष्यति येन विधिस्तदन्तस्येति ।

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । इयमिह परिभाषा भवति आद्यन्तवदेकस्मिन्निति । इयं च न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति । यदयमनाङिति प्रतिषेधं शास्ति ॥

हलन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने में न कोई दोष है, न प्रयोजन है ।[1]

फिर भी क्या कारण है कि यहां अच् शब्द में आद्यन्तवदेकस्मिन् और येन विधिस्तदन्तस्य इन दोनों सावकाश सूत्रों की समान उपस्थिति होने पर आद्यन्तवत्० की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा और येन विधि० की बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । अर्थात् आद्यन्तवत् सूत्र की प्रवृत्ति से एक अच् रूप निपात को ही आद्यन्तवत् समझा जायगा और येन विधि० सूत्र की प्रवृत्ति से जिसके अन्त में अच् है ऐसे हलच् समुदाय को यहां अच् नहीं माना जायगा ।

सूत्र में जो अनाङ् ग्रहण करके ङित् आकार की प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध किया है यह आचार्य का व्यवहार ही इस बात का ज्ञापक है कि यहां अच् शब्द में आद्यन्तवत् की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा । और येन विधि० की बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । क्योंकि आङ् निपात अच्रूप ही है, अजन्त नहीं है । उसके निषेध से पता लगता है कि अच्रूप निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होगी, अजन्त की नहीं ।

---

१. यदि कहो पुरोऽहिः (पुरस्+अहिः) यहां हलन्त निपात पुरस् शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होने पर ससजुषो रुः से स् के स्थान में हुए रु को अतो रोरप्लुतादप्लुते से उत्व नहीं प्राप्त होगा तो यह कोई दोष नहीं । क्योंकि प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति ससजुषो रुः से विहित रुत्व पूर्वत्रासिद्ध होने से असिद्ध है । पुरस् के सकार को रुत्व के अतिरिक्त और कोई कार्य प्राप्त नहीं इस लिये रु के असिद्ध होने से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो प्रकृतिभाव न होगा और उत्व निर्बाध हो जायगा । उत्व के प्रति तो रुत्व आश्रय से (उत्वविधि में उसका आश्रयण होने से) सिद्ध है ।

एवं तर्हि सिद्धे सति यदज्ग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

'दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धमिति' यदुक्तं तदुपपन्नं भवति ।

अनाङिति किमर्थम् ? ॥

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात् ॥

इह कस्मान्न भवति आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तद् इति ॥

सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणम् । अननुबन्धकश्चात्राकारः ॥

इस प्रकार केवल अच् ग्रहण से कार्य सिद्ध होने पर भी जो एक ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा होती है। इसका अर्थ है—वर्ण के ग्रहण में उसकी जाति अर्थात् वर्णसमुदाय का भी ग्रहण होता है।

वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् इस परिभाषा के ज्ञापन का क्या प्रयोजन है ?

हलन्ताच्च सूत्र पर जो दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम् यह वार्तिक कहा है वह ठीक सिद्ध हो जायगा। इस परिभाषा के होने पर हलन्ताच्च में इक् के समीप केवल एक हल् वर्ण न ले कर हल्वर्णसमुदाय भी ले लिया जायगा तो दम्भ् धातु के धिप्सति, धीप्सति इन सन्नन्त रूपों में दम्भ इच्च से दम्भ् के अ को इकार ईकार हो कर दिम्भ् दीम्भ् बनने पर मकार भकार रूप हल् समुदाय भी इक् के समीप बन जायगा। इक्समीप हल् होने पर सन् को कित्व हो कर अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति से मकार का लोप सिद्ध होगा।

अनाङ् ग्रहण किस लिये किया है ?

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात्। यहां मर्यादा अर्थ में आङ् निपात ङित् है। उसकी प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध होने से आद्गुणः से गुण हो जाता है।

आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत् यहां अनाङ् ग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध क्यों नहीं होता ?

ङकार अनुबन्ध वाले आकार की ही प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध है। यहां ङकार अनुबन्ध रहित आकार है। इसलिये निषेध न होगा तो प्रगृह्यसंज्ञा रह जायगी।

क्व पुनरयं सानुबन्धकः । क्व निरनुबन्धकः ॥

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

ओत् ॥१।१।१५॥

किमुदाहरणम् ?

आहो इति । उताहो इति ॥

कहां पर आकार ङकार अनुबन्ध सहित है और कहां पर ङकार अनुबन्ध रहित है ?

ईषत्=थोड़े अर्थ में, क्रियायोग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार है उसे ङित् समझो और वाक्यार्थ के अन्यथात्व तथा स्मरण अर्थ में जो आकार है उसे ङित् रहित समझो । ईषत् अर्थ में जैसे—आ+उष्णम्=ओष्णम् (कुछ कम गर्म) । यहां आकार के ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया। आङीषदर्थे यह वार्तिक भी ईषदर्थ में आकार को ङित् सूचित करता है । क्रियायोग में जैसे—आ+इतः=एतः । उपसर्गाः क्रियायोगे से ङित् आकार की उपसर्गसंज्ञा होती है । प्र परा आदि २२ उपसर्गों में आङ् ङित् पढ़ा है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया। निर्दिश्यमान अवधि को छोड़ कर मर्यादा होती है और निर्दिश्यमान अवधि को भी साथ मिलाने पर अभिविधि होती है । आ+उदकान्तात्=ओदकान्तात् (जल आने तक) यहां मर्यादा में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । आ+अहिच्छत्रात्=आहिच्छत्रात् । (अहिच्छत्र देश की समाप्ति तक) यहां अभिविधि में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो सवर्णदीर्घ हो गया । आङ् मर्यादाभिविध्योः यह सूत्र मर्यादा और अभिविधि में आङ् को ङित् सूचित करता है । आ एवं नु मन्यसे (आः ! तू अब ऐसा मानता है, पहिले तो नहीं मानता था) यहां वाक्यार्थ के अन्यथात्व द्योतन में आकार ङित् नहीं है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई । आ एवं किल तत् (किसी बात के याद आने पर कहता है आः ! क्या वह ऐसी बात थी) यहां स्मरण अर्थ में आकार के ङित् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

आहो उताहो ये ओकारान्त निपात हैं इनकी इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर अच्सन्धि नहीं होती ।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। निपातसमाहारोऽयम्। आह उ आहो इति। उत आह उ उताहो इति। तत्र निपात एकाजनाङ् इत्येव सिद्धम्॥

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे। अथवा प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भः। ओ षु यातं मरुतः, ओ षु यातं बृहती शक्वरी च। ओ चित् सखायं सख्या ववृत्याम्॥

ओतश्च्वि प्रतिषेधः।

ओदन्तो निपात इत्यत्र च्व्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनदः अदः अभवत् अदोऽभवत्। तिरोऽभवत्॥

ये कोई उदाहरण नहीं है। ये तो आह उ=आहो, उत आह उ=उताहो इस प्रकार निपातों का समुदाय है। उसमें उ निपात के एक अच् रूप होने से निपात एकाजनाङ् सूत्र से ही प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी।

ये निपातसमुदाय नहीं है बल्कि चादयोऽसत्त्वे सूत्रस्थ चादिगण में आहो उताहो इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से पढ़े गये एक निपात हैं। अथवा प्रगृह्यसंज्ञा के निषेध को रोकने के लिये इस सूत्र का आरम्भ समझना चाहिये। ओ षु यातम् इत्यादि निर्दिष्ट वैदिक प्रयोगों में ओ यह शब्द आ उ इन दो निपातों के योग से बना है। आ का सम्बन्ध यातम्, ववृत्याम् इन क्रियाओं से है। आ उ में हुए गुण एकादेश को अन्तादिवच्च से पूर्व के प्रति अन्तवत् मान कर आ हो जायगा तो निपात एकाजनाङ् सूत्र में अनाङ् ग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है उस को रोकने के लिये यह सूत्र हो सकता है। उसका प्रयोजन ओ षु आदि उक्त स्थलों में तो कुछ दीखता नहीं, हां, ओ इति ओ इस प्रकार पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे होने पर या ओ अयातम् आदि के परे होने पर प्रगृह्यसंज्ञा होने से सन्धि न होना सिद्ध हो जायगा।[1]

ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने में च्वि प्रत्ययान्त का निषेध कहना चाहिये। अनदः अदः अभवत्=अदोऽभवत्। अतिरः तिरः अभवत्=तिरोऽभवत्। यहां अदस् तिरस् शब्दों से अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय हो कर उसका सर्वापहारी लोप हुआ है। ऊर्यादिच्विडाचश्च से यह च्व्यन्त निपात है। स् को रु, रु को उ और उ को ओ गुण हो कर ओदन्त बन जाता है। इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हो कर एङः पदान्तादति से पूर्वरूप न हो सकेगा इस लिये यहां प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये।

---

१. यदि इस ओ को पर के प्रति आदिवद्भाव मान कर उ समझें तो यह आङ् भिन्न होने से अनाङ् इस निषेध का विषय नहीं बनेगा। उस अवस्था में उसी से सिद्ध हो जाने पर इस सूत्र का यह प्रयोजन नहीं रहता।

न वक्तव्यः । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्येत्येवं' न भविष्यति ॥

एवमपि अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् । अत्र प्राप्नोति ॥

एवं तर्हि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इति । तद्यथा गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः इति न वाहीकोऽनुबध्यते ॥

कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः । गौस्तिष्ठति । गामानयेति ॥

अर्थाश्रय एतदेवं भवति । यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद् भवति । शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे ॥

च्विप्रत्ययान्त के निषेध की कोई आवश्यकता नहीं । लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से यहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्योंकि अदो तिरो में जो ओकार है वह लाक्षणिक है । प्रतिपदोक्त नहीं है ।

यहां न सही, पर अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् जहां च्विप्रत्ययान्त की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । गो शब्द में ओकार प्रतिपदोक्त है । साक्षादुच्चरित है ।

यहां भी गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस परिभाषा से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी । न्यायमूलक इस परिभाषा का अर्थ है—गुणादागतो गौणः ।[1] गुणों के कारण आरोपित किया हुआ प्रयोग । मुखमिव प्रधानं मुख्यम्[2] । मुख के समान जो प्रधान है साक्षात् प्रतिपाद्यमान है वह मुख्य है । गौण और मुख्य के कार्यविचार में मुख्य में ही कार्य होता है, गौण में नहीं । यहां अभूततद्भावार्थक च्विप्रत्यय में जो मुख्य रूप से गौ नहीं है उसे गौण रूप से गौ बनाया जा रहा है । इस लिये गो शब्द ओदन्त निपात होता हुआ भी यहां मुख्य नहीं है गौण है । मुख्य ओदन्त निपात में ही प्रगृह्यसंज्ञा होने से यहां गौण में नहीं होगी । जैसे—गौरनुबन्ध्यः अजः अग्नीषोमीयः इस गोबन्धनविधिवाक्य द्वारा यज्ञ में मुख्य गो पशु ही बांधा जाता है पशु के मूढतादिगुणों के कारण उपचरित गो प्रयोगवाला वाहीक (बहिर्भूत शूद्रादि) नहीं बांधा जाता ।

तो फिर गौस्तिष्ठति, गामानय यहां वाहीक में उपचरित (उपचार से प्रयुक्त) गौण बने गो शब्द में गौः, गाम् यहां क्रम से वृद्धि और आत्व क्यों होते हैं ।

गौण मुख्य न्याय अर्थाश्रय में होता है । अर्थात् गौणता और मुख्यता पदार्थ के आश्रित हैं, शब्द के नहीं । किसी वस्तु के लिये ही गौण मुख्य शब्दों का

---

१. तत आगतः से शैषिक अण् ।

२. शाखादिभ्यो यः से इवार्थ में य प्रत्यय ।

उञ् ऊँ ॥१।१।१८॥

इह कस्मान्न भवति आहो । उताहो इति ॥

उञ इत्युच्यते । न चात्रोञं पश्यामः ॥

उञोऽयमन्येन सहैकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोञ एकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते इति। यदयमोदिति ओदन्तस्य निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति ॥

प्रयोग होता है। भाव यह है कि प्रयोगार्ह पद में पदान्तर के सन्निधान में गौणता की प्रतीति होने से गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति होती है, अप्रयोगार्ह प्रातिपदि की अवस्था में नहीं। इस लिये जो कार्य शब्दाश्रय हैं अर्थात् प्रातिपदिक सम्बन्धी हैं वे तो शब्द मात्र में चाहे गौण हों या मुख्य हों सब में समान रूप से हो जायेंगे। गोतो णित् से णिद्वत् होकर अचो ञ्णिति से वृद्धि होना और औतोम् शसोः से आकार होना ये कार्य शब्द को मान कर होने वाले हैं। ये हो जायेंगे। इन के होने पर ही प्रयोगार्ह पद बनेगा फिर उस बने हुए पद का गौण या मुख्य रूप से यथेष्ट प्रयोग होगा। पद बना हुआ गौः या गाम् शब्द जब गौर्वाहीकस्तिष्ठति, गां वाहीकमानय इस प्रकार वाहीक के साथ प्रयुक्त किया जायगा तब वह गौण समझा जायगा। केवल पशु के लिये प्रयुक्त हुआ मुख्य होगा। गोऽभवत् यह ओदन्त निपात तो पद बन चुका है इस में गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति संभव है। किन्तु वृद्धि और आत्व करने वाले सूत्र अभी पद का निर्माण कर रहे हैं। उन्हें तो शब्द मात्र चाहिये। अर्थ की अपेक्षा रहित उनकी प्रवृत्ति होने से वहां गौणमुख्य न्याय नहीं लग सकता।[2]

आहो इति, उताहो इति यहां इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा के साथ ऊँ आदेश क्यों नहीं होता ?

उञ् को ऊँ आदेश कहा है। यहां उञ् नहीं दीखता।

आह उ=आहो, उत आह उ=उताहो इस प्रकार यहां उञ् का दूसरे वर्ण के साथ गुण एकादेश हो रहा है जो परादिवद्भाव से उञ् ग्रहण से गृहीत होता है।

आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उञ् का एकादेश उञ् ग्रहण से गृहीत नहीं होता। ओत् सूत्र से जो ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा विधान की है

---

१. आहो उताहो को निपातसमुदाय मान कर प्रश्न है।

२. इसी लिये अगौः गौः समपद्यत इस विग्रह में अगौः इस गौण गो शब्द में भी वृद्धि हो रही है। अगां गां करोति गो करोति यहां च्विप्रत्ययान्त में तो वृद्धि और आत्व की प्राप्ति ही नहीं है इस लिये नहीं होंगे।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । उक्तमेतत्—'प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भ' इति । दोषः खल्वपि स्याद् यद्युञ एकादेश उञ् ग्रहणेन न गृह्येत । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति । 'मय उञो वो वे'ति वत्वं न स्यात् ।

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे । अथवा द्वावुकाराविमौ । एकोऽननुबन्धकः । अपरः सानुबन्धकः । तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैष एकादेशः ।

उञ इति योगविभागः । 'उञ' इति योगविभागः कर्तव्यः । उञः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः

वह इस बात को सिद्ध करती है । अन्यथा आहो उताहो में उञ् के एकादेश को परादिवद्भाव से उञ् मान कर निपात एकाजनाङ् से ही प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती तो ओत् सूत्र व्यर्थ था ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । ओत् सूत्र के विषय में तो कहा जा चुका है कि वह प्रगृह्यसंज्ञा के निषेध को रोकने के लिये बनाया है । इस लिये वह विशेष विधान होने से आवश्यक है व्यर्थ नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त दोष भी होगा यदि उञ् के एकादेश को उञ् ग्रहण से गृहीत नहीं मानेंगे । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति यहां जानु के उकार के साथ हुए उञ् के सवर्णदीर्घ एकादेश को यदि परादिवद्भाव से उञ् नहीं मानेंगे तो मय उञो वो वा से उञ् को पक्ष में होने वाला वकार नहीं हो सकेगा । इस लिए उञ् का एकादेश भी उञ् मानना होगा । उस अवस्था में आहो उताहो में उञ् होने से ऊँ आदेश प्राप्त होता है ।

अच्छा तो, आहो उताहो ये चादिगण में पठित स्वतन्त्र एकनिपात हैं । इनमें उञ् का एकादेश नहीं मानेंगे । या उञ् और उ ये दो पृथक् २ निपात हैं । एक में ञकार अनुबन्ध लगा है दूसरे में नहीं । आहो उताहो में ञकार अनुबन्ध रहित उ का एकादेश मानेंगे उञ् का नहीं तो उञ् न होने से ऊँ आदेश नहीं होगा ।

उञ ऊँ इस सूत्र का योगविभाग करना चाहिये । एक सूत्र के स्थान में उञः । ऊँ । ये दो सूत्र बनाने चाहियें । उञः इस पहले सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य आचार्य के मत में उञ् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उससे शाकल्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हो कर उ इति यह रूप बन जायगा । अन्य शौनकादि आचार्यों के मत में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो यण् हो कर विति यह रूप बन जायगा । उसके बाद ऊँ इस दूसरे सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य के मत में उञ् के स्थान में दीर्घ

ऊँ। ऊँ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च। ऊँ इति।

किमर्थो योगविभागः।

ऊँ वा शाकल्यस्य। शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति, उ इति। अन्येषामाचार्याणां मतेन विति।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥१।१।१९॥

ईदूतौ सप्तमीत्येव। ईदूतौ सप्तमीत्येव सिद्धं नार्थोऽर्थग्रहणेन।

लुप्तेऽर्थग्रहणाद्[1] भवेत्।

अनुनासिक तथा प्रगृह्यसंज्ञक ऊँ आदेश होता है। उससे शाकल्य के मत में ऊँ इति यह रूप भी बन जायगा। उ इति पहले से है ही। इस प्रकार दो रूप शाकल्य के मत में बन जायेंगे। अन्यों के मत में केवल विति यह रूप बनेगा।

उञ ऊँ सूत्र का योगविभाग किस लिये करना चाहिये।

योगविभाग करने से शाकल्य के मत में ऊँ आदेश विकल्प से होगा तो उ इति, ऊँ इति ये दो रूप बन जायेंगे। अन्य आचार्यों के मत में विति यह रूप रहेगा। इस प्रकार इष्ट तीनों रूप योगविभाग से सिद्ध हो जायेंगे। अन्यथा उञ ऊँ यह एक सूत्र होने पर शाकल्य के मत में उञ् को ऊँ आदेश हो जायगा तो ऊँ इति यह एक रूप ही बन सकेगा उ इति यह दूसरा रूप नहीं बन सकेगा। अन्यों के मत में विति रहेगा इस प्रकार केवल दो ही रूप बन सकेंगे, तीन नहीं। तीन रूप बनाने के लिये योगविभाग आवश्यक है।

ईदूतौ च सप्तमी इतना ही सूत्र पर्याप्त है। अर्थग्रहण की आवश्यकता नहीं।

---

१. वार्तिक में लुप्त शब्द सामान्याभिधायी होने से नपुंसक लिङ्ग है। इस वार्तिक का भाव यह है कि संज्ञाविधि में प्रत्यय की संज्ञा करने में तदन्तविधि का प्रतिषेध होता है। यदि सूत्र में अर्थ ग्रहण न किया जाय तो ईदूत् सप्तमी की प्रगृह्यसंज्ञा होगी, पर उसके अश्रवण में (अविद्यमान होने पर संज्ञा न हो सकेगी, और प्रत्यय निमित्तक कार्य जहां किसी दूसरे को विहित होता है वहीं प्रत्यय लक्षण होता है, अतः गौरी (जहां सप्तमी का लुक् हुआ है) में उसकी प्राप्ति ही नहीं, इसलिये सूत्र में अर्थ ग्रहण किया है।

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति। क्व। सोमो गौरी अधिश्रितः। इष्यते चात्रापि स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमर्थग्रहणम्।

नात्र सप्तमी लुप्यते। किं तर्हि। पूर्वसवर्णोऽत्र भवति।

पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम् भावः प्रसज्यते।

यदि पूर्वसवर्ण आट् आम् भावश्च प्राप्नोति।

एवं तर्हि आहायमीदूतौ सप्तमीति। न चास्ति सप्तमी ईदूतौ। तत्र वचनाद् भविष्यति।

सप्तमी विभक्ति का लुक् हो जाने पर ईकारान्त ऊकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। वहां प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये अर्थग्रहण की आवश्यकता है। जिससे सप्तमी न होने पर भी उसके अर्थ को लेकर प्रगृह्यसंज्ञा हो जावे। कहां ?। सोमो गौरी अधिश्रितः यहां वैदिक प्रयोग में गौरी शब्द से परे सप्तमी विभक्ति ङि का सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० इस सूत्र से लुक् हुआ है। गौरी में सप्तमी परे न होने पर भी उसका अर्थ विद्यमान है। इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा होकर अच् सन्धि नहीं होती। अर्थग्रहण के न करने पर यहां सप्तमी परे न होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। इष्ट है यहां भी प्रगृह्यसंज्ञा हो इस लिये अर्थग्रहण करना चाहिये।

गौरी में सप्तमी का लुक् नहीं होता किन्तु सुपां सुलुक्० से पूर्वसवर्ण होता है। गौरी–इ=गौरी–ई इस प्रकार सप्तमी विभक्ति के इकार के स्थान में पूर्व ईकार का सवर्णी ईकार होकर दोनों का सवर्णदीर्घ एकादेश हो जायगा तो गौरी बन जायगा। उसमें परादिवद्भाव से सप्तमी का ईकार विद्यमान मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है।

यदि गौरी में सप्तमी विभक्ति के स्थान में सुपां सुलुक्० से हुआ पूर्वसवर्ण ईकार मानते हो तो गौरी ई इस अवस्था में सवर्णदीर्घ को बाध कर आण्नद्याः से आट् का आगम और ङेराम् नद्याम्नीभ्यः से आम् आदेश प्राप्त होते हैं। उस अवस्था में गौर्याम् बनेगा गौरी नहीं। इस लिये गौरी में सप्तमी का लुक् ही मानना चाहिये पूर्वसवर्ण नहीं।

तब तो ईदूतौ च सप्तमी इस वचन के सामर्थ्य से लुप्त हुई सप्तमी में भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी। क्योंकि सर्वत्र सप्तमी का लुक् हो जाने से ईकार

वचनाद् यत्र दीर्घत्वम् ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते । दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् इति । सति प्रयोजने इह न प्राप्नोति । सोमो गौरी अधिश्रित इति ॥

तत्रापि सरसी यदि ।

तत्रापि सिद्धम् । कथम् । यदि सरसी शब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति । अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः । कथम् । दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ॥

ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे ।

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति ।

ऊकार रूप सप्तमी कहीं न मिलेगी तो लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मान कर गौरी में सप्तमी सहचरित ईकार हो जायगा फिर उसकी प्रगृह्यसंज्ञा बन जायगी इस लिये अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

ईदूतौ च सप्तमी । इस वचन का सामर्थ्य नहीं बनता । यह वचन तो वहां चरितार्थ हो सकता है जहां सप्तमी को दीर्घ होता है । जैसे—दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् इस वेद मन्त्र के सरसी प्रयोग में सरस् शब्द से परे सप्तमी के इकार को इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् इस वार्तिक से दीर्घ ईकार आदेश होता है । यह ईकार रूप सप्तमी बन जाती है । ईकाररूप सप्तमी के मिल जाने से ईदूतौ च सप्तमी यह सूत्र यहां प्रगृह्यसंज्ञा करने में चरितार्थ हो जायगा तो गौरी में प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी । अतः तदर्थ सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिये ।

वहां भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । कैसे ? सरसी में यदि[1] हम सरस् शब्द न मान कर सरसी शब्द मान लें जैसा कि लोक में सरसी शब्द का प्रयोग होता ही है, क्योंकि दक्षिण देश में बड़े २ सरोवर सरसी कहलाते हैं, उस सरसी से परे सप्तमी का लुक् कर के सरसी यह सप्तम्यन्त बनावें तो वह भी गौरी के समान बन जायगा । उस से सर्वत्र लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

फिर तो व्यर्थ हुआ अर्थग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रगृह्यसंज्ञा में

---

१. यहां यदि शब्द सम्भावना अर्थ में है । ऐसा ही शास्त्राणि चेत् प्रमाणं स्युः यहां भी अर्थ है ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं वध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति ।

मा वा पूर्वपदस्य भूत् ।

अथवा पूर्वपदस्य मा भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम् । वाप्यामश्वो वाप्यश्वः । नद्यामातिर्नद्यातिः ॥

अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति ।

जहत्स्वार्था वृत्तिरिति ।

अथाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव । अजहत्स्वार्थायां च न दोषः ।

प्रत्ययलक्षण नहीं होता । इस बात के ज्ञापन का प्रयोजन कुमार्यगारम्, वध्वगारम् यहां ईदूदेत् सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा का न होना है । जिसका विचार ईदूदेद् द्विवचनं० सूत्र में ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त की प्रगृह्यसंज्ञा कथन करने वाले तीसरे चौथे पक्षों में पहले हो चुका है । यहां तदन्तरे शब्द से उन्हीं तीसरे चौथे पक्षों से अभिप्राय है । जब प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तब अर्थग्रहण करने पर वहां प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । अथवा समास के घटक अवयव पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा न होवे इस लिये अर्थग्रहण किया है । वाप्यामश्वः=वाप्यश्वः । नद्यामातिः=नद्यातिः । यहां संज्ञायाम् सूत्र से हुए सप्तमी तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का लुक् हुआ है । वापी नदी इन पूर्वपदों का ईकार सप्तमीसहचरित है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है वह अर्थग्रहण करने से न होगी । क्योंकि यहां उत्तरपदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास में पिछले पद अश्व और आति का ही अर्थ प्रधान है । पूर्वपद वापी और नदी की सप्तमी का अर्थ प्रधान नहीं है ।

अर्थग्रहण करने पर भी वाप्यश्वः, नद्यातिः में प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ।

जहत्स्वार्था वृत्ति होने से । वृत्ति अर्थात् समास । वह दो प्रकार का है—जहत्स्वार्थ और अजहत्स्वार्थ । जिसमें समास के अन्तर्वर्ती घटक पद अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ देते हैं वह जहत्स्वार्था वृत्ति कहाती है । और जिसमें समास के घटक पद अपना अर्थ सर्वथा नहीं छोड़ते बल्कि अपना अर्थ भी रखते हैं वह अजहत्स्वार्था वृत्ति होती है । जहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में पूर्वपद वापी और नदी अपने सप्तम्यर्थ को छोड़ चुके हैं इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में तो दोष है ही । अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । क्योंकि अजहत्स्वार्थ पक्ष में स्वार्थसंसृष्ट पर का अभिधान होता है । पूर्वपद और उत्तरपद दोनों अपने अर्थ को समुदायार्थ (समुदितार्थ)

समुदायार्थोऽभिधीयते।

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत्।
पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते॥१॥

वचनाद् यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत्॥२॥

दाधा घ्वदाप् ॥१।१।२०॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्।

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। दाधाप्रकृतयो[१] घुसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते सा आत्वभूतानामेव स्यात्। अनात्वभूतानां न स्यात्। ननु च भूयिष्ठानि

के साथ मिल कर कहते हैं। समुदायार्थ का अर्थ समासार्थ है। दोनों पदों का अर्थ अपने समासार्थ के साथ इतना घुलमिल जाता है कि वह धूल में मिले हुए पानी की तरह किसी तरह पृथक् नहीं किया जा सकता। उभयपद मिश्रित नये अर्थ में दोनों पदों का अर्थ समा जाता है। जब सूत्र में सप्तम्यर्थे ऐसा पढ़ते हैं, तब जितना वाक्य में सप्तम्यन्त पद से असंसृष्ट (=विशेषण-रहित) तथा उद्भूत (दूसरे का विशेषण न बना हुआ) अर्थ कहा जाता है, समास में वैसा न कहे जाने से समास में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी। वाप्यश्वः, नद्यातिः में सप्तमी का अर्थ भी समासार्थ में समाविष्ट हो जाने से अलग नहीं कहा जा सकता। इस लिये यहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। इस प्रकार से ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा रोकने के लिये अर्थग्रहण करना युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

दा धा की घुसंज्ञा करने में प्रकृति ग्रहण करना चाहिये। शित् के लिये। अर्थात् दा धा की जो प्रकृति=मूलरूप दो देङ् धेट् हैं उनकी भी घुसंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? दाधा शब्द से आत्वभूत=आत्व को प्राप्त=स्वतः सिद्ध आकार वाले जो दा धा हैं उनकी यह घुसंज्ञा की जा रही है सो वह आत्व को प्राप्त दाधा रूप वाले दाण्, दाञ्, धाञ् की ही प्राप्त होती है। अनात्वभूत अर्थात् आत्व को न प्राप्त हुए स्वतःसिद्ध आकाररहित

---

१. यह द्वन्द्व समास है। दाश्च, धौ च, प्रकृतयश्च—ऐसा विग्रह है। सूत्र में उपस्थित दाधा की ही प्रकृतियां समझी जायेंगी।

घुसंज्ञाकार्याणि आर्धधातुके तत्र चैते आत्वभूता दृश्यन्ते। शिदर्थम्। शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। शित्यात्वं प्रतिषिध्यते तदर्थम्। प्रणिदयते प्रणिद्यति प्रणिधयतीति।

भारद्वाजीयाः पठन्ति।

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। शिदर्थं विकृतार्थं च। शित्युदाहृतम्। विकृतार्थं खल्वपि। प्रणिदाता। प्रणिधाता।

किं पुनः कारणं न सिध्यति।

'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवे'ति प्रतिपदं ये आत्वभूतास्तेषामेव स्यात्। लक्षणेन ये आत्वभूतास्तेषां न स्यात्।

दो देङ्, धेट् की नहीं प्राप्त होती। अधिकांश में घुसंज्ञा के कार्य आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर होते हैं उस आर्धधातुक में ये दो देङ्, धेट् भी आत्व को प्राप्त हैं। शिदर्थम्। शित् के लिये प्रकृतिग्रहण करना है। आदेच उपदेशेऽशिति से होने वाला आत्व शित् प्रत्ययों में रुक जाता है। वहां नहीं होता। जैसे प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिधयति यहां प्र नि पूर्वक दो धेङ्, धेट् धातुओं से लट् में क्रमशः श्यन् और शप् विकरण होते हैं। वे शित् हैं। वहां आत्व न होने से दा धा रूप न होंगे तो घुसंज्ञा न हो कर नेर्गदनदपतपदघुमास्यति० सूत्र से नि शब्द के नकार को णत्व नहीं प्राप्त होता।

इसी बात को भारद्वाजीय लोग यूँ कहते हैं—घुसंज्ञा में प्रकृतिग्रहण करना चाहिये। किस लिये? शित् के लिये। और विकृत के लिये। विकार होकर बने दा धा के लिये। शित का उदाहरण दिया जा चुका है। विकृत का उदाहरण है—प्रणिदाता। प्रणिधाता। यहां प्रनि पूर्वक देङ् दो धेट् धातुओं से तृच् परे रहते आत्वरूप विकार हो कर दा धा रूप बना है उसकी घुसंज्ञा न होने से नेर्गदनद० सूत्र से नि को णत्व नहीं प्राप्त होता।

क्या कारण है जो यहां प्रणिदाता प्रणिधाता में घुसंज्ञा नहीं प्राप्त होती?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से। जो प्रतिपदोक्त स्वतः सिद्ध आत्व वाले दा धा हैं उनकी ही घुसंज्ञा प्राप्त होती है। जो आदेच उपदेशेऽशिति इस लक्षण से निष्पन्न लाक्षणिक दा धा हैं उनकी घुसंज्ञा नहीं प्राप्त होती।

अथ क्रियमाणेपि प्रकृतिग्रहणे कथमिदं विज्ञायते दाधाः प्रकृतयः इति, आहोस्विद् दाधां प्रकृतयं इति। किं चातः। यदि विज्ञायते दाधाः प्रकृतय इति स एव दोषः आत्वभूतानामेव स्यात्। अनात्वभूतानां न स्यात्। अथ विज्ञायते दाधां प्रकृतय इति, अनात्वभूतानामेव स्यादात्वभूतानां न स्यात् ॥

एवं तर्हि नैवं विज्ञायते दाधाः प्रकृतय इति। नापि दाधां प्रकृतय इति। कथं तर्हि। दाधा घुसंज्ञा भवन्ति प्रकृतयश्चैषामिति ॥

तत्तर्हि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् ॥

न कर्तव्यम्। इदं प्रकृतमर्थग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्। 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति। वक्ष्यामि 'दाधाघ्वदाप् अर्थे' इति ॥

नैवं शक्यम्। ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदासतिमंहति-

अच्छा, प्रकृतिग्रहण करने पर भी दाधाप्रकृतयः इस शब्द में कैसा विग्रह करोगे। दाधाश्च ताः प्रकृतयः=दाधाप्रकृतयः इस प्रकार कर्मधारय मानोगे या दाधां प्रकृतयः=दाधाप्रकृतयः इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष मानोगे। इस से क्या ? यदि दाधाः प्रकृतयः यह कर्मधारय मानोगे तो वही दोष है। स्वतः आत्व को प्राप्त दाण् दाञ् धाञ् की ही घुसंज्ञा होगी। दो देङ् धेट् की नहीं होगी। यदि दाधां प्रकृतयः यह षष्ठीतत्पुरुष मानोगे तो दाधा की प्रकृति दो देङ् धेट् है उनकी ही घुसंज्ञा हो सकेगी। दाण् दाञ् धाञ् की न हो सकेगी।

दाधाप्रकृतयः ऐसा समस्त शब्द नहीं रखेंगे बल्कि दाधा घ्वदाप् प्रकृतयश्च ऐसा रखेंगे। उसमें स्वतः सिद्ध दा धा रूप वाले दाण् दाञ् धाञ् की घुसंज्ञा हो जायगी और दा धा शब्दों की जो मूल प्रकृतियां दो देङ् धेट् हैं उन की भी घुसंज्ञा सिद्ध हो जायगी।

तो फिर प्रकृतिग्रहण कर देना चाहिये ?

प्रकृतिग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे इस पूर्वसूत्र से अर्थग्रहण की अनुवृत्ति कर लेंगे। सूत्र होगा—दाधा घ्वदाप् अर्थे। उस से दा धा रूप वाले और दाधा के अर्थ वाले दो देङ् धेट् आदि सब की घुसंज्ञा सिद्ध हो जायगी।

ऐसा नहीं हो सकता। अर्थे कहने पर तो दा धातु के समानार्थक रा, रास् दास्, मंह्, प्री इत्यादि बहुत से धातुओं की भी घुसंज्ञा प्राप्त हो जायगी। इस

प्रीणातिप्रभृतीनाहुः। तेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति। तस्मान्नैवं शक्यम्। न चेदेवं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव॥

न कर्तव्यम्। शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहणेन। अवश्यं तत्र मार्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम्। तत् पुरस्तादपकृक्ष्यते घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति॥

यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति। अत्रापि प्राप्नोति।

अथाक्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे इह कस्मान्न भवति। प्रनिमाता प्रनिमातुं प्रनिमातव्यमिति। आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते। यथैव तर्हि अक्रियमाणे प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायते

लिये अर्थ नहीं कह सकते। उस के स्थान में प्रकृतिग्रहण ही करना होगा। (जिस से अति प्रसङ्ग न होगा)।

कोई आवश्यकता नहीं प्रकृतिग्रहण करने की। शित् के लिये तो यूं नहीं, क्योंकि नेर्गद नद पत पद घुमा० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करना आवश्यक है ही, जिससे प्रणिमयते प्रण्यमयत यहां प्रनि पूर्वक मेङ् धातु को आत्व होने के कारण मा मान कर नि को णत्व हो जावे। वही प्रकृतिग्रहण मा के पूर्ववर्ती घु के लिये भी आकृष्ट कर लिया जायगा। सूत्र में घु और मा के मध्य में प्रकृति शब्द रखेंगे जो उभयान्वयी होगा, जिससे घुप्रकृति और मा प्रकृति इस दोनों का ग्रहण हो जायगा।

यदि नेर्गदनद० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करते हैं तो प्रनिमिनोति, प्रनिमीनाति यहां प्रनि पूर्वक मिञ् मीञ् में भी नि को णत्व प्राप्त होता है। क्योंकि मिञ् मीञ् मीनाति भी मिनोतिदीङां ल्यपि च सूत्र से आत्व हो कर मा रूप होने से मा की प्रकृति बन जायेगी।

हम पूछते हैं नेर्गदनद० सूत्र में प्रकृतिग्रहण न करने पर भी प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रनिमातव्यम् यहां स्पष्ट मा शब्द के होते हुए नि को णत्व क्यों नहीं होता। तब आप यही कहेंगे कि वहां ङित् आकारवाला मा लिया गया है। अर्थात् माङ् धातु। प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रतिमातव्यम् में माङ् का मा नहीं है। मिञ् मीञ् का है इस लिये णत्व नहीं होता तो प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति में भी माङ् न होने से णत्व नहीं होगा। वहां प्रकृतिग्रहण मिञ् मीञ् न ले कर मेङ् धातु ही लिया जायगा क्योंकि वह आत्व होने पर माङ् बन जाता है।

एवं क्रियमाणेपि प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते। विकृतार्थेन चापि नार्थः। दोष एवैतस्याः परिभाषाया 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवे'ति। 'गामादाग्रहणेष्वविशेष' इति॥

समानशब्दप्रतिषेधः।

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। प्रनिदारयति। प्रनिधारयति। दा धा घुसंज्ञा भवन्तीति घुसंज्ञा प्राप्नोति।

प्रणिदाता, प्रणिधाता इन विकृतों के लिये भी इस सूत्र में प्रकृतिग्रहण अनावश्यक है। लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा को सर्वत्र मानने में दोष ही है। गामादाग्रहणेष्वविशेषः यह परिभाषा उस की अपवाद रूप है। इस का अर्थ है— गा मा दा इन शब्दों के ग्रहण में लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त का अविशेष होता है। उन का कोई भेद नहीं होता। ये चाहे लाक्षणिक हों तो भी इन शब्दों से गृहीत हो जाते हैं। प्रणिदाता में दाधा शब्दों के लाक्षणिक होने पर भी दाधा रूप होने से घुसंज्ञा हो जायगी।

दाधा के समान शब्दों की घुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये। प्रनिदारयति प्रनिधारयति यहां प्रनिपूर्वक दृङ्, धृङ् धातुओं से णिच् परे रहते वृद्धि और रपर हो कर दार्, धार् ये रूप बनते हैं। उनके अवयव दाधा की इस सूत्र से घुसंज्ञा प्राप्त होती है।

---

१. गा मा दा ग्रहणेष्वविशेषः इस परिभाषा का ज्ञापक दैप् धातु का पित्त्व ही है। अनुदात्तौ सुप्पितौ से पित् प्रत्यय को अनुदात्तत्व विधान किया है धातु को नहीं। दैप् में पित्व इस लिये किया है कि घुसंज्ञा में दाप् के निषेध के साथ दैप् का निषेध भी हो जावे। दैप् का दाप् रूप लाक्षणिक है। लाक्षणिक होने से दाप् शब्द से गृहीत ही नहीं होगा तो घुसंज्ञा निषेध के लिये उस में पित्व करना व्यर्थ है। पित्व करने से पता लगता है कि दा ग्रहण में लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नहीं लगती। उस से गा मा दा ग्रहणेष्वविशेषः यह परिभाषा सिद्ध हो जाती है। जिस प्रकार गा मा दा इन के ग्रहण में लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा नहीं मानी जाती उसी प्रकार दाधा घ्वदाप्० सूत्र के दा के समान धा के ग्रहण में भी निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य (अनुबन्धरहित के ग्रहण में अनुबन्ध सहित का ग्रहण नहीं होता) यह परिभाषा नहीं मानी जायगी तो प्रणिधाता यहां धेट् की भी घुसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। यद्यपि धातु पाठ में धा धातु निरनुबन्धक नहीं है। सभी सानुबन्धक हैं तथापि दाधा घ्वदाप् इस सूत्र में धा यह निरनुबन्धक का ग्रहण है। उस से निरनुबन्धक परिभाषा की

समानशब्दाप्रतिषेधोऽर्थवद्ग्रहणात् ।

समानशब्दानामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः। घुसंज्ञा कस्मान्न भवति। अर्थवद्ग्रहणात्। अर्थवतो दाधोर्ग्रहणात्। न चैतावर्थवन्तौ।

अनुपसर्गाद्वा ।

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति। न चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः।

यद्येवम् इहापि तर्हि न प्राप्नोति। प्रणिदापयति। प्रणिधापयति।

दाधा के समान शब्दों की घुसंज्ञा का निषेध व्यर्थ है अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा से दाधा की घुसंज्ञा में अर्थवान् दाधा लिये जायेंगे। प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दार्, धार् धातुओं के सार्थक होने पर भी उनके अवयव दा धा अनर्थक हैं। अनर्थक होने से उनकी घुसंज्ञा नहीं होगी तो नि को णत्व नहीं होगा। अथवा—प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दा धा की घुसंज्ञा मान भी लें तो भी प्रनि शब्दों के दाधा के प्रति उपसर्ग न होने से णत्व नहीं होगा। क्योंकि प्र परा आदि का जिस धातु की क्रिया के साथ योग होता है उसके प्रति ही वे गति या उपसर्गसंज्ञक होते हैं। प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में प्र नि का योग दा धा के प्रति नहीं है अपि तु दार्, धार् के प्रति है इस लिये दार्, धार् के प्रति ही वे उपसर्ग हैं दा धा के प्रति नहीं।

फिर तो प्रणिदापयति, प्रणिधापयति यहां भी घुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यहां भी दा धा धातुओं से णिच् परे रहते पुक् का आगम हो कर दाप्

प्राप्ति संभव है। वह अनित्य मानी जायगी तो धेट् भी धाञ् के समान धा रूप से गृहीत होगी। वस्तुतः धेट् की घुसंज्ञा में दो दद् घोः सूत्र का दः ग्रहण ही ज्ञापक है। वहां घोः की विद्यमानता में भी जो दः ग्रहण किया है वह सिद्ध करता है कि धेट् धातु की घुसंज्ञा होती है। दा धातु घुसंज्ञक हैं ही। धा को दधातेर्हिः से हि आदेश हो जायगा। दो को द्यतिस्यतिमास्था० से इत्त्व हो जायगा। अन्त में दा से भिन्न देङ् धेट् ही रहती हैं। वे यदि घुसंज्ञक न हों तो घोः इस अंश से ही व्यावृत्त हो सकती हैं। घोः के रहते हुए जो दः कहा है वह देङ् धेट् की घुसंज्ञा को सिद्ध करता है। दः कहने से घुसंज्ञक उन दोनों की दथ् आदेश में व्यावृत्ति हो जाती है। दत्तः दत्तवान् ये दा के रूप होंगे। देङ् धेट् के घुसंज्ञक होने से दीतः दीतवान्, धीतः धीतवान् रूप बनेंगे। घुमावस्था से ईत्व घुसंज्ञक होने पर ही हो सकता है।

अत्रापि नैतौ दाधावर्थवन्तौ । नाप्येतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ॥

न वार्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते यथान्यत्र ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते । यथान्यत्र । तद्यथा अन्यत्रापि अर्थवत आगमोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते । क्वान्यत्र । लविता चिकीर्षितेति ।

युक्तं पुनर्यन्नित्येषु शब्देष्वागमशासनं स्यात् । न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः । 'आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः' । अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः । बाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता ॥

आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत् कथम् ।

धाप् ये रूप बनते हैं । उसमें दाप् धाप् ही अर्थवान् हैं । उनके अवयव दा धा नहीं । प्र नि का योग भी दाप् धाप् की क्रिया के साथ है, दा धा की क्रिया के साथ नहीं ।

प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में घुसंज्ञा का अभावरूप दोष नहीं आता । क्यों ? अर्थवान् को होने वाला आगम उसका अवयव बना हुआ उस अर्थवान् के ग्रहण से गृहीत हो जाता है । जैसे—अन्यत्र, लविता (लू-इट्, तृच्) चिकीर्षिता (चिकीर्ष-इट् तृच्) आदि में अर्थवान् तृच् को हुआ इट् का आगम तृच् के ग्रहण से गृहीत होता है । उसी प्रकार प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में अर्थवान् दा धा को हुआ पुक् का आगम दा धा ग्रहण से गृहीत हो जायगा तो घुसंज्ञा हो जायगी ।

क्या यह ठीक है कि शब्दों को नित्य मानते हुए उन में पुक् आदि आगम किये जावें । क्या नित्यशब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचल तथा लोप विकार वृद्धि विनाश से रहित नहीं होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये। आगम तो एक प्रकार से नये शब्द का जोड़ होता है। क्या फिर नित्य शब्दों में आदेशों का होना ठीक है ? बिल्कुल ठीक है। आदेशों में तो एक शब्द का स्थान दूसरा शब्द ले लेता है। उसमें कहीं घटती बढ़ती का अवकाश नहीं । सभी शब्द नित्य हैं । पहले शब्द के स्थान में दूसरे शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है ।

तो फिर पुक् इट् आदि को आगम न मानकर आदेश मान लीजिये । तृच् को इट् का आगम होता है यह कह कर तृच् के प्रयोग में इतृच् का प्रयोग किया

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे ।

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे वक्तव्यः। उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति । 'मीनातिमिनोती'त्यात्त्वे कृते स्थाघ्वोरिच्चेतीत्त्वं प्राप्नोति ।

कुतः पुनरयं दोषो जायते । किं प्रकृतिग्रहणादाहोस्विद् रूपग्रहणात् ॥

रूपग्रहणादित्याह ।

इह खलु प्रकृतिग्रहणाद् दोषो जायते। उपदिदीषते। 'सनि मीमाघुरभलभे'ति ।

नैष दोषः। दाप्रकृतिरित्युच्यते। न चेयं दाप्रकृतिः। आकारा-

जायगा। इस प्रकार आगमरहित शब्दों के स्थान में आगमसहित आदेश हो जायेंगे। सो कैसे? दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनि के मत में सभी आदेश सम्पूर्ण शब्द के स्थान में प्रयुक्त होते हैं। शब्द के आदि मध्य अन्त रूप किसी एक देश में होने पर तो शब्द की नित्यता नहीं रह सकती।

स्थाघ्वोरिच्च से विधीयमान इत्त्व के विषय में दीङ् धातु की घुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये। उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य (इस शिक्षक का स्वर क्षीण हो गया=गला बैठ गया है) यहां उपादास्त में उप पूर्वक दीङ् धातु से लुङ में सिच् परे रहते एज् विषय में मीनातिमिनोति० सूत्र से आत्व हो कर दी का दा बनता है। दा रूप होने से घुसंज्ञा हो जायगी तो स्थाघ्वोरिच्च से कित्त्व के साथ इत्त्व प्राप्त होता है।

उपादास्त में क्या मान कर घुसंज्ञा का दोष प्राप्त होता है। क्या दा प्रकृति मान कर या दा रूप मान कर?

दा रूप मान कर यहां घुसंज्ञा प्राप्त होती है।

लेकिन उपदिदीषते (उप दीङ्-सन्-त) यहां उप पूर्वक सन्नन्त दीङ् धातु में तो दा प्रकृति मान कर घुसंज्ञा प्राप्त होती है। सन् परे रहते इको झल् से कित्त्व हो जायगा तो गुण न होने से एज् विषय न रहेगा। एज् विषय न रहने से दी ही रहेगा। तब दा की प्रकृति दी शब्द की घुसंज्ञा हो कर सनि मी मा घु रभ० से अभ्यास लोप और इस् आदेश प्राप्त होगा।

यह कोई दोष नहीं। घुसंज्ञा में दाप्रकृति कहा है। आकारान्तों की प्रकृति एजन्त होती है एजन्तों की प्रकृति ईकारान्त होती है। प्रकृति की जो प्रकृति है वह

न्तानामेजन्ताः प्रकृतयः। एजन्तानामपीकारान्ताः। न च प्रकृतेः प्रकृतिः प्रकृतिग्रहणेन गृह्यते।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः।

न वक्तव्यः। घुसंज्ञा कस्मान्न भवति। 'संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये'त्येवं न भविष्यति।

दाप् प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात्।

दाप् प्रतिषेधे दैपिप्रतिषेधो न प्राप्नोति। अवदातं मुखम्। ननु चात्त्वे कृते भविष्यति। तद्धयात्त्वं न प्राप्नोति। किं कारणम्। अनेजन्तत्वात्।

सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्।

प्रकृतिग्रहण से गृहीत नहीं होती। उपदिदीषते में दी यह दा की प्रकृति नहीं मानी जा सकती। दे की प्रकृति तो हो सकती है। दा प्रकृति न होने से यहां घुसंज्ञा नहीं होगी तो कोई दोष न होगा।

तो फिर उपादास्त में दीङ् की घुसंज्ञा का निषेध कह दिया जाय?

घुसंज्ञा का निषेध कहने की आवश्यकता नहीं। घुसंज्ञा क्यों नहीं होती? संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य इस परिभाषा से उपादास्त में घुसंज्ञा नहीं होगी। इस परिभाषा का अर्थ है—जो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले विधि का निमित्त नहीं होता। संनिपातलक्षणो विधिः=दो के सम्बन्ध से होने वाला कार्य। तद्विघातस्य=उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले का। अनिमित्तम्=हेतु नहीं बनता। उपादास्त में जिस सिच् के अकित्त्व के कारण दीङ् को आत्व हो कर दा बना है वह दा बन कर घुसंज्ञा द्वारा स्थाघ्वोरिच्च से सिच् को कित् नहीं कर सकता। घुसंज्ञा हो जाने से सिच् के अकित्त्व का विघात होता है इसलिये घुसंज्ञा नहीं होगी।

दाधा घ्वदाप्० यहां दाप् धातु की घुसंज्ञा के निषेध में दैप् धातु का निषेध नहीं प्राप्त होता। अवदातं मुखम् (शुद्ध मुख) यहां अव पूर्वक दैप् धातु से क्त प्रत्यय परे रहते घुसंज्ञा का निषेध इष्ट है। घुसंज्ञा न होने से अच उपसर्गात्तः से तकार आदेश नहीं होगा तो अवदातं मुखम् यह इष्ट रूप बन जायगा। आदेच उपदेशे० से आत्व करने पर दाप् बन जायगा फिर अदाप् से निषेध हो जायगा। वह आत्व ही तो नहीं प्राप्त होता। क्यों? एजन्त न होने से। दैप् के अन्त में पकार है। एच् नहीं है तो आदेच उपदेशे० से आत्व कैसे होगा?

---

१. तं सन्निपातं विहन्तीति तद्विघातः। कर्मण्यण्।

सिद्धमेतत् । कथम् । अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात् । अनेकान्ता अनुबन्धाः ।

पित्प्रतिषेधाद्वा ।

अथवा दाधा घ्वपिदिति वक्ष्यामि । तच्चावश्यं वक्तव्यम् । अदाविति ह्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत प्रणिदापयतीति । शक्यं तावदनेनाविति ब्रुवता बान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञातुम् ॥

सूत्रं तर्हि भिद्यते ॥

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं दाप् प्रतिषेधे न दैपीति । परिहृतमेतत् 'सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वादिति' । अथैकान्तेषु दोष एव ।

दैप् की घुसंज्ञा का निषेध सिद्ध हो जायगा । कैसे ? अनुबन्ध के अनेकान्त अर्थात् अनवयव होने से । दैप् का पकार अनुबन्ध धातु का अवयव नहीं माना जायगा तो दै के एजन्त होने से आत्व हो जायगा । अनेकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा है । इस का अर्थ है अनुबन्ध धातु आदि के अवयव नहीं होते । अथवा दा धा घ्वपित् ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसमें अपित् शब्द से पित् का निषेध होगा तो दाप् दैप् दोनों निषिद्ध हो जायेंगे । दा धा घ्वपित् ऐसा सूत्र अवश्य बनाना ही चाहिये । अदाप् कहने से तो प्रणिदापयति यहां णिजन्त दा धातु में भी दाप् रूप होने से घुसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है । वैसे प्रणिदापयति में घुसंज्ञा का निषेध रोकने के लिये यह भी तरीका है कि दा धा घ्वदाप् में दाप् का निषेध न कर के दाव् का निषेध करें । दाधा घ्वदाव् आद्यन्तवदेकस्मिन् इस संहिता पाठ में अदाव् कहता हुआ यह अध्येता अदाप् के समान अदाव् भी तो समझ सकता है । क्योंकि सन्धि में पकारान्त तथा बकारान्त दोनों ही निकल सकते हैं । उस अवस्था में दाप् का निषेध न मान कर दाब् का निषेध मानेंगे तो दाप् दैप् दोनों धातु धातुपाठ में बकारान्त पढ़ दिये जायेंगे । प्रणिदापयति में दाब् न होने से घुसंज्ञा का निषेध न होगा ।

दा धा घ्वपित् इस न्यास को मानने पर पाणिनि का दा धा घ्वदाप् यह सूत्र तो बदलना होगा ।

जैसा पाणिनि का दा धा घ्वदाप् यह सूत्र है वैसा ही रहने दीजिये । यह जो कहा था कि दाप् के निषेध में दैप् का निषेध नहीं प्राप्त होता उसका समाधान अनुबन्ध के अनेकान्त होने से कर दिया था । अनकान्ता अनुबन्धाः इस परिभाषा के समान एकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा भी है । इसका अर्थ है—अनुबन्ध धातु आदि के एकान्त अर्थात् अवयव होते हैं । अनुबन्धों के एकान्त मानने के पक्ष

एकान्तेष्वपि न दोषः। आत्त्वे कृते भविष्यति। ननु चोक्तं तद्भूयात्त्वं न प्राप्नोति। किं कारणम् अनेजन्तत्वादिति। पकारलोपे कृते भविष्यति। नह्ययं तदा दाप् भवति। भूतपूर्वगत्या भविष्यति। एतच्चात्र युक्तम्। यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते। अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति। अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वमिति। यदयमुदीचां माङो व्यतिहारे इति मेङः सानुबन्धकस्यात्त्वभूतस्य ग्रहणं करोति। अथवा दावेवायं न दैवस्ति। कथमवदायति। श्यन् विकरणो भविष्यति॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥१।१।२१॥

में दोष ही है। एकान्त मानने पर भी दोष नहीं है। दैप् को आत्त्व करने पर दाप् बन जायगा। यह जो कहा था कि एजन्त न होने से आत्त्व नहीं प्राप्त होता पकार का लोप करने पर एजन्त बन जायगा। तब यह दाप् नहीं रहता तो भूतपूर्वगति से दाप् समझ लिया जायगा। पहले दैप् अवस्था में पकार था। पकार का लोप हो कर आत्त्व होने से दा बन गया। भूतपूर्व पकार के कारण दाप् बन जायगा। भूतपूर्वगति वाली बात यहाँ ठीक बैठती है। सभी सानुबन्धक शब्दों में भूतपूर्वगति से काम लिया जाता है। भूतपूर्व गति का अर्थ है—जो पहले था उसके बाद में न रहने पर भी उसकी पहली सत्ता को मान कर काम करना। क्योंकि अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है। बिना निमित्त के होने से इत्संज्ञा होते ही हो जाता है। तावत्येव=उसी समय, उतने में ही अर्थात् इत्संज्ञा होते ही। अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर उसकी पहली सत्ता को मान कर उसका कार्य किया जाता है। अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि अनुबन्ध के कारण एजन्तत्व का अभाव नहीं होता। अर्थात् अनुबन्ध रहते हुए भी एजन्त बना रहता है। उदीचां माङो व्यतिहारे इस सूत्र में जो ङकार अनुबन्ध सहित मेङ् धातु को एजन्त मान कर आदेच उप० से आत्त्व-विधान द्वारा माङः यह निर्देश किया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि अनुबन्ध से एजन्तत्व का विघात नहीं होता। नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् यह परिभाषा है। इसका अर्थ स्पष्ट है—अनुबन्ध का किया हुआ एजन्तत्व का अभाव नहीं होता।

अथवा दैप् शोधने धातु को भी दाप् शोधने बना कर दिवादि गण में पढ़ देना चाहिये जिससे अदाप् में दाप्, दैप् का झगड़ा ही न रहे। दैप् का दाप् होने पर अवदायति यह रूप कैसे बनेगा। दिवादिगणीय धातु हो जाने से श्यन् विकरण हो कर बन जायगा।

किमर्थमिदमुच्यते ?

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ।

सति अन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सति अन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते। सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणात् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिध्यन्ति इष्यन्ते च स्युरिति। तान्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्ति इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद् वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ।

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति वक्तव्यम्।

किं प्रयोजनम् ?

एकाचो द्वे प्रथमार्थम् ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है।

अन्य के होने पर जिससे पूर्व नहीं है पर है वह आदि कहाता है। अन्य के होने पर ही जिससे पर नहीं है पूर्व है वह अन्त कहाता है। इस प्रकार आदि अन्त का व्यवहार अन्य के होने पर होता है। अकेले में नहीं हो सकता। इस कारण एक ही में आदि अन्त को कहे हुए कार्य नहीं किये जा सकते। इष्ट है कि अकेले में भी वे हों। वे विना यत्न के सिद्ध नहीं होते इसलिये यह सूत्र बनाया है।

यह सूत्र का प्रयोजन ठीक है। किन्तु आद्यन्तवदेकस्मिन् की जगह व्यपदेशिवदेकस्मिन् यह सूत्र या परिभाषा बना कर व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिये। असुख्य में मुख्य के समान व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं।[1]

व्यपदेशिवद्भाव का क्या प्रयोजन है ?

---

१. निमित्त होने से जिसका मुख्य व्यपदेश है वह व्यपदेशी है। पठ् धातु एक अच् वाला शब्द रूप है, एकाच् इसका मुख्य व्यपदेश है। इ (ण्) यह अच् रूप ही है, एकाच् नहीं। तो भी व्यपदेशी पठ् की तरह इसके विषय में भी कार्य होगा। यही व्यपदेशिवद्भाव है।

वक्ष्यति—'एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश' इति। तस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् पपाच पपाठ। इयाय आर इत्यत्र न स्यात्। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति।

षत्वे च देशसम्प्रत्ययार्थम्।

वक्ष्यति—'आदेशप्रत्यययोरित्यवयवषष्ठी'ति। एतस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति। इह न स्यात् इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षदिति। व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति।

स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः।

न वक्तव्यः।

अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम्।[1][2]

एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र पर कहेंगे कि एकाचः यह बहुव्रीहि समास का निर्देश है। एकः अच् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान कर एक अच् वाला यह अर्थ यहां लिया जायगा। इस अर्थ को लेने पर पपाच पपाठ (पच् पठ्-लिट्, तिप् णल्) यहीं द्वित्व हो सकेगा। पच्, पठ् दोनों एक अच् वाले हैं किन्तु इयाय (इण्-लिट्, तिप् णल्) आर (ऋ-लिट्, तिप्, णल्) यहां द्वित्व न हो सकेगा। इ और ऋ ये एक अच् वाले न हो कर एक अच् रूप हैं। व्यपदेशिवद्भाव से एक अच् रूप को एक अच् वाला मान कर यहां भी द्वित्व सिद्ध हो जायगा। आदेशप्रत्यययोः सूत्र पर कहेंगे कि यहां प्रत्यय शब्द में जो षष्ठी है वह अवयवषष्ठी है। अर्थात् प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व होता है। प्रत्ययावयव सकार को षत्व मानने पर करिष्यति हरिष्यति (कृ, हृ-स्यति) यहीं सकार को षत्व हो सकेगा। यहां स्य प्रत्यय का अवयव सकार है। किन्तु इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षत् इन वैदिक प्रयोगस्थ वक्षत् यक्षत् (वह्, यज्-लेट्, सिप्, तिप्) में सिप् विकरण के सकार को षत्व न हो सकेगा। सिप् यह प्रत्यय रूप सकार है प्रत्यय का अवयव सकार नहीं है। व्यपदेशिवद्भाव से प्रत्यय रूप सकार को भी प्रत्यय का अवयव सकार मान कर षत्व सिद्ध हो जायगा।

तो फिर व्यपदेशिवद्भाव कह दिया जाय?

व्यपदेशिवद्भाव के कहने की आवश्यकता नहीं। बिना कहे लोकव्यवहार से

---

१. वचनस्याभावः अवचनम्।

२. विज्ञान शब्द का यहां व्यवहार अर्थ है।

अन्तरेणैव वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत् । तद्यथा लोके शालासमुदायो ग्राम इत्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नपि एकशालो ग्राम इति ।

विषम उपन्यासः । ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः । अस्त्येव 'शालासमुदाये' वर्तते । तद्यथा ग्रामो दग्धः इति । अस्ति 'वाटपरिक्षेपे' वर्तते । तद्यथा ग्रामं प्रविष्ट इति । अस्ति च 'मनुष्येषु' वर्तते । तद्यथा ग्रामो गतो ग्राम आगत इति । अस्ति 'सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके' वर्तते । तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद् यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते एकशालो ग्राम इति ।

यथा तर्हि वर्णसमुदायः पदम् । पद[1]समुदाय ऋक् । ऋक् समुदायः सूक्तमित्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्णं पदम् एकपदा ऋक्, एकर्चं सूक्तमिति ।

अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेशः । पदं[2] नामार्थः । ऋङ् नामार्थः ।

ही यह सिद्ध हो जायगा । जैसे शालासमुदाय (बहुत घरों का समूह) ग्राम कहाता है किन्तु लोक में एक शाला वाले में भी ग्राम शब्द का प्रयोग दीखता है । यह एक घर का ग्राम है ।

यह ग्राम का उदाहरण ठीक नहीं । क्योंकि ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ हैं । शालासमुदाय, वाटपरिक्षेप (खेतों की रखवाली के लिये बनाई हुई बाड़ या बाड़ा) अन्तर्गत मनुष्य, जंगल खेतों की सीमा, पहाड़, टीले आदि ये सब ग्राम कहाते हैं । उन में समीपवर्ती जंगल, खेत की सीमा, टीले आदि अर्थ के विचार से हमें ग्राम मिला है यह एक शाला वाला ग्राम है ऐसा प्रयोग होता है । गांव के पास जंगल में या खेत की सीमा में बने एक घर को देख कर कह देते हैं यह एक घर का गांव है ।

ग्राम का उदाहरण न सही, यह दूसरा उदाहरण लीजिये । वर्णों के समूह को पद, पदों के समूह को ऋचा और ऋचाओं के समूह को सूक्त कहते हैं । किन्तु लोक में एक वर्ण में भी पद शब्द का, एक पद में भी ऋचा शब्द का और एक ऋचा में भी सूक्त शब्द का प्रयोग होता है । जैसे यह एक अक्षर का पद है । यह एक पद की ऋचा है । यह एक ऋचा का सूक्त है ।

यहां भी अर्थ की दृष्टि से वैसा प्रयोग होता है । यह एक अक्षर वाला पद

---

१. पद से यहां पाद समझना चाहिये, क्योंकि एकपद-रूप कोई ऋचा नहीं है ।

२. पद के अर्थ को अभेदोपचार से पद कह दिया है । एकवर्णं पदम् इत्यादि में एकवर्णादि बहुव्रीहि का पदार्थादि अन्य पदार्थ है ।

सूक्तं नामार्थं इति।

यथा तर्हि बहुषु पुत्रेषु एतदुपपन्नं भवति अयं मे ज्येष्ठोऽयं मे मध्यमोऽयं मे कनीयानिति। भवति चैतदेकस्मिन्नपि अयमेव मे ज्येष्ठोऽयमेव मे मध्यमोऽयमेव मे कनीयानिति।

तथाऽसूतायामसोष्यमाणायां च भवति प्रथमगर्भेण हतेति।

तथाऽनेत्यानाजिगमिषुराह–इदं मे प्रथममागमनमिति॥

आद्यन्तवद्भावश्च शक्योऽवक्तुम्। कथम्।

अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन्।

अपूर्वलक्षण आदिः, अनुत्तरलक्षणोऽन्तः, एतच्चैकस्मिन्नपि

का अर्थ है। यह एक पद वाला ऋचा का अर्थ है। यह एक ऋचा वाला सूक्त का अर्थ है।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। बहुत से पुत्रों के होने पर तो यह कहना ठीक बनता है कि यह पुत्र मेरा बड़ा है, यह बिचला है और यह सब से छोटा है। किन्तु लोक में एक ही पुत्र के होने पर भी यह व्यवहार दीखता है कि यही पुत्र मेरा बड़ा है, यही बिचला है और यही सब से छोटा है। इसी प्रकार जो स्त्री पहले कभी प्रसूत नहीं हुई और आगे भी किसी कारणवश प्रसूत न होने वाली है उसके कुक्षिस्थ गर्भ के कारण जब उसकी मृत्यु हो जाती है तब यह प्रयोग होता है कि वह स्त्री पहले गर्भ से मारी गई। जिस स्त्री का अनेक बार प्रसव हो चुका है, वहां प्रथम गर्भ यह व्यपदेश ठीक है और जिसका प्रसव आगे होगा वहां भी पूर्वोत्पन्न पुत्र से मारे जाना संगत है पर प्रकृत में प्रथम गर्भ से मारी गई ऐसा प्रयोग कैसे हुआ। किन्तु ऐसा प्रयोग होता है। ऐसा लोकव्यवहार है। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी के घर पहले कभी नहीं आया और आगे भी कारणवश वहां कभी आने की इच्छा नहीं रखता है वह एक बार उसके घर में आ कर कहता है कि यह मेरा आपके घर में पहला आगमन है। यहां एक ही आगमन में पहला आगमन यह प्रयोग किस आधार पर किया गया। किन्तु लोक में ऐसा प्रयोग होता है। इस लिये लोक व्यवहार से ही सिद्ध हो जाने पर (शास्त्र में) व्यपदेशिवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं।

आद्यन्तवद्भाव वाले इस सूत्र के कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं। क्यों? आदि का लक्षण हम यह नहीं करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है पर है वह

भवति। अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वाद् एतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नप्याद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्तीति नार्थ आद्यन्तवद्भावेन।

गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति त्वन्यस्मिन्निति।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि।

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययञ्निदाद्युदात्तत्वे।

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति इहैव स्यात् कर्तव्यं, तैत्तिरीयः। औपगवः कापटवः इत्यत्र न स्यात्। ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति इहैव स्यात् अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः। गार्ग्यः, कृतिः इत्यत्र न स्यात्।

आदि है अपितु यह (इतना ही) करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है वह आदि है। पर हो या न हो उस की जरूरत नहीं। इसी प्रकार अन्त का लक्षण यह नहीं करेंगे कि जिस से पर नहीं है पूर्व है वह अन्त है अपितु यह करेंगे कि जिस से पर नहीं है वह अन्त है। पूर्व में हो या न हो उस की अपेक्षा नहीं। आदि अन्त का यह लक्षण एक में भी घट जायगा। क्योंकि जब एक ही अक्षर है तो उसके पूर्व में कुछ न होने से वही आदि है। पर में भी कुछ न होने से वही अन्त है।

गोनर्दीय अर्थात् भाष्यकार तो यह कहते हैं कि अन्य के होने पर ही आदि अन्त का व्यवहार ठीक बनता है अकेले में नहीं इस लिये आद्यन्तवदेकस्मिन् इस सूत्र की आवश्यकता अवश्य माननी चाहिये।

इस सूत्र के प्रयोजन क्या हैं?

आदिवद्भाव के तो ये प्रयोजन हैं। आद्युदात्तश्च से प्रत्यय के आदि अक्षर को उदात्त कहा है वह कर्तव्यम् (कृ-तव्यत्) तैत्तिरीयः (तित्तिरि-छण्=ईय) यहीं प्राप्त हो सकता है। तव्य और ईय प्रत्ययों में कई अक्षर होने से उन के आदि अक्षर त और ई हो जाते हैं। किन्तु औपगवः कापटवः (उपगु, कपटु—अण्) यहां केवल एक अक्षर वाले अण् प्रत्यय में नहीं प्राप्त हो सकता। इस सूत्र से एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है। ञ्नित्यादिर्नित्यम् से ञित् नित् प्रत्यय परे रहते प्रकृति को आद्युदात्त कहा है। वह अहिचुम्बकायनिः (अहि चुम्बक-फिञ्=आयनि) आग्निवेश्यः (अग्निवेश—यञ्) यहां ही प्राप्त हो सकता है। क्योंकि अहिचुम्बक अग्निवेश शब्दों में कई अक्षर होने से उन के आदि अक्षर दोनों अकार हो जाते हैं। किन्तु गार्ग्यः (गर्ग=गार्ग्-यञ्) कृतिः (कृ-क्तिन्) यहां केवल गा और कृ ये एक अक्षर होने से प्राप्त नहीं हो सकता। एक को भी आदिवद्भाव से

वलादेरार्धधातुकस्येट् ।

वलादेरार्धधातुकस्येट् प्रयोजनम् । आर्धधातुकस्येड् वलादेरिती-हैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति । जोषिषत् मन्दिषदित्यत्र न स्यात् ।

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे ।

यस्मिन् विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम् । वक्ष्यति यस्मिन् विधि-स्तदादावल्ग्रहणे इति । तस्मिन् क्रियमाणे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङु-वङौ' इति इहैव स्यात् श्रियः भ्रुवः । श्रियौ भ्रुवौ इत्यत्र न स्यात् ।

अजाद्याट्त्वे ।

अजाद्याट्त्वे प्रयोजनम् । 'आडजादीनाम्' इति इहैव स्यात् ऐहिष्ट ऐक्षिष्ट । ऐष्ट अध्यैष्ट इत्यत्र न स्यात् ।

आदि मान कर हो जाता है । आर्धधातुकस्येड् वलादेः से वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम कहा है । वह करिष्यति हरिष्यति (कृ हृ-स्यति) यहां ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि आर्धधातुक स्य प्रत्यय में कई अक्षर होने से उस के आदि में सकार होने से वह वलादि है । किन्तु जोषिषत् मन्दिषत् (जुष् मन्द्-सिप् तिप्) यहां सिप् विकरण (आर्धधातुक प्रत्यय) के केवल एक अक्षर रूप (स्) होने से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे यह परिभाषा आगे येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र पर कहेंगे । उस से अल् ग्रहणविषयक सप्तमी विभक्ति के निर्देशों में तदादि-विधि होती है । जैसे अचिश्नुधातु० सूत्र में अचि यह सप्तमी विभक्ति प्रत्यय का विशेषण है । उस में तदादिविधि हो कर अजादि अर्थ होता है। अजादि प्रत्यय परे होने पर इयङ् उवङ् होंगे तो श्रियः भ्रुवः (श्री भ्रू-जस्) यहां ही वे प्राप्त हो सकेंगे । जस् प्रत्यय में कई अक्षर होने से अकार आदि में हो जाता है । किन्तु श्रियौ भ्रुवौ (श्री भ्रू-औ) यहां केवल एक अक्षर रूप औ के परे होने पर प्राप्त न हो सकेंगे । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाते हैं ।

आडजादीनाम् से अजादि अङ्गों को आट् का आगम कहा है वह ऐहिष्ट ऐक्षिष्ट (ईह् ईक्ष्-सिच् लुङ् त) यहां ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि ईह् ईक्ष् में कई अक्षर होने से उन का आदि अक्षर ई यह अच् हो जाता है । किन्तु ऐष्ट अध्यैष्ट (इङ्, अधि इङ्-सिच् लुङ् त) यहां इङ् और इङ् अङ्गों के केवल एक अच् रूप होने

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ।

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम् । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् इतीहैव स्यात् पचेते इति, पचेथे इति । खट्वे इति, माले इति इत्यत्र न स्यात् ।

मिदचोन्त्यात्परः ।

मिदचोऽन्त्यात्परः प्रयोजनम् । इहैव स्यात् कुण्डानि वनानि । तानि यानीत्यत्र न स्यात् ।

अचोन्त्यादि टि ।

अचोन्त्यादि टि प्रयोजनम् । टित आत्मनेपदानां टेरे इतीहैव स्यात्

से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

अन्तवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

अन्तवद्भाव के ये प्रयोजन हैं—ईदूदेत्० सूत्र से ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त, द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा कही है वह पचेते इति, पचेथे इति (पच्-आताम्, आथाम्= आते, आथे) यहां ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि आते, आथे में कई अक्षर होने से एकारान्त द्विवचन हो जाता है । किन्तु खट्वे इति, माले इति (खट्वा माला-शी=ई) यहां शी की ई के केवल एक ईकाररूप या एकाररूप होने से प्राप्त नहीं हो सकती । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाती है ।

मिदचोन्त्यात्परः से मित् (नुम्) का आगम अन्तिम अच् से पर कहा है । वह कुण्डानि वनानि यहां ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि कुण्ड और वन में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ड और न का अकार हो जाता है । किन्तु तानि यानि (तद्=त, यद्=य, जस् शि) यहां तद्, यद् के त, य शब्दों में एक ही अच् होने से नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

अचोन्त्यादि टि से अचों के मध्य में अन्तिम अच् की टि संज्ञा कही है । वह टित आत्मनेपदानां टेरे से टि को एत्व करने में उपयुक्त होगी । उससे कुर्वाते, कुर्वाथे (कृ-आताम्, आथाम्) यहां आताम्, आथाम् में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ता, था का आ हो जायगा तो आम् की टि संज्ञा हो कर टेरेत्व सिद्ध हो जाता है । किन्तु कुरुते (कृ-त) कुर्वे (कृ-इट्) यहां त

कुर्वाते कुर्वाथे। कुरुते कुर्वे इत्यत्र न स्यात्।

अलोन्त्यस्य।

अलोन्त्यस्य प्रयोजनम्। अतो दीर्घो यञि सुपि च इहैव स्यात् घटाभ्यां पटाभ्यामिति। आभ्याम् इत्यत्र न स्यात्।

येनविधिस्तदन्तत्वे।

येन विधिस्तदन्तत्वे प्रयोजनम्। अचो यत् इहैव स्यात् चेयं जेयम्। एयमध्येयामित्यत्र न स्यात्। आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति।

तरप् तमपौ घः[1] ॥१।१।२२॥

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधः।

और इद् प्रत्ययों में केवल एक अच् होने से अन्तिम अच् न बन सकेगा तो टि संज्ञा न हो कर टेरेत्व नहीं प्राप्त होता। एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है।

अलोन्त्यस्य से षष्ठीनिर्दिष्ट के अन्तिम अक्षर को आदेश कहा है। वह अतो दीर्घो यञि सुपि च यहां उपयुक्त होता है। सुपि च से अदन्त अङ्ग के अन्तिम अक्षर को दीर्घ होगा तो घटाभ्याम् पटाभ्याम् में ही प्राप्त हो सकेगा (क्योंकि घट पट में कई अक्षर होने से अन्तिम अक्षर ट का अ हो जाता है। किन्तु आभ्याम् (इदम्=अ-भ्याम्) यहां इदम् शब्द का अकार केवल अ रूप अङ्ग है अकारान्त नहीं है। जब अकारान्त नहीं है तो उसका अन्तिम अक्षर कहां से हो सकता है। इस लिये यहां सुपि च से दीर्घ नहीं प्राप्त हो सकता। एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है।

येन विधिस्तदन्तस्य से विशेषण द्वारा कहा हुआ कार्य तदन्त को होता है। जैसे अचो यत् यहां अच् विशेषण द्वारा धातु से यत् प्रत्यय कहा है तो वह अजन्त धातु से होगा। इस लिये चेयम् जेयम् (चि. जि-यत्) यहां चि जि में अन्तिम इकार के कारण अजन्त होने से यत् हो सकता है किन्तु एयम् अध्येयम् (ईङ्, अधि इङ्-यत्) यहां ईङ् और इङ् के केवल एक अच्रूप होने से नहीं प्राप्त हो सकता। एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है।

---

१. द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ, अतिशायने तमबिष्ठनौ इन अतिशय अर्थ-

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधो वक्तव्यः। नद्यास्तरो नदीतरः।

~ घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिषेधः।

अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः। घसंज्ञा कस्मान्न भवति। तरब्ग्रहणं ह्यौपदेशिकम्। औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणम्। न चैष उपदेशे तरप् शब्दः।

तरप् तमप् की घसंज्ञा में नदीतर शब्द के तर की भी घसंज्ञा प्राप्त होती है उस का निषेध कहना चाहिये। नद्यास्तरः नदीतरः। यहां तॄ धातु से कर्ताभिन्न कारक में ॠदोरप् से अप् प्रत्यय हो कर तर बनता है। यह अप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध को मिला कर तरप् प्रत्यय के समान रूप वाला तरप् हो जाता है। तरप् प्रत्यय जैसे पकार अनुबन्ध के हट जाने पर तर होता है उसके समान यह भी तर है। इस की भी घसंज्ञा प्राप्त होनी चाहिये।[1]

नदीतर शब्द में घसंज्ञा का निषेध कहना व्यर्थ है। घसंज्ञा क्यों नहीं होती? उपदेशावस्था में जो तरप् है उसका घसंज्ञा में ग्रहण है। नदीतर में तरप् उपदेशावस्था में नहीं। औपदेशिक का अर्थ उपदेशावस्था में होने वाला है। उपदेशावस्था में तो अप् है। प्रयोगावस्था में तर है। तरप् कहीं नहीं है। इस लिये इसकी घसंज्ञा नहीं होगी।

वाले स्वार्थिक प्रत्ययों के प्रकरण में ही तादी घः या पितौ घः ऐसा सूत्र बना कर तरप् तमप् प्रत्ययों की घसंज्ञा सिद्ध हो सकती थी फिर भी जो उस प्रकरण से हटा कर यहां संज्ञा प्रकरण में तरप् तमप् की घसंज्ञा की है वह इस बात की सूचक है कि अतिशय अर्थरहित केवल स्वार्थ में भी तरप् तमप् प्रत्यय होते हैं। उससे अल्पाचूतरम्, श्रेष्ठतमः यहां स्वार्थ में तरप् तमप् सिद्ध हो जाते हैं।

१. यदि यह कहो कि तमप् प्रत्यय के साहचर्य से तर भी प्रत्यय ही लिया जायगा यह तर प्रत्यय है नहीं इस लिये इसकी घसंज्ञा न होगी तो यह बात भी नहीं बनती। क्योंकि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह जो साहचर्य नियम है वह अनित्य होने से सर्वत्र नहीं लगता। उस की अनित्यता में द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे इस सूत्र का कृत्वोर्थग्रहण ही ज्ञापक है। वहां कृत्वोर्थग्रहण इस लिये किया है कि चतुर् शब्द में कृत्वसुजर्थ सुच् प्रत्यय के विसर्ग को षत्व हो। शब्द चतुर् के रेफजन्य विसर्ग को न हो। यदि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह नियम नित्य होता तो द्वि त्रि शब्दों के विसर्ग के साहचर्य से चतुर् का विसर्ग भी सुच् प्रत्यय का ही लिया जायगा तो उस के लिये किया गया कृत्वोर्थग्रहण व्यर्थ है। द्वि त्रि का विसर्ग तो सर्वथा सुच् का ही संभव है। चतुर् में संदेह है वह उन दोनों के साहचर्य से हट जाता। उस अवस्था में कृत्वोर्थग्रहण व्यर्थ हो कर साहचर्य नियम की अनित्यता का ज्ञापक है।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि।

कथमनुच्यमानं गंस्यते।

इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते। यत्रास्यैतद् रूपमिति। रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्। तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते। कोऽसौ। उपदेशो नाम। न चैष उपदेशे तरप् शब्दः। अथवास्त्वस्य घसंज्ञा। को दोषः? घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत। समानाधिकरणेषु घादिषु इत्येवं तत्। यदा तर्हि

क्या यह बात कहनी होगी कि आद्योच्चारणरूप उपदेशावस्था में तरप् की घसंज्ञा होती है।

कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

विना कहे कैसे समझी जायगी ?

यहां व्याकरण शास्त्र में सभी अनुबन्धयुक्त शब्दों में पहले उसके साक्षादुच्चारित रूप का ग्रहण किया जाता है। असली रूप का निश्चय लौकिक प्रयोग के विना होता नहीं। लौकिक प्रयोग में अनुबन्धों के हट जाने से अनुबन्धसहित का प्रयोग नहीं होता। उस अवस्था में दूसरा जो शास्त्रीय प्रयोग है उसका आश्रयण किया जाता है। वह क्या है? शास्त्रीय उपदेश। उस शास्त्रीय उपदेश में नदीतर का तर शब्द तरप् नहीं बनता। अथवा नदीतर के तर की घसंज्ञा हो भी जावे तो क्या दोष है। आप कहेंगे कि घरूपकल्पचेलड्० सूत्र से नदीसंज्ञक नदी शब्द के ईकार को ह्रस्व प्राप्त होता है तो वह कोई दोष नहीं। समानाधिकरण अर्थात् प्रकृत्यर्थ के समान अभिधेय वाले घ, रूप, कल्पादि के परे होने पर ह्रस्व होता है। नदीतर में षष्ठी समास होने से व्यधिकरण तर शब्द है। यदि कहो जब नदी चासौ तरः नदीतरः इस प्रकार कर्मधारय समास मान कर नदी रूप तर ऐसा अर्थ विवक्षित होगा तब समानाधिकरण तर शब्द होने पर ह्रस्व प्राप्त होता है तो भी दोष नहीं। क्योंकि स्त्रीलिङ्ग घरूप कल्पादि के परे होने

---

१. अतिशायन अर्थ में विहित प्रत्यय तरप् आदि स्वार्थिक हैं। अतिशायन प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिहित (कहे हुए) अर्थ के द्योतक होते हैं। समानाधिकरण=प्रकृति के समान विषय वाला।

सैव नदी स एव तरस्तदा प्राप्नोति। स्त्रीलिङ्गेषु घादिषु इत्येवं तत्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। समानाधिकरणेषु घादिषु इत्युच्यमान इह प्रसज्येत—महिषीरूपमिव। ब्राह्मणीरूपमिवेति।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१।१।२२॥

संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणम्।

संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं कर्तव्यम्। बहुगणवतुडतयः संख्या संज्ञा भवन्ति। संख्या च संख्या संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्।

संख्या संप्रत्ययार्थम्।

एकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संख्येत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात्। ननु चैकादिका संख्या लोके संख्येति प्रतीता तेनास्याः

पर ह्रस्व होता है। नदीतर में स्त्रीलिङ्ग तर शब्द नहीं है। इस लिये ह्रस्व नहीं होगा। स्त्रीलिङ्ग घ रूप आदि परे होने पर ही ह्रस्व मानना भी चाहिये। यदि केवल समानाधिकरण घ रूप आदि पर होने पर ह्रस्व मानें तो महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव यहां भी ह्रस्व प्राप्त होगा। यहां रूप शब्द महिषी का समानाधिकरण है। महिषी इव रूपम् ब्राह्मणी इव रूपम् (=आकृतिः) इस अर्थ में महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव सिंहीरूपमिव ऐसा मैत्रायणी संहिता (३,८,५) आदि में प्रयोग आता है। वहां सुप् सुपा समास मान कर रूप शब्द परे रहते महिषी आदि नदी संज्ञक शब्दों को ह्रस्व प्राप्त होता है। रूप शब्द यहां महिषी आदि का समानाधिकरण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग नहीं है इस लिये ह्रस्व नहीं होता।

बहुगण वतु डति की संख्या संज्ञा में एक द्वि आदि संख्या शब्दों की भी संख्यासंज्ञा कहनी चाहिये। क्या प्रयोजन है? संख्या स्थलों में बहु गण आदि की तरह एक द्वि आदि में भी संख्या संज्ञा हो कर संख्यासंज्ञोक्त कार्य हो सकें। एक द्वि आदि तो स्वयमेव लोक में संख्या शब्द से प्रसिद्ध हैं इस लिये संख्यासंज्ञा के बिना भी संख्यास्थलों में उन में संख्यासंज्ञोक्त कार्य हो जायेंगे। तो भी उन के संख्या संज्ञा करनी ही चाहिये। क्योंकि बिना संख्या संज्ञा किये संख्या स्थलों में

---

१. यदि अप्रत्यय तर और तम की घ संज्ञा होगी तो उनके साहचर्य में पढ़े हुए अप्रत्यय रूप आदि का भी ह्रस्व विधि में ग्रहण हो जायगा।

संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके ।

अक्रियमाणे हि संख्याग्रहणे एकादिकायाः संख्यायाः संख्येत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् । किं कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । बह्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा । 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति' । यथा लोके । गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः ।

यदि तर्हि कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य' इत्यत्रापि प्रसज्येत ।

पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति ।

तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गायमुने इति ।

एक द्वि आदि को संख्या नहीं समझा जायगा । एक द्वि आदि के अकृत्रिम होने से नवनिर्मित इस संख्यासंज्ञा द्वारा विहित न होने से संख्या प्रदेशों में उन का ग्रहण न होगा । बहु गण आदि की तो संख्या संज्ञा कृत्रिम है । नूतन विहित है । एक द्वि आदि की अकृत्रिम है । कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस न्यायमूलक परिभाषा के अनुसार कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों के कार्यविचार में कृत्रिम में ही कार्य किया जाता है । जैसे लोक में गोपालक को लाओ, कटजक को लाओ ऐसा कहने पर जिस की गोपालक कटजक ये संज्ञायें हैं, नाम हैं वही लाया जाता है न कि जो कोई भी गौओं को पालता है या कट में उत्पन्न हुआ है वह लाया जाता है । कृत्रिम=कृतिनिष्पन्न, नवनिर्मित । अकृत्रिम=कृत्रिम से भिन्न, स्वतःसिद्ध ।

यदि कृत्रिमाकृत्रिमयोः० इस परिभाषा को मानते हैं तो नदीपौर्णमास्याग्रहा-यणीभ्यः यहां भी नदी शब्द से यूस्त्र्याख्यौ नदी इस कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण प्राप्त होता है । नदी शब्द का नहीं ।

पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों के ग्रहणसामर्थ्य से यहां नदी में कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण नहीं होगा । अन्यथा पौर्णमासी और आग्रहायणी भी स्त्र्याख्य ईकारान्त शब्द होने से नदी से ही गृहीत हो जाते ।

नदीपौर्णमास्या० सूत्र में नदी शब्द से कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण न होने पर भी नदीविशेषवाची गङ्गा यमुना शब्दों का ग्रहण प्राप्त होकर उन से परे समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवतीति। यदयं विपाट् शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति।

इह तर्हि प्राप्नोति नदीभिश्चेति।

बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति।

स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति।

बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति।

एवं च न चेदमकृतं भवति कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय इति। न च कश्चिद्दोषो भवति।

आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि नदीविशेषवाची शब्दों का नदीपौर्णमास्या० सूत्र से ग्रहण नहीं होता। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः सूत्र के शरदादिगण में विपाश् शब्द का पाठ यह सिद्ध करता है कि नदीपौर्ण० सूत्र में नदी विशेषवाची का ग्रहण नहीं है अन्यथा विपाश् के नदीविशेषवाची होने के कारण नदीपौर्ण० सूत्र से ही टच् हो जाता। टच् करने के लिये उसका शरदादिगण में पढ़ना व्यर्थ है।[1]

तो फिर नदीभिश्च यहां नदी शब्द में कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण प्राप्त होता है।

नदीभिः इस बहुवचन के निर्देश से यहां कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण नहीं होगा। अन्यथा आण्नद्याः आदि की तरह एकवचन से निर्देश कर देते।

नदीभिश्च में कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण न सही, स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा के नियम से नदी इस अपने शब्द स्वरूप का ग्रहण तो प्राप्त होता है।

स्वरूप का ग्रहण भी बहुवचन के निर्देश से ही न होगा।

इस प्रकार कृत्रिमाकृत्रिमयोः० यह न्याय न अकृतं भवति=अवश्य करणीय होता है। इसका मानना आवश्यक है। और इसके मानने में कहीं दोष भी नहीं आता है।

---

१. यदि कहो नदीपौर्ण० अव्ययीभावसमास में विकल्प से टच् प्रत्यय करता है। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः सूत्र से नित्य टच् करने के लिये विपाश् को शरदादि में पढ़ा है तो उसका उत्तर है नदीपौर्ण० सूत्र को व्यवस्थित विभाषा मान कर विपाश् में नित्य टच् हो सकता है।

२. न अकृतम्=न अनाश्रितम्। आश्रितमेवेत्यर्थः।

उत्तरार्थं च ।

उत्तरार्थं च संख्याग्रहणं कर्तव्यम् । 'ष्णान्ता षट्' । षकारनकारा-न्तायाः संख्यायाः षट् संज्ञा यथा स्यात् । इह मा भूत् पामानो विप्रुष इति ।

इहार्थेन तावन्नार्थः संख्याग्रहणेन । ननु चोक्तम् 'इतरथा ह्य-सम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके' इति । नैष दोषः । अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति । अर्थो वास्यैवं-संज्ञकेन भवति प्रकृतं वा तत्र भवति । इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यमिति । आतश्चार्थात् प्रकरणाद्वा । अज्ञं हि भवान् ग्राम्यं पांशुलपादमप्रकरणज्ञ-मागतं ब्रवीतु गोपालकमानय कटजकमानयेति । उभयगतिस्तस्य

ष्णान्ता षट् इस उत्तर सूत्र के लिये भी यहां संख्या ग्रहण करना चाहिये । जिससे षकारान्त नकारान्त संख्या की षट् संज्ञा हो । 'पामानः', 'विप्रुषः' यहां पामन् विप्रुष् इन असंख्यावाचक शब्दों की षट् संज्ञा न हो । यदि इनकी षट् संज्ञा हो जावे तो षड्भ्यो लुक् से जस्, शस् का लुक् प्राप्त होता है ।

वहुगणवतुडति इस सूत्र के लिये तो संख्याग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । यह जो कहा था कि कृत्रिमाकृत्रिमन्याय से एक द्वि आदि की संख्या संज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कोई दोष नहीं । वस्तुसामर्थ्य अथवा विशिष्ट प्रकरण से लोक में कृत्रिमाकृत्रिमन्याय की प्रवृत्ति होती है । गोपालक व कटजक को लाओ ऐसा कहने वाले इस वक्ता को या तो किसी के रूढ़ नाम गोपालक कटजक से प्रयोजन होता है या वहां गोपालक कटजक नामक व्यक्ति का ही प्रकरण होता है कि यह काम इस नाम वाले ने ही करना है । आतश्च=और इस हेतु से भी पदार्थ का सामर्थ्य अथवा प्रकरण ही कृत्रिम स्वनिर्मित संज्ञावाले व्यक्ति का ग्रहण कराता है । आप जरा किसी धूलिधूसरित पादवाले (अभी-अभी आया हुआ जिसने पाओं अभी धोये तक नहीं) अपने पास आये हुए प्रकरण से अनभिज्ञ ग्रामीण (ऊहशक्तिविहीन) व्यक्ति को यह कह कर देखिये कि गोपालक को ले आ । कटजक को ले आ । वह यह सुन कर दुविधा में पड़ जायगा कि गोपालक कटजक ये किसी के खास नाम हैं जिन्हें लाना है या जो भी गो पालता है

१. जब कहा जाय गोपालक को लाइये वह इस लड़के को पढ़ायेगा, तब पढ़ाने का सामर्थ्य गवाले में न होने से गोपालक नाम वाले पुरुष का ही बोध होगा ।

२. भोजन के प्रकरण (=प्रस्ताव, अवसर) में जब कहा जाय सैन्धव लाइये तो नमक लाया जायगा, गमन प्रकरण में घोड़ा लाया जायगा ।

भवति। साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति।

यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्य-सम्प्रत्ययो भवति एवमिहापि प्राप्नोति। जानाति ह्यसौ बह्वादीनामियं संज्ञा कृतेति।

न यथा लोके तथा व्याकरणे। उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि नावश्यमिहेव। तद्यथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मेति' कृत्रिमा कर्म संज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। 'कर्मणि द्वितीये' ति कृत्रिमस्य ग्रहणम्। 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यत्राकृत्रिमस्य। तथा 'साधकतमं करणमि'ति कृत्रिमा करणसंज्ञा। करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। 'कर्तृकरणयोस्तृतीयेति' कृत्रिमस्य ग्रहणम्। 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्व-मेघेभ्यः करणे' इत्यत्राकृत्रिमस्य। तथा 'आधारोऽधिकरणमिति'

(गवाला है) अथवा कट में उत्पन्न हुआ है उन्हें लाना है। उभयगतिः= दुविधा में पड़ना या दोनों प्रकार का काम होना। अपनी समझ में शर्तिया तौर पर वह हाथ में लाठी रखने वाले गवाले के पास ही जायगा। उसे ही बुला कर लायेगा। साधीयः=शर्तिया तौर पर, निश्चित ही। उसे आप द्वारा रखे हुए उसके गोपालक इस नाम का पुरुष उसे अविदित है बिना प्रकरण के वह गोपालक कटजक को नाम विशेष नहीं समझ सकता। यौगिक शब्द ही समझेगा।

जिस प्रकार किसी विशेष सामर्थ्य अथवा प्रकरण से लोक में कृत्रिमाकृत्रिम न्याय की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार यहां शास्त्र में भी प्राप्त होती है। क्योंकि यह अध्येता जानता है कि विशेष प्रयोजन के लिये बहुगणवतुडति की संख्या संज्ञा की गई है। इस लिये उन्हीं को संख्या समझेगा। एक द्वि आदि को नहीं।

जैसा लोक में व्यवहार देखते हैं व्याकरणशास्त्र में सर्वथा वैसा व्यवहार नहीं होता। यहां तो दोनों प्रकार का बोध होता है। कृत्रिम भी गृहीत होता है अकृत्रिम भी। केवल इस संख्या संज्ञा में ही नहीं, अन्यत्र स्थलों में भी कहीं कृत्रिम कहीं अकृत्रिम का ग्रहण होता है। जैसे कर्तुरीप्सिततमं कर्म इस सूत्र से विहित कर्मसंज्ञा स्वनिर्मित होने से कृत्रिम है। किन्तु कर्म के स्थलों में कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार के कर्म लिये जाते हैं। कर्मणि द्वितीया में कृत्रिम कर्म संज्ञा ली गई है। कर्तरि कर्मव्यतिहारे में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया या काम होने से अकृत्रिम का ग्रहण है। साधकतमं करणम् में कृत्रिम करण संज्ञा है। किन्तु करणस्थलों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के करण लिये जाते हैं। कर्तृकरणयो-स्तृतीया में कृत्रिम करण संज्ञा है। शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे में करण

कृत्रिमा अधिकरणसंज्ञा। अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। 'सप्तम्यधिकरणेचे'ति कृत्रिमस्य ग्रहणम्। 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाची' त्यत्राकृत्रिमस्य।

अथवा नेदं संज्ञाकरणं तद्वदतिदेशोऽयम्। बहुगणवतुडतयः संख्यावद् भवन्तीति।

स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यः।

न कर्तव्यः।

न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते ?

अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद्यथा एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति। एवमिहापि असख्यां संख्येत्याह। संख्यावदिति गम्यते।

का अर्थ करना होने से अकृत्रिम का ग्रहण है। आधारोऽधिकरणम् में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा है। किन्तु अधिकरण स्थलों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के अधिरण लिये जाते हैं। सतम्यधिकरणे च में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा ली गई है। विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि में अधिकरण का अर्थ द्रव्य होने से अकृत्रिम का ग्रहण है।

अथवा यह संख्यासंज्ञा सूत्र न मान कर संख्या का अतिदेशसूत्र मान लिया जायगा। एक के तुल्य दूसरे को मान कर उसमें वैसा व्यवहार अतिदेश होता है। अतिदेश मानने पर अर्थ होगा—बहुगणवतुडति ये संख्यावत् समझे जाते हैं। जैसे एक द्वि आदि संख्या प्रसिद्ध हैं वैसे बहु गण आदि भी संख्या माने जाते हैं। तद्वदतिदेश=संख्या के समान व्यवहार मानना।

अतिदेश सूत्र मानने पर संख्यावत् इस प्रकार वति प्रत्यय का निर्देश करना होगा ?

वति प्रत्यय के निर्देश की आवश्यकता नहीं।

वति प्रत्यय के निर्देश बिना तो अतिदेश नहीं समझा जायगा ?

वति निर्देश के बिना भी अतिदेश समझ लिया जायगा। जैसे ब्रह्मदत्त-भिन्न को कोई कहे कि यह ब्रह्मदत्त है तो उससे हम समझ लेते हैं कि वह ब्रह्मदत्त के समान है। इसी प्रकार यहां संख्याभिन्न बहुगणवतुडति को संख्या कहने से वे संख्या के समान समझे जायेंगे। अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि एक द्वि आदि को संख्यासंज्ञोक्त कार्य होते हैं। संख्याया अतिशदन्तायाः कन् सूत्र से कन् विधान में अतिशदन्तायाः कह कर जो ति और

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संप्रत्यय इति। यदयं 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। न हि कृत्रिमा त्यन्ता शदन्ता वा संख्यास्ति।

ननु चेयमस्ति डतिः।

यत्तर्हि शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। ननु चोक्तं डत्यर्थमेतत् स्यात्। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणं, न च डतेस्तिशब्दोऽर्थवान्।

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे

शत् प्रत्ययान्त संख्या का निषेध किया है उससे यह बात सिद्ध होती है। कैसे? बहुगणवतुडति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में कोई भी ति और शत् प्रत्ययान्त नहीं है जिसके लिये कन् प्रत्यय का निषेध करना चरितार्थ हो सके। एक द्वि आदि में तो सप्ततिः पञ्चाशत् इत्यादि हैं जिनके लिये कन् प्रत्यय का निषेध करना चरितार्थ हो सकता है। उससे एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा सिद्ध हो जाती है।

बहुगणवतुडति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में भी डति यह तिशब्दान्त है। उसमें कन् को रोकने के लिये ति शब्दान्त का निषेध चरितार्थ हो सकता है।

तो भी शत् प्रत्ययान्त का निषेध तो व्यर्थ हो कर ज्ञापक ही है। वस्तुतः ति प्रत्ययान्त का निषेध भी व्यर्थ हो कर ज्ञापक है। यह जो डति के लिये ति शब्दान्त के निषेध को चरितार्थ कहा है वह ठीक नहीं। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा के अनुसार अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होगा। अतिशदन्तायाः इस निषेध में ति शब्द अर्थवान् लिया गया है। डति का ति शब्द अर्थवान् नहीं है। डति इस समुदाय के अर्थवान् होने पर भी उसका अवयव ति शब्द सर्वथा अनर्थक है। इस लिये ति के निषेध में डति नहीं लिया जायगा। हां, सप्तति का ति शब्द तो ति प्रत्यय रूप होने से अर्थवान् है वह ले लिया जायगा। उसके निषेध से मालूम होता है कि सप्तति आदि भी संख्या हैं। अथवा संख्या यह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की गई है। और संज्ञा वह होती है जिससे छोटी और कोई चीज़ न हो। जहां तक हो सके एक अक्षर वाली छोटी से छोटी संज्ञा होनी चाहिये। क्योंकि लाघव के लिये (=शीघ्र बोध के लिये) संज्ञा की जाती है। वहां बड़ी संज्ञा

एतत् प्रयोजनम् अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। संख्यायते अनयेति संख्या। एकादिकया चापि संख्यायते।

उत्तरार्थेन चापि नार्थः संख्याग्रहणेन। इदं प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते।

इदं वै संज्ञार्थमुत्तरत्र च संज्ञिविशेषणेनार्थः। न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति। न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति।

यत्तावदुच्यते न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति। अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते। ताभ्यश्च

करने का यह प्रयोजन होगा कि वह अन्वर्थ संज्ञा मानी जाय। अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार नाम वाली हो। संख्या का अर्थ है जिस से गिना जाय। एक द्वि आदि से भी गिना जाता है इस लिये ये भी संख्या हो जायगी।[1]

ष्णान्ता षट् इस उत्तर सूत्र के लिये भी संख्याग्रहण की आवश्यकता नहीं। बहुगणवतुडति का संज्ञा शब्द ही उत्तर सूत्र के लिये भी अनुवृत्त हो जायगा।

यह संख्या शब्द तो यहां संज्ञार्थ है। और ष्णान्ता षट् इस उत्तरसूत्र में ष्णान्ता इस संज्ञी का विशेषण बनाना अभीष्ट है। संज्ञा के लिये प्रयुक्त संख्या शब्द अनुवृत्त हो कर संज्ञी का विशेषण कैसे हो सकता है। अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता। और न ही अन्य शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य हो सकता है। गोह सर्पण करती हुई सर्पण मात्र से सर्प नहीं हो सकती।

यह जो कहा कि अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता सो कोई बात नहीं। अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त वस्तु भी उस से अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है। जैसे खेत में धानादि को सींचने के लिये

---

१. संख्या के अन्वर्थ संज्ञा होने पर एक द्वि आदि तो संख्या मान लिये जायेंगे किन्तु लक्ष्यानुरोध से बहुगणवतु डति से अतिरिक्त भूरि प्रभूत बहुल आदि संख्या नहीं होंगे। जैसे सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थ होने पर भी सर्व विश्व आदि गणपठित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होते हैं। सकल कृत्स्न आदि सब के नाम होते हुए भी सर्वनाम नहीं कहाते हैं।

पानीयं पीयते। उपस्पृश्यते च। शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति। भवेद् द्रव्येष्वेतदेवं स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेषणाभिसंबध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति।

अथवा सापेक्षोऽयं ष्णान्ता इति निर्देशः क्रियते। न चान्यत् किंचिदपेक्ष्यमस्ति। तेन संख्यामेवापेक्षिष्यामहे।

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्।

अध्यर्धग्रहणं च कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थम्। समासविध्यर्थम्। कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अध्यर्धशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्। अध्यर्धकम्।

लुकि चाग्रहणम्।

नहरें बनाई जाती हैं। साथ ही उन से पानी भी पिया जाता है। उन में स्नान भी किया जाता है और धान भी उत्पन्न किये जाते हैं। और यह जो कहा कि अन्य शब्द अनुवृत्तिमात्र से अन्य नहीं हो सकता। गोह सर्पणमात्र से सर्प नहीं बन सकती सो यह बात द्रव्यों में तो ठीक है। गोह तो सांप नहीं बन सकती, किन्तु शब्द तो जिस २ विशेष (=परिच्छेद्य) के साथ जुड़ता है उस २ का परिच्छेदक हो जाता है। यहां संज्ञा सूत्र में पढ़ा हुआ संख्या शब्द संज्ञा वाचक है। वही ष्णान्ता षट् में ष्णान्ता इस संज्ञी के साथ जुड़ कर उस का विशेषण बन जायगा। अथवा ष्णान्ता यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश सापेक्ष है। किसी की अपेक्षा रखता है। और कुछ अपेक्ष्य है नहीं तो हम विना अनुवृत्ति के भी निकट लगती हुई संख्या की ही अपेक्षा करेंगे। ष्णान्ता संख्या। षकारान्त नकारान्त जो संख्या उस की षट् संज्ञा होती है।

संख्यासंज्ञा में अध्यर्ध शब्द का ग्रहण भी करना चाहिये। किस लिये? समासविधि और कन्विधि के लिये। समासविधि के लिये जैसे—अध्यर्धशूर्पम् यहां अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम् इस अर्थ में शूर्पादञन्यतरस्याम् से तद्धित अञ् या ठञ् प्रत्यय होता है। अध्यर्ध शब्द की संख्यासंज्ञा हो जाने से तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च सूत्र से संख्यावाची अध्यर्ध शब्द का शूर्प शब्द से तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास हो कर अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् से अञ्, ठञ् का लुक् हो जाता है। कन्विधि के लिये जैसे—अध्यर्धकम्। यहां अध्यर्धेन क्रीतम् इस अर्थ में अध्यर्ध शब्द की संख्या संज्ञा हो जाने से संख्याया अतिशदन्तायाः कन् से

लुकि चाध्यर्धग्रहणं न कर्तव्यं भवति। 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायामि'ति। द्विगोरित्येव सिद्धम्।

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः।

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थमेव। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अर्धपञ्चमशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्। अर्धपञ्चमकम्।

अधिकग्रहणं चालुकि समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्।

अधिकग्रहणं चालुकि कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्। समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्ध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्।

तद्धित कन् प्रत्यय हो जाता है। अध्यर्ध शब्द की संख्यासंज्ञा कहने से अध्यर्धपूर्व द्विगो० इस आर्हीय तद्धित प्रत्यय का लुक् करने वाले सूत्र में अध्यर्ध शब्द का ग्रहण भी न करना पड़ेगा यह लाघव होगा। क्योंकि अध्यर्ध की संख्यासंज्ञा हो जाने से संख्यापूर्वो द्विगुः इस सूत्र से अध्यर्धशूर्पम् यह द्विगुसमास हो जायगा तो द्विगोर् लुगसंज्ञायाम् इतने से ही तद्धित का लुक् सिद्ध हो जायगा।[1]

अर्ध शब्द है पूर्वपद में जिसके ऐसे पूरणार्थक प्रत्ययान्त शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये। किस लिये? समासविधि और कन्विधि के लिये। समासविधि के लिये जैसे—अर्धपञ्चमशूर्पम्। यहां अर्धेनपञ्चमः अर्धपञ्चमः। अर्धपञ्चमेन शूर्पेण क्रीतम् इस अर्थ में शूर्पादञन्यतरस्याम् से तद्धित अञ् या ठञ् प्रत्यय होता है। पञ्चम शब्द पूरणप्रत्ययान्त है। उसके पूर्व में अर्ध शब्द है। अर्धपञ्चम शब्द की संख्यासंज्ञा होने से उसका शूर्प शब्द के साथ तद्धितार्थोत्तरपद० से द्विगु समास हो कर अध्यर्धपूर्वद्विगो० से अञ् ठञ् का लुक् सिद्ध हो जाता है। कन्विधि के लिये जैसे—अर्धपञ्चमकम्। यहां अर्धपञ्चमेन क्रीतम् इस अर्थ में अर्धपञ्चम की संख्यासंज्ञा होने से संख्याया अतिशदन्तायाः कन् से कन् प्रत्यय होता है।

अधिक शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये। किस लिये? समास विधि और उत्तरपदवृद्धि के लिये। समासविधि और उत्तरपदवृद्धि दोनों का

---

१. अध्यर्ध शब्द आधे से अधिक का वाचक है। अर्धेन अधिकः अध्यर्धः। एक पूरा और आधा अधिक अर्थात् डेढ़। यह पूरी संख्या न होने से संख्या संज्ञक नहीं हो सकता था इस लिये इसकी संख्यासंज्ञा की गई है।

अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः। उत्तरपदवृद्ध्यर्थम्। अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः। अलुकीति किमर्थम्। अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः।

बहुव्रीहौ चाग्रहणम्।

बहुव्रीहौ चाधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। 'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति संख्येत्येव सिद्धम्।

एक ही उदाहरण है—अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः। यहां अधिकया षष्ट्या सप्तत्या वा क्रीतः इस अर्थ में प्राग्वतेष्ठञ् से आर्हीय ठञ् प्रत्यय हुआ। अधिक शब्द की संख्यासंज्ञा होने से उसका षष्टि सप्तति शब्द के साथ तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च से द्विगुसमास सिद्ध हो जाता है। साथ ही संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च से उत्तरपदवृद्धि भी सिद्ध हो जाती है। अलुकि कहने से तद्धित का लुक् करने में अधिक शब्द की संख्यासंज्ञा नहीं होती इस लिये अध्यर्धपूर्वद्विगो० से ठञ् का लुक् नहीं हुआ।[1]

अधिक शब्द की संख्यासंज्ञा करने का यह लाभ भी है कि संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये इस बहुव्रीहि समास के सूत्र में अधिक शब्द का ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। अधिका विंशतिर्येषां ते अधिकविंशाः। यहां अधिक शब्द की संख्यासंज्ञा होने से सूत्र में संख्या ग्रहण से ही बहुव्रीहि समास हो जायगा।

---

१. यद्यपि आर्हीय अर्थों में उत्तरपदवृद्ध्यर्थ अधिक शब्द की संख्या संज्ञा कहने से लुक् की निवृत्ति स्वयमेव हो जायगी क्योंकि तद्धित का लुक् हो जाने पर उत्तरपदवृद्धि प्राप्त ही नहीं इस लिये अधिकग्रहणं चालुकि० इस उक्त वार्तिक में अलुकि कहना व्यर्थ सा प्रतीत होता है तो भी वह व्यर्थ नहीं है। कुछ आर्हीय अर्थों तथा उनसे परे दूसरे प्राग्वतीय अर्थों में जहां अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् यह सूत्र नहीं लगता जैसे—अधिका षष्टिः परिमाणमस्य अधिकषाष्टिकः यहां तदस्य परिमाणम् में सोऽस्यांशवस्नभृतयः से सोऽस्य की अनुवृत्ति आने पर जो पुनः तदस्य इस समर्थविभक्ति का निर्देश किया है उसके सामर्थ्य से आर्हीय ठञ् का लुक् निषिद्ध हो जाता है वहां अधिक शब्द की यदि संख्या संज्ञा नहीं की जायगी तो संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च से उत्तरपदवृद्धि न हो सकेगी। अलुकि कहने से केवल लुक् करने में ही संख्या संज्ञा का निषेध है। अन्यत्र सर्वत्र उत्तरपदवृद्धियों में संख्या संज्ञा हो जायगी। इसी लिये अधिकं संवत्सरमधीष्टो भृतो भूतो वा अधिकसांवत्सरिकः

बह्वादीनामग्रहणम् ।

बह्वादीनां ग्रहणं शक्यमकर्तुम् ।

केनेदानीं संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति ।

ज्ञापकात् सिद्धम् ।

ज्ञापकं किम्? यदयं 'वतोरिड् वे'ति संख्यायाः विहितस्य कनो वत्वन्तादिटं शास्ति ।

वतोरेव तज्ज्ञापकं स्यात् ।

नेत्याह । योगापेक्षं ज्ञापकम् ।

ष्णान्ता षट् ॥१।१।२४॥

षट्संज्ञायामुपदेशवचनम् ।

षट्संज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम् । उपदेशे षकारनकारान्ता संख्या

बहुगणवतु डति इन सबकी संख्यासंज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

बहुगण आदि में संख्यासंज्ञोक्त कार्य कैसे होंगे ?

ज्ञापक से सिद्ध हो जायेंगे । क्या ज्ञापक है ? वतोरिड् वा (५।१।२३) सूत्र से जो वतु प्रत्ययान्त से विहित कन् प्रत्यय को इडागमविकल्प कहा है उसी से वतु की संख्यासंज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

वह तो केवल वतु का ही ज्ञापक हुआ ।

नहीं । वतु के द्वारा बहु गण आदि सभी का ज्ञापक हो जाता है । योगापेक्षं ज्ञापकम् । सूत्रापेक्ष ज्ञापक माना जायगा । वतु जिसमें पढ़ा है वह सब सूत्र ही संख्यासंज्ञक होता है यह वतु के उपलक्षण से जाना जायगा ।[1]

षकारान्त नकारान्त की षट्संज्ञा में उपदेश ग्रहण करना चाहिये । उपदेश

यहां राज्यहः संवत्सराच्च से पक्ष में प्राग्वतीय ठञ् होता है । वह आर्हीय से परे है वहां लुक् न होने से उत्तरपदवृद्धि हो जाती है ।

१. तात्पर्य यह है कि बहुपूगगणसंघस्य तिथुक् इस सूत्र से बहु गण की वतोरिथुक् से वतु की और षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् से डति की संख्या संज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्योंकि ये सब संख्यासंज्ञोक्त कार्य हैं । इस लिये बहुगण आदि चारों की संख्या संज्ञा अन्यथा सिद्ध हो जाने से बहुगणवतुडति संख्या सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार भाष्यवर्तिककारों ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

षट्संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम्। शतानि सहस्राणि नुमि कृते ष्णान्ता षडिति षट्संज्ञा प्राप्नोति। उपदेशग्रहणान्न भवति। अष्टानामित्यत्रात्वे कृते षट्संज्ञा न प्राप्नोति। उपदेशग्रहणाद् भवति।

उक्तं वा।

किमुक्तम्। इह तावत् शतानि सहस्राणीति 'संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये'ति। अष्टनोऽप्युक्तम्। किमुक्तम्। 'अष्टनो

में जो षकारान्त नकारान्त संख्या उसकी षट्संज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये। किस लिये? शत और अष्टन् शब्दों में नुम् और नुट् होने पर इष्ट रूप की सिद्धि के लिये। शतानि सहस्राणि यहाँ शत सहस्र शब्दों से नपुंसक में जस् शस् परे रहते जस् शस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो कर नपुंसकस्य झलचः से नुम् का आगम होता है। नुम् होने पर शतन् सहस्रन् ये नकारान्त संख्या हो जाती हैं। ष्णान्ता षट् से इनकी षट्संज्ञा हो कर षड्भ्यो लुक् से जस् शस् का लुक् नहीं होगा। क्योंकि शतन् सहस्रन् ये उपदेशावस्था में नान्त नहीं हैं। अष्टानाम् यहाँ अष्टन् शब्द से षष्ठीबहुवचन आम् परे होने पर अष्टन आ विभक्तौ से नकार को आकार होता है। आकार हो कर नान्त न रहने से षट्संज्ञा न होगी तो षट्चतुर्भ्यश्च से नुट् नहीं प्राप्त होता। उपदेश ग्रहण करने से आत्व करने पर भी षट्संज्ञा बनी रहेगी तो नुट् सिद्ध हो जाता है। क्योंकि अष्टन् उपदेशावस्था में नान्त है।

शत और अष्टन् शब्दों में जो दोष कहा है उसका समाधान कह चुके हैं। शतानि सहस्राणि में तो संनिपातलक्षण परिभाषा से दोष न होगा। संनिपातलक्षण परिभाषा का विचार कई जगह पहले भी आ चुका है। उसका अर्थ है— जो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले का निमित्त नहीं होता। यहाँ शतानि सहस्राणि में जिस सर्वनामस्थानसंज्ञक जस् शस् की शि को मान कर नपुंसकस्य झलचः से नुम् हुआ है वह नुम् षट्संज्ञा द्वारा षड्भ्यो लुक् की प्रवृत्ति से शि का विघात नहीं कर सकता। अर्थात् शि लुक् नहीं होगा। अष्टन् में भी कहा है। क्या? अष्टनोर्दीर्घात् में जो दीर्घग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि आत्व करने पर भी अष्टन् की षट्संज्ञा बनी रहती है। अष्टनोर्दीर्घात् सूत्र में दीर्घग्रहण इस लिये किया है कि अष्टासु यहाँ आत्व हो कर दीर्घ बने अष्टन् से परे सुप् विभक्ति को उदात्त हो जावे। दीर्घभिन्न अष्टसु यहाँ न हो। यदि आत्व करने पर अष्टन् शब्द की षट्संज्ञा

दीर्घग्रहणं षट्संज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थमि'ति।

अथवाऽऽकारोप्यत्र निर्दिश्यते षकारान्ता नकारान्ता आकारान्ता च संख्या षट्संज्ञा भवतीति।

इहापि तर्हि प्राप्नोति सधमादो द्युम्न एकास्ताः। एका इति।

नैष दोषः। एकशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव संख्यापरः। तद्यथा एको द्वौ बहव इति। अस्त्यसहायवाची। तद्यथा—एकाग्नयः। एकहलानि। एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति। असहायैरित्यर्थः। अस्त्यन्यार्थे वर्तते।

न होती तो अष्टासु के षट्संज्ञक न होने वहां झल्युपोत्तमम् से षट्संज्ञक अष्टन् को कहा हुआ उपोत्तम स्वर प्राप्त ही न होगा। केवल अष्टसु इस षट्संज्ञक में ही उपोत्तमस्वर हो कर अष्टसु यह मध्योदात्त बन जायगा। अष्टासु में अष्टनः इतने सूत्र से सुप् विभक्ति का स्वर हो कर अष्टासु यह अन्तोदात्त बन जायगा। इस प्रकार दीर्घग्रहण के विना भी दोनों इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। व्यर्थ हुआ दीर्घग्रहण यह सूचित करता है कि अष्टासु यहां आत्व होने पर भी षट्संज्ञा होती है तो अष्टसु के समान अष्टासु भी षट्संज्ञक हो जायगा। तब अष्टनः यह इतना सूत्र झल्युपोत्तमम् का अपवाद होने से उसको बाध लेगा तो दोनों जगह अन्तोदात्त प्राप्त होगा उसको रोकने के लिये दीर्घग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। दीर्घग्रहण करने पर अष्टासु में ही अन्तोदात्त होगा। अष्टसु में झल्युपोत्तमम् से मध्योदात्त रहेगा जो कि इष्ट है।

अथवा ष्णान्ता इस शब्द में आकार का भी प्रश्लिष्ट निर्देश समझना चाहिये। ष्ण् आ अन्ता=ष्णान्ता। षकारान्त नकारान्त और आकारान्त संख्या की षट्संज्ञा होती है। उससे अष्टानाम् में आत्व होने पर भी षट्संज्ञा हो जायगी।

यदि ष्णान्ता में आकार का भी निर्देश है तो सधमादो द्युम्न एकास्ताः इस वेदमन्त्र के एका शब्द में स्त्रीलिङ्ग टाप् प्रत्यय हो कर आकारान्त होने से षट्संज्ञा प्राप्त होती है। षट्संज्ञा हो कर जस् का लुक् होना चाहिये।

यह कोई दोष नहीं। एक शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं। एक तो संख्या। जैसे—एकः द्वौ बहवः। यहां एक दो बहुत आदि संख्या अर्थ हैं। दूसरा असहाय, अकेला। जैसे—एकाग्नयः। एकहलानि। एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्। यहां अकेली अग्नि वाले, अकेले हल वाले लोग, अकेले क्षुद्रक लोगों ने जीत लिया। इन सब में एक शब्द का सहायरहित अर्थ है। तीसरा—अन्य या दूसरा।

तद्यथा-प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेकेति। अन्येत्यर्थः। सधमादो द्युम्न एकास्ताः। अन्या इत्यर्थः। तद्योऽन्यार्थे वर्तते तस्यैष प्रयोगः।

इह तर्हि प्राप्नोति द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या चेति।

एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते। 'अष्टाभ्य औश्'। ततः 'षड्भ्य.'। षड्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योपि तद् भवति। ततो 'लुक्'। लुक् च भवति। षड्भ्य इति।

अथवा उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते। 'अष्टन आ विभक्तौ'। ततो 'रायः'। रायश्च विभक्तावाकारादेशो भवति। हलीत्युभयोः शेषः।

जैसे--प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका। एक प्रजा की रक्षा करता है दूसरा अन्न बल की। यहां एक शब्द का अन्य अर्थ है। सधमादो द्युम्न एकास्ताः यहां भी एक शब्द का अन्य अर्थ है। संख्या नहीं है। इस लिये आकारान्त होने पर भी संख्या न होने से षट्संज्ञा नहीं होगी।

तो फिर द्वाभ्यामिष्टये॰ यहां द्वाभ्याम् इस आकारान्त संख्या शब्द की षट्संज्ञा प्राप्त होती है। एकया च दशभिश्च स्वभूते॰ इस वेदमन्त्र में स्त्रीलिङ्ग नियुत् शब्द का विशेषण होने से द्वाभ्याम् यह स्त्रीलिङ्ग का टाबन्त रूप है। यहां षट्संज्ञा होने से षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः से विभक्तिस्वर प्राप्त होता है।

अच्छा तो सप्तमाध्याय में योगविभाग करेंगे। अष्टाभ्य औश् इस सूत्र के बाद षड्भ्यः इतना सूत्र बनायेंगे। उस का अर्थ होगा—जो षट्संज्ञक से कार्य कहे हैं वे आत्व वाले अष्टन् शब्द से भी हो जाते हैं। तो अष्टानाम् में षट्चतुर्भ्यश्च से नुट् हो जायगा। उस के बाद लुक् यह सूत्र बनायेंगे। उस का अर्थ होगा षट्-संज्ञक से परे जस् शस् का लुक् होता है। तो अष्ट २ यहां जस् शस् का लुक् भी सिद्ध हो जायगा।

अथवा उसी सप्तमाध्याय में आगे चल कर योगविभागे करेंगे। अष्टन आ विभक्तौ। इस के बाद रायः इतना सूत्र बनायेंगे। उस का अर्थ होगा—रै शब्द को विभक्ति परे रहते आत्व होता है (फिर हलि यह सूत्र बनायेंगे जो अष्टन आ विभक्तौ और रायः दोनों का शेष होगा। अर्थात् दोनों आत्व करने वाले सूत्र हलादि विभक्ति परे होने पर आत्व करेंगे। अष्टानाम् में नुट् होने के बाद हलादि विभक्ति बनती है इस लिये वहां आत्व से पहले नकारान्त अवस्था में ही षट्चतुर्भ्यश्च से आम् को नुट् हो जायगा। उस के परे होने पर फिर आत्व हो जायगा।[1]

---

१. जस् शस् में तो हलादि न होने पर भी अष्टाभ्य औश् इस आत्व-निर्देश

यद्येवं प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः इति न सिध्यति। प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः इति प्राप्नोति।

यथालक्षणमप्रयुक्ते।

यदि अष्टन आ विभक्तौ से विधीयमान आत्व हलादि विभक्ति परे होने पर ही होता है तब तो प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः यहां अजादि औ जस् परे रहते आत्व नहीं प्राप्त होता। प्रिया अष्टौ यस्य स प्रियाष्टा। प्रथमा के एकवचन में नान्त की उपधा को दीर्घ हो कर राजा की तरह बन गया। फिर औ जस् परे रहते उन के हलादि न होने से आत्व न होगा तो नान्त की उपधा को दीर्घ हो कर प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः यही रूप बनेंगे। प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः ये नहीं बन सकेंगे। ये तो आत्व होने पर ही बन सकते हैं।[1]

जो अप्रयुक्त शब्द हैं उन में यथालक्षण कार्य समझना चाहिये। जैसा सूत्र कहे वैसा रूप बनाइये। प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः में हलादि न होने से आत्व की प्राप्ति नहीं होती है तो आत्व न कीजिये। प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः यही रूप इष्ट बना लीजिये। प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः अनिष्ट समझिये। लक्षणमनतिक्रम्य यथालक्षणम्। शिष्ट प्रयुक्त शब्दों का ही यह शास्त्र अन्वाख्यान करता है। शिष्टाप्रयुक्त अथवा स्वमनीषिकोत्प्रेक्षित अनर्गल शब्दों का अन्वाख्यान नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि लोक में अप्रयुक्त शब्दों का यदि प्रयोग अभीष्ट भी हो तो वह लक्षणानुसार होना चाहिये। लक्षणविरुद्ध प्रयोग नहीं होना चाहिये। अथवा अप्रयुक्त शब्दों का अप्रयोग ही युक्तियुक्त है। लक्षण द्वारा उन के नूतन निर्माण की चेष्टा ही नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार यथालक्षणप्रयुक्तं इस भाष्य वचन के दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं।

के सामर्थ्य से आत्व माना जायगा। आत्वनिर्देश का यही प्रयोजन है कि जहाँ आत्व हो वहीं औश् हो। यदि यह प्रयोजन न हो तो लाघव के लिये आचार्य अष्टभ्य औश् ऐसा कहते।

१. अष्टाभ्य औश् से विहित जो जस् के स्थान में औश् हो वह भी जहां अष्टन् अर्थ की प्रधानता है वहीं आत्व का अनुमान करायेगा। क्योंकि अष्टाभ्यः यह बहुवचननिर्देश अष्टन् अर्थ की प्रधानता को सूचित करता है। प्रियाष्टाः में अष्टन् अर्थ की प्रधानता नहीं है। यहां अष्टन् अर्थ गौण है। अन्य पदार्थ ही प्रधान है। इस लिये जस् में ज्ञापक से भी आत्व का अनुमान नहीं हो सकता। अष्टन आ विभक्तौ सूत्र में अष्टनः इस एक वचन के निर्देश से गौणार्थक अष्टन् शब्द में भी उसकी प्रवृत्ति होती है। पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस परिभाषा के अनुसार अष्टन् शब्दान्त

डति च ॥१।१।२५॥

इदं डतिग्रहणं द्विः क्रियते संख्यासंज्ञायां षट्संज्ञायां च। एकं शक्यमकर्तुम्। कथम्। यदि तावत् संख्यासंज्ञायां क्रियते षट्संज्ञायां न करिष्यते। कथम् 'ष्णान्ता षडि'त्यत्र डतीत्यनुवर्तिष्यते। अथ षट्संज्ञायां क्रियते संख्यासंज्ञायां न करिष्यते। डति चेत्यत्र संख्या संज्ञाप्यनुवर्तिष्यते।

क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२६॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दप्रतिषेधः।

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। लोतो गर्त इति।

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दाप्रतिषेधः।

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः। निष्ठासंज्ञा कस्मान्न भवति। अनुबन्धोऽन्यत्वकरः। अनुबन्धः क्रियते सोऽन्यत्वं करिष्यति।

यह डति ग्रहण दो बार किया गया है। एक तो बहुगणवतुडति संख्या इस संख्यासंज्ञा सूत्र में। और दूसरा डति च इस षट्संज्ञा सूत्र में। इन दोनों में से कोई एक हटाया जा सकता है। कैसे? यदि बहुगण० में डति रखते हैं तो डति च इस सूत्र वाला डति हट सकता है। ष्णान्ता षट् में पूर्व सूत्र से डति की अनुवृत्ति भी कर लेंगे तो अर्थ होगा—षकारान्त नकारान्त संख्या के साथ संख्यासंज्ञक तद्धित डति प्रत्यय की भी षट्संज्ञा होती है। और यदि डति च इस षट्संज्ञा में डति रखते हैं तो बहुगण० वाला डति हट सकता है। डति च में संख्या संज्ञा की अनुवृत्ति करके डत्यन्त जो संख्या उसकी षट्संज्ञा मानेंगे तो डति की संख्यासंज्ञा स्वतः सिद्ध हो जायगी।

क्त क्तवतु की निष्ठा संज्ञा में क्त क्तवतु के समान शब्दों की निष्ठा संज्ञा का निषेध कहना चाहिये। जैसे— लोतः। गर्तः। यहां लू और गृ धातुओं से औणादिक तन् प्रत्यय होकर लोतः गर्तः ये रूप बनते हैं। लोत यह द्रव्यवाची शब्द है। इस का अर्थ मेष=मीढा है। गर्त भी द्रव्यवाची है। इस का अर्थ गढ़ा है। कृतः गतः चितः स्तुतः इन क्रिया शब्दों में स्थित त शब्द के समान यहां त शब्द होने से इस की भी निष्ठा संज्ञा प्राप्त होती है।

निष्ठासंज्ञा में समान शब्दों के निषेध की आवश्यकता नहीं। निष्ठा संज्ञा

प्रियाष्टन् शब्द में भी अष्टन आ० यह आत्व अङ्गाधिकारीय होने से प्राप्त होता है। वह हलादि करने पर औ जस् परे रहते प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः यहां नहीं प्राप्त हो सकता।

अनुबन्धोऽन्यत्वकर इति चेन्न लोपात् ।

अनुबन्धोऽन्यत्त्वकर इति चेत् तन्न। किं कारणम्। लोपात्। लुप्यतेऽत्रानुबन्धः। लुप्तेऽत्रानुबन्धे नान्यत्त्वं भवति। तद्यथा कतरद् देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति। एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति।

यद्यपि लुप्यते जानाति त्वसौ सानुबन्धकस्येयं संज्ञा कृतेति। तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवति। अन्ततस्तमुद्देशं जानातीति।

सिद्धविपर्यासश्च ।

सिद्धश्च विपर्यासः। यद्यपि जानाति संदेहस्तु तस्य भवति।

क्यों नहीं होती ? निष्ठासंज्ञा वाले क्तक्तवतु प्रत्ययों में ककार अनुबन्ध लगाया है वह लोतः गर्तः के अनुबन्धरहित त शब्द की अपने से भिन्नता करके निष्ठा संज्ञा न होने देगा।

ककार अनुबन्ध विद्यमान हो तो अन्यता (=भेद) करे। वह तो लुप्त हो चुका है। उस के लुप्त हो जाने पर दोनों त शब्द बराबर हैं। इस लिये दोनों की निष्ठासंज्ञा प्राप्त है। अनुबन्ध के लुप्त होने पर दोनों में भिन्नता नहीं रहती। जैसे किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कौन सा है ? दूसरे ने उत्तर दिया जहां वह कौआ बैठा है वह देवदत्त का घर है। कौवे के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का पता नहीं लगता। वह घर ही समझ नहीं पड़ता। इसी प्रकार यहां क्त प्रत्यय का ककार अनुबन्ध लुप्त हो जाने पर क्त प्रत्यय समझ नहीं पड़ता। क्त और त दोनों बराबर हो जाते हैं।

यद्यपि ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर क्त नहीं रहता वह त हो जाता है फिर भी अध्येता यह तो जानता ही है कि यह पहले ककार अनुबन्धसहित क्त था इस की निष्ठा संज्ञा की गई है। जैसे अन्यत्र लोक में भी देवदत्त का घर कौन सा है ऐसा पूछने पर जहां वह कौवा बैठा है यह उत्तर दिया जाता है। यहां कौवे के उड़ जाने पर यद्यपि घर का पता नहीं रहता फिर भी आखिरकार वह उस ऊँचे स्थान को जानता ही है कि यहां कौवा बैठा था।

इस में विपर्यास=सन्देह तो बना रहता है। यद्यपि वह जानता है कि

---

१. विपर्यास का प्रायः 'भ्रमात्मक निश्चय' अर्थ होता है, यहाँ संशय अर्थ है।

अयं स तशब्दो लोतो गर्त इति। अयं स तशब्दो लूनो गीर्ण इति। तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि तमुद्देशं जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति इदं तद् गृहमिदं तद् गृहमिति।

एवं तर्हि।

कारककालविशेषात् सिद्धम्।

कारककालविशेषावुपादेयौ। भूते यस्तशब्दः कर्मणि कर्तरि भावे चेति। तद्यथा इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते वेदिकां पुण्डरीकं वा।

एवमपि प्राकीर्ष्ट इत्यत्रापि प्राप्नोति।

यह त शब्द है जिस की निष्ठा संज्ञा की गई है तो भी दो त शब्द देख कर उसे सन्देह तो होता ही है कि क्या लूनः गीर्णः वाला त शब्द निष्ठा संज्ञक है या लोतः गर्तः वाला। लूनः गीर्णः में लू गॄ धातुओं से क्त प्रत्यय हो कर उसे ल्वादिभ्यः से निष्ठानत्व हो गया है। जैसे अन्यत्र भी 'देवदत्त का घर कौन सा है' इस प्रश्न का 'जहां वह कौवा बैठा है' यह उत्तर मिलने पर जब कौवा उड़ जाता है तब यद्यपि वह उस स्थान को मूलतः जानता है कि यहां कहीं कौवा बैठा था फिर भी उसे यह सन्देह तो होता ही है—यह वह देवदत्त का घर है जिस पर कौवा बैठा था या वह है।

अच्छा तो निष्ठासंज्ञा में कारकविशेष और कालविशेष का उपादान करेंगे। भूतकाल में तथा कर्ता कर्म एवं भाववाच्य में जो त शब्द है उस की निष्ठा संज्ञा होती है ऐसा कहेंगे। उस से लोतः गर्तः में त शब्द की निष्ठा संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि वह भूतकाल में नहीं हुआ है। जैसे अन्यत्र लोक में भी जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक काम करने वाला या अपनी समझ से काम लेने वाला होता है वह देवदत्त के घर पर बैठे हुए कौवे रूप अध्रुव निमित्त को जो कि कौवे के उड़ जाने पर स्थिर नहीं रहेगा उस के द्वारा घर में स्थित वेदी या पुण्डरीक रूप ध्रुव निमित्त को अपनी पहचान के लिये ग्रहण कर लेता है। वह जानता है कि कौवा तो उड़ भी सकता है उस के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का पता नहीं लगेगा इस लिये उस अस्थिर कौवे के बैठने पर ध्यान न दे कर वह उस घर में स्थित कौवे से सम्बद्ध स्थिर विद्यमान वेदी या कमल के निशान को पहचान के लिये बुद्धिस्थ कर लेता है। निमित्त=निशान। अध्रुव=अस्थिर। पुण्डरीक=कमल।

कारक काल विशेष का उपादान करने पर भी प्राकीर्ष्ट (प्र कृ-सिच्-लुङ् त)

लुङि सिजादिदर्शनात् ।

लुङि सिजादिदर्शनान्न भविष्यति ।

यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते प्राभित्तेति ।

दृश्यन्तेऽत्रापि सिजादयः ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

यथैवायमनुपदिष्टान् कारककालविशेषानवगच्छति । एवमेतदप्यवगन्तुमर्हति यत्र सिजादयो नेति ।

यहां त शब्द की निष्ठा संज्ञा प्राप्त होती है। यह लुङ् लकार का त शब्द भूतकाल में हुआ है ।

प्राकीर्ष्ट इस लुङ् लकार के त शब्द में सिच् आदि विकरण भी दीखते हैं इस लिये इस की निष्ठा संज्ञा नहीं होगी । यहां कृ धातु से सीधा परे त शब्द नहीं है । बीच में सिच आदि का व्यवधान है ।

जहां सिच् आदि का व्यवधान नहीं दीखता है वहां त शब्द की निष्ठा संज्ञा प्राप्त होती है। जैसे प्राभित्त (प्रभिद्-सिच् लुङ् त) यहां झलो झलि से सिच् का लोप हो जाने पर भिद् से सीधा परे त शब्द है ।

प्राभित्त में भी सिच् आदि दीखते हैं ।

क्या यह बात कहनी होगी ?

नहीं ।

विना कहे कैसे समझी जायगी ?

जिस प्रकार यह अध्येता कारक काल विशेषों को बिना कहे समझ लेता है उसी प्रकार यह बात भी विना कहे समझ जायगा कि जहां सिजादि नहीं दीखते वहां त शब्द की निष्ठा संज्ञा होगी । प्राभित्त में जब कर्ता कारक तथा भूतकाल की क्रिया को वह जानता है तो उस के साथ होने वाले सिच् आदि को भी अवश्य ही जानता है । इस लिये यहां त शब्द की निष्ठा संज्ञा नहीं होगी ।

षष्ठ आह्निक में प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२७॥

इस सूत्र से ले कर नवेति विभाषा ॥१।१।४४॥

इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२७॥

(क) सर्वादि शब्द में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मान कर सर्व शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध की है।

(ख) सर्वनाम शब्द में निपातन से णत्व का अभाव प्रतिपादन करते हुए बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति यह परिभाषा स्वीकार की है।

(ग) संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः इस वार्तिक के प्रयोजन बता कर नानाविध युक्तियों से उसका खण्डन किया है।

(घ) अकच् के लिये उभ शब्द की सर्वनाम संज्ञा का खण्डन कर के भवतु शब्द की सर्वनाम संज्ञा के प्रयोजन बताये हैं।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१।१।२८॥

दिक्, समासे, बहुव्रीहौ इन सबका पदकृत्य दिखा कर बहुव्रीहिग्रहण का उत्तरसूत्रार्थ विशेष प्रयोजन बताया है।

न बहुव्रीहौ ॥१।१।२९॥

(क) सूत्र के कई उदाहरण दे कर उसकी प्रयोजनवत्ता मानते हुए भी भाष्यकार ने अपनी तरफ से सूत्र का खण्डन कर दिया है।

(ख) आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः आढ्यपूर्वाय यहां सर्वनाम संज्ञा के निषेध के लिये विशेष वचन का खण्डन भी किया है।

तृतीयासमासे ॥१।१।३०॥

समासग्रहण का द्विविध प्रयोजन बताया है।

विभाषा जसि ॥१।१।३२॥

केवल जस् का कार्य जो शीभाव है उसके करने में ही सर्वनाम संज्ञा का विकल्प माना है।

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥१।१।३४॥

गणपाठ से सिद्ध होने पर भी सूत्र का प्रयोजन केवल जस् में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प सिद्ध किया है।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥१।१।३५॥

आख्याग्रहण का प्रयोजन बताया है।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥१।१।३६॥

उपसंव्यान ग्रहण का खण्डन करके अपुरि तथा तीयस्य ङित्सु वा इन दो वार्तिकों का प्रयोजन बताया है।

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१।१।३७॥

चादिगण से पृथक् स्वरादिगण का तथा निपातसंज्ञा से पृथक् अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सिद्ध किया है।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१।१।३८॥

(क) असर्वविभक्तिः के स्थान में अविभक्तिः अथवा अलिङ्गम, असंख्यम् इन न्यासों का खण्डन मण्डन करके अन्ततः कुछ निश्चित तद्धित प्रत्ययों का पाठ ही अव्ययसंज्ञा के लिये सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

(ख) अव्यय की अन्वर्थसंज्ञा मान कर अत्युच्चैः, अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैसः में अव्ययसंज्ञा का अभाव सिद्ध किया है।

कृन्मेजन्तः ॥१।१।३९॥

(क) कृत् जो मकारान्त अथवा कृदन्त जो मकारान्त दोनों की अव्ययसंज्ञा स्वीकार करके कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिः अनन्यप्रकृतिरिति वा। इन दोनों वार्तिकों का संनिपातपरिभाषा द्वारा खण्डन किया है।

(ख) संनिपात परिभाषा के प्रयोजन तथा दोष भी बताये हैं। अन्त में अपरिहार्य रूप से संनिपात परिभाषा को स्वीकार किया है।

अव्ययीभावश्च ॥१।१।४१॥

अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा करने के परिगणित प्रयोजन बता कर उनकी अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन कर दिया है।

शि सर्वनामस्थानम्, सुडनपुंसकस्य ॥१।१।४२-४३॥

अनपुंसकस्य को प्रसज्यप्रतिषेध मानने में प्राप्त दो दोष दिखाये हैं। एक तो कुण्डानि यहां नपुंसक के जस् में सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है। दूसरा नपुंसकस्य न भवति इस अर्थ में अनपुंसकस्य यह असमर्थसमास है। अन्त में दोनों

दोषों का समाधान करके प्रसज्यप्रतिषेधपक्ष को भी स्वीकार किया है। असूर्यंपश्या, अश्राद्धभोजी आदि कुछ असमर्थ समासों के उदाहरण भी दिखाये हैं।

नवेति विभाषा ॥१।१।४४॥

(क) इतिकरणद्वारा नवा शब्द के बजाय नवा शब्द के अर्थ जो निषेध और विकल्प हैं उनकी विभाषासंज्ञा सिद्ध की है।

(ख) नवा कुण्डिका, नवा घटिका आदि में नवा के समान शब्दों की विभाषा संज्ञा का निषेध सिद्ध किया है।

(ग) नवा यह निषेधवाची एक शब्द न मान कर निषेध तथा विकल्पवाची न और वा ये दो शब्द माने हैं। उससे प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त तीनों प्रकार की विभाषाओं में पहले निषेध की प्रवृत्ति हो कर फिर विकल्प की प्रवृत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है।

(घ) विभाषा शब्द का सम्बन्ध शब्दसाधुत्व के साथ न मान कर सूत्रविहित कार्य के साथ माना है। साथ ही अनित्यशब्दवाद का खण्डन भी किया है।

(ङ) अन्त में लोकशास्त्र व्यवहार से सिद्ध होने पर इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है।

(च) फिर क्रमशः अप्राप्त, प्राप्त तथा उभयत्र तीनों प्रकार की विभाषायें उपलक्षण रूप से दिखाई हैं।

अथ षष्ठमाह्निकम्

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२७॥

सर्वादीनीति कोऽयं समासः ?

बहुव्रीहिरित्याह ।

कोऽस्य विग्रहः ?

सर्वशब्द आदिर्येषां तानीमानीति ।

यद्येवं सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति। किं कारणम् ? अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहेः। बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थे वर्तते। तेन यदन्यत् सर्वशब्दात् तस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति। तद्यथा चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स एवानीयते न गावः।

नैष दोषः। भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि। तद्यथा

सर्वादीनि इस शब्द में क्या समास है ?

बहुव्रीहि ।

इस का क्या विग्रह है ?

सर्वशब्दः आदिर्येषां तानि सर्वादीनि। अर्थात् जिन के आदि में सर्व शब्द है वे सर्वादि कहाते हैं।

तब तो सर्वशब्द की सर्वनामसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्यों ? बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थप्रधान होता है। जिन के आदि में सर्व शब्द है उन की सर्वनामसंज्ञा होगी तो सर्व शब्द से अन्य जो विश्वप्रभृति शब्द हैं उन की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है, सर्व की नहीं। क्योंकि विश्वप्रभृति के आदि में सर्व शब्द है। जैसे—चित्रगु को लाओ ऐसा कहने पर जिस की चित्र विचित्र गौएं हैं वह मनुष्य ही लाया जाता है, गौएं नहीं।

यह कोई दोष नहीं। बहुव्रीहि समास में तद्गुणसंविज्ञान भी होता है।

---

१. संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध होने पर तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि होता है, स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में अतद्गुणसंविज्ञान। तद् शब्द अन्यपदार्थ का परामर्शक है। गुण=विशेषण, वर्तिपदार्थ रूप अवयव।

चित्रवाससमानय, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीति। तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रचरन्तीति।

इह सर्वनामानीति 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति णत्वं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।

सर्वनामसंज्ञायां निपातनाण्णत्वाभावः।

सर्वनामसंज्ञायां निपातनाण्णत्वं न भविष्यति।

किमेतन्निपातनं नाम ?

अथ कः प्रतिषेधो नाम ?

अविशेषेण किंचिदुक्त्वा विशेषेण नेत्युच्यते। तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति।

तस्य अन्यपदार्थस्य गुणाः तद्गुणाः, तेषामपि कार्ये संविज्ञानं तद्गुणसंविज्ञानम्। उस. अन्यपदार्थ के उपलक्षक जो समासघटक अवयव हैं उन का भी अन्यपदार्थ के साथ कार्य में ग्रहण होना तद्गुणसंविज्ञान होता है। अवयवार्थविशिष्ट अन्यपदार्थ का ग्रहण होने से सर्व शब्द जिन के आदि में है उन के साथ सर्व की भी सर्वनामसंज्ञा हो जायगी। जैसे—चित्रवाससमानय कहने पर चित्र विचित्र कपड़ों वाला मनुष्य ही लाया जाता है। नकि कपड़े रहित केवल मनुष्य। लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति कहने पर लाल पगड़ी वाले (रक्तशिरोवेष्टन संयुक्त) ऋत्विक् अनुष्ठान करते हैं न कि पगड़ी रहित केवल ऋत्विक्।

सर्वनामानि शब्द में पूर्वपदात्संज्ञायामगः सूत्र से णत्व प्राप्त होता है उस का निषेध कहना चाहिये। क्योंकि सर्वनाम यह संज्ञा है। सर्वशब्द पूर्वपद में है। उस के रेफ से परे अङ् व्यवाय होने से णत्व प्राप्त है।

'सर्वनाम' (इस) संज्ञा में निपातन से णत्व नहीं होगा।[1]

यह निपातन क्या चीज़ है ?

हम पूछते हैं निषेध क्या चीज़ है ?

सामान्य रूप से कोई कार्य कह कर फिर विशेष रूप से 'न' ऐसा कहते हैं तो वहां आचार्य का यह स्पष्ट अभिप्राय होता है कि वह कार्य न हो। विशेष विषय में किसी कार्य को रोकने का नाम निषेध है।

---

१. लोक में भी णत्वरहित सर्वनाम शब्द का प्रयोग होता है, अतः इसका यहां साधुत्व बताया जा रहा है।

निपातनमप्येवंजातीयकमेव । अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति ।

ननु च निपातनाच्चाणत्वं स्यात्, यथा प्राप्तं च णत्वम् ?

किमन्येऽप्येवंविधयो भवन्ति ? [यदि भवन्ति तदा] इको यणचीति यण् स्यात् यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत ?

नैष दोषः । अस्त्यत्र विशेषः । षष्ठ्यात्र निर्देशः क्रियते । षष्ठी च पुनः स्थानिनं निवर्तयति ।

इह तर्हि कर्तरि शप् दिवादिभ्यः श्यन् इति वचनाच्च श्यन् स्यात्, यथाप्राप्तश्च शप् श्रूयेत ।

निपातन भी इसी प्रकार का होता है। सामान्यतया णत्व कह कर विशेष रूप से सर्वनाम यह णत्वरहित निपातन किया है वहां आचार्य का यह स्पष्ट अभिप्राय विदित (अनुमित) होता है कि यहां णत्व नहीं होता।

सर्वनाम इस निपातन से णत्व का अभाव रहे पर सामान्यतया प्राप्त णत्व भी हो जाय ऐसा क्यों न मानें ?[1]

क्या इस प्रकार कोई और भी कार्य होते हैं ? जहां भाव-अभाव एवं विधि-निषेध दोनों चलते रहें। यदि ऐसा है तो इको यणचि इस सूत्र के वचन से इक् के स्थान में यण् हो जाय, पर सामान्यतया प्राप्त यण् का अभाव भी रहे तो इक् सुनाई देना चाहिये। (भाव यह है कि सूत्र यण् साधु है यह कहता है, इक् की निवृत्ति नहीं करता)।

यह कोई दोष नहीं। यहां विशेष बात है। इकः इस षष्ठी विभक्ति से यहां निर्देश किया है। षष्ठी स्थानेयोगा के नियमानुसार यण् आदेश इक् स्थानी को सर्वथा हटा देगा।

अच्छा तो यह लीजिये। कर्तरि शप् कह कर फिर दिवादिभ्यः श्यन् कहा है। वहां श्यन् के वचन से तो श्यन् हो जाय पर सामान्यतया प्राप्त शप् भी होता रहे।

---

१. भाव यह है कि प्रतिषेध का निवृत्ति में तात्पर्य होता है, यह कार्य नहीं होता है इस में अभिप्राय होता है। निपातन तो उच्चारित रूपविशेष के साधुत्व को बतलाता है, रूपान्तर (उस से भिन्न रूप) को हटाता नहीं। यह परस्पर भेद है।

नैष दोषः। शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते।

तत् तर्हि शपो ग्रहणं कर्तव्यम्?

न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्? कर्तरि शप् इति।

तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः।

दिवादिभ्य इत्येषा पञ्चमी शबिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्येति।

प्रत्ययविधिरयम्। न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिका भवन्ति।

यह भी दोष नहीं। शप् के स्थान में श्यन् आदि आदेश मान लिये जावेंगे वे स्थानी शप् की निवृत्ति कर देंगे।[1]

स्थानीनिर्देश के लिये श्यन् आदि में शप् ग्रहण करना होगा।

नहीं करना होगा। कर्तरि शप् से चले आ रहे शप् की अनुवृत्ति कर लेंगे।

कर्तरि शप् में तो शप् यह प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है। आपको स्थानी-निर्देश के लिये षष्ठी विभक्ति चाहिये।

दिवादिभ्यः श्यन् में दिवादिभ्यः यह पञ्चमी तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से शप् इस प्रथमा को षष्ठी बना लेगी। अर्थ होगा—दिवादियों से परे शप् के स्थान में श्यन् होता है।

दिवादिभ्यः श्यन् तो प्रत्यय विधि है। वह श्यन् प्रत्यय का विधान करता है आदेश का नहीं। प्रत्यय विधि में पञ्चमी किसी विभक्ति को तस्मादित्युत्तरस्य

---

१. श्यन् आदि को शप् के स्थान में आदेश मानने पर भी श्यन् के शित्करण एवं नित्करण ज्ञापक से शप् का पित्त्व स्थानिवद्भाव से श्यन् आदि में नहीं आयेगा तो करोति (कृ-उ-तिप्) में शप् के स्थान में होने वाला उ प्रत्यय पित् नहीं होगा उस से उ प्रत्यय अनुदात्त न हो कर उदात्त ही रहेगा। कुर्वती (कृ-उ-शतृ-ङीप्) में शप् स्थानीय उ प्रत्यय के शप् न होने से शप्श्यनोर्नित्यम् से नुम् नहीं होगा। रुधादिभ्यः श्नम् शप् के स्थान में होने वाला श्नम् मिदचोऽन्त्यात्परः के नियम से रुध् के अन्तिम अच् से परे हो जायगा और शप् की निवृत्ति कर देगा। जैसे भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् से होने वाला रमागम भ्रस्ज् के अन्तिम अच् से परे होता है और उस के रेफ तथा उपधा की निवृत्ति कर देता है। इस प्रकार कहीं दोष न आने से श्यन् आदि को शबादेश मानना भी ठीक है।

नायं प्रत्ययविधिः। विहितः प्रत्ययः। प्रकृतश्चानुवर्तते।

इह तर्हि 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेरि'ति वचनाच्चाकच् स्यात्। यथा प्राप्तश्च कः श्रूयेत।

नैष दोषः। नाप्राप्ते हि केऽकजारभ्यते स बाधको भविष्यति।

निपातनमप्येवंजातीयकमेव। नाप्राप्ते णत्वे निपातनमारभ्यते तद् बाधकं भविष्यति।

यदि तर्हि निपातनान्यप्येवंजातीयकानि भवन्ति समस्तते दोषो भवति। इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते 'समो हिततत्तयो' र्वेति। सततम्। संततम्। सहितम्। संहितम्। इह पुनर्भवान् निपातनाच्च लोपमिच्छति 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये' इति। यथाप्राप्तं चालोपम्। संततमित्येतन्न सिध्यति।

के नियम से षष्ठी में बदलने वाली नहीं होती।

दिवादिभ्यः श्यन् को प्रत्यय विधि नहीं मानेंगे। प्रत्यय तो कर्तरि शप् से विहित है ही। वही शप् प्रत्यय अनुवृत्ति से दिवादिभ्यः श्यन् में चला आ रहा है। तब दिवादिभ्यः श्यन् का अर्थ होगा—दिवादियों से परे अनुवर्तमान शप् के स्थान में श्यन् आदेश होता है।

अच्छा फिर यह लीजिये। अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः इस वचन से तो अकच् हो जाय पर सामान्यतया प्राप्त क प्रत्यय भी होकर सुनाई देता रहे।

यह भी दोष नहीं। क प्रत्यय की अवश्य प्राप्ति में अपवाद रूप से अकच् का विधान किया है वह येन नाप्राप्त न्याय से क को बाध लेगा।

तब तो निपातन भी इसी प्रकार का है। णत्व की अवश्य प्राप्ति में ही अपवाद रूप से सर्वनाम यह णत्व का अभाव निपातन किया है वह णत्व को बाध लेगा।

यदि निपातन भी अपवादरूप से बाधक माने जाते हैं तो सम् से परे तत शब्द में दोष आता है। यहाँ कुछ वैयाकरण समो वा हिततत्तयोः इस वचन द्वारा सम् के मकार का तत और हित शब्द परे रहते विकल्प से लोप विधान करते हैं। सततम्। संततम्। सहितम्। संहितम्। इधर आप अपरस्पराः क्रियासातत्ये इस सूत्र में सातत्य निपातन से मकार का लोप इष्ट मानते हैं तो संततम् में सामान्यतया प्राप्त लोप का अभाव नहीं सिद्ध होता। सातत्य यह निपातन बाधक हो जायगा

कर्तव्योऽत्र यत्नः। बाधकान्येव हि निपातनानि भवन्ति।

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः।

संज्ञोपसर्जनीभूतानां सर्वादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। सर्वो नाम कश्चित्। तस्मै सर्वाय देहि। अतिसर्वाय देहि।

तो सर्वथा संतत, सांतत्य कोई भी रूप न बन सकेगा। केवल सतत या सातत्य ही बनेंगे।

इस विषय में यत्न करना होगा। लुम्पेदवश्यमः कृत्ये० इस श्लोक में कथित समो वा हिततत्योः इस वचन को मानना ही होगा। उसी से सततम्, संततम् ये दो रूप बन जायेंगे, निपातन की जरूरत नहीं। निपातन तो अवश्यमेव बाधक होते हैं।[1]

किसी की संज्ञा और उपसर्जन अर्थात् गौण बने हुए सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये[2]। संज्ञा का अर्थ नाम है। उपसर्जन गौण को कहते हैं। जैसे किसी का नाम सर्व है उसकी चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में सर्वाय देहि यह रूप बनता है। यहां सर्वनामसंज्ञा हो जाती तो सर्वनाम्नः स्मै से स्मै हो कर सर्वस्मै ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। संज्ञा में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से वह न होगा। सर्वमतिक्रान्तः अतिसर्वः। तस्मै अतिसर्वाय देहि। यहां अतिसर्व शब्द में प्रादिसमास है अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है। सर्व का अर्थ उपसर्जन है। गौण है। गौण में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से स्मै न होगा।

---

१. निपातनों को बाधक मानने पर भी सांतत्यम् इस रूप का तो अनभिधान होने से अप्रयोग होगा। संततम् विशेष वचन से बन जायगा। पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु में पुराण निपातन से पुरातन शब्द का बाध प्राप्त होता है वह पृषोदरादि मान कर साधु बना लिया जायगा। पुराण के समान पुरातन शब्द भी स्वीकार्य होगा।

२. संज्ञा की सर्वनामसंज्ञा का निषेध तो अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि आ कडारादेका संज्ञा सूत्र के भाष्य में प्रातिपदिक, गुणवचन, समास, कृत्, तद्धित, अव्यय, सर्वनाम, असर्वलिङ्गा जाति, एकद्रव्योपनिदेशिनी संज्ञा ये कुछ संज्ञायें क्रम से कही गई हैं। इनमें परसंज्ञा पूर्वसंज्ञा को बाध लेती है। उस अवस्था में परपठित एकद्रव्योपनिवेशिनी संज्ञा द्वारा पूर्वपठित सर्वनाम संज्ञा का स्वयमेव बाध हो जायगा तो संज्ञा के विषय में इस निषेध की आवश्यकता नहीं रहती।

३. येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र में पठित प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम् इस

स कथं कर्तव्यः ?

पाठात् पर्युदासः पठितानां संज्ञाकरणम् ।

पाठादेव पर्युदासः कर्तव्यः। शुद्धानां पठितानां संज्ञा कर्तव्या। सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। संज्ञोपसर्जनीभूतानि न सर्वादीनि।

किमविशेषेण ?

नेत्याह। विशेषेण च। किं प्रयोजनम् ?

सर्वाद्यानन्तर्यकार्यार्थम् ।

सर्वादीनामानन्तर्येण यदुच्यते कार्यं तदपि संज्ञोपसर्जनीभूतानां मा भूदिति। किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं डतरादीनामद्ड्भावे ।

डतरादीनामद्ड्भावे प्रयोजनम् । अतिक्रान्तमिदं ब्राह्मणकुलं

संज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कैसे किया जायगा ?

सर्वादिगण के पाठ से ही संज्ञा और उपसर्जन वाले सर्वादियों को हटा दिया जायगा। संज्ञा उपसर्जन रहित केवल शुद्ध पठित सर्वादियों की ही सर्वनाम संज्ञा की जायगी। संज्ञा और उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्द सर्वादि के गणपाठ में न होंगे तो उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। अर्थात् असंज्ञोपसर्जनानि यह सर्वादीनि का विशेषण रहेगा।

क्या सामान्यरूप से सम्पूर्ण सर्वादिगण के कथित कार्यों में ही संज्ञा और उपसर्जन का निषेध होगा ?

नहीं। विशेषरूप से भी कथित सर्वादिगण के (=गणपाठोपलक्षित विशिष्ट) कार्यों में संज्ञा और उपसर्जन का निषेध होगा। क्या प्रयोजन है ? सर्वादि के अन्तर्गत त्यदादि डतरादि को आनन्तर्य=परत्वाश्रयण से जो कार्य विहित हैं उनमें भी संज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा का निषेध इष्ट है। अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः से डतरादियों स परे संज्ञा उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्दों की

वचनद्वारा सर्वनामसंज्ञा में भी अव्ययसंज्ञा के समान तदन्तविधि मानी गई है इस लिये परमसर्व की तरह अतिसर्व में भी सर्वनामसंज्ञा की प्राप्ति सम्भव है। परमसर्व में सर्व शब्द के अर्थ की प्रधानता होने से वहां सर्वनामसंज्ञा इष्ट है। किन्तु अतिसर्व में अतिक्रान्त अर्थ की प्रधानता है। सर्व शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस लिये अतिसर्व की सर्वनामसंज्ञा इष्ट नहीं है उसीके लिये यहां कहा जा रहा है।

कतरत् अतिकतरं ब्राह्मणकुलमिति।

त्यदादिविधौ च।

त्यदादिविधौ च प्रयोजनम्। अतिक्रान्तोयं ब्राह्मणस्तम् अतितद् ब्राह्मण इति।

संज्ञाप्रतिषेधस्तावन्न वक्तव्यः। उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते। 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्'। ततोऽ'संज्ञायाम्' इति। सर्वादीनीत्येवं यान्यनुक्रान्तानि असंज्ञायां तानि द्रष्टव्यानि।

उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्यः। अनुपसर्जनादित्येष योगः

सर्वनामसंज्ञा न होने से सु और अम् के स्थान में अद्ड् आदेश न होना प्रयोजन है। जैसे—अतिक्रान्तमिदं ब्राह्मणकुलं कतरत्=अतिकतरं ब्राह्मणकुलम्। यहां अतिकतरम् इस प्रादिसमास में कतर शब्द उपसर्जन है। अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है। कतर शब्द के उपसर्जन होने से सर्वनाम संज्ञा न होगी तो अद्ड् आदेश नहीं होगा। त्यदादीनामः से त्यदादि को अत्व कार्य का भी संज्ञा उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा न होने से रुक जाना प्रयोजन है। जैसे—अति क्रान्तोऽयं ब्राह्मणस्तम्=अतितद् ब्राह्मणः। यहां अतितत् इस प्रादिसमास में तद् शब्द उपसर्जन है। अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है। तद् के उपसर्जन होने से सर्वनाम संज्ञा न होगी तो त्यदाद्यत्व न होगा।

संज्ञा की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं। आगे सूत्र में योगविभाग करेंगे। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् यह एक सूत्र बनायेंगे। उस के बाद असंज्ञायाम् यह दूसरा सूत्र होगा। उस का अर्थ होगा—सर्वादीनि सर्वनामानि से ले कर पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् तक कहे हुए सब सूत्रों के कार्य संज्ञाभिन्न में होते हैं। उस से संज्ञाविषयक सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा न होगी।

उपसर्जन का निषेध कहने की भी आवश्यकता नहीं। आगे चतुर्थाध्याय में अनुपसर्जनात् यह सूत्र निष्प्रयोजन होने से खण्डित किया गया है[1] उस से यहां

---

१. यदि कहो कि स्त्रीप्रत्ययों में अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान से तदन्तविधि का ज्ञापन करने के लिए अनुपसर्जनात् यह सूत्र रह सकता है जिस से कुरुचरी (कुरु-चर्-ट-ङीप्) यहां टिदन्तान्त कुरुचर शब्द के अनुपसर्जन होने से टिड्ढाणञ्० सूत्र से ङीप् हो जावे और बहुकुरुचरा नगरी (बहवः कुरुचराः यस्यां सा नगरी) यहां कुरुचर के उपसर्जन होने से ङीप् न हो। अन्यथा ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति इस परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो कर सूत्र में गृह्यमाण प्रातिपदिक से ही प्रत्यय हो

प्रत्याख्यायते तमेवमभिसंभन्त्स्यामः। अनुपसर्जन अ अदिति। किमिदम्

परिभाषा रूप से प्रयोजन लेंगे। अनुपसर्जनात् यह पञ्चमी न मान कर अनुपसर्जन अ अत्=अनुपसर्जनात् इस प्रकार पदों का सम्बन्ध समझेंगे। अनुपसर्जन इस शब्द

सकेगा। टिड्ढाणञ् आदि प्रत्ययों में भी प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा से अन्यूनानतिरिक्त प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा, प्रत्ययान्त जिस के अन्त में है उस का ग्रहण न होगा तो कौम्भकारेयः यह रूप नहीं बन सकेगा। यहां कुम्भकार्याः अपत्यम् इस अर्थ में कुम्भकारी शब्द का अवयव कार शब्द अण् प्रत्ययान्त है। उस से टिड्ढाणञ् सूत्र से ङीप् हो कर कारी यह स्त्री प्रत्ययान्त हुआ। कुम्भकारी यह समुदाय स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं है। अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्यो ढक् से स्त्रीप्रत्ययान्त से होने वाला ढक् प्रत्यय केवल कारी से हो सकेगा। ढक् परे रहते कारी ही अङ्ग होगा। आदिवृद्धि भी कारी को ही होगी कुम्भकारी को नहीं, तो कुम्भकारेयः ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इस सूत्र से प्रधान में तदन्तविधि ज्ञापित कर देने पर टिड्ढाणञ्० सूत्र अणन्तान्त से भी ङीप् कर देगा तो केवल कार से ङीप् न हो कर कुम्भकार से भी हो जायगा। तब कुम्भकारी के स्त्रीप्रत्ययान्त हो जाने से ढक् हो जायगा। कुम्भ शब्द को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा। यदि कोई कहे कि कौम्भकारेयः तो अनुपसर्जनात् सूत्र के बिना भी बन जायगा। क्योंकि कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति इस परिभाषा से कृत् प्रत्यय के ग्रहण में कारक पूर्वक का भी ग्रहण होने से कार के साथ कुम्भकार भी अणन्त माना जायगा उस से ङीप् हो कर कुम्भकारी इस स्त्रीप्रत्ययान्त से ढक् होगा तो कुम्भ को आदि वृद्धि हो कर कौम्भकारेयः बन जायगा सो ठीक नहीं। कृद्ग्रहण परिभाषा वहां लगती है जहां केवल कृत् का ही ग्रहण हो। जहां कृत् अकृत् दोनों का ग्रहण हो वहां उक्त परिभाषा नहीं लगती। टिड्ढाणञ्० सूत्र में जो अण्ग्रहण है वह केवल कृत्प्रत्यय का ही नहीं है अपितु तद्धित का भी है इस लिये केवल कृत् का ग्रहण न होने से कृद्ग्रहण परिभाषा नहीं लगेगी तो टिड्ढाणञ्० में कुम्भकार यह अणन्त न बन सकेगा। अणन्त न होने से ङीप् नहीं प्राप्त होगा। उस में तदन्तविधि से ङीप् करने के लिये अनुपसर्जनात् सूत्र की आवश्यकता है तो यह बात भी नहीं बनती। अनुपसर्जनात् सूत्र की फिर भी आवश्यकता नहीं। स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न इस परिभाषा से उपसर्जनभिन्न स्त्रीप्रत्यय में प्रत्ययग्रहण परिभाषोक्त तदादिनियम का निषेध होता है इस लिये कुम्भकार में यदि केवल अणन्त कार से भी ङीप् हो जाय तो भी ढक् प्रत्यय तो कुम्भकारी इस स्त्रीप्रत्ययान्तभिन्न समुदाय से भी हो जायगा। क्योंकि यह उपसर्जनभिन्न स्त्रीप्रत्यय है। उस में तदादिनियम के न होने से स्त्रीप्रत्ययान्त कारी से अतिरिक्त कुम्भ भी ले लिया जायगा तो कुम्भ को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा।

अ अदिति । अकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ ।

यद्येवम् अतियुष्मत् अत्यस्मत् इति न सिध्यति ।

प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम् । अनुपसर्जन अ अ अदिति । अकारान्तात् अकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ ।

में सौत्र षष्ठी का लुक् मानेंगे तो अर्थ होगा अकार और अत्कार ये दोनों कहे हुए अनुपसर्जन अर्थात् उपसर्जनभिन्न को होते हैं। उस से त्यदादीनामः से होने वाला अकार और अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः से होने वाला अद्ड् (अत्) ये दोनों उपसर्जन में नहीं होंगे।

यदि अनुपसर्जन अ अत् ऐसा मान कर उपसर्जनभिन्न को अत् आदेश करेंगे तो अतियुष्मत् अत्यस्मत् में भी अत् आदेश नहीं प्राप्त होगा क्योंकि युष्मान् अस्मान् वा अतिक्रान्तेभ्यः=अतियुष्मत्, अत्यस्मत्। यहां प्रादिसमास में अतिक्रान्त अर्थ की मुख्यता है। युष्मद् अस्मद् का अर्थ उपसर्जन है। गौण है। गौण होने से पञ्चम्या अत् से होने वाला भ्यस् को अत् आदेश न हो सकेगा।

कोई बात नहीं। अनुपसर्जनात् यह प्रश्लिष्ट निर्देश है। इस में अनुपसर्जन अ अ अत् इस प्रकार एक अकार और मान कर अर्थ करेंगे—अकारान्त से परे अ और अत् आदेश उपसर्जनभिन्न को होते हैं। पञ्चम्या अत् से होने वाला अत् आदेश अकारान्त से परे नहीं है किन्तु हलन्त युष्मद् अस्मद् से परे है। इस लिये वहां अनुपसर्जनात् यह निषेध नहीं लगेगा तो वह उपसर्जन में भी हो जायगा। त्यदादीनामः से होने वाला अकार आदेश तो त्यद् में त्य शब्द के अकार से परे विहित है इसी प्रकार अद्ड् आदेश भी कतर आदि अकारान्त शब्दों से परे विधान किया है इस लिये वे दोनों उपसर्जन में नहीं होंगे।[1]

---

१. यदि कहो प्रियौ द्वौ अस्य प्रियद्विः यहां द्वि शब्द के अकारान्त न होने से अनुपसर्जन अ अ अत् यह निषेध न लग सकेगा तो उपसर्जन द्वि शब्द में भी त्यदादीनामः से अत्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार तदोः सः सावनन्त्ययोः से विहित त्यदादियों के तकार दकार को सकार भी अकारान्त से परे नहीं कहा गया है इस लिये वह भी उपसर्जन में प्राप्त होता है तो इस का उत्तर यह है त्यदादीनामः इस अत्व विधान करने वाले सूत्र में जितने त्यदादि हैं वे तो उपसर्जनभिन्न लिये ही जायेंगे उन के साहचर्य से द्वि शब्द भी उपसर्जनभिन्न ही गृहीत होगा। तदोः सः सा० में भी उन्हीं उपसर्जनभिन्न त्यदादियों की अनुवृत्ति होने से उस से विहित सकार भी उपसर्जनभिन्नों में ही होगा। उपसर्जन का यह समाधान केवल त्यदादीनामः और अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः इन दो कार्यो

अथवा अङ्गाधिकारे यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद् भवति।

यद्येवं परमपञ्च परमसप्त। 'षड्भ्यो लुक्' न प्राप्नोति।

नैष दोषः। षट्प्रधान एष समासः।

इह तर्हि प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेन। अनङ् न प्राप्नोति।

अथवा अङ्गस्य के अधिकार में जो कार्य कहा गया है वह गृह्यमाण शब्द की विभक्ति को[1] होता है। गृह्यमाण अर्थात् सूत्र में पठित जो शब्द है उसके अर्थ (=तद्गतसंख्याकर्म आदि) को प्रतिपादित करने वाली विभक्ति में अङ्गाधिकारीय कार्य होगा। अतितत्, अतिकतरम् में त्यदादि डतरादि जो गृह्यमाण हैं उनकी विभक्ति नहीं है अपितु अतिक्रान्तार्थ-विशिष्ट तद् शब्द तथा डतरप्रत्ययान्त कतर शब्द से विहित हुई है। इस लिये यहां अत्व तथा अद्ड् आदेश नहीं होंगे।

यदि अङ्गाधिकार में कहा हुआ कार्य गृह्यमाण की विभक्ति को होता है तो परमपञ्च परमसप्त में षड्भ्यो लुक् से जस् शस् का लुक् नहीं प्राप्त होता। परमाश्च ते पञ्च=परमपञ्च। परमाश्च ते सप्त=परमसप्त। यह कर्मधारय समास हैं। यहां गृह्यमाण षट्संज्ञक पञ्चन् सप्तन् से परे जस् शस् विभक्ति नहीं हुई है बल्कि परमपञ्चन् परमसप्तन् से हुई है। वे गृह्यमाण नहीं हैं।

यह कोई दोष नहीं। परमपञ्च परमसप्त में षट्संज्ञक प्रधान कर्मधारय समास हैं। यहां गृह्यमाण षट्संज्ञक पञ्चन् सप्तन् के अर्थ की ही प्रधानता है। यह षडर्थ प्रधान समुदाय हैं। षट्त्व केवल परमत्वेन विशिष्ट है, अतः विशिष्ट की भी षट्त्व बनी रहेगी, अतः अर्थद्वारा षट्संज्ञा वाले परमपञ्चन् परमसप्तन् शब्दों से भी जस् शस् का लुक् हो जायगा।

अच्छा तो प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेन यहां अस्थिदधिसक्थ्य० से अनङ् नहीं प्राप्त होता। क्योंकि प्रियं सक्थि यस्य इस बहुव्रीहि समास में गृह्यमाण सक्थि शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है। बल्कि अङ्गार्थ विशिष्ट अन्यपदार्थ की प्रधानता है।

के लिये ही बन सकता है। सर्वनाम्नः स्मै आदि सामान्य सर्वादि के लिये विहित कार्य तो उपसर्जन में भी प्राप्त होते हैं। जिससे अतिसर्वाय इत्यादि इष्ट रूप न बन सकेंगे। इस लिये सब का वास्तविक समाधान आगे कहेंगे।

१. गृह्यमाण विभक्तेः यहाँ विभक्तेः यह सम्बन्धमात्र में षष्ठी है, अतः त्यदादीनामः यहाँ विभक्तौ=विभक्ति परे होने पर भी अत्व होता है।

सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते प्रकृतविभक्तौ तद् भवति।

यद्येवम् अतितद् अतितदौ अतितदः। इति अत्वं प्राप्नोति। तच्चापि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। इह तावद् 'डतरादिभ्यः पञ्चभ्य' इति पञ्चमी। अङ्गस्येति षष्ठी। तत्राशक्यं भिन्नविभक्तित्वात् डतरादिभ्य इति पञ्चम्याऽङ्गं विशेषयितुम्। तत्र किमन्यच्छक्यं विशेषयितुमन्यदतो विहितात्प्रत्ययात्। डतरादिभ्यो यो विहित इति। इहेदानीं 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त

अङ्गाधिकार में ही जहां सप्तमी विभक्ति का निर्देश करके कार्य कहा है' वहां वह प्रकृत की विभक्ति में होता है। प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत अधिकृत जो अङ्ग है उस के अर्थ वाली विभक्ति में कार्य होता है। तो प्रियसक्थ्ना में अन्यपदार्थ विशेष्यक-अङ्गार्थ-सम्बन्धिनी टा विभक्ति परे होने पर भी अनङ् हो जायगा। वहां गृह्यमाण सक्थि शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं देखी जायगी।

तब तो अतितत्, अतितदौ, अतितदः यहां अतिक्रान्तार्थ विशिष्ट अङ्ग के अर्थ की प्रधानता में भी त्यदादीनामः से अत्व प्राप्त होता है। क्योंकि यहां भी विभक्तौ यह सप्तमी निर्देश है। और तमतिक्रान्तः=अतितत्। तमतिक्रान्तौ=अतितदौ। तमतिक्रान्ताः=अतितदः। इस प्रादिसमास में प्रकृत अतितद् इस अङ्ग के अर्थ की प्रधानता है। गृह्यमाण तद् शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है। जहां आप अङ्गाधिकार में गृह्यमाण शब्द के अर्थ की प्रधानता में कार्य होता है ऐसा कहेंगे वहां सप्तमी निर्देश में अङ्गार्थ की प्रधानता में भी कार्य होता है यह बात भी कहनी होगी। ये दोनों बातें कहने में बहुत गौरव होगा।

कोई गौरव नहीं होगा। ये दोनों ही बातें नहीं कहेंगे। डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः में डतरादिभ्यः यह पञ्चमी है। और अङ्गस्य के अधिकार से आने वाली अङ्गस्य यह षष्ठी है। दोनों के भिन्न विभक्ति होने से डतरादिभ्यः यह पञ्चमी अङ्ग को विशेषित नहीं कर सकती। अर्थात् अङ्ग का विशेषण नहीं बन सकती। वहां सिवाय इस के कि डतरादिभ्यः इस पञ्चमी को विहित प्रत्यय का विशेषण बनाया जाय और क्या किया जा सकता है। डतरादिभ्यः इस पञ्चमी का अर्थ होगा—डतरादि से विहित जो सु अम् उन को अद्ड् आदेश होता है। अतिक्रतरम् में कतर

---

१. अस्थि दधि० इस सूत्र में अनङ् आदेश पूर्वसूत्र से अनुवृत्त तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु इस सप्तमी निर्देश से हुआ है।

२. तद् शब्द से व्यवहित···गृह्यमाण विभक्तेः इस वचन का परामर्श है अपि शब्द अव्यवहित सप्तमीनिर्देशे···इस वचन का समुच्चायक है।

इति। 'त्यदादीनामो भवती'ति। अस्थ्यादीनामित्येषा षष्ठी। अङ्गस्येत्यपि। त्यदादीनामित्यपि षष्ठी। अङ्गस्येत्यपि। तत्र कामचारः, गृह्यमाणेन वा विभक्तिं विशेषयितुमङ्गेन वा। यावता कामचारः, इह तावदस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त इत्यङ्गेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः। अस्थ्यादिभिरनङ्म्। अङ्गस्य विभक्तावनङ् भवति अस्थ्यादीनामिति। इहेदानीं त्यदादीनामो भवतीति गृह्यमाणेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः। अङ्गनाकारम्। त्यदादीनां विभक्तावो भवति। अङ्गस्येति।

से विहित सु अम् नहीं हैं अपि तु अतिकतर से विहित हैं इस लिये अदड् नहीं होगा।[1]

अस्थि दधि० और त्यदादीनामः इन दोनों में भी देखिये। अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् यह षष्ठी है। अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी षष्ठी है। त्यदादीनाम् यह षष्ठी है अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी षष्ठी है। दोनों के षष्ठ्यन्त होने पर हमारी मर्जी है चाहे हम गृह्यमाण शब्द से विभक्ति को विशेषित करें अर्थात् सूत्र में पठित शब्द से विहित विभक्ति में कार्य करें या प्रकृत अङ्ग से विभक्ति को विशेषित करें। जब मर्जी है तो हम अस्थिदधि० में अङ्ग से विभक्ति को विशेषित करेंगे। अनङ् को अस्थि आदि से विशेषित करेंगे। तब अर्थ होता है—अङ्ग से विहित टादि अजादि विभक्ति परे होने पर अस्थ्यादि शब्दों को अनङ् आदेश होता है। तो प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेन में सक्थि शब्द के गौण होने पर भी सक्थि वाले अङ्ग का अर्थ प्रधान होने से अनङ् हो जायगा। त्यदादीनामः यहां गृह्यमाण शब्द से विभक्ति को विशेषित करेंगे। अङ्ग से अकार को विशेषित करेंगे। तब अर्थ होगा—त्यदादि शब्दों की (उन से विहित) विभक्ति परे होने पर अङ्ग (त्यदादि) को अ अन्तादेश होता है। फलितार्थ होगा—त्यदादि रूप जो अङ्ग उस को विभक्ति परे होने पर अकार होता है। तो अतितत् में तद् रूप अङ्ग न होने से अकार नहीं होगा।[2]

---

१. जहां डतरादि के अर्थ की प्रधानता है वहां डतरादि से विहित ही प्रत्यय माना जायगा तो कतरत् के समान परमकतरत् में भी अदड् हो जायगा। अतिकतरम् में डतर के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस लिये उस से विहित न माना जायगा तो अदड् नहीं होगा। डतरादिभ्यः इस पञ्चमी को विहित विशेषण मानने पर अङ्गस्य यह षष्ठी भी पञ्चमी में परिणत हो जायगी तो अर्थ होगा—अङ्गसंज्ञक डतरादि से विहित सु अम् को अदड् होता है। ऐसा मानने में कहीं दोष न होगा।

२. जहां त्यदादि के अर्थ की प्रधानता है वहां तो त्यदादि रूप ही अङ्ग माना जायगा तो शोभनः सः=अतिसः। न सः=असः। न षट्=अषट्। न कतरत्=अकतरत् इत्यादि में अकारादि हो जायेंगे। इसी बात को आगे शङ्का समाधान सहित कहेंगे।

यद्येवम् अतिसः । अत्वं न प्राप्नोति ।

नैष दोषः । त्यदादिप्रधान एष समासः ।

अथवा नेदं संज्ञाकरणम् । पाठविशेषणमिदम् । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि । संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेते ॥

यद्येवं संज्ञाश्रयं यत् कार्यं तन्न सिध्यति । सर्वनाम्नः स्मै । आमि सर्वनाम्नः सुडिति ।

अन्वर्थग्रहणं तत्र विज्ञास्यते । सर्वेषां यन्नाम तत् सर्वनाम । सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्मै भवति । सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुड् भवति ।

यद्येवं सकलं कृत्स्नं जगदित्यत्रापि प्राप्नोति । एतेषां चापि शब्दानामेकैकस्य स स विषयः । तस्मिंस्तस्मिन् विषये यो यः शब्दो वर्तते तस्य तस्य तस्मिंस्तस्मिन् वर्तमानस्य सर्वनामकार्यं प्राप्नोति ।

यदि त्यदादीनामः सूत्र में गृह्यमाण शब्द त्यद् तद् आदि की विभक्ति परे होने पर अङ्ग त्यद् तद् आदि को अकार अन्तादेश मानते हैं तो शोभनः सः=अति सः यहां अत्व नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहां पूजावाची अति सहित अतितद् शब्द है । वह गृह्यमाण तद् शब्द नहीं है ।

यह कोई दोष नहीं । इस अतितद् में गृह्यमाण तद् शब्द का ही अर्थ प्रधान है । त्यदादिप्रधान समास होने से अत्व हो जायगा ।

अथवा सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मान कर सर्वादि के गणपाठ का विशेषण मान लेंगे । सर्वेषां नाम सर्वनाम । जो सब के नाम हैं वे सर्वादि समझे जायेंगे । संज्ञा और उपसर्जन तो विशेष में अवस्थित होते हैं वे सब के नाम नहीं होते ।

सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मानने पर सर्वनाम्नः स्मै, आमि सर्वनाम्नः सुट् इत्यादि सर्वनामसंज्ञा से विहित कार्य नहीं सिद्ध होंगे ? क्योंकि सर्वनाम को संज्ञा मानने पर ही सर्वनाम संज्ञा के आश्रित कार्य सिद्ध हो सकते हैं ।

सर्वनाम्नः स्मै आदि में सर्वनाम शब्द अन्वर्थ समझा जायगा । जो सब का नाम है वह सर्वनाम है । उस से परे स्मै आदि होते हैं ऐसा अर्थ करेंगे ।

तब तो सकल, कृत्स्न, जगत् इत्यादि शब्द भी सब के नाम होने से सर्वनाम बन जायेंगे । उन से परे भी स्मै आदि प्राप्त होंगे । न केवल उन्हीं से, बल्कि सर्वादि गणपठित शब्दों में भी एक २ का जो २ वह २ विषय है । उस २ विषय में वर्तमान जो २ शब्द हैं उन सब को सर्वनाम मान कर सर्वनाम के कार्य प्राप्त होंगे ।

एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते। पाठश्चैव विशेष्यते संज्ञा च।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्?

लभ्यमित्याह। कथम्। एकशेषनिर्देशात्। एकशेषनिर्देशोऽयम्। सर्वादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि। सर्वनामानि च सर्वनामानि च सर्वनामानि। सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वेषां यानि च नामानि तानि सर्वादीनि। संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेते।

जैसे—सर्वस्मिन् ओदने यहां सर्व शब्द ओदन का विशेषण है। ओदन विशेष्य है। दोनों एक दूसरे से अवगृहीत (क्रोडीकृत) हैं। समानाधिकरण होने से सर्व का विषय ओदन है और ओदन का विषय सर्व है। तो सर्व की तरह ओदन भी सर्व का नाम हो जाता है। इस लिये ओदन में भी सर्वनाम के कार्य प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार घट पटादि सब शब्द जब सर्वादि के अर्थ में वर्तमान होंगे तब उन सबकी सर्वनामता प्राप्त होती है।

अच्छा तो सर्वनाम यह शब्द दोनों काम कर देगा। पाठ और संज्ञा दोनों का विशेषण बनेगा। सर्वादिगण पठित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होंगे और सब के नाम ही सर्वादि लिये जायेंगे।[2]

सर्वनाम इस एक शब्द से ये दोनों बातें कैसे सिद्ध होंगी?

सिद्ध हो जायेंगी। कैसे? सर्वादीनि सर्वनामानि यहां एकशेष का निर्देश मानेंगे। सर्वादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि। सर्वनामानि च सर्वनामानि च सर्वानामानि। इस प्रकार दो सर्वादि और दो सर्वनाम शब्दों में एक सर्वादि और एक सर्वनाम शब्द शेष रह गया है ऐसा समझेंगे।[3] एक सर्वादि शब्द गणपाठ का विशेषण है। दूसरा सर्वनाम संज्ञा का। वे ही सर्वादि हैं जो सर्व विश्व आदि ३५ शब्द गणपाठ में पठित हैं। और उन्हीं की सर्वनाम संज्ञा होती है। इसी प्रकार एक सर्वनाम शब्द अन्वर्थ नाम द्वारा सब के नाम का वाचक है। दूसरा सर्वनाम संज्ञा का। सब के जो नाम हैं वे सर्वादि हैं संज्ञा और उपसर्जन विशेष में अवस्थित रहते हैं इस लिये संज्ञा और उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी।

---

१ एतेषां चापि। यह निर्धारण अर्थ में षष्ठी है। एतद् शब्द सर्वादि का परामर्शक है सकल कृत्स्न आदि का नहीं।

२. अर्थात् जो सर्व विश्व आदि शब्द सब के नाम न होंगे उन का सर्वादियों में अन्तर्भाव न होगा।

३. यद्यपि सहविवक्षा में एकशेष होता है। दो समान अर्थों की एक साथ

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्। अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। सर्वेषां नामानि इति चातः सर्वनामानि। संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेते।

अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः ?

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः।

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः पाठः क्रियते। उभकौ।

किमुच्यतेऽकजर्थ इति। न पुनरन्यान्यपि सर्वनामकार्याणि।

अथवा सर्वनाम यह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की गई है। और संज्ञा जहां तक हो छोटी से छोटी होनी चाहिये। जिस से छोटी और चीज न हो वह संज्ञा है। क्योंकि लाघव के लिये संज्ञा की जाती है। वहां बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन होगा कि वह अन्वर्थ संज्ञा समझी जाय। सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है जो सर्वेषां नाम सर्वनाम इस अर्थ के अनुसार सब का नाम भी होती है। संज्ञा और उपसर्जन विशेष में अवस्थित होने के कारण सब के नाम नहीं होते इस लिये वे सर्वनामसंज्ञक न होंगे।

उभ शब्द की सर्वनामसंज्ञा का क्या प्रयोजन है ?

उभ शब्द की सर्वनामसंज्ञा का अकच् होना प्रयोजन है। उभ शब्द को सर्वादिगण में इस लिये पढ़ा गया है कि उस की सर्वनाम संज्ञा हो कर उभकौ (अज्ञातौ उभौ=उभकौ) यहां अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाय। अन्यथा सामान्य प्रागिवीय क प्रत्यय प्राप्त होता है।

केवल अकच् के लिये ही उभ शब्द का सर्वादि में पाठ क्यों कहते हो ?

बोलने की इच्छा को सहविवक्षा कहते हैं। यहां सर्वादि और सर्वनाम दोनों में भिन्न २ दो अर्थ एक साथ विवक्षित हैं इस लिये सहविवक्षा के अभाव में एकशेष नहीं प्राप्त होता तो भी एकशेष से तात्पर्य तन्त्र या आवृत्ति समझना चाहिये। दो अर्थों के कहने की इच्छा से शब्द का एक बार उच्चारण तन्त्र है। एक ही सर्वादि और सर्वनाम शब्द उक्त दो अर्थों वाला उच्चारण किया हुआ समझा जायगा। या सर्वादि और सर्वनाम शब्द की दो बार आवृत्ति करके उक्त दोनों अर्थ निकाल लिये जायेंगे।

अन्याभावो द्विवचनटाब् विषयत्वात् ।

अन्येषां सर्वनामकार्याणामभावः। किं कारणम् । द्विवचनटाब्-विषयत्वात् । उभशब्दोऽयं द्विवचनटाब्विषयः। अन्यानि च सर्वनाम-कार्याणि एकवचनबहुवचनेषूच्यन्ते ।

यदा पुनरयमुभशब्दो द्विवचनटाब्विषयः, क इदानीमस्यान्यत्र भवति ?

उभयोऽन्यत्र

उभयशब्दोऽस्यान्यत्र भवति। उभये देवमनुष्याः । उभयो मणिरिति ।

और भी तो बहुत से सर्वनामसंज्ञा के कार्य हैं जिन के लिये उभ शब्द का सर्वादि में पाठ कहा जा सकता है ।

सर्वनामसंज्ञा के अन्य कार्यों का उभ शब्द में संभव न होने से अभाव है । स्वभावतः उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होता है । स्त्रीलिङ्ग में होने वाला टाप् भी द्विवचन में ही होगा। और सब सर्वनामसंज्ञा के कार्य एकवचन या बहुवचन में कहे गये हैं । इस लिये उभ शब्द में उन का संभव नहीं ।[1]

जब उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् विषय में ही प्रयुक्त होता है तो अन्य वचनों में इस के स्थान में किस शब्द का प्रयोग होता है ?

अन्य वचनों में उभ शब्द के स्थान में उभय शब्द का प्रयोग होता है ।

---

१. उभादुदात्तो नित्यम् इस तद्धित वृत्ति वाले अयच् विधायक सूत्र में नित्य ग्रहण का यहां प्रयोजन है कि वृत्ति में उभय शब्द का ही प्रयोग हो उभ का न हो। उभ शब्द का प्रयोग तो द्व्यर्थाभिधान सामर्थ्य होने पर वाक्य की स्थिति में ही होगा । वृत्ति में अभेदैकत्व संख्या का भान होने से द्विवचन का अर्थ नहीं निकल सकता अतः वहां उभ शब्द का प्रयोग न हो कर उभय का ही प्रयोग होता है। जैसे—उभाभ्यां स्थानाभ्याम्=उभयतः । उभयोः स्थानयोः=उभयत्र । ये ही रूप बनेंगे । उभतः, उभत्र ये नहीं बनेंगे । ये अशुद्ध हैं । उभौ पुत्रौ यस्य सः=उभयपुत्रः होगा । उभ-पुत्रः नहीं। उभाबाह्वी इत्यादि तो द्विदण्डयादि गण में पठित होने से साधु मान लिये जायेंगे । उभशब्दोऽयम् इस प्रयोग में उभ का निर्देश करने के लिये ही अयच् नहीं हुआ है । अन्यथा उभयशब्दोऽयम् कहने से उभय शब्द की प्रतीति संभव थी।

किं च स्याद् यद्यत्राकच् न स्यात् ?

कः प्रसज्येत ।

कश्चेदानीं काकचोर्विशेषः ।

'उभशब्दोऽयं द्विवचनटाब्विषय' इत्युक्तम् । तत्राकचि सति अकचस्तन्मध्यपतितत्वाच्छक्यते एतद् वक्तुं द्विवचनपरोऽयमिति । के पुनः सति नायं द्विवचनपरः स्यात् । तत्र द्विवचनपरता वक्तव्या ।

यथैव तर्हि के सति नायं द्विवचनपरः । एवमाप्यपि सति नायं द्विवचनपरः स्यात् । तत्रापि द्विवचनपरता वक्तव्या ।

अवचनादापि तत्परविज्ञानम् ।

अन्तरेणापि वचनमापि द्विवचनपरोऽयं भविष्यति ।

उभये देवमनुष्याः । उभयो मणिः[1] इसी प्रकार एतौ उभौ के स्थान में एतद् उभयम् का प्रयोग होगा ।

क्या हो जायगा यदि उभकौ में उभ शब्द से अकच् न हो तो ?

क प्रत्यय प्राप्त होगा ।

क और अकच् में क्या भेद है ?

अभी कहा है कि उभ शब्द का केवल द्विवचन और टाप् ही प्रयोग का विषय है । यदि उभकौ में अकच् होता है तो वह उभ की टि से पूर्व होगा । उभ के भकारोत्तरवर्ती अकार से पूर्व होने से तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इस परिभाषा के अनुसार वह उभ के ग्रहण से गृहीत हो जायगा तो उससे परे औ द्विवचन है यह कहा जा सकता है । क प्रत्यय तो प्रत्ययः परश्च के नियम से उभ से परे होगा । उस के होने पर उभकौ में उभ से परे क प्रत्यय का व्यवधान होने के कारण अव्यवहित द्विवचन न रहेगा । वहां द्विवचनपरता कहनी होगी । उभकौ में उभ से परे व्यवहित द्विवचन के साधुत्व का विधान करना होगा ।

जैसे उभकौ में क प्रत्यय का व्यवधान होने से उभ से परे द्विवचन नहीं रहता वैसे उभे (उभ-टाप्-औ शी) यहां स्त्रीलिङ्ग में टाप् करने पर उसके व्यवधान में भी उभ से परे द्विवचन नहीं रहेगा । वहां भी किसी प्रकार द्विवचन परे बनाना होगा ।

टाप् में तो विना वचन के ही उभ से परे द्विवचन हो जायगा ।

---

1. पीतलोहितावुभाववयवौ यस्य स उभयो मणिः ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

एकादेशे कृते द्विवचनपरोऽयमन्तादिवद्भावेन ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि तुल्यम् ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि अन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति। कथम्। स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति ।

क्या यह बात कहनी होगी ?

नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

उभ शब्द के अकार के साथ टाप् का सवर्णदीर्घ एकादेश होगा तो अन्तादिवत्त्व से टाप् को पूर्व के प्रति अन्तवत् मान कर उभ से सीधा परे द्विवचन हो जायगा । टाप् प्रत्यय स्वार्थ में होने से उभ शब्द के अर्थ में कोई व्यवधान नहीं डालेगा ।

यदि टाप् में द्विवचन परे हो जायगा तो क प्रत्यय में भी यह बात तुल्य है । वहां भी बिना वचन के ही उभ से परे द्विवचन हो जायगा । कैसे ? क प्रत्यय भी स्वार्थिक है । प्रकृति के अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिन्न होते हैं । प्रकृति के ग्रहण से उनका भी ग्रहण हो जाता है । तो उभ के ग्रहण से क प्रत्ययान्त 'उभक' भी गृहीत हो जायगा । तब उससे परे औ यह द्विवचन बन जायगा । ऐसी अवस्था में क और अकच् में कोई भेद नहीं रहता । उसके लिये उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ व्यर्थ है ।[1]

---

१. इस प्रकार भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने उक्त प्रश्न का कोई उत्तर न देते हुए उभ शब्द का सर्वादि गण में पाठ व्यर्थ मान कर उसका खण्डन स्वीकार कर लिया है । बात ठीक भी है । उभकौ में क प्रत्यय करें चाहे अकच् करें दोनों में रूप और स्वर का कोई भेद नहीं । क प्रत्यय में प्रत्ययस्वर से और अकच् में चित्स्वर से उभकौ यह अन्तोदात्त रहेगा । हां, अवग्रह में भेद अवश्य है । क प्रत्यय में उभऽकौ ऐसा अवग्रह होगा । अकच् में उभकौ ऐसा । वहां भी न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः किं तर्हि पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् इस भाष्यकार के वचन से पदपाठकारों के अनुसार अवग्रह नहीं करेंगे । अपितु जैसा अपना शास्त्र कहेगा वैसा अवग्रह होगा । अवग्रह करना हमारे अपने लक्षण के अधीन होगा तो हम क और अकच् में समानता लाने के लिये उभकौ में अवग्रह नहीं करेंगे ।

अथ भवतः सर्वनामत्वे कानि प्रयोजनानि ?

भवतोऽकच्छेषात्वानि ।

भवतोऽकच्छेषात्वानि प्रयोजनानि । अकच् । भवकान् । शेषः—स च भवांश्च भवन्तौ । आत्वम् भवादृगिति ।

किं पुनरिदं परिगणनमाहोस्विदुदाहरणमात्रम् ?

उदाहरणमात्रमित्याह । तृतीयादयोपि दृश्यन्ते । 'सर्वनाम्न स्तृतीया च' । भवता हेतुना । भवतो हेतोरिति ।

भवतु (भवत्) शब्द की सर्वनामसंज्ञा के क्या प्रयोजन हैं ?

भवतु शब्द की सर्वनाम संज्ञा के अकच्, एकशेष और आत्व प्रयोजन हैं ।

अकच् जैसे—अज्ञातो भवान्=भवकान् । यहां अज्ञातादि अर्थ में भवतु के सर्वनाम होने से अव्ययसर्वनाम्नामकच्० से अकच् प्रत्यय हो जाता है ।

एकशेष जैसे—स च भवांश्च=भवन्तौ । यहां भवतु के सर्वादि में पढ़ने से त्यदादि में पाठ हो जायगा तो त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् पर कहे हुए त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत् तच्छिष्यते इस वचन से तद् और भवतु शब्दों में परपठित भवतु शब्द का एकशेष हो जाता है ।

आत्व जैसे—भवानिव दृश्यते भवादृक् । यहां भवतु के सर्वनाम होने से त्यदादिषु दृशोनालोचने कञ् च से क्विन्नन्त भवद्दृश् में आ सर्वनाम्नः से भवत् के तकार को आकार हो जाता है ।

क्या भवतु शब्द के ये सारे प्रयोजन गिना दिये हैं । या कुछ प्रयोजन और भी शेष हैं, ये केवल उदाहरणमात्र हैं ?

ये तो उदाहरणमात्र हैं सर्वनाम्नस्तृतीया च आदि से होने वाली षष्ठी तृतीया आदि विभक्ति भी प्रयोजन दीखते हैं । भवता हेतुना भवतो हेतोः यहां भवतु के सर्वनाम होने से षष्ठी व तृतीया हो जाती हैं ।[1]

उभकाभ्यां हेतुभ्याम्, उभकयोः हेत्वोः यहां षष्ठी तृतीया विभक्ति सर्वनाम संज्ञा के बिना भी निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् इस वचन से सिद्ध हो जायेंगी । इस लिये तदर्थ भी उभ शब्द का सर्वादि में पाठ करना व्यर्थ है ।

१. निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् इस वार्तिक के मानने पर तो उसी से षष्ठी तृतीया विभक्तियों के सिद्ध हो जाने से यह प्रयोजन नहीं रहता । हां, अन्य प्रयोजन अवश्य हैं । जैसे—भवतोऽपत्यं भावतायनिः । यहां भवतु के सर्वादि में पढ़ने से त्यदादि में पाठ हो जायगा तो त्यदादीनि च से वृद्धसंज्ञा हो कर उदीचां

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१।१।२८॥

दिग्ग्रहणं किमर्थम् ?

न बहुव्रीहाविति प्रतिषेधं वक्ष्यति। तत्र न ज्ञायते क्व विभाषा क्व प्रतिषेध इति। दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति। दिगुपदिष्टे विभाषा अन्यत्र प्रतिषेधः।

दिक् शब्द का ग्रहण किस लिये किया है।

आगे न बहुव्रीहौ सूत्र से बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहेंगे। दिग् ग्रहण के अभाव में यह नहीं जाना जायगा कि कौन से बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प है और कौन से में उस का सर्वथा निषेध है। क्योंकि विभाषा समासे बहुव्रीहौ इतना सूत्र होने पर सभी बहुव्रीहि समासों में विकल्प प्राप्त होगा। न बहुव्रीहौ से भी सभी बहुव्रीहि में निषेध प्राप्त होगा[1]। दिग् ग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहेगा। दिक् ग्रहण से दोनों का विषयविभाग स्पष्ट हो जायगा कि दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि में विकल्प होता है। उस से भिन्न बहुव्रीहि में निषेध होता है। जिस में दिक् शब्द का उपदेश है वह दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि है। जैसे— दिङ्नामान्यन्तराले। दिक् समास वाले इसी बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प करने के लिये दिक् शब्द का ग्रहण किया है।

वृद्धादगोत्रात् से अपत्य अर्थ में फिञ् हो जाता है। भवन्तमञ्चति भवद्र्यङ्। यहां भवतु के सर्वनाम होने से विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये से भवत् की टि को अद्रि आदेश सिद्ध हो जाता है। भवतो विकारः भवन्मयः। यहां त्यदादीनि च से वृद्धसंज्ञा हो कर नित्यं वृद्धशरादिभ्यः से मयट् हो जाता है। भवान् मित्रं यस्य स भवन्मित्रः। यहां भवतु के सर्वनाम होने से बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् इस वार्तिक से भवतु का पूर्वनिपात हो जाता है। भवत इदं भावत्कम्। भवदीयम्। यहां भवतु की त्यदादीनि च से वृद्धसंज्ञा हो कर भवतष्ठक्छसौ से ठक्, छस् हो जाते हैं। आकडारीय सूत्र के भाष्य में सकलप्रातिपदिक विषयक गुणवचनसंज्ञा से परे सर्वनाम संज्ञा पढ़ी गई है। वह पर होने के कारण गुणवचन संज्ञा को बाध लेती है। भवतु के सर्वनामसंज्ञक होने से गुणवचनसंज्ञा की बाधा हो जायगी तो भवतो भावः इस अर्थ में गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च से प्राप्त ष्यञ् का अभाव सिद्ध हो जाता है। उससे भावत्यम् यह रूप न बन कर भवत्त्वम्, भवत्ता ये इष्ट रूप बन जाते हैं।

१. एक ही विषय में विकल्प और प्रतिषेध हो नहीं सकते। यदि पर होने

अथ समासग्रहणं किमर्थम् ?

समास एव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्, बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूदिति। दक्षिणदक्षिणस्यै देहि।

अथ बहुव्रीहिग्रहणं किमर्थम् ?

द्वन्द्वे मा भूत्। दक्षिणोत्तरपूर्वाणामिति।

समासग्रहण किस लिये किया है।

समास संज्ञक (मुख्य) जो बहुव्रीहि है वहीं सर्वनाम संज्ञा का विकल्प हो, बहुव्रीहिवद्भाव से बहुव्रीहि माने हुए बहुव्रीहि में विकल्प न हो इस लिये समास ग्रहण किया है। जैसे दक्षिणदक्षिणस्यै देहि। यहां स्त्रीलिङ्ग दक्षिणा शब्द को आवाधे च से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है। बहुव्रीहिवत् मानने से स्त्रियाः पुंवत्० से पुंवत् हो कर दक्षिणदक्षिणा बनता है। इस में बहुव्रीहि समास न होने से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न होगा तो सर्वादीनि सर्वनामानि से सामान्यप्राप्त सर्वनामसंज्ञा रह जायगी। उस से चतुर्थी के एकवचन में स्याट् आगम हो कर इष्ट रूप बन जाता है।

बहुव्रीहिग्रहण किस लिये किया है ?

द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न हो इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण किया है। जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्। दक्षिणा च उत्तरा च पूर्वा च=दक्षिणोत्तरपूर्वाः। तासां दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्। यहां द्वन्द्व समास में दक्षिणा उत्तरा शब्दों को सर्वनाम्नो वृत्ति मात्रे पुंवद्भावः इस वचन से पुंवत् हो कर दक्षिणोत्तरपूर्वा यह शब्द बनता है।[1] बहुव्रीहि न होने से विकल्प न होगा तो द्वन्द्वे च से नित्य सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो कर आमि सर्वनाम्नः सुट् से सुट् नहीं होता।

से प्रतिषेध प्रवृत्त होगा तो विकल्प विधान व्यर्थ हो जायगा। यदि पूर्वविप्रतिषेध से विकल्प की प्रवृत्ति होगी तो प्रतिषेध विधि व्यर्थ हो जायगी, कारण कि विकल्प से तदर्थ की सिद्धि हो जायगी।

१. द्वन्द्वे च यह सूत्र निष्पन्न द्वन्द्व समास में ही सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा का निषेध करता है। निष्पद्यमान द्वन्द्व समास के घटक अवयवों की सर्वनामसंज्ञा का निषेध नहीं करता इस लिये दक्षिणोत्तरपूर्वा शब्द के घटक अवयव दक्षिणा उत्तरा शब्दों के सर्वनाम होने से उन को पुंवत् होने में कोई बाधा नहीं है।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। द्वन्द्वे चेति प्रतिषेधो भविष्यति।

नाप्राप्ते प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते सा यथैव न बहुव्रीहा-वित्येतं प्रतिषेधं बाधते एवं द्वन्द्वे चेत्येतमपि बाधेत।

न बाधेत। किं कारणम्। येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति। न चाप्राप्ते न बहुव्रीहावित्येतस्मिन् प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते। द्वन्द्वे चेत्येतस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च। अथवा 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानित्ये' वमियं विभाषा न बहुव्रीहावि-

---

यह कोई प्रयोजन नहीं। दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में इस विकल्प को बाध कर द्वन्द्वे च से नित्य निषेध हो जायगा।

निषेध की अवश्य प्राप्ति में यह विकल्प कहा गया है। वह जैसे न बहुव्रीहौ इस निषेध को बाधता है वैसे बाध्यसामान्य चिन्ता पक्ष को ले कर द्वन्द्वे च इस निषेध को भी बाध लेगा। न प्राप्त=अप्राप्त। न अप्राप्त=नाप्राप्त। अर्थात् अवश्यमेव प्राप्त।

नहीं बाध सकता। क्योंकि येन नाप्राप्त न्याय से बाधा होगी। येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति यह परिभाषा पहले दीधीवेवीटाम् आदि सूत्रों के भाष्य में भी आ चुकी है। उस से जिस की अवश्य प्राप्ति में इस सूत्र का आरम्भ है उसी निषेध को यह बाधेगा। जिस की किसी अंश में प्राप्ति किसी में अप्राप्ति होने से निश्चित अवश्य प्राप्ति नहीं है उसे नहीं बाधेगा। न बहुव्रीहौ की तो निश्चित अवश्य प्राप्ति है। क्योंकि उस निषेध का कहीं विकल्प नहीं है। वह सारे दिग्बहुव्रीहि को व्याप्त करता है। द्वन्द्वे च यह निषेध तो सारे दिग्द्वन्द्व को व्याप्त नहीं करता क्योंकि विभाषा जसि द्वारा जस् अंश में विकल्प कहा गया है। इस लिये वह अवश्य प्राप्त नहीं है। किं च, यदि यह सूत्र द्वन्द्वे च निषेध को बाध कर उस में विकल्प करे तो जस् अंश में यह विभाषा जसि विभाषा का अनुवादमात्र रह जायगी (यह दोष भी होगा) अतः दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इस द्वन्द्व में यह विकल्प न हो कर द्वन्द्वे च सूत्र से नित्य सर्वनाम संज्ञा का निषेध ही होगा तो बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इस परिभाषा से यह सूत्र अपने से अनन्तर अव्यवहित आने वाले न बहुव्रीहौ इस निषेध को ही बाधेगा। व्यवहित हो कर बाद में आने वाले द्वन्द्वे च इस निषेध को नहीं बाधेगा। परिभाषा का अर्थ है—सूत्र पाठ में पहले पढ़े हुए अपवादसूत्र अपने से अनन्तर आने वाली विधि को ही बाधते हैं।

त्येतं प्रतिषेधं बाधिष्यते, द्वन्द्वे चेत्येतं प्रतिषेधं न बाधिष्यते। अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः, इह कस्मान्न भवति या पूर्वा सोत्तरा अस्योन्मुग्धस्य सोऽयं पूर्वोत्तर उन्मुग्धः। तस्मै पूर्वोत्तराय देहीति। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति'। यद्येवं नार्थो बहुव्रीहिग्रहणेन। द्वन्द्वे कस्मान्न भवति। लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिदोक्तस्यैवेति।

उत्तरार्थं तर्हि बहुव्रीहिग्रहणं कर्तव्यम्।

न कर्तव्यम्। क्रियते तत्रैव न बहुव्रीहाविति।

द्वितीयं कर्तव्यम्। बहुव्रीहिरेव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्,

---

व्यवहित होकर बाद में आने वाली विधि को नहीं बाधते[1] अथवा—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् यहां द्वन्द्व में इस विकल्प की प्राप्ति की शङ्का करने वाले इस व्यक्ति से यह पूछना चाहिये कि—या पूर्वा सा उत्तरा अस्य उन्मुग्धस्य स पूर्वोत्तरः उन्मुग्धः। तस्मै पूर्वोत्तराय देहि। यहां पूर्वोत्तर इस दिक्समास बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का विकल्प क्यों नहीं होता तो वह यही उत्तर देगा कि इस सूत्र में प्रतिपदोक्त दिङ्नामान्यन्तराले सूत्र वाला दिक् समास बहुव्रीहि लिया गया है। पूर्वोत्तर में दिक् समास लाक्षणिक है। प्रतिपदोक्त दिङ्नामान्यन्तराले से विहित बहुव्रीहि नहीं है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं भवति इस परिभाषा के अनुसार प्रतिपदोक्त के ग्रहण में लाक्षणिक का ग्रहण नहीं होगा तो यहां लाक्षणिक होने से यह विकल्प नहीं होता है तो उसी परिभाषा के अनुसार दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में भी विकल्प नहीं होगा। इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में लाक्षणिक दिक्समास द्वन्द्व है। प्रतिपदविहित दिङ्नामान्यन्तराले वाला बहुव्रीहि समास नहीं है।

अच्छा तो न बहुव्रीहौ इस उत्तर सूत्र के लिये यहां बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये।

कोई आवश्यकता नहीं। वहां न बहुव्रीहौ में बहुव्रीहिग्रहण कर ही रखा है।

दूसरा बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये। जिस से समास जो बहुव्रीहि है अर्थात् जो मुख्य बहुव्रीहि है, वहीं सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो। बहुव्रीहिवत् मान कर जो बहुव्रीहि है वहां सर्वनाम संज्ञा का निषेध न होवे। जैसे—एकैकस्मै देहि।

---

१. अनन्तर विधि को बाधने में चरितार्थ हो जाने से क्षीणशक्ति हो जाते हैं उत्तर विधियों को नहीं बाधते।

बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूत्। एकैकस्मै देहि।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। समास इति वर्तते तेन बहुव्रीहिं विशेषयिष्यामः। समासो यो बहुव्रीहिरिति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। अवयवभूतस्यापि बहुव्रीहेः प्रतिषेधो यथा स्यात्। इह मा भूत्। वस्त्रमन्तरमेषां त इमे वस्त्रान्तराः। वसनमन्तरमेषां त इमे वसनान्तराः। वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः।

यहां एक शब्द को एकं बहुव्रीहिवत् से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है। बहुव्रीहिवत् मानने से सुप् का लुक् हो जाता है। इस में बहुव्रीहि समास नहीं है इस लिये न बहुव्रीहौ से निषेध न होगा तो सर्वनाम्नः स्मै से ङे को स्मैं हो जाता है।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। इस सूत्र से वहां समास की अनुवृत्ति चली जायगी। उस सें बहुव्रीहि का सम्बन्ध हो कर बहुव्रीहि समास ही समझा जायगा।

अच्छा तो फिर इस बहुव्रीहिग्रहण का उत्तर सूत्र में ही वह प्रयोजन है कि अवयवभूत बहुव्रीहि को भी बहुव्रीहि मान कर उसमें न बहुव्रीहौ से सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जावे। अर्थात् बहुव्रीहि समासमात्र में चाहे वह स्वतन्त्र बहुव्रीहि हो या किसी अन्य समास का अवयव हो सब में सर्वनाम संज्ञा का निषेध होवे। जैसे—वस्त्रमन्तरमेषां ते वस्त्रान्तराः। वसनमन्तरमेषां ते वसनान्तराः। वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः। यहां बहुव्रीहिगर्भ द्वन्द्वसमास में द्वन्द्व की मुख्यता है। बहुव्रीहि उसका अवयव है। तो भी बहुव्रीह्याश्रित सर्वनामसंज्ञा का नित्य निषेध हो जाने से जसः शी से शीभाव नहीं हुआ। अनुवृत्त बहुव्रीहिग्रहण के सामर्थ्य से द्वन्द्व में प्राप्त विभाषा जसि की भी बाधा हो गई।[2]

---

१. वसन शब्द का यहां गृह अर्थ है, अन्तर शब्द का बाह्य अर्थ है।

२. उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा का निषेध वार्तिककार ने कहा है। सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने ऐसा वचन स्वयं नहीं कहा है। इसी लिये उन्होंने न बहुव्रीहौ सूत्र का आरम्भ किया है। अन्यथा बहुव्रीहि समास में सर्वादि के उपसर्जन होने के कारण उसी वचन से सर्वनामसंज्ञा न होती और वस्त्रान्तरवसनान्तराः में भी उसी वचन से निषेध सिद्ध था। यहां उस वचन को न मानते हुए ही बहुव्रीहिग्रहण का उक्त प्रयोजन बताया गया है।

न बहुव्रीहौ ॥१।१।२९॥

किमुदाहरणम् ?

प्रियविश्वाय ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । सर्वाद्यन्तस्य बहुव्रीहेः प्रतिषेधेन भवितव्यम् । वक्ष्यति चैतद्—'बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानमि'ति । तत्र विश्वप्रियाय इति भवितव्यम् ।

इदं तर्हि द्व्यन्याय । त्र्यन्याय ।

ननु चात्रापि सर्वनाम्न एव पूर्वनिपातेन भवितव्यम् ।

नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत्-'संख्यासर्वनाम्नोर्यो बहुव्रीहिः परत्वात् तत्र संख्यायाः पूर्वनिपातो भवतीति' इदं चाप्युदाहरणं प्रियविश्वाय ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

प्रियविश्वाय । प्रियं विश्वं यस्य स प्रियविश्वः तस्मै प्रियविश्वाय[1] । यहां बहुव्रीहिसमास में विश्वशब्द की सर्वनाम संज्ञा का इस सूत्र से निषेध हो गया तो ङे को स्मै नहीं हुआ ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । जिस बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्द अन्त में होंगे वहां यह निषेध लगेगा । प्रियविश्वाय इस बहुव्रीहि में विश्व शब्द अन्त में नहीं आ सकता । क्योंकि आगे समास प्रकरण में बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् यह वार्तिक कहेंगे । उससे बहुव्रीहि में सर्वनाम का पूर्वनिपात हो कर विश्वप्रियाय रूप बनेगा । प्रियविश्वाय नहीं ।

अच्छा यह उदाहरण लीजिये—द्व्यन्याय, त्र्यन्याय । द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्यः । तस्मै द्व्यन्याय । त्रयो अन्ये यस्य स त्र्यन्यः तस्मै त्र्यन्याय । यहां बहुव्रीहि में अन्य शब्द अन्त में होने से सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो गया तो स्मै न हुआ ।

द्व्यन्याय, त्र्यन्याय में भी उक्त वार्तिक से सर्वनामसंज्ञक अन्य शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिये ।

यहां यह दोष नहीं होगा । उक्त वार्तिक से आगे दूसरा वार्तिक कहेंगे—संख्यासर्वनाम्नोर्यो बहुव्रीहिः परत्वात् तत्र संख्यायाः पूर्वनिपातो भवतीति । उस का अर्थ है—संख्या और सर्वनाम वाले बहुव्रीहि समास में संख्या और सर्वनाम दोनों की प्रतिस्पर्धा में सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् इस वचन में संख्या के पर होने से सर्वनाम को बाध कर संख्या का ही पूर्वनिपात होगा, सर्वनाम का नहीं । उस से

---

१. प्रिय शब्द को विशेषण मान कर सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ से प्रिय शब्द का पूर्व निपात हुआ है ।

ननु चोक्तं विश्वप्रियायेति भवितव्यमिति । वक्ष्यत्येतत् 'वा प्रिय-स्येति' । न खल्वप्यवश्यं सर्वाद्यन्तस्यैव बहुव्रीहेः प्रतिषेधेन भवितव्यम् । किं तर्हि । असर्वाद्यन्तस्यापि भवितव्यम् । किं प्रयोजनम् । अकज् मा भूदिति ।

किं च स्याद् यद्यत्राकच् स्यात् ।

को न स्यात् ।

कश्चेदानीं काकचोर्विशेषः ?

व्यञ्जनान्तेषु विशेषः । अहकं पिता यस्य मकत्पितृकः । त्वकं

संख्या संज्ञक द्वि और सर्वनामसंज्ञक अन्य शब्द में संख्यासंज्ञक द्वि का ही पूर्वनिपात होने से अन्य शब्द अन्त में मिल जायगा । वैसे प्रियविश्वाय उदाहरण भी ठीक है । यह जो कहा कि विश्वप्रियाय होना चाहिये वह ठीक नहीं । क्योंकि वहीं वा प्रियस्य पूर्वनिपातो भवति यह वार्तिक भी पढ़ा है । उस से प्रिय शब्द को पक्ष में पूर्वनिपात हो कर प्रियविश्वाय बन जायगा । इस के साथ यह भी कोई आवश्यक नहीं कि जिस बहुव्रीहि में सर्वादि अन्त में हों वहीं यह निषेध लगे । सर्वादि के अन्त में न होने पर भी बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञा का यह निषेध करता है । क्या प्रयोजन है ? अज्ञात आदि अर्थ में अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः से प्राप्त अकच् न हो जावे ।

क्या हो जायगा यदि विश्वप्रियाय, द्वयन्याय आदि में अकच् हो जाय तो ?

सामान्य प्राप्त प्रागिवीय क प्रत्यय न हो सकेगा ।

क और अकच् में यहां क्या भेद है ? क्योंकि क या अकच् होने पर विश्वप्रियकाय, द्वयन्यकाय यही रूप होंगे ।

यहां विश्वप्रियाय आदि अजन्तों में तो भेद नहीं, पर हलन्तों में भेद है । जैसे अहकं पिता यस्य, त्वकं पिता यस्य इस लौकिक विग्रह वाक्य वाले बहुव्रीहि समास में अहकम् त्वकम् ये हलन्त युष्मद् अस्मद् शब्दों के अकच् प्रत्ययान्त प्रथमा एकवचन के रूप हैं । इन का अलौकिक विग्रह अकच् होने पर अस्मकद्-सु पितृ सु, युष्मकद्-सु पितृ सु ऐसा होता है । और क होने पर अस्मत्क-सु पितृ सु, युष्मत्क-सु पितृ सु ऐसा । यह भेद स्पष्ट है । बहुव्रीहि समास होने से पूर्व तो युष्मद् अस्मद् के सर्वनाम होने से निश्चित अकच् ही होगा । जैसा कि अहकम् त्वकम् में हो रहा है । किन्तु बहुव्रीहि समासार्थ अलौकिक विग्रह वाक्य में यदि सर्वनामसंज्ञा

पिता यस्य त्वकत्पितृक इति प्राप्नोति। मत्कपितृकः, त्वत्कपितृक इति चेष्यते।

कथं पुनरिच्छतापि भवता बहिरङ्गेण प्रतिषेधेनान्तरङ्गो विधिः शक्यो बाधितुम्।

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो विधिर्बाधते गोमत्प्रिय इति यथा।

क्रियते तत्र यत्नः प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति।

का निषेध नहीं होता है तो अकच् होगा। निषेध होने पर क होगा। पितृ शब्द के साथ समास में युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व म आदेश, समासान्त कप् प्रत्यय और विभक्ति का लुक् हो जाता है। अकच् पक्ष में मकत्पितृकः, त्वकत्पितृकः प्राप्त होता है। क पक्ष में मत्कपितृकः, त्वत्कपितृकः ऐसा। इन दोनों में हमें क वाला रूप इष्ट है इस लिये इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का निषेध करना आवश्यक है।[1]

युष्मद्-सु पितृ सु, अस्मद्-सु पितृ सु इस अवस्था में अन्तरङ्ग प्राप्त अकच् को आप चाहते हुए भी न बहुव्रीहौ इस बहिरङ्ग निषेध से कैसे रोक सकेंगे।

अन्तरङ्ग विधियों को भी बहिरङ्ग विधि बाध लिया करती है। जैसे—गोमत्प्रियः। गोमान् प्रियो यस्य। यहां गोमत् सु प्रिय सु इस अवस्था में अन्तरङ्ग प्राप्त हलङ्यादि लोप को बहिरङ्ग सुपो धातुप्रातिपदिकयोः यह सुप् का लुक् बाध लेता है।[2] परिभाषा भी है—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते इति।

यहां तो प्रत्ययोत्तरपदयोश्च यह विशेष यत्न किया है। इस लिये बहिरङ्ग लुक् अन्तरङ्ग लोप को बाध लेता है। अन्यथा त्वन्नाथः मन्नाथः यहां तव नाथः, मम नाथः इस षष्ठीसमास में युष्मद् ङस् नाथ सु, अस्मद् ङस् नाथ सु इस अवस्था में सुपो धातु० इस सुब्लुक् की अपेक्षा त्व म आदेशों के अन्तरङ्ग होने से ङस् के लुक् से पहले प्रत्यय परे मान कर त्व म आदेश हो जायेंगे तो प्रत्यय इस अंश से ही सिद्ध हो

---

१. न केवल व्यञ्जनान्तों में ही क और अकच् का भेद है अपि तु द्विकपुत्रः, द्वकिपुत्रः यहां अजन्त द्वि शब्द के प्रयोग में भी क और अकच् का स्पष्ट भेद है। अकच् होने पर द्वकिपुत्रः होगा। क होने पर द्विकपुत्र बनेगा। अकच् टि से पूर्व होता है। क प्रातिपदिक से परे होता है।

२. लुक् होने से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध होने से यहां नुम् और दीर्घ नहीं होते।

ननु चेहापि क्रियते न बहुव्रीहाविति।

अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। प्रियविश्वाय।

उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्। अयं खल्वपि बहुव्रीहि-रस्त्येव प्राथमकल्पिकः, यस्मिन्नैकपद्यमैकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वं च। अस्ति तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। बहुव्रीह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति।

जाने पर उत्तरपदग्रहण व्यर्थ है। वह व्यर्थ हो कर इस बात का ज्ञापक है कि बहिरङ्ग होता हुआ भी सुप् का लुक् अन्तरङ्ग कार्य को बाध कर पहले हो जाता है। पहले सुब्लुक् हो जाने पर प्रत्यय परे नहीं होगा तो त्व म आदेश नहीं हो सकेंगे। उन्हें करने के लिये उत्तरपद ग्रहण चरितार्थ होता है।

यहां भी न बहुव्रीहौ यह यत्न किया है। इस यत्न से अन्तर अकच् की बाधा हो जायगी।

न बहुव्रीहौ के बनाने का तो और प्रयोजन है। क्या? प्रियविश्वाय यहां सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो कर स्मै न होना। क्योंकि प्रिय विश्व शब्द के बहुव्रीहि बन जाने पर ही इधर से स्मै और उधर से सर्वनामसंज्ञा का निषेध दोनों समान-समय में प्राप्त होते हैं। इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जाने से स्मै न होगा।

यह प्रयोजन तो उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा के निषेध से भी गतार्थ है। प्रियविश्वाय में विश्व शब्द उपसर्जन है। संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः इस वचन से उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी तो स्मै न होगा। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि बहुव्रीहि भी दो प्रकार का है। एक तो प्राथमकल्पिक। प्रथमकल्पे भवः= प्राथमकल्पिकः। अर्थात् असली समासरूप जिसका एकार्थीभाव नाम है। जिसमें एक पद एक स्वर और एक विभक्ति होती है। और दूसरा उस असली बहुव्रीहि के लिये बनाया गया अलौकिक प्रक्रियावाक्य भी बहुव्रीहि है। वह भी बहुव्रीह्यर्थ होने से बहुव्रीहि शब्द से व्यवहृत होता है। यहां समासरूप बहुव्रीहि के लिये बनाये गये अलौकिक प्रक्रियावाक्य को भी बहुव्रीहि माना गया है[1]। उस अवस्था में बहुव्रीहि बनने से पूर्व युष्मद् सु पितृ सु, अस्मद् सु पितृ सु इस अलौकिक वाक्य में ही युष्मद् अस्मद् की सर्वनाम संज्ञा का इस सूत्र से निषेध हो

---

१. न बहुव्रीहौ सूत्र में बहुव्रीहौ यह सप्तमी निर्देश भी यह सूचित करता है कि बहुव्रीहि समास में अलौकिक विग्रहवाक्य में जो सर्वादि हैं उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अन्यथा न बहुव्रीहिः ऐसा प्रथमान्त ही निर्दिष्ट कर देते।

तद्यत् तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम् ।

गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ । त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति ।

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानम् ।

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः । आढ्यपूर्वाय देहीति ।

जायगा तो अकच् न हो कर स्वार्थिक क के साथ त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः ये इष्ट रूप बन जायेंगे ।

फिर भी भाष्यकार तो युष्मद् सु पितृ सु, अस्मद् सु पितृ सु इस अवस्था में अकच् और स्वर को ही अधिक अन्तरङ्ग समझते हुए त्वकत्पितृकः मकत्पितृकः अकच् वाला रूप ही अभीष्ट मानते हैं । वे कहते हैं कि अव्ययसर्वनाम्नामकच्० से होने वाला अकच् प्रत्यय और स्वाङ्गशिटामदन्तानाम् से सर्वनाम को होने वाला आद्युदात्तस्वर ये दोनों कार्य अन्तरङ्ग हैं इस लिये मुक्तसंशय हो कर पहले कर देने चाहियें ।[1]

भूतपूर्व अर्थ वाले पूर्वाद्यन्त आढ्यपूर्व आदि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः । तस्मै आढ्यपूर्वाय देहि । यहां पूर्व शब्द की सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है ।

---

१. इस प्रकार भाष्यकार की दृष्टि से इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है । क्योंकि प्रियविश्वाय आदि में स्मै आदि तो उपसर्जन होने से न होंगे । रहा अकच्, यह इष्ट है ही । फिर इस सूत्र की क्या आवश्यकता है । एक दृष्टि से देखा जाय तो भाष्यकार का मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है । जब अहकं पिता यस्य, त्वकं पिता यस्य इस लौकिक विग्रह वाक्य में अहकम्, त्वकम् यह अकच् सहित का ही प्रयोग है क सहित का नहीं, क्योंकि बहुव्रीहि होने से पूर्व युष्मद् अस्मद् की सर्वनामता अव्याहत है । वहां अकच् ही होगा, क नहीं । तो फिर बहुव्रीहि होने पर भी पहले वाक्यावस्था में किया हुआ अकच् क्यों हटे । उसके हटने का कोई बलवान् हेतु नहीं है । इस लिये त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः यही रूप इष्ट मानने चाहियें । क प्रत्यय वाले त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः ये नहीं मानने चाहियें ऐसा महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि जी को अभिमत है । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् के अनुसार पूर्ववर्ती सूत्रकार के मत से उत्तरवर्ती भाष्यकार का मत ही प्रमाण होना चाहिये ।

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानानर्थक्यं पूर्वादीनां व्यवस्थायामिति वचनात्

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानमनर्थकम्। किं कारणम्। पूर्वादीनां व्यवस्थायामिति वचनात्। पूर्वादीनां व्यवस्थायां सर्वनामसंज्ञोच्यते। न चात्र व्यवस्था गम्यते।

तृतीयासमासे ॥१।१।३०॥

समास इति वर्तमाने पुनः समासग्रहणं किमर्थम्?

अयं तृतीयासमासोऽस्त्येव प्राथमकल्पिकः। यस्मिन्नैकपद्यमैकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वं चेति। अस्ति च तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्। तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति। तद्यत् तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम्। अथवा—समास इति वर्तमाने पुनः समास-

---

भूतपूर्वार्थक पूर्वाद्यन्त आढ्यपूर्व आदि की सर्वनामसंज्ञा के निषेध की आवश्यकता नहीं। क्योंकि पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि० गणसूत्र में व्यवस्थावाची पूर्व शब्द की सर्वनामसंज्ञा कही है। आढ्यपूर्व में पूर्व शब्द व्यवस्था का बोधक नहीं है। जो पहले आढ्य रहा है इस अर्थ में पूर्व शब्द आढ्यत्व का विशेषण है। स्वतन्त्ररूप से दिक् देश काल की अपेक्षा से अवधि का नियम यहां नहीं है। जैसे पूर्वमतिक्रान्तः=अतिपूर्वः, पूर्वभूतः भूतपूर्वः यहां पूर्व शब्द अतिक्रान्त अर्थ का या क्रिया का विशेषण होने से सर्वनामसंज्ञक नहीं होता वैसे आढ्यपूर्व में भी पूर्व शब्द का अपना स्वतन्त्र विशेष्यरूप अर्थ न होने से उसकी सर्वनामसंज्ञा नहीं होगी।

विभाषा दिक्समासे० से समास की अनुवृत्ति आने पर फिर यहां समासग्रहण किस लिये किया है।

यह तृतीयासमास दो प्रकार का है। एक तो प्राथमकल्पिक अर्थात् वास्तविक एकार्थीभाव रूप जिस में एक पद एक स्वर और एक विभक्ति होती है। और दूसरा वह जो असली तृतीयासमास के लिये प्रयोगार्ह लौकिक विग्रहवाक्य बनाया जाता है वह भी तृतीयासमासार्थ होने से तृतीयसमास शब्द से व्यवहृत होता है। जो तृतीयासमास के लिये लौकिक पदों का विग्रहवाक्य बनाया जाता है उसे भी यहां तृतीयासमास समझ लिया जाय इस लिये समास ग्रहण किया है। जैसे—मासेन पूर्वः=मासपूर्वः। यहां मासपूर्वः यह असली मुख्य एकार्थीभाव रूप तृतीयासमास है। उस के लिये बनाया गया मासेन पूर्वः यह लौकिक विग्रहवाक्य भी तृतीयासमास हो जायगा तो मासपूर्वाय की तरह मासेन पूर्वाय में

ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्। योगाङ्गं यथा विज्ञायेत। सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते। तृतीया। तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। मासपूर्वाय देहि। संवत्सरपूर्वाय देहीति। ततोऽसमासे। असमासे च तृतीयायाः सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। मासेन पूर्वाय देहि। संवत्सरेण पूर्वाय देहीति।

विभाषा जसि ॥१।१।३२॥

जसः कार्यं प्रति विभाषा। अकज् हि न भवति। 'द्वन्द्वे चेति' प्रतिषेधात्।

भी सर्वनामसंज्ञा न होगी। सर्वनामसंज्ञा न होने से स्मै न होगा। अथवा—समास की अनुवृत्ति आने पर फिर समासग्रहण का यह प्रयोजन है जिस से वह (=सूत्रोपात्त समास शब्द) योगाङ्ग बन जावे। अर्थात् अष्टाध्यायी का योग (=सूत्र) रूप अङ्ग बन जाय। योगाङ्ग बन जाने पर योगविभाग किया जा सकेगा। तृतीयासमासे इस एक सूत्र में प्रश्लिष्ट निर्देश मान कर तृतीया और असमासे ये दो सूत्र बन जायेंगे। तृतीया इस सूत्र के साथ अनुवृत्त समासे यह शब्द जोड़ कर अर्थ होगा मुख्य तृतीया समास में सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। जैसे—मासपूर्वाय देहि। संवत्सरपूर्वाय देहि। यहां पूर्वसदृश समोनार्थ कलह निपुण० सूत्र से विहित प्रतिपदोक्त तृतीयातत्पुरुष समास लिया गया है। उस समास में सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई तो स्मै नहीं हुआ। उसके बाद असमासे इस दूसरे सूत्र का अर्थ होगा—असमास अर्थात् तृतीयासमासार्थ वाक्य में भी तृतीयान्त से परे आये हुए सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। जैसे—मासेन पूर्वाय देहि। संवत्सरेण पूर्वाय देहि। यहां लौकिक विग्रह वाक्य में पूर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा न होने से स्मै नहीं हुआ।

जस् का कार्य जो जसः शी से शीभाव है उस के करने में ही द्वन्द्व समास में सर्वादि की सर्वनामसंज्ञा का विकल्प है। अकच् आदि अन्य कार्यों के करने में विकल्प नहीं है। यहां तो द्वन्द्वे च से नित्य निषेध रहेगा। उस से वर्णाश्रमेतरे, वर्णाश्रमेतराः (वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे च) यहां द्वन्द्व समास में जस् को शी तो विकल्प से हो गया किंतु अकच् के प्रति सर्वनामसंज्ञा का सर्वथा निषेध होने से अकच् नहीं हुआ।[2]

---

१. असमासे यहां पर्युदास में नञ् समझना चाहिये, जिससे तत्सदृशतद्भिन्न की प्रतीति हो। तृतीयासमासार्थ वाक्य तृतीयासमास से भिन्न भी है और उसके सदृश भी है।

२. वस्तुतः विभाषा जसि यहां जसि इस निर्देश से ही उक्त बात समझा दी

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥१।१।३४॥

अवरादीनां च पुनः सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यं गणे पठितत्वात् ।

अवरादीनां च पुनः सूत्रपाठे ग्रहणमनर्थकम् । किं कारणम् । गणे पठितत्वात् । गणे ह्येतानि पठ्यन्ते ।

कथं पुनर्ज्ञायते स पूर्वः पाठः । अयं पुनः पाठ इति ।

तानि हि पूर्वादीनि । इमान्यवरादीनि ।

इमान्यपि पूर्वादीनि ।

पूर्व पर अवर आदि नौ शब्दों का फिर यहां अष्टाध्यायीसूत्रपाठ में पढ़ना व्यर्थ है । क्योंकि ये सब गणपाठ में पढ़े हुए हैं । अवरादीनाम् यहां अवर शब्द पूर्व का उपलक्षण है ।

यह कैसे जाना कि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ से गणपाठ पहले है ? और अष्टाध्यायी सूत्रपाठ गणपाठ से पीछे है ? क्योंकि अष्टाध्यायीस्थ सर्वादीनि सर्वनामानि का आदि शब्द प्रकारार्थक भी संभव है । सर्व के प्रकार वाले सर्व सरीखे शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है । प्रकारार्थ को दिखाने के लिये पीछे गणपाठ रखा जा सकता है । प्रकारार्थता के संभव होने से ही वेद में परमस्याम् मध्यमस्याम् अवमस्याम् यहां परम मध्यम अवम आदि शब्दों में भी सर्वनाम के कार्य दीखते हैं । आदि शब्द व्यवस्थावाची तथा प्रकारवाची प्रसिद्ध ही है ।

यह ऐसे जाना कि सर्वादीनि० यहां आदि शब्द व्यवस्थावाची है । गणपाठ एक नियतानुपूर्वी वाला शब्दसंनिवेश होता है । सर्व आदि शब्द जिन में पूर्व पर आदि ये नौ शब्द आ गये हैं एक व्यवस्थित क्रम से गण में पढ़ गये हैं । आदि शब्द के व्यवस्थावाची होने से ही गणपाठ पूर्वकालिक और अष्टाध्यायी सूत्र पाठ उत्तरकालिक जाना जाता है । व्यवस्थावाची आदि शब्द होने से गणपाठ पहले मालूम होता है । ये सूत्र अवरकाल में पठित होने से अवरादि शब्द से कहे गये हैं ।

अष्टाध्यायीसूत्र पाठ में सर्वादीनि० इत्यादि भी पूर्वकालपठित संभव हो

गई है । जसि यह जस् शब्द का सप्तमी एकवचन न मान कर जसः इ=जसि ऐसा समझना चाहिये । वहां इ इस ह्रस्व इकार से ईकार गृहीत हो जायगा तो अर्थ होगा— जस् के स्थान में जो ई वह जसि । अर्थात् जसः शी से होने वाला शी आदेश । वह कार्य विकल्प से होता है ।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स पूर्वः पाठः। अयं पुनः पाठ इति। यदयं पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वेति नवग्रहणं करोति। नवैव हि पूर्वादीनि।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। व्यवस्थायामसंज्ञायाम् इति वक्ष्यामीति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। एवंविशिष्टान्येवैतानि गणे पठ्यन्ते।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। द्व्यादिपर्युदासेन पर्युदासो मा भूदिति।

सकते हैं। क्योंकि सर्वादीनि में आदि शब्द को हम प्रकारार्थक मानेंगे। कृत्स्न सकल आदि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा अनभिधान से न होगी। प्रकारार्थता के प्रदर्शन के लिये भी पीछे गणपाठ हो सकता है। इस लिये अष्टाध्यायीसूत्रपाठ भी पहले संभव है।

अच्छा तो आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि गणपाठ पहले है और अष्टाध्यायी सूत्र पाठ पीछे है। यह जो पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा इस सूत्र में नव शब्द का ग्रहण किया है उससे यह बात सिद्ध होती है। क्योंकि अष्टाध्यायी सूत्र पाठ में नौ ही पूर्वादि पढ़े हैं। यदि अष्टाध्यायी सूत्र पाठ पहले हो तो उन्हीं नौ का ग्रहण होने से नौ यह परिच्छेदक वचन व्यर्थ हो जाता है। गणपाठ को पहले मानने पर तो यह सूत्र गणपाठपठित पूर्वादियों का परामर्शक है। तब 'नव' शब्द का ग्रहण नौ से अतिरिक्त त्यदादियों की व्यावृत्ति करने से चरितार्थ हो जाता है। इस लिये गणपाठ से ही पूर्व आदि की सर्वनामसंज्ञा सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ है।

पूर्व आदि में व्यवस्थायामसंज्ञायाम् यह विशेषण लगाने के लिये इस सूत्र का प्रयोजन रह सकता है।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। उक्त विशेषण विशिष्ट ही गणपाठ में पूर्व आदि पढ़े हैं। अर्थात् इसी प्रकार का सूत्र गणपाठ में है।

अच्छा तो इस सूत्र का यह प्रयोजन है कि द्वि आदि के पर्युदास अर्थात् निषेध से पूर्व आदि का पर्युदास न हो। किन्हीं आचार्यों ने पहले त्यद् तद् यद् इत्यादि किम् पर्यन्त शब्द पढ़ कर फिर पूर्व आदि नौ शब्द गणपाठ में पढ़े हैं। वहां किं सर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः इस सूत्र में अद्व्यादिभ्यः इस वचन द्वारा द्वि आदि शब्दों से परे तसिल् आदि प्राग्दिशीय प्रत्ययों का जो निषेध किया है वह द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु की तरह पूर्व आदि में भी प्राप्त होता है। यहां इस सूत्र में पूर्व आदि की पुनः सर्वनामसंज्ञा विधान करने से तसिलादि का निषेध न होगा। दुबारा सर्वनामसंज्ञा के विधानसामर्थ्य से अद्व्यादिभ्यः यह निषेध बाध दिया

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैषां द्व्यादिपर्युदासेन पर्युदासो भवतीति। यदयं 'पूर्वत्रासिद्धमिति' निपातनं करोति। वार्तिककारश्च पठति 'जश्भावादिति चेदुत्तरत्राभावादपवादप्रसङ्ग' इति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। जसि विभाषां वक्ष्यामीति।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥१।१।३५॥

आख्याग्रहणं किमर्थम्?

जायगा। जिस प्रकार लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः सूत्र से लक्षण अर्थ में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध होने पर फिर अनुर्लक्षणे सूत्र से विहित कर्मप्रवचनीयसंज्ञा से कल्पित द्वितीया के पुनर्विधान से हेतौ सूत्र से हेतु में होने वाली तृतीया विभक्ति का बाध हो जाता है।

यह भी प्रयोजन नहीं। आचार्य के व्यवहार से यह ज्ञापित होता है कि द्वि आदि के पर्युदास से पूर्व आदि का पर्युदास नहीं होता। पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र में पूर्वत्र इस त्रल् प्रत्यय के निपातन से यह बात मालूम होती है। और ढो ढे लोपः सूत्र पर वार्तिककार के जश्भावादिति चेदुत्तरत्राभावादपवादप्रसङ्गः इस वार्तिक में उत्तरत्र शब्द के प्रयोग से और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

अच्छा तो इस सूत्र का यह प्रयोजन है कि पूर्व आदि की जस् में विकल्प से सर्वनामसंज्ञा हो जावे। जस् में सर्वनामसंज्ञा का विकल्प करने के लिये यह सूत्र बनाया है। गणपाठ में सर्वत्र नित्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी उस का जस् में इस सूत्र से विकल्प किया जाता है।[1]

सत्र में आख्याग्रहण किस लिये किया है?

---

१. पूर्वपरावर० स्वमज्ञाति० अन्तरं० ये तीनों सूत्र जस् में सर्वनामसंज्ञा के विकल्प के लिये बनाये गये हैं। पूर्वादीनि नव व्यवस्थायामसंज्ञायाम् अज्ञातिधनाख्यायाम् बहिर्योगोपसंव्यानयोः ऐसा सूत्र बनाने में अर्थ सांकर्य हो जाता। संज्ञाभिन्न व्यवस्था का सम्बन्ध स्व और अन्तर शब्द से भी होने लगता। ज्ञाति धन की आख्या का निषेध पूर्वादि सात तथा अन्तर शब्द से भी होने लगता और बहिर्योग एवं उपसंख्यान का सम्बन्ध अन्तर शब्द के साथ अन्य सब से भी होने लगता इस दोष से बचा कर भाष्यकार ने यथास्थित प्रतिपद सूत्रपाठ ही निर्दोष समर्थित किया है।

ज्ञातिधनपर्यायवाची यः स्वशब्दस्तस्य यथा स्यात्। इह मा भूत्। स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः। स्वे गावः। स्वाः गावः।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥१।१।३६॥

उपसंव्यानग्रहणमनर्थकं बहिर्योगेन कृतत्वात्।

उपसंव्यानग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्। बहिर्योगेन कृतत्वात्।

ज्ञाति अर्थात् बन्धुवर्ग और धन का पर्यायवाची जो स्व शब्द है उस की सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो। जिस स्व शब्द की आख्या अर्थात् अर्थ ही जाति और धन हो उस की सर्वनामसंज्ञा न होवे। जैसे—इमे स्वा ईर्ष्यन्ति नः ये बन्धु हमारे साथ ईर्ष्या करते हैं। प्रियः स्वानां भवति अपने बन्धुओं का प्यारा होता है। प्रभूताः स्वा न भुज्यन्ते। बहुत धन नहीं भोगा जाता। यहां स्व शब्द का शब्दार्थ ज्ञाति और धन होने से सर्वनामसंज्ञा न हुई, तो जस् के स्थान में शी न हुआ। इस के विपरीत जिस स्व शब्द का अर्थ ज्ञाति धन न हो कर आत्मा या आत्मीय हो परन्तु वह ज्ञाति धन के विषय में प्रयुक्त हो वहां स्व शब्द की सर्वनामसंज्ञा का निषेध न हो। उसे ही जस् में विकल्प हो, इस लिये आख्याग्रहण किया है। जैसे—स्वे पुत्राः। स्वाः पुत्राः। स्वे गावः। स्वाः गावः। यहां स्व शब्द की आख्या अर्थात् शब्दार्थ आत्मीय है। स्वे पुत्राः का अर्थ अपने पुत्र है। पुत्र यद्यपि बन्धु है। गौएं यद्यपि धन हैं तथापि स्व शब्द का अर्थ यहां बन्धु और धन नहीं है। आत्मीयत्व प्रवृत्तिनिमित्त से ज्ञाति व धन का वाचक है। इस लिये यहां सर्वनामसंज्ञा का निषेध न हो कर जस् में विकल्प हो जाता है। यदि आख्या ग्रहण न कर के स्वमज्ञाति-धनयोः ऐसा कहते तो यहां भी धन विषय होने से निषेध हो जाता। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन ये ४ अर्थ हैं। स्वामिन् शब्द में प्रयुक्त स्व का अर्थ ऐश्वर्य है।

सूत्र में उपसंव्यान ग्रहण व्यर्थ है। बहिर्योगग्रहण से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा। क्योंकि उपसंव्यान का दो प्रकार का अर्थ है। एक उपसंवीयते परिधीयते इति उपसंव्यानम्। जो वस्त्र पहिना जाता है, धारण किया जाता है धोती आदि वह उपसंव्यान है। और दूसरा उपसंवीयते परिवेष्ट्यते (शरीरम्) अनेन तद् उप-संव्यानम्। जिस वस्त्र से शरीर ढका जाता है, दोहर चादर आदि वह भी उपसंव्यान है। इस प्रकार कर्म और करण कारक में उप सम् पूर्वक व्येञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करके दो अर्थ हो जाते हैं। बहिर्योग में बहिः के दो अर्थ हैं (१) बहिः=अनावृत देश,

बहिर्योग इत्येव सिद्धम् ।

न वा शाटकयुगाद्यर्थम् ।

नवानर्थकम् । किं कारणम् । शाटकयुगाद्यर्थम् । शाटकयुगाद्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यम् । यत्रैतन्न ज्ञायते किमन्तरीयं किमुत्तरीयमिति ।

अत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति निर्ज्ञातं तस्य भवति इदमन्तरीयमिदमुत्तरीयमिति ।

---

(२) बहिः=बाह्य । बाहर से अनावृतदेश के साथ बहिर्योग है । अर्थात् जो वस्तु बाहर है । गांव या नगर आदि से बहिर्भूत चाण्डालादि के घर वे बहिर्योग वाले हैं, वे स्वयं बाह्य हैं, उन से परे कोई घर नहीं । दूसरा बाह्येन योगः=बहिर्योगः । बहिर्भूत वस्तु से योग बहिर्योग है । बहिर्भूत वस्तु से योग अन्दर की वस्तु का ही हो सकता है । इस लिये नगरादि के अन्दर वर्तमान घर आदि भी बहिर्योग वाले हैं । इस प्रकार जो वस्त्र पहिना जाता है उस का उत्तरीय से प्रावृत होने से अर्थात् बाह्य जो उत्तरीय उस के साथ सम्बन्ध होने से वहां बहिर्योग कहा जायगा और जो ओढ़ा जाता है उसका बाहर से सम्बन्ध होने से वहाँ भी बहिर्योग कहा जायगा । उपसंव्यान के दोनों अर्थ बहिर्योग से गतार्थ हो जाते हैं तो उपसंव्यान ग्रहण व्यर्थ है ।

उपसंव्यानग्रहण व्यर्थ नहीं है । समान लम्बाई चौड़ाई वाले दो कपड़ों के जोड़े में जो अभी धारण नहीं किये गये हैं यह पता नहीं लगता कि इन में कौन सा कपड़ा अन्तरीय है अर्थात् शरीर के नीचे पहिनने योग्य है । और कौन सा उत्तरीय है अर्थात् शरीर के ऊपर ओढ़ने योग्य है । उपसंव्यानग्रहण से यह स्पष्ट हो जायगा कि जो शरीर के नीचे पहिनने योग्य है उस कपड़े का वाचक जो अन्तर शब्द है उस की सर्वनामसंज्ञा होती है । और जो शरीर के ऊपर ओढ़ने योग्य है उसके वाचक अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ।

यहां भी जो मनुष्य बुद्धिमान् होता है, सोच समझ कर काम करता है उसे अन्तरीय उत्तरीय का पता लग जाता है कि यह कपड़ा अन्तरीय है, परिधानीय है । और यह उत्तरीय है, प्रावरणीय है । शाटकयुग में भी भावी बुद्धि से (जिसे पहनेगा) उसको उपसंव्यान मानेगा, तथा उसी बुद्धि के आश्रित वहाँ बहिर्योग (बाह्य के साथ योग) भी होगा । इस लिये बहिर्योग से ही काम चल जाने पर उपसंव्यानग्रहण व्यर्थ है ।[२]

---

१. अमर तो उत्तरीय (प्रावार, चादर) को संव्यान नाम देता है ।

२. इस प्रकार भाष्यकार ने उपसंव्यानग्रहण का खण्डन कर दिया है।

अपुरि ।

अपुरीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । अन्तरायां पुरि वसति ।

वाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् ।

वाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानं कर्तव्यम् । द्वितीयायै । द्वितीयस्यै । तृतीयायै । तृतीयस्यै । विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्यामित्येतन्न

पुर् अर्थात् नगरी के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्तमान अन्तर शब्द की सर्वनामसंज्ञा कहनी चाहिये । अन्तरायां पुरि वसति (बाहर की नगरी में रहता है) यहां स्त्रीलिङ्ग अन्तरा शब्द नगरी के विषय में वर्तमान है इस लिये सर्वनामसंज्ञा न होगी तो स्याडागम नहीं हुआ ।[1]

सर्वनामसंज्ञा के विकल्प प्रकरण में तीयप्रत्ययान्त द्वितीय तृतीय शब्दों की ङित् विभक्ति परे रहते विकल्प से सर्वनामसंज्ञा कहनी चाहिये । द्वितीयायै । द्वितीयस्यै । तृतीयायै । तृतीयस्यै । यहां स्त्रीलिङ्ग द्वितीया तृतीया शब्दों से ङित् ङे विभक्ति परे रहते विकल्प से सर्वनामसंज्ञा हो गई तो सर्वनामपक्ष में स्याट् और उस के अभाव में याट् हो जाते हैं । तीय की सर्वनामसंज्ञा होने से यह लाभ भी

शाटकयुगाद्यर्थम् इस वार्तिक के आदि शब्द से कुछ लोग यह अभिप्राय लेते हैं कि शरीर धृत शाटकों के तीन या चार होने पर अन्दर के शाटकों का बहिर्योग न होने के कारण बहिर्योगग्रहण से काम नहीं चलेगा इस लिये उपसंव्यानग्रहण करना आवश्यक है । क्योंकि बहिर्योग न होने पर भी उपसंव्यानता (=अन्तरीयता परिधानता) तो सब में समान है । उन वस्त्रों के वाचक अन्तर शब्द की सर्वनामसंज्ञा करने के लिये उप संव्यानग्रहण करना चाहिये । पर भाष्यकार का तो यह अभिप्राय है कि वहां परम्परा से बाह्ययोग होने से अन्तिम चतुर्थ का बाह्ययोग है ही, वह तृतीय से संयुक्त है, तृतीय द्वितीय से इत्यादि, अतः उन का बाह्य के साथ योग माना जायगा, तो उपसंव्यानग्रहण व्यर्थ ही रहता है ।

१. अपुरि यह निषेध सर्वादि के गणपाठ में पठित सूत्र में ही कर देना चाहिये । वहां पढ़े हुए अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः इस सूत्र में ही नगरी अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्तमान अन्तर शब्द की सर्वनामसंज्ञा का विधान करना चाहिये । जस् में विकल्प करने वाले इस सूत्र में तो अपुरि यह निषेध व्यर्थ है । क्योंकि जस् में शीभाव अकारान्त अन्तर शब्द से होगा । स्त्रीलिङ्ग अन्तरा शब्द के अकारान्त न होने से शीभाव प्राप्त ही नहीं तो यहां अपुरि कहने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

वक्तव्यं भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

उपसंख्यानमेवात्र ज्यायः। इदमपि सिद्धं भवति। द्वितीयाय। द्वितीयस्मै। तृतीयाय। तृतीयस्मै।

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१।१।३७॥

किमर्थं पृथग् ग्रहणं स्वरादीनां क्रियते, न चादिष्वेव पठ्येरन्।

चादीनां वै असत्त्ववचनानां निपातसंज्ञा। स्वरादीनां पुनः सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनानां च।

अथ किमर्थमुभे संज्ञे क्रियेते, न निपातसंज्ञैव स्यात्।

होगा कि विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् यह सूत्र नहीं बनाना पड़ेगा। उस का काम जो स्याट् का विकल्प है वह इसी वचन से सिद्ध हो जायगा।

वाप्रकरणे तीयस्य० इस वचन में और विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् इस सूत्र के वचन में कौनसा अधिक अच्छा रहेगा ?

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् इस सूत्र की अपेक्षा वाप्रकरणे तीयस्य० यह विकल्प से सर्वनामसंज्ञा का उपसंख्यान ही अधिक अच्छा रहेगा। इस उपसंख्यान से द्वितीयाय। द्वितीयस्मै। तृतीयाय। तृतीयस्मै यहां पुँल्लिङ्ग में भी तीय प्रत्ययान्त द्वितीय तृतीय शब्दों की विकल्प से सर्वनामसंज्ञा हो कर दो रूप बन जायेंगे।

स्वर् आदि शब्दों का पृथक् गणपाठ किस लिये किया है। क्यों न चादिगण में ही ये पढ़ दिये जावें?

चादिगण में स्वर् आदि शब्द नहीं पढ़े जा सकते। क्योंकि चादिगण में चादयोऽसत्त्वे इस वचन से अद्रव्यवाची च आदि शब्दों की निपातसंज्ञा होती है द्रव्यवाचियों की नहीं। किन्तु स्वरादिगण में द्रव्यवाची अद्रव्यवाची दोनों प्रकार के शब्दों का पाठ है। स्वस्ति वाचयति, स्वः पश्य, स्वस्तिष्ठति, स्वर् आगतः यहां स्वरादिगणपठित स्वस्ति और स्वः शब्द कर्म कर्ता अपादान कारकों के होने से द्रव्यवाची हैं। अनेक-कारक-शक्तियोग ही तो सत्त्व (द्रव्य) है।

निपात और अव्यय ये दोनों अलग २ संज्ञायें किस लिये की गई हैं। क्यों न दोनों की साझली एक निपातसंज्ञा ही कर दी जावे। प्राग्रीश्वरान्निपाताः, स्वरादीनि, चादयोऽसत्त्वे ऐसा सूत्रपाठ हो जावे।

नैवं शक्यम् । 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यसंज्ञोक्ता सा स्वरादीनामप्येकाचां प्रसज्येत । क इव क्वेव ।

एवं तर्ह्यव्ययसंज्ञैवास्तु ।

तच्चाशक्यम् । वक्ष्यत्येतत्—'अव्यये नञ्कुनिपातानामि'ति । तद् गरीयसा न्यासेन परिगणनं कर्तव्यं स्यात् । तस्मात् पृथग्ग्रहणं कर्तव्यम् । उभे च संज्ञे कर्तव्ये ।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१।१।३८॥

ऐसा नहीं हो सकता । निपात एकाजनाङ् से एकाच् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा कही है वह स्वरादियों के भी निपातसंज्ञक हो जाने पर उनमें वर्तमान एकाच् शब्दों की भी प्राप्त होती है । जैसे—क्व इव=क्वेव । यहां किम् शब्द में किमोऽत् सूत्र से विधीयमान अत् प्रत्यय एकाच् है । उसकी निपात संज्ञा हो जायगी तो निपात एकाजनाङ् से प्रगृह्यसंज्ञा हो कर इव शब्द के साथ गुण एकादेश न हो सकेगा । इसी प्रकार दक्षिणादाच्, कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः इत्यादि में आच्, केन् आदि एकाच् प्रत्यय हैं उनकी निपातसंज्ञा मानने पर दोष होगा । निपातसंज्ञा का प्रगृह्यत्व लाभ ही एक प्रयोजन है, उस प्रयोजन की सिद्धि के लिये यहां क्व आदि शब्दों में केवल एकाज्रूप अत् आदि की भी निपातसंज्ञा स्वीकार की जायगी ।

अच्छा तो दोनों की साझली एक अव्ययसंज्ञा ही कर दी जावे ।

ऐसा भी नहीं हो सकता । आगे अव्यये नञ् कुनिपातानाम् यह स्वरविषयक वार्तिक कहेंगे । वहां निपातसंज्ञा के पृथक् न होने से निपात के स्थान में च वा ह अह प्र परा अप सम् इत्यादि बहुत अधिक शब्दों का परिगणन करना होगा । जिससे वर्तमान निपातसंज्ञक शब्द ही अव्ययों में लिये जावें । उन्हीं को पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो । उनसे अन्य अव्ययों को न हो । इस गौरव से बचने के लिये निपातसंज्ञा आवश्यक है । इस लिये स्वरादि और चादि का अलग २ गणपाठ में ग्रहण करना चाहिये और निपात एवं अव्यय ये दोनों संज्ञायें भी अलग २ विधान करनी चाहियें ।[1]

---

१. दोनों की साझली एक अव्यय संज्ञा करने में यह भी दोष है कि निपात एकाजनाङ् की जगह अव्ययमेकाजनाङ् यह सूत्र बनाना होगा । उससे क्व आदि में स्थित अत् आदि एकाच् अव्ययों की भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी । यदि वहां चादय एकाजनाङ् ऐसा सूत्र बनावें तो चादि शब्दों में अद्रव्यवाचित्व विशेषण न हो सकने से द्रव्यवाची एकाच् चादियों की भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होगी ।

असर्वविभक्तावविभक्तिनिमित्तस्योपसंख्यानम् ।

असर्वविभक्तावविभक्तिनिमित्तस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । विना । नाना ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

सर्वविभक्तिर्ह्यविशेषात् ।

सर्वविभक्तिर्ह्येष भवति । किं कारणम् । अविशेषेण विहितत्वात् ।

त्रलादीनां चोपसंख्यानम् ।

इस सूत्र के असर्वविभक्तिः इस निर्देश में अविभक्तिनिमित्त तद्धित का भी उपसंख्यान करना चाहिये । अर्थात् जिस तद्धित की उत्पत्ति में किसी विभक्ति को निमित्त नहीं माना गया है उस तद्धित की भी अव्ययसंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । जैसे—विना । नाना । यहां वि और नञ् शब्द से विनञ्भ्यां नानाञौ न सह इस सूत्र द्वारा ना और नाञ् इन तद्धित प्रत्ययों का विधान करने में किसी विभक्ति का निमित्त नहीं माना है इस लिये ये अविभक्तिनिमित्त हैं । इनकी भी अव्ययसंज्ञा हो जायगी तो अव्ययादाप्सुपः से सुप् का लुक् सिद्ध हो जायगा ।[1]

क्या कारण है जो इस सूत्र से इनकी अव्ययसंज्ञा नहीं सिद्ध होती ?

किसी भी विभक्ति को निमित्त न मानने से ये सर्वविभक्ति हो जाते हैं । असर्वविभक्ति नहीं रहते । क्योंकि जो तद्धित सामान्यतया विहित होने से किसी विभक्ति को निमित्त नहीं मानता वह एक प्रकार से सभी विभक्तियों को निमित्त मानता है । यदि विना नाना इन तद्धितों में कोई एक भी विभक्ति निमित्त हो जाती तो ये असर्वविभक्ति बन जाते । ये तो सामान्यरूप से विना किसी विभक्ति को निमित्त माने ही विधान किये हैं इस लिये इस सूत्र से इनकी अव्ययसंज्ञा सिद्ध नहीं होती । इसके अतिरिक्त त्रल् तसिल् आदि

---

१. यद्यपि विशाल विशङ्कट उत्कट प्रकट आदि में भी अविभक्तिनिमित्तक तद्धित है तो भी उनकी अव्ययसंज्ञा इष्ट नहीं है । विना नाना की ही इष्ट है । जिससे कोई विभक्ति सुनाई नहीं देती वह अविभक्तिक अव्यय यहां अविभक्ति शब्द से कहा गया है । उसे निमित्त मानकर आये हुए जिस तद्धित की अव्ययसंज्ञा इष्ट है पर प्राप्त नहीं, उसकी उपसंख्येय है ।

त्रलादीनां चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। तत्र। यत्र। ततः। यतः।

ननु च विशेषेण एते विधीयन्ते। पञ्चम्यास्तसिल्। सप्तम्यास्त्रल् इति।

वक्ष्यत्येतद्—'इतराभ्योपि दृश्यन्ते' इति।

यदि पुनरविभक्तिः शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवतीत्युच्यते।

अविभक्तावितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः।

अविभक्तावितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः संज्ञायाः। का इतरेतराश्रयता। सत्यविभक्तित्वे संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया चाविभक्तित्वं भाव्यते। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

अलिङ्गमसंख्यमिति वा।

तद्धितों की अव्ययसंज्ञा का भी उपसंख्यान करना चाहिये। तत्र। यत्र। ततः। यतः। यहां तद्, यद् शब्दों से त्रल् तसिल् प्रत्यय हुए हैं उनकी अव्ययसंज्ञा इष्ट है।

त्रल्, तसिल् आदि तो विशेष विभक्तियों से विधान किये गये हैं। पञ्चम्यास्तसिल् सूत्र से पञ्चमी विभक्ति को निमित्त मान कर तसिल् होता है। सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से सप्तमी विभक्ति को निमित्त मान कर त्रल् होता है। ये तो असर्वविभक्ति होने से सूत्र से ही अव्ययसंज्ञक हो सकते हैं।

नहीं हो सकते। क्योंकि आगे इतराभ्योपि दृश्यन्ते यह सूत्र कहेंगे। उससे ततो भवान्। ततो भवन्तम्। ततो भवता। तत्र भवान्। तत्र भवन्तम्। तत्र भवता इत्यादि सभी विभक्तियों में त्रल् तसिल् होंगे तो वे सर्वविभक्ति होने के कारण अव्ययसंज्ञक न हो सकेंगे।

यदि तद्धितश्चासर्वविभक्तिः सूत्र के स्थान पर केवल अविभक्तिः अव्ययम् इतना सूत्र बना कर विभक्ति रहित शब्द की अव्ययसंज्ञा कहें तो कैसा हो?

अविभक्तिरव्ययम् ऐसा सूत्र होने पर इतरेतराश्रयदोष प्राप्त होता है। इतरेतराश्रयदोष होने से अव्ययसंज्ञा ही सिद्ध नहीं होती। क्या इतरेतराश्रयता है? पहले विभक्ति-रहित शब्द हो तो उसकी अविभक्तिः सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो। अव्ययसंज्ञा हो तो अव्ययादाप्सुपः से सुप् का लुक् हो कर अविभक्ति बने। यह इतरेतराश्रयता है। एक दूसरे के सहारे से एक दूसरे का होना इतरेतराश्रय होता है। इतरेतराश्रय से होने वाले कार्य सिद्ध नहीं होते।

अथवा अलिङ्गमसंख्यमव्ययसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम् ।

एवमपीतरेतराश्रयमेव भवति । का इतरेतराश्रयता । सत्यलिङ्गासंख्यत्वे संज्ञया भवितव्यम् । संज्ञया चालिङ्गासंख्यत्वं भाव्यते। तदितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

नेदं वाचनिकमलिङ्गता असंख्यता च । किं तर्हि, स्वाभाविकमेतत् । तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न । तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम् । स्वाभाविकमेतत् ।

तत्तर्हि वक्तव्यमलिङ्गमसंख्यमिति ।

न वक्तव्यम् ।

सिद्धं तु पाठात् ।

अविभक्तिः के स्थान पर यदि अलिङ्गमसंख्यमव्ययम् ऐसा सूत्र बना कर लिङ्गसंख्यारहित शब्द की अव्ययसंज्ञा कह दें तो कैसा हो ?

अलिङ्गम् असंख्यम् अव्ययम् ऐसा कहने पर भी इतरेतराश्रयदोष प्राप्त होता है। पहले लिङ्गसंख्यारहित शब्द हो तो उस की अलिङ्गम् असंख्यम् सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो । अव्ययसंज्ञा हो तो लिङ्गसंख्यारहित शब्द बने । यह इतरेतराश्रय दोष है । इतरेतराश्रय से होने वाले कार्य सिद्ध नहीं होते ।

अलिङ्गता और असंख्यता वाचनिक नहीं होती। अर्थात् किसी वचनद्वारा कोई शब्द लिङ्गसंख्यारहित नहीं होता। अपि तु लिङ्गसंख्यारहित होना स्वाभाविक है । जैसे एक समान प्रयत्न करने वालों और एक समान पढ़ने वालों में कोई सफल होते है, कोई नहीं । वहां हम क्या कर सकते हैं। यह तो स्वभाव-सिद्ध है कि सब एक से नहीं हो सकते। इस लिए अलिङ्गता तथा असंख्यता के स्वभावसिद्ध[1] होने से स्वभाव से ही लिङ्गसंख्यारहित शब्द मिल जावेंगे उन की अव्ययसंज्ञा होने में कोई इतरेतराश्रय दोष नहीं आता ।

तो फिर अलिङ्गमसंख्यमव्ययम्, यह सूत्र बना दिया जाय ?

सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं । कुछ निश्चित तद्धितों का पाठ कर

---

१. जैसे घटादि और स्वर् आदि शब्दों की प्रातिपदिकता और सत्त्ववाचिता के समान होने पर भी घटादियों का लिङ्ग संख्या से योग होता है, स्वर् आदियों का नहीं। अव्ययादाप्सुपः यह तो प्रत्ययलक्षणादि की सिद्धि के लिये लिङ्गसंख्या के अभाव का अनुवादक मात्र है।

पाठाद्वा सिद्धमेतत् । कथं पाठः कर्तव्यः । तसिलादयः प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । मान्तः । तसिवती । कृत्वोऽर्थाः । नानाञाविति ।

अथवा पुनरस्त्वविभक्तिः शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवतीत्येव । ननु चोक्तमविभक्तावितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिरिति । नैष दोषः । इदं तावदयं प्रष्टव्यः । यद्यपि तावद् वैयाकरणा विभक्तिलोपमारभमाणा अविभक्तिकान् शब्दान् प्रयुञ्जते ये त्वेते वैयाकरणेभ्योऽन्ये मनुष्याः कथं तेऽविभक्तिकान् शब्दान् प्रयुञ्जते इति । अभिज्ञाश्च पुनर्लौकिका एकत्वादीनामर्थानाम् । आतश्चाभिज्ञाः । अन्येन हि वस्नेनैके गां

देंगे। उस पाठ से अभीष्ट तद्धित प्रत्ययों की अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। कैसे पाठ करेंगे? पञ्चम्यास्तसिल् से ले कर याप्ये पाशप् से पूर्व तक।[1] बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् के शस् से ले कर समासान्ताः सूत्र से पूर्व तक। किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे और अमु च च्छन्दसि सूत्रों से विहित आम् अम् ये मान्त प्रत्यय। प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः और तसिश्च से विहित तसि प्रत्यय। तेन तुल्यं क्रिया चद्वतिः से विहित वति प्रत्यय। संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् सूत्रों से विहित कृत्वसुच् और सुच् प्रत्यय। विभाषा बहोऽर्धा० से विहित कृत्वसुजर्थक धा प्रत्यय। विनञ्भ्यां नानाञौ न सह से विहित ना और नाञ् प्रत्यय। इन सब तद्धित प्रत्ययों की अव्ययसंज्ञा होगी। इन से इतर की नहीं।

अथवा अविभक्तिरव्ययम् यही सूत्र मान लीजिये। उस में इतरेतराश्रय का जो दोष दिया था वह कुछ नहीं। इतरेतराश्रयदोष देने वाले इस व्यक्ति से यह पूछिये कि यद्यपि वैयाकरण लोग अव्ययादाप्सुपः इत्यादि शास्त्रवचनद्वारा विभक्ति का लोप विधान कर के विभक्तिरहित शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु ये जो वैयाकरणों से भिन्न अन्य साधारण मनुष्य हैं वे विभक्तिलोपशास्त्र को न जानते हुए भी विभक्तिरहित शब्दों का कैसे प्रयोग करते हैं। यह बात नहीं कि वे एकत्व द्वित्व बहुत्वादि अर्थों को न जानते हों। खूब जानते हैं। जब कि वे एकत्वादि अर्थों को जानते भी हैं फिर भी तदर्थ वाचक विभक्ति का प्रयोग नहीं करते। इस हेतु से और अच्छी तरह यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे एकत्वादि अर्थों को जानते हैं। क्योंकि वे एक बैल के खरीदने में और मूल्य देते हैं, दो के खरीदने में और तथा तीन

---

1. इनके मध्य में प्रकारवचने थाल् से विहित थाल् प्रत्यय आ जाता है तो उस के सादृश्य से प्रत्नपूर्वविश्वेमात् थाल् छन्दसि से विहित थाल् प्रत्यय बहिर्भूत होता हुआ भी अव्ययसंज्ञक समझा जायगा।

क्रीणन्ति। अन्येन द्वावन्येन त्रीन्। अभिज्ञाश्च न च प्रयुञ्जते। तदेवं संदृश्यताम्। अर्थरूपमेवैतदेवञ्जातीयकं येनात्र विभक्तिर्न भवतीति। तच्चाप्येतदेवमनुगम्यमानं दृश्यताम्। किंचिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानं किंचित् क्रियाप्रधानम्। उच्चैर्नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्। हिरुक् पृथगिति क्रियाप्रधानम्। तद्धितश्चापि कश्चिद् विभक्त्यर्थप्रधानः। कश्चित् क्रियाप्रधानः। तत्र यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानः। विना नानेति क्रियाप्रधान । न चैतयोरर्थयोर्लिङ्गसंख्याभ्यां योगोस्ति।

के खरीदने में और। इस प्रकार वे एकत्वादि अर्थों को खूब जानते हैं, समझते हैं। फिर भी एकत्वाद्यर्थबोधक विभक्ति का प्रयोग नहीं करते तो उस से यही मालूम पड़ता है कि उस पदार्थ का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है जिससे वहां विभक्ति नहीं होती। इसी बात को और अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार अनुगत (संगत) होता हुआ देखिये—शब्दशक्ति का स्वभाव ऐसा विचित्र है कि कुछ अव्ययसंज्ञक शब्द विभक्त्यर्थप्रधान हैं। कुछ क्रियाप्रधान हैं। उच्चैः नीचैः (ऊपर, नीचे) यह सप्तम्यर्थप्रधान हैं। अव्यय होते हुए भी यहां सप्तमी विभक्ति का अर्थ प्रधान है। उच्चैः स्थाने। नीचैः स्थाने। हिरुक्, पृथक् (अलग थलग) यह क्रिया विशेषण होने से क्रिया प्रधान हैं। अव्यय होते हुए भी यहां अलग होने अर्थ की प्रधानता है। हिरुक् भव। पृथक् भव। तद्धित भी कोई विभक्त्यर्थ प्रधान है। कोई क्रियाप्रधान है। तत्र यत्र यहां त्रल् प्रत्यय सप्तम्यर्थ प्रधान है। विना नाना यहां ना नाञ् प्रत्यय भिन्न होना रूप क्रिया प्रधान हैं।[1] कर्मत्वादि विभक्त्यर्थ तथा क्रिया इन दोनों का लिङ्गसंख्या के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् विभक्ति और क्रियायें लिङ्ग-संख्यारहित होती हैं। इस लिये अविभक्तिः, अलिङ्गम्, असंख्यम् इन सब सूत्रों में कोई दोष न होने से ये सूत्रन्यास भी ठीक हैं।

---

१. कुछ अव्यय न क्रियाप्रधान हैं, न विभक्त्यर्थ प्रधान अथवा साधन प्रधान हैं। अपितु द्रव्यप्रधान हैं। जैसे स्वः पश्य। लोहितगङ्गं देशः। यहां स्वः यह स्वर्ग का वाचक है। लोहितगङ्गम्, कुम्भघोणम् की तरह देश का नाम है। तेनैकदिक् तसिश्च इन सूत्रों से कथित अण् और तसि ये तद्धित प्रत्यय एक अर्थ में विहित होने पर भी स्वभावतः भिन्न धर्म वाले हैं। पीलुमूलेन एकदिक्=पैलुमूलम्। (पीलुमूल की समान दिशा वाला) यहां अण् प्रत्यय में द्रव्य की प्रधानता है। पीलुमूलतः (पीलुमूल की समान दिशा के साथ) यहां तसि प्रत्यय में तृतीया विभक्ति के सह अर्थ की प्रधानता है।

अथाप्यसर्वविभक्तिरित्युच्यते। एवमपि न दोषः। कथम्। इदं चाप्यद्यत्वेऽति बहु क्रियते एकस्मिन् एकवचनम्। द्वयोर्द्विवचनम्। बहुषु बहुवचनमिति। कथं तर्हि? एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते। तस्य द्विबह्वोरर्थयोर्द्विवचनबहुवचने बाधके भविष्यतः। न चाप्येवं विग्रहः करिष्यते—न सर्वाः असर्वाः। असर्वा विभक्तयो यस्मादिति। कथं तर्हि। न सर्वा असर्वा। असर्वा विभक्तिरस्मादिति। त्रिकं पुनर्विभक्तिसंज्ञम्।

अब पाणिनिनिर्मित तद्धितश्चासर्वविभक्तिः सूत्र में स्थित असर्वविभक्तिः इस वचन को मान लीजिये उस में भी कोई दोष नहीं। क्योंकि वर्तमान पाणिनि शास्त्र में द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनम् ये अपेक्षा से बहुत अधिक सूत्र बनाये गये हैं जिनका अर्थ है—एकत्व अर्थ में एकवचन द्वित्व में द्विवचन और बहुत्व में बहुवचन होता है। हम एकत्व अर्थ में एकवचन न मान कर एकवचन का सब के लिये सामान्य नियम बनायेंगे। द्व्येकयोर्द्विवचनै० बहुषु बहुवचनम् इन सूत्रों के स्थान पर एकवचनम्, द्विबह्वोर्द्विवचनबहुवचने ये सूत्र होंगे। उन में एकवचनम् यह सूत्र सब में एकवचन करेगा। एकत्व अर्थ वाले शब्दों में भी और एकत्व अर्थ से रहित लिङ्गसंख्याविहीन अव्यय शब्दों में भी। एकवचनम् इस सामान्य सूत्र से कर्मादि कारकों के अभाव में भी द्वितीयादि सब विभक्तियों के एकवचन का होना अनिवार्य होगा। फिर द्वित्व बहुत्व अर्थों में द्विबह्वोर्द्विवचनबहुवचने यह सूत्र सामान्य प्राप्त एकवचन को बाध कर द्विवचन बहुवचन कर देगा। असर्वविभक्ति शब्द में भी न सर्वाः असर्वाः। असर्वा विभक्तयो यस्मात् यह विग्रह नहीं करेंगे। बल्कि न सर्वा असर्वा। असर्वा विभक्तिर्यस्मात् यह करेंगे। उस से यह होगा कि जिस तद्धित से सारी सातों विभक्तियां नहीं उत्पन्न होतीं वह असर्वविभक्ति नहीं माना जायगा बल्कि जिस से सारी अर्थात् पूरी (=तीनों वचन) विभक्ति नहीं उत्पन्न होती वह असर्वविभक्ति माना जायगा तो विना नाना आदि भी असर्वविभक्ति हो कर अव्ययसंज्ञक हो जायेंगे। क्योंकि विना नाना में भी सामान्य एकवचन ही होता है द्वित्व व बहुत्व की आकाङ्क्षा न होने से सम्पूर्ण विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होती। एकवचन द्विवचन बहुवचन ये तीनों मिल कर ही पूरी विभक्ति होती है। विना नाना में विभक्ति का केवल एकवचन हुआ है इस लिये वह असर्वविभक्ति समझा जायगा।[1]

---

१. यदि प्रथमातिक्रमे कारणाभावः इस न्याय को मान कर केवल प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही लिङ्गसंख्यारहित अव्ययों से माना जाय द्वितीयादि शेष विभक्तियों का एकवचन न माना जाय तब तो असर्वा विभक्ति र्यस्मात् इस विग्रहमें

एवं गते कृत्यपि तुल्यमेतन् मान्तस्य कार्यं ग्रहणं न तत्र।
ततः परे चाभिमता न कार्यास्त्रयः कृदर्था ग्रहणेन योगाः ॥१॥
कृत्तद्धितानां ग्रहणं तु कार्यं संख्याविशेषं ह्यभिनिश्चिता ये।
तेषां प्रतिषेधो भवतीति वक्तव्यम्। इह मा भूत्। एको द्वौ बहव इति।
तस्मात् स्वरादिग्रहणं च कार्यं, कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे ॥२॥

असर्वविभक्तिरव्ययम् ऐसा सूत्र होने पर कृन्मेजन्तः इस कृत् प्रत्यय वाले सूत्र में भी ऊपर कथित असर्वविभक्तित्व तुल्य है। अर्थात् स्मारं स्मारम्, जीवसे यहां भी औत्सर्गिक एकवचन होने से सारी विभक्ति नहीं उत्पन्न होती इस लिये असर्वविभक्ति मान कर अव्ययसंज्ञा हो जायगी। वहां मान्त का ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। अर्थात् कृन्मेजन्तः सूत्र नहीं बनाना होगा। उस कृन्मेजन्तः सूत्र से परे क्त्वातोसुन्-कसुनः यह तीन कृत्प्रत्ययों के ग्रहण वाला सूत्र भी नहीं बनाना होगा। सर्वत्र सामान्य एकवचन होने से असर्वविभक्तित्व मान कर असर्वविभक्तिः सूत्र से ही अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। शेष स्वरादिनिपातमव्ययम्, अव्ययीभावश्च ये सब योग (सूत्र) भी नहीं बनाने होंगे। यह लाघव होगा। किन्तु असर्वविभक्तिरव्ययम् यह सूत्र होने पर एकः द्वौ बहवः यहां भी अव्ययसंज्ञा प्राप्त होगी उस का निषेध करना होगा। क्योंकि एक द्वि बहु शब्द प्रतिनियतविभक्ति होने के कारण असर्वविभक्ति हैं। ये अपनी २ संख्या विशेष में निश्चित हैं। एक शब्द एकवचन में ही प्रयुक्त होता है। द्विशब्द द्विवचन में ही और बहुशब्द बहुवचन में ही। उन की अव्यय संज्ञा रोकने के लिये सूत्र में कृत् एवं तद्धितों का ग्रहण करना होगा। एकः द्वौ बहवः ये कृत् वा तद्धित नहीं हैं। इस लिये अव्यय न होंगे। जब कृत् और तद्धितों का ग्रहण किया जायगा तब कृत् तद्धित भिन्न स्वर् आदियों का ग्रहण करना भी आवश्यक होगा। उन की भी अव्ययसंज्ञा इष्ट है। इस लिये जिन कृत् एवं तद्धित प्रत्ययों की अव्ययसंज्ञा इष्ट है उन का पाठ कर देना ही उचित है। तसिल् आदि से ले कर पाशप् से पूर्व तक इत्यादि पूर्वोक्त परिगणित तद्धितों की ही अव्ययसंज्ञा कहनी चाहिये। कृत् प्रत्यय तो कृन्मेजन्तः, क्त्वातोसुन् कसुनः इन सूत्रों में गिना ही दिये हैं। स्वर्

भी दोष नहीं। उस अवस्था में केवल प्रथमा का ही एकवचन होने से विना नाना भी असर्वविभक्ति बन जाते हैं। किन्तु जब खलेकपोतन्याय से एक साथ सब विभक्तियों का एकवचन सामान्य विहित होगा तब विना नाना के सर्वविभक्ति हो जाने से अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती उस के लिये असर्वा विभक्तिर्यस्मात् यह विग्रह करना आवश्यक हो जाता है।

पाठेनेयमव्ययसंज्ञा क्रियते सेह न प्राप्नोति परमोच्चैः परमनीचै-रिति।

तदन्तविधिना भविष्यति।

इहापि तर्हि प्राप्नोति। अत्युच्चैः। अत्युच्चैसौ। अत्युच्चैसः इति।

उपसर्जनस्य नेति प्रतिषेधो भविष्यति।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः।

न वक्तव्यः। सर्वनामसंज्ञायां प्रकृतः प्रतिषेध इहानुवर्तिष्यते।

आदि शब्द भी गणपाठ में पढ़े ही हैं। इस प्रकार स्वरादि के गणपाठ में ही उक्त कृत् तद्धितों का समावेश हो जाने से यह सूत्र उसी पाठ का प्रपञ्चमात्र है।

गणपाठ में पठित शब्दों की यह अव्ययसंज्ञा की गई है इस लिये परमोच्चैः परमनीचैः की अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि स्वरादिगण में उच्चैः नीचैः शब्द ही पढ़े हैं। परमोच्चैः परमनीचैः नहीं।

येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र में पठित प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम् इस वचन से अव्ययसंज्ञा में तदन्तविधि हो कर उच्चैः नीचैः के समान परमोच्चैः परमनीचैः यहां उच्चैः नीचैः शब्दान्त की भी अव्ययसंज्ञा हो जायगी।

तब तो अत्युच्चैः, अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैसः यहां भी अव्ययसंज्ञा होनी चाहिये। ये भी उच्चैः शब्दान्त हैं।

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः इस वचन से उपसर्जन में सर्वनामसंज्ञा के निषेध के समान अव्ययसंज्ञा का भी निषेध हो जायगा। उच्चैः अतिक्रान्तः अत्युच्चैः[१]। उच्चैः अतिक्रान्तौ अत्युच्चैसौ। उच्चैः अतिक्रान्ताः अत्युच्चैसः। यहां प्रादिसमास में अतिक्रान्त अर्थ प्रधान होने से उच्चैः शब्द का अर्थ उपसर्जन है, गौण है। परमोच्चैः में तो कर्मधारय समास होने से उच्चैः शब्द का अर्थ ही प्रधान है। वहां उच्चैः उपसर्जन नहीं हैं।

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः यह वचन यहां अव्ययसंज्ञा में भी कहना होगा।

उस वचन के यहां कहने की आवश्यकता नहीं। सर्वनामसंज्ञा में वह कहा गया है वही यहां अव्ययसंज्ञा में भी अनुवृत्त हो जायगा।

---

१. उच्चैः शब्द अधिकरण शक्ति प्रधान होता हुआ भी समास में अधिकरण शक्तिमत्प्रधान बन जायगा। इस लिये उच्चैः अतिक्रान्तः इस विग्रह में उच्चैः को द्वितीयान्त मान कर प्रादिसमास हो जाता है। जैसे दोषामन्यम् अहः। यहां दोषा कर्म बन जाता है। दोषाभूतमहः। यहां वही कर्ता बन जाता है।

स वै तत्र प्रत्याख्यायते।

यथा स तत्र प्रत्याख्यायते तथेहापि शक्यः प्रत्याख्यातुम्।

कथं च स तत्र प्रत्याख्यायते।

महतीयं संज्ञा क्रियते इति। इहापि च महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायांः करणे एतत् प्रयोजनम्। अन्वर्था संज्ञा यथा विज्ञायेत। न व्येतीत्यव्ययमिति। क्व पुनर्न व्येति। स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणा एकत्वद्वित्वबहुत्वानि च। एतानर्थान् केचिद् वियन्ति केचिन्न वियन्ति। ये न वियन्ति तदव्ययम्।

उस वचन का तो वहां खण्डन कर दिया गया है।

जिस हेतु से उस का वहां खण्डन किया गया है उसी हेतु से यहां भी खण्डन हो सकता है।

वहां किस हेतु से उस का खण्डन किया गया है ?

सर्वनाम यह महती संज्ञा मान कर। यहां भी अव्यय यह बहुत अक्षरों वाली महती संज्ञा की गई है। और संज्ञा छोटी से छोटी होनी चाहिये। क्योंकि लाघव के लिये संज्ञा की जाती है। वहां बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन है कि अव्यय यह अन्वर्थसंज्ञा मानी जाय। अर्थानुकूल, अर्थान्वित संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा कहाती है। न व्येति इति अव्ययम्। जो कहीं विकार को प्राप्त नहीं होता। जो विकृत नहीं होता वह अव्यय है। कहां विकृत नहीं होता ? स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग और एकवचन द्विवचन बहुवचन ये लिङ्ग वचन द्रव्य के गुण हैं। उन में जो विकृत नहीं होता। व्यय को प्राप्त नहीं होता वह अव्यय है। द्रव्य के इन लिङ्गवचनरूप गुणों से कुछ शब्द विकृत हो जाते हैं कुछ नहीं। जो नहीं विकृत होते वे अव्यय हैं। जो तीनों लिङ्गों, तीनों वचनों और सातों विभक्तियों में एक सा रहता है, कहीं विकार को प्राप्त नहीं होता वह अव्यय संज्ञक कहाता है।[1]

---

१. अव्ययीभाव समास में नपुंसकलिङ्ग का योग होने पर भी वचन सामर्थ्य से उस की अव्ययसंज्ञा हो जायगी। च वा आदि अद्रव्यवाची अव्ययों में तो लिङ्गवचन का योग संभव ही नहीं। स्वर् आदि द्रव्यवाचियों में भी शब्द शक्ति स्वभाव से लिङ्गादि का योग नहीं होगा जैसे युष्मद् अस्मद् तथा षट्संज्ञक पञ्चन् आदि शब्द स्वभाव से ही अलिङ्ग हैं।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥१॥

कृन्मेजन्तः ॥१।१।३९॥

कथमिदं विज्ञायते—कृद् यो मान्त इति। आहोस्वित् कृदन्तं यन्मान्तमिति। किं चातः। यदि विज्ञायते कृद् यो मान्त इति। कारयांचकार हारयांचकार इत्यत्र न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते—कृदन्तं यन्मान्तमिति प्रतामौ प्रतामः अत्रापि प्राप्नोति।

यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु तावत् कृद् यो मान्त इति।

कथं कारयांचकार हारयांचकार इति।

क्या मकारान्त जो कृत् प्रत्यय उस की अव्यय संज्ञा मानते हैं या मकारान्त जो कृत्प्रत्ययान्त शब्द उस की अव्ययसंज्ञा मानते हैं। इस से क्या ? यदि मकारान्त जो कृत् प्रत्यय उस की अव्ययसंज्ञा मानते हैं तो कारयांचकार, हारयांचकार। (कृ हृ णिच् आम् लिट्) में कारयाम्, हारयाम् की अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। यहां णिजन्त कृ हृ धातुओं से लिट् परे रहते कास्प्रत्ययादाम० से आम् विकरण हुआ है। कृ हृ को अचो ञ्णिति से वृद्धि और अयामन्ताल्वाय्ये० से णि को अयादेश हो कर आमः से लिट् का लुक् होता है तो कारयाम्, हारयाम् बन जाता है। इस में लिट् प्रत्यय कृत्संज्ञक है वह मकारान्त नहीं है। आम् विकरण मकारान्त है पर वह कृत्संज्ञक नहीं। कृत् प्रत्यय के मकारान्त न होने से कारयाम् हारयाम् (कृदन्त प्रातिपदिकों) की अव्ययसंज्ञा न होगी तो उस से उत्पन्न सुप् का अव्ययादाप्सुपः से लुक् न हो सकेगा। और यदि मकारान्त कृदन्त शब्द की अव्ययसंज्ञा मानते हैं तो प्रतामौ, प्रतामः में प्रताम् शब्द की भी अव्ययसंज्ञा प्राप्त होती है। प्र पूर्वक तम् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति से उपधादीर्घ और क्विप् का सर्वापहारी लोप होता है। लुप्त हुए क्विप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर प्रताम् शब्द कृदन्त बन जाता है। मकारान्त है ही। मकारान्त कृदन्त होने से अव्ययसंज्ञा हो जायगी तो उस से परे सुप् का लुक् प्राप्त होता है।

जैसी इच्छा हो वैसा मान लीजिये। मकारान्त जो कृत् प्रत्यय उस की अव्ययसंज्ञा मान लीजिये।

कारयांचकार, हारयांचकार कैसे बनेंगे ? यहां कारयाम् हारयाम् की अव्यय-संज्ञा कैसे सिद्ध होगी ?

किं पुनरत्राव्ययसंज्ञया प्रार्थ्यते ?

अव्ययादिति लुग् यथा स्यादिति ।

मा भूदेवम् । आम इत्येवं भविष्यति ।

न सिध्यति । लिग्रहणं तत्रानुवर्तते ।

लिग्रहणं तत्र निवर्तिष्यते ।

यदि निवर्तते प्रत्ययमात्रस्य लुक् प्राप्नोति ।

इष्यते च प्रत्ययमात्रस्य । आतश्चेष्यते । एवं ह्याह-कृञ्चानुप्रयुज्यते

यहां अव्ययसंज्ञा से आप क्या चाहते हैं ?

अव्ययादाप्सुपः से सुप् का लुक् हो जावे यही चाहते हैं ।

अव्ययादाप्सुपः से सुप् का लुक् मत हो, आमः से हो जायगा ।

आमः से सुप् का लुक् नहीं हो सकता । वहां मन्त्रे घसह्वरणश० से लि की अनुवृत्ति की है । इस लिये वह लिट् का लुक् करेगा, सुप् का नहीं ।

आमः सूत्र में लि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे ।

यदि लि की अनुवृत्ति नहीं करते हैं तो आम् से परे प्रत्ययमात्र का लुक् प्राप्त होगा ।

प्रत्ययमात्र का लुक् ही इष्ट है। इस कारण से और भी प्रत्ययमात्र का लुक् इष्ट है कि . कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि यह सूत्र आमन्त से परे लिट् परक कृ भू अस् का अनुप्रयोग विधान करता है । वह प्रत्ययमात्र का लुक् मानने पर ही ठीक बन सकता है । आम् से परे व्यवहित की निवृत्ति के लिये ही उस सूत्र का आरम्भ है । आमः से यदि केवल लि का ही लुक् हो और किसी प्रत्यय का लुक् न हो तो आम् से परे सुप् का व्यवधान होने के कारण कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि से लिट्परक कृ भू अस् का अनुप्रयोग न हो सकेगा । इस लिये कारयाम् हारयाम् इस आमन्त कृदन्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो कर उत्पन्न सुप् का लुक् भी आमः से ही हो जायगा । यद्यपि कारयां चकार में सु का लोप तो हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० सूत्र भी कर सकता है पर वह केवल सु का ही लोप करेगा । कारयां चक्रतुः, कारयां चक्रुः यहां द्विवचन बहुवचनों में कारयाम् से उत्पन्न औ जस् का लोप नहीं कर सकता । कारयाम्, हारयाम् इन कृदन्त प्रातिपदिकों का अर्थ संख्या कारकादि विषयक आकाङ्क्षा के होने से अपरिपूर्ण है और अनुप्रयुज्यमान कृ भू अस् के साथ ही पूर्ण परिसमाप्त होता है इस लिये केवल कारयाम् हारयाम् के अपूर्णार्थक होने से उन के आगे :(अव्यय से

लिटीति। यदि च प्रत्ययमात्रस्य लुग् भवति तत एतदुपपन्नं भवति।

अथवा पुनरस्तु कृदन्तं यन्मान्तमिति।

कथं प्रतामौ प्रतामः इति।

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेनाव्ययसंज्ञा भवतीति। यदयं प्रशान् शब्दं स्वरादिषु पठति।

कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिः।

कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्। आधये, आधेः। चिकीर्षोः इति।

आने वाला) स्वार्थिक अकच् या तरप् (समाप्तार्थ का ही प्रकर्षादि से योग होने के कारण) आदि प्रत्यय भी न होंगे। यदि हो भी जावें तो भी उन सब का आमः से लुक् कर दिया जायगा। इस तरह आमन्त की अव्ययसंज्ञा न होने में भी कोई दोष नहीं।

अब मकारान्त कृदन्त शब्द की अव्ययसंज्ञा भी मान लीजिये।

मकारान्त कृदन्त की अव्ययसंज्ञा मानने पर प्रतामौ, प्रतामः कैसे सिद्ध होंगे।

आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि प्रत्ययलक्षण से अव्ययसंज्ञा नहीं होती। यह जो स्वरादिगण में प्रशान् शब्द पढ़ा है उस से यह बात मालूम होती है। अन्यथा प्रशान् इस क्विबन्त शब्द के प्रत्ययलक्षण से मकारान्त कृदन्त होने से कृन्मेजन्तः सूत्र से ही अव्ययसंज्ञा सिद्ध थी। अव्ययसंज्ञा के लिये उसे स्वरादिगण में पढ़ना व्यर्थ है। प्रशान् में प्रपूर्वक शम् धातु से क्विप् परे रहते अनुनासिकस्य क्विझलोः० से उपधादीर्घ, क्विप् का सर्वापहारी लोप और मो नो. धातोः से म् को नत्व होता है। अव्ययसंज्ञा के प्रति नत्व के असिद्ध होने से प्रशान् शब्द मकारान्त ही दीखेगा तो अव्ययसंज्ञा निर्बाध प्राप्त है।[1]

---

१. प्र पूर्वक शान् तेजने धातु का तो प्रशान् यह रूप नहीं है। क्योंकि उस का क्विबन्त में प्रयोग नहीं दीखता। प्रशान् शब्द के स्वरादिगण में पाठरूप ज्ञापक से उस के तुल्यजातीय आमन्त धातु की ही अव्ययसंज्ञा की निवृत्ति होगी तो कारयांचकार में कारयाम् क आमन्त धातु न होने से अव्ययसंज्ञा की व्यावृत्ति न होगी। लावयतीति लौः। पावयतीति पौः। यहां णिजन्त लू पू धातुओं से क्विप् परे रहते णि का लोप होता है। अचो ञ्णिति से वृद्धि और क्विप् का सर्वापहारी लोप हो कर लौः पौः बनते हैं। ये प्रत्ययलक्षण से क्विबन्त हैं। एजन्त कृदन्त होने से इन की अव्ययसंज्ञा प्राप्त

अनन्यप्रकृतिरिति वा ।

अथवा अनन्यप्रकृतिः कृदव्ययसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

अनन्यप्रकृतिरिति वचनमेव ज्यायः । इदमपि सिद्धं भवति । कुम्भकारेभ्यो नगरकारेभ्य इति ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ?

इकार उकार की प्रकृति वाला जो एच् है उससे भिन्न एजन्त कृत्प्रत्यय की अव्ययसंज्ञा कहनी चाहिये। जिससे आधये, आधेः, चिकीर्षोः यहां ए ओ इस एच् की अव्ययसंज्ञा न हो। आङ्पूर्वक धा धातु से उपसर्गे घोः किः से कि प्रत्यय हो कर आधि शब्द बनता है। कि प्रत्यय कृत्संज्ञक है। ङे ङस् परे रहते घेर्ङिति से गुण हो कर वह एजन्त कृत् हो जाता है। इसी प्रकार सन्नन्त चिकीर्ष धातु से सनाशंसभिक्ष उः से उ प्रत्यय हो कर चिकीर्षु बनता है। उ प्रत्यय कृत्संज्ञक है। ङसि ङस् परे रहते घेर्ङिति से गुण हो कर वह एजन्त कृत् हो जाता है। इन एजन्तों की प्रकृति इकार उकार है। अव्ययसंज्ञा का निषेध हो जाने से उन से परे विद्यमान सुप् का अव्ययादाप्सुपः से लुक् नहीं होगा।

अथवा अनन्यप्रकृति एजन्त कृत्प्रत्यय की अव्ययसंज्ञा कहनी चाहिये। जिस एच् की प्रकृति कोई न हो। स्वयं एच् ही प्रकृति हो वह अनन्यप्रकृति एच् है। आधये, चिकीर्षोः में एच् की प्रकृति अन्य है इस लिये इस एच् की अव्ययसंज्ञा नहीं होगी।

अनिकारोकारप्रकृतिः और अनन्यप्रकृतिः इन दोनों में कौन सा वचन कहना अधिक अच्छा है।

अनन्यप्रकृतिः यह वचन कहना ही अधिक अच्छा है। उससे कुम्भकारेभ्यः नगरकारेभ्यः यहां भी अव्ययसंज्ञा का निषेध सिद्ध हो जायगा। कुम्भकार में कर्मण्यण् से हुआ अण् प्रत्यय कृत्संज्ञक है। बहुवचने झल्येत् से एत्व हो कर वह एजन्त कृत् बन जाता है। उसकी प्रकृति अण् का अकार है। इकार उकार नहीं हैं। अनन्यप्रकृतिः कहने से यहां भी अव्ययसंज्ञा नहीं होगी।

तो फिर अनन्यप्रकृतिः यह वचन कह देना चाहिये।

होती है वह भी प्रशान् के ज्ञापकद्वारा प्रत्ययलक्षण से अव्ययसंज्ञा का निषेध ज्ञापित होने से नहीं होगी।

न वा 'संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये'ति। न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येत्येषा परिभाषा कर्तव्या।

कः पुनरत्र विशेषः। एषा वा परिभाषा क्रियेत। अनन्यप्रकृतिरिति वोच्येत।

अवश्यमेषा परिभाषा कर्तव्या। बहून्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि।

अनन्यप्रकृतिः इस वचन के कहने की आवश्यकता नहीं। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य यह परिभाषा बना देनी चाहिये। उससे यहां दोष न होगा। संनिपात परिभाषा का अर्थ है—दो के संनिपात संश्लेष एवं सम्बन्ध से जो कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले विधि का निमित्त नहीं होता। संनिपातः संश्लेषः लक्षणं निमित्तं यस्य विधेः स संनिपातलक्षणो विधिः। तं विहन्ति इति तद्विघातः। आधये, चिकीर्षोः में जिस ङित् विभक्ति को निमित्त मान कर घेर्ङिति से इ उ (कृत्प्रत्यय) को ए, ओ गुण हुए हैं वे एजन्त हो कर अव्ययसंज्ञा द्वारा उस ङित् विभक्ति के लुक् का निमित्त नहीं बन सकते। लुक् होने पर दोनों का सम्बन्ध नष्ट होता है। इस लिये अव्ययादाप्सुपः से सुप् का लुक् नहीं होगा। कुम्भकारेभ्यः नगरकारेभ्यः में भी जिस भ्यस् को निमित्त मान कर बहुवचने झल्येत् से अकार को एकार हुआ है वह एजन्त हो कर भ्यस् का लुक् नहीं होने दे सकता इस लिये भ्यस् का लुक् नहीं होगा।[1]

इस में क्या विशेष है कि यह परिभाषा बनाई जाय या अनन्यप्रकृति यह वचन ही कह दिया जाय?

यह परिभाषा ही बनानी चाहिये। इस परिभाषा के बहुत अधिक प्रयोजन हैं।

---

१. यद्यपि आधये, आधेः, चिकीर्षोः, कुम्भकारेभ्यः यहां लाक्षणिक एजन्त है। प्रतिपदोक्त नहीं है। इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से भी अव्ययसंज्ञा का समाधान हो सकता है तो भी संनिपात परिभाषा के बहुत से प्रयोजन बताने के लिये यहां संनिपात परिभाषा से समाधान किया है। लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा का आश्रयण नहीं किया। इसी प्रकार कृन्मेजन्तः में अन्तग्रहण, औपदेशिक एजन्त की प्रतिपत्ति के लिये है यह वृत्तिकारों का समाधान भी यहां भाष्यकार ने आदृत नहीं किया है।

कानि पुनस्तानि ?

प्रयोजनं ह्रस्वत्वं तुग्विधेर्ग्रामणिकुलम् ।

ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् इत्यत्र ह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति तुक् प्राप्नोति । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । बहिरङ्गं ह्रस्वत्वम् । अन्तरङ्गस्तुक् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।

इस परिभाषा के कौन २ से प्रयोजन हैं ?

ग्रामणिकुलम् में ग्रामणी को ह्रस्व हो जाने पर तुक् न होना प्रयोजन है । ग्रामं नयतीति ग्रामणीः । सेनां नयतीति सेनानीः । तस्य कुलं ग्रामणिकुलम् । सेनानिकुलम् । यहां षष्ठीसमास में इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य से ग्रामणी सेनानी को ह्रस्व होने पर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् प्राप्त होता है । क्योंकि ग्रामणी सेनानी में क्विप् प्रत्यय हुआ है जो पित् कृत् है । संनिपात परिभाषा से तुक् न होगा । जिस उत्तरपद कुल शब्द के परे होने पर पूर्वपद ग्रामणी सेनानी को इको ह्रस्वो० से ह्रस्व हुआ है वह ह्रस्व, तुक् द्वारा उन दोनों पूर्वपद और उत्तरपदों के संनिपात=आनन्तर्य सम्बन्ध को नष्ट नहीं कर सकता । तुक् हो जाने पर दोनों का आनन्तर्य नहीं रहता इस लिये तुक् नहीं होगा ।[1]

यह कोई प्रयोजन नहीं । ग्रामणिकुलम् में इको ह्रस्वो से होने वाला ह्रस्व ग्रामणी और कुल इन दो पदों का आश्रयण करने से बहिरङ्ग है । तुक् केवल ग्रामणी इस एक पद के आश्रित होने से अन्तरङ्ग है । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा से तुक् करने में ह्रस्व असिद्ध रहेगा तो ह्रस्व न दीखने से तुक् न होगा ।[2]

---

१. यदि ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् यह सूत्र केवल ह्रस्व को तुक् करता है, ह्रस्वान्त शब्द को तुक् नहीं करता ऐसा मानते हैं तब तो यह प्रयोजन नहीं रहता । क्योंकि तब ग्रामणि के ह्रस्व इकारमात्र को तुक् होने पर भी ह्रस्वान्त सारे ग्रामणि इस पूर्वपद को तुक् न होने से दोनों का आनन्तर्य बना रहेगा ।

२. यदि यहां ग्रामणि कुलम् में असमास मानकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य से ह्रस्व करें तो वह भी कुलम् इस नपुंसक अर्थ का आश्रयण करने से बहिरङ्ग है । तुक् तो केवल ह्रस्ववर्णमात्र का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है । संनिपात परिभाषा मानने पर बल्कि दोष है । उस से तो ग्रामणिच्छत्रम् में भी तुक् नहीं प्राप्त होगा । तुक् होने पर

न लोपो वृत्रहभिः ।

वृत्रहभिर्भ्रूणहभिरित्यत्र नलोपे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति तुक् प्राप्नोति । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । असिद्धो नलोपः । तस्यासिद्धत्वान्न भविष्यति ।

उदुपधत्वमकित्त्वस्य निकुचिते ।

उदुपधत्वमकित्त्वस्यानिमित्तम् । क्व । निकुचिते । निकुचितमित्यत्र नलोपे कृते 'उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्यामि'त्यकित्त्वं प्राप्नोति ।

वृत्रहभिः, भ्रूणहभिः में नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप हो जाने पर तुक् न होना प्रयोजन है । वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा । तैः वृत्रहभिः । यहां क्विप् प्रत्ययान्त वृत्रहन् शब्द में पित् कृत् है । भिस् परे रहते नलोप होने पर ह्रस्वस्य पिति० से तुक् प्राप्त होता है । संनिपात परिभाषा से नहीं होता । यहां भिस् और वृत्रहन् के आनन्तर्य को मान कर पदसंज्ञा द्वारा जो नकार का लोप हुआ है वह इन के आनन्तर्य के नाश का कारण नहीं बन सकता । तुक् होने पर आनन्तर्य नष्ट होता है इस लिये तुक् नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । नलोपः सुप्स्वरसंज्ञा तुग्विधिषु कृति से तुक् करने में नलोप असिद्ध है । उसके असिद्ध होने से ह्रस्व न दीखेगा तो तुक् नहीं होगा ।

निकुचित (निकुञ्च्-क्त) में कुञ्च् धातु के नलोप हो कर उदुपध होने पर उदुपधाद्भावादि० से कित्वनिषेध का न होना प्रयोजन है । नि पूर्वक कुञ्च् धातु से क्त प्रत्यय परे रहते अनिदितां हल उपधायाः० से नलोप होता है । नलोप होने पर कुच् में ह्रस्व उकार उपधा में हो जाता है । उदुपध हो जाने से उदुपधाद्भावादि० से पक्ष में कित्त्व का निषेध हो कर लघूपधगुण प्राप्त होता है । संनिपात परिभाषा से नहीं होता । यहां क्त प्रत्यय के कित्त्व को निमित्त मान कर कुञ्च् धातु का

दोनों पदों का आनन्तर्य सम्बन्ध नष्ट होता है । असिद्ध परिभाषा तो ग्रामणिच्छत्रम् में प्राप्त ही नहीं होती । वहां छे च से होने वाला तुक् भी ह्रस्व की तरह दो पदों का आश्रयण करने से बहिरङ्ग है । दोनों के बहिरङ्ग होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी । परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से तुक् हो जायगा ।

संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्राकित्त्वम्। 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति प्रतिषेधो भविष्यति।

नाभावो यञि दीर्घत्वस्यामुना।

नाभावो यञि दीर्घत्वस्यानिमित्तम्। क्व। अमुना। नाभावे कृते 'अतो दीर्घो यञि सुपि चे'ति दीर्घत्वं प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—'न मु टादेशे' इति।

नलोप हुआ है। वह नलोप धातु के उदुपध हो जाने से उदुपधाद्० से क्त प्रत्यय के किन्त्वाभाव का निमित्त नहीं हो सकता। किन्त्व का निषेध न होने से गुण न होगा।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। यहां उदुपधाद्भावादि० सूत्र से किन्त्व का निषेध हो जावे। तो भी नधातुलोप आर्धधातुके सूत्र से गुण का निषेध हो जायगा।

अमुना (अदस्-टा) में टा को ना आदेश होने पर मुभाव के असिद्ध होने से अदन्त अद शब्द मान कर यञादि सुप् में प्राप्त सुपि च से दीर्घ न होना प्रयोजन है। अदस् शब्द से टा परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप हो कर अदसोऽसे-र्दादु दो मः से मुत्व होता है। अमु की घि संज्ञा हो कर आङो नास्त्रियाम् से टा को ना आदेश हो जाता है। ना के परे रहते मुत्व को पूर्वत्रासिद्धम् से असिद्ध मान कर सुपि च से दीर्घ प्राप्त होता है। दीर्घ होने पर अमूना (या अमाना अदाना) ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है। संनिपात परिभाषा से नहीं होता। जिस उ के कारण घि संज्ञा हो कर ना हुआ है वह ना आदेश सुपि च से प्राप्त दीर्घ द्वारा उ के स्वरूप के विघात का कारण नहीं बन सकता। इस लिये दीर्घ नहीं होगा।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। आगे न मु ने सूत्र पर न मु टादेशे यह वार्तिक कहेंगे। उसमें टायाः आदेशः टादेशः। और टायाम् आदेशः टादेशः। यह दोनों प्रकार का समास माना गया है। उस से टा को ना रूप आदेश करने के लिये और टा के परे रहते पूर्व को कोई दीर्घ आदि आदेश करने के लिये मुभाव असिद्ध नहीं होगा। टा को ना हो कर उस के परे रहते सुपि च से प्राप्त दीर्घ आदेश करने के लिये मुभाव असिद्ध नहीं होगा तो अमु के अदन्त न दीखने से सुपि च से दीर्घ न होगा। टा को नादेश करने के लिये भी मुभाव असिद्ध न होगा तो मुत्व

आत्वं कित्त्वस्योपादास्त ।

आत्वं कित्त्वस्यानिमित्तं स्यात् । क । उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति । आत्वे कृते 'स्थाघ्वोरिच्चे'तीत्त्वं प्राप्नोति । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । उक्तमेतत् 'दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे' इति ।

तिसृचतसृत्वं ङीब् विधेः ।

तिसृचतसृत्वं ङीब् विधेरनिमित्तम् । क । तिस्रस्तिष्ठन्ति । चतस्रस्तिष्ठन्तीति । तिसृ चतसृभावे कृते 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् प्राप्नोति ।

के सिद्ध होने से घिसंज्ञा हो कर ना आदेश हो जायगा ।'

उपादास्त (उप दीङ् सिच् लुङ् त) में दीङ् धातु को मीनातिमिनोति० से आत्व करने पर घुसंज्ञा द्वारा स्थाघ्वोरिच्च से प्राप्त कित्त्व का न होना भी प्रयोजन है । उप पूर्वक दीङ् से लुङ् लकार में सिच् परे रहते एज् विषय में मीनातिमिनोति० से आत्व होता है । आत्व हो कर दारूप होने से घुसंज्ञा द्वारा स्थाघ्वोरिच्च से सिच् को कित्त्व सहित इत्त्व प्राप्त होता है । संनिपातपरिभाषा से नहीं होता । जिस सिच् के अकित्त्व को निमित्त मान कर एज् विषय में दीङ् को आत्व हुआ है, वह आत्व घुसंज्ञा द्वारा स्थाघ्वोरिच्च से सिच् के अकित्त्व को नष्ट नहीं कर सकता । अर्थात् सिच् को कित् नहीं होने देगा । जिस से संनियोग-विहित इत्त्व भी नहीं होगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । दाधा घ्वदाप्० सूत्र पर दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे यह वार्तिक कह चुके हैं । उस से दीङ् की घुसंज्ञा न होने से स्थाघ्वोरिच्च से सिच् को कित्त्व नहीं होगा ।

तिस्रः चतस्रः (त्रि चतुर् जस्) में त्रि चतुर् शब्दों को तिसृ चतसृ आदेश करने पर ऋन्नेभ्यो ङीप् से प्राप्त ङीप् न होना भी प्रयोजन है । त्रि चतुर् शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में जस् परे रहते त्रिचतुरोः स्त्रियां० से तिसृ चतसृ आदेश होते हैं । तिसृ चतसृ

---

१. न मु ने सूत्र से केवल ना भाव करने के लिये ही मुभाव की असिद्धता का निषेध हो सकता था । ना भाव करने पर मुभाव की असिद्धता का निषेध नहीं हो सकता था इस लिये न मु टादेशे यह सूत्रभेद वार्तिककार को करना पड़ा । यह बात दूसरी है कि भाष्यकार ने न मु ने सूत्र के भाष्य में वृद्धकुमारीवरन्याय का उदाहरण दे कर न मु ने के ने शब्द से ही उक्त दोनों अर्थ निकाल लिये हैं और न मु टादेशे इस सूत्रभेद की आवश्यकता नहीं समझी ।

संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तिसृचतसृभावे कृते ङीप् भवतीति। यदयं 'न तिसृचतसृ' इति नामि दीर्घत्वस्य प्रतिषेधं शास्ति।

इमानि तर्हि प्रयोजनानि। शतानि सहस्राणि। नुमि कृते ष्णान्ता षडिति षट्संज्ञा प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति

के ऋकारान्त होने से ऋन्नेभ्यो ङीप् से ङीप् प्राप्त हुआ। वह संनिपातपरिभाषा से नहीं होता। जिस जस् विभक्ति को निमित्त मान कर तिसृ चतसृ हुए हैं वे ऋकारान्त हो कर ऋन्नेभ्यो० से प्राप्त ङीप् द्वारा अपने और उस जस् के सम्बन्ध को नष्ट नहीं कर सकते। इस लिये ङीप् नहीं होगा।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। न तिसृ चतसृ० सूत्र से तिसृ चतसृ को नाम् परे रहते जो दीर्घ का निषेध किया है वह आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि तिसृ चतसृ करने पर ङीप् नहीं होता। ङीप् होने पर उस का व्यवधान हो जाने से नाम् परे नहीं रहेगा तो दीर्घ प्राप्त ही नहीं। फिर उस का निषेध करना व्यर्थ है।[1]

अच्छा तो संनिपात परिभाषा के ये निम्न प्रयोजन हैं। शतानि। सहस्राणि। (शत सहस्र-जस् शस्) यहां शत सहस्र शब्दों से जस् शस् परे रहते जस् शस् को शि, शि की सर्वनामस्थान संज्ञा और नपुंसकस्य झलचः से नुम् होता है। नुम् करने पर शतन् सहस्रन् के नान्त हो जाने से ष्णान्ता षट् से षट् संज्ञा प्राप्त होती

---

१. यदि कहो कि प्रियास्तिस्रः येषां ते प्रियतिस्रः। तेषां प्रियतिसृणां ब्राह्मणानाम् यहां प्रियतिसृ समास के अवयव तिसृ शब्द में अङ्ग के स्त्रीत्ववाचक न होने से ऋन्नेभ्यो० से ङीप् प्राप्त ही नहीं तो नाम् परे मिल जायगा। वहां तिसृ चतसृ को दीर्घ प्राप्त होता है उसे रोकने के लिये न तिसृ चतसृ यह सूत्र रह सकता है तो यह ठीक नहीं। ऋन्नेभ्यो० इस ङीप् विधान करने वाले सूत्र में अङ्ग का अधिकार नहीं है। इस लिये प्रियतिसृ इस अङ्ग के स्त्रीत्ववाचक न होने पर भी उस के अवयव तिसृ के स्त्रीत्ववाचक होने से ङीप् प्राप्त है। ङीप् होने पर उस का व्यवधान हो जाने से नाम् परे न होगा तो दीर्घ अप्राप्त है। उस के लिये न तिसृ चतसृ यह निषेध व्यर्थ हो कर ज्ञापक ही है। इस ज्ञापक से ही ङीप् का निषेध सिद्ध हो जाने पर तिसृ चतसृ शब्दों का स्वस्रादिगण में पाठ करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। जिस के लिये न षट्स्वस्रादिभ्यः इस सूत्र से ङीप् का निषेध किया जाय।

न दोषो भवति।

शकटौ पद्धतौ। अत्त्वे कृते अत इति टाप् प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति।

इयेष उवोष। गुणे कृते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ' इत्याम् प्राप्नोति।

है। षट्संज्ञा हो कर षड्भ्यो लुक् से जस् शस् का लुक् प्राप्त होता है। संनिपात-परिभाषा से नहीं होता। यहाँ जस् शस् की सर्वनामस्थानसंज्ञक शि को निमित्त मान कर शत सहस्र को नुम् हुआ है वह इनके नान्त हो जाने से षट्संज्ञा द्वारा जस् शस् के सम्बन्ध को नष्ट नहीं कर सकता, तो जस् शस् का लुक् नहीं होगा।[1]

शकटौ पद्धतौ (शकटि पद्धति-ङि) यहां शकटि पद्धति इन स्त्रीलिङ्ग शब्दों से ङि परे रहते पक्ष में घिसंज्ञा हो कर अच्च घेः से ङि को औ तथा शकटि पद्धति के इकार को अकार होता है। अकार होने पर अदन्त हो जाने से अजाद्यतष्टाप् से टाप् प्राप्त होता है। टाप् हो कर सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जायगा तो वृद्धि को बाध कर रमायाम् की तरह शकटायाम् ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। संनिपात परिभाषा से नहीं होता। यहां ङि के ङित्व को निमित्त मान कर ङिति ह्रस्वश्च से पक्ष में घिसंज्ञा द्वारा शकटि पद्धति के इकार को अकार हुआ है वह इ ङि के अव्यवहित सम्बन्ध के नाश का कारण नहीं बन सकता। टाप् होने पर व्यवधान हो जाने से सम्बन्ध नहीं रहता इस लिये टाप् नहीं होगा।[2]

इयेष उवोष (इष्, उष्-लिट्, तिप, णल्) यहां इष् उष् धातुओं से लिट् लकार में तिप् परे रहते लघूपध गुण होता है। गुण होने पर इष् उष् धातुओं

---

१. यदि ष्णान्ता षट् में अन्त ग्रहण औपदेशिक नकारान्त संख्या की षट्संज्ञा करने के लिये किया है ऐसा मानें तब तो यह प्रयोजन भी नहीं रहता। क्योंकि शतानि सहस्राणि में शतन् सहस्रन् ये उपदेशावस्था में नकारान्त संख्या नहीं हैं।

२. यदि अच्च घेः में अत् इस तपरकरण के सामर्थ्य से ह्रस्व अकार को अव्याहत रखने के लिये टाप् की निवृत्ति मान लें तब तो यह प्रयोजन भी नहीं रहता। यदि कहो फिर शकटौ में वृद्धि भी कैसे होगी। अकार में विकार आ जाने से वह अव्याहत नहीं रहेगा तो उत्तर है—शकट औ इस अवस्था में वृद्धिरेचि से वृद्धि एकादेश हो कर भी पूर्व के प्रति अन्तवद्भाव से अकार अव्याहत एवं अविकृत ही रहता है। टाप् हो जाने पर तो विभक्ति और प्रातिपदिक में आनन्तर्य नहीं रहता इस लिये टाप् तो व्याघात पहुँचायेगा। वह तो विघातक ही माना जायगा।

संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति।

तस्य दोषो वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्य।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषो वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यात्। क्व। अत इञ्। दाक्षिः। प्लाक्षिः।

न प्रत्ययः संनिपातलक्षणः।

के गुरुमान् हो जाने से इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः से आम् प्राप्त होता है। फिर आमः से लिट् का लुक् प्राप्त होता है। संनिपात परिभाषा से नहीं होता। यहां लिट् के संनिपात से इष् उष् को गुण हुआ है वह इष् उष् के गुरुमान् हो जाने से आम् द्वारा लिट् के लुक् का कारण नहीं बन सकता है।[1]

इस संनिपात परिभाषा को मानने में ये दोष भी हैं। वर्ण के आश्रय से होने वाला प्रत्यय उस वर्ण के विचाल का अर्थात् लोप का निमित्त नहीं होना चाहिये। जैसे अत इञ् सूत्र के उदाहरण दाक्षिः प्लाक्षिः हैं। यहां दक्षस्यापत्यम् प्लक्षस्यापत्यम् इस अर्थ में दक्ष प्लक्ष शब्दों के अकार को निमित्त मान कर अत इञ् से अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय हुआ है। उस इञ् से परे रहते यस्येति च से अकार का लोप होता है। जिस अकार को मान कर इञ् हुआ वह इञ् उसी अकार का लोप कराता है यह संनिपात परिभाषा का विरोध है।[2]

इञ् प्रत्यय का अकारलोप के साथ सीधा कोई सम्बन्ध नहीं जिससे संनिपात परिभाषा का विरोध हो। हां अङ्गसंज्ञा या भसंज्ञा द्वारा तो दोनों का सम्बन्ध बनता है। अङ्गसंज्ञा होने पर ही दक्ष के अकार का लोप होगा। और अङ्गसंज्ञा में इञ् प्रत्यय निमित्त है।

---

१. यदि इजादेश्च गुरुमतो० के गुरुमतः शब्द में नित्य योग में मतुप् मान कर जो नित्य गुरुमान् इजादि धातु है उसी से आम् प्रत्यय होता है ऐसा मानें तो यह प्रयोजन भी नहीं रहता। क्योंकि इयेष उवोष ये नित्य गुरुमान् नहीं हैं। ये तो गुण होने पर गुरुमान् बने हैं। गुण से पहले गुरुमान् नहीं थे।

२. तस्य दोषो वर्णाश्रयः० इस वार्तिक में कुछ लोग वर्णाश्रयः के स्थान में अवर्णाश्रयः ऐसा सन्धिच्छेद भी करते हैं। उनके मत में दाक्षिः प्लाक्षिः ये उदाहरण हैं। यहां अवर्णाश्रय इञ् प्रत्यय है। वर्णाश्रय के उदाहरण आत्रेयः इत्यादि समझने चाहियें। अत्रेरपत्यम् आत्रेयः। अत्रि शब्द से इतश्चानिञः से अपत्य अर्थ

अङ्गसंज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यात् ।

आत्वं पुग्विधेः क्रापयति ।

आत्वं पुग्विधेरनिमित्तं स्यात् । क्व । क्रापयतीति ।

पुग् ह्रस्वत्वस्यादीदपत् ।

पुग् ह्रस्वत्वस्यानिमित्तं स्यात् । क्व । अदीदपदिति ।

त्यदाद्यकारष्टाब् विधेः ।

त्यदाद्यकारष्टाब्विधेरनिमित्तं स्यात् । क्व । या सेति ।

तो फिर अङ्गसंज्ञा ही अकारलोप में निमित्त नहीं होनी चाहिये। अर्थात् अङ्गसंज्ञा को सुरक्षित रखने के लिये दक्ष के अकार का लोप नहीं होना चाहिये। जिस इञ् प्रत्यय के कारण दक्ष यह अकारान्त अङ्ग बना है उस इञ् प्रत्यय से अकारलोप द्वारा अकारान्त की अङ्गसंज्ञा का विघात होता है यह संनिपात परिभाषा का विरोध है।

क्रापयति (क्री-णिच् लट् तिप्) में णिच् परे रहते क्रीङ्जीनां णौ से हुआ क्री को आत्व पुक् का निमित्त नहीं होना चाहिये। क्री धातु से णिच् परे रहते अचोञ्णिति वृद्धि हो कर क्रीङ्जीनां से आत्व होता है। फिर अर्तिह्रीव्लीरी० से पुक् हो जाता है। यहाँ णिच् को मान कर क्री को आत्व हुआ। यह आत्व धातु की और णिच् के आनन्तर्य का पुक् द्वारा विघात करता है यह संनिपातपरिभाषा का विरोध है।

अदीदपत् (दा णिच् लुङ् तिप्) में दा धातु से णिच् परे रहते अर्तिह्रीव्ली० से हुआ पुक् का आगम णौ चङ्युपधायाः० से होने वाले उपधाह्रस्व का निमित्त नहीं होना चाहिये। आकारान्त दा धातु से हुए पुक् के सम्बन्ध को उपधाह्रस्वत्व नष्ट करता है यह संनिपात परिभाषा का विरोध है।

या सा (यद् तद्-सु टाप्) में यद् तद् शब्दों से विभक्ति परे रहते त्यदादीनामः से हुआ अकार, टाप् का निमित्त नहीं होना चाहिये। जिस सु विभक्ति के परे रहते त्यदादीनामः से यद् तद् को अकार हुआ, उस सु विभक्ति के आनन्तर्य का टाप् होने पर विघात होता है यह संनिपातपरिभाषा का विरोध है।

में ढक् प्रत्यय होता है। ढ को एय् हो कर आदि वृद्धि तथा यस्येति च से इकार का लोप हो जाता है। जिस अत्रि के इकार वर्ण को मान कर ढक् हुआ वह ढक् भसंज्ञा द्वारा यस्येति च से उसी इकार वर्ण का लोप कराता है यह संनिपात परिभाषा का विरोध है।

इड्विधिराकारलोपस्य ययिवान् ।

इड्विधिराकारलोपस्यानिमित्तं स्यात् । क । ययिवान् । तस्थिवानिति ।

मतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्य ।

मतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्यानिमित्तं स्यात् । क । अग्निमान् । वायुमान् । परमवाचा । परमवाचे इति ।

नदीह्रस्वत्वं सम्बुद्धिलोपस्य ।

नदीह्रस्वत्वं सम्बुद्धिलोपस्यानिमित्तं स्यात् । क । नदि कुमारि किशोरि ब्राह्मणि ब्रह्मबन्धु इति । नदीह्रस्वत्वे कृते 'एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेरि'ति सम्बुद्धिलोपो न प्राप्नोति ।

मा भूदेवम् । ङ्यन्तादित्येवं भविष्यति ।

ययिवान् तस्थिवान् (या स्था-लिट् क्वसु) में या स्था धातुओं से लिट् में क्वसु परे रहते वस्वेकाजाद्० से हुआ इडागम, आकारलोप का निमित्त नहीं होना चाहिये। जिस आकारान्त से परे क्वसु को इडागम हुआ वह इट् आतो लोप इटि च से आकार का लोप कर के उसके सम्बन्ध का विघात करता है यह संनिपातपरिभाषा का विरोध है ।

अग्निमान् वायुमान् यहां अन्तोदात्त अग्नि वायु शब्दों से परे ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् से हुआ मतुप् को उदात्तत्व अनुदात्तं पदमेकवर्जम् से होने वाले शेष निघात का निमित्त नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार परमवाचा, परमवाचे में समासस्वर से अन्तोदात्त परमवाच् शब्द से परे टा ङे विभक्तियों को अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्या० से हुआ उदात्तत्व, शेषनिघात का निमित्त नहीं होना चाहिये। जिस उदात्त के कारण मतुप् प्रत्यय तथा टा ङे विभक्तियां उदात्त हुईं, शेष निघात से उस उदात्त का निघात होता है यह संनिपातपरिभाषा का विरोध है।

हे नदि ! हे कुमारि ! हे किशोरि ! हे ब्राह्मणि! हे ब्रह्मबन्धु यहां नदी कुमारी आदि शब्दों को सम्बुद्धि परे रहते अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः से ह्रस्व हुआ है वह एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः से होने वाले सम्बुद्धिलोप का निमित्त नहीं होना चाहिये। जिस सम्बुद्धि के कारण ह्रस्व हुआ, वह ह्रस्व सम्बुद्धि लोप का निमित्त बन उस का विघात करता है यह संनिपात परिभाषा का विरोध है।

हे नदि आदि में सम्बुद्धि का लोप संनिपातपरिभाषा विरोध के कारण

न सिध्यति। दीर्घादित्युच्यते। ह्रस्वान्ताच्च न प्राप्नोति।

इदमिह सम्प्रधार्यं ह्रस्वत्वं क्रियतां सम्बुद्धिलोप इति। किमत्र कर्तव्यम्।

परत्वाद्ध्रस्वत्वम्।

नित्यः सम्बुद्धिलोपः। कृते ह्रस्वत्वे प्राप्नोति अकृतेपि।

अनित्यः सम्बुद्धिलोपः। नहि कृते ह्रस्वत्वे प्राप्नोति। किं कारणम्। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति। एते दोषाः समा भूयांसो वा। तस्मान्नार्थोऽनया परिभाषया।

नहि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्। नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगाः सन्तीति

एङ्ह्रस्वात्० से न सही हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से हो जायगा।

हल्ङ्याब्० सूत्र से नहीं हो सकता। वहां दीर्घात् कहा है। दीर्घ ङी आप् से परे सु का लोप होगा। यहां ह्रस्व है।

यहां यह विचारना चाहिये कि हे नदी-सु इस अवस्था में हल्ङ्याब्० से सु का लोप करें या अम्बार्थनद्यो० से नदी को ह्रस्व करें। क्या करना चाहिये।

पर होने से अम्बार्थ० से ह्रस्व करना चाहिये।

सम्बुद्धि का लोप नित्य है। ह्रस्व करने पर भी प्राप्त होता है न करने पर भी।

सम्बुद्धि का लोप अनित्य है। ह्रस्व करने पर संनिपातपरिभाषा के विरोध से नहीं प्राप्त होता।

ये सब दोष इस परिभाषा के प्रयोजनों के समान हैं। बल्कि कुछ अधिक ही हैं। इस लिये संनिपातपरिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं। यह नहीं बनानी चाहिये।

केवल दोष होने से परिभाषा नहीं बनानी चाहिये या किसी सूत्र का निर्माण नहीं करना चाहिये यह बात ठीक नहीं। भिखारी आयेंगे इस डर से भोजन पकाना नहीं छोड़ा जाता। या जंगल में मृग खेती का नुकसान कर देंगे इस लिये खेत में यव आदि धान्य का बोना नहीं छोड़ा जाता। इस परिभाषा के दोष तो प्रायः सभी गिना दिये हैं। किन्तु प्रयोजनों के कुछ एक उदाहरण ही दिये हैं। क्योंकि दोषों

थवा नोप्यन्ते। दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्। कुत एतत्। नहि दोषाणां लक्षणमस्ति। तस्माद् यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या। प्रतिविधेयं दोषेषु।

अव्ययीभावश्च ॥१।१।४१॥

अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं लुङ्मुखस्वरोपचाराः।

अव्ययीभावस्य अव्ययत्वे प्रयोजनम्। किम्। लुङ्मुखस्वरोपचाराः।

का कोई लक्षण नहीं है। पहिचान नहीं है। परिहार्य होने से दोष हमारे लक्षण का का विषय नहीं। हमें तो प्रयोजनों से मतलब है। इस लिये जो इस परिभाषा के प्रयोजन हैं उन के लिये यह परिभाषा अवश्यमेव बनानी चाहिये। दोषों का समाधान हो जायगा।[1]

---

१. संनिपात परिभाषोक्त दोषों का समाधान इस प्रकार हो सकता है— दाक्षिः प्लाक्षिः में अकारलोप होने पर भी अङ्गसंज्ञा के विधान सामर्थ्य से अङ्गसंज्ञा हो जायगी। कष्टाय क्रमणे सूत्र में कष्टाय इस निर्देश से ह्रस्व अकार निमित्तक यादेश होने पर भी अकार को दीर्घ हो जायगा। न यासयोः इस ज्ञापक से या सा में टाप् हो जायगा। ययिवान् में वस्वेकाजाद् से इट् का विधान न मान कर नियम मानेंगे तो संनिपातलक्षण विधि न होने से दोष न होगा। क्रापयति में क्रा अङ्ग के अवयव केवल आकार को पुक् नहीं मानेंगे बल्कि क्रा इस सारे आकारान्त अङ्ग को मानेंगे तो णिच् परे रहते वह व्यवधायक नहीं होगा। अदीदपत् में मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा इस गणसूत्र द्वारा जो ज्ञा धातु को णिच् में उपधाह्रस्वार्थ मित् किया है उस ज्ञापक से ह्रस्व हो जायगा। अन्यथा अजिज्ञपत् में आकारान्त ज्ञा धातु से णिच् परे रहते होने वाला पुक्, ज्ञा के अकार को उपधा बना कर उपधा ह्रस्व द्वारा परस्पर के सम्बन्ध को नष्ट नहीं करेगा तो उपधाह्रस्व प्राप्त ही न होगा उसके लिये ज्ञा को मित् करना व्यर्थ है। अग्निमान् वायुमान्, परमवाचा परमवाचे में अनुदात्तं पदमेकवर्जम् इस शेषनिघातविधायक स्वरविषयक परिभाषा के वचन सामर्थ्य से संनिपात परिभाषा की बाधा हो जायगी। हे नदि आदि में सम्बुद्धिनिमित्तक ह्रस्व होने पर भी सम्बुद्धि का लोप हो जायगा। वहां एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः में ह्रस्व ग्रहण के सामर्थ्य से संनिपात परिभाषा नहीं लगेगी। अन्यथा एङ्ह्रस्वात् के स्थान में गुणात् सम्बुद्धेः कहने से ही इष्ट सिद्ध हो सकता था।

लुक् । उपाग्नि । प्रत्यग्नि । 'अव्ययादि'ति लुक् सिद्धो भवति । मुखस्वरः । उपाग्निमुखः प्रत्यग्निमुखः । 'नाव्ययदिक् शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः' इत्येष प्रतिषेधः सिद्धो भवति । उपचारः । उपपयःकारः । उपपयःकामः । 'अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्ये'ति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ।

किं पुनरिदं परिगणनमाहोस्विदुदाहरणमात्रम् ।

परिगणनमित्याह । अपि खल्वप्याहुः—'यदन्यदव्ययीभावस्याव्यय-

अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा में लुक् मुखस्वर और उपचार[1] ये प्रयोजन हैं । लुक् जैसे—उपाग्नि प्रत्यग्नि । अग्नेः समीपम् उपाग्नि । अग्नेः अभिमुखं प्रत्यग्नि । यहां अव्ययं विभक्तिसमीप० तथा लक्षणेनाभिप्रती० सूत्रों से यथाक्रम समीप और अभिमुख अर्थ में अव्ययीभाव समास होता है । उसकी अव्ययसंज्ञा होने से उपाग्नि प्रत्यग्नि से उत्पन्न सुप् का अव्ययादाप्सुपः से लुक् हो जाता है । मुखस्वर जैसे—उपाग्निमुखः प्रत्यग्निमुखः । यहां उपाग्नि प्रत्यग्नि वा मुखं यस्य स उपाग्निमुखः प्रत्यग्निमुखः इस बहुव्रीहि समास में पूर्वपद उपाग्नि प्रत्यग्नि ये अव्ययीभाव समास हैं । इन की अव्ययसंज्ञा होने से मुखं स्वाङ्गम् से प्राप्त उत्तरपद के अन्तोदात्त स्वर का नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्० से निषेध सिद्ध हो जाता है । उससे उत्तरपदान्तोदात्त स्वर न हो कर बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् से पूर्वपदप्रकृति स्वर होता है । उपचार जैसे—उपपयःकारः । उपपयःकामः । पयसः समीपमुपपयः । यहां उपपयः यह अव्ययीभाव समास है । उसकी अव्ययसंज्ञा होने से कार काम शब्द परे रहते अतः कृकमिकंस० सूत्र से प्राप्त विसर्ग के सकार का अनव्ययस्य यह निषेध सिद्ध हो जाता है । अतः कृकमि० सूत्र अव्ययभिन्न विसर्ग को सकार करता है । उपपयः के अव्यय होने से विसर्ग को सकार नहीं होता । उपचार का अर्थ विसर्ग के स्थान में होने वाला सकार है । यह प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई संज्ञा है ।

अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा के क्या ये सभी प्रयोजन गिना दिये हैं या कुछ और भी शेष हैं । ये केवल उदाहरण मात्र हैं ।

सभी प्रयोजन गिना दिये हैं । और कोई प्रयोजन नहीं । इसी लिये दूसरे आचार्य भी ऐसा कहते हैं कि इन प्रयोजनों से अतिरिक्त जो अव्ययीभाव समास

---

१. मुखस्वर और उपचार की निवृत्ति प्रयोजन है ।

कृतं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य' इति। किं पुनस्तत्। पराङ्गवद्भावः। पराङ्गवद्भावे अव्ययप्रतिषेधश्चोदितः। उच्चैरधीयान नीचैरधीयानेत्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति—उपाग्न्यधीयान प्रत्यग्न्यधीयान। अकच्यव्ययग्रहणं क्रियते। उच्चकैर्नीचकैरित्येवमर्थम्। तदिहापि प्राप्नोति-उपाग्निकं प्रत्यग्निकमिति। मुमि अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते दोषामन्यमहर्दिवामन्या रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति उपकुम्भंमन्यः उपमणिकंमन्य इति। 'अस्य च्वौ'। अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते दोषाभूतमहर्दिवा

को अव्यय संज्ञा के कार्य प्राप्त होते हैं उन का निषेध कहना चाहिये। वे कौन से हैं? जैसे—

पराङ्गवद्भाव। सुवामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे इस सूत्र में अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः इस वचन द्वारा अव्ययों में पराङ्गवद्भाव का निषेध किया गया है उस से उच्चैरधीयान नीचैरधीयान यहां अधीयान इस आमन्त्रित के परे होने पर उच्चैः नीचैः इन अव्यय सुबन्तों को आमन्त्रितस्य च सूत्रविहित षाष्ठ आमन्त्रित आद्युदात्त स्वर करने में पराङ्गवद्भाव का निषेध होता है। उसी प्रकार उपाग्न्यधीयान प्रत्यग्न्यधीयान यहां उपाग्नि प्रत्यग्नि इस अव्ययीभाव को भी अव्यय मान कर पराङ्गवद्भाव का निषेध प्राप्त होता है। पर उक्त कार्यों से अतिरिक्त कार्यों में अव्ययीभाव के अव्यय न होने से वह निषेध नहीं होगा तो पराङ्गवद्भाव हो जाता है। अव्ययसर्वनाम्नामकच्० से अकच् करने में अव्यय का ग्रहण किया है। उस से उच्चकैः नीचकैः यहां हो गया है। उच्चैः नीचैः शब्दों के अव्यय होने से स्वार्थ में अकच् हो जाता है। उसी प्रकार उपाग्निकन् प्रत्यग्निकन् यहां उपाग्नि प्रत्यग्नि इस अव्ययी भाव को अव्यय मान कर अकच् प्राप्त होता है। अन्य कार्यों में अव्ययीभाव के अव्यय न होने से न होगा तो सामान्य प्रागिवीय क प्रत्यय हो कर उपाग्निकं प्रत्यग्निकम् बन जाता है। खित्यनव्ययस्य से मुम् करने में अव्यय का निषेध किया है। उस से दोषामन्यमहः (आत्मानं दोषा मन्यते) दोषा मन्-खश्। दिवामन्या रात्रिः (आत्मानं दिवा मन्यते) दिवा मन्-खश्। यहां दोषा दिवा शब्दों के अव्यय होने से मुम् नहीं होता। उसी प्रकार उपकुम्भंमन्यः उपमणिकंमन्यः यहां उपकुम्भ उपमणिक इस अव्ययीभाव को भी अव्यय मान कर मुम् का निषेध प्राप्त होता है। अन्य कार्यों में अव्ययीभाव के अव्यय न होने से मुम् का निषेध नहीं होगा तो मुम् हो जाता है। अस्य च्वौ से च्वि परे रहते अवर्णान्त अङ्ग को ईकार करने में विशेष वचन द्वारा[1] अव्यय का निषेध किया है उस से अदोषा दोषा सम्पद्यमानं दोषाभूतम् अहः (दोषा-च्वि-भू)।

---

१. अस्य च्वौ सूत्र में अव्यय प्रतिषेध करनेवाला कौन सा निषेध वचन है

भूता रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति उपकुम्भीभूतम् उपमणिकी-भूतम्।

यदि परिगणनं क्रियते नार्थोऽव्ययीभावस्याव्ययसंज्ञया।

कथं यान्यव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनानि ?

नैतानि सन्ति। यत्तावदुच्यते लुगिति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यव्ययीभावाल्लुगिति। यदयं 'नाव्ययीभावादत' इति प्रतिषेधं शास्ति। उपचार इति। 'अनुत्तरपदस्थस्येति' वर्तते। तत्र मुखस्वर एकः प्रयोजयति। नचैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात्

अदिवा दिवा सम्पद्यमाना दिवाभूता रात्रिः (दिवा-च्वि-भू)। यहां दोषा दिवा शब्दों के अव्यय होने से ईकार नहीं होता। उसी प्रकार उपकुम्भीभूतम् उपमणिकी-भूतम् यहां उपकुम्भ उपमणिक इस अव्ययीभाव को भी अव्यय मान कर ईकार का निषेध प्राप्त होता है। अन्य कार्यों में अव्ययीभाव के अव्यय न होने से निषेध न होगा तो ईकार हो जाता है।

अव्ययीभावसमास की अव्ययसंज्ञा करने के यदि लुक्, मुखस्वर और उपचार ये तीन ही प्रयोजन हैं तब तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं।

लुक्, मुखस्वर आदि प्रयोजन कैसे सिद्ध होंगे ?

ये कोई प्रयोजन नहीं। जो लुक् प्रयोजन कहा है वह तो आचार्य के व्यवहार से सिद्ध हो जायगा। नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः सूत्र से जो अदन्त अव्ययीभाव से परे सुप् के लुक् का निषेध किया है उस से यह सिद्ध होता है कि अव्ययीभाव से परे सुप् का लुक् होता है। उपचार भी कोई प्रयोजन नहीं। अतः कृकमि० सूत्र में नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य इस पूर्व सूत्र से अनुत्तरपदस्थस्य की अनुवृत्ति आती है तो वह उत्तरपद में स्थित विसर्ग को सकार नहीं करेगा। उपपयःकारः, उपपयः-कामः यहां उपपयः इस अव्ययीभाव में पयः का विसर्ग उत्तरपद में स्थित है इस लिये सकार नहीं होगा। एक मुखस्वर प्रयोजन रह जाता है। उस एक प्रयोजन के लिये अव्ययीभावश्च यह सामान्य लक्षण नहीं बनाना चाहिये। यदि उपाग्नमुखः में मुखं स्वाङ्गम् से प्राप्त मुखस्वर को रोकना ही इस अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन होता तो नाव्ययदिक्शब्द० सूत्र में ही अव्यय के साथ अव्ययीभाव का भी ग्रहण कर

यह हमें अभी तक नहीं मालूम हुआ। अस्य च्वौ सूत्र पर तो भाष्य ही नहीं है। अव्ययप्रतिषेध करने वाला वचन अन्वेष्टव्य है। हां कौमुदीकार इस विषय में वार्तिक पढ़ते हैं।

तत्रैवायं ब्रूया'न्नाव्ययादव्ययीभावाच्चे'ति।

शि सर्वनामस्थानम् ॥१।१।४२॥

सुडनपुंसकस्य ॥१।१।४३॥

शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शि प्रतिषेधः।

शिसर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शिप्रतिषेधः

नाव्ययादव्ययीभावदिक् शब्द० ऐसा सूत्र बना देते।[1]

ये दोनों सूत्र सर्वनामस्थान संज्ञा करते हैं। सर्वनामस्थानसंज्ञा में दोनों का सम्बन्ध होने से भाष्यकार ने एक साथ हि निर्दिष्ट कर दिये हैं। शि सर्वनामस्थानम् का अर्थ है नपुंसक में जस् शस् के स्थान में होने वाले शि आदेश की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सुडनपुंसकस्य में अनपुंसकस्य' को यदि प्रसज्यप्रतिषेध मानें तो अर्थ होगा—सुट् अर्थात् सु औ जस् अम् औट् इन पांच प्रत्ययों की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है किन्तु नपुंसक में नहीं होती। पर्युदास मानें तो अर्थ होगा—नपुंसकभिन्न सुट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। प्रसज्यप्रतिषेध मानने में दो दोष आते हैं उन में प्रथम दोष का निरूपण करते हैं—

नपुंसक में सुट् की सर्वनामस्थान संज्ञा का निषेध मानने पर जस् के स्थान में होने वाले शि आदेश की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है। क्योंकि जस् सुटों में आ गया है। और उसके स्थान में होने वाला शि आदेश नपुंसक में है। कुण्डानि तिष्ठन्ति। वनानि तिष्ठन्ति यहां कुण्ड वन

---

१. ऐसा सूत्र नहीं बनाया इस से उपाग्निमुखः में मुखस्वर का होना अभीष्ट मालूम होता है। इस प्रकार भाष्यकार ने प्रश्न का उत्तर न दे कर सूत्र का खण्डन स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः अनव्ययम् अव्ययं भवति स अव्ययीभावः इस विग्रह द्वारा अव्ययीभाव शब्द के अन्वर्थ होने से ही अव्ययीभाव अव्यय समझ लिया जायगा। और उस से मुखस्वर की निवृत्ति हो जायगी। और स्वरादि के गणपाठ में पठित होने पर भी पुनः इस सूत्र के विधान से उस की अनित्यता भी समझ ली जायगी तो लुक्, मुखस्वरादि कतिपय इष्ट कार्यों में ही अव्ययीभाव अव्यय होगा। उस से प्रयोजनपरिगणन भी अन्यथासिद्ध होने से व्यर्थ है। अव्ययीभाव—यहाँ च्वि प्रत्यय के कारण अव्ययीभाव समास की अव्ययता आरोपित है और अनव्ययता वास्तविक है यह प्रतीत होता है जिस से कुछ एक अव्ययनिमित्तक कार्य होंगे और कुछ नहीं।

प्राप्नोति कुण्डानि तिष्ठन्ति। वनानि तिष्ठन्ति।

असमर्थसमासश्च।

असमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्योऽनपुंसकस्येति। न हि नञो नपुंसकेन सामर्थ्यम्। केन तर्हि? भवतिना। न भवति नपुंसकस्येति।

यत्तावदुच्यते शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शिप्रतिषेध इति।

नाप्रतिषेधात्।

नायं प्रसज्यप्रतिषेधो नपुंसकस्य नेति। किं तर्हि? पर्युदासोऽयं यदन्यन्नपुंसकादिति। नपुंसके न व्यापारः। केन चित् यदि प्राप्नोति तेन

शब्दों से नपुंसक में जस् के स्थान में शि होता है। वह स्थानिवद्भाव से जस् हो कर सुट् बन जाता है। अनपुंसकस्य से सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध होने पर नपुंसकस्य झलचः से नुम् तथा सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ से दीर्घ न हो सकेगा। दूसरा दोष भी कहते हैं।

नपुंसकस्य न भवति इस अर्थ में नञ् का सम्बन्ध भवति क्रिया के साथ है नपुंसक के साथ नहीं है। इस लिये नपुंसक शब्द के साथ नञ् का सामर्थ्य न होने से अनपुंसकस्य यह नञ् समास नहीं बनता। समर्थः पदविधिः इस परिभाषा के अनुसार दोनों पदों के परस्पर सम्बन्ध रूप सामर्थ्य में ही समास का विधान है। उसके अभाव में यदि समास होगा तो वह असमर्थसमास माना जायगा। अनपुंसकस्य भी असमर्थ समास है।

प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर जो दोष दिये हैं उनका समाधान यह है कि अनपुंसकस्य को प्रसज्यप्रतिषेध न मानिये। पर्युदास ही मान लीजिये। न नपुंसकम् अनपुंसकम्। तस्य अनपुंसकस्य। नपुंसकभिन्नस्य इत्यर्थः। नपुंसक के सुट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती ऐसा अर्थ न कर के नपुंसकभिन्न सुट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है ऐसा अर्थ कीजिये। ऐसा अर्थ करने पर यह सूत्र नपुंसक में सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध नहीं करेगा अपितु नपुंसकभिन्न में सर्वनाम-स्थानसंज्ञा का विधान करेगा। उस अवस्था में यह नपुंसकभिन्न को देखेगा, नपुंसक को नहीं। नपुंसक में इसका व्यापार न होगा। यदि किसी अन्य से नपुंसक में सर्वनामस्थानसंज्ञा प्राप्त होती है तो वह हो जायगी। नाप्रतिषेधात् इस वार्तिक में न अप्रतिषेधात् यह सन्धिच्छेद है। इस का अर्थ है कि न=अर्थात्

भविष्यति। पूर्वेण च प्राप्नोति।

अप्राप्तेर्वा।

अथवा अनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। कुत एतत्। 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वे'ति। पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया भविष्यति।

ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधेत।

नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम्।

उक्त दोष नहीं है। क्योंकि अप्रतिषेधात्=प्रतिषेध अर्थ न होने से। अनपुंसकस्य में नञ् का अर्थ निषेध न हो कर तद्भिन्न तत्सदृश अर्थ है। प्रसज्यप्रतिषेध न हो कर पर्युदास है। पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् इस उक्ति के अनुसार प्रसज्य तो प्रसक्त निषेध का नाम है। पर्युदास तद्भिन्न तत्सदृश को कहते हैं। कुण्डानि वनानि में जस् के शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा शि सर्वनामस्थानम् इस पूर्वसूत्र से प्राप्त होती है वह हो जायगी।

अथवा अनपुंसकस्य में प्रसज्यप्रतिषेध भी मान लें तो भी दोष नहीं। अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इस परिभाषा के अनुसार नपुंसकस्य न भवति यह निषेध अपने अनन्तर अव्यवहित पूर्ववर्ती सुट् इस अंश से प्राप्त सर्वनामस्थानसंज्ञा का ही निषेध करेगा। अपने से व्यवहित पूर्ववर्ती शि सर्वनाम-स्थानम् से प्राप्त सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध नहीं करेगा। तो सुट् अंश से प्राप्त सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध हो जाने पर भी कुण्डानि वनानि में शि सर्वनामस्थानम् से प्राप्त सर्वनामस्थानसंज्ञा रह जायगी। पूर्वा प्राप्ति=शि सर्वनामस्थानम् वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा।

सुट् वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा शि सर्वनामस्थानम् वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा को पर होने से बाध लेगी। और इस का अनपुंसकस्य से निषेध हो जायगा तो कुण्डानि वनानि में फिर भी सर्वनामस्थानसंज्ञा न हो सकेगी।

सुट् वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा तो अनपुंसकस्य से निषिद्ध हो जायगी। स्वयं निषिद्ध (अप्रवृत्त) हुई वह पूर्ववर्ती शि सर्वनामस्थानम् वाली को कैसे बाध लेगी। नहीं बाध सकती। वह अपना बचाव करेगी कि दूसरे को बाधने का साहस करेगी। (जैसे कोई भेड़िया किसी बकरी को खाना चाहता हो। पास ही शेर खड़ा हो तो भेड़िया शेर के रहते हुए उसके डर से बकरी को कैसे खा सकता है। वह बकरी को खाये या शेर से अपने को बचावे। अपना बचाव

यदप्युच्यते असमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्य इति। यद्यपि वक्तव्यः। अथवैतर्हि बहूनि प्रयोजनानि। कानि। असूर्यपश्यानि मुखानि। अपुनर्गेयाः श्लोकाः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति।

नवेति विभाषा ॥१।१।४४॥

नवेति विभाषायामर्थसंज्ञा करणम्।

नवेति विभाषायामर्थस्य संज्ञा कर्तव्या। नवाशब्दस्य योऽर्थस्तस्य संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्।

शब्दसंज्ञायां ह्यर्थासम्प्रत्ययो यथान्यत्र।

ही वह पहले करेगा) इस लिये कुण्डानि वनानि में शि सर्वनामस्थानम् वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा अव्याहत रह जायगी।

प्रसज्यप्रतिषेध में असमर्थसमास का जो दूसरा दोष दिया है वह यद्यपि ठीक है, फिर भी अनपुंसकस्य इस वचनसामर्थ्य से कहीं पर लक्ष्यानुरोध से प्रसज्यप्रतिषेध में भी नञ् समास हो जाता है, यह बात ज्ञापित की जायगी। अन्यथा सुट् स्त्रीपुंसयोः ऐसा सूत्र बना सकते थे। इस विषय में यह अनपुंसकस्य निर्देश ही तात्पर्यग्राहक होगा। प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् समास के बहुत से प्रयोजन हैं। जैसे—असूर्यपश्यानि मुखानि। अपुनर्गेयाः श्लोकाः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मण आदि। ये तीनों असमर्थसमास हैं। अनपुंसकस्य इस ज्ञापक से साधु मान लिये जावेंगे। असूर्यपश्य का विवक्षित अर्थ है—सूर्य को न देखने वाला। न कि सूर्यभिन्न को देखने वाला। अपुनर्गेय का अर्थ है—दुबारा न गाये जाने वाला। न कि दुबारा भिन्न गाये जाने वाला। अश्राद्धभोजी का अर्थ है—श्राद्ध न खाने वाला। न कि श्राद्धभिन्न (भोजन) खानेवाला। इन अर्थों में जहां नञ् का सम्बन्ध विवक्षित है वहां नञ् का प्रयोग नहीं हो रहा है। सूर्यमपश्य, पुनरगेय, श्राद्धाभोजी ऐसा प्रयोग होना चाहिये। पर वैसा न होने पर भी इन से विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार के अप्रमाणप्रतिपन्न, अभानुभेद्य, अरत्नालोकोच्छेद्य आदि अनेक असमर्थ समास के उदाहरण हैं जो गमक होने से ठीक मान लिये गये हैं।

न वेति विभाषा इस सूत्र में अर्थ की संज्ञा कहनी चाहिये। न वा शब्द का अर्थ जो निषेध और विकल्प है उसकी विभाषासंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये। अन्यथा न वा इस शब्दस्वरूप की विभाषासंज्ञा समझी जायगी, न वा के अर्थ की

शब्दसंज्ञायां हि सत्यामर्थस्यासंप्रत्ययः स्यात्। यथान्यत्र। अन्यत्रापि हि शब्दसंज्ञायां शब्दस्यैव सम्प्रत्ययो भवति नार्थस्य। क्वान्यत्र। 'दाधाघ्वदाप् तरप् तमपौ घ' इति। घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च शब्दस्य सम्प्रत्ययो भवति नार्थस्य।

तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः। इतिकरणः क्रियते सोऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति।

किं गतमेतदितिना। आहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम्।

गतमित्याह। कुतः। लोकतः। तद्यथा लोके गौरित्ययमाहेति गो शब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानो गोशब्दं स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति। सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्युतो यासावर्थपदार्थकता[1] तस्याः शब्द-

---

विभाषासंज्ञा न हो सकेगी। जैसे अन्यत्र दाधाघ्वदाप् तरप्तमपौ घः यहां दाधा शब्दों की घुसंज्ञा और तरप् तमप् शब्दों की घ संज्ञा होती है, दाधा के अर्थ और तरप् तमप् के अर्थ की नहीं होती।

तो फिर न वा शब्द के अर्थ की विभाषासंज्ञा कह दी जाय ?

कहने की आवश्यकता नहीं। न वेति में इति शब्द लगाया है वह अर्थनिर्देश के लिये समझा जायगा। न वा इति=नवेति। इस का अर्थ होगा कि न वा यह जो कहा जाता है, लौकिक वाक्यप्रयोग में किसी बात का निषेध करने के लिये न वा का जो प्रयोग किया जाता है उसको विभाषासंज्ञा होती है।

क्या यह बात इति शब्द के प्रयोग से समझ में आ जायगी या केवल इति शब्द के आधिक्य से अर्थ को खींचतान करके अधिक अर्थ निकाला जायगा।

इति शब्द से यह बात स्वयं निकल आयगी कि न वा के अर्थ की विभाषा संज्ञा होती है। कैसे ? लोक से। जैसे लोक में गौरित्ययमाह (इस ने गौ ऐसा शब्द कहा) इस वाक्य में गो शब्द के आगे लगा हुआ इति शब्द गो शब्द का अर्थ जो सास्नादिमान् पशु है उस अर्थ से गो शब्द को हटा कर गो इस शब्दस्वरूप का बोधक होता है उसी प्रकार यह शब्द शास्त्र में न वा शब्द के आगे लगा हुआ इति शब्द नवा शब्द का अपना अर्थ जो स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा के अनुसार न वा

---

१. यहाँ कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन इस वचन से भाव प्रत्यय सम्बन्ध में हुआ है। तस्याः इसके आगे प्रच्युतः यह शेष समझना चाहिये।

पदार्थकः सम्पद्यते। एवमिहापि नवा शब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानो नवा-शब्दं स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति। सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्युतो यासौ शब्दपदार्थकता तस्या लौकिकमर्थं प्रत्याययति न वेति यद् गम्यते, न वेति यत् प्रतीयते इति।

समानशब्दप्रतिषेधः।

समानशब्दानां[1] प्रतिषेधो वक्तव्यः। नवा कुण्डिका नवा घटिकेति

किंच स्यात्। यद्येतेषामपि विभाषासंज्ञा स्यात्।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ। दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम्। अचिरकृतायां संप्रत्ययः स्यात्।

न वा विधिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधसम्प्रत्ययो यथा लोके।

यह शब्दस्वरूप है उस से हटा कर उस के लोकप्रसिद्ध निषेध अर्थ का बोध करायेगा। जैसे त्वं ग्रामं गमिष्यसि न वा इस लौकिक वाक्य में तू गांव जायगा या नहीं इस प्रकार न वा का अर्थ निषेध समझा जाता है। यहां इतना ही भेद है कि लोक में इति लगने पर अर्थबोधक शब्द शब्दबोधक हो जाता है और शास्त्र में इति लगने पर शब्द स्वरूप बोधक शब्द उस के अर्थ का बोधक हो जाता है। इति शब्द अर्थ को बदल देता है।

न वा शब्द का समान शब्द जिन अर्थों का वाचक है उनकी विभाषा संज्ञा का निषेध कहना चाहिये जैसे न वा कुण्डिका (नई कुण्डी)। नवा घटिका (नई घड़ी)। यहां न वा का अर्थ नया है, निषेध नहीं है। उसकी भी विभाषासंज्ञा प्राप्त होती है जिसका निषेध कहना चाहिये।

क्या हो जायगा यदि नया अर्थवाचक न वा शब्द की भी विभाषासंज्ञा हो जाय तो?

विभाषा दिक् समासे बहुव्रीहौ में विभाषा कहने से नवीन अर्थबोधक दिक् शब्दों के समास की सर्वनामसंज्ञा होगी तो दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम् में नूतन रचित शाला की प्रतीति होने लगेगी।

---

१. यह बहुव्रीहि समास है। समानः शब्दो वाचको येषामर्थानाम् ते समान-शब्दाः।

न वा एष दोषः। किं कारणम्। विधिपूर्वकत्वात्। विधाय किंचिन्नवेत्युच्यते। तेन प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति। तद्यथा लोके ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा। नेति गम्यते।

अस्ति कारणं येन नवेति लोके प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति। किं कारणम्। विलिङ्गं हि भवान् लोके निर्देशं करोति। अङ्ग हि समानलिङ्गो निर्देशः क्रियतां प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति। तद्यथा ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः। प्रत्यग्र इति गम्यते।

एतच्चैव न जानीमः क्वचिद् व्याकरणे समानलिङ्गो निर्देशः क्रियते इति। अपि चात्र कामचारः प्रयोक्तुः शब्दानामभिसम्बन्धे।

यह कोई दोष नहीं। विधिस्थलों में पहले कुछ विधान कर के फिर नवा यह कहा जाता है तो उससे निषेध अर्थ ही समझा जायगा। नूतन अर्थ नहीं। क्योंकि विभाषा यह संज्ञा संज्ञाप्रदेशों में अर्थपरिष्कार के लिये की गई है वहां विधिशास्त्र में नवा की उपस्थिति होगी तो नवा शब्द से निषेध अर्थ का बोध होगा। जैसे लोक में ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा ऐसा कहने पर नवा शब्द का आप गांव जायेंगे या नहीं, यह निषेध अर्थ ही समझा जाता है, नवीन नहीं। विधिवाक्यों की अनुकूलता के लिये प्रकृतसंज्ञा सूत्र में भी नवा निषेधार्थक ही लिया जायगा।

लोक में नवा शब्द से निषेध अर्थ के समझे जाने का तो कारण है। आप ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा इस लौकिक वाक्य में ग्राम शब्द से भिन्न लिङ्ग वाले व्यधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करते हैं। ग्राम पुंलिङ्ग है। नवा स्त्रीलिङ्ग है। इस लिये वहां निषेध अर्थ समझा जाता है। यदि आप ग्राम शब्द के समान लिङ्ग वाले समानाधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करके ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः ऐसा कहें तो निश्चित ही नव शब्द से आप नया गांव जायेंगे इस प्रकार नया इस अर्थ की प्रतीति होगी।

हम यही नहीं जानते कि व्याकरण में कहां नवा शब्द का समानलिङ्ग निर्देश किया है। अर्थात् कहीं नहीं हुआ है।[1] दूसरी बात यह भी है कि वाक्यस्थ

---

१. यद्यपि विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् इस सूत्र में सेना सुरादि के स्त्रीलिङ्ग होने से विभाषा शब्दोपस्थापि नवा शब्द स्त्रीलिङ्ग संभव है तो भी भिन्न विभक्ति होने से दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं बनता। सेना सुरादि में षष्ठी बहुबचन का निर्देश है। विभाषोपस्थापि नवा में नहीं है।

तद्यथा यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा। यदा यवागूशब्दो भुजिना सम्बध्यते भुजिर्नवाशब्देन तदा प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति। यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा। नेति गम्यते। यदा तु नवाशब्दो यवागूशब्देनाभिसम्बध्यते न भुजिना तदा प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति। यथा यवागूर्नवा भवता भोक्तव्या। प्रत्यग्रेति गम्यते। न चेह वयं विभाषाग्रहणेन सर्वादीन्यभिसंबध्नीमः— दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि विभाषा भवन्तीति। किं तर्हि सर्वनामसंज्ञाभिसम्बध्यते दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति विभाषेति।

विध्यनित्यत्वमनुपपन्नं प्रतिषेधसंज्ञाकरणात्।

विधेरनित्यत्वं नोपपद्यते। शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः। शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः। किं कारणम्। प्रतिषेधसंज्ञाकरणात्। प्रतिषेधस्येयं संज्ञा क्रियते। तेन विभाषाप्रदेशेषु प्रतिषेधस्यैव संप्रत्ययः स्यात्।

शब्दों का परस्पर सम्बन्ध करना बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर है। जैसे— यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा इस वाक्य में यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध भोजन-क्रिया से विवक्षित हो और भोजन क्रिया का नवा से तो आप यवागू (खिचड़ी) खायेंगे या नहीं इस प्रकार नवा शब्द का निषेध अर्थ समझा जायगा। और यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध नवा से विवक्षित हो भोजन क्रिया से न हो तो आप नई यवागू खायेंगे इस प्रकार नवा शब्द का नया अर्थ समझा जायेगा। हम यहां विभाषा दिक् समासे० में विभाषा का सम्बन्ध सर्वादि के साथ करके ऐसा अर्थ नहीं करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञक सर्वादि विभाषा होते हैं। बल्कि विभाषा का सम्बन्ध भवति क्रिया के साथ कर के ऐसा अर्थ करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वादि सर्वनामसंज्ञक विभाषा होते हैं। सर्वनामसंज्ञा होने के साथ विभाषा का सम्बन्ध है। सर्वादि के साथ नहीं। इस लिये निषेध अर्थ का ही बोध होगा। नये का नहीं।

विभाषा संज्ञा में विधि की अनित्यता अर्थात् विकल्प नहीं बनता। विकल्प की विभाषासंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि नवा यह शब्द अथवा की तरह एक ही निपातसंज्ञक अव्यय है। जिसका अर्थ निषेध है। उस से विभाषा-स्थलों में केवल निषेध की प्रतीति होगी विकल्प की नहीं तो विभाषा श्वेः में श्विधातु को सम्प्रसारण के विकल्प से होने वाले शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः। शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः ये दो २ रूप नहीं बन सकेंगे।

सिद्धं तु प्रसज्यप्रतिषेधात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसज्यप्रतिषेधात् । विधाय किं चिन्नवेत्युच्यते तेनोभयं भविष्यति ।

विप्रतिषिद्धं तु ।

विप्रतिषिद्धं तु भवति । अत्र न विज्ञायते केनाभिप्रायेण प्रसजति । केन निवृत्तिं करोतीति ।

न वा प्रसङ्गसामर्थ्यादन्यत्र प्रतिषेधविषयात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । प्रसङ्गसामर्थ्यात् । प्रसङ्गसामर्थ्याच्च विधिर्भविष्यति अन्यत्र प्रतिषेधविषयात् । प्रतिषेधसामर्थ्याच्च प्रतिषेधो भविष्यति अन्यत्र विधिविषयात् ।

तदेतत् क्व सिद्धं भवति । या अप्राप्ते विभाषा । या हि प्राप्ते

पहले विधान करके फिर नवा शब्द से निषेध कहा गया है उस से विधि और निषेध के दोनों रूप बन जायेंगे । प्रसज्य=विधाय प्रतिषेधः निषेधः=प्रसज्यप्रतिषेधः । विभाषा श्वेः यहां श्विधातु यजादि है । उस में वचिस्वपि० से कित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण का विधान है । विभाषा कहने से निषेध हो जायगा जिससे पित् प्रत्यय परे रहते विधिका अनुमान हो जायगा क्योंकि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है । तो विकल्प होकर दो रूप बन जायेंगे ।

इस में तो परस्पर विरोध प्राप्त हो जायगा । दो रूप कैसे बन जायेंगे । क्योंकि विधि और निषेध दोनों में यह नहीं मालूम होगा कि किस अभिप्राय से विधि है और किस अभिप्राय से निषेध है । इस लिये दोनों युगपत् नहीं हो सकते । एक ही विषय में विधि और निषेध परस्पर विरुद्ध हैं ।

प्रसङ्ग=विधि के सामर्थ्य से तो विधि हो जायगी निषेध विषय को छोड़ कर । विभाषा द्वारा निषेध किया गया है उस के सामर्थ्य से निषेध हो जायगा विधि विषय को छोड़ कर । इस प्रकार पर्याय से विधि और निषेध दोनों होकर दो रूप बन जायेंगे । विधि भी व्यर्थ न हो और निषेध भी व्यर्थ न हो इस लिये दोनों का पर्याय मान कर काम चल जायगा । परस्पर विरुद्ध होने से दोनों का यौगपद्य तो असंभव है ।

विधि और निषेध का पर्याय वहीं सिद्ध हो सकेगा जो अप्राप्त विभाषायें हैं । अप्राप्तविभाषाओं में विना प्राप्ति के ही निषेध कहने से विधि का अनुमान कर लिया जायगा क्योंकि विधिपूर्वक ही निषेध होता है । इस लिये वहां विधि और निषेध दोनों का पर्याय होकर दो रूप बन जायेंगे । लेकिन जो प्राप्त विभाषायें

विभाषा कृतसामर्थ्यस्तत्र पूर्वेणैव विधिरिति कृत्वा प्रतिषेधस्यैव सम्प्रत्ययः स्यात्।

एतदपि सिद्धम्। कथम्। विभाषेति महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् उभयोः संज्ञा यथा विज्ञायेत। नेति च वेति च। तत्र या तावद् अप्राप्ते विभाषा तत्र प्रतिषेध्यं नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति। या हि प्राप्ते विभाषा तत्रोभयमुपस्थितं भवति नेति च वेति च। तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति।

एवमपि।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनानुपपत्तिः।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनं नोपपद्यते। शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः।

हैं वहां तो पूर्व से प्राप्त का निषेध ही जाना जायगा। कारण कि वहाँ विधि पूर्व शास्त्र द्वारा कृतसामर्थ्य है अर्थात् विधान से उस ने निषेध की विधि कल्पना करने की शक्ति को नष्ट कर दिया है। सो निषेध विधि का अनुमान नहीं करायेगा। उस अवस्था में विधि और निषेध का पर्याय न होकर निषेध का ही एक रूप बन सकेगा, विधि का नहीं।

यह भी सिद्ध हो जायगा। अप्राप्तविभाषा की तरह प्राप्तविभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे। कैसे? विभाषा यह बहुत अक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की है। और संज्ञा छोटी से छोटी होनी चाहिये। क्योंकि लाघव के लिए संज्ञा की जाती है तो बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन होगा कि नवा यह निषेधवाची एक निपात न मान कर न और वा ये दो निपात माने जायेंगे जिन का अर्थ निषेध और विकल्प होगा। उस से निषेध और विकल्प दोनों की विभाषा संज्ञा होगी केवल निषेध की नहीं। ऐसा मानने पर जो अप्राप्तविभाषायें हैं वहां विना प्राप्ति के ही विभाषा कहने से निषेधार्थक न-अंश का कोई प्रयोजन नहीं होगा तो वा-अंश से विकल्प हो कर दो रूप बन जायेंगे। और जो प्राप्त विभाषायें हैं उन में प्राप्ति का निषेध आवश्यक है इसलिये पहले न-अंश से निषेध होकर फिर वा अंश से विकल्प हो जायगा तो वहां भी दो रूप बन जायेंगे।

निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा मानने पर भी जो उभयत्र विभाषायें हैं अर्थात् एक साथ ही किसी अंश में प्राप्त और किसी में अप्राप्त विभाषायें हैं वहां विधि और निषेध के दो रूप एक साथ नहीं सिद्ध हो सकते। क्योंकि निषेधार्थक न-शब्द वहां प्राप्त अंश में निषेध कर देगा फिर वा से विकल्प हो

शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः। किं कारणम्।

भवतीति चेन्न प्रतिषेधः।

भवतीति चेत् प्रतिषेधो न प्राप्नोति।

नेति चेन्न विधिः।

नेति चेद् विधि र्न सिध्यति।

सिद्धं तु पूर्वस्योत्तरेण बाधितत्वात्।

पूर्वविधिमुत्तरो विधिर्बाधते। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थ इत्युक्तम्।

जायगा तो प्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे। अप्राप्त अंश खाली रह जायगा। वहां कुछ न होगा। और जो वहां अप्राप्त अंश है वहां न का प्रयोजन न होने से वा से विकल्प हो जायगा तो केवल अप्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे। प्राप्त अंश रह जायगा। जैसे—विभाषा श्वेः यह उभयत्र विभाषा है। लिट् के कित् अंश में तो वचिस्वपि० से श्वि को प्राप्त सम्प्रसारण है वहां भी दो रूप बनाने हैं। और लिट् के अकित् अंश में किसी से भी सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है वहां भी दो रूप बनाने हैं। शुशाव, शिश्वाय ये अकित् लिट् के रूप हैं। शुशुवतुः शुशुवुः, शिश्वियतुः शिश्वियुः ये कित् लिट् के रूप हैं। दोनों में एक साथ दो २ रूप नहीं बन सकेंगे। क्योंकि विभाषा शब्द की वा भवति 'विकल्प से होता है' इस प्रकार यदि विधिमुख से प्रवृत्ति मानें तो प्राप्त अंश में निषेध नहीं सिद्ध होता। और यदि वा न भवति 'विकल्प से नहीं होता है' इस प्रकार निषेधमुख से प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त अंश में विधि नहीं सिद्ध होती।

उभयत्र विभाषाओं में भी दोनों अंशों में दो २ रूप सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि सूत्र में पठित न यह पूर्वविधि वा इस उत्तरविधि से बाधित हो जायगी तो पहले प्राप्त अप्राप्त सभी अंशों में न की प्रवृत्ति हो कर निषेध हो जायगा। निषेध द्वारा प्राप्त अप्राप्त सब अंश समान कर दिये जायेंगे। फिर वा से सभी प्राप्त अप्राप्त अंशों में विकल्प हो जायगा। इस प्रकार उभयत्र विभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे। न वेति में न इति और वा इति इस प्रकार न वा शब्दों में इति लगाना दोनों के निषेध और विकल्प अर्थ के निर्देश के लिये है यह अभी कह चुके हैं[1]।

---

१. न और वा की सूत्र पठित क्रम से ही प्रवृत्ति होगी। यदि पहले वा की प्रवृत्ति करके फिर न की प्रवृत्ति करें तो वा की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायगी। इस लिये

साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम्।

साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा क्रियते स विभाषा साधुः स्यात्। समासश्चैव हि विभाषा क्रियते तेन समासस्यैव विभाषा साधुत्वं स्यात्।

साधुशब्दों के अनुशासन रूप इस व्याकरण शास्त्र में जिस को विभाषा कहा है उस का साधुत्व भी विभाषित एवं वैकल्पिक होना चाहिये। अर्थात् कार्य के विकल्प के साथ उस के साधुत्व में भी विकल्प होना चाहिये। वह एक पक्ष में साधु हो और दूसरे पक्ष में असाधु रहे। विभाषा इस सूत्र से समास प्रकरण को विभाषा कहा गया है। समास विकल्प से होता है इसलिये समास में ही साधुत्व

पहले सर्वत्र निषेध कर के फिर सर्वत्र विकल्प का विधान होगा। मीमांसा आदि अन्य शास्त्रों में केवल विकल्प को ही विभाषा माना जाता है निषेध को नहीं। किन्तु यहां व्याकरण में निषेध और विकल्प दोनों की विभाषासंज्ञा मानी गई है। न और वा की एक साथ विभाषासंज्ञा मानने का प्रयोजन उभयत्र विभाषाओं में है। प्राप्त विभाषा और अप्राप्तविभाषा तो इस सूत्र के विना भी सिद्ध हो सकती हैं। प्राप्त विभाषाओं में विधि तो पहले से है ही, पक्ष में विभाषा कहने से निषेध हो कर दो रूप बन जायेंगे। अप्राप्त विभाषाओं में भी अप्राप्ति रूप निषेध पहले से है ही पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो कर दो रूप बन जायेंगे। किन्तु विभाषा श्वेः इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में इस सूत्र के विना काम नहीं चल सकता। वहां विकल्प से होता है इस प्रकार यदि विधिमुख से प्रवृत्ति मानें तो जहां पहले से सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है ऐसे अकित् जो तिप् सिप् मिप् हैं वहीं दो रूप बन सकेंगे। शुशाव शिश्वाय। शुशविथ शिश्वयिथ। क्योंकि वहां निषेध तो पहले से सिद्ध है ही, पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो जायगी। कित् जो अतुस् आदि है उन में वचिस्वपि० से नित्य ही सम्प्रसारण प्राप्त रहेगा। और यदि विकल्प से नहीं होता है इस प्रकार निषेधमुख से प्रवृत्ति मानें तो कित् अतुस् आदि में प्राप्त सम्प्रसारण का पक्ष में निषेध हो कर वहीं शुशुवतुः शुशुवुः। शिश्वियतुः, शिश्वियुः आदि दो रूप बन सकेंगे। अकित् तिप् आदि में नहीं वन सकेंगे। इस सूत्र के बना देने पर पहले कित् अकित् दोनों जगह निषेध की प्रवृत्ति होगी। फिर दोनों जगह विकल्प की प्रवृत्ति हो कर सर्वत्र दो २ रूप बन जायेंगे। यदि तो विभाषा श्वेः इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में भी विधिमुख एवं निषेधमुख दोनों प्रवृत्तियां लक्ष्यभेद से एक साथ इष्ट मानें तब तो इस सूत्र के विना भी उभयत्र विभाषाओं में दो २ रूप सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। यह बात आगे अशिष्यो वा विदितत्वात् इस वार्तिकद्वारा स्वयं कहेंगे।

अस्तु यः साधुः स प्रयोक्ष्यते असाधुर्न प्रयोक्ष्यते।

न चैव हि कदाचिद् व्याकरणे राजपुरुष इत्येतस्यामवस्थायामसाधुत्वमिष्यते। अपि च—

द्वैधाऽप्रतिपत्तिः।

द्वैधं शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात्। इच्छामश्च पुनर्विभाषाप्रदेशेषु द्वैधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति। तच्च न सिध्यति। यस्य पुनः कार्याः शब्दाः। विभाषासौ समासं निर्वर्तयति।

यस्यापि नित्याः शब्दास्तस्याप्येष दोषो न भवति। कथम्। न विभाषाग्रहणेन साधुत्वमभिसम्बध्यते। किं तर्हि। समाससंज्ञाभिसम्बध्यते। समास इत्येषा संज्ञा विभाषा भवतीति। तद्यथा मध्यः पशुर्विभाषितः।

का विकल्प भी प्राप्त है।

अच्छा, जो साधु शब्द होगा उस का प्रयोग करेंगे। असाधु का नहीं करेंगे।

किन्तु राजपुरुषः यह समस्त पद तो सर्वथा साधु है। इसमें असाधुत्व की संभावना ही इष्ट नहीं है। यहां तो विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ होने से इस में भी पक्ष में असाधुत्व प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि विभाषा कहने से शब्दों के जो दो रूप इष्ट हैं वे नहीं सिद्ध होते। क्योंकि विभाषा का सम्बन्ध तो साधुत्व के साथ हो गया। कार्य के साथ न रहा तो दो रूप कैसे बनेंगे। हम चाहते हैं कि शब्दों के दो रूप बनें। वे विभाषा कहने पर भी नहीं बन पाते। जो तो शब्दों को कार्य अर्थात् कृति निष्पन्न एवं अनित्य मानता है उसके मत में तो विभाषा का सम्बन्ध विधीयमान कार्य के साथ होने से शब्दों के दो रूप बन जायेंगे। वह समास का विकल्प से विधान करता है न कि उसके साधुत्व का। नित्यशब्दवादी के मत में समास के नित्य सिद्ध होने से उसका अन्वाख्यानमात्र किया जाता है। नया विधान नहीं।

जिसके मत में शब्द नित्य हैं उसमें भी यह दोष नहीं आता क्योंकि वह विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ न कर के समाससंज्ञा के साथ ही करेगा। साधुत्व पुरुषकृत नहीं है। समाससंज्ञा के पुरुषकृत होने से उसी के साथ विभाषा का सम्बन्ध होगा तो नित्यशब्दवादी के मत में भी शब्दों के दो रूप बन जायेंगे। जैसे—मेध्यः पशुर्विभाषितः। मेध्योऽनड्वान् विभाषितः इस शास्त्रवचन में विभाषा का सम्बन्ध आलम्भन क्रिया के साथ है। इसका अर्थ है—यज्ञिय पशु विभाषित है। यज्ञिय बैल विभाषित है। अर्थात् यज्ञिय बैल या अन्य पशु का आलम्भन

मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। नैतद् विचार्यते अनड्वान् नानड्वान् इति। किं तर्हि। आलब्धव्यो नालब्धव्य इति।

कार्येषु युगपद[1]न्वाच[2]ययौगपद्यम्।

कार्येषु शब्देषु युगपदन्वाचयेन च यदुच्यते तस्य युगपद्वचनता प्राप्नोति। 'तव्यत्तव्यानीयरः'। 'ढक् च मण्डूकादि'ति। यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः प्रयुक्तानामसौ साधुत्वमन्वाचष्टे।

ननु च यस्यापि कार्यास्तस्याप्येष न दोषः। कथम्। प्रत्ययः परो भवतीत्युच्यते। न चैकस्याः प्रकृतेरनेकस्य प्रत्ययस्य युगपत्परत्वेन संभवोस्ति।

नापि ब्रूमः प्रत्ययमाला प्राप्नोतीति। किं तर्हि। कर्तव्यमिति

विकल्पित है। उसका आलम्भन किया भी जा सकता है, नहीं भी। यहां विभाषा शब्द से उस पशु के अनड्वान् होने या न होने का विकल्प नहीं है। यह नहीं विचार किया जाता कि वह अनड्वान् है या नहीं है। अपितु वह आलम्भन योग्य है या नहीं इसका विचार होता है।

इसके अतिरिक्त अनित्य शब्दवाद में यह दोष है कि जो कार्य एक साथ या अन्वाचयरूप चकार के योग से कहे गये हैं वे एक साथ प्राप्त होते हैं। तव्यत्तव्यानीयरः यहां तव्यत् तव्य अनीयर् ये तीनों प्रत्यय एक साथ उच्चारित हैं इस लिये धातु से एक साथ ही उत्पन्न होने चाहियें। अलग २ नहीं। ढक् च मण्डूकात् यहां चकार से अण् प्रत्यय अन्वाचयशिष्ट है वे दोनों एक साथ ही मण्डूक शब्द से उत्पन्न होने चाहियें। अलग २ नहीं। नित्यशब्दवादी तो अलग २ प्रयुक्त तव्यदादि के साधुत्व मात्र का अन्वाख्यान करता है उस के मत में नये शब्द उत्पन्न नहीं किये जाते इस लिये वहां यह दोष नहीं आता।

अनित्यशब्दवादी के मत में भी यह दोष नहीं है। क्योंकि प्रत्ययः परश्च के वचन से प्रत्यय, धातु या प्रातिपदिक से परे होता है। एक प्रकृति से परे एक साथ अनेक प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकते। इस लिये एक २ ही होगा।

हम यह कब कहते हैं कि प्रकृति से परे तव्यदादि सब प्रत्ययों की एक साथ माला प्राप्त होती है। अपितु यह कहते हैं कि एक शब्द के साथ ही दूसरे

---

१. युगपद्=युगपद्भाव।

२. अन्वाचय=समुच्चय, जिसका चकार से अथवा स्वरितत्व से विधान है।

प्रयोक्तव्ये युगपद् द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगः प्राप्नोतीति।

नैष दोषः। अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात् तस्यार्थस्य द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम्। उक्तार्थानामप्रयोग इति।

आचार्यदेशशीलनेन च तद्विषयता।

आचार्यदेशशीलनेन च यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य। प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलमिति। गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जीरन्। प्राक्षु चव हि फिन् स्यात्। तद्यथा जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमवाद्यत्। तस्मान्नाजामदग्न्यः पञ्चावृत्तं जुहोति। यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः गालवग्रहणं तस्य पूजार्थम्। देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम्।

तीसरे शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। कर्तव्यम् के प्रयोग के साथ ही करणीयम् का प्रयोग भी प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। अर्थ को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग होता है। मैं शब्द बोल कर इस अर्थ को समझाऊंगा इस लिये शब्द बोला जाता है। उसमें एक शब्द से उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर फिर उसी अर्थ वाले दूसरे तीसरे शब्द का प्रयोग नहीं होगा। उक्तार्थानामप्रयोगः यह न्याय प्रसिद्ध है। इस का अर्थ है—गतार्थ हुए शब्द का प्रयोग नहीं होता। जिस (करणीय) शब्द का अर्थ (कर्तव्य) शब्द द्वारा एक बार कहा जा चुका वह शब्द नहीं बोला जाता।

अनित्यशब्दवाद में यह भी दोष है कि किसी आचार्य या देश का नाम ले कर जो कार्य कहे हैं उनके प्रयोग का विषय वह आचार्य या देश ही होना चाहिये, सब नहीं। वे कार्य उसी आचार्य या देश द्वारा प्रयुक्त होने चाहियें। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य में गालव आचार्य के नाम से ह्रस्व कहा है तो गालव आचार्य ही ह्रस्व का प्रयोग करे। प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् में प्रागदेश वासियों के नाम से फिन् कहा है तो प्राग्देशवासी ही फिन् का प्रयोग करें। सब नहीं। जैसे—जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमवाद्यत्० यह किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। इसका अर्थ है—क्योंकि जमदग्नि ऋषि ने इस पुरोडाश का पांचवां अवदान किं वा खण्ड किया था इस लिये जमदग्निसगोत्र ही पांच खण्ड वाले पुरोडाश की आहुति देवे। दूसरा अजामदग्न्य जमदग्निगोत्रीय से भिन्न नहीं। पञ्चावत्तम्= पांच खण्ड वाला पुरोडाश। यहां पञ्चावत्त पुरोडाश की हवि केवल जमदग्नि-

ननु च यस्यापि कार्याः शब्दास्तस्यापि गालवग्रहणं पूजार्थं स्यात्। देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम्।

तत्कीर्तने च द्वैधाऽप्रतिपत्तिः।

तत्कीर्तने च द्वैधं शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात्। इच्छामश्च पुनराचार्यग्रहणेषु देशग्रहणेषु च द्वैधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति। तच्च न सिध्यति।

अशिष्यो वा विदितत्वात्।

अशिष्यो वा पुनरयं योगः। किं कारणम्। विदितत्वात्। यदनेन योगेन प्रार्थ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात्। येपि ह्येतां संज्ञां नारभन्ते

गोत्रोत्पन्न व्यक्ति का ही विषय है। अन्य का नहीं। नित्यशब्दवाद में तो यह दोष नहीं आता। उसके मत में गालव का ग्रहण पूजा के लिये है और प्राग् देश का ग्रहण उस देश की चिरस्थायी कीर्ति के लिये है।

अनित्यशब्दवाद में भी यह दोष नहीं आता। उसके मत में भी गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण उस देश की कीर्ति के लिये हो सकता है। अनित्यशब्दवादी इको ह्रस्वो० का ऐसा अर्थ कर सकता है कि जिस प्रकार गालव आचार्य ने इक् को ह्रस्व किया है वैसे तुम भी करो।

यह ठीक है कि अनित्यशब्दवादी के मत में गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण देश की कीर्ति के लिये रहे, किन्तु इक् को ह्रस्व तो गालव के मत में ही विहित होगा। फिर भी प्राक् देश में ही विहित होगा तो शब्द के दो रूप तो सिद्ध न हुए। हम चाहते हैं कि आचार्य और देश वाले कार्य में भी शब्दों के दो रूप हों। यह बात अनित्य शब्दवाद में सिद्ध नहीं होती इस लिये यह पक्ष अयुक्त है। नित्यशब्दवाद में तो ह्रस्व और दीर्घ वाले दो रूप पहले से ही विद्यमान हैं। उनका नया विधान नहीं करना है अतः गालवग्रहण केवल ह्रस्व की स्मृति द्वारा पूजार्थ है। इस लिये शब्दों को नित्य मानना ही युक्तियुक्त एवं निर्दोष है।

विचारपूर्वक देखने पर नवेति विभाषा यह सूत्र भी अशिष्य है। अनुशासन की अपेक्षा नहीं रखता। इसकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि जो इसका अर्थ है, जो इस सूत्र के बनाने से हम चाहते हैं वह लोकशास्त्रविदित है। लोक तथा शास्त्र व्यवहार से ही सिद्ध है। जो लोग इस विभाषा संज्ञा को नहीं बनाते वे भी विभाषा शब्द कहने पर उस कार्य की

तेपि विभाषेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति। याज्ञिकाः खल्वपि संज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति। तद्यथा मेध्यः पशुर्विभाषितो मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलब्धव्यो नालब्धव्य इति गम्यते। आचार्यः खल्वपि संज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरपि शब्दैरेतमर्थं संप्रत्याययति। बहुलमन्यतरस्याम् उभयथा वा एकेषामिति।

अप्राप्ते त्रिसंशयाः।

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामः अप्राप्ते ता द्रष्टव्याः। त्रिसंशयास्तु भवन्ति। प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति।

द्वन्द्वे च विभाषा जसि।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः।

कथं च प्राप्ते कथं चाप्राप्ते कथं चोभयत्रेति।

अनित्यता समझ लेते हैं। याज्ञिक लोग भी इस संज्ञा को न जानते हुए ही विभाषा शब्द से कार्य की अनित्यता जान लेते हैं। जैसे मेध्यः पशुर्विभाषितः इस वचन में विभाषा शब्द से आलम्भन क्रिया का विकल्प समझ लिया जाता है। स्वयं आचार्य पाणिनि भगवान् भी इस विभाषा संज्ञा को बनाते हुए ही अन्य शब्दों से भी इसी विकल्प अर्थ को समझा रहे हैं। जैसे सूत्रों में आने वाले बहुलम्। अन्यतरस्याम्। उभयथा। वा। एकेषाम्। इत्यादि शब्द विभाषा के ही पर्याय हैं। जब उन शब्दों से विना कहे भी विकल्प अर्थ का बोध हो जाता है तो विभाषा से भी हो जायगा। इस लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

इससे आगे जो विभाषा कहेंगे वे अप्राप्त विभाषा समझनी चाहियें। किन्तु वे प्राप्त अप्राप्त तथा उभयत्र अर्थात् प्राप्ताप्राप्त इन तीन संशयों वाली तो होंगी। उनमें प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त का संदेह तो अवश्य होगा।

द्वन्द्वे च विभाषा जसि इस सर्वनामसंज्ञा के प्रकरण में पठित प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च के तय ग्रहण की विभाषा में सन्देह है कि यह विभाषा प्राप्त है या अप्राप्त है या उभयत्र है।

प्रथमचरमतयाल्पार्ध० सूत्र की तय ग्रहण वाली विभाषा में कैसे सन्देह है?

---

१. त्रयः संशया यासु ताः, बहुव्रीहिः।

उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते। तयपश्चायजादेशः क्रियते। तेन वा नित्ये प्राप्ते, अन्यत्र वाऽप्राप्ते, उभयत्र वेति।

अप्राप्ते। अयच् प्रत्ययान्तरम्।

यदि प्रत्ययान्तरम्। उभयी इति ईकारो न प्राप्नोति।

मा भूदेवम्। मात्रच् इत्येवं भविष्यति। कथम्। मात्रजिति नेदं प्रत्ययग्रहणम्। किं तर्हि प्रत्याहारग्रहणम्। क्व संनिविष्टानां प्रत्याहारः।

उभय शब्द सर्वादिगण में पढ़ा है। वह तयप् प्रत्ययान्त है। उभादुदात्तो नित्यम् से तयप् को अयच् आदेश होने पर भी स्थानिवद्भाव से तय प्रत्ययान्त ही है। प्रथमचरम० के तयग्रहण में यदि सर्वादि की अनुवृत्ति कर के सर्वादिगण वाले तयप्रत्ययान्त उभय शब्द की जस् में विभाषा मानी जावे तब तो प्राप्त विभाषा है। क्योंकि सर्वादीनि सर्वनामानि से उभय शब्द की सर्वत्र नित्य-सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी उसका जस् में विकल्प कहने से प्राप्त विभाषा बन जाती है। यदि प्रथमचरम० में सर्वादि की अनुवृत्ति न करके सर्वादि असर्वादि सभी तय प्रत्ययान्तों की जस् में सर्वनामसंज्ञा का विकल्प मानें और सर्वादिगण-पठित तयप्रत्ययान्त उभय शब्द में पूर्वविप्रतिषेध से प्रथम चरम० को बाधकर सर्वादीनि सर्वनामानि से नित्य सर्वनामसंज्ञा इष्ट समझी जावे तो प्रथमचरम० की उभय से भिन्न द्वितय त्रितय आदि सर्वादिपाठरहित तय प्रत्ययान्तों में ही प्रवृत्ति होने से अप्राप्त विभाषा है। यदि परविप्रतिषेध से सर्वादीनि० को बाध कर प्रथमचरम० की प्रवृत्ति मानें तो उभय में प्राप्त और द्वितय त्रितय आदि में अप्राप्त होने से उभयत्र विभाषा है।

प्रथमचरम० वाली विभाषा अप्राप्त विभाषा है। क्योंकि उभय में अयच् को पृथक् प्रत्यय मानेंगे। तयप् के स्थान में होने वाला आदेश नहीं मानेंगे। इस लिये उभय में तयप् न होने से प्रथमचरम० यह विकल्प प्राप्त ही नहीं। वहां द्वितय त्रितय आदि सर्वादिपाठ रहित तयप्रत्ययान्त ही गृहीत होंगे तो वह अप्राप्त विभाषा सिद्ध हो जाती है।

यदि अयच् को पृथक् प्रत्यय मानेंगे तो उभयी में तयप् न होने से टिड्ढाणञ्० से ङीप् प्राप्त नहीं होता ? तयप् के स्थान में आदेश मानने से तो तयप् ग्रहण से ङीप् हो सकता था।

तयप् ग्रहण से उभयी में ङीप् मत हो, मात्रच् ग्रहण से हो जायगा। कैसे ? मात्रच् यह प्रत्यय नहीं माना जायगा बल्कि प्रत्याहार समझा जायगा।

मात्रशब्दात् प्रभृत्या अयचश्चकारात् ।

यदि प्रत्याहारग्रहणम् । कति तिष्ठन्ति अत्रापि प्राप्नोति ।

अत इति वर्तते ।

एवमपि तैलमात्रा घृतमात्रा अत्रापि प्राप्नोति ।

सदृशस्याप्यसंनिविष्टस्य न भविष्यति प्रत्याहारेण ग्रहणम् ।

ऊर्णोतेर्विभाषा ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते कथं चाप्राप्ते कथं चोभयत्र ?

'असंयोगाल्लिट् किदि'ति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वा अप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

कहां से कहां तक प्रत्याहार है? प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः मात्र शब्द से लेकर द्वित्रिभ्यां तयस्यायज् वा में अयच् के चकार तक बना हुआ मात्रच् प्रत्याहार होगा। उसमें अयच् के आ जाने से उभयी में ङीप् हो जायगा।

यदि मात्रच् को प्रत्यय न मान कर प्रत्याहार मानेंगे तो कति तिष्टन्ति यहां कति शब्द में किमः संख्यापरिमाणे डति च से विहित डति प्रत्यय के भी मात्रच् प्रत्ययाहार में आ जाने से ङीप् प्राप्त होगा।

टिड्ढाणञ्० सूत्र में अजाद्यतष्टाप् से अकारान्त की अनुवृत्ति आती है। वह अकारान्त मात्रच् से ङीप् करेगा। कति में डति के अकारन्त न होने से ङीप् न होगा।

फिर भी तैलमात्रा घृतमात्रा यहां त्रन् प्रत्ययान्त मात्र शब्द से ङीप् प्राप्त होता है। यह अकारान्त है इस लिये टाप् को बाध कर ङीप् होना चाहिये।

तैलमात्रा घृतमात्रा में यद्यपि मात्र शब्द मात्रच् प्रत्यय के सदृश है तो भी प्रत्याहार में न आने से मात्रच् में इसका ग्रहण नहीं होगा। इस लिये ङीप् न हो कर टाप् ही होगा।

विभाषोर्णोः सूत्र में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है।

कैसे सन्देह है।

विभाषोर्णोः यह सूत्र इडादि प्रत्यय को ङित् करता है। उस से आगे आने वाला असंयोगाल्लिट् कित् सूत्र पित् भिन्न लिट् को कित् करता है। यदि ङित् कित्

अप्राप्ते। अन्यद्धि कित्त्वमन्यद्धि ङित्त्वम्।

एकं चेन् ङित् कितौ।

यद्येकं ङित्कितौ ततः संदेहः। अथ हि नाना, नास्ति सन्देहः।

यद्यपि नाना, एवमपि सन्देहः। प्रौर्णुवीति। 'सार्वधातुकमपिदि'ति वा नित्ये प्राप्ते अन्यत्र वा अप्राप्ते, उभयत्र वेति।

अप्राप्ते।

को कार्य की दृष्टि से एक मान लें और असंयोगा० सूत्र में विभाषोर्णोः की अनुवृत्ति कर के असंयोगान्त ऊर्णु से परे पित् भिन्न इडादि लिट् प्रत्यय के नित्य प्राप्त कित्त्व का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। असंयोगाल्लिट्० में ऊर्णु की अनुवृत्ति न कर के सभी असंयोगान्त धातुओं से परे लिट् के कित् की प्रवृत्ति मानें और परविप्रतिषेध से विभाषोर्णोः को बाध कर इडादि लिट् अंश में असंयोगा० की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है। पूर्वविप्रतिषेध से असंयोगा० को बाध कर ऊर्णु में विभाषोर्णोः की प्रवृत्ति मानें तो इडादि लिट् अंश में प्राप्त और लिट् से भिन्न अन्य इडादि में अप्राप्त होने से उभयत्र विभाषा है।

विभाषोर्णोः यह अप्राप्त विभाषा है। क्योंकि कित् और ङित् एक नहीं हैं। कित् और है। ङित् और है। कित् का कार्य ङित् से भिन्न है।

ऊर्णु में इडादि प्रत्यय परे रहते कित् ङित् के कार्य का भेद न होने से यदि ङित् कित् को एक मान लें तो कैसा हो।

ङित् कित् को कार्य की दृष्टि से एक मानने पर विभाषोर्णोः इस विभाषा में सन्देह अवश्य है। भिन्न मानने पर तो कोई सन्देह नहीं। तब तो यह निश्चित ही अप्राप्त विभाषा है।

ङित् कित् को भिन्न मानने पर भी सन्देह है। जैसे प्रौर्णुवि। (प्र ऊर्णु-लङ् इट्) यहां प्रपूर्वक ऊर्णु धातु से लङ् में उत्तम पुरुष का एकवचन इट् प्रत्यय है। वह सार्वधातुकमपित् से ङित् है। उस से नित्य प्राप्त ङित्त्व का यदि विभाषोर्णोः से विकल्प मानें तो प्राप्तविभाषा है। यदि विभाषोर्णोः में इट् प्रत्यय न ले कर इडागम लेवें उस को किसी से भी न प्राप्त ङित्त्व का विकल्प मानें तो अप्राप्तविभाषा है। और यदि इट् शब्द से इडागम तथा इट् प्रत्यय दोनों समान रूप से गृहीत हों तो इट् प्रत्यय में प्राप्त और इडागम में अप्राप्त ङित्त्व का विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है।

कोई सन्देह नहीं। विभाषोर्णोः यह अप्राप्त विभाषा ही है। इस में इट् शब्द

विभाषोपयमने । प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते, कथं चाप्राप्ते, कथं चोभयत्र ?

गन्धन इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । गन्धने इति निवृत्तम् ।

अनुपसर्गाद्वा । प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

से इडागम का ग्रहण है । इट् प्रत्यय का नहीं । इडागम में किसी से भी ङित्व प्राप्त नहीं है उस विकल्प से ङित्व विधान करने वाली यह विभाषा निश्चित अप्राप्त विभाषा है ।

विभाषोपयमने में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ?

यदि यमो गन्धने से गन्धने की अनुवृत्ति करके गन्धन विषयक उपयमन अर्थ लेवें तब तो प्राप्त विभाषा है । यदि गन्धन अगन्धन सभी प्रकार के उपयमन अर्थ में विकल्प है और गन्धन में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषोपयमने को बाध कर यमो गन्धने की ही प्रवृत्ति इष्ट है तो अप्राप्तविभाषा है । यदि परविप्रतिषेध से यमो गन्धने को बाध कर विभाषोप० की प्रवृत्ति इष्ट है तो गन्धन में प्राप्त अगन्धन में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषोपयमने यह अप्राप्त विभाषा है । इस में पूर्वसूत्र से गन्धन की अनुवृत्ति नहीं आती । केवल उपयमन अर्थ में अप्राप्त विकल्प है ।

अनुपसर्गाद्वा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ?

यदि अनुपसर्गाद्वा में वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः इस पूर्व सूत्र से वृत्ति आदि अर्थों की अनुवृत्ति कर के वृत्ति आदि में प्राप्त विकल्प है तो प्राप्त विभाषा है । यदि वृत्ति आदि अर्थ होने या न होने पर विकल्प है और वृत्ति आदि अर्थों में पूर्वविप्रतिषेध से अनुपसर्गाद्वा को बाधकर वृत्तिसर्गतायनेषु की ही प्रवृत्ति इष्ट है तो अप्राप्तविभाषा है । परविप्रतिषध से वृत्तिसर्गता० को बाध कर अनुपसर्गाद्वा की प्रवृत्ति इष्ट है तो वृत्ति आदि में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

अप्राप्ते । वृत्त्यादिष्विति निवृत्तम् ।

विभाषा वृक्षमृगादीनाम् ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'जातिरप्राणिनाम्' इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । जातिरप्राणिनाम् इति निवृत्तम् ।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

प्रत्ययान्तादिति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । अभयत्र वेति ।

अनुपसर्गाद्वा यह अप्राप्त विभाषा है । इस में वृत्ति आदि अर्थों की अनुवृत्ति नहीं आती ।

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ?

यदि विभाषा वृक्षमृग० में जातिरप्राणिनाम् से प्राणिभिन्न जाति की अनुवृत्ति करके प्राणि भिन्न जाति वाची वृक्ष मृगादि में प्राप्त विकल्प है तो प्राप्त विभाषा है । यदि प्राणि भिन्न जाति वाची होने या न होने पर विकल्प है और प्राणिभिन्न जाति अर्थ में पूर्ववि तिषेध से विभाषा वृक्षमृग० को बाध कर जातिरप्रा णनाम् की प्रवृत्ति इष्ट है तो अप्राप्त विभाषा है । यदि परविप्रतिषेध से जातिरप्रा णनाम् को बाध कर विभाषा वृक्षमृग० की प्रवृत्ति इष्ट है तो प्राणिभिन्न जाति में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा वृक्षमृग० यह अप्राप्ते विभाषा है । इस में प्राणिभिन्न जाति अर्थ की अनुवृत्ति नहीं आती ।

उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि से प्रत्ययान्त की अनुवृत्ति करके णिच् सन्

अप्राप्ते । प्रत्ययान्ता धात्वन्तराणि ।

दीपादीनां विभाषा ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'भावकर्मणोरि'ति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । कर्तरीति हि वर्तते ।

आदि प्रत्ययान्त उष् आदि धातुओं से प्राप्त आम् का विकल्प है तो प्राप्त विभाषा है । यदि प्रत्ययान्त अप्रत्ययान्त दोनों से आम् का विकल्प है और प्रत्ययान्त में पूर्वविप्रतिषेध से उषविद॰ को बाध कर कास्प्रत्ययादा॰ की प्रवृत्ति इष्ट है तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से कास्प्रत्ययादा॰ को बाध कर उषविद॰ की प्रवृत्ति इष्ट है तो प्रत्ययान्त में प्राप्त अप्रत्ययान्त में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

उषविद॰ यह अप्राप्त विभाषा है । णिच् सन् आदि प्रत्ययान्त उष् आदि धातु धात्वन्तर हो जाते हैं । उष् आदि नहीं रहते । सनाद्यन्ता धातवः से उनकी दूसरी धातुसंज्ञा हो जाती है इस लिये केवल उष् आदि में किसी से भी न प्राप्त आम् का विकल्प होने से यह निश्चित अप्राप्त विभाषा है ।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि चिण् भावकर्मणोः इस उत्तर सूत्र में दीपजन बुध॰ की अनुवृत्ति कर के भाव कर्म अर्थ में प्राप्त चिण् का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि अनुवृत्ति न कर के सामान्यतया भाव कर्म कर्ता सभी अर्थों में चिण् मानें और भाव कर्म में परविप्रतिषेध से दीपजन॰ को बाध कर चिण् भावकर्मणोः की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है । पूर्वविप्रतिषेध से चिण् भावकर्मणोः को बाध कर दीपजन॰ की प्रवृत्ति मानें तो भाव कर्म में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

दीपजनबुध॰ यह अप्राप्त विभाषा है । इस में णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् से कर्तरि की अनुवृत्ति आती है । यह कर्तृवाच्य में अप्राप्त चिण् का विकल्प करता है इस लिये निश्चित अप्राप्त विभाषा है ।

एवमपि सन्देहः। न्याय्ये वा कर्तरि कर्मकर्तरि वेति।

नास्ति सन्देहः। सकर्मकस्य कर्ता कर्मवद् भवति। अकर्मकाश्च दीपादयः।

अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति।

कर्मोपदिष्टा विधयः कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च भवन्ति। कर्तृस्थभावकाश्च दीपादयः।

दीपजन० में कर्तरि की अनुवृत्ति आने पर भी सन्देह है। शुद्ध कर्तृवाच्य में विकल्प है या कर्मकर्तृवाच्य में विकल्प है। न्याय्य=शुद्ध। जो न्याययुक्त केवल कर्ता है। कर्मवद्भाव से बना हुआ कर्ता नहीं है।

कोई सन्देह नहीं। दीपजन० में शुद्ध कर्ता ही लिया जायगा कर्म कर्ता नहीं। क्योंकि कर्मवद्भाव से बना हुआ कर्ता सकर्मक धातुओं का होता है। दीप् आदि अकर्मक हैं।[1]

अकर्मक धातु भी उपसर्ग लगने पर सकर्मक हो जाते हैं।

बेशक हो जावें। लेकिन कर्मवद्भाव तो उन्हीं धातुओं से होगा जिनका भाव तथा क्रिया कर्मस्थ हैं। कर्मस्थ भाव वाली तथा कर्मस्थ क्रिया वाली सकर्मक धातुओं से ही कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः सूत्र से कर्मवद्भाव का विधान है। दीप् जन् आदि तो कर्तृस्थभाव वाली हैं। कर्मस्थ भाव वाली नहीं हैं। इन का भाव कर्ता में ही स्थित होता है, कर्म में नहीं। इस लिये सकर्मक होने पर भी इनका कर्ता कर्मवत् न होगा।[2]

---

१. यद्यपि एक बुध् सकर्मक है तो भी अन्य दीप् जन् आदि सब अकर्मकों के साथ वह भी अकर्मकवृत्ति ही ली जायगी।

२. यदि कहो अचः कर्तृयकि सूत्रभाष्य में जायते स्वयमेव यह उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने कर्तृस्थभावक जन् धातु से कैसे कर्मवद्भाव किया तो इसका उत्तर है—वहां जन् को ण्यर्थवृत्ति द्वारा कर्मस्थभावक समझ कर कर्मवद्भाव का प्रयोग किया है।

भाव और क्रिया में यह भेद समझना चाहिये कि अपरिस्पन्दन-साधन-साध्यो धात्वर्थो भावः। जो स्पन्दन रहित साधनों से साध्य हैं वह भाव कहाता हैं। जैसे देखना, समझना, पढ़ना, चमकना, सोचना आदि क्रियायें भाव हैं। सपरिस्पन्दन-साधनसाध्यो धात्वर्थः क्रिया। जो स्पन्दनसहित साधनों से साध्य हैं वे क्रिया हैं।

विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

आभीक्ष्ण्ये इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । आभीक्ष्ण्ये इति निवृत्तम् ।

तृन्नादीनां विभाषा ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

आक्रोशे इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेषु में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि आभीक्ष्ण्ये णमुल् च से आभीक्ष्ण्य की अनुवृत्ति मानें तो आभीक्ष्ण्य में प्राप्त विकल्प होने से प्राप्त विभाषा है। यदि आभीक्ष्ण्य अनाभीक्ष्ण्य सभी अर्थ में विकल्प मानें और आभीक्ष्ण्य में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषाग्रे० को बाध कर आभीक्ष्ण्ये णमुल् च की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से आभीक्ष्ण्ये णमुल् च को बाध कर विभाषाग्रे० की प्रवृत्ति मानें तो आभीक्ष्ण्य में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषाग्रे प्रथम० यह अप्राप्तविभाषा है। यहां आभीक्ष्ण्य की अनुवृत्ति नहीं आती ।

विभाषा तृन्नन्न तीक्ष्ण शुचिषु इस स्वर-सूत्र में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि आक्रोशे च से इस सूत्र में आक्रोश की अनुवृत्ति करके आक्रोश में अन्तोदात्त का प्राप्त विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि आक्रोश अनाक्रोश सर्वत्र विकल्प मानें और आक्रोश में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा तृन्नन्न० को बाध कर आक्रोशे च की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से आक्रोशे च को बाध कर विभाषा तृन्नन्न० की प्रवृत्ति मानें तो आक्रोश में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

चढ़ना, काटना, पकाना, फाड़ना, मारना आदि में स्पन्द स्पष्ट है इस लिये ये सब क्रिया कहाती हैं ।

अप्राप्ते । आक्रोशे इति निवृत्तम् ।

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

उदकस्योदः संज्ञायाम्

इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । संज्ञायामिति निवृत्तम् ।

श्वादेरिञि पदान्तस्यान्यतरस्याम् ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

इञि इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

विभाषा तृन्नन्न० यह अप्राप्त विभाषा है । इस में आक्रोश की अनुवृत्ति नहीं आती ।

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् में प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि उदकस्योदः संज्ञायाम् से इस सूत्र में संज्ञायाम् की अनुवृत्ति कर के संज्ञा में प्राप्त विकल्प मानें तो प्राप्तविभाषा है । यदि संज्ञा या असंज्ञा सर्वत्र पूरयितव्य में विकल्प मानें और संज्ञा में पूर्वविप्रतिषेध से एकहलादौ० को बाध कर उदकस्योदः० की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्तविभाषा है । परविप्रतिषेध से उदकस्योदः० को बाध कर एकहलादौ० की प्रवृत्ति मानें तो संज्ञा में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

एकहलादौ० यह अप्राप्त विभाषा है । इस में संज्ञा की अनुवृत्ति नहीं आती ।

पदान्तस्यान्यतरस्याम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि श्वादेरिञि से इञ् की अनुवृत्ति कर के इञ् में प्राप्त विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि इञ् या इञ् भिन्न प्रत्यय परे रहते पद शब्दान्त श्वन् को वृद्धि-विकल्प मानें और इञ् में पूर्वविप्रतिषेध से पदान्तस्यान्यत० को बाध कर श्वादेरिञि की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है । पर विप्रतिषेध से श्वादेरिञि को बाध कर पदान्तस्यान्य० की प्रवृत्ति मानें तो इञ् में प्राप्त अन्यत्र विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

अप्राप्ते । इग्नीति निवृत्तम् ।

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

चादिभिर्योगे इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

अप्राप्ते । चादिभिर्योगे इति निवृत्तम् ।

ग्रो यङि । अचि विभाषा ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

यङी'ति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

पदान्तस्यान्य० यह अप्राप्त विभाषा है। इसमें इग् की अनुवृत्ति नहीं आती ।

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि न चवाहाहैवयुक्ते से च आदि की अनुवृत्ति कर के चादि के योग में प्राप्त निषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि चादि का योग होने न होने पर सर्वत्र विकल्प मानें और चादि के योग में पूर्वविप्रतिषेध से सपूर्वायाः प्रथमाया० को बाध कर न चवाहा० की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से न चवाहा० को बाध कर सपूर्वायाः० की प्रवृत्ति मानें तो चादि के योग में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

सपूर्वायाः प्रथमायाः० यह अप्राप्त विभाषा है। इस में चादि योग की अनुवृत्ति नहीं आती ।

अचि विभाषा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि ग्रो यङि से यङ् की अनुवृत्ति कर के यङ्विषयक अच् में प्राप्त विकल्प मानें तो प्राप्तविभाषा है। यदि यङ्विषयक या यङ्भिन्न विषयक किसी भी अच् के परे रहते विकल्प मानें और यङ्विषयक अच् में पूर्वविप्रतिषेध से अचि विभाषा को बाध कर ग्रो यङि की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा

अप्राप्ते । यङीति निवृत्तम् ।

प्राप्ते च ।

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामः प्राप्ते ता द्रष्टव्याः । त्रिसंशयास्तु भवन्ति । प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

विभाषा विप्रलापे ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'व्यक्तवाचामि'ति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

प्राप्ते । व्यक्तवाचामिति हि वर्तते ।

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

है । परविप्रतिषेध से ओ यङि को बाध कर अचि विभाषा की प्रवृत्ति मानें तो यङ् में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

अचि विभाषा यह अप्राप्तविभाषा है । इसमें यङि की अनुवृत्ति नहीं आती ।

इससे आगे जो विभाषा कहेंगे वे प्राप्त विभाषा समझनी चाहियें । उनमें प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह तो होगा ही ।

विभाषा विप्रलापे में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि व्यक्तवाचां समुच्चारणे से व्यक्तवाचाम् की अनुवृत्ति कर के व्यक्तवाक् में प्राप्त विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि व्यक्तवाक् या अव्यक्तवाक् सभी में विकल्प मानें और व्यक्तवाक् में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा विप्रलापे को बाध कर व्यक्तवाचां समुच्चारणे की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से व्यक्तवाचां० को बाध कर विभाषा विप्रलापे की प्रवृत्ति मानें तो व्यक्तवाक् में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा विप्रलापे यह प्राप्त विभाषा है । इस में व्यक्तवाचाम् की अनुवृत्ति आती है ।

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'स्वरितञितः' इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

प्राप्ते । स्वरितञित इति हि वर्तते ।

तिरोन्तर्धौ । विभाषा कृञि ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

अन्तर्धाविति नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

कैसे सन्देह है ।

यदि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले से स्वरित ञित् की अनुवृत्ति करके स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल में प्राप्त आत्मनेपद का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि स्वरितञितः की अनुवृत्ति न करके कर्तृगामी क्रियाफल होने या न होने पर सर्वत्र आत्मनेपद का विकल्प मानें और स्वरित ञित् के विषय में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषोपपदेन० को बाध कर स्वरितञितः कर्त्र० की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से स्वरितञितः० को बाध कर विभाषोपपदेन० की प्रवृत्ति मानें तो स्वरितञित् में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषोपपदेन० यह प्राप्त विभाषा है । इस में स्वरितञितः की अनुवृत्ति आती है । यह कर्तृगामी क्रियाफल में स्वरित ञित् धातुओं से उपपद लगाने पर आत्मनेपद का विकल्प करता है ।

तिरोन्तर्धौ सूत्र के बाद आने वाले विभाषा कृञि सूत्र में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि तिरोन्तर्धौ की अनुवृत्ति करके अन्तर्धिविषयक तिरस् शब्द में प्राप्त गति संज्ञा का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि सामान्यतया तिरस् शब्द में गति संज्ञा का विकल्प मानें और अन्तर्धि विषयक में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा कृञि को बाध कर तिरोन्तर्धौ की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्तविभाषा है । परविप्रतिषेध से तिरोन्तर्धौ को बाध कर विभाषा कृञि की प्रवृत्ति मानें तो अन्तर्धि में प्राप्त तद्भिन्न में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

प्राप्ते । अन्तर्घाविति हि वर्तते ।

अधिरीश्वरे । विभाषा कृञि ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

प्राप्ते । अधिरीश्वरे इति वर्तते ।

दिवस्तदर्थस्य । विभाषोपसर्गे ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'तदर्थस्ये'ति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

विभाषा कृञि यह प्राप्त विभाषा है। इस में तिरोन्तर्धौ की पूरी अनुवृत्ति आती है।

अधिरीश्वरे के बाद आने वाले विभाषा कृञि में सन्देह है कि यह विभाषा प्राप्त है, या अप्राप्त है, या उभयत्र है।

कैसे सन्देह है।

यदि अधिरीश्वरे की अनुवृत्ति करके ऐश्वर्यवाची अधिशब्द की प्राप्त कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि अधिशब्द के ऐश्वर्य विषयक होने या न होने पर सर्वत्र विकल्प मानें और ऐश्वर्य विषयक में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा कृञि को बाध कर अधिरीश्वरे की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से अधिरीश्वरे को बाध कर विभाषा कृञि की प्रवृत्ति मानें तो ऐश्वर्य में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है।

विभाषा कृञि यह प्राप्त विभाषा है। इस में अधिरीश्वरे की अनुवृत्ति आती है।

विभाषोपसर्गे में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है।

कैसे सन्देह है।

यदि दिवस्तदर्थस्य से तदर्थ की अनुवृत्ति करके तदर्थ विषयक दिव् धातु के योग में प्राप्त षष्ठी का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि तदर्थ की अनुवृत्ति न करके सामान्यतया दिव् धातु के योग में षष्ठी का विकल्प मानें और तदर्थ विषय में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषोपसर्गे को बाध कर दिवस्तदर्थस्य की प्रवृत्ति इष्ट

प्राप्ते । तदर्थस्येति वर्तते ।

उभयत्र च ।

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्याम उभयत्र ता द्रष्टव्याः। त्रिसंशयास्तु भवन्ति प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

हृक्रोरन्यतरस्याम् ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णावि'ति नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । अभ्यवहारयति सैन्धवान् अभ्यवहारयति

समझें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से दिवस्तदर्थस्य को बाध कर विभाषोपसर्गे की प्रवृत्ति मानें तो तदर्थ में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषोपसर्गे यह प्राप्त विभाषा है। इस में दिवस्तदर्थस्य की सम्पूर्ण अनुवृत्ति आती है ।

इस से आगे जो विभाषा कहेंगे वे उभयत्र विभाषा समझनी चाहियें। उन में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह तो होगा ही ।

हृक्रोरन्यतरस्याम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि गतिबुद्धि प्रत्यवसानार्थ० सूत्र से गतिबुद्धि आदि की अनुवृत्ति कर के गत्याद्यर्थक हृ कृ धातुओं के कर्ता की प्राप्त कर्मसंज्ञा का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि गत्याद्यर्थक होने या न होने पर हृ कृ के कर्ता की कर्म संज्ञा का विकल्प मानें और गत्याद्यर्थक हृ कृ में पूर्वविप्रतिषेध से हृक्रोरन्यतरस्याम् को बाध कर गतिबुद्धि० की प्रवृत्ति इष्ट समझें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से गतिबुद्धि० को बाध कर हृ क्रो० की प्रवृत्ति मानें तो गत्याद्यर्थक में प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

हृक्रोरन्यतरस्याम् यह उभयत्र विभाषा है। प्राप्त में भी और अप्राप्त में भी। प्राप्त में जैसे—अभ्यवहारयति सैन्धवान्, सैन्धवैः। विकारयति सैन्धवान्, सैन्धवैः। यहां अभ्यवपूर्वक हृ धातु प्रत्यवसानार्थक है। और विपूर्वक कृ धातु

सैन्धवैः। विकारयति सैन्धवान् विकारयति सैन्धवैः। अप्राप्ते। हरति भारं देवदत्तः। हारयति भारं देवदत्तम् हारयति भारं देवदत्तेन। करोति कटं देवदत्तः। कारयति कटं देवदत्तम् कारयति कटं देवदत्तेन।

न यदि। विभाषा साकाङ्क्षे।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः।

कथं च प्राप्ते। कथं चा प्राप्ते। कथं चोभयत्र।

यदीति वा नित्ये प्राप्ते। अन्यत्र वाऽप्राप्ते। उभयत्र वेति।

अकर्मक है। दोनों में गतिबुद्धि० से कर्ता की नित्य कर्मसंज्ञा प्राप्त है उसका विकल्प हो जाता है। अप्राप्त में जैसे—हरति भारं देवदत्तः। हारयति भारं देवदत्तम्, देवदत्तेन। करोति कटं देवदत्तः। कारयति कटं देवदत्तम्, देवदत्तेन। यहां गति बुद्धि आदि में से कोई भी अर्थ न होने से पूर्वसूत्र से अप्राप्त कर्मसंज्ञा का विकल्प हो जाता है।[1]

विभाषा साकाङ्क्षे में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है।

कैसे सन्देह है।

यदि न यदि सूत्र से यद् शब्द की अनुवृत्ति करके यद् के योग में नित्य प्राप्त लृट् के निषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि यद् का योग होने या न होने

---

१. हारयति में हृ धातु का हरण अर्थात् प्राप्ति अर्थ है। गति नहीं है। प्राप्ति अर्थ में गति उपसर्जन है। बिना गति के प्राप्ति नहीं हो सकती इस लिये गत्युपसर्जन प्राप्ति अर्थ होने से गति अर्थ प्रधान नहीं है। यदि लभेर्गत्यर्थत्वाद् णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे इस वामन सूत्र के अनुसार गत्युपसर्जन प्राप्ति वाले धातुओं को भी गत्यर्थक मान लें तो भी वहां गति का अर्थ प्रधान नहीं है। प्राप्ति ही प्रधान है। इसी लिये महाकवि माघ के शिशुपालवध महाकाव्य में प्राप्त्यर्थक लभ् धातु के विषय में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् यहां गत्युपसर्जन प्राप्ति में प्राप्ति अर्थ मुख्य मान कर लभ् को गत्यर्थक नहीं माना तो सितिम्ना में द्वितीया नहीं हुई। न कमलं कमलम्भयदम्भसि। यहां प्राप्त्युपसर्जन गति में गत्यर्थ को मुख्य मान कर कम् में द्वितीया हो गई। इस विषय में महाभाष्यकार का यह उदाहरण ही प्रमाण है कि हृ धातु प्राप्त्यर्थक है गत्यर्थक नहीं। न गतिहिंसार्थेभ्यः सूत्र में पठित हरतेरप्रतिषेधः यह वार्तिक तो हृ धातु के हिंसार्थक प्रयोग में आत्मनेपद का प्रतिप्रसव करने के लिये है। संप्रहरन्ते राजानः यह हिंसार्थक उदाहरण है।

उभयत्र। प्राप्ते तावत्। अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः। यत् कश्मीरेष्ववसाम। यत्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे। यत्तत्रौदनमभुञ्ज्महि। अप्राप्ते। अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः। कश्मीरानगच्छाम। तत्रौदनं भोक्ष्यामहे। तत्रौदनमभुञ्ज्महि।

विभाषा श्वेः।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः।

कथं च प्राप्ते। कथं चाप्राप्ते। कथं चोभयत्र।

कितीति वा नित्ये प्राप्ते। अन्यत्र वाऽप्राप्ते। उभयत्र वेति।

उभयत्र। प्राप्ते तावत्। शुशुवतुः, शुशुवुः। शिश्वियतुः, शिश्वियुः। अप्राप्ते। शुशाव, शुशविथ। शिश्वाय, शिश्वयिथ।

पर निषेध का विकल्प मानें और यद् के योग में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा साकाङ्क्षे को बाध कर न यदि की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से न यदि को बाध कर विभाषा साकाङ्क्षे की प्रवृत्ति मानें तो यद् योग में प्राप्त तद्भिन्न में अप्राप्त होने से उभयत्र विभाषा है।

विभाषा साकाङ्क्षे यह उभयत्र विभाषा है। प्राप्त अप्राप्त दोनों में विकल्प होता है। प्राप्त में जैसे—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः, अवसाम। यत् तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्ज्महि। यहां यद् के योग में प्राप्त निषेध का विकल्प हो जाता है। लृट् और लङ् दोनों का प्रयोग होता है। अप्राप्त में जैसे—अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, अगच्छाम। तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्ज्महि। यहां यद् योग न होने पर भी लृट् और लङ् का विकल्प हो जाता है।

विभाषा श्वेः में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है।

कैसे सन्देह है।

यदि वचि स्वपि यजादीनां किति से कित् की अनुवृत्ति करके कित् लिट् में नित्य प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि कित् की अनुवृत्ति न करके कित् अकित् सब लिट् में सम्प्रसारण का विकल्प मानें और कित् लिट् में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा श्वेः को बाध कर वचि स्वपि० की प्रवृत्ति मानें तो कित् अंश में प्राप्त अकित् अंश में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है।

विभाषा श्वेः यह उभयत्र विभाषा है। इस से कित् और अकित् सारे लिट् में श्वि को विकल्प से सम्प्रसारण होता है। प्राप्त में जैसे—शुशुवतुः, शुशुवुः, शिश्वियतुः

विभाषा संघुषास्वनाम् ।

संपूर्वाद् घुषेः प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देह ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

'घुषिरविशब्दने' इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र चाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । संघुष्टा संघुषिता वा रज्जुः । अप्राप्ते संघुष्टं संघुषितं वा वाक्यमाह ।

आङ्पूर्वात् स्वनेः प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वति ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

शिश्वियुः । यहां अतुस् आदि कित् लिट० में वचिस्वपि० से प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है । अप्राप्त में जैसे—शुशाव शुशविथ । शिश्वाय, शिश्वयिथ । यहां अकित् तिप् सिप् में अप्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है ।

रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है । वह भी पहले सम्पूर्वक घुष् में ।

कैसे सन्देह है ।

यदि घुषिरविशब्दने से अविशब्दन की अनुवृत्ति करके अविशब्दनविषयक संघुष् से नित्य प्राप्त इट् निषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि अविशब्दन होने या न होने पर संघुष् से इट् निषेध का विकल्प मानें और अविशब्दन में पूर्वप्रतिषेध से रुष्यमत्वर० को बाध कर घुषिरविश० की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से घुषिरवि० को बाध कर रुष्यमत्वर० की प्रवृत्ति मानें तो अविशब्दन में प्राप्त तद्भिन्न में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

रुष्यमत्वर० में सम्पूर्वक घुष् की विभाषा उभयत्र विभाषा है । प्राप्त में जैसे—संघुष्टा संघुषिता रज्जुः । यहां अविशब्दन में प्राप्त इट्निषेध का विकल्प होता है । अप्राप्त में जैसे—संघुष्टं संघुषितं वाक्यमाह । यहां विशब्दन अर्थ में अप्राप्त इट्निषेध का विकल्प होता है ।

रुष्यमत्वर० के आङ्पूर्वक स्वन् की जो विभाषा है उस में भी प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

आङ्पूर्वक स्वन् की विभाषा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का कैसे सन्देह है ।

मनसीति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । आस्वान्तं मनः । आस्वनितं मनः । अप्राप्ते । आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तो देवदत्त इति ।

यदि क्षुब्धस्वान्तध्वान्त० सूत्र से मनस् की अनुवृत्ति करके मनः सम्बन्धी अर्थ में नित्य प्राप्त इट्निषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है। यदि मनस् की अनुवृत्ति न करके मनः सम्बन्धी अर्थ के होने या न होने पर विकल्प मानें और मनस् अर्थ में पूर्वविप्रतिषेध से रुष्यमत्वर० को बाध कर क्षुब्धस्वान्तध्वान्त० की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है। परविप्रतिषेध से क्षुब्धस्वान्तध्वान्त० को बाध कर रुष्यमत्वर० की प्रवृत्ति मानें तो मनस् में प्राप्त तद्भिन्न में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है।

रुष्यमत्वर० में आङ्पूर्वक स्वन् की विभाषा उभयत्र विभाषा है। प्राप्त में जैसे—आस्वान्तं, आस्वनितं मनः। यहां मनस् अर्थ में नित्य प्राप्त इट्निषेध का विकल्प होता है। अप्राप्त में जैसे—आस्वनितः आस्वान्तो वा देवदत्तः। यहां मनस् से भिन्न अर्थ में अप्राप्त इट्निषेध का विकल्प है।[1]

---

१. वार्तिककार तथा भाष्यकार ने दैवयज्ञि शौचिवृक्षि सात्यमुग्रि० इत्यादि अष्टाध्यायीस्थ सारी विभाषाओं पर विचार नहीं किया है। ये कुछ विभाषायें उपलक्षण तौर पर विचारार्थ प्रस्तुत की हैं। स्थालीपुलाकन्याय से उन्हीं के द्वारा विभाषा पदार्थ का तत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ षष्ठ आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ।

सप्तम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४५॥ इस सूत्र से ले कर क्ङेकाल्-शित्सर्वस्य ॥१।१ ५५॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४५॥ इक् यणः, इस पदसमूहरूप वाक्य का जो अर्थ है कि यण् के स्थान में इक् हो उस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है, या यण् के स्थान में हो चुके केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इन दोनों पक्षों में प्राप्त दोषों का समाधान करके दोनों ही पक्ष स्वीकार किये हैं। विधि स्थलों में वाक्यपक्ष काम देगा। उससे विधिवाक्यों में सम्प्रसारण कहने से यण् के स्थान में इक् हो जायगा। अनुवाद स्थलों में वर्णपक्ष काम देगा। उससे केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होगी जो कि यण् के स्थान में हो चुका है।

आद्यन्तौ टकितौ ॥१।१।४६॥ यथासंख्य नियम से टित् कित् को क्रम से आदि अन्त सिद्ध किया है।

टित् कित् को आगम मानने में प्राप्त दोष का समाधान करते हुए इस सूत्र को परिभाषा सूत्र मानने के साथ संज्ञा सूत्र भी स्वीकार किया है। संज्ञा पक्ष में अर्थ होगा— इत्संज्ञक टकार ककार क्रम से आदि अन्त की संज्ञा होते हैं।

टित् कित् प्रत्ययों का आदि अन्त में न होना सिद्ध किया है।

मिदचोऽन्त्यात्परः ॥१।१।४७॥ सूत्र का प्रयोजन बताते हुए तक्रकौण्डिन्यन्याय का उदाहरण दिया है। उससे संभव में भी बाधकता होती है न केवल असंभव में ही यह सिद्ध किया है।

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेः इस वार्तिक को स्वीकार करके भर्जिमच्र्योश्च इस वार्तिक का खण्डन किया है।

मित् में पूर्वान्त परादि अभक्त ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है।

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥१।१।४८॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर दीर्घ इक्प्राप्ति रूप दोष का निराकरण किया है। अन्त में अन्यथासिद्ध होने से सूत्र का ही खण्डन कर दिया है।

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१।१।४९॥ स्थानेयोगा शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर सूत्र का प्रयोजन बताया है।

शास इदङ्हलोः इत्यादि अवयव षष्ठी स्थलों में इस परिभाषा सूत्र की अप्रवृत्ति दिखाई है।

अन्त में प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन करके इसे निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक सिद्ध किया है।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।५०॥ सूत्र के उदाहरण देकर पुनः स्थानग्रहण के प्रयोजन के साथ तमप् ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बताते हुए स्थानेऽन्तरतम उरण्रपरः इस सन्धि में अन्तरतमे यह सप्तम्यन्त है या अन्तरतमः यह प्रथमान्त है इस पर गुणदोष दिखाते हुए विचार किया है। अन्त में निर्दोष होने से अन्तरतमः यह प्रथमान्तपक्ष स्वीकार किया है।

सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का तथा अन्य सूत्र निष्पन्न कार्य के नियमप्रतिपादकत्व का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है।

प्रत्यात्म वचन का खण्डन करने के साथ स्वभावसिद्ध लोकव्यवहार से इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है।

सूत्र की विद्यमानता में भी प्राप्त दोषों का समाधान किया है।

उरण् रपरः ॥१।१।५१॥ सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का खण्डन किया है। जिसमें ऋ के स्थान में रपरसहित केवल अण् का ही विधान तथा ऋ के स्थान में अण् अनण् दोनों की सत्ता में अण् को केवल रपरत्वमात्र का विधान इन दोनों वातों का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है।

अण् ग्रहण का प्रयोजन बता कर एकादेश के उपसंख्यान का खण्डन किया है।

रपर में पूर्वान्त परादि अभक्त ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है।

अलोऽन्त्यस्य ॥१।१।५२॥ अलः को षष्ठी का एकवचन मान कर अन्त्य का विशेषण माना है। इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बताई है।

ङिच्च ॥१।१।५३॥ तातङ् आदेश के ङित् होने पर भी उसमें इस सूत्र की अप्रवृत्ति सिद्ध की है।

आदेः परस्य ॥१।१।५४॥ अलोन्त्यस्य, आदेः परस्य, अनेकाल् शित्सर्वस्य इन तीनों में अलोन्त्यस्य को उत्सर्ग माना है। अगले दोनों उसके अपवाद हैं। उन दोनों में भी पर होने से अनेकाल् शित्सर्वस्य को आदेः परस्य का बाधक सिद्ध किया है।

अनेकाल् शित्सर्वस्य ॥१।१।५५॥ शित् ग्रहण का प्रयोजन अन्यथा सिद्ध करके उससे नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् यह परिभाषा ज्ञापित की है।

अथ सप्तममाह्निकम्

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४५॥

किमियं वाक्यस्य सम्प्रसारणसंज्ञा क्रियते इग्यण इत्येतद् वाक्यं सम्प्रसारणसंज्ञं भवतीति। आहोस्विद् वर्णस्य, इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसंज्ञो भवतीति।

कश्चात्र विशेषः ?

सम्प्रसारणसंज्ञायां वाक्यस्य संज्ञा चेद् वर्णविधिः।

सम्प्रसारणसंज्ञायां वाक्यस्य संज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यति। सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवतीति। सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति। न हि वाक्यस्य सम्प्रसारणसंज्ञायां सत्यामेष निर्देश उपपद्यते। नाप्येतयोः कार्ययोः संभवोस्ति।

क्या यह वाक्य की सम्प्रसारणसंज्ञा की जाती है या वर्ण की ? वाक्य शब्द से यहां वाक्यार्थ का ग्रहण है। इक् यणः इस पदसमूहरूप वाक्य का जो अर्थ है—यण् के स्थान में इक् होता है इस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसंज्ञा मानते हैं या यण् के स्थान में हुए केवल इक् वर्ण की। वाक्यसंज्ञा पक्ष में इक् यणो भवति इस प्रकार भवति क्रिया का अध्याहार कर के यण् के स्थान में जब इक् किया जा रहा हो तब सम्प्रसारणसंज्ञा होगी, अर्थात् यण् के स्थान में इक् के विधान की सम्प्रसारणसंज्ञा होगी। और वर्णसंज्ञा पक्ष में पहले से विधान किये हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होगी।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है।

यदि वाक्य की सम्प्रसारणसंज्ञा मानते हैं तो वर्ण के कार्य (वर्णाश्रय दीर्घादि) नहीं सिद्ध होते। जैसे—सम्प्रसारणाच्च सूत्र से सम्प्रसारण से अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है वह वाक्य की संज्ञा में नहीं बनता। इसी प्रकार सम्प्रसारणस्य सूत्र से सम्प्रसारणसंज्ञक अण् को दीर्घ होता है वह भी वाक्य की संज्ञा में नहीं बनता। यहां अनुवाद स्थलों में यण् के स्थान में इक् का विधान नहीं किया जा रहा है इस लिये सम्प्रसारणसंज्ञा न होगी तो उक्त कार्य नहीं सिद्ध होंगे। वाक्य की संज्ञा में न तो सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्य ये निर्देश ही ठीक बनते हैं और न ही इन कार्यों का सम्भव है।

अस्तु तर्हि वर्णस्य ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निर्वृत्तिः ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निर्वृत्तिर्न सिध्यति । 'ष्यङः सम्प्रसारणमि'ति । स एव हि तावदिग् दुर्लभो यस्य संज्ञा क्रियते । अथापि कथं चिल्लभ्येत । केनासौ यणः स्थाने स्यात् । अनेन चैव ह्यसौ व्यवस्थाप्यते । तदितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

विभक्तिविशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य ।

यदयं विभक्तिविशेषैर्निर्देशं करोति सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति, ष्यङः सम्प्रसारणं भवतीति तेन ज्ञायते उभयोः संज्ञा भवतीति । यत्तावदाह सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति तेन ज्ञायते वर्णस्य भवतीति । यदप्याह—

अच्छा तो वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मान लीजिये ।

यदि वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा मानते हैं तो निर्वृत्ति अर्थात् यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान नहीं सिद्ध होता । ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे इत्यादि विधिस्थलों में पहले से विधान किया हुआ इक् वर्ण न मिलने से सम्प्रसारण-संज्ञा न होगी तो सम्प्रसारण का विधान न हो सकेगा । ष्यङः सम्प्रसारणं० आदि विधिसूत्रों में वह इक् वर्ण ही मिलना दुर्लभ है जिसकी सम्प्रसारणसंज्ञा होनी है । यदि किसी तरह शब्द को नित्य मान कर इक् वर्ण मिल भी जाय तो भी वह यण् के स्थान में हुआ है यह कैसे मालूम होगा । विधिसूत्र से पूर्व उसे यण् के स्थान में करने वाला कौन होगा । ष्यङः सम्प्रसारणम् इत्यादि विधिशास्त्र द्वारा सम्प्रसारण विधान होने पर इस सम्प्रसारणसंज्ञा विधायक शास्त्र से ही वह इक् यण् के स्थान में स्थिति में लाया जाता है ऐसा कह कर यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान व्यवस्थित किया जाता है । और विधान किये हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा है तो ष्यङः सम्प्रसारणं० कैसे प्रवृत्त होगा । इस प्रकार वर्ण की संज्ञा में यह इतरेतराश्रय दोष हो जाता है । इतरेतराश्रय दोष वाले कार्य नहीं सिद्ध हो सकते ।

सूत्रों में भिन्न २ विभक्तियों का निर्देश इस बात का ज्ञापक है कि वाक्य और वर्ण दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है । सम्प्रसारणाच्च, सम्प्रसारणस्य यहां पञ्चमी, षष्ठी विभक्तियों के निर्देश से इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा समझी

ष्यङः सम्प्रसारणमिति तेन ज्ञायते वाक्यस्यापि संज्ञा भवतीति।

अथवा पुनरस्तु वाक्यस्यैव। ननु चोक्तं सम्प्रसारणसंज्ञायां वाक्यस्य संज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यतीति। नैष दोषः। यथा काकाज्जातः काकः। श्येनाज्जातः श्येनः। एवं सम्प्रसारणाज्जातं सम्प्रसारणम्। तस्मात्परः पूर्वो भवति, तस्य दीर्घो भवतीति।

अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जानाः। पदेषु च पदैकदेशान्। वाक्येषु तावद् वाक्यैकदेशान्—प्रविश पिण्डीम्। प्रविश तर्पणम् इति। पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः। सत्यभामा भामेति। एवमिहापि सम्प्रसारणनिर्वृत्तात्, सम्प्रसारणनिर्वृत्तस्य एतस्य वाक्यस्यार्थे सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्येत्येष वाक्यैकदेशः[1] प्रयुज्यते। तेन

जायगी और ष्यङः सम्प्रसारणम् इस सूत्र में तन्त्र आवृत्ति एकशेष इन में से किसी एक का आश्रयण कर के दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा सिद्ध हो जायगी।

अथवा केवल वाक्य की ही सम्प्रसारणसंज्ञा मान लीजिये। उसमें वर्णविधि सिद्ध न होने का जो दोष कहा है वह कुछ नहीं। जैसे कौए या श्येन (बाज) से उत्पन्न बच्चे को भी उपचार से कौआ या श्येन कह देते हैं उसी प्रकार सम्प्रसारण से निष्पन्न इक् वर्ण भी सम्प्रसारण शब्द से व्यवहृत हो जायगा तो सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप तथा सम्प्रसारणस्य से दीर्घ सिद्ध हो जायगा।

अथवा वाक्यों और पदों का पूरा प्रयोग न कर के उनके एकदेश या अवयवों का प्रयोग भी करते देखे जाते हैं। जैसे गृहं प्रविश इस पूरे वाक्य के स्थान में केवल प्रविश का ही प्रयोग कर दिया जाता है। पिण्डीं भुङ्क्ष्व के स्थान में केवल पिण्डीम् का ही प्रयोग हो जाता है। तर्पणं कुरु के स्थान में केवल तर्पणम् ही पर्याप्त समझ लिया जाता है। पदों में भी देवदत्त के स्थान में केवल दत्त और सत्यभामा के स्थान में केवल भामा का ही प्रयोग हो जाता है। इसी प्रकार यहां सम्प्रसारणनिर्वृत्तात्, सम्प्रसारणनिर्वृत्तस्य इन पदों के स्थान में सम्प्रसारणात्, सम्प्रसारणस्य इस एकदेश का प्रयोग किया हुआ समझना चाहिये। सम्प्रसारण से जो निर्वृत्त निष्पन्न वर्ण है वह सम्प्रसारणनिर्वृत्त है उसी का एकदेश सम्प्रसारणाच्च में सम्प्रसारणात् है। उससे परे पूर्वरूप एकादेश होता

---

१. वाक्यैकदेश से यहां भाष्यकार का तात्पर्य सम्प्रसारणात्, सम्प्रसारणस्य इस पदसमूह के एकदेश से है। क्योंकि दोनों पदों में एकदेश का प्रयोग समझा गया है इस लिये उसे वाक्यैकदेश कह दिया है।

निर्वृत्तस्य विधिं विज्ञास्यामः। सम्प्रसारणनिर्वृत्तात्, सम्प्रसारणनिर्वृत्तस्येति।

अथवा आहायं सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति। सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति। न च वाक्यस्य सम्प्रसारणसंज्ञायां सत्यामेष निर्देश उपपद्यते। नाप्येतयोः कार्ययोः सम्भवोऽस्तीति तत्र वचनाद् भविष्यति।

अथवा पुनरस्तु वर्णस्य। ननु चोक्तं वर्णसंज्ञा चेन्निर्वृत्तिरिति। नैष दोषः। इतरेतराश्रयमात्रमेतच्चोदितम्। सर्वाणि चेतरेतराश्रयाण्येकत्वेन परिहृतानि सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति।

नेदं तुल्यमन्यैरितरेतराश्रयैः। न हि तत्र किंचिदुच्यते अस्य स्थाने ये आकारैकारौकारा भाव्यन्ते ते वृद्धिसंज्ञा भवन्तीति। इह हि पुनरुच्यते इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसंज्ञो भवतीति।

एवं तर्हि भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते। तद्यथा कश्चित् कंचित् तन्तुवायमाह अस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति। स पश्यति यदि शाटको,

---

है। सम्प्रसारणस्य में भी सम्प्रसारण से निर्वृत्त वर्ण को सम्प्रसारण समझ कर उसे ही दीर्घ होता है।

अथवा सम्प्रसारणाच्च और सम्प्रसारणस्य इन वचनों के सामर्थ्य से वाक्य की संज्ञा में भी इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा हो जायगी। अन्यथा वाक्य की संज्ञा में उक्त सूत्रों का निर्देश ठीक न बनने से तथा तद्विहित कार्य का असंभव होने से ये सूत्र व्यर्थ हो जायेंगे।

अथवा वर्ण की ही सम्प्रसारणसंज्ञा मान लीजिये उसमें भी दोष नहीं। वह जो इतरेतराश्रय मात्र दोष कहा था वह शब्दों को नित्य मानने से न होगा। क्योंकि सभी इतरेतराश्रय दोषों का यह एक ही समाधान किया गया है कि शब्दों को नित्य माना जावे।

यह इतरेतराश्रय दोष अन्य इतरेतराश्रय दोषों के समान नहीं है। क्योंकि वृद्धिरादैच् इत्यादि संज्ञा स्थलों में किसी के स्थान में हुए आकार ऐकार औकार की वृद्धिसंज्ञा नहीं कही गई है। यहां तो यण् के स्थान में हुए इक् की सम्प्रसारणसंज्ञा की जाती है हर एक इक् वर्ण की नहीं। तो इक् को नित्य मानने पर भी वह यण् के स्थान में हुआ है यह नहीं जाना जा सकता।

अच्छा तो सम्प्रसारण यह भाविनी (आगे होने वाली) संज्ञा मान ली जायगी। यण् के स्थान में वह इक् होगा जिसका नाम आगे सम्प्रसारण होगा। ऐसा

न वातव्यः। अथ वातव्यो न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवतीति। एवमिहापि स यणः स्थाने भवति यस्याभिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति।

अथवा इजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते। यजाद्युपदेशात्तु इजादिनिवृत्तिः प्रसक्ता। प्रयुञ्जते च पुनर्लोका इष्टम् उप्तम् इति। ते मन्यामहे अस्य यणः स्थाने इममिकं प्रयुञ्जते इति। तत्र तस्यासाध्वभिमतस्य शास्त्रेण साधुत्वमन्वाख्यायते किति साधुर्भवति ङिति साधुर्भवतीति।

मानने पर कोई दोष नहीं होगा। जैसे कोई किसी जुलाहे से कहे कि इस सूत का शाटक (धोती) बुन दे। वह सोचता है यदि शाटक है तो बुनने की आवश्यकता नहीं। और यदि बुनना है तो अभी शाटक नहीं। शाटक बुन दे यह दोनों बातें विरोधी होने से कैसे की जायेंगी। तो फिर सोचता है कि इस सूत को ऐसे बुन दे जिसके बुने जाने पर यह शाटक कहलायेगा। इसी प्रकार यहां ष्यङः सम्प्रसारणं० में भी यण् के स्थान में वह इक् होगा जिस की आगे सम्प्रसारणसंज्ञा होगी।

अथवा सम्प्रसारणसंज्ञा के बिना भी लोक में यज् इज्, वप् उप् इन दो प्रकार के धातुओं के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। धातुपाठ में केवल यज्, वप् का उपदेश है उससे इज् उप् का प्रयोग नहीं होना चाहिये। पर होता है जैसे—इष्टम् यहां इज् का। और उप्तम् यहां उप् का। इससे यण् के स्थान में इक् का होना लोकसिद्ध है। इस लोकसिद्ध यण् के स्थान में प्रयुक्त होने वाले इक् की शास्त्र द्वारा सम्प्रसारणसंज्ञा कर के किन् या ङिन् में सम्प्रसारण का प्रयोग साधु है अन्यत्र असाधु है यह बताया जाता है।[1]

---

१. इग्यणः सम्प्रसारणम् में यथासंख्यं नियम से यकार के स्थान में हुए इकार की, वकार के स्थान में हुए उकार की, रेफ के स्थान में हुए ऋकार की और लकार के स्थान में हुए लृकार की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इस लिये अदुहितराम् (दुह्, लङ्, इट्, तर, आम्) यहां लङ् के लकार-रूप-यण् के स्थान में हुए इट् प्रत्यय रूप इक् की सम्प्रसारणसंज्ञा न होगी तो हलः से इट् को दीर्घ न होगा। द्युभ्याम् (दिव्, भ्याम्) में दिव उत् से वकार के स्थान में हुए उकार की सम्प्रसारणसंज्ञा होने पर यद्यपि दिव् के इकार को यण् हो कर हलः से दीर्घ

आद्यन्तौ टकितौ ॥१।१।४६॥

समासनिर्देशोऽयम्। तत्र न ज्ञायते क आदिः कोऽन्त इति। तद्यथा अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्युक्ते तत्र न ज्ञायते कस्याजा धनं कस्यावय इति।

यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तः। दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारम्भो निवर्तको भवति।

अस्ति वेह कश्चित् पुरुषारम्भः ?

अस्तीत्याह।

टकितौ में समास का निर्देश होने से यह पता नहीं लगता कि टित् और कित् में कौन आदि में होता है और कौन अन्त में। जैसे—अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ यह समस्त वाक्य है। इसका अर्थ है—देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों बकरी और भेड़ धन वाले हैं। इसमें यह पता नहीं लगता कि किसका बकरी धन है और किसका भेड़। दोनों के दोनों धन होने भी संभव हैं। यहां भी टित् कित् दोनों ही आदि में और दोनों ही अन्त में हो जावें यह अर्थ भी सम्भव है।

यद्यपि लोक में अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ यह दृष्टान्त है। फिर भी उस लौकिक दृष्टान्त की पुरुषारम्भ से यत्नविशेष से बाधा हो सकती है।

क्या यहां कोई यत्न विशेष है ?

हां है।

प्राप्त होता है तो भी वह उत् में तपरकरणसामर्थ्य से नहीं होगा। तपर का प्रयोजन वहां यही है कि उकार ह्रस्व ही रहे। अक्षद्युवौ (अक्ष द्यू-औ) में दिव् के वकार के स्थान में हुए ऊठ् की सम्प्रसारणसंज्ञा होने पर सम्प्रसारणाच्च से प्राप्त औ का पूर्वरूप एकादेश भी वार्णादाङ्गं बलीयो भवति इस परिभाषा बल से न होगा। उसके अनुसार वर्णसम्बन्धी पूर्वरूप शास्त्र से अङ्गसम्बन्धी अचि श्नुधातु० यह उवङ्शास्त्र बलवान् होगा तो पूर्वरूप को बाध कर पहले ऊठ् को उवङ् हो जायगा। फिर पूर्वरूप की प्राप्ति न रहने से कोई दोष न होगा। इस प्रकार सम्प्रसारणसंज्ञा में यथासंख्य सम्बन्ध बनाने के लिये ऋलृक् सूत्र में लृकार का उपदेश करना आवश्यक हो जाता है। वार्तिककार द्वारा वहां लृकार का प्रत्याख्यान उस अवस्था में चिन्त्य बन जाता है।

कः।

संख्यातानुदेशो नाम।

कौ पुनष्टकितावाद्यन्तौ भवतः?

आगमावित्याह।

युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देषु आगमशासनं स्यात्। न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः।

अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः।

बाढं युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तरात् शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता।

आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति। अनागमकानां सागमकाः। तत्

कौन सा?

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् यह यथासंख्य का नियम। यहां शास्त्र में यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इस यत्नविशेष से लौकिक दृष्टान्त की बाधा हो जायगी तो टित् और कित् क्रम से आदि अन्त में समझे जायेंगे। टित् आदि में होगा और कित् अन्त में।

क्रम से आदि अन्त में होने वाले ये टित् कित् कौन हैं?

आगम हैं।

क्या यह ठीक है कि नित्य शब्द मानते हुए आगम किये जावें। क्या नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ (परिणाम शून्य) अविचाली (अचल) तथा नाश वृद्धि विकार रहित नहीं होना चाहिये? अवश्य होना चाहिये। आगम तो एक नये शब्द की वृद्धि का नाम है। उससे शब्द में वृद्धि हो कर नित्यता कैसे रहेगी।

नित्य शब्द को मानते हुए आदेशों का होना भी कैसे ठीक है?

सो तो ठीक है। आदेशों में पहले शब्द की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग होने से प्रयोग ही बदलता है शब्द नहीं इस लिये आदेश पक्ष में शब्द की नित्यता में कोई बाधा नहीं आती।

तो ये भी आदेश ही मान लिये जायेंगे। अनागमक अर्थात् इडादि आगम रहित तव्य के स्थान में सागमक अर्थात् इडादि आगमसहित इतव्य शब्द आदेश

कथम् ? संज्ञाधिकारोऽयम् । आद्यन्तौ चेह संकीर्त्येते । टकारककारावितावुदाह्रियेते । तत्राद्यन्तयोष्टकारककारावितौ संज्ञे भविष्यतः । तत्रार्धधातुकस्येड् वलादेरित्युपस्थितमिदं भवति आदिरिति । तेनेकारादिरादेशो भविष्यति ।

एतावदिह सूत्रमिडिति । कथं पुनरियता सूत्रेण इकारादिरादेशो लभ्यः ।

लभ्य इत्याह । कथम् । बहुव्रीहिनिर्देशात् । बहुव्रीहिनिर्देशोऽयम् । इकार आदिरस्येति ।

यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुम् । इह तु कथम्, लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त इति । अत्राशक्यमुदात्तग्रहणनाकारो विशेषयितुम् । तत्र को दोषः । अङ्गस्योदात्तत्वं प्रसज्येत ।

नैष दोषः । त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः । तत्र वाक्य एवोदात्तग्रहणेनाकारो विशेष्यते । अकार उदात्त आदिरस्येति ।

हो जायगा । वह कैसे ? आद्यन्तौ टकितौ इस सूत्र को परिभाषा न मान कर संज्ञाधिकार में होने से संज्ञा सूत्र मानेंगे । आदि अन्त यहां कहे ही हैं । इत्संज्ञक टकार ककार भी पढ़े हैं, तो सूत्र का अर्थ होगा— आदि की टित् और अन्त की कित् संज्ञा होती है । संज्ञा संज्ञी का बोध करा कर स्वयं निवृत्त हो जायगी । उस से आर्धधातुकस्येड् वलादेः में इट् टित् होने से आदि की उपस्थिति हो जायगी तो इकारादि आदेश सिद्ध हो जायगा ।

केवल इट् इतने वचन से इकारादि आदेश होता है यह कैसे समझ लिया जायगा ।

इट् में इकारः ट् अर्थात् आदिरस्य (इकार है आदि में जिसके) इस प्रकार बहुव्रीहि समास मानने से इकारादि आदेश समझ लिया जायगा ।

इट् में यद्यपि बहुव्रीहि मान कर काम चल जायगा तो भी लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः यहां अट् में कैसे होगा । अट् में अकारः ट् अर्थात् आदिरस्य इस प्रकार बहुव्रीहि होने से अकार का विशेषण उदात्त न हो सकेगा तो अङ्ग को उदात्त स्वर प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अडुदात्तः यह त्रिपद बहुव्रीहि है । सौत्र निर्देश होने से विशेषण उदात्तका पर निपात है । यहां अकारः ट् अर्थात् आदिः उदात्तः अस्य ।

यत्र तर्ह्यनुवृत्त्यैतद् भवति–आडजादीनामिति ।

वक्ष्यत्येतद्—'अजादीनामटा सिद्धम्' इति ।

अथवा यत्तावदयं सामान्येनोपदेष्टुं शक्नोति तत्तावदुपदिशति प्रकृतिं ततो वलाद्यार्धधातुकं ततः पश्चादिकारम् । तेनायं विशेषेण शब्दान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते । तद्यथा खदिरबर्बुरयोः खदिरबर्बुरौ

इस प्रकार अकार का विशेषण बनायेंगे तो अर्थ होगा– उदात्त अकार है आदि में जिसके ऐसा आदेश होता है । उस अवस्था में अङ्ग को उदात्त न होगा ।

जहां आडजादीनाम् इस उत्तर सूत्र में आट् को उदात्त करने के लिये उदात्त ग्रहण की अनुवृत्ति इष्ट है वहां अड्डदात्तः इस समास में पड़ा हुआ उदात्त ग्रहण कैसे अनुवृत्त होगा ?

आडजादीनाम् के लिये उदात्तग्रहण की अनुवृत्ति लाने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि वहीं अजादीनामटा सिद्धम् इस वचन द्वारा आडजादीनाम् इस सूत्र का खण्डन कर दिया है । इस लिये उस सूत्र के न होने से तदर्थ उदात्तग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं रहता । वहां यह कहेंगे कि अजादि धातुओं में भी अट् के आगम से ही काम चल जायगा, आट् आगम विधान करना व्यर्थ है ।

अथवा इस सूत्र को यदि परिभाषा ही मानें तो भी शब्दों में अनित्यता नहीं आती । क्योंकि आचार्य पाणिनि सामान्य ढंग से जिस शब्द का उपदेश कर सकते हैं उसका क्रमशः उपदेश करते हैं । पहले प्रकृति अर्थात् भू धातु का फिर वलादि आर्धधातुक तव्यत् प्रत्यय का और उसके बाद इट् रूप इकार का । इस तरह उपदिष्ट हुआ शब्द-समुदाय पहले से भिन्न विशेष शब्दान्तर बनता जाता है । भवितव्यम् में पहले भू शब्द, फिर भूतव्य शब्द और फिर भवितव्य शब्द का अलग २ उपदेश है । (यह साधुत्वान्वाख्यान का उपाय मात्र है, व्यवस्थित तव्य में इकार अवयव बढ़ाया नहीं जाता, यहां तव्य के प्रसङ्ग में इतव्य साधु है यही शास्त्र का प्रयोजन है, शब्दान्तर निष्पत्ति नहीं ।) जैसे कोई खदिर (खैर) और बर्बुर (बबूल) वृक्षों को सामान्यरूप से पहले लाल तने वाला और छोटे पत्तों वाला कह कर फिर केवल खदिर को कङ्कट=ऊपरी सूखी खाल रूप सन्नाह कहे तो वहां खदिर उन दोनों में एक विशेष द्रव्यान्तर हो जाता है । लाल तने और छोटे पत्तों की समानता से बर्बुर के साथ बोले हुए भी खदिर शब्द से कङ्कट की विषमता के कारण बर्बुर से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य विशेष समझा जाता है । कङ्कट तो उसमें पहले से ही है इस लिये कङ्कट वाला कहने से कोई

गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह कङ्कटवान् खदिर इति। तनासौ विशेषेण द्रव्यान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते।

अथवा एतयानुपूर्व्याऽयं शब्दान्तरमुपदिशति। प्रकृतिं, ततो वलाद्यार्धधातुकं. ततः पश्चादिकारं, यस्मिंस्तस्यागमबुद्धिर्भवति।

टकितोराद्यन्तविधाने प्रत्ययप्रतिषेधः।

टकितोराद्यन्तविधाने प्रत्ययस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। प्रत्यय आदिरन्तो वा मा भूदिति। चरेष्टः। आतोऽनुपसर्गे क इति।

परवचनात् सिद्धम्।

परवचनात् प्रत्यय आदिरन्तो वा न भविष्यति।

परवचनात् सिद्धमिति चेन्नापवादत्वात्।

परवचनात् सिद्धमिति चेन्न, किं कारणम्। अपवादत्वात्।

नया कङ्कट उसमें नहीं लगाया जाता बल्कि कहने का ढंग ही यह है कि दोनों में खदिर कङ्कट वाला है। उसी प्रकार भवितव्यम् में इकार के उपदेश वाला भवितव्य शब्द पहले उपदिष्ट भू, भूतव्य शब्दों से पृथक स्वतन्त्र शब्दान्तर समझा जायगा।

अथवा आचार्य पाणिनि पहले धातु, फिर प्रत्यय, फिर इट्रूप इकार की आनुपूर्वी के ढंग से भिन्न २ अखण्ड शब्दों का ही कल्पित खण्डों द्वारा उपदेश कर रहे हैं यह समझना चाहिये। बोधक प्रयोगस्थ शब्द की अपेक्षा ये शब्दान्तर हैं। सत्यगवय के प्रतिपादनार्थ रेखागवय के तुल्य हैं। इस तरह इकार में कल्पित आगम बुद्धि होने पर भी अखण्ड शब्द की नित्यता अक्षत रहती है।

टित् कित् को क्रम से आदि अन्त करने में प्रत्यय का निषेध कहना चाहिये। जिससे चरेष्टः आतोऽनुपसर्गे कः यहां ट और क टित् कित् प्रत्यय आदि अन्त में न होवें।

प्रत्ययः, परश्च के अधिकार से ट क प्रत्यय टित् कित् होने पर भी धातु से परे होंगे। आदि अन्त में नहीं होंगे।

यह सूत्र अपवाद होने से परश्च को बाध लेगा तो टित् कित् प्रत्यय भी आदि अन्त में प्राप्त होंगे। जैसे मिदचोन्त्यात्परः यह सूत्र स्थाने योग षष्ठी से

अपवादोऽयं योगः। तद्यथा मिदचोन्त्यात्परः इत्येष योगः स्थानेयोगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य चापवादः।

विषम उपन्यासः। युक्तं तत्र यदनवकाशं मित्करणं स्थानेयोगत्वं प्रत्ययपरत्वं च बाधते। इह पुनरुभयं सावकाशम्। कोऽवकाशः। टित्करणस्यावकाशः—टित इति ईकारो यथा स्यात्। कित्करणस्यावकाशः—कितीत्याकारलोपो यथा स्यात्।

प्रयोजनं नाम तद् वक्तव्यं यन्नियोगतः स्यात्। यदि चायं नियोगतः परः स्यात् तत एतत् प्रयोजनं स्यात्। कुतो नु खल्वेतत् टित्करणादयं परो भविष्यति न पुनरादिरिति। कित्करणाच्च परो भविष्यति न पुनरन्त इति। टितः खल्वप्येष परिहारः, यत्र नास्ति संभवः यत्परश्च स्याद् आदिश्च। कितस्त्वपरिहारः, अस्ति हि संभवो यत्परश्च स्यादन्तश्च। तत्र को दोष। 'उपसर्गे घोः किः'। आध्योः

सम्बद्ध अलोऽन्त्यस्य इस सूत्र को और परश्च सूत्र को नुम् श्नम् आदि में अपवाद होने से बाध लेता है।

मिदचोऽन्त्यात्परः का अलोन्त्य सूत्र तथा परश्च सूत्र को बाध लेना तो ठीक है। क्योंकि वह अनवकाश है। अलोन्त्य सूत्र तथा परश्च सूत्र के विषय को छोड़ कर और कहीं लग नहीं सकता। यहां तो टित् कित् दोनों सावकाश हैं। टित् होने से कुरुचरी में टिड्ढाणञ्० से ङीप् हो सकता है। और कित् होने से गोदः में आतो लोप इटि च से आकार का लोप हो सकता है। जैसे नुम् श्नम् आदि में मकार मिदचोन्त्यात्परः के लिये ही लगाया है उसका और कोई प्रयोजन नहीं, वैसे ट और क में टित् कित् यदि आद्यन्तौ टकितौ के लिये ही लगाया होता तो अनवकाश होने से प्रत्ययपरत्व को बाध कर ट क भी आदि अन्त में हो जाते।

किसी चीज़ का प्रयोजन वह कहना चाहिये जो नियम से हो। यदि नियम से ट क प्रत्यय धातु से परे हो जावें तो टित् कित् होकर उनका ङीप् और आलोप होना प्रयोजन बन सकता है। पर ट क प्रत्यय टित् कित् करने पर भी परे ही क्यों हो, आद्यन्तौ टकितौ इस वचन से आदि अन्त में क्यों न हों। उसमें भी केवल टित् का ही आप कुछ समाधान कर सकेंगे। टित् को ही आदि में होने से रोक सकेंगे। क्योंकि उस का एक साथ परे होना और आदि में होना संभव नहीं। कित् तो एक साथ परे भी और अन्त में भी हो सकता है। इस लिये कित् परे न हो कर अन्त में क्यों न हो।

प्रध्योः। 'नोङ्धात्वोरि'ति प्रतिषेधः प्रसज्येत। टितश्चाप्यपरिहारः, स्यादेव ह्ययं टित्करणादादिः, न पुनः परः।

क्व तर्हीदानीमिदं स्यात्। टित ईकारो भवतीति।

य उभयवान् गापोष्टगिति।

सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। षष्ठ्यधिकारेऽयं योगः कर्तव्यः। आद्यन्तौ टकितौ षष्ठी निर्दिष्टस्येति।

आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्वात् तदभावेऽसम्प्रत्ययः।

आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्वात् तदभावे षष्ठ्या अभावे असंप्रत्ययः स्यात्। आदिरन्तो वा न भविष्यति।

कित् के अन्त में होने से क्या दोष है? आध्योः प्रध्योः यहां उपसर्गे घोः किः से प्रत्ययान्त आधि प्रधि शब्दों में कि प्रत्यय के कित् होने से वह धा धातु से परे न हो कर उसका अन्तावयव होगा तो धि यह शब्द धातु बन जायगा। उससे ओस् विभक्ति परे रहते यण हो कर उदात्तयणो हल्पूर्वात् से प्राप्त विभक्ति स्वर का नोङ्धात्वोः से निषेध प्राप्त होगा। कि प्रत्यय को धातु से परे मानने पर तो धि के धातु न होने से उक्त दोष नहीं आता। वस्तुतः देखा जाये तो टित् का भी पूर्ण समाधान नहीं हो सकता। उसे भी आदि में होने से आप नहीं रोक सकते। टित् प्रत्यय टित् होने के कारण आदि में क्यों न हो। परे ही क्यों हो। टित्करण से उसे आदि में ही होना चाहिये, परे नहीं।

टित् प्रत्ययों में टित्करण से होने वाला टिड्ढाणञ् से ङीप् फिर कहां होगा?

जहां टित् कित् दोनों अनुबन्ध लगे हैं वहां कित् के कारण अन्तावयव हो कर टित् के कारण टिड्ढाणञ् से ङीप् होना चरितार्थ हो सकता है। जैसे—गापोष्टक् में टक् प्रत्यय कित् होने के कारण तो गा पा धातुओं के अन्त में हो जावे और टित् के कारण वहां टिड्ढाणञ् से ङीप् हो जावे।

षष्ठी स्थानेयोगा के अधिकार में इस सूत्र को कर देने से कहीं दोष न होगा। जहां षष्ठी विभक्ति का निर्देश होगा वहीं टित् कित् आदि अन्त में होंगे। चरेष्टः, आतो नुपसर्गे कः इन प्रत्ययों में पञ्चमी का निर्देश है, षष्ठी का नहीं इस लिये टित् कित् प्रत्यय आदि अन्त में न होंगे। या आदि अन्त

गुक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यात् । नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम् ।

अर्थनिमित्तक एव शब्दः । तत् कथम् । आद्यन्तौ षष्ठ्यर्थौ । नैवात्र षष्ठीं पश्यामः । तेन मन्यामहे आद्यन्तावेवात्र न स्तः । तयोरभावे षष्ठ्यपि न भवतीति ।

ये षष्ठी विभक्ति के ही अर्थ हैं । इस लिये जहां षष्ठी न होगी वहां आदि अन्त अर्थ भी न होंगे ।

क्या शब्द के कारण अर्थ का प्रयोग मानना ठीक है ? अर्थ के कारण शब्द का प्रयोग होता है क्या यह सिद्धान्त न मानना चाहिये । आप षष्ठी विभक्ति रूप शब्द के कारण आद्यन्त रूप अर्थ का प्रयोग कैसे मानते हैं । शब्दो निमित्तं यस्य स शब्दनिमित्तकः । शब्द के कारण होने वाला । इसी प्रकार अर्थो निमित्तं यस्य सः अर्थनिमित्तकः । अर्थ के कारण होने वाला ।

अर्थ के कारण ही शब्द का प्रयोग होता है यह सिद्धान्त हम भी मानेंगे । सो कैसे ? आदि और अन्त षष्ठी विभक्ति के अर्थ हैं । चरेष्टः, आतोनुपसर्गे कः में षष्ठी है नहीं, तो हम समझेंगे यहां आदि अन्त अर्थ ही नहीं होंगे तभी षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ।[1]

---

१. चरेष्टः इस ट प्रत्यय के विधान में परश्च सूत्र का अधिकार होने से चरेः यह पञ्चमी ही समझी जायगी, षष्ठी नहीं । इस लिये आद्यन्तौ टकितौ की उपस्थिति न हो कर ट प्रत्यय पर ही होगा । गापोष्टक् व्रीहिशाल्योर्ढक् यहां भी गापोः, व्रीहिशाल्योः अवयवावयविभाव में षष्ठी न समझ कर आनन्तर्य-सम्बन्ध में पञ्चमी समझी जायगी तो गा पा से अनन्तर टक् और व्रीहि शालि से अनन्तर ढक् होगा । वहां भी आद्यन्तौ टकितौ की प्रवृत्ति न होगी । यद्यपि पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इस न्याय से आद्यन्तौ टकितौ यह परिभाषा अपने से अनन्तर आने वाली स्थानेयोग षष्ठी से सम्बद्ध अलोन्त्य परिभाषा को ही बाधेगी व्यवहित हो कर आने वाली परश्च इस विधि को नहीं बाधेगी तो चरेष्टः आतोऽनुपसर्गे कः इत्यादि टित् कित् प्रत्ययों में आद्यन्तौ० की प्रवृत्ति न होने से इष्ट सिद्ध हो सकता है फिर भी पुरस्तादपवादाः० यह परिभाषा यथोद्देश पक्ष में ही परश्च को न बाध सकेगी कार्यकाल में तो बाधक हो ही सकती है इसी लिये भाष्यकार ने कार्यकाल पक्ष में उक्त परिभाषा की अप्रवृत्ति समझते हुए उसका आश्रयण नहीं किया ।

मिदचोऽन्त्यात्परः ॥१।१।४७॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

मिदचोन्त्यात्परः स्थानपरप्रत्ययस्यापवादः ।

मिदचोन्त्यात्पर इत्युच्यते । स्थानेयोगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य चापवादः । स्थानेयोगत्वस्य तावत् । कुण्डानि वनानि । पयांसि यशांसि । प्रत्ययपरत्वस्य । भिनत्ति छिनत्ति ।

भवेदिदं युक्तमुदाहरणम्–कुण्डानि वनानि । यत्र नास्ति संभवो यदयमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति । इदं त्वयुक्तम्—पयांसि यशांसीति । अस्ति हि संभवो यदयमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति ।

एतदपि युक्तम् । कथम् । नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः

यह सूत्र क्यों बनाया है ?

यह सूत्र इस लिये बनाया है कि स्थानेयोग षष्ठी से सम्बद्ध अलोन्त्यस्य सूत्र का और परश्च सूत्र का अपवाद हो कर बाधक हो जावे । जैसे— कुण्डानि वनानि । पयांसि । यशांसि । (कुण्ड वन पयस् यशस्-जस् शस्) यहां नपुंसकस्य झलचः से हुआ नुम् का आगम मित् होने से अलोन्त्यस्य को बाध कर कुण्ड आदि के अन्तिम अच् से परे होता है । प्रत्ययपरत्व का उदाहरण जैसे भिनत्ति, छिनत्ति । (भिनद् छिनद्-लट् तिप्) यहां रुधादिभ्यः श्नम् से हुआ श्नम् प्रत्यय मित् होने से प्रत्ययः परश्च को बाध कर भिद् छिद् के अन्तिम अच् से परे होता है ।

कुण्डानि वनानि यह उदाहरण तो ठीक है यहां एक साथ कुण्ड के अन्तिम अल् अकार के स्थान में और उसी अन्तिम अच् अकार से परे नुम् का होना सम्भव नहीं । इस लिये अलोन्त्य को बाध कर मिदचोन्त्यात्परः हो जावे । परन्तु पयांसि यशांसि यह उदाहरण ठीक नहीं । यहां एक साथ पयस् के अन्तिम अल् सकार के स्थान में और अन्तिम अच् यकार के अकार से परे नुम् का होना सम्भव है इस लिये मिदचोन्त्यात्परः से अलोन्त्य की बाधा न हो कर अलोन्त्य सूत्र से सकार के स्थान में ही नुम् प्राप्त होता है ।

पयांसि यशांसि यह उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि अपवादों से उत्सर्ग

पठन्ति अपवादैरुत्सर्गा वाध्यन्तामिति। किं तर्हि। लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि संभवे वाधनं भवति। तद्यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवे अचामन्त्यात्परत्वं षष्ठीस्थानेयोगत्वं वाधिष्यते।

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिदनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्।

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिद्वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्। अनुषङ्गसंयोगादि-लोपार्थम्। अनुषङ्गलोपार्थं संयोगादिलोपार्थं च। अनुषङ्गलोपार्थं तावत्। मग्नः। मग्नवान्। संयोगादिलोपार्थम् मङ्क्ता मङ्क्तुम् मङ्क्तव्यम्।

बाधे जाते हैं यह लोकव्यवहार सिद्ध बात है इस के लिये न तो राजाज्ञा है और न ही धर्मशास्त्र बनाने वाले कोई वचन पढ़ते हैं। लोक में सम्भव होने पर भी बाधा होती है। जैसे सब ब्राह्मणों को दही देओ किन्तु कौण्डिन्य कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण को तक्र (लस्सी) देओ ऐसा कहने पर कौण्डिन्य को दही देने का सम्भव होने पर भीं तक्र ही दिया जाता है। तक्र कहने से दही का देना रुक जाता है। इसी प्रकार पयांसि यशांसि यहां अलोन्त्य का सम्भव होने पर भी मिदचो० से उसकी बाधा हो जायगी तो अन्तिम अच् से परे ही नुम् होगा।

मस्ज् धातु में मित् आगम को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये। जिससे अनुषङ्ग अर्थात् नकार का लोप और संयोगादि सकार का लोप सिद्ध हो सकें। अनुषङ्ग जैसे—मग्नः मग्नवान्। (मस्ज् क्त, क्तवतु) यहां मस्ज् धातु से क्त क्तवतु प्रत्यय परे होने पर मस्जिनशोर्झलि से हुआ नुम् का आगम मस्ज् के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो मस्नज् हो कर नकार के उपधा में आ जाने से अनिदितां हल उपधायाः से नकार का लोप सिद्ध हो जाता है। साथ ही सकार के संयोगादि हो जाने से स्कोः संयोगाद्योः० से सकार का लोप भी सिद्ध हो जाता है। अकेले संयोगादिलोप का उदाहरण जैसे—मङ्क्ता मङ्क्तुम् मङ्क्तव्यम्। (मस्ज् तृच्, तुमुन्, तव्यत्) यहां मस्नज् इस स्थिति में सकार के संयोगादि हो जाने से स्कोः संयोगाद्योः से सकार का लोप सिद्ध हो जाता है।

---

१. ईश्वर शब्द का नागेश वेद अर्थ समझते हैं।

भर्जिमर्च्योश्च ।

भर्जिमर्च्योश्चान्त्यात्पूर्वो मिद्वक्तव्यः । भरूजा मरीचय इति ।

स तर्हि वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः । निपातनात् सिद्धम् । किं निपातनम् । भरूजाशब्दोऽङ्गुल्यादिषु पठ्यते । मरीचिशब्दो बाह्वादिषु ।

किं पुनरयं पूर्वान्तः, आहोस्वित् परादि , आहोस्विदभक्तः ।

कथं चायं पूर्वान्तः स्यात् , कथं वा परादिः कथं वाऽभक्तः ।

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । अथादिरिति वर्तते ततः परादिः । अथोभयं निवृत्तं ततोऽभक्तः ।

भृज् और मर्च् धातुओं में भी मित् को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये । जैसे—भरूजा मरीचयः । ये उदाहरण हैं । भरूजा में भृज् धातु से अच् प्रत्यय परे होने पर लघूपधगुण हो कर औणादिक ऊम् का आगम भृज् के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो भरूजा सिद्ध हो जाता है । मरीचि में मर्च् धातु से इ प्रत्यय परे रहते औणादिक ईम् का आगम मर्च् के अन्तिम अक्षर चकार से पूर्व हो जायगा तो मरीचि शब्द सिद्ध हो जाता है ।

भर्जिमर्च्योश्च यह वचन क्या कह दिया जाय ?

इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं । भरूजा मरीचि ये दोनों शब्द निपातन से सिद्ध हो जायेंगे । क्या निपातन है ? भरूजा शब्द तो अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् इस सूत्र के अङ्गुल्यादिगण में पढ़ा गया है । मरीचि शब्द बाह्वादिभ्यश्च इस सूत्र के बाह्वादिगण में । गणपाठ में पठित होने से दोनों शब्द निपातन से सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या यह मित् का आगम पूर्व का अन्तावयव होता है या पर का आदि अवयव, या अभक्त अर्थात् दोनों में से किसी का भी अवयव नहीं होता ?

कैसे तो यह पूर्व का अन्तावयव हो सकता है । कैसे पर का आदि अवयव और कैसे अभक्त किसी का भी अवयव नहीं ।

यदि आद्यन्तौ टकितौ इस पूर्व सूत्र से यहां अन्त की अनुवृत्ति लावें तो पूर्व का अन्तावयव हो सकता है । यदि आदि की अनुवृत्ति लावें तो पर का आदि

कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घनलोपस्वरणत्वानुस्वारशीभावाः ।

यद्यभक्तो दीर्घत्वं न प्राप्नोति । कुण्डानि वनानि । 'नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धावि'ति दीर्घत्वं न प्राप्नोति । दीर्घ ॥ नलोप-नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था । ता ता पिण्डानाम् । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपो न प्राप्नोति । न-लोप ॥ स्वर-स्वरश्च न सिध्यति । सर्वाणि ज्योतींषि । 'सर्वस्य सुपी'-त्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति । स्वर ॥ णत्व-णत्वं च न सिध्यति । माषवापाणि । व्रीहिवापाणि । पूर्वान्ते प्रातिपदिकान्तनकारस्येति सिद्धम् । परादौ

अवयव । और यदि दोनों में से किसी की भी अनुवृत्ति न लावें तो अभक्त हो सकता है ।

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है ?

अभक्त पक्ष मानने पर दीर्घ, नलोप, स्वर, णत्व, अनुस्वार और शीभाव सिद्ध नहीं होते । कुण्डानि वनानि यहां नुम् के अभक्त होने से नान्त अङ्ग न होगा तो नोपधायाः की अनुवृत्ति से सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ सूत्र से उपधा-दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।[1] ता ता पिण्डानाम् यहां तानि के स्थान में वैदिक व्यत्यय से ता यह रूप होता है । शेश्छन्दसि बहुलम् से शि का लोप हो कर तान् इस अवस्था में नुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा तो नलोपः प्रातिपदि० से नकार का लोप नहीं प्राप्त होता । सर्वाणि यहां नुम् के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो सर्वशब्द से परे अव्यवहित सुप् न मिलने से सर्वस्य सुपि से आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । माषवापाणि व्रीहिवापाणि यहां नुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा तो प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च से णत्व नहीं प्राप्त होता । उसके लिये सूत्र में नुम् ग्रहण करना होगा । पूर्वान्त पक्ष में तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार हो जाने से प्रातिपदिकान्त कहने से ही णत्व सिद्ध है । परादिपक्ष में भी

---

१. यदि कहो यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् इस सूत्र में तदादिग्रहण तदादिवचनं स्यादिनुमर्थम् इस वचन द्वारा नुम् सहित की अङ्गसंज्ञा के लिये नुम् के अभक्त होने पर भी कुण्डानि वनानि में कुण्डन् वनन् ये नान्त अङ्ग बन जायेंगे तब तो यह दोष न होगा ।

विभक्तिनकारस्येति । अभक्ते नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । क्रियते एतन् न्यास एव । 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु चे'ति । णत्व ॥ अनुस्वार–अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विषन्तपः परन्तपः । 'मोऽनुस्वारो हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'नश्चापदान्तस्य झली'त्येवं भविष्यति । यस्तर्हि न झल्परः । वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहो वायुः । अनुस्वार ॥ शीभाव–शीभावश्च न सिध्यति । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी । नपुंसकादुत्तरस्यौङः शीभावो भवतीति शीभावो न प्राप्नोति । शीभाव ॥

एवं तर्हि परादिः करिष्यते ।

परादौ गुणवृद्ध्यौत्त्वदीर्घनलोपानुस्वारशीभावे नकारप्रतिषेधः ।

यदि परादिः गुणः प्रतिषेध्यः । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे । 'घेर्ङिती'ति गुणः प्राप्नोति । गुण ॥ वृद्धि–वृद्धिः प्रतिषेध्या । अतिसखीनि ब्राह्मण-

---

विभक्ति का अवयव हो जाने से विभक्ति कहने से णत्व सिद्ध है । उन दोनों में नुम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । यदि कहो प्रातिपदिकान्तनुम् विभ० सूत्र में नुम् ग्रहण कर ही रखा है तब तो यह णत्व का दोष न होगा । द्विषन्तपः परन्तपः यहां मुम् के अभक्त होने से मान्त पद न होगा तो मोनुस्वारः से अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । यदि कहो मोनुस्वारः से न सही, नश्चापदान्तस्य झलि से अनुस्वार कर लेंगे तो वहंलिहः अभ्रंलिहः यहां लिह के लकार के झल् न होने से झल् परे न होगा तो नश्चापदान्तस्य० से भी अनुस्वार नहीं प्राप्त होगा । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी यहां नुम् के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो नपुंसकाच्च से औङ् को शी आदेश नहीं प्राप्त होता ।

तो फिर मित् को परादि मान लेंवे ।

मित् को परादि मानने पर गुण वृद्धि, औत्त्व, दीर्घ, नलोप, अनुस्वार और शीभाव में नकार का प्रतिषेध करना होगा । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे यहां नुम् परादि हो कर ङे विभक्ति का अवयव हो जायगा तो त्रपु आदि को

---

१. द्विषन्तपः यह उदाहरण तो परन्तपः के प्रसङ्ग से कह दिया है । इसमें मुम् को अनुस्वार की अप्राप्ति का दोष नहीं है । क्योंकि द्विषत् शब्द को हुआ मुम् का आगम तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इस न्याय से द्विषत् के ग्रहण से गृहीत हो जायगा । द्विषम् इस के मान्त पद बन जाने से मोऽनुस्वारः सिद्ध है ।

कुलानि। सख्युरसंबुद्धौ इति णित्त्वे 'अचो ञ्णिती'ति वृद्धिः प्राप्नोति। वृद्धि ॥ औत्त्व-औत्त्वं च प्रतिषेध्यम् । त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि। 'इदुद्भ्याम् औदच्च घेरि'ति औत्त्वं प्राप्नोति। औत्त्व। दीर्घ दीर्घत्वं च न सिध्यति। कुण्डानि वनानि। 'नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति । मा भूदेवम्। 'अतो दीर्घो यञि सुपि चेत्ये'वं भविष्यति। इह तर्हि अस्थीनि दधीनि प्रियसखीनि ब्राह्मणकुलानि। दीर्घ। नलोप-नलोपश्च न सिध्यति। अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम्। नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपो न प्राप्नोति। नलोप। अनुस्वार-अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विषन्तपः परन्तपः 'मोनुस्वारो हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। 'नश्चापदान्तस्य झली'त्येवं भविष्यति। यस्तर्हि न झल्परः। वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहो वायुः। अनुस्वार। शीभावे नकारप्रतिषेधः। शीभावे नकारप्रतिषेधो वक्तव्यः। त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी। सनुम्कस्य शीभावः प्राप्नोति।

घेर्ङिति से गुण प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा। सखायमतिक्रान्तानि अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि यहां नुम् परादि हो कर जस् विभक्ति का अवयव हो जायगा तो सख्युरसम्बुद्धौ से णित्व हो कर अजन्त अतिसखि शब्द को अचो ञ्णिति से वृद्धि प्राप्त होती है उसका निषेध कहना होगा। त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि यहां नुम् परादि हो कर ङि विभक्ति का अवयव हो जायगा तो अच्च घेः से औत्व प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा। कुण्डानि वनानि यहां नुम् के परादि हो जाने से नान्त अङ्ग न होगा तो सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से दीर्घ नहीं प्राप्त होता। यदि कहो कुण्डानि वनानि में नि के यञादि सुप् हो जाने से सुपि च से दीर्घ कर लेंगे तो अस्थीनि दधीनि प्रियसखीनि यहां अस्थि आदि के अदन्त न होने से सुपि च से भी दीर्घ नहीं प्राप्त होता। अग्ने त्री ते० इस वैदिक प्रयोग में त्रीणि के स्थान में त्री यह रूप होता है। यहां नुम् के परादि होने से प्रातिपदिकान्त नकार न मिलेगा तो नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार तानि के स्थान में प्रयुक्त ता इसमें नुम् के परादि होने से नलोप नहीं प्राप्त होता। द्विषन्तपः परन्तपः यहां मुम् के परादि होने से मान्त पद न होगा तो मोनुस्वारः से अनुस्वार नहीं प्राप्त होता। यदि कहो मोनुस्वारः से न सही, नश्चापदान्तस्य झलि से कर लेंगे तो वहंलिहः अभ्रंलिहः यहां लिह का लकार झल् परे न होने से नश्चापदान्त० से भी अनुस्वार नहीं प्राप्त होता। त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी यहां औङ् को शीभाव करने में भी नकार का प्रतिषेध करना होगा। नुम् परादि

नैष दोषः । 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ती'त्येवं न भविष्यति । यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य न प्राप्नोति । कस्मात् । नुमा व्यवहितत्वात् ।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्ते नपुसंकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च ।

यदि पूर्वान्तः क्रियते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च न सिध्यति । नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वम् । आराशस्त्रिणी । धाना शष्कुलिनी । निष्कौशाम्बिनी । निर्वाराणसिनी । द्विगुस्वर—पञ्चारत्निनी । दशारत्निनी ॥

हो कर औ विभक्ति का अवयव हो जायगा तो नुम् सहित औ को शी प्राप्त होता है । यदि कहो निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस न्याय से नपुंसकाच्च में निर्दिष्ट केवल नुम् रहित औ को ही शी होगा तो भी नुम् का व्यवधान हो जाने से औङ् को शी नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो फिर मित् को पूर्वान्त मान लेंवे ।

मित् को पूर्वान्त मानने पर नपुंसक को और उपसर्जन को होने वाला ह्रस्व तथा द्विगुस्वर नहीं सिद्ध होते । आराशस्त्रिणी । धानाशष्कुलिनी । यहां आरा च शस्त्री च ते आराशस्त्रिणी । धानाश्च शष्कुल्यश्च ते धानाशष्कुलिनी इस द्वन्द्व समास में जातिरप्राणिनाम् से एकवद्भाव हो कर नपुंसक हो जाता है । आरा शस्त्री-औ, धाना शष्कुली-औ इस अवस्था में नपुंसकाच्च से औ को शी हो कर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य से प्राप्त ह्रस्व को नित्य होने से इकोचि विभक्तौ से विहित नुम् बाध लेगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त मानने पर आरा शस्त्री, धानाशष्कुली ये अजन्त न रहेंगे तो ह्रस्वो नपुंसके० से नपुंसकह्रस्व नहीं प्राप्त होता । निष्कौशाम्बिनी निर्वाराणसिनी यहां निर्गतं कौशाम्ब्याः ये ते । निर्गते वाराणस्याः ये ते इस प्रादिसमास में नपुंसक लिङ्ग का प्रथमा द्विवचन औ होता है । निस् कौशाम्बी-औ, निस् वाराणसी-औ इस अवस्था में औ को शी हो कर गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य से प्राप्त ह्रस्व को नित्य होने से इको चि विभक्तौ यह बाध लेगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त मानने पर कौशाम्बी वाराणसी के अजन्त न रहने से उपसर्जन ह्रस्व नहीं प्राप्त होता । पञ्चारत्निनी यहां पञ्च अरत्नयः प्रमाणमनयोः ते । पञ्चानामरत्नीनां समाहारो वा ते । इस प्रकार तद्धितार्थ में या समाहार में द्विगु समास है । पञ्चारत्नि-औ इस अवस्था में नपुंसक में औ को शी हो कर इकोऽचि विभक्तौ से नुम् होता है । नुम् को पूर्वान्त मानने

नुमि कृतेऽनजन्तत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति ।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात् ।

न वा एष दोषः। किं कारणम्। बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गो नुम्। अन्तरङ्गा एते विधयः । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। द्विगुस्वरे भूयान् परिहारः । संघातभक्तोऽसौं नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमिति कृत्वा द्विगुस्वरो भविष्यति ।

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥१।१।४८॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

एच इग्वचनं सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थम् ।

एच इग् भवतीत्युच्यते सवर्णनिवृत्त्यर्थमकारनिवृत्त्यर्थं च । सवर्ण-

---

पर पञ्चारलि के इगन्त न रहने से इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर नहीं प्राप्त होता ।

ये कोई दोष नहीं। आराशस्त्रिणी आदि में नित्य नुम् को भी अन्तरङ्ग ह्रस्व बाध लेगा तो पहले नपुंसक ह्रस्व और उपसर्जन ह्रस्व हो कर बाद में नुम् होगा। क्योंकि विभक्ति की अपेक्षा रखने वाला नुम् बहिरङ्ग है। और विभक्ति की अपेक्षा न रखने वाला ह्रस्व अन्तरङ्ग है। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा बल से ह्रस्व के प्रति नुम् असिद्ध हो जायगा तो पहले ह्रस्व ही होगा। नुम् न होगा। ह्रस्व के बाद नुम् हो जाने से कोई दोष न होगा। पञ्चारलिनी यहां द्विगुस्वर के विषय में विशेष समाधान यह भी है कि पञ्चारलिनी इस समुदाय का भक्त (अवयव बना हुआ) नुम्, पञ्चारलि की ही इगन्तता को पूर्वान्त हो कर नष्ट करेगा। उसके अवयव अरलि की इगन्तता को नष्ट नहीं करेगा तो नुम् होने पर भी अरलि के इगन्त रहने से इगन्तकालकपाल० से पूर्वपदप्रकृति-स्वर निर्बाध हो जायगा।[1]

यह सूत्र किस लिये बनाया है।

यह सूत्र इस लिये बनाया है कि एचों को इक् ही ह्रस्व होवे। एचों में

---

१. यहां पूर्वान्त परादि अभक्त इन तीनों पक्षों में निर्दोष होने से पूर्वान्त पक्ष को ही भाष्यकार तथा वार्तिककार ने स्वीकार किया है।

निवृत्त्यर्थं तावत्–एङो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वा मा भूदिति। अकारनिवृत्त्यर्थं च। इमावैचौ समाहारवर्णौ। मात्रावर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः। तयोर्ह्रस्वशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्। कदाचिदिवर्णोवर्णौ। मा कदाचिदवर्णौ भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

दीर्घप्रसङ्गस्तु।

दीर्घास्त्विकः प्राप्नुवन्ति। किं कारणम्। स्थानेन्तरतमो भवतीति।

ननु च ह्रस्वादेश इत्युच्यते तेन दीर्घा न भविष्यन्ति।

विषयार्थमेतत् स्यात्। एचो ह्रस्वप्रसङ्गे इग् भवतीति।

दीर्घाप्रसङ्गस्तु निवर्तकत्वात्।

दीर्घाणां त्विकामप्रसङ्गः। किं कारणम्। निवर्तकत्वात्। नानेनेको निवर्त्यन्ते। किं तर्हि। अनिको निवर्त्यन्ते। सिद्धा ह्यत्र ह्रस्वा इकश्चानिकश्च।

ए ओ ऐ औ ये चार अक्षर हैं। उनमें ए ओ के सवर्णी आधा ए और आधा ओ भी मात्रिक होने से ह्रस्व प्राप्त होते हैं। वे न होवें। ए ओ ये दोनों प्रश्लिष्टावर्ण हैं। इन में अकार का प्रविभाग नहीं हो सकता इस लिये अकार की ह्रस्व-प्राप्ति की तो संभावना नहीं। किन्तु ऐ औ ये दोनों विश्लिष्टावर्ण हैं। इनमें एक मात्रा अवर्ण की है। एक इवर्ण उवर्ण की। दोनों का प्रविभाग सम्भव है। दोनों में इवर्ण उवर्ण के साथ अवर्ण की भी मात्रा होने से कभी अवर्ण ह्रस्व न होवे अपितु इवर्ण उवर्ण ही होवें इस लिये यह सूत्र बनाया है।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु एचों के दीर्घ होने से उनके स्थान में होने वाले इक् भी अन्तरतम परिभाषा से दीर्घ ही प्राप्त होते हैं।

सूत्र में ह्रस्वादेश कहने का प्रयोजन तो ह्रस्वविषय में एचों को इक् करना है। एचों को ह्रस्व करते समय इक् भी ह्रस्व ही होंगे. यह कैसे मानें?

एचों के स्थान में इक् ह्रस्व ही होंगे, दीर्घ नहीं। क्योंकि इस सूत्र को इकों का निर्वर्तक (निष्पादक) न मान कर अनिकों का निवर्तक (हटाने वाला) मानेंगे। ह्रस्व करने वाले सूत्र के साथ इस की एकवाक्यता हो जायगी तो एचों को जो भी ह्रस्व होंगे वे इक् ही होंगे। इस प्रकार एचों में इक्-भिन्न ह्रस्वों को हटाना इस सूत्र का काम होगा। यह एचों को ह्रस्व इक् का विधान न कर के

तत्रानेनानिको निवर्त्यन्ते ।

सवर्णनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

सिद्धमेङः सस्थानत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् ! एङः सस्थानत्वात् इकारोकारौ भविष्यतः । अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा न भविष्यति ।

ननु च एङः सस्थानतरावर्धैकारार्धौकारौ ।

न तौ स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् ।

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते । सुजाते ए अश्वसूनृते । अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्रं ते ए अन्यत् । यजतं ते ए अन्यदिति ।

पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम् । नैव लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वास्ति ।

इक् भिन्न ह्रस्वों को हटायेगा। एचों को इक् और अनिक् दोनों प्रकार के ह्रस्व प्राप्त हैं ।

एङ् में ए ओ के सवर्णी आधा ए और आधा ओ ह्रस्व न हो जावें इसके लिये तो एच इग्घ्रस्वादेशे इस सूत्र के बनाने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि ए ओ के सस्थान अर्थात् तुल्यस्थान वाले इकार उकार हैं वे ही ह्रस्व होंगे ।

ए ओ समानस्थान वाले आधा ए और आधा ओ जब विद्यमान हैं तो वे ह्रस्व क्यों न हों ?

आधा ए और आधा ओ तो कहीं हैं ही नहीं । यदि होते तो आचार्य मात्रिक होने से उन्हीं का अक्षरसमाम्नाय में उपदेश करते । द्विमात्रिक ए ओ का नहीं ।

छन्दोग शाखाध्यायिओं सात्यमुग्रिराणायन के शिष्य सुजाते ए अश्वसूनृते अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते ए अन्यत्, यजतं ते ए अन्यत्, यहां आधा ए और आधा ओ पढ़ते हैं । (ये ए ओ कहां से आये ?)

वह उनकी पार्षदकृति है । अपने प्रातिशाख्य का नियम है । वे अपने यहां जैसा उच्चारण करना चाहें करें । किन्तु लोक या अन्य किसी वेद में आधा ए और आधा ओ नहीं है ।

अकारनिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः ।

ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् ।

ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वादवर्णो न भविष्यति । भूयसी मात्रेवर्णोवर्णयो-रल्पीयस्यवर्णस्य । भूयस एव ग्रहणानि भविष्यन्ति । तद्यथा ब्राह्मण-ग्राम आनीयतामित्युच्यते । तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति ।

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१।१।४९॥

किमिदं स्थानेयोगेति ?

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । सप्तम्यलोपो निपातनात् ।

ऐ औ में अवर्ण ह्रस्व न हो जावे इस के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं । क्योंकि ऐचों में उत्तरभूयस्त्व अर्थात् पिछले इवर्ण उवर्ण की अधिकता होने से वही ह्रस्व होंगे, अवर्ण नहीं । ऐ औ ये दोनों विश्लिष्टावर्ण हैं इनमें अवर्ण की मात्रा थोड़ी और इवर्ण उवर्ण की अधिक सुनने में आती है । इस लिये अधिक मात्रा वाले इवर्ण उवर्ण का ही ग्रहण होगा । जैसे ब्राह्मणग्राम आनीयताम् इस वाक्य द्वारा ब्राह्मणों का गांव बुलाओ ऐसा कहा जाता है । उसमें जिस गांव में अधिकता से ब्राह्मण हैं वही बुलाया जाता है । यद्यपि वहां कम से कम पञ्चकारुकी अर्थात् धोबी, जुलाहा, बढ़ई, नाई और कुम्हार ये ५ शिल्पी अवश्य ही होते हैं । पञ्चानां कारुकाणां समाहारः = पञ्चकारुकी ।[1]

यह स्थानेयोगा क्या है ? (यदि यह समस्त पद है तो सुप् का लुक् हो कर स्थानयोगा होना चाहिये । असमस्त अवस्था में स्त्रीलिङ्ग षष्ठी शब्द का विशेषण स्थाने युक्तिः ऐसा होना चाहिये) ।

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । यह बहुव्रीहि समास है । इसमें निपातन से सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं हुआ । अथवा स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । इस प्रकार तृतीयापूर्वपद वाला बहुव्रीहि समास है । तृतीया का लुक् हो कर निपातन से एकार हो गया है । या निपातन से तृतीया विभक्ति टा के स्थान में एकार हो कर उसका अलुक् है । जिस का स्थान में या स्थान के कारण योग है सम्बन्ध है वह षष्ठी स्थानेयोगा कहाती है । जैसे—देवदत्तस्य यज्ञदत्तः यहां षष्ठी में देवदत्त के साथ यज्ञदत्त का पुत्रत्वादिद्वारक सम्बन्ध

---

१. इस प्रकार भाष्य वार्तिककारों ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

तृतीयाया वा एत्वम् । स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगेति ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

षष्ठी स्थानेयोगवचनं नियमार्थम् । नियमार्थोऽयमारम्भः । एकशतं षष्ठ्यर्था यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति । इष्यते च व्याकरणे या षष्ठी सा स्थानेयोगैव स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति षष्ठ्याः स्थानेयोगवचनं नियमार्थम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

अवयवषष्ठ्यादिष्वतिप्रसङ्गः शासो गोह इति

अवयवषष्ठ्यादयस्तु न सिध्यन्ति । तत्र को दोषः । शास इदङ् हलोरिति शासेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च । 'ऊदुपधाया गोहः' इति गोहश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च ।

समझा जाता है उसी प्रकार अस्तेर्भूः इत्यादि षष्ठियों में इस परिभाषा द्वारा स्थाननिमित्तक सम्बन्ध समझा जायगा । स्थान शब्द प्रसङ्गवाची या अर्थवाची दोनों प्रकार का माना गया है तो अस्तेर्भूः का अर्थ होगा—अस् के स्थान में प्रसङ्ग में उसके प्रयोग की प्राप्ति में भू का प्रयोग होता है । या अस् के अर्थ में भू का प्रयोग होता है ।

यह सूत्र क्यों बनाया है ?

यह सूत्र नियम के लिये बनाया है । एक सौ या उससे अधिक और जितने भी षष्ठी के अर्थ हैं वे सब षष्ठी का उच्चारण करने पर प्राप्त होते हैं । हम चाहते हैं कि व्याकरण में जो षष्ठी है उसका स्थान के साथ ही सम्बन्ध हो । यह बात बिना यत्न किये सिद्ध नहीं होती इस लिये षष्ठी स्थानेयोगा यह नियमसूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किंतु शासः गोहः इन अवयव षष्ठियों में भी स्थान का सम्बन्ध प्राप्त होता है । किसी का अङ्ग बनी हुई षष्ठी को अवयव-षष्ठी कहते हैं । जैसे शास इदङ्हलोः यहां उपधायाः इस षष्ठी का अङ्ग बनी हुई शासः यह षष्ठी अवयवषष्ठी है । उस में भी स्थान का योग होगा तो शास् के स्थान में और किसी भी उपधा के स्थान में इकार प्राप्त होता है । ऊदुपधाया गोहः यहां भी गोह् के स्थान में और

अवयवषष्ठ्यादीनां चाप्राप्तिर्योगस्यासंदिग्धत्वात् ।

अवयवषष्ठ्यादीनां च नियमस्याप्राप्तिः । किं कारणम् । योगस्यासंदिग्धत्वात् । संन्देहे नियमः । न चावयवषष्ठ्यादिषु संन्देहः ।

किं वक्तव्यमेतत् ।

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

लौकिकोऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा लोके कश्चित् कंचित् पृच्छति ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति । स तस्मायाचष्टे अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो[1] ग्रहीतव्यः । अमुष्मिन्नवकाशे हस्तवाम इति ।

किसी भी उपधा के स्थान में ऊकार प्राप्त होता है ।

शासः गोहः आदि अवयवषष्ठियों के योग में सन्देह न होने से स्थान योग का नियम न होगा । जहां योग में सन्देह होता है वहीं षष्ठी स्थानेयोगा यह नियम लगता है । शासः गोहः में शास् और गोह् की अवयव जो उपधा इस प्रकार षष्ठी का अवयव रूप अर्थ सन्देह रहित है इस लिये वहां इस सूत्र की उपस्थिति न होगी ।

क्या यह बात कहनी होगी कि सन्देह में ही यह स्थानेयोग का नियम लगता है ?

नहीं । कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

फिर बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

लोक व्यवहार से यह बात समझ ली जायगी । सन्देह में ही नियम हुआ करता है । जैसे लोक में कोई किसी से पूछता है कि मैं दूसरे गांव जाऊंगा, आप मुझे रास्ता बता देवें तो वह उसे बताता है कि ऐसे स्थान में दायें हाथ हो जाना और ऐसे स्थान में बायें हाथ । जो वहां तिर्यक् पथ अर्थात् गन्तव्य दिशा से भिन्न दिशा का मार्ग होता है उस में जाना न होने से सन्देह नहीं तो उसे नहीं बताया जाता । इसी प्रकार

---

१. हस्तो दक्षिणो यस्य स पन्था हस्तदक्षिणः । बहुव्रीहिः । भाष्यकारवचन से यहां सर्वनाम का परनिपात साधु है ।

यस्तत्र तिर्यक्पथो[1] भवति न तस्मिन् सन्देह इति कृत्वा नासावुपदिश्यते। एवमिहापि सन्देहे नियमः। न चावयवषष्ठ्यादिषु सन्देहः।

अथवा स्थाने अयोगा स्थानेयोगा। किमिदमयोगेति। अव्यक्तयोगा अयोगा।

अथवा योगवती योगा। का पुनर्योगवती। यस्या बहवो योगाः। कुत एतत्। भूम्नि हि मतुप् भवति।

विशिष्टा वा षष्ठी स्थानेयोगा।

अथवा किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि इत्थंलिङ्गा षष्ठी स्थानेयोगा भवतीति। न च तल्लिङ्गमवयवषष्ठ्यादिषु करिष्यते।

यद्येवं 'शास इदङ्हलोः। शा हौ'। शासिग्रहणं कर्तव्यं स्थाने-

यहां भी सन्देह में स्थानेयोग का नियम है। शासः गोहः आदि अवयवषष्ठियों में सन्देह न होने से इस नियम की उपस्थिति न होगी।

अथवा स्थनेयोगा में स्थाने अयोगा इस प्रकार अयोगा का प्रश्लेष समझेंगे। यह अयोगा क्या है। अव्यक्तयोगा अयोगा। जो अस्पष्ट (अनिर्धारित) योग (सम्बन्ध) वाली है। जहां योग का साफ पता नहीं लगता ऐसी षष्ठी का स्थान के साथ योग होता है यह सूत्र का अर्थ होगा।

अथवा योगवती योगा इस प्रकार योगा शब्द में बहुत्व अर्थ में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मान कर जहां बहुत से योग सम्भव हैं उस षष्ठी का स्थान अर्थ के साथ योग माना जायगा।

अथवा किसी विशेष संकेत वाली षष्ठी को ही स्थानेयोगा मानेंगे। कोई विशेष चिह्न लगा कर कहेंगे कि इस चिह्न वाली षष्ठी स्थानेयोगा होती है। वह चिह्न अवयवषष्ठियों में नहीं लगायेंगे। उस से उनका सम्बन्ध स्थानेयोग से नहीं होगा।

तब तो शास इदङ्हलोः में शास् के स्थान षष्ठी न होने से शा हौ इस उत्तर सूत्र में भी अनुवृत्त शासः यह स्थान षष्ठी न होगी तो वहां स्थान

---

१. टेढ़ा मार्ग। पूर्व अथवा पश्चिम दिशा में जाते हुए के लिये दक्षिण व उत्तर को जाने वाला मार्ग।

योगार्थं लिङ्गमासङ्क्ष्यामीति।

न कर्तव्यम्। यदेवादः पुरस्तादवयवषष्ठ्यर्थं प्रक्लृप्तम्, एतदुत्तरत्रानुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति। कथम्। अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति। यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वा अयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण। अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योगे उपतिष्ठते। तद् यदेष पक्षः अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति, तदा हि यदेवादः पुरस्तादवयवषष्ठ्यर्थम् एतदुत्तरत्रानुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति।

सम्प्रत्ययमात्रमेतद् भवति। न ह्यनुच्चार्य शब्दं लिङ्गं शक्यमासङ्क्तुम्।

षष्ठी बनाने के लिये अलग शास् ग्रहण करना पड़ेगा। अन्यथा शास् के स्थान में शा आदेश न हो सकेगा।

शा हौ में स्थान षष्ठी के लिये अलग शास् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। शास इदङ् हलोः से ही शासः की अनुवृत्ति कर लेंगे। ऊपर शासः यह अवयवषष्ठी होता हुआ भी शा हौ में अनुवृत्त होकर स्थान षष्ठी बन जायगा। कैसे ? अधिकार तीन प्रकार का होता है। एक परिभाषा रूप जो एक स्थान पर रहता हुआ ही सारे शास्त्र में व्यापृत होता है। सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करता है। जैसे सम्यक् प्रदीप्त दीपक एक कोने में रखा हुआ ही सारे घर को प्रकाशित करता है। दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप है जो 'च' शब्द लगा कर ऊपर से खींचा जाता है जैसे रस्सी या लोहे से बंधी लकड़ी खींची जाती है। तीसरा अधिकार स्वरित चिह्न से समझा जाता है जब कि अधिकृत हर जगह निर्दिष्ट (उच्चारित) न किया जाकर भी स्वरितचिह्न द्वारा जहां तक जरूरत होती है वहां तक प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होता है। इन तीनों में जब तीसरे प्रकार का अधिकार मानेंगे तो शास इदङ्-हलोः में अवयव षष्ठी बना हुआ 'शासः' यह शब्द स्वरितचिह्न द्वारा अनुवृत्ति से शा हौ में स्थान षष्ठी बन जायगा। अर्थात् यहां शब्दाधिकार का आश्रयण किया जायगा।

स्वरितचिह्न से अनुवृत्ति करके स्थान षष्ठी का अनुमान तो हो जायगा पर विना शासः पढ़े उस में स्थान षष्ठी का लिङ्ग (चिह्न) नहीं लगाया जा सकता।

एवं तर्ह्यादेशे तल्लिङ्गं करिष्यते । तत् प्रकृतिमास्कन्त्स्यति ।

यदि नियमः करिष्यते । यत्रैका षष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति । अङ्गस्य हलः अणः सम्प्रसारणस्येति । हलपि विशेष्योऽणपि विशेष्यः । सम्प्रसारणमपि विशेष्यम् । असति पुनर्नियमे कामचारः । एकया षष्ठ्या अनेकं विशेषयितुम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बल इति । तस्मान्नार्थो नियमेन ।

ननु चोक्तम् एकशतं षष्ठ्यर्थाः यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्तीति ।

नैष दोषः । यद्यपि लोके बहवोऽभिसम्बन्धा आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्चेति । शब्दस्य तु शब्देन कोऽन्योभिसम्बन्धो भवितुमर्हति

तो शा आदेश में वह लिङ्ग लगा देंगे । आदेश किसी के स्थान में ही होता है इस लिये वह अपनी प्रकृति (स्थानी) शास् को पकड़ लेगा ।[1]

यदि यह नियम सूत्र बनाते हैं तो जहां एक षष्ठी (स्थान में ही हुई) का अनेक विशेष्यों के साथ सम्बन्ध अभीष्ट है वहां काम नहीं चलता । जैसे—अङ्गस्य, हलः, अणः, सम्प्रसारणस्य । यहां स्थानषष्ठी से अङ्ग भी विशेष्य है । हल् भी विशेष्य है, अण् भी विशेष्य है । सम्प्रसारण भी विशेष्य है । सबके स्थानषष्ठी हो जाने से हलः सूत्र का अर्थ ठीक नहीं बनता । नियम न बनाने पर तो हमारी इच्छा है एक ही षष्ठी से अनेक को विशेषित करने में किसी को स्थानषष्ठी या अवयवषष्ठी कुछ भी बनावें । जैसे—देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बलः । देवदत्त का पुत्र, देवदत्त का हाथ और देवदत्त का कम्बल यहां देवदत्त में षष्ठी का पुत्रादि के साथ जन्यजनक भाव, अवयवावयविभाव, स्वस्वामिभाव आदि भिन्न भिन्न सम्बन्ध होता है । इस लिये इस सूत्र का न बनाना ही ठीक है ।

यह जो कहा था कि बिना इस नियम सूत्र के सैंकड़ों षष्ठी के अर्थ षष्ठी के उच्चारण करने पर प्राप्त होंगे उसका क्या समाधान है ?

वह कोई दोष नहीं । यद्यपि लोक में आर्थ=धन से होने वाले स्वामी भृत्य आदि, यौन=योनि से होने वाले पिता पुत्रादि, मौख=मुख से होने वाले गुरु शिष्य आदि, स्रौव=स्रुवा से होने वाले यजमान पुरोहित आदि बहुत

---

१. आदेश में किये हुए लिङ्ग का कार्य उसके स्थानी में फलित होगा ।

अन्यदतः स्थानात् ।

शब्दस्यापि शब्देनानन्तरादयोऽभिसम्बन्धाः । अस्तेर्भूर्भवतीति सन्देहः स्थाने अनन्तरे समीपे इति ।

सन्देहमात्रमेतद् भवति । सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति । स्थान इति व्याख्यास्यामः ।

न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् । षष्ठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत यतः षष्ठ्युच्चारिता । किं कृतं भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति परिभाषा न कर्तव्या भवति ।

से सम्बन्ध हैं किन्तु शब्द का शब्द के साथ और क्या सम्बन्ध हो सकता है सिवाय स्थान के । इस लिये सूत्र के विना भी स्वतः स्थानरूप सम्बन्ध समझ लिया जायगा ।

शब्द के भी शब्द के साथ अनन्तर समीप आदि सम्बन्ध होते हैं । इस सूत्र के विना अस्तेर्भूः में सन्देह है कि अस् के स्थान में भू हो या अस् के समीप अथवा अनन्तर भू हो ।

यह तो केवल सन्देह मात्र हुआ । और सन्देहों में सब जगह व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् यह परिभाषा उपस्थित होती है । इस परिभाषा का अर्थ है—आचार्यकृत व्याख्यान से ही विशेष बात का ज्ञान होता है । केवल सन्देहमात्र से लक्षण (विधायक सूत्र) अलक्षण (अप्रमाण) नहीं हो जाता । उससे अस्तेर्भूः में व्याख्यान से स्थान अर्थ समझ लिया जायगा ।

तो यह सूत्र न बनावें । हम समझते हैं यह सूत्र बनाना चाहिये । जिससे षष्ठ्यन्त का ही स्थान से सम्बन्ध हो अन्य का न हो । जिससे षष्ठी विभक्ति का उच्चारण किया है उसी के स्थान में कार्य हो । उसके साथ जुड़े हुए दूसरे शब्द में वह कार्य न हो । उससे क्या होगा कि निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति यह परिभाषा अलग नहीं बनानी पड़ेगी । इस परिभाषा का अर्थ इसी सूत्र से निकल आयगा । इस परिभाषा का अर्थ है—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट शब्द के स्थान में आदेश होते हैं । उससे पादः पत् से कहा हुआ पद् आदेश अङ्गाधिकार में तदन्तविधि मान कर द्विपाद् शब्द से विहित हो कर भी द्वि को छोड़ कर केवल पाद् को होगा क्योंकि पादः पत् में पाद् शब्द से ही षष्ठी का उच्चारण किया है । द्विपाद् से नहीं । इस प्रकार यह

स्थानेन्तरतमः ॥१।१।५०॥

किमुदाहरणम् ?

'इको यणचि'। दध्यत्र। मध्वत्र। तालुस्थानस्य तालुस्थानः। ओष्ठस्थानस्य ओष्ठस्थानो यथा स्यादिति।

नैतदस्ति। संख्यातानुदेशेनाप्येतत् सिद्धम्।

इदं तर्हि तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः इति। एकार्थस्यैकार्थः। द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः। बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यादिति।

सूत्र निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक हो कर चरितार्थ हो जाता है।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

इको यणचि। दध्यत्र। मध्वत्र। ये इस सूत्र के उदाहरण हैं। दधि+अत्र =दध्यत्र। मधु+अत्र=मध्वत्र। यहां इको यणचि से विहित यणादेश इस अन्तरतम परिभाषा के नियम से तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाला यकार और ओष्ठ स्थान वाले उकार के स्थान में ओष्ठस्थान वाला वकार होता है।

यह कोई उदाहरण नहीं। इको यणचि में इक् और यण् समान संख्या वाले हैं। इस लिये यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इस नियम से इक् के स्थान में क्रम से यण् हो जायेंगे।[1]

तो फिर तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः यह उदाहरण लीजिये। यहां एकत्व अर्थ वाले मिप् के स्थान में एकत्व अर्थ वाला अम्, द्वित्व अर्थ वाले तस् थस् के स्थान में द्वित्व अर्थ वाले ताम् तम् और बहुत्व अर्थ वाले थ के स्थान में बहुत्व अर्थ वाला त आदेश होता है।

---

१. यद्यपि अर्थतः साम्य मानने पर इक् अपने ह्रस्व दीर्घादि सवर्णियों के भेद से ६६ होते हैं और यण् केवल ७। इस लिये वैषम्य होने से संख्यातानुदेश नहीं प्राप्त होता तो भी यथासंख्यमनु० इस सूत्र में शब्दतः साम्य मान कर क्रम से इक् के स्थान में यण् हो जायेंगे। घस्लृ+आदेशः=घस्लादेशः यहां लृकार के स्थान में लकार आदेश भी दीखता है इस लिये इ उ ऋ के समान लृ के भी स्थानी मिलने से इक् और यण् का संख्यासाम्य हो जायगा।

ननु च एतदपि संख्यातानुदेशेनैव सिद्धम् ।

इदं तर्ह्यकः सवर्णे दीर्घ इति । दण्डाग्रम् । क्षुपाग्रम् । दधीन्द्रः । मधूष्ट्रः । कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः । तालुस्थानयोस्तालुस्थानः । ओष्ठ-स्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यात् ।

अथ स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ।

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात् । किं पुनस्तत् । चेता स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति । स्थानत एकारोकारौ । पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः ।

अथ तमग्रहणं किमर्थम् ।

'झयो होन्यतरस्यामित्यत्र सोष्मणः सोष्माण इति द्वितीयाः

यहां भी यथासंख्यमनुदेशः० के नियम से तस् आदि के स्थान में क्रम से ताम् आदि हो जायेंगे ।

अच्छा तो अकः सवर्णे दीर्घः यह उदाहरण लीजिये । दण्डाग्रम् क्षुपाग्रम् यहां दण्ड=अग्रम्, क्षुप+अग्रम् इस अवस्था में कण्ठस्थान वाले अकार के स्थान में कण्ठस्थान वाला आकार दीर्घ होता है । दधीन्द्रः यहां दधि+इन्द्रः इस अवस्था में तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाला ईकार दीर्घ होता है । मधूष्ट्रः यहां मधु+उष्ट्रः इस अवस्था में ओष्ठस्थान वाले उकार के स्थान में ओष्ठस्थान वाला ऊकार दीर्घ होता है ।

षष्ठी स्थानेयोगा से स्थान की आवृत्ति आने पर फिर यहां स्थान ग्रहण क्यों किया है ?

जहां स्थान अर्थ गुण प्रमाण आदि अनेक प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) सम्भव हो वहां स्थान का आन्तर्य ही बलवान् माना जाये इस लिये यहां पुनः स्थान ग्रहण किया है । चेता स्तोता (चि स्तु-तृच्) यहां चि स्तु में इकार उकार के एकमात्रिक होने से उनके स्थान में प्रमाणकृत (मात्राकृत) आन्तर्य को ले कर एकमात्रिक अकार गुण प्राप्त होता है । और स्थानकृत आन्तर्य को ले कर एकार ओकार गुण प्राप्त होते हैं । स्थान का आन्तर्य बलवान् मान कर एकार ओकार गुण होते हैं । अकार नहीं ।

अन्तरतमः यहां तम ग्रहण क्यों किया है ?

वाक्+हसति=वाग्घसति । त्रिष्टुप्+हसति=त्रिष्टुब्भसति । यहां झयो होन्य-

प्रसक्ताः। नादवतो नादवन्त इति तृतीयाः प्रसक्ताः। तमग्रहणाद् ये सोष्माणो नादवन्तश्च ते भवन्ति चतुर्थाः। वाग्घसति। त्रिष्टुब् भसति।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

स्थानिन एकत्वनिर्देशादनेकादेशनिर्देशाच्च सर्वप्रसङ्गस्तस्मात् स्थानेन्तरतमवचनं नियमार्थम्।

स्थान्येकत्वेन निर्दिश्यते अक इति। अनेकश्च पुनरादेशः प्रतिनिर्दिश्यते दीर्घ इति। स्थानिन एकत्वनिर्देशादनेकादेशनिर्देशाच्च सर्वप्रसङ्गः। सर्वे सर्वत्र प्राप्नुवन्ति। इष्यन्ते चान्तरतमा एव स्युरिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यति तस्मात् स्थानेन्तरतमवचनं नियमार्थम्। एवमर्थमिदमुच्यते।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति। यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः

तरस्याम् से हकार को पूर्वसवर्ण करने में हकार के सोष्मा (ऊष्मा वाला) होने से सोष्मा ख और फ ये दूसरे वर्ण प्राप्त होते हैं। नाद वाला होने से नाद वाले ग और ब ये तीसरे प्राप्त होते हैं। तमग्रहण करने पर जो सोष्मा और नादवान् दोनों होते हुए हकार के अधिक सदृश हैं वे घ और भ ये चौथे वर्ण हकार के स्थान में हो जाते हैं।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

स्थानी अर्थात् जिसके स्थान में आदेश होना है उस के एक निर्दिष्ट होने से और आदेश के अनेक निर्दिष्ट होने से सब जगह सब आदेश प्राप्त होते हैं। जैसे अकः सवर्णे दीर्घः यहां अकः यह एक स्थानी निर्दिष्ट है। उस के स्थान में अनेक दीर्घ आदेश प्राप्त होते हैं। अ के स्थान में आ ई ऊ ॠ आदि, इसी प्रकार उ आदि के स्थान में आ ई ऊ ॠ आदि दीर्घ प्राप्त होते हैं। हम चाहते हैं कि स्थान में अन्तरतम (स्थान प्रयत्न से सदृशतम) ही आदेश हों। यह बात विना यत्न किये सिद्ध नहीं होती इस लिये स्थानेन्तरतमः यह नियम सूत्र बनाया है।

सूत्र का यह प्रयोजन है तो, किन्तु यह अन्तरतम का नियम क्या

---

१. अन्तरतमे इस सप्तम्यन्त पाठ में अन्तरतम स्थान (=स्थानी, तिष्ठन्त्यस्मिन्नादेशा इति स्थानम्, अधिकरण में ल्युट्) का विशेषण है, प्रथमान्त पाठ में आदेश का विशेषण है।

सा किं प्रकृतितो भवति स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति । आहोस्विदादेशतः स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति ।

कुतः पुनरियं विचारणा ।

उभयथा हि तुल्या संहिता । स्थानेन्तरतम उरण् रपर इति ।

किं चातः । यदि प्रकृतितः । इको यणचीति यणां ये अन्तरतमा इकस्तत्र षष्ठी । यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् इत्यत्र न स्यात् । आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी । यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति । तथा इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्ध्योर्ये अन्तरतमा इकस्तत्र षष्ठी । यत्र

प्रकृति (स्थानी) से माना जाता है या आदेश से ? स्थानेन्तरतम उरण् रपरः इस संहितापाठ में यदि अन्तरतम शब्द को सप्तम्यन्त समझ कर स्थानेन्तरतमे ऐसा सूत्र मानें तो अन्तरतम स्थानी में स्थानयोगा षष्ठी हो कर अन्तरतम स्थान में आदेश होगा अर्थात् आदेश को अपना अन्तरतम स्थानी देखना होगा। उस पक्ष में स्थानी अन्तरतम हो जायगा। और यदि अन्तरतम शब्द को प्रथमान्त समझ कर स्थानेन्तरतमः ऐसा सूत्र मानें तो स्थान में प्राप्त होने वाले आदेशों में जो अन्तरतम आदेश है वह होगा। उस पक्ष में आदेश अन्तरतम हो जायगा।

यह विचार किस लिये किया जा रहा है।

दोनों पक्षों में एक सी सन्धि होने से यह विचार किया जा रहा है।

इस में क्या है यदि स्थानेन्तरतमे इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ मानते हैं तो अन्तरतम (अर्थात् आदेश के) स्थानी में ही स्थान षष्ठी होगी। जहां षष्ठी होगी वहां आदेश होंगे तो इको यणचि से दधि+अत्र=दध्यत्र। मधु+अत्र= मध्वत्र। यहां ह्रस्व इक् में ही यण् हो सकेगा। कुमारी+अर्थम्=कुमार्यर्थम्। ब्रह्मबन्धू+अर्थम्=ब्रह्मबन्ध्वर्थम् यहां दीर्घ इक् में न हो सकेगा। क्योंकि यण् अर्धमात्रिक हैं। उन का अन्तरतम स्थानी 'स्वल्पान्तरं न दोषाय' के न्याय से एकमात्रिक इक् ही समीप पड़ता है द्विमात्रिक नहीं। स्थानेन्तरतमः इस प्रथमान्त पाठ में तो प्राप्त-प्रसङ्ग आदेशों में से अन्तरतम आदेश होगा उस से स्थानी के अन्तरतम न होने पर भी सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम यणादेश हो जायगा।

सप्तम्यन्तपाठ में यह भी दोष है कि इको गुणवृद्धी से इक् के स्थान

षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् नेता लविता नायको लावकः। चेता स्तोता चायक स्तावक इत्यत्र न स्यात्। आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी। यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति।

तथा ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे गुणवृद्ध्योर्यदन्तरतमसृवर्णं तत्र षष्ठी। यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात्। कर्ता हर्ता आस्तारको निपारकः। आस्तरिता निपरिता कारको हारक इत्यत्र न स्यात्। आदेशतः पुनरन्तरतमंनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी। यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवतीति।

आदेशतोऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामयं दोषः। 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यत्र स्थानिनिर्देशः कर्तव्यः। ओकारौकारयोरिति वक्तव्यम्। एकारै-कारयोर्मा भूदिति। प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां वान्तादेशस्य

में होने वाले गुण वृद्धि नेता लविता (नी लू तृच्)। नायकः लावकः (नी लू-ण्वुल्) यहां दीर्घ इक् में ही हो सकेंगे। चेता स्तोता (चि स्तु-तृच्)। चायकः स्तावकः (चि स्तु-ण्वुल्) यहां ह्रस्व इक् में न हो सकेंगे। क्योंकि ए ओ ऐ औ के दीर्घ होने से उन का अन्तरतम स्थानी दीर्घ इक् ही होगा, ह्रस्व नहीं। प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम गुण वृद्धि हो जावेंगे।

सप्तम्यन्त पाठ में यह एक और दोष है कि ऋवर्ण के स्थान में होने वाला गुण कर्ता हर्ता (कृ, हृ, तृच्) यहां ह्रस्व ऋकार में ही होगा। निपरिता आस्तरिता (आस्तॄ निपॄ-तृच्) यहां दीर्घ ॠकार में न होगा। और वृद्धि आस्तारकः निपारकः (आ स्तॄ नि पॄ-ण्वुल्) यहां दीर्घ ॠकार में ही होगी। कारकः हारकः (कृ हृ-ण्वुल्) यहां ह्रस्व ऋकार में न होगी। क्योंकि गुणसंज्ञक अकार के ह्रस्व होने से उसका अन्तरतम स्थानी ह्रस्व ऋकार ही होगा, दीर्घ नहीं। और वृद्धिसंज्ञक आकार के दीर्घ होने से उसका अन्तरम स्थानी दीर्घ ॠकार ही होगा, ह्रस्व नहीं। प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र ऋवर्ण के स्थान में अन्तरतम अकार और आकार गुणवृद्धि हो जावेंगे।

प्रथमान्त पाठ में यह दोष है कि वान्तो यि प्रत्यये में वकारान्त अव् आव् आदेश के लिये उसके स्थानी ओ औ का ग्रहण करना होगा। ओदौतोरिति वक्तव्यम् ऐसा वचन कहना होगा। जिससे ओ औ के स्थान में ही क्रम से अव् आव् हों, ए ऐ के स्थान में न हों। सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थान

पक्षु या अन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी। यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेण स्थानिनिर्देशं सिद्धं भवति।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः। कथम्। वान्तग्रहणं न करिष्यते। यि प्रत्यये एचोऽयादयो भवन्तीत्येव।

यदि न क्रियते चेयं जेयमित्यत्रापि प्राप्नोति।

'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। क्षिज्योरेवैच इति।

तयोस्तर्हि शक्यार्थादन्यत्रापि प्राप्नोति। क्षेयं पापं, जेयो वृषलः।

उभयतो नियमो विज्ञास्यते क्षिज्योरेवैचस्तयोश्च शक्यार्थ एवेति।

में आदेश होगा उससे अव् आव् के अन्तरतम स्थानी ओ औ ही मिलेंगे। ए ऐ नहीं तो वहां अव् आव् नहीं होंगे। उस पक्ष में ओदौतोरिति वक्तव्यम् यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं।

यह कोई दोष नहीं। वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण ही हटा देंगे। यि प्रत्यय इतना सूत्र रखेंगे। यकारादि प्रत्यय परे होने पर एचों को अयादि आदेश होते हैं ऐसा कहेंगे।

यदि वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण नहीं करेंगे तो चेयम् जेयम् (चि जि-यत्) यहां यकारादि यत् प्रत्यय परे होने पर चि जि के एकार को भी अयादेश प्राप्त होता है।

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे इस सूत्र के नियमार्थ होने से चेयम् जेयम् में एकार को अयादेश नहीं होगा। अन्यथा यि प्रत्यये इतने सूत्र से ही क्षि जि के एकार को अयादेश सिद्ध होने पर क्षय्यजय्यौ० सूत्र व्यर्थ है। वह व्यर्थ हो कर नियमार्थ होगा कि क्षि, जि के एच् को अय्यादेश होता है अन्य के नहीं।

तब तो क्षेयं पापम्, जेयो वृषलः यहां शक्य अर्थ से अन्यत्र भी क्षय्यजय्यौ से क्षि जि के एच् को अयादेश प्राप्त होता है।

दोनों तरफ से नियम समझा जायगा। यादि प्रत्यय परे होने पर यदि एच् को अयादि आदेश हो तो क्षि जि के ही एच् को हो और उनको भी शक्य अर्थ में ही हो इस प्रकार दोनों ओर से नियम होने पर क्षेयं पापम्, जेयो वृषलः यहां अयादेश न होगा। यहां शक्य अर्थ न हो कर अर्ह अर्थ है। क्षेतुमर्हं पापं क्षेयम्। जेतुमर्हो वृषलो जेयः।

इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् । अवश्यपाव्यमिति ।

तुल्यजातीयस्य नियमः ।

कश्च तुल्यजातीयः ।

यथाजातीयकः क्षिज्योरेच् ।

कथंजातीयकः क्षिज्योरेच् ।

एकारः ।

एवमपि रायमिच्छति रैयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ।

रा यिच्छान्दसः[1] । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

क्षय्य जय्यौ० के नियम से चेयम् जेयम् की तरह लव्यम् पव्यम् (लू पू-यत्) अवश्यलाव्यम् अवश्यपाव्यम् (अवश्य लू पू-ण्यत्) यहां भी ओ औ को अव् आव् आदेश नहीं प्राप्त होते ।

क्षय्य जय्यौ० सूत्र अपने तुल्यजातीय का ही नियम करेगा ।

उसका तुल्यजातीय कौन है ?

जिस प्रकार का क्षि जि का एच् है ।

किस प्रकार का क्षि जि का एच् है ?

एकार है । इस लिये चेयम् जेयम् यहां एकारान्त का ही नियम होगा । लव्यम् पव्यम् अवश्यलाव्यम् अवश्यपाव्यम् में एकार न होने से उसका नियम न होगा तो वहां ओ औ को अव् आव् हो जायेंगे ।

फिर भी रायमिच्छति रैयति यहां क्यच् प्रत्ययान्त रै इस नामधातु के ऐकार को आय् आदेश प्राप्त होता है क्योंकि क्षि जि के एच् से एकार की ही नियम से व्यावृत्ति होगी ऐकार की नहीं ।

यकारादि प्रत्यय परे होने पर रै शब्द का प्रयोग छान्दस है । अर्थात् वैदिक है । इस लिये रैयति में आयादेश न होगा । क्योंकि छन्द में दृष्टानुविधि होती है । वहां दृष्ट का अनुविधान होता है । जैसा देखते हैं वैसा कर लेते हैं । रैयति को छान्दस मान कर आयादेश का अभाव समझेंगे ।

---

१. रा यि च्छान्दसः यही भाष्य का पाठ है । कुछ लोग रायिश्छान्दसः ऐसा

'ऊदुपधाया गोहः' । आदेशतोऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामुपधाग्रहणं कर्तव्यम् । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामूकारस्य गो हो यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी । यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेणोपधाग्रहणं सिद्धं भवति ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । क्रियते एतन्न्यास एव ।

'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' । आदेशतोऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां तकारग्रहणं कर्तव्यम् । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां नकारस्य निष्ठायां याऽन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी । यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेणापि तकारग्रहणं सिद्धं भवति ।

प्रथमान्त पाठ में यह भी दोष है कि ऊदुपधाया गोहः में उपधा ग्रहण करना होगा । जिससे गोह् के उपधा ओकार के स्थान में ऊकार हो । अन्त्य अल् हकार के स्थान में न हो । सप्तम्यन्तपाठ में तो अन्तरतम स्थान में आदेश होगा । उससे ऊकार आदेश अपने अन्तरतम स्थानी ओकार को ही देखेगा तो विना उपधा ग्रहण किये काम चल जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । ऊदुपधाया गोहः में उपधा ग्रहण किया हुआ ही है । अन्यथा गोह् के अन्त्य अल् हकार के स्थान में ऊकार प्राप्त होता है । उपधा ग्रहण से नहीं होता ।

प्रथमान्त पाठ में यह एक और दोष है कि रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः सूत्र में तकार ग्रहण करना होगा । जिससे निष्ठा के तकार को नत्व हो सके । सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थान में आदेश होगा । उससे

पाठ मानते हैं । वह पाठ अनुपपन्न है । क्यजन्त रै धातु से धातुनिर्देश में इक् प्रत्यय करने पर भी रायिः यह रूप नहीं बन सकता । रा यि च्छान्दसः का अर्थ है कि यि अर्थात् यकारादि प्रत्यय परे होने पर रै शब्द छान्दस है । अर्थात् यकारादि क्यच् प्रत्यय परे रहते रै शब्द का प्रयोग केवल वेद में होता है, लोक में नहीं । क्यच् से अन्यत्र तो रै का प्रयोग लोक में भी हो सकता है । किन्हीं के मत में रै शब्द का प्रयोग लोक में सर्वथा ही नहीं होता । वैसे गो समानाक्षरनान्तात् इस वचन द्वारा परिगणित गो आदि से ही क्यच् का विधान होने से ऐकारान्त रै शब्द से क्यच् होगा ही नहीं तो रैयति का प्रयोग भी न होगा उसमें आयादेश का प्रश्न ही नहीं उठता ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः। क्रियते एतन्न्यास एव।

किं पुनरिदं निर्वर्तकम्। अन्तरतमा अनेन निर्वर्त्यन्ते। आहोस्वित् प्रतिपादकम्। अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः।

कश्चात्र विशेषः।

स्थानेन्तरतमानिर्वर्तके सर्वस्थानिनिवृत्तिः।

स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके सर्वस्थानिनां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति दधि मधु।

नत्व अपने अन्तरतम स्थानी को ढूंढेगा तो विना तकार ग्रहण किये भी काम चल जाता है।

यह कोई दोष नहीं। रदाभ्यां निष्ठातो नः० सूत्र में तकार ग्रहण किया हुआ ही है। अन्यथा भिन्नवद्भ्याम् (भिद्-क्तवतु) यहां निष्ठाप्रत्यय क्तवतु के दकार को भी नत्व प्राप्त होता है। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः इस वर्णोच्चारण शिक्षा के वचनानुसार नकार का अन्तरतम स्थानी दकार हो जाता है उसको नत्व रोकने के लिये निष्ठातः इस प्रकार निष्ठा के साथ तकार ग्रहण करना आवश्यक है।[1]

क्या यह सूत्र निर्वर्तक है। अर्थात् स्वयं ही अन्तरतम आदेश करने वाला है या प्रतिपादक है। अन्य से किये हुए आदेशों की अन्तरतमता का प्रतिपादन करने वाला है।[2]

इसमें क्या विशेष है?

यदि यह स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही अन्तरतम आदेश करने वाला है तो सब स्थानियों की निवृत्ति प्राप्त होती है। दधि मधु यहां भी कोई न कोई अन्तरतम आदेश हो कर दधि मधु शब्दों की निवृत्ति हो जानी चाहिये।

---

१. इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानेन्तरतमः इस प्रथमान्त पाठ को निर्दोष सिद्ध कर के स्वीकार कर लिया है। स्थानेन्तरतमे इस सप्तम्यन्त पाठ के दोषों का समाधान न होने से वह पक्ष स्वीकृत नहीं हुआ।

२. प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्र लक्षण है अथवा अन्य से विहित आदेशों का नियामक है अथवा लक्षणान्तर का शेष है।

अस्तु। न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते। तत्रान्तर्यतो दधिशब्दस्य दधिशब्द एव, मधुशब्दस्य मधुशब्द एवादेशो भविष्यति।

यदि चैवं क्वचिद् वैरूप्यं तत्र दोषः स्यात्। बिसं मुसलमिति। 'इण्कोरादेशप्रत्यययोरि'ति षत्वं प्राप्नोति। अपि च इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पेत। तद्यथा तप्ते भ्राष्ट्रे तिलाः प्रक्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते एवमिमे वर्णा मुहूर्तमपि नावतिष्ठेरन्।

अस्तु तर्हि प्रतिपादकम्। अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिः।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिर्न सिध्यति। सर्वे सर्वत्र प्राप्नुवन्ति।

किं तर्ह्युच्यते निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति। न साधीयो निर्वृत्तिः

अच्छी बात है। दधि मधु में और तो कोई आदेश नज़दीक दीखता नहीं। अन्तरतम होने से दधि मधु ही आदेश हो जायेंगे।

इस प्रकार आदेश मानने पर किन्हीं शब्दों में विरूपता आ जाने से दोष होगा। जैसे—बिसं मुसलम्। यहां सकार को सकार आदेश मानने पर आदेश का सकार हो जायगा तो इण् कवर्ग से परे आदेशप्रत्यययोः से विधीयमान षत्व प्राप्त होगा।[1]

इसके अतिरिक्त बार २ आदेश होते रहने से वर्णों की इष्ट व्यवस्था भी न बनेगी। जैसे गर्म तपे हुए भाड़ में डाले तिल क्षण भर भी नहीं ठहरते वैसे ये वर्ण भी क्षण भर नहीं ठहरेंगे।

तो फिर इस सूत्र को प्रतिपादक मान लें। और से किये हुए आदेशों में अन्तरतमों की साधुता का बोधक यह सूत्र है ऐसा समझ लें।

अन्यों से निष्पन्नों का प्रतिपादक मानने पर (अभिमत शब्द की) निष्पत्ति नहीं सिद्ध होती। सब जगह सब आदेश प्राप्त होते हैं।

यह क्या कहा है कि निष्पत्ति सिद्ध नहीं होती। क्या अन्तरतम आदेशों की

---

१. जब बिस शब्द के स्थान में बिस आदेश और मुसल के स्थान में मुसल आदेश करेंगे तब तो षत्व प्राप्ति का दोष नहीं होगा। क्योंकि उस समय सम्पूर्ण शब्द के स्थान में आदेश हुआ है केवल सकार के स्थान में नहीं इस लिये आदेश का सकार न होने से षत्व न होगा।

सिद्धा भवति।

न ब्रूमो निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति। किं तर्हि। इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पते। न सर्वे सर्वत्रेष्यन्ते।

इदमिदानीं किमर्थं स्यात्।

अनर्थकं च।

अनर्थकमेतत् स्यात्। यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयात् मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात्।

उक्तं वा।

किमुक्तम्। 'सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनादिति'। षष्ठ्यधिकारेऽयं योगः कर्तव्यः। स्थानेन्तरतमः षष्ठीनिर्दिष्टस्येति।

निष्पत्ति अच्छी तरह सिद्ध नहीं हो रही। साधीयः=अच्छी तरह।

हम यह नहीं कहते कि निष्पत्ति सिद्ध नहीं होती। आदेश की निष्पत्ति तो हो रही है परन्तु आदिश्यमान वर्णों की इष्ट व्यवस्था नहीं सिद्ध होती। सब जगह सब वर्णों के आदेश इष्ट नहीं हैं। अक् के स्थान में सब दीर्घ आदेश हो जायेंगे तो अन्तरतम दीर्घ आदेश नहीं सिद्ध होते।

फिर स्थानेन्तरतमः यह सूत्र क्या करेगा?

यह सूत्र एक प्रकार से व्यर्थ ही होगा। जो किसी के भोजन खा चुकने पर कहे कि तुम भोजन मत खाना तो उसके ऐसा कहने से क्या होगा। वह तो खा चुका। जब और से आदेश हो चुके तब शास्त्र प्रामाण्य से उन के साधुत्व ज्ञान के बाद यह सूत्र अन्तरतम हों ऐसा कह कर उन के असाधुत्व का प्रतिपादन कैसे करेगा।

इस दोष का समाधान कह चुके हैं। क्या? इस सूत्र को निर्वर्तक या प्रतिपादक दोनों ही न मान कर लक्षणान्तरशेषभूत मानेंगे। षष्ठी स्थानेयोगा के अधिकार में इसे पढ़ देंगे। उस से जहां षष्ठी के निर्देश से दीर्घ आदि आदेशों का विधान हो रहा होगा वहीं इस की उपस्थिति हो जायगी तो इसके द्वारा आदेश परिष्कृत हो कर अन्तरतम हो जायेंगे। सब आदेश सब जगह नहीं होंगे। इस प्रकार विधिसूत्रों के साथ इस की एकवाक्यता होने से कोई दोष न होगा।

प्रत्यात्मवचनं च ।

प्रत्यात्ममिति च वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्यान्तरतमः स तस्य स्थाने यथा स्यात् । अन्यस्यान्तरतमोऽन्यस्य स्थाने मा भूदिति ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात् ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यम् । किं कारणम् । स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावत एतत् सिद्धम् । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति प्रत्यात्मं चासते ।

अन्तरतमवचनं च ।

अन्तरतमवचनं चाशिष्यम् । योगश्चाप्ययमशिष्यः । कुतः । स्वभावसिद्धत्वादेव । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते' न पाण्डवः पाण्डुभिः । येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते । तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते । तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति ।

अन्तरतमविधान में प्रत्यात्म शब्द का ग्रहण करना चाहिये । प्रत्यात्म अर्थात् अपना अपना जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में हो । अन्य का अन्तरतम अन्य के स्थान में न हो यह कहना चाहिये ।

प्रत्यात्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह तो स्वभाव से ही सिद्ध है कि जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में होता है । जैसे समाज=उत्सव पर जन-समागम, समाश=सहभोज, और समवाय=सभा आदि में 'बैठिये' ऐसा कहने पर जो जिस स्थान के योग्य होता है वह वहीं बैठता है । अपने अपने स्थान पर न कहने पर सब अपने अपने स्थान पर ही बैठते हैं ।

इस प्रकार स्थानेन्तरतमः इस सूत्र की भी आवश्यकता नहीं रहती । यह भी अशिष्य है । उपदेश की अपेक्षा नहीं रखता । क्योंकि सभा आदि में बैठिये ऐसा कहने पर न तो दुबले आदमी दुबलों के साथ बैठते हैं, न पीले वर्ण वाले पीले वर्ण वालों के साथ, बल्कि जिन के साथ कुछ अर्थकृत (विद्या जाति धनादि के कारण) आन्तर्य (सादृश्य) होता है उन्हीं के साथ बैठते हैं । दिन में बाहर चर कर आई हुई गौएं घर में जो जिसका बच्चा होता है उसी के साथ सोती हैं ।

एवं तावच्चेतनावत्सु ।

अचेतनेष्वपि । तद्यथा लोष्टः क्षिप्तो बहुवेगं[1] गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः । स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति नार्वागवरोहति । अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग् गच्छति नार्वागवरोहति । ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः ।

व्यञ्जनस्वरव्यतिक्रमे च तत्कालप्रसङ्गः ।

व्यञ्जनव्यतिक्रमे स्वरव्यतिक्रमे च तत्कालता प्राप्नोति । व्यञ्जनव्यति-

---

संघुष्टकानि=एक साथ जुए में जुतने वाले होने से अत्यन्त परिचित गोयुक्तकानि=बैलों के जोड़े जब एक दूसरे को नहीं देखते तो रंभाने लगते हैं ।

यह व्यवहार तो केवल चेतना वाले प्राणियों में दीखता है (पर यहां आदिष्ट होने वाले वर्ण अचेतन हैं) ।

अचेतनों में भी दीखता है । जैसे फैंका हुआ मिट्टी का ढेला बड़े वेग से ऊपर जा कर न तो तिरछा जाता है और न ऊपर ही चढ़ता है । पृथिवी का विकार होने से नीचे पृथिवी पर ही आ गिरता है । पृथिवी के साथ उसका आन्तर्य है, सादृश्य है । इस लिये वह पृथिवी में ही मिल जाता है । यह जो अन्तरिक्ष में सूक्ष्म समुद्र का पानी है, अग्निसंयोग से काष्ठादि में उत्पन्न उस का विकार धुआं आकाश में बन्द हवा में न तो तिरछा जाता है और न नीचे उतरता है । पानी का विकार होने से अन्तरिक्ष के पानी में ही मिल जाता है । सूर्य का विकार जो ज्वालायें हैं वे आकाश में बन्द हवा में तिरछी या नीचे न जाकर सूर्य का विकार होने से सूर्य में ही मिल जाती हैं । अग्नि की लपटें अग्नि में मिल जाती हैं । सूर्य की किरणें सूर्य में मिल जाती हैं ।[2]

व्यञ्जन के परिवर्तन में और स्वर के परिवर्तन में स्थानेन्तरतमः इस

---

१. किन्हीं पुस्तकों में बाहुवेगं पाठ है । उसमें अर्थ होगा बाहु के वेग के साथ । बहुवेगं=बहुत वेग के साथ । यह क्रियाविशेषण है ।

२. इस प्रकार भाष्यकार ने चेतनाचेतन जगत् के व्यवहार से अन्तरतम नियम को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

क्रमे । इष्टम् । उप्तम् । आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्यार्धमात्रिक इक् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे अर्धमात्रिक इगस्ति ।

कस्तर्हि ? ।

मात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

स्वरव्यतिक्रमे । दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् । आन्तर्यतो मात्रिकस्य द्विमात्रिकस्येको मात्रिको द्विमात्रिको यण् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति ।

कस्तर्हि ।

अर्धमात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

अन्तरतम नियम के मानने पर तत्समकाल वर्ण का ग्रहण प्राप्त होता है। व्यञ्जन के परिवर्तन में जैसे—इष्टम्, उप्तम् (यज् वप्-क्त) यहां यज् वप् में यकार वकार व्यञ्जन अर्धमात्रिक हैं उन के स्थान में होने वाले इकार उकार भी अन्तरतम परिभाषा से अर्धमात्रिक प्राप्त होते हैं।

लोक और वेद में कहीं भी इकार उकार अर्धमात्रिक (आधी मात्रा वाले) नहीं हैं।

फिर कौन से हैं।

मात्रिक हैं। जो हैं वे हो जायेंगे। इस लिये इष्टम् उप्तम् में एक मात्रिक ही इकार उकार होंगे, अर्धमात्रिक नहीं

स्वर के परिवर्तन में जैसे–दध्यत्र मध्वत्र (दधि-अत्र, मधु अत्र)। कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् (कुमारी-अर्थम्, ब्रह्मबन्धू-अर्थम्) यहां मात्रिक और द्विमात्रिक इवर्ण उवर्ण स्वर के स्थान में होने वाला यण् भी अन्तरतमपरिभाषा से मात्रिक द्विमात्रिक प्राप्त होता है।

लोक और वेद में कहीं भी यण् मात्रिक और द्विमात्रिक नहीं है।

फिर कौन सा है।

आधी मात्रा वाला है। जो है वह हो जायगा। इस लिये दध्यत्र आदि में अर्धमात्रिक ही यण् होगा मात्रिक द्विमात्रिक नहीं।

अक्षु चानेकवर्णादेशेषु ।

अक्षु चानेकवर्णादेशेषु तत्कालता प्राप्नोति । इदम इश् । आन्तर्यतोऽर्धतृतीयमात्रिकस्येदमः स्थानेऽर्धतृतीयमात्रमिवर्णं प्राप्नोति ।

नैष दोषः । 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति ।

गुणवृद्ध्येज्भावेषु च ।

गुणवृद्ध्योरेज्भावेषु च तत्कालता प्राप्नोति । खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः । खट्वा उदकम्=खट्वोदकम् । खट्वा ईषा=खट्वेषा । खट्वा ऊढा=खट्वोढा । खट्वा एडका=खट्वैडका । खट्वा ओदनः=खट्वौदनः । खट्वा ऐतिकायनः=खट्वैतिकायनः । खट्वा औपगवः = खट्वौपगव इति । आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशाः प्राप्नुवन्ति ।

अनेक वर्णों के स्थान में आदेश होने वाले अचों में भी अन्तरतम परिभाषा से तत्कालता प्राप्त होती है । जैसे इदम इश् । यहां इदम् को त्यदाद्यत्व पररूप हो कर 'इद' बनने पर वह ढाई मात्रा वाला हो जाता है उस के स्थान में होने वाला इश् (इ) आदेश भी ढाई मात्रा वाला प्राप्त होता है ।

भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न, इस परिभाषा से यहां दोष न होगा । इस परिभाषा का अर्थ है—विधीयमान अण् अपने सवर्ण का ग्रहण नहीं करता है । इस लिये इदम इश् में विधीयमान इश् आदेश अपने सवर्णी का ग्रहण नहीं करेगा तो एकमात्रिक ही इकार होगा । ढाई मात्रा वाला नहीं । वैसे ढाई मात्रा वाला इकार कहीं है भी नहीं । यदि त्यदाद्यत्व पररूप को बाध कर सीधा इदम् को इश् करें तो भी त्रिमात्रिक इकार प्राप्त होता है । वह भी भाव्यमान होने से न होगा ।

गुणवृद्धि और एज्भाव (टेरेत्व) में भी अन्तरतम परिभाषा से तत्कालता प्राप्त होती है । जैसे खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः । खट्वा ईषा=खट्वेषा । खट्वा उदकम्=खट्वोदकम् । खट्वा ऊढा=खट्वोढा । खट्वा एडका=खट्वैडका । खट्वा-ऐतिकायनः=खट्वैतिकायनः । खट्वा ओदनः=खट्वोदनः । खट्वा औपगवः=खट्वौपगवः । यहां त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक आ ई औ आदि के स्थान में होने वाले गुणवृद्धिसंज्ञक ए ओ ऐ औ भी अन्तरतम परिभाषा से त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक प्राप्त होते हैं ।

नैष दोषः। तपरे गुणवृद्धी।

ननु च तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः।

नेत्याह। तादपि परस्तपर इति।

यदि तादपि परस्तपरः। ऋदोरबिति इहैव स्यात् यवः स्तवः। लवः पव इत्यत्र न स्यात्।

नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः।

किं दकारे प्रयोजनम्?

अथ किं तकारे? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि। अथ मुख-

यह कोई दोष नहीं। गुणवृद्धि संज्ञा में अदेङ् आदैच् कह कर अ ए ओ और आ ऐ औ ये सब तपर किये गये हैं। इस लिये तपरस्तत्कालस्य के नियम से सवर्ण का ग्रहण न होगा तो त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक आदेश न होंगे।

तपरस्तत्कालस्य यहां तपर शब्द में तो तः परो यस्मात् स तपरः इस प्रकार बहुव्रीहि समास माना है। उससे अ आ ही तपर बनेंगे। ए ओ ऐ औ तपर नहीं बनेंगे। उनके तपर न होने से तत्काल का नियम न होगा तो सवर्णग्रहण प्राप्त होता है।

यह बात नहीं है। तपर शब्द में तात् परः तपरः इस प्रकार पञ्चमी तत्पुरुष समास भी मानते हैं। उससे ए ओ ऐ औ भी तपर हो जायेंगे तो तत्काल का नियम हो कर उनमें सवर्णग्रहण न होगा।

यदि तपर शब्द में तात्परः तपरः इस प्रकार पञ्चमीतत्पुरुष समास भी मानते हैं तो ऋदोरप् में उवर्ण भी तपर हो जायगा। उसके तपर हो जाने से तत्काल का नियम हो कर ह्रस्व उकारान्त धातु से ही अप् प्रत्यय हो सकेगा। दीर्घ ऊकारान्त से न हो सकेगा। तो यवः स्तवः (यु स्तु-अप्) ये ही रूप बन सकेंगे। लवः पवः (लू पू-अप्) ये न बन सकेंगे। यवः स्तवः में यु स्तु धातु ह्रस्व उकारान्त हैं। लवः पवः में लू पू दीर्घ ऊकारान्त हैं।

ऋदोरप् में ऋत् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार तकार नहीं मानेंगे। किन्तु ऋद् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार दकार मानेंगे।

ऋदोरप् में दकार मानने का क्या प्रयोजन है?

वहां तकार मानने का भी क्या प्रयोजन है क्योंकि आप तपर शब्द में केवल

सुखार्थस्तकारः, दकारोपि ।

एज्भावे । कुर्वाते कुर्वाथे । आन्तर्यतोऽर्धतृतीयमात्रस्य टिसंज्ञकस्यार्धतृतीयमात्र एच् प्राप्नोति ।

नैव लोके नच वेदेऽर्धतृतीयमात्र एजस्ति ।

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात् ।

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गः । सर्वगुणवृद्धिप्रसङ्गः । सर्वे गुणवृद्धिसंज्ञका ऋवर्णस्य स्थाने प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । अविशेषात् । न हि कश्चिद् विशेष उपादीयते एवंजातीयको गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य स्थाने भवतीति । अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः ।

बहुव्रीहि समास मानते हैं उससे ऋ ही तपर बनेगा । उकार तो तपर न होगा । और ॠ के लिये तपर करना व्यर्थ है । वह स्वतः ही दीर्घ पढ़ा है । हां, उकार के लिये तपर करना सफल हो सकता है पर वह पञ्चमी तत्पुरुष समास में ही संभव है । इस लिये हम वहां तकार न मान कर दकार मानते हैं । जिससे तपरस्तत्कालस्य की प्रवृत्ति न हो । और उवर्ण अपने सवर्णियों का ग्रहण कर सके । केवल बहुव्रीहि समास मानने वाले के लिये ॠदोरप् में तकार दकार दोनों समान हैं । वहां यदि सन्देहाभाव के लिये तपर किया हुआ मानेंगे तो दपर भी सन्देहाभाव के लिये हो सकता है । यदि सुखपूर्वक मुख से उच्चारण करने में सहायक होने के लिये तपर मानेंगे तो दपर भी उसके लिये हो सकता है ।

एज् भाव का उदाहरण कुर्वाते कुर्वाथे है । कुर्वाते कुर्वाथे (कृ-आताम्, आथाम्) यहां आताम् आथाम् में टि संज्ञक आम् के ढाई मात्रा वाला होने से उसके स्थान में होने वाला टेरेत्व भी अन्तरतम परिभाषा से ढाई मात्रा वाला प्राप्त होता है ।

लोक और वेद में कहीं भी ढाई मात्रा वाला एकार नहीं है । द्विमात्रिक तो है । इस लिये द्विमात्रिक हो जायगा ।

ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धी कहने पर गुणवृद्धिसंज्ञक सभी वर्ण प्राप्त होते हैं । क्योंकि ऋवर्ण के स्थान में होने के लिये गुणवृद्धिसंज्ञा वाले किसी विशेष वर्ण को नहीं कहा गया है कि यह गुणवृद्धिसंज्ञक वर्ण ऋवर्ण के स्थान में होता है । बिना विशेष वर्ण के कहे सभी वर्ण प्राप्त होते हैं ।

न वा ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गाद् अवर्णस्यान्तर्यम् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात् । उः स्थाने अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते तत्र ऋवर्णस्यान्तर्यतो रेफवतो रेफवानकार एवान्तरतमो भवति ।

सर्वादेशप्रसङ्गस्त्वनेकाल्त्वात् । सर्वादेशस्तु गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेकाल्त्वात् । अनेकाल् शित् सर्वस्येति ।

नवानेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णादेशस्याविघातः ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वात् । यदायमुः स्थानेऽण् तदायमनेकाल् । अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णादेशस्य विघातो न भविष्यति ।

अथवाऽनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम् । एकस्याप्यन्तरतमा प्रकृति र्नास्ति ।

यह कोई दोष नहीं । उरण् रपरः से ऋवर्ण के स्थान में प्रसज्यमान होते ही अण् रपर कहा गया है । उससे रेफ वाले ऋवर्ण के स्थान में उसके अन्तरतम रेफ वाले अर् आर् गुणवृद्धि हो जायेंगे ।[1]

यदि ऋवर्ण के स्थान में अर् आर् गुणवृद्धि होंगे तो वे अनेकाल् होने से अनेकाल् शित्सर्वस्य के नियम से सारे ऋवर्णान्त अङ्ग को प्राप्त होते हैं ।

यह कोई दोष नहीं । ऋवर्ण के स्थान में होने वाले अण् के द्वारा रपर हो कर ही अर् आर् अनेकाल् होते हैं । पीछे अनेकाल् होने पर वे अपने आश्रयभूत ऋवर्ण का विघात नहीं कर सकते । जब तक ऋवर्ण के स्थान में अर् आर् नहीं हो पाते तब तक वे अनेकाल् नहीं बनते । जब तक अनेकाल् नहीं बनते तब तक सर्वादेश नहीं हो सकते इस लिये पहले ऋवर्ण के स्थान में हों, फिर अनेकाल् हों इस उक्त आनुपूर्वी से अनेकाल् हो कर भी पूर्वप्रवृत्त ऋवर्ण के स्थानित्व का विघात नहीं हो सकता ।

अथवा ऋवर्ण और अवर्ण का अनान्तर्य (असादृश्य· ही आन्तर्य (सादृश्य) है । उनका परस्पर न मिलना ही मिलना है । एक अवर्ण के अनुकूल तो प्रकृति नहीं ।

---

१. उरण् रपरः इसके साथ गुणवृद्धिशास्त्र की एकवाक्यता होने पर ऐसा अर्थ होगा—अङ्ग के अन्त्य इक् ऋवर्ण को रपर अण् रूप गुण होता है ।

अपरस्यान्तरतम आदेशो नास्ति । एतदेवैतयोरान्तर्यम् ।[1]

सम्प्रयोगो वा नष्टाश्वदग्धरथवत्[2] ।

अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रयोगो भविष्यति । तद्यथा तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः । उभौ सम्प्रयुज्यावहा इति । एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्ति, अस्तु नौ सम्प्रयोग इति ।

विषम उपन्यासः । चेतनावत्स्वर्थात् प्रकरणाद्वा लोके सम्प्रयोगो भवति । वर्णाश्च पुनरचेतनाः । तत्र किंकृतः सम्प्रयोगः ।

यद्यपि वर्णा अचेतनाः, यस्त्वसौ प्रयुङ्क्ते स चेतनावान् ।

एजवर्णयोरादेशेऽवर्णं स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात् ।

दूसरे ऋवर्ण के अनुकूल आदेश नहीं । इस प्रकार दोनों के न मिलने से मेल हो जायगा ।

अथवा नष्टाश्व दग्धरथ न्याय से दोनों का मेल हो जायगा । नष्टाश्वदग्धरथ न्याय का स्वरूप यह है कि एक का घोड़ा नष्ट हो गया । दूसरे का रथ जल गया तो वे आपस में कहते हैं—तेरा घोड़ा खोया गया और मेरा रथ जल गया । चलो दोनों मिल जावें । तू मुझे रथ दे और मैं तुझे घोड़ा दूं । दोनों का काम हो जायगा । इसी तरह यहां भी तेरा तो अन्तरतम स्थानी नहीं और मेरा अन्तरतम आदेश नहीं, चलो दोनों मिल लें इस प्रकार अवर्ण और ऋवर्ण मिल जावेंगे ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । चेतनावान् पदार्थों में प्रकरण या सामर्थ्य से लोक में मेल हो सकता है । वर्ण तो अचेतन हैं इन में कैसे मेल होगा ।

यद्यपि वर्ण अचेतन हैं तो भी उन का प्रयोग करने वाला तो चेतन है उस से मेल हो जायगा ।

---

१. अब सूत्रान्तर से निर्वृत्त (निष्पन्न) अण् को रपर करने में भी कोई दोष नहीं इसे इस प्रकार कहते हैं । सदृश सम्बन्धी के अभाव वाला होना दोनों का साधारण धर्मरूप सादृश्य है यह भाष्य तात्पर्य है ।

२. सूत्र प्रत्याख्यान पक्ष में समाधान कहते हैं— सम्प्रयोगो वा इत्यादि ।

एजवर्णयोरादेशोऽवर्णं प्राप्नोति। खट्वैलका। मालौपगवः। किं कारणम्। स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात्। स्थानी ह्यत्रावर्णप्रधानः।

सिद्धं तूभयान्तर्यात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। उभयोर्योऽन्तरतमस्तेन भवितव्यम्। नचावर्णमुभयोरन्तरतमम्।

उरण् रपरः ।१।१।५१।

किमिदमुरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्। उः स्थाने अणेव भवति रपरश्चेति। आहोस्विद् रपरत्वमात्रमनेन विधीयते। उः स्थाने अण् च अनण् च। अण् तु रपर इति।

कश्चात्र विशेषः।

एच् और अवर्ण के एकादेश में अवर्ण की प्रधानता होने से दोनों के स्थान में अवर्ण आदेश ही प्राप्त होता है। खट्वा-एलका=खट्वैलका। माला-औपगवः=मालौपगवः। यहां वृद्धिरेचि से विधीयमान आ ऐ औ के एकादेश में ऐ औ न होकर आ होना चाहिये। क्योंकि स्थानी ए औ में भी अवर्ण के विद्यमान होने से उस की प्रधानता है।

यह कोई दोष नहीं। खट्वैलका, मालौपगवः में ऐ औ वृद्धि एकादेश सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि जो उभय अर्थात् आ और ऐ औ दोनों का अन्तरतम होगा वही आदेश होगा। आकार केवल कण्ठस्थान वाला होने से दोनों का अन्तरतम नहीं है। ऐ औ तो कण्ठ के साथ तालु ओष्ठ स्थान वाले भी होने से दोनों स्थानियों के अन्तरतम हैं इस लिये दोनों के स्थान में ऐ औ ही वृद्धि होंगे, आकार नहीं।

क्या उरण् रपरः इस सूत्र से ऋ के स्थान में अण् ही हो और वह रपर हो इस प्रकार अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है या ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण् तो रपर हो इस प्रकार अण् को केवल रपर मात्र किया जाता है। पहले पक्ष में यह ऋ के स्थान में प्राप्त अन्तरतम आदेशों को भी बाधकर अण् ही करेगा और उसे रपर भी साथ में कर देगा। दूसरे पक्ष में किसी से प्राप्त ऋ के स्थान में अण् को रपरमात्र करेगा।

इस में क्या विशेष है।

उरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थमिति चेदुदात्तादिषु दोषः ।

उरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थं चेदुदात्तादिषु दोषो भवति ।

के पुनरुदात्तादयः ।

उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकाः । कृतिः हृतिः । कृतं हृतम् । प्रकृतं प्रहृतम् । नॄँः पाहि ।

अस्तु तर्हि उः स्थाने अण् च अनण् च । अण् तु रपर इति ।

य उः स्थानेऽण् स रपर इति चेद् गुणवृद्ध्योरवर्णाप्रतिपत्तिः ।

यदि यह अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति करता है तो उदात्त आदि में दोष होगा ।

उदात्त आदि कौन से हैं ?

उदात्त अनुदात्त स्वरित और अनुनासिक । कृतिः हृतिः (कृ हृ-क्तिन्) यहां कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम ञ्नित्यादिर्नित्यम् से उदात्त ऋ न होकर अण् (अ इ उ) में से ही कोई अक्षर प्राप्त होना चाहिये । क्योंकि ऋ अण् नहीं है उसे बाध कर यह ऋ के स्थान में अण् ही करेगा तो कृतिः हृति में उदात्त ऋ न हो सकेगा । इसी प्रकार कृतम् हृतम् यहां कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुदात्तं पदमेकवर्जम् से अनुदात्त ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । प्रकृतम् प्रहृतम् यहां कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः से स्वरित ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । नॄँः पाहि (नॄन्-पाहि) यहां नॄन् पे से नॄन् के न् को स् होने पर अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुनासिक ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है ।[1]

अच्छा तो ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण् तो रपर हो यह दूसरा पक्ष मान लीजिये ।

यदि ऋ के स्थान में अण् अनण् सब मान कर अण् को केवल रपर किया जाता है तो ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धि करने में अवर्ण का मिलना

---

१. यद्यपि इस पक्ष में नॄन् शब्द में नृ से शस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ ॠ न होकर अण् ही प्राप्त होता है । उस अवस्था में नॄन् यह रूप भी नहीं बन सकता तो भी नॄन् पे सूत्र में निपातन से ऋ दीर्घ हो जायगा । उससे नॄन् यह रूप बन जायगा ।

य उः स्थाने अण् स रपर इति चेद् गुणवृद्ध्योरवर्णस्याप्रतिपत्तिः । कर्ता हर्ता वार्षगण्यः । किं हि साधीयः-ऋवर्णस्यासवर्णे यदवर्णं स्यात् न पुनरेङैचौ ।

पूर्वस्मिन्नपि पक्षे एष दोषः । किं हि साधीयः । तत्रापि ऋवर्णस्यासवर्णे यदवर्णं स्यात् न पुनरिकारोकारौ । अथ मतमेतत्-उः स्थान अणश्चानणश्च प्रसङ्गे अणेव भवति रपरश्चेति सिद्धा पूर्वस्मिन् पक्षेऽवर्णस्य प्रतिपत्तिः । यत्तु तदुक्तमुदात्तादिषु दोष इति स इह दोषो जायते न वा जायते ।

जायते स दोषः । कथम् । उदात्त इत्यनेनाणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते अनणोपि ।

यद्यपि अणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते न तु प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् ।

ही दुर्लभ है । कर्ता हर्ता (कृ हृ-तृच्) । वार्षगण्यः वृषगणस्यापत्यम्, वृषगण-यञ्) । यहां कृ हृ और वृषगण के ऋ को गुणवृद्धि करने में कौन सा ऐसा बढ़िया साधक हेतु है जिस से ऋ के सभी असवर्णी गुणवृद्धि संज्ञक वर्णों में अ आ ही गुणवृद्धि होंगे, ए ओ ऐ औ नहीं होंगे । जैसा गुणसंज्ञक अण् अकार ऋ का असवर्ण है वैसे ही ए ओ भी हैं । इसी प्रकार जैसा वृद्धिसंज्ञक अण् आकार ऋ का असवर्ण है । वैसे ही ऐ औ भी हैं । ऋ के स्थान में अ आ ही गुणवृद्धि होंगे ए ओ ऐ औ नहीं होंगे इस में क्या साधक हेतु है ?

यह दोष तो पहले पक्ष में भी है । वहां भी कौन सा ऐसा बढ़िया साधक हेतु है जिस से ऋ के स्थान में असवर्णी अणों में से अ आ ही होंगे इ उ न होंगे । यदि कहो पहले पक्ष में यह दोष नहीं क्योंकि वहां ऋ के स्थान में अण् अनण् की प्राप्ति में अण् ही हो और वह रपर हो ऐसा नियम कर देने से अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है । इ उ के अण् होने पर भी गुणवृद्धि संज्ञक न होने से ऋ के स्थान में उन की प्राप्ति ही नहीं तो इ उ न होकर अ आ ही होंगे । तो पहले पक्ष में जो उदात्त आदि का दोष कहा है उस पर तो विचार होना चाहिये कि वह इस पक्ष में भी दोष है या नहीं ।

हां वह दोष इस पक्ष में भी होता है । क्योंकि कृतिः हृतिः आदि में अण् भी उदात्त आदि प्राप्त हो सकते हैं और अनण् ऋ भी ।

यद्यपि अण् भी उदात्त आदि हो सकते हैं पर कृतिः हृति आदि में

स्थानेन्तरतमो भवतीति।

कुतो नु खल्वेतत् द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोः स्थानेन्तरतम इति उरण् रपर इति च, स्थानेन्तरतम इत्यनया परिभाषया व्यवस्था भविष्यति न पुनरुरण् रपर इति।

अतः किम्?

अत एष दोषो जायते उदात्तादिषु दोष इति। ये चाप्येते ऋवर्णस्य स्थाने प्रतिपदमादेशा उच्यन्ते तेषु रपरत्वं न प्राप्नोति। ऋत इद् धातो-रुदोष्ठ्य पूर्वस्येति।

सिद्धं तु प्रसङ्गे रपरत्वात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। प्रसङ्गे रपरत्वात्। उः स्थाने अण् प्रसज्यमान

वे प्राप्त तो नहीं हैं। क्योंकि स्थानेन्तरतमः इस अन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में ऋ ही उदात्त आदि होगा। अण् नहीं।

यह कैसे मानें कि स्थानेन्तरतमः और उरण् रपरः इन दोनों सावकाश परिभाषाओं की एक साथ उपस्थिति में यहां अन्तरतम परिभाषा की बात मान कर प्रयोग व्यवस्था की जायगी। उरण् रपरः की बात नहीं मानी जायगी?

इस से क्या?

इस से यही है कि उरण् रपरः से व्यवस्था मानने पर कृतिः हृतिः आदि में कहा हुआ उदात्त आदि का दोष इस दूसरे पक्ष में भी प्राप्त रहेगा इस के साथ पहले पक्ष में यह भी दोष है कि जो ऋ के स्थान में प्रति-पदविहित है (साक्षात् विधान किए हुए) आदेश कहे हैं उनमें अण् को रपर नहीं प्राप्त होता। जैसे—ऋत इद्धातोः उदोष्ठ्यपूर्वस्य। यहां ऋ के स्थान में इकार उकार का साक्षात् विधान है। क्योंकि यह सूत्र तो जहां अण् अनण् की प्राप्ति में अण् ही हो इस प्रकार अनियम प्रसङ्ग में नियम विधान द्वारा अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की गई है वहीं इस नियम का शेषभूत रपर करेगा। ऋत इद्धातोः उदोष्ठ्यपूर्वस्य में अनियमप्रसक्ति रहित साक्षात् इकार रूप अण् का विधान है इस लिये वहां रपर न हो सकेगा।

ऋ के स्थान में विधि सूत्रों से प्राप्त होता हुआ ही अण् इससे रपर किया जायगा तो कोई दोष न होगा। विधि सूत्रों के साथ इसकी एक वाक्यता हो जायगी तो यह लक्षणान्तर शेषभूत बन कर स्वतन्त्र विधायक न होगा। कर्ता हर्ता वार्षगण्यः में गुणवृद्धि के प्रसङ्ग में विधानकाल में ही अण् रपर हो जायगा

एव रपरो भवति।

किं वक्तव्यमेतत्?

नहि।

कथमनुच्यमानं गंस्यते।

स्थान इति वर्तते। स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति।

आदेशश्च विशेषितः। कथम्। द्वितीयं स्थानग्रहणं प्रकृतमनुवर्तते। तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते। उः स्थाने अण् स्थाने इति। उः स्थाने

तो ऋ के स्थान में अर् आर् गुणवृद्धि मिल जावेंगे। कृतिः हृतिः आदि में अण् का प्रसङ्ग ही नहीं है क्योंकि स्थानेन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में ऋ ही उदात्त आदि प्राप्त है। इस लिये वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी।

क्या यह बात कहनी होगी कि प्रसङ्ग में ही रपर होता है।

नहीं।

बिना कहे कैसे समझी जायगी?

स्थानेऽन्तरतमः से यहां स्थान शब्द की अनुवृत्ति करेंगे। स्थान का अर्थ प्रसङ्ग है ही इस लिये प्रसक्त होता हुआ अण् रपर होता है यह अर्थ निकल आयगा।

ऐसा होने पर भी अण् आदेश ऋवर्ण के स्थान सम्बन्ध से विशेषित न हो सकेगा। अर्थात् ऋ के स्थान में होना रूप सम्बन्ध अण् का न बन सकेगा। स्थान शब्द की अनुवृत्ति से केवल यह अर्थ निकलेगा कि दूसरों से प्रसक्त होता हुआ अण् रपर होता है। पर वह ऋ के स्थान में प्रसक्त होता हुआ रपर होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता। हम चाहते हैं कि ऋवर्ण के स्थान में ही प्रसक्त होता हुआ अण् रपर हो।

अण् आदेश ऋ के स्थान सम्बन्ध से भी विशेषित हो जायगा। कैसे? षष्ठी स्थानेयोगा से दूसरा स्थाने शब्द का ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त होता आ

---

१. उः यह जो षष्ठी है इसे ही स्थान षष्ठी क्यों न मान लिया जाय, जिससे स्थाने पद की अनुवृत्ति न करनी पड़ेगी। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

प्रसङ्गे अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति।

अथाण् ग्रहणं किमर्थम्। न ऊ रपरो भवतीत्येवोच्येत।

ऊ रपरः इतीयत्युच्यमाने क इदानीं रपरः स्यात्?

यः स्थाने भवति।

कश्च स्थाने भवति।

आदेशः।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरप्रतिषेधः।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।

के पुना रीरिविधयः?

अकङ्लोपानङनङ्रीङ्रिङादेशाः। अकङ्-सौधातकिः। अकङ्।

रहा है। उससे उः स्थाने अण् स्थाने रपरः ऐसा वाक्यार्थ होगा। ऋ के स्थान में प्रसक्त होता हुआ ही अण् रपर होगा यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो कर कहीं दोष न होगा।

अण् ग्रहण किस लिये किया है। ऊ रपरः इतना ही सूत्र क्यों न बना दिया जाय?

ऊ रपरः इतना सूत्र होने पर ऋ के स्थान में कौन रपर होगा?

जो ऋ के स्थान में होगा।

ऋ के स्थान में कौन होगा?

आदेश। इस लिये ऋ के स्थान में होने वाला आदेश रपर हो जायगा।

आदेश को रपर मानने में रीरि विधियों में प्राप्त रपर का निषेध कहना चाहिये।

रीरि विधियां कौन सी हैं?

अकङ्, लोप, आनङ्, अनङ्, रीङ्, रिङ् ये आदेश रीरि विधियां हैं।

उरण् रपरः यह ऋ के स्थान में अण् का विधान नहीं करता, अण् तो लक्षणान्तर से किया जाता है सो यह इस अंश में विधिसूत्र नहीं रहता। षष्ठी स्थानेयोगा यह परिभाषा विधिशास्त्र का अङ्ग है, वहीं उपस्थित होती है, अनुवाद में नहीं। अतः स्थाने की अनुवृत्ति अवश्य कर्तव्य है।

लोप पैतृष्वसेयः । लोप । आनङ्-होतापोतारौ । आनङ् । अनङ्-कर्ता हर्ता । अनङ् । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । रीङ् । रिङ्-क्रियते ह्रियते । रिङ् ।

उदात्तादिषु च ।

उदात्तादिषु च किम् । रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । कृतिः । हृतिः । कृतं हृतम् । प्रकृतं प्रहृतम् । नॄँः पाहि । तस्मादण्ग्रहणं

इन में रीङ् रिङ् आदेश की सहचरित सभी विधियों को रीरिविधि कह दिया है । अकङ् जैसे—सौधातकिः । (सुधातुरपत्यं, सुधातृ-इञ्) यहां सुधातृ शब्द से अपत्य अर्थ में सुधातुरकङ् च से इञ् प्रत्यय और सुधातृ के ऋ के स्थान में अकङ् आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । लोप जैसे—पैतृष्वसेयः । (पितृष्वसुरपत्यं, पितृष्वसृ-ढक्) यहां पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में ढकि लोपः से ढक् प्रत्यय और पितृष्वसृ के ऋ का लोप रूप आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है ।[1] आनङ् जैसे—होतापोतारौ । (होता च पोता च) यहां होतृ पोतृ शब्द के द्वन्द्व में होतृ के ऋ के स्थान में आनङ् ऋतो द्वन्द्वे से आनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है ।[2] अनङ्-कर्ता हर्ता (कृ हृ-तृच्) यहां कर्तृ हर्तृ शब्द के ऋ के स्थान में ऋदुशनस्पुरु० से अनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । (मातरमिच्छति पितरमिच्छति मातृ पितृ-क्यच् तिप्) यहां मातृ पितृ शब्द के ऋ के स्थान में रीङ् ऋतः से रीङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रिङ्-क्रियते ह्रियते । (कृ हृ-यक्-त) यहां कृ हृ के ऋ के स्थान में रिङ् शयग्लिङ्क्षु से रिङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त कृतिः हृतिः, कृतम् हृतम्, प्रकृतम् प्रहृतम्, नॄँः पाहि इत्यादि में उदात्त अनुदात्त

---

१. यदि कहो लोप को रपर मानने पर पैतृष्वसेयः यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । यह रूप तो ढकि लोपः से ऋ का लोप न कर के भी इको यणचि से यण् हो कर प्राप्त हो सकता था इस लिये लोप विधान सामर्थ्य से रपर न होगा तो इस का उत्तर यह है कि लोप तो सर्वादेश हो कर चरितार्थ हो सकता है । सारे पितृष्वसृ शब्द के स्थान में लोप हो जावे इस लिये भी लोप विधान रह सकता है अतः सामर्थ्य न होने से वह रपर को नहीं रोक सकता ।

२. यद्यपि आनङ् को रपर हो कर रेफ का संयोगान्त लोप हो जायगा तो भी उसके असिद्ध होने से आनङ् के न का लोप न हो सकेगा ।

कर्तव्यम् ।

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् ।

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । खट्वर्श्यः । मालर्श्यः ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते, न चायमुरेव स्थानेऽण् शिष्यते । किं तर्हि । उश्चान्यस्य च ।

अवयवग्रहणात् सिद्धम् ।

यदत्र ऋवर्णं तदाश्रयं रपरत्वं भविष्यति । तद्यथा माषा न भोक्तव्या इत्युक्ते मिश्रा अपि न भुज्यन्ते ।

अवयवग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तप्रतिषेधः ।

अवयवग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

स्वरित अनुनासिक ऋ आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । इस लिये उक्त दोषों की निवृत्ति के लिये अण् ग्रहण करना चाहिये ।

एकादेश में रपर का उपसंख्यान करना चाहिये । जैसे—खट्वा+ऋश्यः = खट्वर्श्यः । माला+ऋश्यः = मालर्श्यः । यहां पूर्व पर के स्थान में आद्गुणः से गुण एकादेश हुआ है वह रपर इष्ट है ।

क्या कारण है जो एकादेश में रपर सिद्ध नहीं होता ।

ऋ के स्थान में प्रसज्यमान अण को रपर कहा है । खट्वर्श्यः यहां एकादेश में केवल ऋ के ही स्थान में आदेश नहीं हुआ बल्कि ऋ और आ दोनों के स्थान में हुआ है । इस लिये रपर प्राप्त नहीं होता ।

आ और ऋ इस समुदाय के अवयव ऋ के स्थान में आदेश होने से रपर हो जायगा । जैसे—उड़द न खाने चाहियें ऐसा कहने पर चावल आदि में मिले हुए उड़द भी नहीं खाये जाते ।

यदि आ और ऋ समुदाय के अवयव ऋ के स्थान में आदेश मानने से खट्वर्श्यः मालर्श्यः में रपर हो जायगा तो अण् अनण् (अण्भिन्न) उभय मिश्रित

---

१. उः यह वर्णग्रहण सर्वत्र तदन्त विधि का प्रयोजक होता है—यह न्याय है । इससे यहां ऋकारान्त शब्द का ग्रहण हो जायगा ।

होतापोतारौ। यथैवोश्चान्यस्य च स्थानेऽण् रपरो भवतीति एवं य उः स्थानेऽण् चानण् च सोपि रपरः स्यात्।

यदि पुनर्ऋवर्णान्तस्य स्थानिनो रपरत्वमुच्येत—खट्वर्श्यः। मालर्श्यः।

नैवं शक्यम्। इह न प्रसज्येत। कर्ता हर्ता। किरति गिरति। ऋवर्णान्तस्येत्युच्यते न चैतद् ऋवर्णान्तम्।

ननु चैतदपि व्यपदेशिवद्भावेन ऋवर्णान्तम्।

अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः। न चैषोऽर्थवान्। तस्मान्नैवं शक्यम्।

आदेश में भी अण् को अवयव मान कर रपर प्राप्त होता है उसका निषेध कहना चाहिये। जैसे—होतापोतारौ यहां आनङ् आदेश में अण् अनण् दोनों होने से उसमें अण् अवयव को मान कर रपर हो जाना चाहिये।

ऋ के स्थान में रपर न मान कर यदि ऋवर्णान्त के स्थान में रपर मानें तो खट्वर्श्यः मालर्श्यः में आ और ऋ समुदाय के अन्त में ऋवर्ण होने से रपर सिद्ध हो जायगा।

ऐसा नहीं हो सकता। ऋवर्णान्त को रपर मानने में कर्ता हर्ता (कृ हृ-तृच्)। किरति गिरति (कॄ गॄ-श-तिप्) यहां रपर नहीं प्राप्त होता। क्योंकि ऋवर्णान्त के स्थान में अकार इकार नहीं हुए हैं बल्कि ऋवर्ण के स्थान में हुए हैं।

कर्ता हर्ता आदि में ऋवर्ण के स्थान में हुए अकार इकार को भी व्यपदेशिवद्भाव से ऋवर्णान्त के स्थान में हुआ मान लेंगे। अमुख्य में मुख्यवत् व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं।

व्यपदेशिवद्भाव अर्थवान् से होता है, अनर्थक से नहीं। कर्ता हर्ता किरति गिरति में कृ आदि के अर्थवान् होने पर भी केवल ऋवर्ण के अनर्थक होने से व्यपदेशिवद्भाव नहीं होगा तो रपर प्राप्त नहीं होता। इस लिये ऋवर्णान्त के स्थान में रपर नहीं मान सकते। उस अवस्था में खट्वर्श्यः मालर्श्यः में रपर नहीं प्राप्त होता तो एकादेश में रपर का उपसंख्यान ही करना चाहिये। उपसंख्यान करने के साथ ही मातुः पितुः यहां एकादेश में रपर का निषेध भी कहना चाहिये। अन्यथा मातृ-ङस् इस अवस्था में ऋत उत् से मातृ के ऋ और ङस् प्रत्यय के अकार के स्थान में हुए उकार एकादेश में रपर प्राप्त होता है। उ को रपर हो कर ङस् के स् को रु हो जायगा तो रोरि

न चेदेवमुपसंख्यानं कर्तव्यम्। इह च रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। मातुः पितुरिति।

उभयं न वक्तव्यम्। कथम्। यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः। देवदत्तायाः पुत्र इति।

कथं मातुः पितुरिति ?

अस्त्वत्र रपरत्वम्। का रूपसिद्धिः। रात्सस्येति सकारस्य लोपः। रेफस्य विसर्जनीयः।

नैवं शक्यम्। इह हि मातुः करोति पितुः करोतीति। अप्रत्ययविसर्जनीयस्येति षत्वं प्रसज्येत।

अप्रत्ययविसर्जनीयस्येत्युच्यते। प्रत्ययविसर्जनीयश्चायम्।

से पूर्व रेफ का लोप और ढ्रलोपे पूर्वस्य० से दीर्घ हो कर मातूः पितूः ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। एकादेश में रपर न मानने पर तो उ से परे ङस् के सकार को रुत्व विसर्ग हो कर मातुः पितुः यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।

एकादेश में रपर का उपसंख्यान और मातुः पितुः के एकादेश में रपर का निषेध इन दोनों के ही कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जो दो के स्थान में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है। जैसे देवदत्त और देवदत्ता के पुत्र को दोनों में से किसी का भी कह सकते हैं। तो ऋ के और आ के स्थान में हुए एकादेश को हम ऋ के स्थान में हुआ भी कह सकते हैं। इस लिये खट्वर्श्यः मालर्श्यः में रपर हो जायगा।

एकादेश में रपर होने पर मातुः पितुः कैसे बनेंगे ?

मातुः पितुः में भी उकार एकादेश[1] को रपर हो कर मातुर् स् ऐसा होगा तो रुत्व के असिद्ध होने से रात्सस्य से स का लोप और खरवसानयो० से रेफ को विसर्ग हो कर मातुः पितुः बन जायेंगे।

ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार मातुः करोति पितुः करोति यहां मातुः पितुः के प्रत्यय भिन्न विसर्ग हो जाने से उससे करोति का कवर्ग परे होने पर इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य से षत्व प्राप्त होगा।

प्रत्ययभिन्न विसर्ग को षत्व कहा है। मातुः पितुः में प्रत्यय का विसर्ग

---

१. ऋत उत् सूत्र से।

लुप्यतेऽत्र प्रत्ययो रात्सस्येति ।

एवं तर्हि ।

भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तात् षत्वप्रतिषेधस्य ।

यदयं 'कस्कादिषु' भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेश-निमित्तात् षत्वं भवतीति ।

किं पुनरयं पूर्वान्तः, आहोस्वित् परादिः, आहोस्विदभक्तः ?

कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्, कथं वा परादिः, कथं वा अभक्तः ?

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । अथादिरिति वर्तते ततः परादिः । अथोभयं निवृत्तम् । ततोऽभक्तः ।

है । यहां ङस् प्रत्यय के अवयव अकार के स्थान में ऋत उत् से हुए उकार को रपर हुआ है । उस रेफ के विसर्ग को प्रत्यय मान कर प्रत्यय का विसर्ग हो जायगा तो षत्व न होगा ।

ङस् प्रत्यय के अवयव सकार का तो रात्सस्य से लोप हो गया । शेष अकार का ऋ के साथ एकादेश हो कर उसे रपर हो गया । फिर प्रत्यय कहां रहा जिस का विसर्ग हो ?

अच्छा तो फिर कस्कादिषु च इस सूत्र से पठित कस्कादिगण में भ्रातुष्पुत्र शब्द का पाठ इस बात का ज्ञापक होगा कि एकादेश को निमित्त मान कर इदुदुपध बने हुए विसर्ग को षत्व नहीं होता । अन्यथा भ्रातुः शब्द में भी भ्रातृ के ऋ और ङस् के अकार के स्थान में उकार एकादेश हो कर रपर हुआ है । तत्स्थानिक विसर्ग के प्रत्ययभिन्न ह्रस्व उकार उपधा वाला होने से इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य से ही षत्व सिद्ध हो जाता फिर षत्व के लिये उसका कस्कादिगण में पाठ करना व्यर्थ है ।

रपर कह कर हुआ यह रेफ क्या पूर्व का अन्तावयव माना जाता है या पर का आदि अवयव या अभक्त अर्थात् दोनों में से किसी का भी अवयव नहीं माना जाता ?

कैसे तो यह पूर्व का अन्तावयव हो सकता है । कैसे पर का आदि अवयव और कैसे अभक्त ?

आद्यन्तौ टकितौ से यदि अन्त की अनुवृत्ति करें तो पूर्वान्त हो सकता है । आदि की अनुवृत्ति करें तो परादि हो सकता है । और आदि अन्त में से किसी की भी अनुवृत्ति न करें तो अभक्त हो सकता है ।

कश्चात्र विशेषः।

अभक्ते दीर्घलत्वयगभ्यस्तस्वरहलादिःशेषविसर्जनीयप्रतिषेधः प्रत्ययाव्यवस्था च।

यद्यभक्तः दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः। रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति।

किं पुनः कारणं रेफवकाराभ्यां धातुर्विशेष्यते न पुनः पदं विशेष्यते रेफवकारान्तस्य पदस्येति।

नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत—अग्निर्वायुरिति।

एवं तर्हि रेफवकाराभ्यां पदं विशेषयिष्यामो धातुनेकम्। रेफवकारान्तस्य पदस्येको धातोरिति।

एवं प्रियं ग्रामणि कुलमस्य प्रियग्रामणिः प्रियसेनानिः अत्रापि प्राप्नोति। तस्माद् धातुरेव विशेष्यते। धातौ च विशेष्यमाणे इह

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है?

रेफ को अभक्त मानने पर दीर्घ, लत्व, यक् और अभ्यस्त का स्वर, हलादिः शेष, विसर्ग का निषेध और प्रत्यय की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। गीः पूः (गॄ पॄ-क्विप्-सु) यहां गिर् पुर् शब्दों में रेफ के अभक्त होने से रेफान्त धातु न होगा तो र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से इक् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता।

क्या कारण है जो र्वोरुपधायाः० सूत्र में रेफ और वकार से धातु को विशेषित किया जाता है अर्थात् रेफवकारान्त धातु के इक् को दीर्घ माना जाता है, रेफवकारान्त पद के इक् को दीर्घ क्यों न माना जाय। गीः पूः में रेफ के धातु का अभक्त होने पर भी रेफान्त पद होने से दीर्घ हो जायगा।

ऐसा नहीं हो सकता। रेफ वकारान्त पद के इक् को दीर्घ मानने पर अग्निर् वायुर् यहां भी रेफान्त पद होने से इक् को दीर्घ प्राप्त होता है।

अच्छा तो रेफ वकार से पद विशेषित करेंगे और धातु से इक् को। अर्थात् रेफवकारान्त पद के धातुसम्बन्धी इक् को दीर्घ होता है ऐसा अर्थ मानेंगे।

ऐसा मानने पर भी प्रियं ग्रामणि कुलमस्य स प्रियग्रामणिः। प्रियं सेनानि कुलमस्य स प्रियसेनानिः यहां प्रियग्रामणिर् प्रियसेनानिर् इस रेफान्त पद में नी धातु का इक् होने से दीर्घ प्राप्त होता है। इस लिये रेफवकारान्त धातु के इक् को ही दीर्घ मानना होगा। वैसा मानने पर गीः पूः में रेफ के धातु

दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः ॥ दीर्घ।

लत्व। लत्वं च न सिध्यति। निजेगिल्यते। 'ग्रो यङी'ति लत्वं न प्राप्नोति।

नैष दोषः। ग्र इत्यनन्तरयोगैषा षष्ठी।

एवमपि स्वर्जेगिल्यते इत्यत्रापि प्राप्नोति।

एवं तर्हि यङा आनन्तर्ये विशेषयिष्यामः। अथवा ग्र इति पञ्चमी। लत्व।

यक्स्वर। यक्स्वरश्च न सिध्यति। गीर्यते स्वयमेव पूर्यते स्वयमेव। 'अचः कर्तृयकी'त्येष स्वरो न प्राप्नोति। रेफेण व्यवहितत्वात्।

नैष दोषः। 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवती'ति नास्ति

का अभक्त होने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता।

रेफ को अभक्त मानने पर लत्व भी नहीं सिद्ध होता। निजेगिल्यते (नि गॄ-यङ् त) यहां गिर् के रेफ के अभक्त होने से गॄ का रेफ न होगा तो ग्रो यङि से लत्व नहीं प्राप्त होता।

यह कोई दोष नहीं। ग्रो यङि में ग्रः यह सम्बन्ध षष्ठी न मान कर अनन्तर सम्बन्ध में षष्ठी मानेंगे। उससे गॄ के अनन्तर विद्यमान रेफ को लत्व हो जायगा।

फिर भी स्वर्जेगिल्यते (स्वर् गॄ-यङ् त) यहां गॄ के अनन्तर पूर्व स्वर् शब्द के रेफ को भी लत्व प्राप्त होता है।

अच्छा तो यङ् परे रहते गॄ के अनन्तर रेफ को लत्व मानेंगे। अथवा ग्रो यङि में ग्रः को पञ्चमी मान कर गॄ से परे रेफ को लत्व मानेंगे तो कहीं पर दोष न होगा। उससे अभक्त पक्ष में भी निजेगिल्यते में लत्व हो जायगा।

रेफ को अभक्त मानने पर यक् स्वर भी सिद्ध नहीं होता। गीर्यते पूर्यते (गॄ पॄ-यक् त) यहां यक् परे रहते गिर् पुर् में रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो अचः कर्तृयकि से आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता।

यह कोई दोष नहीं। स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से

व्यवधानम्। यक्स्वर।

अभ्यस्तस्वर। अभ्यस्तस्वरश्च न सिध्यति। मा हि स्म ते पिपरुः। मा हि स्म ते बिभरुः। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवति अजादौ लसार्वधातुके इत्येष स्वरो न प्राप्नोति। रेफेण व्यवहितत्वात्।

नैष दोषः। 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवती'ति नास्ति व्यवधानम्। अभ्यस्तस्वर।

हलादिः शेष। हलादिः शेषश्च न सिध्यति। ववृते ववृधे। अभ्यासस्येति हलादिः शेषो न प्राप्नोति। हलादिः शेष।

विसर्जनीय। विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। नार्कुटो नार्पत्यः। 'खरवसानयोर्विसर्जनीय' इति विसर्जनीयः प्राप्नोति। विसर्जनीय।

स्वर करने में रेफ व्यञ्जन को अविद्यमान मान कर व्यवधान न होगा तो यक् स्वर हो जायगा।

रेफ को अभक्त मानने पर अभ्यस्तस्वर भी सिद्ध नहीं होता। मा हि स्म ते पिपरुः (पृ-लङ् झि)। मा हि स्म ते बिभरुः (भृ-लङ् झि)। यहां पृ भृ को जुसि च से गुण होने पर रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो अभ्यस्तानामादिः से विधीयमान अजादि लसार्वधातुक जुस् परे रहते आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। यहां माङ् का योग अडागम को रोकने के लिये है। अन्यथा अट् का स्वर हो जाता। हि का योग हि च से क्रिया के निघात को रोकने के लिये है।

यह कोई दोष नहीं। यहां भी स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से रेफ को अविद्यमान मान कर अभ्यस्त स्वर हो जायगा।

रेफ को अभक्त मानने पर हलादिः शेष भी सिद्ध नहीं होता। ववृते ववृधे (वृत् वृध्-लिट् त) यहां अभ्यास में उरदत्व को रपर हो कर रेफ के अभक्त होने से अभ्यास का अवयव रेफ न होगा तो हलादिः शेषः से उसकी निवृत्ति नहीं प्राप्त होती।

रेफ को अभक्त मानने पर विसर्ग का प्रतिषेध कहना होगा। नार्कुटः नार्पत्यः (नृकुट्यां नृपतौ वा भवः) यहां तद्धित परे रहते आदिवृद्धि हो कर नार् शब्द का रेफ है। वह पदसंज्ञक नृ शब्द का अभक्त हो कर भी तदादि सुवन्त होने से पद हो जायगा तो खरवसानयोर्विसर्जनीयः से रेफ को विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा।

प्रत्ययाव्यवस्था च, प्रत्यये च व्यवस्था न प्रकल्पते। किरतः गिरतः। रेफोऽप्यभक्तः प्रत्ययोपि, तत्र व्यवस्था न प्रकल्पते।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते।

पूर्वान्तेऽवधारणं विसर्जनीयप्रतिषेधो यकृस्वरश्च।

यदि पूर्वान्तः रोरवधारणं कर्तव्यम्। 'रोः सुपि' रोरेव सुपि नान्यस्य। सर्पिष्षु धनुष्षु। इह मा भूत्-गीर्षु पूर्षु।

परादावपि सत्यवधारणं कर्तव्यम्। चतुर्षु इत्येवमर्थम्।

विसर्जनीयप्रतिषेधः। विसर्जनीयस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः।

रेफ को अभक्त मानने पर प्रत्यय की व्यवस्था भी सिद्ध नहीं होती। किरतः गिरतः (कॄ गॄ-श-तस्) यहां विकरण संज्ञक श प्रत्यय और इत्त्व की प्राप्ति में पर होने से इत्त्व पहले हो जाता है। उसको रपर हो कर रेफ के अभक्त होने से श प्रत्यय की व्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि किर् गिर् में रेफ के धातु का अवयव न होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो श प्रत्यय न हो सकेगा। रेफ भी अभक्त है श विकरण भी। यदि रेफ से पूर्व श प्रत्यय करें तो रेफ इकार रूप अण् से पर न रहेगा।

अच्छा तो रेफ को पूर्वान्त मान लेवें।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर रु का अवधारण करना होगा। अर्थात् रोः सुपि यह सूत्र नियमार्थ बनाना होगा। जिससे सप्तमी बहुवचन में रु के ही रेफ को विसर्ग हो अन्य रेफ को न हो। उससे गीर्षु पूर्षु (गिर् पुर्-सुप्) यहां रु का रेफ न होने से खरवसानयो० से विसर्ग नहीं होता है। सर्पिष्षु धनुष्षु (सर्पिस् धनुस्-सुप्) यहां स् को रु हो कर रु का रेफ हो जाने से उसको विसर्ग हो जाता है। परादि में तो रेफ पदान्त ही नहीं इस लिये वहां विसर्ग की प्राप्ति न होने से रोः सुपि यह नियम सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं।

रोः सुपि यह नियम सूत्र तो रेफ को परादि मानने पर भी बनाना होगा। जिससे चतुर्षु (चतुर्-सुप्) में चतुर् शब्द के पदान्त रेफ को खरवसानयो० से विसर्ग न हो जावे। चतुर् शब्द का रेफ स्वतः प्रातिपदिक का है वह रपर नहीं है जो गीर्षु पूर्षु की तरह परादि माना जाय। अभक्त पक्ष में भी रोः सुपि यह नियम सूत्र बनाना अनिवार्य है। वहां भी तदादि वचन से अभक्त रेफ भी पदान्त हो जायगा तो विसर्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार रोः सुपि इस नियम सूत्र का बनाना सब पक्षों में आवश्यक है।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर नार्कुटः नार्पत्यः (नृकुट्यां नृपतौ वा भवः) यहां

नार्कुटः नार्पत्यः खरवसानयोर्विसर्जनीयः प्राप्नोति ।

परादावपि विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । नार्कल्पिरित्येवमर्थम् । कल्पिपदसंघातभक्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्य पदान्ततां विहन्तुमिति विसर्जनीयः प्राप्नोति ।

यक्स्वर । यक्स्वरश्च न सिध्यति । गीर्यते स्वयमेव । स्तीर्यते स्वयमेव । "अचः कर्तृयकीत्येष स्वरो न प्राप्नोति" ।

नैष दोषः । उपदेश इति वर्तते ।

नार् शब्द के पदान्त रेफ को खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा ।

रेफ को परादि मानने पर भी नार्कल्पिः में खरवसानयोः॰ से विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । नृकल्पस्यापत्यं नार्कल्पिः । (नृकल्प-इञ्) यहां नृकल्प शब्द से इञ् प्रत्यय परे रहते आदि वृद्धि और रपर हो कर नार्कल्पिः बनता है । रेफ परादि हो कर भी कल्पि इस इञन्त प्रत्यय समुदाय का अवयव होगा । कल्पि के अवयव कल्प का नहीं । क्योंकि कल्पप् प्रत्यय परे रहते स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से विधीयमान नृ शब्द की पदसंज्ञा तदादि इस अधिकार से रेफान्त नार् शब्द की होगी । वह रेफ कल्पि के प्रति परादि हो कर भी कल्प के प्रति अपनी पदान्तता को नष्ट नहीं कर सकता इस लिये कल्प परे रहते पदान्त रेफ होने से उसको विसर्ग प्राप्त होता है ।[2]

रेफ को पूर्वान्त मानने पर यक् स्वर नहीं सिद्ध होता । गीर्यते स्तीर्यते (गॄ स्तॄ-यक्-त) यहां गिर् स्तिर् में रेफ के पूर्वान्त होने से गॄ स्तॄ धातु अजन्त न रहेंगे तो अचः कर्तृयकि से यक् परे रहते आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता ।

अचः कर्तृयकि में तास्यनुदात्तेन् ङिद्दुपदेशात्॰ से उपदेश ग्रहण की अनुवृत्ति कर के उपदेशावस्था में अजन्त धातु लिया जायगा । गॄ स्तॄ उपदेशावस्था में अजन्त हैं ही । बाद में रेफान्त होने पर भी उनमें अचः कर्तृयकि से यक्स्वर हो जायगा ।[3]

---

१. यहां पद से पारिभाषिक पद का ग्रहण नहीं । पद्यतेऽनेनार्थ इति पदं प्रत्ययः इस व्युत्पत्ति के आश्रयण से पद का अर्थ यहां प्रत्यय है ।

२. तीनों पक्षों में विसर्जनीय प्रतिषेध कहना पड़ेगा । अतः यह कोई दोष नहीं यह भाष्य-तात्पर्य है ।

३. इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष मानने में कोई दोष न होगा । रोः सुपि यह नियम

अथवा पुनरस्तु परादिः ।

परादावकारलोपौत्त्वपुक्प्रतिषेधश्चङ्युपधाह्रस्वत्वमिटोऽव्यवस्थाऽभ्यास-
लोपोऽभ्यस्ततादिस्वरो दीर्घत्वं च ।

यदि परादिः । अकारलोपः प्रतिषेध्यः । कर्ता हर्ता । 'अतो लोप आर्धधातुके' इत्यकारलोपः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । उपदेश इति वर्तते ।

यद्युपदेश इति वर्तते, धिनुतः कृणुतः अत्र लोपो न प्राप्नोति ।

नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसम्बध्यते । किं तर्हि । आर्धधातुकमभि-

---

अथवा रेफ को परादि ही मान लेवें ।

रेफ को परादि मानने में अकारलोप औत्व और पुक् का निषेध, चङ्युपधाह्रस्व, इट् की व्यवस्था, अभ्यासलोप, अभ्यस्तस्वर, तादिस्वर और दीर्घ सिद्ध नहीं होते । अकारलोप का निषेध जैसे—कर्ता हर्ता । (कृ हृ·तृच्) यहां कृ हृ को अर् गुण हो कर रेफ के परादि होने से अकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अतो लोपः से आर्धधातुक परे रहते अकार का लोप प्राप्त होता है । उस का निषेध कहना होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अतो लोपः में अनुदात्तोपदेशवनति० से उपदेश की अनुवृत्ति आती है उससे उपदेशावस्था में जो अकारान्त है उसका लोप होगा । कर्ता हर्ता में कृ हृ इस उपदेशावस्था में अकार न होने से अकार का लोप न होगा ।

यदि अतो लोपः में उपदेश की अनुवृत्ति से उपदेशावस्था में अकारान्त का लोप होगा तो धिनुतः कृणुतः (धिन्व् · कृण्व्-उ-तस्) यहां धिन कृण के अकार का लोप नहीं प्राप्त होता । क्योंकि धिन्व् कृण्व् ये उपदेशावस्था में अकारान्त नहीं हैं ।

अतो लोपः में उपदेश का सम्बन्ध प्रकृति अर्थात् धातु से नहीं है । अपितु

सूत्र बनाया हुआ है ही । अभक्त तथा परादि पक्ष में भी यह बनाना आवश्यक है । नार्कुटः नार्पत्यः में खरवसानयो० इस अन्तरङ्ग कार्य के प्रति बहिरङ्ग वृद्धि के असिद्ध होने से नार् का रेफ दीखेगा ही नहीं तो उसे विसर्ग न होगा । जिस प्रकार मिदचोऽन्त्यात्परः यहां मित् आगम को निर्दोष होने के कारण पूर्वान्त स्वीकार किया गया है उसी प्रकार यहां उरण् रपरः इस सूत्र में अण् को होने वाला रपर भी निर्दोष होने से पूर्वान्त ही स्वीकार किया गया है ।

सम्बध्यते आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमिति। अकारलोप।

औत्त्व। औत्त्वं च प्रतिषेध्यम्। चकार जहार। आत औ णल इत्यौत्वं प्राप्नोति।

नैष दोषः। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति।

यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य कस्मान्न भवति।

रेफेण व्यवहितत्वात्। औत्व।

पुक्प्रतिषेध। पुक् च प्रतिषेध्यः। कारयति हारयति। आतः पुगिति पुक् प्राप्नोति। पुक् प्रतिषेध।

चङ्युपधाह्रस्व। चङ्युपधाह्रस्वत्वं च न सिध्यति। अचीकरत्।

आर्धधातुक प्रत्यय से है। आर्धधातुक प्रत्यय की उपदेशावस्था में जो अकारान्त है उसके अकार का लोप होता है। धिनुतः कृणुतः में आर्धधातुक उ प्रत्यय की उपदेशावस्था में ही धिन्विकृण्व्योरच सूत्र द्वारा अकार अन्तादेश होता है। इस लिये आर्धधातुकोपदेशकाल में धिन कृण के अकारान्त होने से वहां अकार लोप हो जायगा।

रेफ को परादि मानने पर औत्व का निषेध कहना होगा। जैसे— चकार जहार (कृ हृ-लिट् तिप् णल्) यहां कृ हृ को वृद्धि हो कर रेफ के परादि होने से आकारान्त अङ्ग हो जायगा तो आत औ णलः से णल् को औकार प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस परिभाषा से सूत्र में षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट किये हुए णल् के अकार को ही औकार होगा। यहां रेफ विशिष्ट णल् होने से औकार नहीं होगा।

जिसका निर्देश किया है उस णल् को ही रेफ छोड़ कर क्यों नहीं औकार होता ?

उसको रेफ का व्यवधान होने से न होगा। इस प्रकार औत्व का दोष तो हट गया।

रेफ को परादि मानने पर पुक् का निषेध कहना होगा। कारयति हारयति (कृ हृ-णिच् तिप्) यहां कृ हृ को वृद्धि हो कर रेफ के परादि होने से आकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अर्तिह्रीव्लीरी० से पुक् का आगम प्राप्त होता है।

रेफ को परादि मानने पर चङ् परे रहते उपधाह्रस्व भी सिद्ध नहीं

अजीहरत्। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्व' इति ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति।

इटोऽव्यवस्था। इटश्च व्यवस्था न प्रकल्पते। आस्तरिता। निपरिता। इडपि परादिः। रेफोऽपि। तत्र व्यवस्था न प्रकल्पते।

अभ्यास लोप। अभ्यासलोपश्च वक्तव्यः। ववृते ववृधे। अभ्यासस्य हलादिः शेषो न प्राप्नोति। अभ्यासलोप।

अभ्यस्तस्वर। अभ्यस्तस्वरश्च न सिध्यति। मा हि स्म ते पिपरुः। मा हि स्म ते बिभरुः। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवति अजादौ लसार्वधातुके इत्येष स्वरो न प्राप्नोति। अभ्यस्तस्वर।

तादिस्वर। तादिस्वरश्च न सिध्यति। प्रकर्ता, प्रकर्तुम्। 'तादौ च

होता। अचीकरत् अजीहरत् (कृ हृ णिच् लुङ् चङ् तिप्) यहां कृ हृ को वृद्धि हो कर रेफ के परादि होने से कार् हार् का आकार उपधा में न रहेगा तो णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः से उपधा ह्रस्व नहीं प्राप्त होता।

रेफ को परादि मानने पर इट् की व्यवस्था भी ठीक नहीं बनती। आस्तरिता निपरिता (आ स्तॄ, नि पॄ-तृच्) यहां स्तॄ पॄ को सार्वधातुक गुण और रपर करने पर रेफ के परादि होने से तृच् प्रत्यय वशादि कृत् हो जायगा तो नेड्वशि कृति इट् का निषेध प्राप्त होता है। क्योंकि इट् भी परादि है। पर का आदि अवयव होता है। और रेफ भी परादि है वहां इट् की व्यवस्था नहीं बनती। प्रथम तो इट् का निषेध होने से इट् होगा ही नहीं। यदि होगा भी तो रेफ से पूर्व होगा इससे हर हालत में इट् की व्यवस्था नहीं बनती।

रेफ को परादि मानने पर अभ्यास लोप भी कहना होगा। ववृते ववृधे (वृत् वृध्-लिट् त) यहां वृत् वृध् के अभ्यास को उरत्व तथा रपर हो कर रेफ के परादि होने से अभ्यास का अवयव रेफ न रहेगा तो हलादिः शेषः से उसकी निवृत्ति न होगी।

रेफ को परादि मानने पर अभ्यस्त स्वर भी सिद्ध नहीं होता। मा हि स्म ते पिपरुः। मा हि स्म ते बिभरुः (पॄ भृ-लङ् झि) यहां जुसि च से गुण हो कर रपर होता है। रेफ के परादि होने से जुस् अजादि लसार्वधातुक न रहेगा तो अभ्यस्तानामादिः से आद्युदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता। माङ् का योग अडागम को रोकने के लिये है। हि का योग हि च से क्रिया के निघात को रोकने के लिये है।

रेफ को परादि मानने पर तादिस्वर भी सिद्ध नहीं होता। प्रकर्ता प्रकर्तुम्

निति कृत्यतौ इत्येष स्वरो न प्राप्नोति।

नैष दोषः। उक्तमेतत्-कृदुपदेशे वा ताद्यर्थमिडर्थमिति। तादिस्वर।

दीर्घ। दीर्घत्वं च न सिध्यति। गीः पूः। रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति।

अलोऽन्त्यस्य ॥१।१।५२॥

किमिदमल्ग्रहणमन्त्यविशेषणम् आहोस्विद् आदेशविशेषणम्?

किं चातः।

(प्र कृ-तृन्, तुमुन्) यहां कृ को सार्वधातुक गुण तथा रपर हो कर रेफ के परादि होने से कृत् प्रत्यय तकारादि न रहेगा तो तादौ च निति कृत्यतौ से अनन्तर गति का प्रकृतिस्वर नहीं प्राप्त होता।

यह कोई दोष नहीं। तादौ च निति कृत्यतौ सूत्र पर कृदुपदेशे वा ताद्यर्थमिडर्थम् यह वार्तिक कहा गया है। इससे वहां उपदेश ग्रहण कर देने से उपदेशावस्था में तकारादि कृत् लिया जायगा। प्रकर्ता प्रकर्तुम् में तृन्, तुमुन् के रेफादि होने पर भी उपदेशावस्था में तकारादि होने से तादिस्वर हो जायगा। इस प्रकार यह दोष तो हट गया।

रेफ को परादि मानने पर दीर्घ भी सिद्ध नहीं होता। गीः पूः यहां क्विप् प्रत्ययान्त गिर् पुर् शब्दों में रेफ के परादि होने से रेफान्त धातु न रहेगा तो र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से इक् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता।[1]

क्या यह अल्ग्रहण अन्त्य का विशेषण है या आदेश का? यदि अलः को षष्ठी का एकवचन मानें तो अन्त्य का विशेषण बनता है। अर्थ होगा— अन्त्य अल् के स्थान में आदेश होता है। और यदि अलः को प्रथमा बहुवचन मानें तो आदेश का विशेषण बनता है। अर्थ होगा—अल् रूप आदेश अन्त्य के स्थान में होता है।

इससे आपका क्या अभिप्राय है चाहे अन्त्य का विशेषण हो या आदेश का।

---

१. इस प्रकार अभक्त तथा परादि पक्षों के सब दोषों का समाधान न होने से ये दोनों पक्ष स्वीकार्य नहीं हैं। पूर्वान्त पक्ष के सभी दोषों का सम्यक् समाधान हो जाने से वही पक्ष ग्राह्य है यह बात भाष्यकार ने सिद्ध कर दी है।

यद्यन्तविशेषणम्, आदेशोऽविशेषितो भवति।

तत्र को दोषः।

अनेकाल्प्यादेशोऽन्त्यस्य प्रसज्येत। यदि पुनरलन्त्यस्येत्युच्यते तत्रायमप्यर्थः—अनेकाल् शित्सर्वस्येत्येतन्न वक्तव्यं भवति। इदं नियमार्थं भविष्यति अलेवान्त्यस्य भवति नान्य इति।

एवमप्यन्त्योऽविशेषितो भवति।

तत्र को दोषः।

वाक्यस्यापि पदस्याप्यन्त्यस्य प्रसज्येत। यदि खल्वप्येषोऽभिप्रायस्तन्न क्रियतेति, अन्त्यविशेषणेपि सति तन्न करिष्यते। कथम्। ङिच्च अलोन्त्यस्येत्येतन्नियमार्थं भविष्यति-ङिदेवानेकालन्त्यस्य भवति

यदि अन्त्य का विशेषण है तो आदेश अविशेषित रहता है। आदेश का विशेषण अल् नहीं बनता।

वहां क्या दोष है ?

आदेश के साथ अल् का सम्बन्ध न होने से अनेकाल् आदेश भी अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त होगा। और यदि आदेश का विशेषण मान कर अलोन्त्यस्य की जगह अलन्त्यस्य ऐसा लघुन्यास कर दें अर्थात् प्रथमा बहुवचन के स्थान में प्रथमा का एकवचन कर दें तो वहां यह भी लाभ है कि अनेकाल् शित्सर्वस्य यह सूत्र नहीं बनाना पड़ता। अलन्त्यस्य यह सूत्र नियमार्थ हो जायगा कि अल् रूप आदेश ही अन्त्य के स्थान में होता है अन्य अल् समुदाय नहीं।

आदेश का विशेषण मानने में अन्त्य अविशेषित रहता है। अर्थात् अन्त्य का विशेषण अल् नहीं बनता।

वहां क्या दोष है ?

अन्त्य के साथ अल् का सम्बन्ध न होने से अल् समुदाय रूप वाक्य या पद में भी अन्त्य के स्थान में अल् रूप आदेश प्राप्त होगा। जैसे—परमानडुद्भ्याम् यहां अनडुह् शब्दान्त परमानडुह् से भ्याम् परे रहते अन्त्य समस्त अनडुह् शब्द के स्थान में वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः दकारादेश होने लगेगा। यदि आदेश का विशेषण मानने में आपका यह अभिप्राय है कि अनेकाल् शित्सर्वस्य यह सूत्र नहीं बनाना पड़ता तो वह अन्त्य का विशेषण मानने में भी नहीं बनाना पड़ेगा। कैसे ? ङिच्च यह सूत्र नियमार्थ हो जायगा कि अनेकाल् आदेश यदि

नान्य इति।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

अलोन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः।

अलोऽन्त्यस्येत्युच्यते। स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः क्रियते। स्थाने प्रसक्तस्येति।

इतरथा ह्यनिष्टप्रसङ्गः।

इतरथा ह्यनिष्टं प्रसज्येत। टित्किन्मितोऽप्यन्त्यस्य स्युः।

यदि पुनरयं योगशेषो विज्ञायेत।

योगशेषे च।

किम्। अनिष्टं प्रसज्येत। टित्किन्मितोऽप्यन्त्यस्य स्युः। तस्मात् सुष्ठूच्यते-अलोन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः। इतरथा ह्यनिष्ट-

---

अन्त्य के स्थान में हो तो ङित् ही हो अन्य नहीं। ङित् को छोड़ कर शेष अनेकाल् आदेश सर्वादेश हो जायेंगे।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

षष्ठी स्थानेयोगा से स्थानेषष्ठी का ज्ञान होने पर ही अन्त्य अल् का अनुसंहार (=उपसंहार) हो। उसके साथ सम्बन्ध हो इस लिये यह सूत्र बनाया है। अन्यथा अनिष्ट प्राप्त होगा। जहां षष्ठी के स्थान-सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हुआ है वहां भी अलोन्त्यस्य इस परिभाषा के उपस्थित हो जाने से टित् कित् मित् आगम भी अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त होंगे। टित् कित् मित् में षष्ठी तो है पर वह स्थानषष्ठी नहीं, अवयव षष्ठी है।

यदि इस सूत्र को षष्ठीस्थानेयोगा का शेष भूत मान लें। अर्थात् दोनों की एकवाक्यता हो कर अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी का अन्त्य अल् के स्थान में सम्बन्ध होता है, ऐसा अर्थ करें तो कैसे हो ?

इस सूत्र को षष्ठीस्थानेयोगा का शेष मानने पर भी वही दोष है कि टित् कित् मित् भी अन्त्य अल् के अवयव प्राप्त होंगे। इट् पुक् नुम् आदि टित् कित् मित् आगम जहां कहे हैं वहां न हो कर अन्त्य अल् के अवयव होंगे। भविता यहां इट् का आगम तृच् के आदि में न हो कर अन्त्य अल् ऋ के आदि में होगा। इस लिये यही ठीक कहा है—कि जहां स्थानषष्ठी हो वहीं अन्त्य

प्रसङ्ग इति।

ङिच्च ॥१।१।५३॥

तातङ् अन्त्यस्य स्थाने कस्मान्न भवति। ङिच्चालोन्त्यस्येति प्राप्नोति।

तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद् विप्रतिषेधात् सर्वादेशः।

तातङि ङित्करणं सावकाशम्। कोऽवकाशः। गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थो ङकारः। तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद् विप्रतिषेधात् सर्वादेशो भविष्यति।

प्रयोजनं नाम तद् वक्तव्यं यन्नियोगतः स्यात्। यदि चायं नियोगतः सर्वादेशः स्यात् तत एतत् प्रयोजनं स्यात्। कुतो नु खल्वेतत् ङित्करणादयं सर्वादेशो भविष्यति न पुनरन्त्यस्य स्यादिति।

एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति न तातङ् अन्त्यस्य स्थाने भवतीति। यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोट एरुप्रकरणे एव ब्रूयात्-तिह्योस्तादा-

---

अल् का सम्बन्ध हो। अवयवषष्ठी आदि में न हो।

तातङ् आदेश ङित् होने पर भी अन्त्य के स्थान में क्यों नहीं होता ?

तातङ् में ङित् करने का प्रयोजन गुणवृद्धि का निषेध है। इस लिये वह सावकाश है। सावकाश होने से अपवाद न होगा तो विप्रतिषेध से ङिच्च को बाध कर अनेकाल् शित्सर्वस्य से सर्वादेश हो जायगा। ङिच्च की बाधा होने से अन्त्य के स्थान में नहीं होगा।

प्रयोजन वह कहना चाहिये जो नियम से हो। यदि नियम से तातङ् सर्वादेश हो सके तब तो ङित्करण का गुणवृद्धि प्रतिषेध प्रयोजन बन सके। पर यही कैसे मानें कि ङित् करने से वह सर्वादेश ही होगा। ङिच्च से अन्त्य में क्यों न हो ?

तो फिर तातङ् को ङित् करना ही इस बात का ज्ञापक है कि तातङ् अन्त्य के स्थान में न हो कर सर्वादेश होता है। अन्यथा सप्तमाध्याय प्रथमपाद के अङ्गाधिकारीय कार्यों में तुह्योस्तातङ्० यह सूत्र न बना कर तृतीयाध्याय चतुर्थपाद के लादेश प्रकरण में एरुः सूत्र के बाद तिह्योस्ताद् आशिष्यन्यतर-

---

१. अनेकाल् शित् यह उत्सर्ग है, ङिच्च यह अपवाद है। पर यहां ङित्व के अन्यार्थक होने से ङिच्च के दुर्बल हो जाने से यह अपवाद नहीं रहता।

शिष्यन्यतरस्यामिति ।

आदेः परस्य ॥१।१।५४॥

अलोन्त्यस्यादेःपरस्यानेकाल्शित्सर्वस्येत्यपवादविप्रतिषेधात् सर्वादेशः ।

अलोन्त्यस्येत्युत्सर्गः । तस्यादेःपरस्य, अनेकाल्शित्सर्वस्येत्यपवादौ । अपवादविप्रतिषेधात् सर्वादेशो भविष्यति । 'आदेः परस्ये'त्यस्यावकाशः । 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' । द्वीपम् । अन्तरीपम् । 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'त्यस्यावकाशः । 'अस्तेर्भूः' । भविता भवितुम् । इहोभयं प्राप्नोति । 'अतो भिस ऐस्' । 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'त्येतद् भवति विप्रतिषेधेन । शित्सर्वस्येत्यस्यावकाशः । इदम इश् । इतः । इह । आदेः परस्येत्यस्यावकाशः स एव । इहोभयं प्राप्नोति अष्टाभ्यऔश् । शित्सर्वस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन ।

स्याम् ऐसा सूत्र बना देते । उससे ङित् के बिना भी ति हि के अन्त्य अक्षर इकार के स्थान में तात् आदेश हो जाता । अङ्गाधिकार में सूत्र बनाना और फिर तातङ् को ङित् करना गुणवृद्धि प्रतिषेध के लिये ही है । वह सर्वादेश के बिना हो नहीं सकता इस लिये तातङ् का सर्वादेश होना सिद्ध हो जाता है ।

अलोन्त्यस्य यह उत्सर्ग सूत्र है । सामान्य सूत्र है । आदेः परस्य और अनेकाल् शित्सर्वस्य ये दोनों उसके अपवाद हैं । बाधक हैं । उन दोनों अपवादों में पर होने के कारण अनेकाल् शित्सर्वस्य यह सूत्र आदेः परस्य को बाध लेता है । जैसे—द्वीपम् । अन्तरीपम् । (द्वि-अपम्, अन्तर्-अपम्) यहां द्वि अन्तर् से परे अप शब्द के आदि अकार को ईकार करने में आदेः परस्य सावकाश है । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् से अप आदि अकार को ईकार हो कर द्वीपम् अन्तरीपम् बन जाते हैं । भविता भवितुम् यहां अस् को भू करने में अनेकाल् शित्सर्वस्य सावकाश है । अस्तेर्भूः से सारे अस् के स्थान में भू हो कर भविता भवितुम् बन जाते हैं । वृक्षैः प्लक्षैः (वृक्ष-भिस्) यहां अकारान्त वृक्ष शब्द से परे अतो भिस ऐस् से भिस् को ऐस् करने में दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं । पर होने के कारण आदेःपरस्य को बाध कर अनेकाल् शित्सर्वस्य से सारे भिस् को ऐस् हो जाता है । इतः, इह यहां इदम इश् से इदम् को इश् करने में शित् का सर्वादेश सावकाश है । आदेः परस्य का द्वीपम् अन्तरीपम् यह पूर्वोक्त उदाहरण अवकाश है । अष्टौ यहां अष्टन् से परे जस् शस् को अष्टाभ्य औश् से औश् करने में दोनों प्राप्त हैं । पर होने से शित् का सर्वादेश हो

अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥१।१।५५॥

शित्सर्वस्येति किमुदाहरणम् ?

'इदम इश्' । इतः इह ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । शित्करणादेवात्र सर्वादेशो भविष्यति ।

इदं तर्हि अष्टाभ्य औश् ।

ननु चात्रापि शित्करणादेव सर्वादेशो भविष्यति ।

इदं तर्हि 'जसः शी' । 'जश्शसोः शिः' ।

ननु चात्रापि शित्करणादेव सर्वादेशो भविष्यति ।

अस्त्यन्यच्छित्करणे प्रयोजनम् । किम् । विशेषणार्थः शकारः । क

जायगा तो सारे जस् शस् के स्थान में औश् हो कर अष्टौ बन जाता है ।

शित् का क्या उदाहरण है ?

इतः, इह यहां इदम इश् से होने वाला इश् आदेश शित् होने से सारे इदम् शब्द के स्थान में हो जाता है तो इतः इह ये रूप बन जाते हैं ।

यह कोई उदाहरण नहीं । शित्करण सामर्थ्य से इश् आदेश सारे इदम् के स्थान में हो जायगा । अन्यथा शित् करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं । इश् में इ और श् मिल कर अनेकाल् हो जायेंगे तो सर्वादेश हो जायगा ।

तो फिर अष्टाभ्य औश् यह उदाहरण लीजिये । यहां औश् आदेश शित् होने से सारे जस् शस् के स्थान में हो जाता है तो अष्टौ यह रूप बन जाता है ?

यहां भी शित्करण सामर्थ्य से औश् सर्वादेश हो जायगा । श् और औ मिल कर अनेकाल् हो जाते हैं ।

अच्छा तो जसः शी, जश्शसोः शिः ये उदाहरण लीजिये । यहां शि, शी आदेश शित् होने से सारे जस् शस् के स्थान में हो जाते हैं । तो कुण्डानि, सर्वे इत्यादि रूप बन जाते हैं ।

यहां भी शित्करण सामर्थ्य से शि शी आदेश सर्वादेश हो जायेंगे ।

यहां शित् करने का और प्रयोजन है । क्या ? विशिष्ट स्थानों में ग्रहण करने के लिये यहां शित् किया है । जिससे शि सर्वनामस्थानम्, विभाषा ङिश्योः

विशेषणार्थेनार्थः। 'शि सर्वनामस्थानम्'। 'विभाषा ङिश्योरिति'।

शित्सर्वस्येति शक्यमकर्तुम्। कथम्। अन्त्यस्यायं स्थाने भवन्न-प्रत्ययः स्यात्। असत्यां प्रत्ययसंज्ञायामित्संज्ञा न स्यात्। असत्या-मित्संज्ञायां लोपो न स्यात्। असति लोपे अनेकाल्। यदा अनेकाल् तदा सर्वादेशः। यदा सर्वादेशः तदा प्रत्ययः। यदा प्रत्ययस्तदेत्संज्ञा तदा लोपः।

एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छित्सर्वस्येत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यः

इन में शि शी शब्दों का ग्रहण हो सके। यदि शि और शी में शकार अनुबन्ध रूप विशेषण न लगाया जाय तो शि सर्वनामस्थानम् विभाषा ङिश्योः आदि में इन का ग्रहण न हो सकेगा। इस लिये इदम इश् अष्टाभ्य औश् की तरह इनका शित्करण व्यर्थ नहीं है।

जसः शी, जश्शसोः शिः इनके लिये भी सूत्र में शिद्ग्रहण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यदि जस् शस् के अन्तिम अक्षर सकार के स्थान में शि या शी आदेश करें तो वह प्रत्यय न बनेगा। पूरा जस् शस् ही प्रत्यय संज्ञक है। इस लिये सारे जस् शस् के स्थान में आदेश हो कर ही शि या शी स्थानिवद्भाव से प्रत्यय बन सकते हैं। प्रत्यय न बनने पर शकार की इत्संज्ञा न होगी। क्योंकि लशक्वतद्धिते से प्रत्यय के आदि शकार की इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञा न होने से शकार का लोप न होगा। लोप न होने से शि और शी अनेकाल् रहेंगे। जब अनेकाल् रहेंगे तब अनेकाल् कहने से ही सर्वादेश हो जायगा। जब सर्वादेश हो गया तब प्रत्यय इत्संज्ञा लोप हो कर शित् बने। इस प्रकार आनुपूर्वी से यहां अनेकाल् हो कर सर्वादेश हो जायगा क्योंकि सर्वादेश हुए बिना तो शित् ही नहीं बनता। अतः शित् ग्रहण करना व्यर्थ है। इदम इश् आदि अन्त्य शितों में तो शित्करण सामर्थ्य से अनेकाल् हो कर सर्वादेश हो जायगा और जसः शी आदि के आदि शितों में आनुपूर्वी से अनेकाल् हो कर सर्वादेश हो जायगा।

तो फिर अनेकाल् से ही सिद्ध होने पर सूत्र में जो शित् ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् यह परिभाषा होती है। इस परिभाषा का अर्थ है कि अनुबन्ध का किया हुआ अनेकाल्त्व नहीं होता। अर्थात् अनुबन्ध के कारण आदेश अनेकाल् नहीं माना जाता। तो इश् आदि आदेश शकार अनुबन्ध के कारण अनेकाल् न होंगे। उनमें सर्वादेश

भवत्येषा परिभाषा नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। तत्रासरूपसर्वादेशदाप्प्रतिषेधेषु पृथग् निर्देशोऽनाकारान्तत्वा-

के लिये शित्ग्रहण करना चाहिये। आदि शकार वाले जसः शी आदि में तो सर्वादेश होने से पहले शकार अनुबन्ध ही नहीं बना इस लिये वे इस परिभाषा के विषय नहीं होंगे।[1] वहां तो आनुपूर्वी से शी अनेकाल् है। अनेकाल् होने से सर्वादेश हो कर फिर शित् बनता है। जिस प्रकार डा णल् आदि आदेश आनुपूर्वी से अनेकाल् हैं। सर्वादेश हो कर ही वे भी अनुबन्ध वाले बनते हैं इस लिये वहां भी नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हां, अर्वणस्त्रसावनञः, दिव औत्, इदम इश् इत्यादि अन्त्य इत्संज्ञक तृ औत् इश् आदि, अनुबन्ध के कारण अनेकाल् नहीं माने जायेंगे तो सर्वादेश न हो कर अन्त्य के स्थान में होते हैं। इस परिभाषा के ज्ञापन करने से यह लाभ होगा कि तस्य लोपः सूत्र पर कहा गया तत्रासरूपसर्वादेशदाप्प्रतिषेधेषु पृथग् निर्देशोऽनाकारान्तत्वात् यह वार्तिक नहीं कहना पडेगा। इसका अर्थ है—अनुबन्धों को एकान्त मानने पर असरूप विषय में दोष होता है। कर्मण्यण्, आतोनुपसर्गे कः यहां क और अण् प्रत्यय ककार णकार अनुबन्ध के कारण असरूप (असमान रूप वाले) हो जायेंगे तो वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् इस सूत्र से क विषय में अण् भी प्राप्त होगा। दिव औत् यहां तकार अनुबन्ध के कारण औत् अनेकाल् हो जायगा तो अनेकाल्शित् सर्वस्य से दिव् के स्थान में सर्वादेश प्राप्त होगा। दाधा घ्वदाप् यहां घुसंज्ञा में दाप् के साथ दैप् का भी निषेध करने के

१. यहां प्राचीन काशिकाकार आदि वैयाकरण लोग शित् का उदाहरण जश्शसोः शिः जसः शी कुण्डानि सर्वे यह देते हैं वह अन्त्यस्यायं स्थाने भवन्न प्रत्ययः स्यात् इत्यादि भाष्यकार के वचन से विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य है। जसः शी आदि में तो अनेकाल् होने से सर्वादेश होगा न कि शित् होने से। सर्वादेश होने से पूर्व शित् ही नहीं वनता यह उक्त आनुपूर्वी से स्पष्ट है। डा, णल् आदि आदेश जो शिद् भिन्न हैं वे भी आनुपूर्वी से अनेकाल् हो कर सर्वादेश होते हैं। इसी लिये सिद्धान्तकौमुदीकार ने सर्वे की सिद्धि में अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः ऐसा लिखा है। शित्त्वात् नहीं लिखा। इस विषय में उद्द्योतकार नागेश तो भ्रान्त ही प्रतीत होते हैं जो यह लिखते हैं कि नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर जसः शी आदि में भी शित्त्वात् ही सर्वादेश मानना चाहिये। अनेकाल्त्वात् नहीं। अति गम्भीर भाष्याशय को समझने वाले सर्वमान्य विद्वान् का ऐसा लिखना विस्मयनीय है।

दित्युक्तं तन्न वक्तव्यं भवति।

लिये दैप् का पृथक् ग्रहण करना होगा क्योंकि दैप् में पकार अनुबन्ध है उसके कारण वह एजन्त न होगा तो आदेच उप० से आत्व न होने से आकारान्त दाप् रूप न बन सकेगा। इन सब दोषों का समाधान क्रमशः नानुबन्धकृतमसारूप्यम्, नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्, नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् इन परिभाषाओं से हो जायगा। इन तीनों परिभाषाओं में नानुबन्धकृतमानेकाल्त्वम् का तो शित् ग्रहण ही ज्ञापक है। नानुबन्धकृतमसारूप्यम् का ददातिदधात्योर्विभाषा में विभाषा ग्रहण ज्ञापक है। नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् का उदीचामाङो व्यतीहारे में मेङ् के स्थान में माङ् निर्देश ज्ञापक है।

सप्तम आह्निक का अनुवाद समाप्त ॥

अष्टम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५६॥ इस सूत्र से ले कर द्विर्वचनेऽचि ॥१।१।५९॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधानसहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५६॥

१. सूत्र का पदकृत्य दिखा कर उसके बनाने का प्रयोजन बताया है।

२. शास्त्रीय ज्ञापकों से सूत्र का खण्डन करके उसकी सत्ता में भी अनल्विधि ग्रहण का विशेष प्रयोजन बताते हुए सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः इस परिभाषा की निवृत्ति द्वारा सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश होता है यह सिद्ध किया है।

३. स्थानी सम्बन्धी अल्विधि में ही स्थानिवद्भाव का निषेध होता है आदेश सम्बन्धी अल्विधि में नहीं होता यह बताया है।

४. एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति इस परिभाषा द्वारा एकदेशविकृतस्योप-संख्यानम् इस वार्तिक का समाधान करने में प्राप्त शब्दानित्यत्व दोष दिखा कर अनल्विधिग्रहण सामर्थ्य से या आदेश ग्रहण सामर्थ्य से उक्त वार्तिक का खण्डन किया है।

५. नित्यशब्दवाद में स्थान्यादेश भाव की अनुपपत्ति दिखा कर बुद्धिविपरिणाम-मात्र ही स्थानिवद्भाव है यह सिद्ध किया है।

६. बुद्धिविपरिणाममात्र स्थानिवद्भाव मानने पर अपवाद में उत्सर्ग के कार्य की प्राप्ति का निराकरण किया है।

७. अन्त में स्थानिवत्सूत्र के दोष दिखा कर उन सब का समाधान किया है।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥१।१।५७॥

१. सूत्र का पदकृत्य दिखा कर विधिग्रहण का प्रयोजन बताया ह।

२. पूर्वविधि शब्द में पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः इस प्रकार पञ्चमीसमास भी माना है और उसके प्रयोजन बताये हैं।

३. आदेश के समान निमित्त से पूर्व को होने वाली विधि भी पूर्वविधि मान कर अपरविधि या स्वविधि में स्थानिवद्भाव के प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि दिखाई है और पट्व्या, मृद्व्या की सिद्धि की है।

४. विधि शब्द को भावसाधन तथा कर्मसाधन दोनों प्रकार का स्वीकार कर के सूत्र के प्रयोजन बताये हैं।

५. असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इस परिभाषा को लोकव्यवहार से सिद्ध कर के स्वीकार किया है।

६. स्थानी अर्थात् अनादिष्ट अच् से पूर्व को विधि भी पूर्वविधि मान कर वैयाकरणः, सौवश्वः में स्थानिवद्भाव का अभाव सिद्ध किया है।

७. वाय्वोः, अध्वर्य्वोः में स्वाश्रयप्राप्त यलोप के समाधान के लिये कथित असिद्धवचनात् सिद्धम् इस वार्तिक का खण्डन कर के स्थानिवद्भाव में भावाभावातिदेश माना है। जो कार्य स्थानी में होते हैं वे आदेश में भी स्थानिवद्भाव से हो जावें यह भावातिदेश है। और जो कार्य स्थानी में नहीं होते वे आदेश में भी स्थानिवद्भाव से न हों यह अभावातिदेश है।

८. स्थानी या आदेश से अव्यवहित पूर्व की विधि में ही स्थानिवद्भाव न मान कर पूर्वमात्र की विधि में स्थानिवद्भाव माना है।

९. एकादेश के उपसंख्यान का खण्डन कर के हल् और अच् दोनों के स्थान में हुए आदेश में स्थानिवद्भाव का खण्डन किया है।

१०. जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण किया है या जिसमें नहीं किया है अर्थात् जो शास्त्रीय या अशास्त्रीय कार्य हैं उन दोनों में ही स्थानिवद्भाव होता है यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥१।१।५८॥

१. पदान्तविधि में प्राप्त दोष का समाधान कर के विधि शब्द की भावसाधनता तथा कर्मसाधनता के गुणदोष का विवेचन किया है।

२. वरेयलोपविधि में वरे अयलोपविधि ऐसा प्रश्लेष मान कर वरच् परे रहते अवर्णलोप तथा यलोप विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध सिद्ध किया है।

३. स्वर दीर्घ यलोप विधियों में लोप रूप अजादेश करने में ही स्थानिवद्भाव का निषेध माना है, लोप से भिन्न अन्य अजादेश में नहीं।

४. क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् इस वाक्य की सोदाहरण व्याख्या की है।

५. पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या कर के उसका अपवाद तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु यह वार्तिक स्वीकार किया है।

द्विर्वचनेऽचि ॥१।१।५९॥

१. सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव में कार्यातिदेश न मान कर रूपातिदेश माना है। साथ ही अधिजगे में प्राप्त दोष का समाधान किया है।

२. द्विर्वचन शब्द में एकशेष मान कर उसके दो अर्थ किये हैं। एक द्वित्व का निमित्त अच्। दूसरा द्वित्व करना। पहले अर्थ में अच् का विशेषण द्विर्वचन होता है तो सूत्र का अर्थ होगा—द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते द्वित्व करने में अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् होता है। पक्षान्तर में स्थानिवत् न मान कर न पदान्त० इस पूर्वसूत्र में 'न' की अनुवृत्ति मानी है तो सूत्र का अर्थ होगा—द्वित्वनिमित्तक अच परे रहते द्वित्व करने में द्वित्व से पूर्व अच् के स्थान में आदेश नहीं होता। ऐसा मान कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपम् इस वार्तिक का खण्डन किया है।

३. ओः पुयण्ज्यपरे इस ज्ञापक से णिच् को भी द्वित्व का निमित्त मान कर उसके परे रहते स्थानिवद्भाव स्वीकार किया है।

४. सूत्र का प्रयोजन बता कर द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनोरुत्वेभ्यः इस पूर्वविप्रतिषेध सूचक वचन से इस सूत्र की अन्यथा सिद्धि का खण्डन किया है। अन्त में उस पूर्वविप्रतिषेध वचन की अपेक्षा स्थानिवद्भाव विधायक इस सूत्र को ही अधिक उचित स्वीकार किया है।

अथाष्टममाह्निकम्

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५६॥

वत्करणं किमर्थम् ?

स्थान्यादेशोऽनल्विधावितीयत्युच्यमाने संज्ञाधिकारोऽयं तत्र स्थानी आदेशस्य संज्ञा स्यात् ।

तत्र को दोषः ?

आङो यमहनः आत्मनेपदं भवतीति वधेरेव स्यात्, हन्तेर्न स्यात् । वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । स्थानिकार्यमादेशोऽतिदिश्यते । गुरुवद् गुरुपुत्रे इति यथा ।

स्थानिवत् में वत् किस लिये किया है ?

स्थान्यादेशोऽनल्विधौ इतना सूत्र होने पर वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः आदि की तरह यहां भी संज्ञा का अधिकार (प्रस्ताव, प्रकरण) मान कर स्थानी आदेश की संज्ञा समझी जायगी ।

आदेश की स्थानी संज्ञा मानने में क्या दोष होगा ?

आङो यमहनः इस सूत्र से होने वाला आत्मनेपद हन् के स्थान में हुए वध आदेश से ही हो सकेगा, हन् से न हो सकेगा । क्योंकि संज्ञा विधिवाक्यों में संज्ञी को उपस्थित कर के स्वयं निवृत्त हो जायगी । हन् संज्ञा वध संज्ञी की उपस्थिति कर देगी तो केवल वध से ही आत्मनेपद प्राप्त होगा । वत् करने पर तो यह दोष नहीं होता । वहां हन् और वध दोनों से आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है । स्थानिवत् करने से आदेश को स्थानी की तरह मान कर उसमें स्थानी के कार्य किये जाते हैं । आदेश को स्थानी नहीं माना जाता । जैसे गुरु के पुत्र को गुरु की तरह मान कर उसमें गुरु के कार्य किये जाते हैं पर उसे गुरु नहीं माना जाता ।[1]

---

१. इससे सिद्ध हुआ कि वत् करण के विना यह सूत्र संज्ञासूत्र हो जाता है । वत् करने पर संज्ञासूत्र न हो कर यह अतिदेश सूत्र हो जायगा । एक के तुल्य दूसरे को मान कर कार्य करना अतिदेश कहाता है । निमित्त, व्यपदेश, तादात्म्य,

अथादेशग्रहणं किमर्थम् ?

स्थानिवदनल्विधावितीयत्युच्यमाने क इदानीं स्थानिवत् स्यात् ?

यः स्थाने भवति ।

कश्च स्थाने भवति ?

आदेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आदेशमात्रं स्थानिवद् यथा स्यात् । एकदेश-

---

आदेश ग्रहण किस लिये किया है ?

स्थानिवदनल्विधौ इतना सूत्र होने पर कौन स्थानिवत् होगा ?

जो स्थान में हुआ करता है ।

कौन स्थान में हुआ करता है ।

आदेश स्थान में हुआ करता है इस लिये आदेश ग्रहण किये विना भी आदेश ही स्थानिवत् समझा जायगा ।

तब तो आदेश ग्रहण का यह प्रयोजन है कि आदेशमात्र अर्थात् प्रत्येक आदेश चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अनुमानगम्य सब स्थानिवत् हो जावे इस लिये आदेश ग्रहण किया है । उससे एकदेशविकृतस्योपसंख्यानम् यह आगे कहे जाने वाला वचन नहीं कहना होगा । इस वचन का अर्थ है कि जो आदेश एकदेश से विकृत हैं अर्थात् जहां स्थानी के एकदेश में उसके अवयव में विकार हुआ है, सम्पूर्ण स्थानी को आदेश नहीं हुआ वहां भी स्थानिवत् कहना चाहिये । जैसे— पचतु यहां पच् धातु से लोट् लकार में ति के एकदेश (अवयव) इकार के स्थान में

शब्द, रूप, कार्य तथा अर्थ के भेद से अतिदेश ७ प्रकार के होते हैं । उनमें यह सूत्र कार्यातिदेश है । इससे आदेश को स्थानी के तुल्य मान कर स्थानी के कार्य आदेश में किये जाते हैं । बहुगणवतुडति संख्या में तो वत् के विना भी संख्या शब्द को अन्वर्थ मान कर संख्यावत् इस प्रकार अतिदेश माना गया है । गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्, असंयोगाल्लिट् कित् यहां ङित् कित् में भी वत् के विना ही अतिदेश समझा जाता है । वहां न क्त्वा सेट् सूत्र से क्त्वा को कित्त्व का निषेध करना ही ज्ञापक है कि ङित् कित् ये अतिदेश हैं, संज्ञा नहीं । अन्यथा क्त्वा की कित् संज्ञा कहीं भी विहित न होने से उसका निषेध करना व्यर्थ है । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च इस तृतीयाध्याय के सूत्र में तो संज्ञा प्रकरण न होने से अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह की तरह विना वति के भी लिड्वत् यह अतिदेश समझा जाता है ।

विकृतस्योपसंख्यानं चोदयिष्यति तन्न वक्तव्यं भवति।

अथ विधिग्रहणं किमर्थम्?

सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विज्ञायेत। अलः परस्य विधिः अल्विधिः। अलो विधिः अल्विधिः। अलि विधिः अल्विधिः। अला

एरुः से उकार आदेश रूप विकार हुआ है। वह सम्पूर्ण ति के स्थान में तु-रूप न होने से एकदेशविकृत है। यदि एरुः की बजाय तेस्तुः कहते तो सम्पूर्ण स्थानी को आदेश होता। एरुः कहने से स्थानी के एकदेश में आदेश है। चूँकि इकार स्थानी को कोई ऐसा कार्य प्राप्त नहीं जिसका उकार आदेश में अतिदेश किया जाय, इसलिये इकार से इकारान्त स्थानी अनुमित होता है और उकार से उकारान्त आदेश। इस आनुमानिक आदेश को भी स्थानिवत् हो जायगा। तो पचतु के तिङन्त होने से उसकी पदसंज्ञा हो जाती है। यह आदेश ग्रहण का प्रयोजन है।

विधिग्रहण किस लिये किया है?

जिससे अल[1] शब्द का विधिशब्द के साथ सब विभक्तियों वाला अभीष्ट समास समझ लिया जावे इस लिये विधिग्रहण किया है। जैसे अलः परस्य विधिः अल्विधिः। यहां पञ्चमी समास है। इसका अर्थ है—अल से परे होने वाला कार्य। अलः विधिः अल् विधिः = अल् के स्थान में होने वाला कार्य। यहां षष्ठी समास है। अलि विधिः अल् विधिः = अल् परे रहते होने वाला कार्य। यहां सप्तमी समास है। अला विधिः अल् विधिः = अल् के निमित्त से होने वाला कार्य। यहां तृतीया समास है। इन सबको अल् विधि मान कर स्थानिवत् का निषेध होता है। अलः परस्य विधिः जैसे—द्यौः पन्थाः सः। यहां द्यौः में दिव् के वकार के स्थान में हुए औकार को स्थानिवद्भाव से वकार मान कर उससे परे हल्ङ्याप्० सूत्र से सु का लोप प्राप्त होता है। अल् से परे विधि होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो सु का लोप नहीं होता। इसी प्रकार पन्थाः में पथिन् के नकार के स्थान में हुए आकार को स्थानिवद्भाव से नकार मान कर उससे परे हल्ङ्याप० सूत्र से सु का लोप प्राप्त होता है। सः में तद् शब्द के दकार के स्थान में हुए अकार को

---

१. अल् का अर्थ केवल एक वर्ण है जो कि प्रत्याहार सूत्रों में अ इ उण् के अकार से ले कर हल् के लकार तक पढ़े गये हैं वे सब अलग २ अल् कहाते हैं। अल् समुदाय अल् नहीं होता। जैसे इ अल् है। इट् अल् नहीं है। क्योंकि वह वर्णसमुदाय अलों में नहीं पढ़ा गया। अल् सम्बन्धी विधि को अल्विधि कहते हैं। उसमें स्थानिवत् नहीं होता।

विधिः अल्विधिरिति।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम्। प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या।

स्थानिवद्भाव से दकार मान कर उससे परे हल्ङ्याप्० से सु का लोप प्राप्त होता है। अल् से परे विधि होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो सु का लोप नहीं होता। अलः विधिः, जैसे—द्युकामः। (दिवि कामो यस्य सः) यहां दिव् शब्द के वकार के स्थान में हुए उकार को स्थानिवद्भाव से वकार मान कर कामः शब्द का ककार वल् परे रहते लोपो व्योर्वलि से वकार का लोप प्राप्त होता है। अल् के स्थान में विधि होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो वकार लोप नहीं होता। अलि विधिः, जैसे—क इष्टः (कस्, यज्-क्त) यहां यज् धातु से क्त प्रत्यय में सम्प्रसारण हो कर इष्टः रूप बनता है। यज् के यकार के स्थान में हुए इकार को स्थानिवद्भाव से यकार मान कर उसके परे रहते हशि च से कस् के सकार स्थानीय रु को उत्व प्राप्त होता है। अल् परे रहते विधि होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो उत्व नहीं होता। अला विधिः, जैसे—महोरस्केन। (महत् उरः यस्य सः तेन) यहां उरः के विसर्गस्थानीय सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मान कर वह अयोगवाह हो जाता है। अयोगवाहों का अटों में पाठ है। तो विसर्गरूप अट् का व्यवधान होने से अट्कुप्वाङ्० सूत्र से न को ण प्राप्त होता है। अल् से होने वाली विधि होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो अड्व्यवाय न होने के कारण न को ण नहीं होता।

विधि ग्रहण का यह कोई प्रयोजन नहीं। विधि ग्रहण के अभाव में अनल् इस शब्द को सुबन्त न मान कर प्रातिपदिक का निर्देश समझेंगे। और प्रातिपदिक के निर्देश में सभी अर्थों की प्रधानता होती है। वे किसी विभक्ति विशेष के अर्थ का मुख्यतया आश्रयण नहीं करते। उनसे सामान्यतया सभी विभक्तियों का अर्थ निकाला जा सकता है, उस अवस्था में सर्वविभक्ति साधारण प्रातिपदिक के अर्थ निर्देश में जिस २ विभक्ति के अर्थ के आश्रयण का विचार होगा वही २ विभक्ति उस प्रातिपदिक से आगे विहित समझ ली जायगी। इस प्रकार विधिग्रहण के विना भी अल् शब्द से अल् सम्बन्धी उक्त सभी विधियों में स्थानिवद्भाव का निषेध सिद्ध हो जायगा।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। उत्तरपदलोपो यथा विज्ञायेत। अलमाश्रयते अलाश्रयः।[1] अलाश्रयो विधिः अल्विधिरिति। यत्र प्राधान्येनालाश्रीयते तत्रैव प्रतिषेधः स्यात्। यत्र विशेषणत्वेनालाश्रीयते तत्र प्रतिषेधो न स्यात्। किं प्रयोजनम्। प्रदीव्य प्रसीव्येति। वलादिलक्षण इट् मा भूदिति।

अच्छा तो विधिग्रहण का यह प्रयोजन है कि अल् के साथ विधि लगने पर दो पद हो जायेंगे। उसमें अल् आश्रयो यस्य सः अलाश्रयः। अलाश्रयो विधिः अल्विधिः इस॰ प्रकार उत्तरपद आश्रय शब्द का लोप समझा जायगा। अर्थ होगा—जो विधि किसी भी प्रकार के अल् का आश्रयण करती है चाहे प्रधान रूप से या विशेषण रूप से वह सब अल्विधि होगी, उसमें स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। विधिग्रहण के अभाव में केवल अल् इतने में आश्रय शब्द का लोप नहीं संभावित हो सकता इस लिये अनल् इतना सूत्र होने पर जहां प्रधान रूप से अल् की विधि है वहीं स्थानिवद्भाव का निषेध हो सकेगा। जहां किसी के विशेषण बने हुए अल् की विधि है वहां स्थानिवद्भाव का निषेध न हो सकेगा। इष्ट है कि वहां भी स्थानिवद्भाव का निषेध हो। इस लिये विधिग्रहण करना चाहिये। भाष्य में यत्र प्राधान्येन॰ से पूर्व इतरथा का प्रयोग अपनी तरफ से समझ लेना चाहिये। इतरथा यत्र प्राधान्येनालाश्रीयते तत्रैव॰ इत्यादि। इतरथा = विधिग्रहण के अभाव में। जैसे प्रदीव्य प्रसीव्य यहां प्रपूर्वक दिव् सिव् धातुओं से परे क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हुआ है। उसमें स्थानिवद्भाव से क्त्वा प्रत्यय का वलादित्व मान कर आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् प्राप्त होता है। इट् करने वाले सूत्र में प्रधानतया अल् का आश्रयण नहीं है। वहां वलादेः यह आर्धधातुक का विशेषण है। आर्धधातुक विशेष्य है। और वल् रूप अल् गौण है अथवा विशेषण है। विधिग्रहण करने से गौण रूप में अल् का आश्रयण करने वाली विधि भी अल् विधि मान ली जायगी तो प्रदीव्य प्रसीव्य में इट् के अल् विधि होने से अनल्विधौ यह निषेध लग जायगा उससे स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर इट् नहीं होगा।

---

१. अलमाश्रयते अलाश्रयः इस प्रकार कहते हुए भाष्यकार का तात्पर्य उपपदसमास से नहीं है। अपितु अल् के आश्रयण करने रूप अर्थ का प्रदर्शनमात्र है। जो अल् का आश्रयण करने वाली विधि है वह अल्विधि यहां लेनी चाहिये ऐसा भाष्यकार का आशय है। उपपदसमास में तो कर्मण्यण् हो कर अलाश्रायः रूप बनेगा। इस लिये पहले कर्म कारक में एरच् कर के आश्रीयते इत्याश्रयः यह बनेगा। फिर अल् का आश्रय के साथ बहुव्रीहि समास हो कर अल् आश्रयो यस्य स अलाश्रयः

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

स्थान्यादेशपृथक्त्वादादेशे स्थानिवदनुदेशो गुरुवद् गुरुपुत्रे इति यथा ।

अन्यः स्थानी अन्य आदेशः । स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात् कारणात् स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोति । तत्र को दोषः । 'आङो यमहन' इत्यात्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्याद् वधेर्न स्यात् । इष्यते च वधेरपि स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तस्मात् स्थानिवदनुदेशः । एवमर्थमिदमुच्यते । गुरुवद् गुरुपुत्रे इति यथा । तद्यथा गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति गुरौ यत् कार्यं तद् गुरुपुत्रे अतिदिश्यते । एवमिहापि स्थानिकार्यमादेशे अतिदिश्यते ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । लोकत एतत् सिद्धम् । तद्यथा लोके यो यस्य प्रसङ्गे भवति लभतेऽसौ तत्कार्याणि । तद्यथा उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा अग्रासनादीनि लभते ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ।

स्थानी और है आदेश और है । स्थानी और आदेश के अलग २ होने से स्थानी का कार्य आदेश में नहीं प्राप्त होता ।[1] उसमें क्या दोष है ? आङो यमहनः से कहा गया आत्मनेपद हन् से ही हो सकेगा वध से न हो सकेगा । इष्ट है वध से भी हो । यह बात विना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये स्थानिवदादेशोनल्विधौ यह सूत्र बनाया है । जैसे गुरु के पुत्र में गुरु की तरह वरतना चाहिये ऐसा कहने पर गुरु के कार्य गुरु पुत्र में किये जाते हैं वैसे स्थानिवत् कहने से स्थानी के कार्य आदेश में किये जाते हैं ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । लोक से यह बात सिद्ध है कि जो जिसकी जगह होता है वह उसके कार्य करता है । जैसे उपाध्याय का शिष्य उसकी अनुपस्थिति में उसकी जगह यजमानों के घर पर जा कर अग्र आसन आदि प्राप्त करता है ।

ऐसा होगा । अलाश्रय शब्द का विधि शब्द के साथ कर्मधारय समास हो कर उत्तरपद आश्रय का लोप हो जायगा तो अल्विधिः यह रूप बन जायगा ।

१. स्थानी के स्वरूपाश्रित कार्य आदेश के रूप भिन्न होने से आदेश में नहीं प्राप्त होते ।

यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तः। दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारम्भो निवर्तको भवति।

अस्ति चेह कश्चित् पुरुषारम्भः ?

अस्तीत्याह।

कः।

स्वरूपविधिर्नाम। हन्तेरात्मनेपदमुच्यमानं हन्तेरेव स्यात् बधेर्न स्यात्।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स्थानिवदादेशो भवतीति। यदयं 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यादेशे प्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। युष्मदस्मदोर्विभक्तौ कार्यमुच्यमानं कः प्रसङ्गो यदादेशेपि स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो यत् स्थानिवदादेशो भवतीति अत आदेशे प्रतिषेधं शास्ति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। अनल्विधाविति प्रतिषेधं वक्ष्यामीति। इह

यद्यपि लोक में यह दृष्टान्त है तो भी लौकिक दृष्टान्त की भी पुरुषारम्भ यत्न विशेष से बाधा हो जाती है।

यहां कोई यत्न विशेष है ?

है।

कौन सा ?

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा यह संज्ञा सूत्र। इस संज्ञा-सूत्र रूप यत्न विशेष से आङो यमहनः में हन् के स्वरूप का ग्रहण हो कर केवल हन् से ही आत्मनेपद प्राप्त होता है वध से नहीं।

अच्छा तो आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि आदेश स्थानिवत् होता है। युष्मदस्मदोरनादेशे सूत्र में अनादेशे कह कर आदेश वाली विभक्ति में जो युष्मद् अस्मद् को आत्व का निषेध किया है उससे पता लगता है कि आदेश में स्थानी के कार्य होते हैं। अन्यथा आदेश के विभक्ति न होने से वहां आत्व का क्या प्रसङ्ग है। आदेश में आत्व प्राप्त ही नहीं तो निषेध करना व्यर्थ है।

फिर भी अल् विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध करने के लिये स्थानिवत्सूत्र की आवश्यकता है। जैसे—द्यौः पन्थाः सः यहां क्रम से दिव् पथिन् तद् शब्द के हल् वकार नकार दकार के स्थान में हुए औकार आकार अकार आदेश को

मा भूत् । द्यौः पन्थाः स इति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-अल्विधौ स्थानिवद्भावो न भवतीति । यदयमदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति इति ति किती त्येव सिद्धे ल्यब्ग्रहणं करोति । तस्मान्नार्थोऽनेन योगेन ।

आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे ।

अल्विधौ प्रतिषेधेऽविशेषणेऽप्राप्तिस्तस्यादर्शनात् ।

अल्विधौ प्रतिषेधेऽसत्यपि विशेषणे समाश्रीयमाणे असति तस्मिन् विशेषणे अप्राप्तिर्विधेः । प्रदीव्य प्रसीव्य । किं कारणम् । तस्यादर्शनात् ।

स्थानिवद्भाव से हल् मान कर हल्ङ्याप्० सूत्र से सु का लोप प्राप्त होता है। अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से नहीं होता ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। आचार्य के व्यवहार से ही अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध भी सिद्ध है। अदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति इस सूत्र में ति किति से सिद्ध होने पर जो ल्यप् ग्रहण किया है उससे पता लगता है कि अल् विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता। अन्यथा प्रजग्ध्य (प्र अद्-क्त्वा-ल्यप्) यहां प्र पूर्वक अद् धातु से परे क्त्वा के स्थान में हुए ल्यप् आदेश में स्थानिवद्भाव से तकारादि कित्व आ जायगा तो ति किति से ही ल्यप् में भी अद् को जग्धि आदेश सिद्ध हो जाने पर ल्यप् ग्रहण व्यर्थ है। किन्तु आचार्य देखते हैं कि स्थानिवद्भाव से ल्यप् में क्त्वा के प्रत्ययत्व कृत्त्व अव्ययत्व आदि अल्-भिन्न धर्मों का अतिदेश तो हो सकता है पर तकारादित्व कित्त्व आदि अल्-सम्बन्धी धर्मों का अतिदेश नहीं हो सकता इस लिये ति किति के होते हुए भी ल्यप् ग्रहण करते हैं। इससे अल्विधि में स्थानिवद्भाव का न होना सिद्ध होता है। इस प्रकार शास्त्रीय ज्ञापकों द्वारा अनल्विधि में स्थानिवद्भाव सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ है। इसकी आवश्यकता नहीं।[1]

इस सूत्र के बनाने पर भी अनल्विधौ यह अंश तो फिर भी न रखना चाहिये। क्योंकि अनल्विधौ के न रहने पर भी सूत्र में कहे हुए विशेषण के लक्ष्य में न होने से उस सूत्र की उस लक्ष्य में प्राप्ति ही नहीं है। जैसे आर्धधातुकस्येड् वलादेः इस सूत्र में वलादि विशेषण लगा कर आर्धधातुक को इट् कहा है। प्रदीव्य प्रसीव्य

---

१ इस प्रकार भाष्यकार ने शास्त्रोक्त ज्ञापकों से स्थानिवत्सूत्र को अन्यथा सिद्ध करके इस का प्रत्याख्यान कर दिया है।

वलादेरित्युच्यते। न चात्र वलादिं पश्यामः।

ननु चैवमर्थ एवायं यत्नः क्रियते—अन्यस्य कार्यमुच्यमानमन्यस्य यथा स्यादिति।

सत्यमेवमर्थो, न तु प्राप्नोति। किं कारणम्।

सामान्यातिदेशे हि विशेषानतिदेशः।

सामान्ये ह्यतिदिश्यमाने विशेषो नातिदिष्टो भवति। तद्यथा ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमिति। सामान्यं यद् ब्राह्मणकार्यं तत् क्षत्रियेऽतिदिश्यते। यद् विशिष्टं माठरे कौण्डिन्ये वा न तदतिदिश्यते। एवमिहापि यत् सामान्यं प्रत्ययकार्यं तदतिदिश्यते यद् विशिष्टं वलादेरिति

आदि लक्ष्यों में ल्यप् वलादि[1] नहीं, तो वहां इट् की प्राप्ति ही नहीं होगी। ल्यप् को तन्निमित्तक इट् होगा उसके लिये अनल्विधौ ग्रहण कर के अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध करने की आवश्यकता क्या है।

इसी लिये तो स्थानिवत्सूत्र बना कर यह यत्न किया जा रहा है कि अन्य को कहा हुआ कार्य अन्य को हो जाय। क्त्वा को कहा हुआ कार्य ल्यप् को हो जाय। अर्थात् स्थानिवद्भाव द्वारा क्त्वा का वलादित्व ल्यप् में आ जायगा, और ल्यप् को तन्निमित्तक इट् होगा।

ठीक है इसी लिये यह यत्न किया जा रहा है, फिर भी प्रदीव्य प्रसीव्य में इडागम नहीं प्राप्त होता। क्योंकि सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः इस परिभाषा द्वारा सामान्य धर्म के अतिदेश में विशेष धर्म का अतिदेश नहीं हुआ करता। जैसे इस क्षत्रिय में ब्राह्मण की तरह बरतना चाहिये ऐसा कहने पर सामान्य ब्राह्मण की तरह उस क्षत्रिय में वरता जाता है। जो विशेष माठर या कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण है उसकी तरह नहीं बरता जाता। इसी प्रकार यहां ल्यप् में क्त्वा के जो सामान्य धर्म हैं कृत्त्व, प्रत्ययत्व, अव्ययत्व आदि उनका स्थानिवद्भाव से अतिदेश हो जायगा पर तकारादित्व या वलादित्व जो विशेष धर्म हैं उनका अतिदेश

---

१. क्त्वा केवल भी होता है, इडादि भी होता है, क्त्वा में वलादित्व के होने पर भी उसे अविवक्षित मान कर उसका आश्रयण न होने से स्थानिवद्भाव से भी ल्यप् में वलादित्व नहीं आयगा, स्वरूप से तो है ही नहीं ऐसा अभिप्राय है।

न तदतिदिश्यते ।

यद्येवमग्रहीत्, इट ईटीति सिचो लोपो न प्राप्नोति । अनल्विधाविति पुनरुच्यमाने इहापि प्रतिषेधो भविष्यति प्रदीव्य प्रसीव्येति । विशिष्टं ह्येषोऽलमाश्रयते वलं नाम । इह च प्रतिषेधो न भविष्यति अग्रहीदिति । विशिष्टं ह्येषोऽनलमाश्रयते इटं नाम ।

न होगा तो इडागम न होगा । इस लिये अनल्विधौ ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

यदि सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः इस परिभाषा को मान कर अनल्विधौ का खण्डन करेंगे तो अग्रहीत् (ग्रह्-इट् सिच् ईट् तिप् लुङ्) यहां ग्रहोऽलिटि दीर्घः से इट् को दीर्घ करने पर इट् से परे ईट् न होने से इट ईटि से सिच् का लोप नहीं प्राप्त होगा । क्योंकि दीर्घ हुए इट् में स्थानिवद्भाव से सामान्य धर्म इकार का ही अतिदेश होगा । इट् इस विशेष धर्म का नहीं । यदि सूत्र में अनल्विधि ग्रहण कर के सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश मान लेते हैं तो अग्रहीत् में इट् के अल्भिन्न विशिष्ट शब्द होने से अल्विधि न होगी । उससे स्थानिवद्भाव से इट् मान कर इट ईटि से सिच् का लोप सिद्ध हो जायगा । और प्रदीव्य प्रसीव्य में वल् के विशिष्ट अल् होने से अल्विधि हो जायगी तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर ल्यप् के वलादि न होने से इट् न होगा । इस लिये सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश होता है इस बात का ज्ञापन करने के लिये सूत्र में अनल्विधि ग्रहण करना चाहिये ।[1]

---

१. कित् ङित् आदि अनुबन्ध तो स्थानी में अविद्यमान होते हुए ही कार्य के साधक होते हैं इस सिद्धान्त के आधार पर वे अल् नहीं माने जायेंगे तो अनल्विधौ यह निषेध अनुबन्धों में नहीं लगेगा । उससे क्त्वा का कित्त्व स्थानिवद्भाव से ल्यप् में आ जायगा तो प्रदीव्य प्रसीव्य में लघूपधगुण का क्ङिति च से निषेध सिद्ध हो जायगा । क्त्वा का तकारादित्व तो अनुबन्ध नहीं है बल्कि विशिष्ट अल् है इस लिये वह स्थानिवद्भाव से नहीं आयगा तो इट् न होगा । इसी लिये न ल्यपि यह ईत्वनिषेध-विधायक सूत्र चरितार्थ होता है । अन्यथा अनुबन्ध के अल् होने से क्त्वा का कित्त्व ल्यप् में न आयगा तो प्रदाय विहाय इत्यादि में कित् परे न होने से घुमास्थागापा० से ईत्व प्राप्त ही नहीं । उसके लिये निषेध करना व्यर्थ है । यही निषेध इस बात का ज्ञापक है कि अनुबन्धों को अल् नहीं माना जाता । वैसे हलः श्नः शानज्झौ यहां श्ना के स्थान में हुए शानच् को शित् करना यह भी सिद्ध करता है कि कहीं २ अनुबन्धों को अल् भी मान लिया

यदि तर्हि सामान्यमप्यतिदिश्यते विशेषश्च।

सत्याश्रये विधिरिष्टः।

सति च वलादित्वे इटा भवितव्यम्। अरुदिताम्। अरुदितम्। अरुदित।

किमतो यत् सति भवितव्यम्।

प्रतिषेधस्तु प्राप्नोत्यल्विधित्वात्।

प्रतिषेधस्तु प्राप्नोति। किं कारणम्। अल्विधित्वात्। अल्विधिरयं भवति। तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

न वानुदेशिकस्य प्रतिषेधादितरेण भावः।

नवा एष दोषः। किं कारणम्। आनुदेशिकस्य प्रतिषेधात्।

अनल्विधिग्रहण करके यदि सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश मानेंगे और आश्रय होने पर अर्थात् वलादि निमित्त विद्यमान होने पर अरुदिताम् अरुदितम् अरुदित (रुद्-लङ् तस् थस् थ) इत्यादि में इट् आदि की विधि इष्ट मानेंगे तो जो निमित्त होने पर होना है वह कैसे होगा? वलादि होने पर इट् होना है (वह वलादित्व बनता नहीं)।

क्यों? इसमें आपको क्या है। वलादि निमित्त होने पर इट् की विधि इष्ट होनी ही चाहिये।

इसमें यही है कि अरुदिताम् आदि में वलादिनिमित्त होने पर इट् विधि इष्ट तो है पर उसमें अनल्विधौ यह निषेध प्राप्त होता है। अरुदिताम्, अरुदितम् में तस् थस् के स्थान में हुए ताम् तम् आदेश में स्थानिवद्भाव से प्राप्त विशिष्ट वलादित्व धर्म का अल्विधि होने से निषेध हो जायगा तो रुदादिभ्यः सार्वधातुके से वलादि सार्वधातुक को विधीयमान इट् का आगम न हो सकेगा।

यह कोई दोष नहीं। अरुदिताम्, अरुदितम् यहां ताम् तम् में आनुदेशिक अर्थात् तस् थस् रूप स्थानियों से अतिदेश से प्राप्त होने वाले वलादित्व का अनल्विधौ से निषेध हो जावे। तो भी स्वाश्रय अर्थात् अपना ताम् तम् आदेश

जाता है। श्ना का शकार अनुबन्ध अल् होने से स्थानिवद्भाव द्वारा शानच् में नहीं आ सकता था तभी शानच् को शित् किया है। लक्ष्यानुरोध से ये दोनों पक्ष व्यवस्थित हैं। तात्पर्य यह है कि ल्यप् में क्त्वा का कित्व आवे या न आवे तकारादित्व तो सर्वथा अल् होने से कदापि नहीं आ सकता।

अस्त्वत्रानुदेशिकस्य वलादित्वस्य प्रतिषेधः। स्वाश्रयमत्र वलादित्वं भविष्यति।

नैतद् विवदामहे वलादिर्नवलादिरिति। किं तर्हि? स्थानिवद्-भावात् सार्वधातुकत्वमेषितव्यम्। तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

किं पुनरादेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेधो भवति। आहोस्विदविशेषेण। आदेशे चादेशिनि च।

कश्चात्र विशेषः।

आदेश्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिबां गुणवृद्धिप्रतिषेधः।

आदेशिन्यलविधिप्रतिषेधे कुरुवधपिवां गुणवृद्धयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। कुरु इत्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वम्।

का वलादित्व होने से इडागम हो जायगा। आनुदेशिक = स्थानी सम्बन्धी, अतिदेश-लभ्य। इतरेण= दूसरे अर्थात् आदेश से।

अरुदिताम्, अरुदितम् में ताम् तम् के वलादि होने न होने का विवाद नहीं है अपितु ताम् तम् को इट् करने के लिये उसमें सार्वधातुक धर्म लाना तो स्थानिवद्भाव से अवश्य एष्टव्य है। विना सार्वधातुक हुए वलादि होने पर भी ताम् तम् को इट् नहीं हो सकता। उस सामान्य सार्वधातुकत्व धर्म के साथ विशेष वलादित्व का भी अतिदेश करना आवश्यक होगा क्योंकि वलादि सार्वधातुक को इट् होता है उसमें वल् के अल्विधि होने से स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त होता है। सार्वधातुकसम्बद्ध आतिदेशिक वलादित्व न हो सकने से इट् नहीं प्राप्त होता।

तो फिर पहले यही विचार कर लें कि अनल्विधौ यह निषेध क्या आदेशिनि अलि = स्थानी सम्बन्धी अल् में ही लगता है या अविशेषेण = सामान्यतया स्थानी और आदेश सम्बन्धी सभी अल् में लगता है।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है? क्योंकि—

यदि स्थानी सम्बन्धी अल् में ही अनल्विधौ से स्थानिवद्भाव का निषेध होता है आदेश सम्बन्धी अल् में नहीं होता तो कुरु, वधक, पिब में प्राप्त गुण वृद्धि का निषेध कहना होगा। कुरु (कृ-उ-लोट् सिप्) यहां अङ्गसंज्ञक कृ के स्थान में सार्वधातुक गुण और अत उत्सार्वधातुके से अकार को उकार हो कर कुर्

तत्र लघूपधगुणः प्राप्नोति। वधक इत्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं चादुपधत्वं तत्र वृद्धिः प्राप्नोति। पिबेत्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वम्। तत्र लघूपधगुणः प्राप्नोति।

अस्तु तर्ह्यविशेषेण आदेशे आदेशिनि च।

आदेश्यादेश इति चेत् सुप्तिङ्कृदतिदिष्टेषूपसंख्यानम्।

आदेश्यादेशे इति चेत् सुप्तिङ्कृदतिदिष्टेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्।

यह लघूपध हो जाता है। कृ के स्थान में हुए कुर् शब्द की अङ्गसंज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव हो कर अङ्गसंज्ञा हो जायगी तो कुर् के स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल् रूप लघु उकार उपधा वाला होने से पुगन्त-लघूपधस्य च सूत्र से लघूपधगुण प्राप्त होता है। उसका निषेध कहना होगा। वधकः यहां हन्-ण्वुल् इस अवस्था में अङ्गसंज्ञक हन् के स्थान में बहुलं तणि इस वार्तिक से हलन्त वधादेश पक्ष में वध् यह आदेश होता है। हन् के स्थान में हुए वध् की अङ्गसंज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव हो जायगा तो वध् अङ्ग बन जायगा। वध् के स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल् रूप ह्रस्व अकार उपधा वाला होने से अत उपधायाः से वृद्धि प्राप्त होती है उसका निषेध कहना होगा पिब यहां (पा शप् लोट् सिप्) इस अवस्था में अङ्गसंज्ञक पा के स्थान में पाघ्राध्मा० से हलन्त पिबादेश पक्ष में पिब् यह आदेश होता है। पिब् की अङ्गसंज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव हो कर अङ्गसंज्ञा हो जायगी तो पिब् के स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल्रूप लघु इकार उपधा वाला होने से पुगन्त० से लघूपधगुण प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा।[1]

अच्छा तो सामान्यतया स्थानी और आदेश सम्बन्धी सभी अल् में अनल्विधौ यह निषेध मान लेवें।

स्थानी या आदेश सम्बन्धी सभी अल् में अनल्विधौ यह निषेध मानेंगे तो सुप्, तिङ् और कृत् के आदेशों में स्थानिवद्भाव कहना होगा। सुप् जैसे—वृक्षाय। प्लक्षाय (वृक्ष, प्लक्ष-ङे)। यहां सुप्संज्ञक ङे के स्थान में ङेर्यः से य आदेश होता है। य आदेश की सुप् संज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव

---

१. कुरु आदि उक्त उदाहरणों में स्थानी सम्बन्धी अल् नहीं है। आदेश अल् तो है। आदेश सम्बन्धी अल् में अनल्विधौ निषेध नहीं लगेगा तो स्थानिवद्भाव हो कर उक्त दोष प्राप्त होते हैं।

सुप्, वृक्षाय प्लक्षाय। स्थानिवद्भावात् सुप्संज्ञा। स्वाश्रयं च यञादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति। सुप्। तिङ्, अरुदिताम्। अरुदितम्। अरुदित। स्थानिवद्भावात् सार्वधातुकसंज्ञा। स्वाश्रयं च वलादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति। तिङ्। कृदतिदिष्टम्, भुवनम्। सुवनम्। धुवनम्। स्थानिवद्भावात् प्रत्ययसंज्ञा। स्वाश्रयं चाजादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

आदेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेध इत्येतदेव ज्यायः। कुत एतत्।

हो कर सुप् संज्ञा हो जायगी किन्तु य आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल् रूप यञादित्व होने से और दीर्घविधि में यञ् का आश्रयण होने से दीर्घविधि के अल्विधि होने से अनल्विधौ यह निषेध लग जायगा तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर य आदेश सुप् न होगा। उससे सुपि च से दीर्घ नहीं प्राप्त होता। तिङ् जैसे—अरुदिताम्। अरुदितम्। (रुद्, लङ्, तस्, थस्) यहां सार्वधातुकसंज्ञक तस् थस् के स्थान में ताम् तम् आदेश होते हैं। ताम् तम् की सार्वधातुकसंज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव हो कर सार्वधातुकसंज्ञा हो जायगी किन्तु ताम् तम् में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल् रूप वलादित्व होने से इड्विधि के अल्विधि होने से अनल्विधौ यह निषेध लग जायगा तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर ताम् तम् सार्वधातुकसंज्ञक न होंगे। उससे रुदादिभ्यः सार्वधातुके से इट् का आगम नहीं प्राप्त होता। कृत् जैसे—भुवनम्। सुवनम्। धुवनम्। (भू सू धू-क्यु) यहां कृत्संज्ञक औणादिक क्यु प्रत्यय के स्थान में युवोरनाकौ से अन आदेश होता है। अन आदेश की कृत्संज्ञा करने में स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से स्थानिवद्भाव हो जायगा तो 'अन' आदेश कृत्संज्ञक बन जायगा। किन्तु अन आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अल् रूप अजादित्व होने से अनल्विधौ यह निषेध लग जायगा तो स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर अन आदेश कृत्संज्ञक या प्रत्ययसंज्ञक न होगा। उससे अचि श्नुधातुभ्रुवां॰ से उवङ् नहीं प्राप्त होता।

उक्त दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष मानना अधिक अच्छा है ?

स्थानी सम्बन्धी अल् में ही अनल्विधौ यह निषेध लगता है आदेश सम्बन्धी अल् में नहीं लगता यही मानना अधिक अच्छा है। क्योंकि स्थानी के जो कार्य आदेश में स्वतः प्राप्त नहीं उन्हीं विशिष्ट स्थानी सम्बन्धी कार्यों का स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ इस अतिदेश सूत्र द्वारा आचार्य अतिदेश करते हैं। तो प्रत्यासत्ति से अल् सम्बन्धी कार्य भी स्थानी के ही आदेश में अतिदिष्ट प्राप्त

यथा ह्ययं विशिष्टं[1] स्थानिकार्यमादेशोऽतिदिशति गुरुवद् गुरुपुत्रे इति यथा। तद्यथा गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्चेति। यदि च गुरुपुत्रोपि गुरुर्भवति तदपि कर्त्तव्यं भवति।

अस्तु तर्हि आदेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेधः।

ननु चोक्तमादेश्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिवां गुणवृद्धिप्रतिषेध इति।

नैष दोषः। करोतौ तपरनिर्देशात् सिद्धम्। पिबिरदन्तः। वधक

होते हैं। अनल्विधौ से उन्हीं स्थानी सम्बन्धी अल् कार्यों का निषेध होगा। आदेश सम्बन्धी अल् कार्यों का नहीं होगा। जैसे गुरु के पुत्र में गुरु के समान बरतते हुए गुरु सम्बन्धी उच्छिष्ट भोजन और पादोपसंग्रहण (गुरु के पैर छूना) इन कार्यों को छोड़ कर गुरु पुत्र में बरता जाता है। स्थानी के जो धर्म आदेश में स्वतः सिद्ध हैं उनके लिये स्थानिवत्० इस अतिदेश की आवश्यकता नहीं। अरुदिताम्, अरुदितम् में स्वतः वलादित्व होने से उसके लिये तो अतिदेश की आकाङ्क्षा है नहीं। केवल सार्वधातुकत्व लाने के लिये स्थानिवत् अतिदेश किया जायगा। उसके अल्विधि न होने से स्थानिवत् हो जायगा तो इट् ङित् हो जायगा। इसी प्रकार वृक्षाय आदि में आदेश के स्वाश्रय अल् कार्य होने पर भी स्थानी सम्बन्धी अल् न होने से दोष न होगा। गुरु के समान गुरुपुत्र में वर्तना चाहिये इस दृष्टान्त में भी यह बात विशेष है कि गुरुपुत्र भी यदि गुरु हो तो उसका उच्छिष्ट भोजन तथा पादोपसंग्रहण भी किया जाता है।[2]

अच्छा तो स्थानी सम्बन्धी अल् में अनल्विधौ यह निषेध मान लीजिये।

स्थानी सम्बन्धी अल् में अनल्विधौ यह निषेध मानने पर जो कुरु वधक पिब में गुणवृद्धि प्रतिषेध कथन रूप दोष दिया था उसका क्या समाधान है?

यह कोई दोष नहीं। कुरु में तो अत उत्सार्वधातुके यहां उत् में उकार

---

१. जो स्वरूप से आदेश में प्राप्त नहीं होता उसकी प्राप्ति के लिये आदेश को अतिदेश की आकाङ्क्षा होती है स्थानिवत् इति। अनल्विधौ यह प्रतिषेध भी अतिदेश का अङ्ग है, तो युक्त ही है कि स्थानि-सम्बन्धि-अल् आश्रित करके प्राप्त होने वाले कार्य में प्रवृत्त हो।

२. गुरुवत् इस अतिदेश से प्राप्त हुए उच्छिष्ट भोजनादि का तो निषेध किया जाता है, पर अपने स्वरूप स्थित गुरुत्व से जो उच्छिष्ट भोजन आदि प्राप्त है उसका निषेध नहीं होगा।

इति नायं ण्वुल् । अन्योऽयमकशब्दः किदौणादिकः । रुचक इति यथा ।

एकदेशविकृतस्योपसंख्यानम् ।

एकदेशविकृतस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । पचतु पचन्तु इति । तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् ।

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् सिद्धम् ।

एकदेशविकृतमनन्यवद् भवतीति तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं भविष्यति । तद्यथा श्वा कर्णे पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति । नाश्वो न गर्दभ इति ।

अनित्यविज्ञानं तु ।

अनित्यविज्ञानं तु भवति । नित्याः शब्दाः । नित्येषु च नाम

को तपर करने से गुण न होगा। क्योंकि वहां विना तपर के भी ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार सिद्ध है। फिर तपर का प्रयोजन यही है कि ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार ही रहे। गुण आदि द्वारा विकृत न हो। पिब में पिबादेश को हलन्त न मान कर पिव इस प्रकार अदन्त मानेंगे तो लघूपध न होने से गुण न होगा। वधकः में हन् से ण्वुल् न मान कर औणादिक् क्वुन् प्रत्यय मानेंगे तो कित् होने से उपधा वृद्धि न होगी। जैसे रुचकः (रुच्-क्वुन्) में क्वुन् के कित् होने से लघूपध गुण नहीं होता।

एकदेश में विकाररूप आदेश को स्थानिवत् कहना चाहियं। जो आदेश सम्पूर्ण स्थानी को न हो कर उसके एकदेश = अवयव को होता है वह भी स्थानिवत् होता है ऐसा कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है ? जिससे पचतु पचन्तु (पच्-लोट् तिप्, झि) यहां पच् धातु से लोट् लकार में तिप् के एकदेश इकार के स्थान में एरुः से उकार आदेश होता है। उसे स्थानिवद्भाव से तिङ् मान कर पदसंज्ञा हो सके।

एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति इस परिभाषा को मानने पर उक्त दोष नहीं होगा। इस परिभाषा का अर्थ है—कि एकदेश में विकार होने पर भी वस्तु अन्य नहीं होती वही रहती है। उससे पचतु पचन्तु में उकार को तिङ् मान कर पदसंज्ञा हो जायगी। जैसे कुत्ता कान या पूंछ कट जाने पर भी कुत्ता ही रहता है घोड़ा या गधा नहीं बन जाता। वैसे तिप् के एकदेश इकार को उकार होने पर भी वह ति शब्द ही समझा जायगा। ति शब्द को तुशब्द आदेश समझ कर पदसंज्ञा हो जायगी।

यदि तिप् के एकदेश इकार में उकार रूप विकार कर के उसे ति शब्द समझा

शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। तत्र स एवायं विकृतश्चेत्येतन्नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। तस्मादुपसंख्यानं कर्तव्यम्। भारद्वाजीयाः पठन्ति—

एकदेशविकृतेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्।

किं प्रयोजनम्। पचतु पचन्तु। तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात्।

किं च कारणं न स्यात्?

अनादेशत्वात्।

आदेशः स्थानिवदित्युच्यते। न चेमे आदेशाः।

रूपान्यत्वाच्च।

अन्यत् खल्वपि रूपं पचतीति, अन्यत् पचत्विति।

इमेऽप्यादेशाः। कथम्। आदिश्यते यः स आदेशः। इमेऽप्यादिश्यन्ते।

जायगा तो वह अनित्य हो जायगा। हम शब्दों को नित्य मानते हैं। नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचलित तथा नाश, वृद्धि, विकार रहित होना चाहिये। यदि इकार में विकार होने पर भी वही ति शब्द है तो यह बात नित्य शब्दों में नहीं बनती। इस लिये उपसंख्यान द्वारा स्थानिवद्भाव कह देना चाहिये उससे ति शब्द के स्थान में तु शब्द आदेश समझ कर अनित्यता न होगी। इसी बात को भारद्वाजीय लोग इस प्रकार कहते हैं कि एकदेश में विकार वाले शब्दों को स्थानिवत् कहना चाहिये। जिससे पचतु पचन्तु में उकार को स्थानिवद्भाव से तिङ् मान कर पदसंज्ञा हो सके।

क्या कारण है जो पचतु पचन्तु में तिङन्त मान कर पदसंज्ञा नहीं हो सकती?

आदेश को स्थानिवत् कहा है। पचतु पचन्तु ये आदेश नहीं हैं। क्योंकि सम्पूर्ण ति शब्द के स्थान में उकार नहीं हुआ है। और पचति तथा पचतु के रूप में भी भेद है। पचति और है पचतु और। इस लिये पचतु पचन्तु में स्थानिवद्भाव न होने से तिङन्त मान कर पदसंज्ञा नहीं हो सकती।

ये भी तो आदेश हैं। तिप् के अवयव इकार के स्थान में होने से उकार भी आदेश है। क्योंकि जो किसी के स्थान में होता है वही आदेश कहाता है। स्थान में होने से ये भी आदेश हैं।

आदेशः स्थानिवदिति चेन्नानाश्रितत्वात् ।

आदेशः स्थानिवदिति चेत् तन्न । किं कारणम् । अनाश्रितत्वात् । योत्रादेशो नासावाश्रीयते । यश्चाश्रीयते नासावादेशः ।

नैतन्मन्तव्यं समुदाये आश्रीयमाणेऽवयवो नाश्रीयते इति । अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयवः । तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति ।

आश्रय इति चेदल्विधिप्रसङ्गः ।

आश्रय इति चेदल्विधिरयं भवति । तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । नैवं सति कश्चिदनल्विधिः स्यात् । उच्यते चेदमनल्विधाविति । तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते साधीयो योऽल्विधिरिति । कश्च

यदि इन्हें भी आदेश मानेंगे तो बात नहीं बनती । क्योंकि जो आदेश है अर्थात् उकार, वह पदसंज्ञा में लिया नहीं गया । और जो लिया गया है अर्थात् ति को तु, वह आदेश नहीं हुआ ।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि समुदाय के लिये जाने पर उसका अवयव नहीं लिया जाता । जब कि अवयव, समुदाय के अन्दर ही विद्यमान होता है । जैसे वृक्ष हिलता हुआ अपने अवयव शाखा पल्लवादि के साथ ही हिलता है इसी प्रकार तिप् इस समुदाय का पदसंज्ञा में आश्रयण के समान उसका अवयव इकार भी ले लिया जायगा ।

यदि ति के अवयव इकार को भी ति के समान पदसंज्ञा का आश्रय अथवा निमित्त मानेंगे तो इकार के अल् होने से पदसंज्ञा भी अल्विधि हो जायगी । उसमें स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त हो कर पचतु पचन्तु की पदसंज्ञा न हो सकेगी ।

यह कोई दोष नहीं । इस प्रकार तो कोई भी अनल्विधि न होगा । अनल् के साथ स्वतः प्राप्त अल् को ले कर कोई भी अल्विधि होने से न बच सकेगा । सभी अल्विधि हो जायेंगे । और सूत्र में अनल्विधौ कहा है । उससे अल्विधि शब्द में विशिष्ट अल्विधि का ग्रहण हो कर उसी अल्विधि का निषेध समझा जायगा जो साधीयः बहुत ठीक वस्तुतः अल्विधि होगी । वस्तुतः कौन अल्विधि है ? जहां मुख्य रूप से साक्षात् अल् का ही आश्रयण किया है । जहां तो नान्तरीयक

साधीयः। यत्र प्राधान्येनाल् आश्रीयते। यत्र हि नान्तरीयकोऽल् आश्रीयते नासावल्विधिरिति। अथवोक्तमादेशग्रहणस्य प्रयोजनम् आदेशमात्रं स्थानिवद् यथा स्यादिति।

अनुपपन्नं स्थान्यादेशत्वं नित्यत्वात्।

स्थानी आदेश इति नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। किं कारणम्। नित्यत्वात्। स्थानी हि नाम भूत्वा यो न भवति। आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति। एतच्च नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते यत् सतो नाम विनाशः स्यात् असतो वा प्रादुर्भाव इति।

सिद्धं तु यथा लौकिकवैदिकेष्वभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दप्रयोगात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। यथा लौकिकवैदिकेषु कृतान्तेषु अभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दप्रयोगो वर्तते। लोके तावदुपाध्यायस्य स्थाने शिष्य

साक्षादनुपदिष्ट, अनल् के साथ स्वतः प्राप्त अनुमीयमान अल् की विधि है वह अल्विधि नहीं होगी। इससे इकार के स्थान में उकार हो कर भी ति के अनल्विधि होने से स्थानिवद्भाव हो जायगा तो पचतु पचन्तु को तिङन्त मान कर पदसंज्ञा हो जायगी। अथवा आदेश ग्रहण का प्रयोजन पहले कह चुके हैं कि आदेश मात्र में चाहे वह प्रत्यक्ष हो, सम्पूर्ण स्थानी को हुआ हो या अनुमानगम्य हो, स्थानी के एकादेश में हुआ हो सबमें स्थानिवद्भाव हो जावे। उससे पचतु पचन्तु में आनुमानिक ति के स्थान में तु आदेश को भी स्थानिवत् हो कर पदसंज्ञा हो जायगी। इस लिये एकदेशविकृतस्योपसंख्यानम् इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं।

शब्दों को नित्य मानते हुए किसी का स्थानी या आदेश होना ठीक नहीं बनता। क्योंकि स्थानी वह है जो पहले हो कर पीछे न रहे। आदेश वह है जो पहले न हो कर पीछे हो जावे। विद्यमान का नाश और अविद्यमान की उत्पत्ति ये दोनों बातें नित्य शब्दों में नहीं बनतीं।

लोक वेद के व्यवहार में स्थान शब्द का प्रयोग अभूतपूर्व (पहले न विद्यमान) अर्थ में भी होने से यह दोष न होगा। लौकिकेषु वैदिकेषु = लोक और वेद में होने वाले। कृतान्तेषु = सिद्धांतों में, व्यवहारों में। लोक में व्यवहार जैसे—उपाध्याय के पहले विद्यमान न होने पर भी उपाध्याय के स्थान में शिष्य काम करे ऐसा प्रयोग होता है। वहां उपाध्याय पहले हो कर पीछे न रहता हो यह बात नहीं है। उपाध्याय वहां हटाया नहीं जाता बल्कि कहने का एक ढंग है कि जहां

इत्युच्यते। न च तत्रोपाध्यायो भूतपूर्वो भवति। वेदेपि। सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते। न च तत्र सोमो भूतपूर्वो भवति।

कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम्।

अथवा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेतत्।

किमिदं कार्यविपरिणामादिति।

कार्या बुद्धिः सा विपरिणस्यते।

ननु च कार्याविपरिणामादिति भवितव्यम्।

सन्ति चैवोत्तरपदिकानि ह्रस्वानि। अपि च बुद्धिः सम्प्रत्यय

उपाध्याय काम करता था वहां उसके अभाव में अब शिष्य काम करे। वेद में भी जैसे—सोमलता के अभाव में उसके न मिलने पर सोमलता के स्थान में पूतीक नामक घास विशेष का अभिषव करे ऐसा प्रयोग होता है। वहां सोमलता हटायी नहीं जाती वल्कि कहने का एक ढंग है कि जहां सोमलता से अभिषव होता था वहां उसके अभाव में पूतीक से कर लेवे। इससे यह आवश्यक नहीं है कि पहले हो कर पीछे न होने वाले अर्थ में ही स्थान शब्द का प्रयोग होता है। जहां भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग होता है वहां उक्त उदाहरणों द्वारा अभूतपूर्व अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है इस लिये शब्द अनित्य नहीं होंगे। नित्य ही रहेंगे।

अथवा कार्य का = बुद्धि का विपरिणाम होना ही स्थानी या आदेश समझा जायगा तो शब्द अनित्य न होंगे। बुद्धि का परिवर्तन मात्र ही स्थानी-आदेश-भाव है। शब्द उसी प्रकार व्यवस्थित रहते हैं केवल हमारी बुद्धि ही स्थानी या आदेश रूप से परिवर्तित होती है।

यह कार्य विपरिणामात् क्या है ?

कार्याया विपरिणामात् कार्यविपरिणामात्। कार्या बुद्धि का नाम है। उसके विपरिणाम को परिवर्तन को कार्यविपरिणाम कहते हैं। उससे हेतु में पञ्चमी हो कर कार्यविपरिणामात् ऐसा बनता है।

फिर तो कार्याविपरिणामात् ऐसा होना चाहिये। कार्यविपरिणामात् कैसे हुआ ?

ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् इस सूत्र में बहुल ग्रहण से औत्तरपदिक (उत्तर पद परे रहते) ह्रस्व हो कर कार्यविपरिणामात् बन जायगा। अथवा बुद्धि और सम्प्रत्यय (ज्ञान) ये दोनों अनर्थान्तर हैं। एक ही अर्थ के वाचक हैं। क्रिया-

इत्यनर्थान्तरम् । कार्या बुद्धिः । कार्यः सम्प्रत्ययः । कार्यस्य सम्प्रत्ययस्य विपरिणामः कार्यविपरिणामः कार्यविपरिणामादिति ।

परिहारान्तरमेवेदं मत्वा पठितम् ।

कथं चेदं परिहारान्तरं स्यात् ।

यदि भूतपूर्वे स्थानशब्दो वर्तते ।

भूतपूर्वे चापि स्थानशब्दो वर्तते । कथम् । बुद्धया । तद्यथा कश्चित् कंचिदुपदिशति प्राचोनं ग्रामादाम्रा इति । तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता । ततः पश्चादाह ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति । स तत्राम्रबुद्धया न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते । स ततः पश्यति बुद्धया आम्रांश्चाप-

---

निष्पन्न होने से बुद्धि कार्या है। सम्प्रत्यय कार्य है। उनमें पुंलिङ्ग सम्प्रत्यय शब्द का समानाधिकरण कार्य शब्द मान कर कार्यस्य सम्प्रत्ययस्य विपरिणामः कार्यविपरिणामः तस्मात् कार्यविपरिणामात् यह निर्देश बन जायगा। दोनों में अर्थ समान है । बुद्धिविपरिणाम मात्र ही स्थान्यादेशभाव है और कुछ नहीं ।

आपने कार्यविपरिमाणाद्वा सिद्धम् यह समाधान दूसरा मान कर किया है। वा कहने से यही भाव निकलता है कि पहले समाधान के अतिरिक्त यह दूसरा समाधान भी है ।

यह समाधान दूसरा किस प्रकार बन सकता है ।

यदि स्थान शब्द का प्रयोग भूतपूर्व अर्थ में भी मान लें। पहला समाधान तो अभूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर किया गया था अब कार्य-विपरिणामाद्वा यह दूसरा समाधान भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर होना चाहिये।

भूतपूर्व अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग होता है । कैसे ? बुद्धि से । क्योंकि किसी को हटा कर उसके स्थान में किसी को करना यह सब बुद्धि का ही परिणाम है। शब्द परिणत नहीं होते बल्कि बुद्धि ही परिणत होती है। जैसे कोई किसी से कहता है कि गांव से पूर्व की ओर आम के वृक्ष हैं। यह सुन कर वह सब वृक्षों को आम समझने लगता है। फिर उसे वह कहता है कि जो दूध वाले नीचे को उतरी हुई शाखाओं वाले और चोड़े पत्ते वाले हैं वे वड़ के वृक्ष हैं। यह सुन कर आमों का ख्याल छोड़ देता है[1] वड़ के वृक्षों का

---

१. भाष्य में आम्रबुद्धया यह षष्ठयन्त है, अनन्तरम् यहां अध्याहार्य है।

कृष्यमाणान् न्यग्रोधांश्चोपधीयमानान्। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्राः नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणस्यते। एवमिहाप्यस्तिरस्माय विशेषेणोपदिष्टस्तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सोऽस्तेर्भूरित्यनेनास्तिबुद्धया भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्धया अस्ति चापकृष्यमाणं भवतिं चोपधीयमानम्। नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिः, नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणस्यते।

अपवादप्रसङ्गस्तु स्थानिवत्त्वात्।

अपवादे उत्सर्गकृतं च प्राप्नोति। कर्मण्यण्, आतोनुपसर्गे क इति केपि अण्कृतं प्राप्नोति। किं कारणम्। स्थानिवत्त्वात्।

उक्तं वा।

किमुक्तम्। 'विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धमि'ति। अथवा

ख्याल करने लगता है। तब उसे आम हटते हुए और वड़ उनके स्थान में संनिहित हुए प्रतीत होते हैं। वस्तुतः आम अपनी जगह और वड़ अपनी जगह नित्य अवस्थित हैं। न आम हटते हैं और न वड़ आते हैं। केवल उसकी बुद्धि बदलती जाती है[1]। वैसे यहां भी अस् धातु के सामान्य उपदेश से इस अध्येता को सब जगह अस् का ही ख्याल होने लगता है। अस्तेर्भूः से अस् के स्थान में भू कहने से अस् का ख्याल छूट कर भू का ख्याल हो जाता है। उसकी बुद्धि में अस् हटता हुआ और भू उपस्थित हुआ अनुभव होता है। वस्तुतः अस और भू अपने २ विषय में अवस्थित ही हैं। केवल बुद्धि के परिवर्तित होने से स्थानी या आदेश प्रतीत होते हैं।

यदि बुद्धि परिवर्तन मात्र ही स्थानिवद्भाव है तो अपवाद सूत्र के कार्य में उत्सर्ग सूत्र का कार्य भी प्राप्त होता है। जैसे कर्मण्यण् यह उत्सर्ग सूत्र है। आतोऽनुपसर्गे कः इसका अपवाद है। उत्सर्ग अण् प्रत्यय की बुद्धि में अपवाद क प्रत्यय के बुद्धिपरिवर्तन को स्थानिवद्भाव मान कर अस्तेर्भूः की तरह क प्रत्यय में भी अण् का कार्य होना चाहिये।

अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता इस विषय में पहले अ इ उण्

---

१. वस्तुतः अपकर्ष (हटाना) तथा उपधान (लगाना) यह बुद्धि के धर्म हैं, ये बुद्धि में होते हैं, वृक्षों में इनका आरोप हो जाता है। इसी प्रकार बुद्धि में ही उत्पत्ति और विनाश तथा स्थान्यादेश भाव हैं, शब्दों में उसका आरोप होता है।

सिद्धं तु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिवद्वचनात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशः स्थानिवदिति वक्तव्यम् ।

तत्तर्हि षष्ठीनिर्दिष्टग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते ।

क्व प्रकृतम् ?

षष्ठी स्थानेयोगेति । अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नापवादे उत्सर्गकृतं भवतीति यदयं श्यन्नादीन् कांश्चित् शितः करोति । श्यन् श्नम् श्ना शः श्नुरिति ।

सूत्र के भाष्य में कह चुके हैं—विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम् । उससे सूत्रों में अलग २ ण् क ट् आदि अनुबन्ध रूप लिङ्ग लगाने से क प्रत्यय में अण् का कार्य नहीं होगा । अथवा षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिवत् ऐसा कह कर जहां षष्ठी विभक्ति का निर्देश होगा वहीं स्थानिवद्भाव होता है ऐसा मानेंगे । उससे आतोनुपसर्गे कः इत्यादि प्रत्यय विधि में षष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो क में अण् का कार्य नहीं प्राप्त होगा ।

तो फिर इस सूत्र में षष्ठीनिर्दिष्ट का ग्रहण कर देना चाहिये ।

ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । ऊपर से अनुवृत्ति कर लेंगे ।

कहां से अनुवृत्ति करेंगे ।

षष्ठी स्थानेयोगा से षष्ठी की अनुवृत्ति करेंगे । उससे षष्ठी विभक्ति के निर्देश में ही आदेश स्थानिवत् होगा अन्यत्र नहीं । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता । उन्होंने शप् के अपवाद श्यन् श्नम् श्ना श श्नु आदि में जो शित् किया है उससे यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा उत्सर्ग शप् प्रत्यय का शित्त्व श्यन् आदि में स्थानिवद्भाव से आ ही जाता तो श्यन् आदि को शित् करना व्यर्थ है ।[1]

---

१. इसी प्रकार गापोष्टक् में क प्रत्यय के अपवाद टक् प्रत्यय का कित्त्व भी इस बात का ज्ञापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता । अन्यथा क प्रत्यय का कित्त्व टक् में आ ही जाता तो फिर टक् को कित्त्व करना व्यर्थ है । यद्यपि षष्ठीनिर्दिष्ट में ही स्थान्यादेश भाव मानने पर नाभि नभं च, विश्रवण रवण इत्यादि में षष्ठी का निर्देश न होने से नाभि के स्थान में नभ- आदेश तथा विश्रवस्

तस्य दोषस्तयादेश उभयप्रतिषेधः।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः। तयादेशे उभयप्रतिषेधो वक्तव्यः। उभये देवमनुष्याः। तयपो ग्रहणेन ग्रहणाद् जसि विभाषा प्राप्नोति।

नैष दोषः। अयच् प्रत्ययान्तरम्।

यदि प्रत्ययान्तरम्, उभयी इति ईकारो न प्राप्नोति।

मा भूदेवम्। मात्रच इत्येवं भविष्यति। कथम्। मात्रजिति नेदं प्रत्ययग्रहणम्। किं तर्हि। प्रत्याहारग्रहणम्। क संनिविष्टानां प्रत्याहारः। मात्रशब्दात् प्रभृति आ अयचश्चकारात्।

अब स्थानिवत्सूत्र के दोष गिनाते हैं। तयप् के आदेश में उभय शब्द का प्रतिषेध कहना होगा। उभये देवमनुष्याः यहां उभ शब्द से परे तयप् के के स्थान में उभादुदात्तो नित्यम् से अयच् आदेश हो कर उभय शब्द बनता है। अयच् आदेश को इस सूत्र से स्थानिवत् मान कर तयप् समझा जायगा तो उभय से जस् परे रहते प्रथमचरमतयाल्पार्ध० सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का विकल्प प्राप्त होता है। सर्वादीनि सर्वनामानि से नित्य सर्वनामसंज्ञा इष्ट है।

यह कोई दोष नहीं। उभय शब्द में तयप् को अयच् आदेश न मान कर स्वतन्त्र अयच् प्रत्यय मानेंगे। उस अवस्था में स्थानिवद्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मानेंगे तो उभयी में तयप् न होने से टिड्ढाणञ्० से ङीप् नहीं प्राप्त होता।

उभयी में तयप् न होने के कारण ङीप् न हो, किन्तु मात्रच् होने के कारण ङीप् हो जायगा। क्योंकि मात्रच् को प्रत्यय न मान कर प्रत्याहार मानेंगे। प्रत्याहार कहां से कहां तक होगा? प्रमाणे द्वयसज् दघ्नञ् मात्रचः के मात्र शब्द से ले कर

के स्थान में विश्रवण रवण ये आदेश नहीं प्राप्त होते तो भी नाभि नभं च यहां नाभि यह षष्ठी के अर्थ में सौत्र प्रथमा समझनी चाहिये। विश्रवण रवण तो विश्रवस् के स्थान में आदेश न मान कर स्वतन्त्र शब्दान्तर मान लिये जायेंगे। क्योंकि शिवादिगण में स्वतन्त्र ही पढ़े गये हैं। जिस प्रकार वैदूर्य शब्द में विदूर यह शब्दान्तर माना जाता है। वालवाय के स्थान में विदूर आदेश नहीं है। आदेश मानने पर तो वहां भी षष्ठीनिर्देश आवश्यक है। इस विषय में सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र भाष्य में शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते इस पर टि० भी द्रष्टव्य है।

यदि प्रत्याहारग्रहणं, कति तिष्ठन्ति अत्रापि प्राप्नोति।

अत इति वर्तते।

एवमपि तैलमात्रा, घृतमात्रा अत्रापि प्राप्नोति।

सदृशस्याप्यसंनिविष्टस्य न भवति प्रत्याहारग्रहणेन ग्रहणम्।

जात्याख्यायां बहुवचनातिदेशे स्थानिवद्भावप्रतिषेधः।

जात्याख्यायां बहुवचनातिदेशे स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। व्रीहिभ्य आगत इत्यत्र घेर्ङिति इति गुणः प्राप्नोति।

नैष दोषः। उक्तमेतत्—अर्थातिदेशात् सिद्धमिति।

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज् वा यहां अयच् के चकार तक।

यदि मात्रच् को प्रत्याहार मानेंगे तो कति तिष्ठन्ति यहां कति (किम्—डति) में डति प्रत्यय के मात्रच् प्रत्याहार में आ जाने से यहां भी टिड्ढाणञ्० से ङीप् प्राप्त होगा।

टिड्ढाणञ्० में अजाद्यतष्टाप् से अतः की अनुवृत्ति कर के अकारान्त से ही ङीप् होगा। कति में अकारान्त न होने से ङीप् नहीं होगा।

फिर भी तैलस्य मात्रा तैलमात्रा। घृतस्य मात्रा घृतमात्रा। यहां त्रन् प्रत्ययान्त मात्र शब्द के अकारान्त होने से ङीप् प्राप्त होता है।

तैलमात्रा घृतमात्रा में मात्र शब्द के अकारान्त होने पर तथा मात्रच् प्रत्यय के सदृश होने पर भी मात्रच् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से मात्रच् से ग्रहण न होगा तो टिड्ढाणञ्० से ङीप् न हो कर टाप् ही होगा।

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् इस सूत्र से होने वाले एक-वचन के स्थान में हुए बहुवचन के आदेश में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा। व्रीहिभ्यः यहां व्रीहये इस एकवचन ङे के स्थान में जात्याख्यायामेक० से हुए बहुवचन भ्यस् आदेश को स्थानिवद्भाव से ङे मान कर घेर्ङिति से गुण प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। इसका समाधान जात्याख्या० सूत्र पर ही कहा हुआ है कि यह सूत्र एकवचन के स्थान में बहुवचनसंज्ञक प्रत्यय का आदेश नहीं करता। अपितु जात्यर्थो बहुवद् भवति अर्थात् जाति रूप अर्थ जो एक है उसे बहु मान लिया जाय ऐसा अतिदेश करता है। इस प्रकार आतिदेशिक बहुत्व आने पर

ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घः ।

ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घ आदेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः । ङ्याब्ग्रहणेन ग्रहणात् सुलोपो मा भूदिति ।

ननु च दीर्घादित्युच्यते ।

तन्न वक्तव्यं भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

स्थानिवद्भावप्रतिषेध एव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति अतिखट्वाय अतिमालाय । याडाप इति याड् न भवति ।

उस बहुत्व को कहने के लिये बहुवचन भ्यस् हो कर व्रीहिभ्यः यह बहुत्वार्थक शब्द प्रयुक्त होता है । उससे व्रीहिभ्यः में ङे के स्थान में भ्यस् आदेश न होने से गुण का कोई प्रसङ्ग ही नहीं ।

ङी और आप् के ग्रहण में अदीर्घ दीर्घभिन्न अर्थात् ह्रस्व आदेश के स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा । निष्कौशाम्बिः (निर्गतः कौशाम्ब्याः) । अतिखट्वः (खट्वामतिक्रान्तः) । यहां गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य से ह्रस्व हुए ङ्यन्त आबन्त कौशाम्बी और खट्वा शब्द को स्थानिवद्भाव से ङ्यन्त आबन्त मान कर हल्ङ्याब्० सूत्र से सु का लोप प्राप्त होता है । वह न होवे ।

हल्ङ्याब्० सूत्र में तो दीर्घ ग्रहण किया हुआ है । दीर्घ ङी और आप् से परे सु का लोप होगा । निष्कौशाम्बिः अतिखट्वः में दीर्घ न होने से सुलोप कैसे होगा ।

यहां स्थानिवद्भाव का निषेध कर देने से हल्ङ्याप्० सूत्र में दीर्घ ग्रहण नहीं करना पड़ेगा ।

इन दोनों में कौन अधिक अच्छा है । यहां स्थानिवद्भाव का निषेध करें या वहां दीर्घ ग्रहण करें ?

यहां स्थानिवद्भाव का निषेध कर देना ही अधिक अच्छा है । इससे दो लाभ होंगे । एक तो हल्ङ्याप्० सूत्र में दीर्घग्रहण नहीं करना पड़ेगा । दूसरा अतिखट्वाय अतिमालाय यहां अतिखट्व अतिमाल शब्द को स्थानिवद्भाव से आबन्त मान कर याडापः से याट् न होगा । क्योंकि स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से अतिखट्व अतिमाल ये आबन्त न रहेंगे ।

अथेदानीमसत्यपि स्थानिवद्भावे दीर्घत्वे कृते पिच्चासौ भूतपूर्व इति कृत्वा याट् कस्मान्न भवति।

'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति।

ननु चेदानीं सत्यपि स्थानिवद्भावे एतया परिभाषया शक्यमिहो-पस्थातुम्।

नेत्याह। न तर्हीदानीं क्वचिदपि स्थानिवद्भावः स्यात्।

तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। प्रश्लिष्टनिर्देशात् सिद्धम्। प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। ङी ई ईकारान्तात्। आ आप् आकारान्तादिति।

आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः।

अच्छा तो अतिखट्वाय अतिमालाय यहां स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने पर भी य परे रहते सुपि च से हुए दीर्घ आ, और पहले रह चुके आप के पकार को मिला कर आप् हो जाने से याडापः से याट् क्यों नहीं होता ?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा बल से लक्षण से निष्पन्न लाक्षणिक आप् को आप् न माना जायगा तो अतिखट्वाय अतिमालाय में आबन्त न होने से याट् नहीं होता।

यूं तो निष्कौशाम्बिः अतिखट्वः में भी स्थानिवद्भाव से माना हुआ ङ्यन्त आबन्त लाक्षणिक हो जाता है तो लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा की यहां भी उपस्थिति हो कर ये भी ङ्यन्त आबन्त नहीं मानने चाहियें।

ऐसी बात नहीं है। ऐसा मानने पर तो फिर कहीं भी स्थानिवद्भाव न होगा। क्योंकि जहां स्थानिवद्भाव किया जायगा वही लाक्षणिक हो जायगा।

इस लिये ङ्याप् ग्रहण में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये।

ङ्याप् ग्रहण में स्थानिवद्भाव के निषेध कहने की कोई आवश्यकता नहीं। निष्कौशाम्बिः अतिखट्वः यहां ह्रस्व ङ्यन्त आबन्त में सु का लोप नहीं होगा। क्योंकि हल्ङ्याप्० सूत्र में ङी ई = ङी। आ आप् = आप्। इस प्रकार दीर्घ ई आ का प्रश्लिष्ट निर्देश मानेंगे। उससे दीर्घ ङ्यन्त आबन्त से परे ही सु का लोप होगा। ह्रस्व से परे नहीं। ई आ के प्रश्लेष से सूत्र में दीर्घग्रहण भी न करना पड़ेगा।

आहिभुवोरीट्प्रतिषेधो वक्तव्यः। आत्थ अभूत्। अस्तिब्रूग्रहणेन ग्रहणादीट् प्राप्नोति।

आहेस्तावन्न वक्तव्यः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाहेरीड् भवतीति। यदयमाहस्थ इति झलादिप्रकरणे थत्वं शास्ति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। भूतपूर्वगतिर्यथा विज्ञायेत। झलादिर्यो भूतपूर्व इति।

यद्येवं थवचनमनर्थकं स्यात्। आथिमेवायमुच्चारयेत्। ब्रुवः पञ्चानामादित आथो ब्रुवः इति।

आह्, भू में ईट् का निषेध कहना होगा। आत्थ (ब्रू-लट् सिप् थल्) यहां ब्रू धातु के स्थान में ब्रुवः पञ्चानामादितः० से हुए आह् आदेश को स्थानिवद्भाव से ब्रू मान कर ब्रुव ईट् से थल् को ईट् प्राप्त होता है। अभूत् (अस्-लुङ्) यहां अस् के स्थान में अस्तेर्भूः से हुए भू आदेश को स्थानिवद्भाव से अस् मान कर अस्तिसिचोऽपृक्ते से तिप् को ईट् प्राप्त होता है।

आह् में तो ईट के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं। आहस्थः सूत्र से जो आह् के हकार को झल् परे रहते थकार कहा है वह आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि ईट् नहीं होता। अन्यथा थल् को ईट् हो कर झल् परे न होगा तो थकार कहना व्यर्थ है।

यह कोई ज्ञापक नहीं। झल् परे रहते थकार विधान का प्रयोजन तो ईट् करने पर भी रह सकता है। क्या ? जो पहले झलादि रह चुका है उस प्रत्यय के परे रहते आह् को थकार हो। वह केवल थल् ही है क्योंकि णल् अतुस् उस् अथुस् इन चारों में भूतपूर्व झलादि कोई भी नहीं। इस लिये ईट् करने पर भी भूतपूर्व झलादि मान कर थल् के परे रहते आह् को थकार हो सकता है।

तब तो आहस्थः से थकार विधान करना ही व्यर्थ है। ब्रुवः पञ्चानामादितः० इस सूत्र में आचार्य आह् आदेश न कह कर आथ् आदेश ही कह देते। भूतपूर्व गति से झलादि मानने पर णल् अतुस् उस् थल् अथुस् ये पांचों ही तिप् तस् झि सिप् थस् के स्थान में होने से झलादि बन जाते हैं। इस लिये आहस्थः सूत्र में भूतपूर्व गति से झलादि नहीं माने जायेंगे तो आत्थ में ईट् होने पर झलादि न होगा। झलादि परे न रहने से थकार न हो सकेगा। थकार विधान सामर्थ्य से ईट् का अभाव हो जायगा उसके लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की आवश्यकता नहीं।

भवतेश्चापि न वक्तव्यः। 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति द्विसकारको निर्देशः। अस्तेः सकारान्तादिति।

वध्यादेशे वृद्धितत्वप्रतिषेधः।

वध्यादेशे वृद्धितत्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। वधकं पुष्करमिति। स्थानिवद्भावाद् वृद्धितत्वे प्राप्नुतः।

नैष दोषः। उक्तमेतत्—नायं ण्वुल्। अन्योऽयमकशब्दः किदौणादिको रुचक इति यथेति।

इड्विधिश्च।

इड् विधेयः। आवधिषीष्ट। एकाच उपदेशेऽनुदात्तादितीट्

भू में भी ईट् के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं। अस्तिसिचोऽपृक्ते सूत्र में अस्स्तिसिचोऽपृक्ते[1] इस प्रकार अस्स् यह दो सकार वाला प्रश्लिष्ट निर्देश है। उससे सकारान्त अस् धातु से परे ही अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् होगा। अस्तेर्भूः से हुए भू आदेश वाले अस् से ईट् नहीं होगा।

हन् को वधादेश होने पर वृद्धि और तकार का निषेध कहना होगा। वधकम् यहां हन्—ण्वुल् इस अवस्था में बहुलं तणि इस वार्तिक से हन् के स्थान में हुए वध् आदेश को स्थानिवद्भाव से हन् मान कर हनस्तोऽचिण्णलोः से तकार और उपधावृद्धि प्राप्त होती है।

यह कोई दोष नहीं। इसी सूत्र में पहले कह चुके हैं कि बधक में ण्वुल् प्रत्यय नहीं है। अपितु ण्वुल् से अन्य यह औणादिक क्वुन् प्रत्यय है जो कित् है। जैसे—रुचकः यहां क्वुन् के कित् होने से लघूपधगुण नहीं होता वैसे वधकम् में क्वुन् प्रत्यय के णित् न होने से उपधावृद्धि और तकार नहीं होंगे।

हन् को वध् आदेश होने पर इट् का विधान भी करना होगा। आवधिषीष्ट (आङ् हन्-सीयुट् सुट् लिङ्) यहां आङ्पूर्वक हन् धातु से आङो यमहनः से आत्मनेपद होता है। आशीर्लिङ् में हनो वध लिङि से अगले आत्मनेपदेष्वन्य-

---

१. यहां नागेश ने अस्तिस्सिचो० इस प्रकार द्विसकारान्त निर्देश वाला सूत्र पाठ स्वीकार किया है। वह मध्यमणिन्याय या देहलीदीपक न्याय से सकार का सम्बन्ध अस्ति और सिच् दोनों से जोड़ना चाहते हैं। उसमें अभून् में अस् के साथ ही सिच् भी लुक् होने से विद्यमान नहीं है अतः सर्वथा ईट् न होगा।

प्रतिषेधः प्राप्नोति।

नैष दोषः। आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते। स निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भविष्यति।

एवमप्युपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। यथैव हि निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधते एवं प्रत्ययस्वरमपि बाधेत। आवधिषीष्टेति।

नैष दोषः। आर्धधातुकीयाः सामान्येन भवन्ति अनवस्थितेषु प्रत्ययेषु। तत्रार्धधातुकसामान्ये वधिभावे कृते सति शिष्टत्वात् प्रत्ययस्वरो भविष्यति।

आकारान्तान्नुक्षुक् प्रतिषेधः।

आकारान्तान्नुक्षुकोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। विलापयति। भापयते। ली भी ग्रहणेन ग्रहणान्नुक्षुकौ प्राप्नुतः।

तरस्याम् इस सूत्र से हन् के स्थान में हुए वध् आदेश को स्थानिवद्भाव से हन् मान कर उसके एकाच् और अनुदात्त होने से एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् से इट् का निषेध प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। वधादेश को आद्युदात्त निपातन कर देंगे उससे हन् के अनुदात्तस्वर की बाधा हो जायगी तो इट् का निषेध न होगा।

फिर भी उपदेशिवद्भाव कहना होगा। जिससे उपदेशावस्था में ही वधादेश आद्युदात्त हो जाय। अन्यथा जैसे वह हन् के स्वर को बाधता है वैसे त प्रत्यय के स्वर को भी बाध लेगा तो अनिष्ट स्वर प्राप्त होगा। आवधिषीष्ट में त प्रत्यय का स्वर इष्ट है। आद्युदात्त वधादेश का स्वर इष्ट नहीं है।

यह कोई दोष नहीं। वध आदेश करने वाले आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् इस सूत्र में आर्धधातुक का अधिकार है। और आर्धधातुक के अधिकार वाले कार्य आर्धधातुक सामान्य में आर्धधातुक विषय को देखते हुए आर्धधातुक प्रत्यय के आने से पूर्व ही हो जाते हैं इस लिये वध् आदेश आर्धधातुक तप्रत्यय के आने से पूर्व ही हो जायगा। उसके बाद त प्रत्यय आयेगा तो सति शिष्ट होने से प्रत्ययस्वर वध् के स्वर को बाध लेगा। उस अवस्था में तप्रत्यय का स्वर ही होगा।

आकारान्त से परे नुक् षुक् का निषेध कहना होगा। विलापयति (वि ली-णिच् लट् तिप्)। भापयते (भी-णिच् लट्) यहां णिच् परे रहते ली भी धातुओं के स्थान में विभाषा लीयतेः और बिभेतेर्हेतुभये से हुए आकार आदेश को स्थानि-

नैष दोषः। लीभियोः प्रश्लिष्टनिर्देशात् सिद्धम्। लीभियोः प्रश्लिष्ट-निर्देशोऽयम्। ली ई ईकारान्तस्येति। भी ई ईकारान्तस्येति।

लोडादेशे शाभावजभावधित्वहिलोपैत्त्वप्रतिषेधः।

एषां लोडादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः। शिष्टात्। हतात्। भिन्तात्। कुरुतात्। स्तात्। लोडादेशे कृते शाभावो जभावो धित्वं हिलोप एत्त्व-मित्येते विधयः प्राप्नुवन्ति।

नैष दोषः। इदमिह सम्प्रधार्यम्। लोडादेशः क्रियतामेते विधय इति। किमत्र कर्तव्यम्। परत्वाल्लोडादेशः।

अथेदानीं लोडादेशे कृते 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् कस्मादेते विधयो

वद्भाव से ली भी मान कर लीलोर्नुग्लुकावन्य० से ली में नुक् का आगम और भियो हेतुभये षुक् से भी में षुक् का आगम प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। लीलोर्नुग्लुका० में और भियो हेतु० में ली ई ली और भी ई भी इस प्रकार ईकार का प्रश्लिष्टनिर्देश मान कर ईकारान्त ली भी में ही नुक् षुक् आगम होंगे। विलापयति, भापयते में ईकारान्त ली भी न होने से नुक् षुक् नहीं होंगे।

लोट् लकार के हि के स्थान में तातङ् आदेश होने पर शाभाव, जभाव, धित्व, हिलोप और एत्त्व ये विधियां प्राप्त होती हैं उनका निषेध कहना होगा। शिष्टात् हतात् भिन्तात् कुरुतात् स्तात् यहां क्रम से शास् हन् भिद् कृ और अस् के लोट् लकार में सिप् की हि के स्थान में हुए तातङ् आदेश को स्थानिवद्भाव से हि मान कर शास् को शा हौ से शा आदेश, हन् को हन्तेर्जः से ज आदेश, भिद् से परे हुझल्भ्यो० से हि को धि आदेश, कृ से परे उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् से हि का लुक्, और अस् को घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च से एत्त्व प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। यहां यह विचारिये कि हि के स्थान में तातङ् आदेश पहले करें या शास् आदि को शा आदेश आदि कार्य पहले करें। क्या करना चाहिये। दोनों में पर होने से हि के स्थान में तातङ् पहले हो जायगा तो हि के न रहने से उसके परे रहते होने वाले शा आदेश आदि कार्य स्वतः निवृत्त हो जायेंगे।

पहले तातङ् आदेश होने पर भी स्थानिवद्भाव से तातङ् को हि मान

न भवन्ति ।

'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेवे'ति कृत्वा ।

त्रयादेशे स्रन्तप्रतिषेधः ।

त्रयादेशे स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । तिसृभावे कृते त्रेस्त्रय इति त्रयादेशः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम्, तिसृभावः क्रियतामाहोस्वित् त्रेस्त्रय इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात् तिसृभावः ।

अथेदानीं तिसृभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् त्रयादेशः कस्मान्न भवति ।

मान कर पुन प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् इस परिभाषा द्वारा फिर शः भाव आदि कार्य क्यों नहीं होते । इस परिभाषा का अर्थ है कि विप्रतिषेध में परत्व से बाधा हो कर भी यदि बाधित सूत्र की पुनः प्राप्ति संभव हो तो वह फिर हो जाती है । तातङ् आदेश द्वारा परत्वात् बाधित होने पर भी शा आदि आदेश स्थानिवद्भाव से तातङ् को हि मान कर पुनः प्राप्त हैं ।

सकृद्गतौ विप्रतिषेध यद् बाधितं तद् बाधितमेव इस परिभाषा से पुनः प्रसङ्गविज्ञान की बाधा हो जायगी तो तातङ् द्वारा एक बार बाधे जाने पर शा भाव आदि फिर नहीं हो सकते । इस परिभाषा का अर्थ है कि एक बार प्रवृत्त विप्रतिषेध में जो बाधा गया वह बाधा गया ही समझना चाहिये । वह फिर नहीं प्रवृत्त हो सकता । पुनः प्रसङ्ग विज्ञान न्याय और सकृद्गतिन्याय ये दोनों लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। इष्टसिद्धि के लिये जिस न्याय की जहां आवश्यकता होती है वहां वही न्याय मान लिया जाता है ।

त्रयादेश कहने में सृ शब्दान्त तिसृ शब्द का निषेध कहना होगा । तिसृणाम् यहां स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ से त्रि के स्थान में हुए तिसृ आदेश को स्थानिवद्भाव से त्रि मान कर त्रेस्त्रयः से त्रयादेश प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहां यह विचारना चाहिये कि त्रि शब्द के स्थान में तिसृ आदेश पहले करें या त्रय आदेश पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से तिसृ आदेश पहले हो जायगा तो त्रि के न रहने से त्रय आदेश न होगा ।

तिसृ आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से फिर त्रयादेश

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद्बाधितमेवेति ।

आम्विधौ च ।

आम्विधौ स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतसृभावे कृते चतुरनडुहोरामुदात्त इत्याम् प्राप्नोति ।

नैष दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम्, चतसृभावः क्रियतामाहोस्वित् चतुरनडुहोरामुदात्त इत्याम् इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात् चतसृभावः ।

अथेदानीं चतसृभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् आम् कस्मान्न भवति ।

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेवेति ।

स्वरे वस्वादेशे ।

स्वरे वस्वादेशे प्रतिषेधो वक्तव्यः । विदुषः पश्य । 'शतुरनुमो

क्यों नहीं होता । स्थानिवद्भाव से तिसृ को त्रि मान कर त्रयादेश प्राप्त है ।

सकृद्गतिन्याय से तिसृ आदेश द्वारा एक बार त्रय आदेश के बाधे जाने से फिर त्रयादेश नहीं होगा ।

चतुरनडुहोरामुदात्तः से आम् करने में सृ शब्दान्त चतसृ शब्द का निषेध करना होगा । चतस्रः (चतुर्-जस्) यहां चतुर् शब्द के स्थान में स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरोः स्त्रियां० से हुए चतसृ आदेश को स्थानिवद्भाव से चतुर् मान कर चतुरनडुहोरामुदात्तः से आम् प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहां यह विचारना चाहिये कि चतुर् शब्द के स्थान में चतसृ आदेश पहले करें या चतुरनडुहोः० से चतुर् को आम् आगम पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से चतसृ आदेश पहले हो जायगा तो आम् आगम न होगा ।

चतसृ आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से फिर आम् आगम क्यों नहीं होता । स्थानिवद्भाव से चतसृ को चतुर् मान कर आम् प्राप्त है ।

सकृद्गति न्याय से चतसृ आदेश द्वारा आम् आगम के एक बार बाधे जाने पर फिर आम् आगम नहीं होगा ।

वसु आदेश करने पर स्वर का निषेध कहना होगा । विदुषः पश्य (विद्वस्-

नद्यजादी' अन्तोदात्तादित्येष स्वरः प्राप्नोति।

नैष दोषः। अनुम इति प्रतिषेधो भविष्यति।

अनुम इत्युच्यते न चात्र नुमं पश्यामः।

अनुम इति नेदमागमग्रहणम्। किं तर्हि। प्रत्याहारग्रहणम्। क संनिविष्टानां प्रत्याहारः। उकारात् प्रभृति आ नुमो मकारात्।

यदि प्रत्याहारग्रहणं, लुनता पुनता अत्रापि प्राप्नोति।

नानुम्ग्रहणेन शत्रन्तं विशेष्यते। किं तर्हि शतैव विशेष्यते शता

शस्) यहां विद्वस् शब्द में विद् से परे शतृ प्रत्यय के स्थान में विदेः शतुर्वसुः से हुए वसु आदेश को स्थानिवद्भाव से शतृ मान कर शतुरनुमो नद्यजादी से शस् विभक्ति को उदात्त स्वर प्राप्त होता है। अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे नदी और अजादि सर्वनामस्थान भिन्न विभक्ति को उदात्त किया जाता है।

यह कोई दोष नहीं। शतुरनुम॰ सूत्र में अनुमः कहने से विदुषः में स्वर का निषेध हो जायगा।

अनुमः कहा है। उसका अर्थ नुम् भिन्न है। नुम् भिन्न अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होता है। विदुषः में नुम् है नहीं तो यह भी नुम्-भिन्न है। उस अवस्था में अनुमः यह निषेध कैसे हो जायगा।

अनुमः का अर्थ नुम् भिन्न नहीं है। नुम् आगम का वहां ग्रहण नहीं है। किन्तु उम् प्रत्याहार का ग्रहण है। न उम् = अनुम्, अनुमः इस प्रकार उम् प्रत्याहार भिन्न अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होगा। कहां से कहां तक उम् प्रत्याहार है। तनादिकृञ्भ्य उः सूत्र के उकार से लेकर इदितो नुम् धातोः में नुम् के मकार तक उम् प्रत्याहार बनता है। उसमें विदेः शतुर्वसुः यह वसु आदेश भी आ लिया है इस लिये वसु के उम् भिन्न न होने से विदुषः में विभक्ति स्वर नहीं होगा। यद्यपि शतृ भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न नहीं है फिर भी वह तो शतुः इस वचन से गृहीत हो जायगा।

यदि शतुरनुमः सूत्र में अनुम् का अर्थ नुम् भिन्न न मान कर उम् भिन्न मानेंगे तो लुनता पुनता (लुनत् पुनत्-टा) यहां लू पू धातुओं से शतृ परे रहते विहित श्ना विकरण भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न न होगा तो विभक्ति स्वर नहीं प्राप्त होता। अनुमः यह निषेध प्राप्त होता है।

शतुरनुमः सूत्र में अनुम् ग्रहण से शतृप्रत्ययान्त को विशेषित नहीं

योऽनुमक इति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। आगमग्रहणे हि सतीह प्रसज्येत-मुञ्चता मुञ्चते इति।

गोः पूर्वणित्त्वात्त्वस्वरेषु।

गोः पूर्वणित्त्वात्त्वस्वरेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। चित्रग्वग्रम्। शबलग्वग्रम्। सर्वत्र विभाषा गोरिति विभाषा पूर्वत्वं प्राप्नोति।

नैष दोषः। एङ इति वर्तते। तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधो

किया जाता। अर्थात् अनुम् यह शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण नहीं है बल्कि शतृ प्रत्यय का विशेषण है। उम् रहित जो शतृ प्रत्यय तदन्त अन्तोदात्त शब्द से परे विभक्तिस्वर होता है। लुनता पुनता में शतृप्रत्ययान्त लुनत् पुनत् शब्द के उम् भिन्न न होने पर भी शतृ प्रत्यय उम् भिन्न ही है। शतृ प्रत्यय में कहीं उम् नहीं है। श्ना प्रत्यय शतृ प्रत्यय से परे नहीं विहित हुआ है। शतृ प्रत्यय स्वयं उम् होता हुआ भी शतुः इस वचनसामर्थ्य से गृहीत होगा तो अनुमः यह निषेध न लगने से लुनता पुनता में स्वर हो जायगा। यह बात यहां अवश्य माननी भी चाहिये कि शतृ प्रत्यय ही उम् भिन्न लिया गया है। शतृ प्रत्ययान्त नहीं लिया गया है। अनुम् का अर्थ नुम् आगम भिन्न मानने पर भी शतृ प्रत्यय का ही विशेषण नुम् माना जायगा, शत्रन्त का नहीं। अन्यथा मुञ्चता मुञ्चते (मुच्-श-शतृ-टा, ङे) यहां भी मुञ्चत् यह शतृप्रत्ययान्त शब्द नुम् भिन्न नहीं है। शतृप्रत्यय तो नुम् भिन्न है। इस लिये शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण मानने पर मुञ्चता मुञ्चते में भी नुम् भिन्न न होने से विभक्तिस्वर नहीं प्राप्त होता। वहां भी अनुम् यह निषेध प्राप्त होगा। जब नुमागमभिन्न अर्थ मानते हुए अनुम् को शतृप्रत्यय का ही विशेषण मानते हैं, शत्रन्त का नहीं तो उम् प्रत्याहार भिन्न अर्थ मानते हुए भी उम् को शतृ प्रत्यय का ही विशेषण समझेंगे शत्रन्त का नहीं। इस प्रकार कहीं दोष न होने से विदुषः में विभक्तिस्वर न होगा।

गो शब्द का पूर्वरूप, णित्व, आत्व और स्वर करने में निषेध कहना होगा चित्रगु+अग्रम्=चित्रग्वग्रम्। शबलगु+अग्रम्=शबलग्वग्रम्। यहां चित्रगु, शबलगु शब्दों में गो शब्द के स्थान में गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य से हुए ह्रस्व आदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर सर्वत्र विभाषा गोः से पूर्वरूप अथवा प्रकृतिभाव का विकल्प प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। सर्वत्र विभाषा गोः में एङः पदान्तादति से एङ्

भविष्यति।

एवमपि हे चित्रगो अग्रम् इत्यत्रापि प्राप्नोति।

णित्त्वम्। चित्रगुः। चित्रगू। चित्रगवः। 'गोतो णिदि'ति णित्त्वं प्राप्नोति। आत्वम्। चित्रगुं पश्य। शबलगुं पश्य। आ ओत इत्यात्त्व प्राप्नोति।

नैष दोषः। तपरकरणात् सिद्धम्। तपरकरणसामर्थ्यात् णित्त्वात्त्वे

की अनुवृत्ति आती है। उससे गो शब्द के एङ् को पूर्वरूप का विकल्प होगा। गो शब्द को नहीं। एङ् के अल् होने से अल्विधि हो जायगी तो चित्रगु यहां ह्रस्व आदेश में गो का एङ् स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता। एङ् न होने से चित्रग्वग्रम् में पूर्वरूप का विकल्प भी न होगा।

चित्रग्वग्रम् में स्थानिवद्भाव से एङन्त गो शब्द न होने से वहां दोष न होने पर भी हे चित्रगो अग्रम् यहां सम्बोधन में चित्रगु को गुण हो कर गो शब्द हो जाने से पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है। यद्यपि सम्बोधन में गुण हो कर बना हुआ गो शब्द लाक्षणिक है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से सर्वत्र विभाषा गोः में इसका ग्रहण न हो कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त नहीं होता तो भी स्थानिवद्भाव से गो शब्दत्व ला कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है उसके लिये स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये।[1]

णित्त्व जैसे—चित्रगुः। चित्रगू। चित्रगवः। यहां गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व आदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर गोतो णित् से सर्वनामस्थान विभक्ति को णित्त्व प्राप्त होता है। चित्रगुम्, शबलगुम् यहां औतोम्शसोः से आकार एकादेश प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। गोतो णित् और औतोम्शसोः में गोतः ओतः

---

१. यहां भाष्यकार ने हे चित्रगो अग्रम् के दोष का परिहार नहीं किया उससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस दोष का परिहार हो ही नहीं सकता। यहां भी एङ् पना स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता केवल गो पना ही आ सकता है इस लिये गो शब्द का एङ् न होने से हे चित्रगो अग्रम् में भी पूर्वरूप का विकल्प नहीं होगा। गुण का ओकार तो लाक्षणिक है। वस्तुतः यदि सर्वत्र विभाषा गोः में समस्त असमस्त लाक्षणिक अलाक्षणिक सब प्रकार का एङन्त गो शब्द मानें तो हे चित्रगो अग्रम् यहां पूर्वरूप का विकल्प हो जाने में भी कोई हानि नहीं है।

न भविष्यतः ।

स्वर । बहुगुमान् । 'न गोश्वन्साववर्णे'ति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

करोतिपिबत्योः प्रतिषेधः ।

करोतिपिबत्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुरु पिबेति । स्थानिवद्भावाल्लघूपधगुणः प्राप्नोति ।

इस प्रकार तपर करने से द्विमात्रा काल वाला ओकार लिया जायगा । चित्रगु में ओकार है नहीं इस लिये णित्व और आत्त्र दोनों ही न होंगे । स्थानिवद्भाव से भी गो पना आ सकता है । ओ पना नहीं । ओकार का आश्रयण करने से अल्विधि हो जायगी । अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा ।

स्वर जैसे—बहुगुमान् । (बहवः गावो यस्य स बहुगुः । बहुगुर्विद्यते यत्र स बहुगुमान्) यहां गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व आदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर न गोश्वन् सावर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः से मतुप् के उदात्त स्वर का निषेध प्राप्त होता है ।[1] बहुगु यह बहुव्रीहि समास बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि से अन्तोदात्त है उससे परे मतुप् को ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् से उदात्त होता है । न गोश्वन्० से उसका निषेध प्राप्त होता है ।

कुरु, पिब यहां कृ और पा धातु के प्रयोगों में स्थानिवद्भाव का निषेध करना होगा । कुर्, पिब् इनके लघूपध होने से लघूपधगुण प्राप्त होता है । कृ के स्थान में हुए कुर् की और पा के स्थान में हुए पिब् की स्थानिवद्भाव से अङ्गसंज्ञा हो कर लघूपधगुण होना चाहिये ।

---

१. इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानिवत्सूत्र में प्राप्त सभी दोषों का समाधान कर दिया है । केवल यह बहुगुमान् वाला स्वर का दोष रह गया है । उसका भी समाधान हो सकता है । यदि गोतो णित् के गकार की तरह न गोश्वन्० में गो का गकार भी अविवक्षित मान कर उसे ओकारान्त का उपलक्षण समझें तो ओकार अल्विधि होने से बहुगु में स्थानिवद्भाव द्वारा ओकारान्तता नहीं आ सकती । ओकारान्त न होने से बहुगुमान् में मतुप् के उदात्त स्वर का निषेध न होगा । वेद में द्यवि इस आद्युदात्त प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि ओकारान्त द्यो शब्द में भी न गोश्वन्० की प्रवृत्ति हो कर विभक्ति स्वर का निषेध हुआ करता है । अन्यथा द्यवि में गो शब्द न होने से सावेकाचस्तृतीयादि० से प्राप्त विभक्तिस्वर का न गोश्वन्० यह निषेध कैसे कर सकता है । गो शब्द को उपलक्षण

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'करोतौ तपरकरणनिर्देशात् सिद्धम् । पिबिरदन्त इति ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ[1] ॥१।१।५७॥

अच इति किमर्थम् ?

प्रश्नो विश्नः । द्यूत्वा स्यूत्वा । आक्राष्टाम् । आगत्य । प्रश्नो विश्नः इत्यत्र छकारस्य शकारः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाच्छे चेति तुक्

इस दोष का समाधान पहले इसी सूत्र में कहा जा चुका है कि अत उत्सार्वधातुके सूत्र में उत् में तपर करने से कुरु में ह्रस्व उकार ही रहेगा उसे गुणादि विकार न होंगे। पिबादेश के अदन्त होने से पिब में भी गुण न होगा। पिब इस प्रकार अकारान्त पिव शब्द में लघु इकार के उपधा में न आने से लघूपधगुण नहीं होगा।

सूत्र में अच्ग्रहण किस लिये किया है।

परस्मिन् पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर प्रश्नः विश्नः (प्रच्छ्, विच्छ्-नङ्) यहां प्रच्छ् से परे नङ् प्रत्यय को निमित्त मान कर च्छ्वोः शूडनुनासिके च से प्रछ् के हल् छकार के स्थान में शकार आदेश हुआ है उसके स्थानिवत् होने से छे च से छ से पूर्व तुक् प्राप्त होता है। अच् ग्रहण करने पर नहीं

मान कर ओकारान्त से परे प्राप्त विभक्तिस्वर या मतुप् प्रत्यय स्वर आदि सभी स्वरों का निषेध होता है ऐसा मानने में कहीं दोष नहीं आता।

१. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ यह पहला सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध करता था। अचः परस्मिन्० यह सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव करने के लिये बनाया है। इसी लिये वव्रश्च (व्रश्च्-लिट् तिप् णल्) में व्रश्च् को लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् से अभ्यास में वृश्च् सम्प्रसारण हो कर उरदत्व करने पर अचः परस्मिन् सूत्र से उरदत्त्व को स्थानिवत् होता है। उसमें ऋकार रूप अल् के परे हो जाने पर न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् से अभ्यास वकार को सम्प्रसारण का निषेध सिद्ध हो जाता है। अचितीकः, सुचितीकः (अविद्यमाना शोभना वा चितिः यस्य सः) यहां बहुव्रीहि समास में कप् परे रहते चितेः कपि से चिति शब्द के इकार को दीर्घ होता है उसको इस सूत्र से स्थानिवत् हो कर अल्रूप ह्रस्व इकार अन्त में हो जायगा तो ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम् से अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जाता है।

प्राप्नोति । अच इति वचनान्न भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । क्रियमाणेपि अच्ग्रहणे अवश्यमत्र तुगभावे यत्नः कर्तव्यः । अन्तरङ्गत्वाद्धि तुक् प्राप्नोति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्यूत्वा स्यूत्वा । वकारस्य ऊठ् परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावादचीति यणादेशो न प्राप्नोति । अच इति वचनाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्राच्त्वं भविष्यति । अथवा

होता । क्योंकि अच् के स्थान में शकार आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो तुक् नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । अच्ग्रहण करने पर भी प्रश्नः विश्नः में तुक् रोकने के लिये अवश्य यत्न करना होगा । अन्यथा प्रछ् इस अवस्था में श आदेश की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने से छे च से छ से पूर्व तुक् प्राप्त होता है ।[1]

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । द्यूत्वा स्यूत्वा (दिव्, सिव्-क्त्वा) यहां दिव् से परे क्त्वा प्रत्यय को निमित्त मान कर च्छ्वोः शूड् से दिव् के हल् वकार के स्थान में ऊठ् आदेश हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से इको यणचि से यणादेश नहीं प्राप्त होता । अच् ग्रहण करने से हो जाता है । क्योंकि अच् के स्थान में ऊठ् आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो यण् हो जायगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । ऊठ् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अच् होने से द्यूत्वा में यण् हो जायगा । अथवा जो आदेश हुआ है अर्थात् समुदाय-

---

१. वह यत्न यही है कि च्छ्वोः शूड् में च्छ् इस प्रकार च् छ मिला कर तुक्सहित छकार का निर्देश करके उसके स्थान में श आदेश मानेंगे तो तुक्सहित छकार निर्देश के सामर्थ्य से फिर तुक् न होगा । उसी यत्न से प्रश्नः विश्नः में तुक् रुक जायगा । तुक् सहित छकार स्थानी के निर्देश सामर्थ्य से ही अलोन्त्य-विधि भी न होगी । विश्नः में प्राप्त लघूपधगुण को रोकने के लिये नङ् प्रत्यय को ङित् करना भी तभी चरितार्थ हो सकता है जब विच्छ् में तुक्सहित छकार के स्थान में श आदेश हो । अन्यथा तुक् के अवशिष्ट रहने से लघु इकार उपधा में न होगा तो गुण प्राप्त ही नहीं उसके लिये नङ् को ङित् करना व्यर्थ है ।

२. वाय्वोः इत्यादि में तो इको यणचि से हुए वकाररूप आदेश में स्वाश्रय

योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आक्राष्टाम् । सिचो लोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् 'षढोः कः सी'ति कत्वं प्राप्नोति । अच इति वचनान्न भवति ।

रूप ऊठ्, उसका यणादेश में आश्रयण नहीं किया गया । और जिसका आश्रयण किया गया है अर्थात् अच् वह आदेश नहीं हुआ है । ऊठ् में ऊकार के अच् होने पर भी वह आदेश नहीं, आदेश का अवयव है ।[1] इस लिये यणादेश में स्थानिवद्भाव न होगा तो यण् हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । आक्राष्टाम् (आ कृष्-सिच्-ताम्) यहां कृष् धातु से लुङ् लकार में सिच् परे रहते ताम् को निमित्त मान कर झलो झलि से सिच् के हल् सकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से सकार परे हो जायगा तो षढोः कः सि से कृष् के षकार को ककार प्राप्त होता है । अच् ग्रहण करने पर नहीं होता । क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् नहीं होगा तो सिच् का सकार परे न मिलने से ष को क नहीं होगा ।

वल् होने पर भी लोपो व्योर्वलि से य का लोप नहीं होता क्योंकि यणादेश के बहिरङ्ग होने से असिद्धता हो जायगी । द्यूत्वा में बहिरङ्ग होने पर भी ऊठ् आदेश असिद्ध नहीं होगा । नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः इस परिभाषा से असिद्ध परिभाषा का निषेध हो जायगा तो ऊठ् परे मिल जाने से यण् हो जायगा । ऊठ् को स्थानिवत् मान कर लोपो व्योर्वलि से यण् के यकार का लोप होने की शङ्का तो नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऊठ् होने पर यण् हुआ है । उससे पूर्व नहीं था । तो पूर्वविधि न होने से ऊठ् को स्थानिवत् नहीं हो सकता ।

१. यदि कहो योऽसावादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः ऐसा मानते हैं तो ख्याञ् आदि आदेश भी अनुबन्ध रहित हुए आदेश नहीं माने जायेंगे उससे स्थानिवद्भाव न हो कर ख्या आदि की धातुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये । क्योंकि ख्या आदि ख्याञ् आदि आदेश का अवयव होने से आदेश नहीं हैं तो इसका उत्तर है कि घस्लृ आदेश में लृदित्करणरूप ज्ञापक से अनुबन्ध रहित होने पर भी ख्या आदि को आदेश मान कर धातुसंज्ञा हो जायगी । घस्लृ में लृदित् का प्रयोजन पुषादिद्युताद्यलृदितः० से अघसत् में च्लि को अङ् करना है । वह धातुसंज्ञा हुए बिना हो नहीं सकती ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत् पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। आगत्य। अभिगत्य। अनुनासिकलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वस्येति तुक् न प्राप्नोति। अच इति वचनाद् भवति।

अथ परस्मिन्निति किमर्थम्?

युवजानिः। वधूजानिः। द्विपदिका। वैयाघ्रपद्यः। आदीध्ये। युवजानिः वधूजानिः इति जायाया निङ् अपरनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद् वलीति यलोपो न प्राप्नोति। परस्मिन् इति वचनाद् भवति।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। आगे न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र में यह वार्तिक कहेंगे कि पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्। इसका अर्थ है कि अष्टाध्यायी के पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता। षढोः कः सि सूत्र के पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण का होने से उसके कार्य में स्थानिवत् न होगा तो सकार परे न मिलने से ष को क न नहीं होगा।

अच्छा फिर यह उदाहरण लीजिये। आगत्य अभिगत्य (आ, अभि गम्-ल्यप्) यहां गम् से परे ल्यप् को निमित्त मान कर वा ल्यपि से गम् के हल् मकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से मकारान्त हो जायगा तो ह्रस्व न रहने से तुक् का आगम नहीं प्राप्त होता। अच् ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो ह्रस्वान्त मिल जाने से ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् का आगम हो जायगा।

परस्मिन् ग्रहण किस लिये किया है?

अचः पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर युवजानिः वधूजानिः (युवतिर् जाया यस्य, वधूर्जाया यस्य) यहां बहुव्रीहि समास में जायाया निङ् से कुछ परे निमित्त न मान कर जाया शब्द के अन्तिम आकार के स्थान में निङ् आदेश हुआ है। उसके स्थानिवत् होने से वल् परे न रहेगा तो लोपो व्योर्वलि से जाया के यकार का लोप नहीं प्राप्त होता। परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि निङ् आदेश के परनिमित्तक न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो वल् परे मिल जाने से यलोप हो जायगा।[1]

---

१. युवजानिः में जाया के अन्तिम आकार को निङ् आदेश हो कर उसके

नैतदस्ति प्रयोजनम्। स्वाश्रयमत्र वल्त्वं भविष्यति। अथवा योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते, यश्चाश्रीयते नासावादेशः।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। द्विपदिका। त्रिपदिका। पादस्य लोपोऽपरनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् पद्भावो न प्राप्नोति। परस्मिन् इति वचनाद् भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् स्थानिवद्भावो

यह कोई प्रयोजन नहीं। निङ् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं वल् होने से जाया के य का लोप हो जायगा। अथवा यहां जो आदेश है अर्थात् निङ्, वह वल् नहीं। लोपो व्योर्वलि में निङ् का आश्रयण नहीं है। वलों में नकार का ही पाठ है निङ् का नहीं। और जो वल् है अर्थात् नकार, वह आदेश का अवयव है, आदेश नहीं। इस लिये स्थानिवद्भाव न होगा तो वल् परे मिल जाने से य का लोप हो जायगा।

अच्छा तो द्विपदिका, त्रिपदिका यह उदाहरण लीजिये। द्वौ द्वौ पादौ द्विपदिका। यहां पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च से कुछ परे निमित्त न मान कर वीप्सा अर्थ में पाद शब्द से वुन् प्रत्यय और पाद के अन्तिम अच् अकार के स्थान में लोप रूप आदेश हुआ है। उसके स्थानिवत् होने से हलन्त पाद् शब्द न रहेगा तो पादः पत् से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता। परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि पाद के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो हलन्त पाद् शब्द मिल जाने से पद् आदेश हो जायगा।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। द्विपदिका में यस्येति च से पाद के अकार

परे रहते लोपो व्योर्वलि से जाया के य् का लोप हो जाता है। यदि कहो जाया शब्द जन् धातु से औणादिक यक् प्रत्यय कर के ये विभाषा से आत्व हो कर बनता है। निङ् आदेश को स्थानिवत् मानने से आकार दीखेगा। वह यक् प्रत्यय के साथ हुए टाप् के सवर्णदीर्घ एकादेश को पूर्वान्तवद्भाव मान कर अजादि कित् आर्धधातुक है। उसके परे रहते जन् के स्थान में हुए आकार का आतो लोप इटि च से लोप प्राप्त होता है। ये विभाषा और आतो लोप इटि च दोनों के आभीय होने पर भी समानाश्रय न होने से असिद्धवदत्राभात् से ये विभाषा से हुए आत्व की असिद्धता भी नहीं हो सकती तो इसका उत्तर है कि उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस वचन से औणादिक शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं। जाया शब्द को जन् धातु से यक् प्रत्यय करके निष्पन्न नहीं मानेंगे तो जा के आकार का लोप नहीं होगा।

न भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। वैयाघ्रपद्यः।

ननु चात्रापि पुनर्लोपवचनसामर्थ्यादेव भविष्यति।

अस्ति ह्यन्यत् पुनर्लोपवचने प्रयोजनम्। किम्। यत्र भसंज्ञा न, व्याघ्रपात्, श्येनपाद् इति। इदं चाप्युदाहरणम्-आदीध्ये, आवेव्ये।

का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादशतस्य संख्यादे० से लोप विधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा। पुनः लोप विधान का यही तात्पर्य समझा जायगा कि पाद के अकार का लोप ही रहे। उसका श्रवण न हो। इस लिये स्थानिवद्भाव की स्वतः व्यावृत्ति हो जायगी। स्थानिवद्भाव न होने से पद् आदेश निर्बाध हो जायगा।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। वैयाघ्रपद्यः। व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स व्याघ्रपाद्। व्याघ्रपदोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यः (व्याघ्रपाद्-यञ्) यहां व्याघ्रपाद् इस बहुव्रीहि समास में पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः से कुछ परे निमित्त न मान कर व्याघ्रपाद शब्द के अन्तिम अच् अकार का लोप हुआ है। उसके स्थानिवत् होने से यञ् प्रत्यय परे रहते भसंज्ञा होने पर पादः पत् से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता। परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि पादस्य लोपोऽह० से हुआ पाद के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो पाद् शब्द मिल जाने से पद् आदेश हो जायगा।

वैयाघ्रपद्यः में भी यस्येति च से पाद के अकार का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादस्य लोपो० से लोपविधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा और पद् आदेश सिद्ध हो जायगा।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः से पुनः लोपविधान करने का अन्य प्रयोजन है। क्या? जहां भसंज्ञा नहीं है वहां पाद शब्द के अकार का लोप यस्येति च से नहीं हो सकता। क्योंकि वह भसंज्ञा में ही अकार के लोप का विधान करता है। जैसे व्याघ्रपात्, श्येनपात्। (व्याघ्रस्येव पादौ यस्य सः) यहां बहुव्रीहि समास वाले व्याघ्रपाद् शब्द में भसंज्ञा न होने से पाद के अकार का लोप यस्येति च से नहीं हो सकता। यहां पाद के अकार का लोप करने के लिये पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः सूत्र की आवश्यकता है। इस लिये लोपविधान में सामर्थ्य न होने से यह स्थानिवद्भाव को रोक नहीं सकता। उस अवस्था में वैयाघ्रपद्यः में अकार लोप के स्थानिवत् होने से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता, उसके लिये परस्मिन् ग्रहण

इकारस्य एकारोऽपरनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् यीवर्णयोर्दीधी-वेव्योरिति लोपः प्राप्नोति। परस्मिन्निति वचनान्न भवति।

अथ पूर्वविधाविति किमर्थम्?

हे गौः। बाभ्रवीयाः। नैधेयः। हे गौरित्यौकारः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेरिति लोपः प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनान्न भवति।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सम्बुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो भवतीति। यदयमेङ्ह्रस्वात्संबुद्धेरित्येङ्ग्रहणं करोति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। गोऽर्थमेतत् स्यात्।

करना चाहिये। इसके अतिरिक्त आदीध्ये आवेव्ये यह उदाहरण भी लीजिये। (आ दीधी-लट् इट् ए) यहां दीधी से परे इट् प्रत्यय के इकार अच् के स्थान में कुछ परे निमित्त न मान कर टित आत्मनेपदानां टेरे से एकार हुआ है। उसके स्थानिवत् होने से इकार परे मिल जायगा तो यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः से दीधी के ईकार का लोप प्राप्त होता है। परस्मिन् ग्रहण करने पर नहीं होता। क्योंकि टित आत्मनेपदानां० से होने वाला टेरेत्व परनिमित्तक नहीं है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो दीधी के ईकार का लोप नहीं होगा।

पूर्वविधौ यह किस लिये ग्रहण किया है?

अचः परस्मिन् इतना सूत्र होने पर हे गौः यहां गो शब्द से परे सम्बुद्धि के णित् सु प्रत्यय को निमित्त मान कर गो शब्द के ओकार के स्थान में अचो ञ्णिति से औ वृद्धि हुई है। उस के स्थानिवत् होने से ओकार मिल जायगा तो एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः से सम्बुद्धिसंज्ञक सु का लोप प्राप्त होता है। पूर्व विधि ग्रहण करने पर नहीं होता। क्योंकि यहां सम्बुद्धि लोप आदेश से पूर्व का कार्य नहीं है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो ओकार न मिलने से सम्बुद्धि संज्ञक सु का लोप नहीं होगा।

यह कोई प्रयोजन नहीं। आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि सम्बुद्धिलोप करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता। यह जो एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः में एङ् ग्रहण किया है उस से यह बात मालूम होती है। अन्यथा हे अग्ने हे वायो इत्यादि में एकार ओकार को स्थानिवत् होने से ह्रस्व मान कर ही सम्बुद्धि का लोप हो जाता तो एङ् ग्रहण व्यर्थ है। इस लिये एङ् ग्रहण के ज्ञापक से हे गौः में औकार को स्थानिवत् नहीं होगा तो उस से परे सम्बुद्धि संज्ञक सु का लोप न होगा।

हे गौः में सम्बुद्धिलोप को रोकने के लिये एङ् ग्रहण कोई ज्ञापक नहीं।

यत्तर्हि प्रत्याहारग्रहणं करोति। इतरथा ह्योह्रस्वादित्येव ब्रूयात्।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। वाभ्रवीयाः। माधवीयाः। वान्तादेशः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् हलस्तद्धितस्येति यलोपो न प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनाद् भवति।

गो शब्द से परे अनिष्ट सम्बुद्धि लोप करने के लिये एङ् ग्रहण रह सकता है। क्योंकि हे अग्ने हे वायो इत्यादि में स्थानिवत् मानने से ह्रस्व मिल जायगा इस लिये वहां ह्रस्व ग्रहण से सिद्ध होने पर भी हे गौः में स्थानिवत् होकर भी ओ मिलेगा। ह्रस्व नहीं मिलेगा। वहां सम्बुद्धि लोप करने के लिये एङ् ग्रहण की आवश्यकता हो सकती है इस लिये यह ज्ञापक नहीं बन सकता।

एङ् प्रत्याहार में यदि ओकार को गो आदि ओकारान्त शब्दों के लिये रख कर व्यर्थ न भी मानें तो भी एङ् प्रत्याहार ग्रहण में एकार तो व्यर्थ ही है। अन्यथा ओह्रस्वात् सम्बुद्धेः इतना ही सूत्र कह देते। वैसा न कह कर जो एङ् प्रत्याहार ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि सम्बुद्धिलोप में स्थानिवत् नहीं होता। इस लिये पूर्वविधि ग्रहण किये विना भी हे गौः में स्थानिवत् नहीं होगा।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। बाभ्रवीयाः। माधवीयाः। बभ्रोः मधो र्वा अपत्यं वाभ्रव्यः। माधव्यः। (वभ्रु-मधु-यञ्)। तस्य छात्राः बाभ्रवीयाः माधवीयाः (बाभ्रव्य, माधव्य-छ)। यहां बभ्रु को ओर्गुणः से ओ गुण हो कर बभ्रो हुआ। उस से परे यञ् को निमित्त मान कर बभ्रो के ओकार के स्थान में वान्तो यि प्रत्यये से अव् आदेश होता है। उस अवादेश के स्थानिवत् होने से हल् न रहेगा तो हलस्तद्धितस्य की अनुवृत्ति करके छ प्रत्यय परे रहते होने वाला आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति सूत्र से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता। पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि य का लोप अवादेश से पूर्व का कार्य नहीं है पर का कार्य है अतः स्थानिवत् न होगा तो हल् मिल जाने से य का लोप हो जायगा।[1]

---

१. यदि कहो बाभ्रवीयाः माधवीयाः यहां संनिपात परिभाषा से यलोप होना ही नहीं चाहिये क्योंकि जिस यञ् प्रत्यय के सम्बन्ध से अव् आदेश हुआ है वह अवादेश हल् बन कर यलोप का निमित्त नहीं बन सकता उससे संनिपात परिभाषा का विरोध होता है, तो इसका उत्तर है कि संनिपात परिभाषा को अनित्य मानने से यह दोष न होगा। बाभ्रवीयाः माधवीयाः में संनिपात परिभाषा की प्रवृत्ति न होगी तो यलोप हो जायगा।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। स्वाश्रयमत्र हल्त्वं भविष्यति। अथवा योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते, यश्चाश्रीयते नासावादेशः।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। नैधेयः। आकारलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् द्व्यज्लक्षणो ढक् न प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनाद् भवति।

अथ विधिग्रहणं किमर्थम्?

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। अवादेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं हल् होने से य लोप हो जायगा। अथवा जो यहां आदेश है अर्थात् अव्, वह हल् नहीं। क्योंकि हलों में वकार का पाठ है अव् का नहीं। और जो हल् है अर्थात् वकार, वह आदेश का अवयव है, आदेश नहीं, इस लिये स्थानिवद्भाव ही न होगा। य लोप में जिस का आश्रयण किया है वह आदेश नहीं है और जो आदेश है उस का आश्रयण नहीं किया गया है। इस लिये बाभ्रवीयाः माधवीयाः में स्थानिवद्भाव न होने से य लोप हो जायगा।

तब तो यह उदाहरण लीजिये। नैधेयः। (निधेरपत्यम्, नैधेयः) नि पूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय हो कर निधि शब्द बनता है। उस में धा धातु के आकार का लोप आतो लोप इटि च से कि-प्रत्यय को निमित्त मान कर हुआ है उस के स्थानिवत् होने से निधि शब्द में दो अच् न रह कर तीन अच् हो जायेंगे तो इतश्चानिञः से दो अच् मान कर होने वाला अपत्यार्थक ढक् प्रत्यय नहीं प्राप्त होता[1]। पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है। क्योंकि यहां ढक् प्रत्यय आकार लोप रूप आदेश से पूर्व का कार्य न हो कर पर का कार्य है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो दो अच् मिल जाने से ढक् हो जायगा।

विधि ग्रहण किस लिये किया है?

---

१. यद्यपि नैधेयः में स्थानिवद्भाव से तीन अच् हो जाने पर भी स्वाश्रय द्व्यच्त्व मान कर इतश्चानिञः से ढक् हो सकता है तो भी लौकिकी गौण्यप्युत्तरा संख्या पूर्वां संख्यां बाधते अथवा न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते इन न्यायों के अनुसार तीन अच् वाले को दो अच् वाला नहीं कहा जा सकता। तीन संख्या दो की विरोधिनी होने से दो को बाध लेगी। स्थानिवद्भाव से अविरुद्ध कार्य का ही अतिदेश होता है, विरुद्ध का नहीं। जो स्वाश्रय कार्य अतिदिष्ट कार्य से विरुद्ध है वह अतिदेश द्वारा बाधित हो जाता है। इस लिये यहां अतिदिश्यमान त्र्यच्त्व से स्वाश्रय द्व्यच्त्व की बाधा हो जायगी तो ढक् प्राप्त नहीं होता।

सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विज्ञायेत। पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः। पूर्वस्माद् विधिः पूर्वविधिरिति।

कानि पुनः पूर्वस्माद् विधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि।

बेभिदिता चेच्छिदिता। माथितिकः। अपीपचन्। बेभिदिता चेच्छिदितेति अकारलोपे कृते एकाज्लक्षण इट्प्रतिषेधः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति। माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तात् क इति कादेशः प्राप्नोति स्थानिवद्भावान्न भवति। अपीपचन् इत्येकादेशे कृते अभ्यस्तात्

जिस से पूर्व शब्द में सब विभक्तियों वाला समास समझ लिया जाय इस लिये विधिग्रहण करने पर दो पद हो जायेंगे। तभी यथेष्ट समास संभव है। पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः यह षष्ठी समास है। इसका अर्थ है—पूर्व का कार्य। पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः, पञ्चमी समास है। इस का अर्थ है—पूर्व से परे का कार्य अर्थात् पर का कार्य। दोनों प्रकार की विधियों में स्थानिवद्भाव करने के लिये विधिग्रहण की आवश्यकता है।

पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः इस प्रकार पञ्चमी समास में स्थानिवद्भाव मानने के क्या प्रयोजन हैं?

बेभिदिता चेच्छिदिता। माथितिकः। अपीपचन्। ये पञ्चमीसमास में स्थानिवद्भाव मानने के प्रयोजन हैं। बेभिदिता (बेभिद्य-तृच्) यहां बेभिद्य इस यङन्त भिद् धातु के उपदेश में एकाच्[1] होने से यङ् के अकार का अतो लोपः से लोप होने पर एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् से इट् का निषेध प्राप्त होता है। पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो यङ् के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उस के व्यवधान में तृच् को इट् का निषेध नहीं होगा। माथितिकः[2] (मथितं पण्यमस्य, मथित-ठक्-इक) यहां मथित शब्द से परे ठ प्रत्यय के पूरे ठ शब्द को ठस्येकः से इक आदेश हुआ है उसके परे रहते मथित के अकार का यस्येति च से लोप हो कर मथित् यह तकारान्त हो जाता है। इक आदेश को स्थानिवदादेशो से ठ मान कर उस के स्थान में इसुसुक्तान्तात् कः से क आदेश प्राप्त होता है। पञ्चमी समास मानने से पर कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो मथित के

---

१. षाष्ठ द्वित्व द्विः प्रयोग (दोबार उच्चारण मात्र) है, इससे धातु अनेकाच् नहीं हो जाता।

२. मठा बेचने वाला।

झेर्जुस् भवतीति जुस्भावः प्राप्नोति स्थानिवद्भावान्न भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम् । प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या ।

अकारलोप को स्थानिवत् मान कर तकारान्त न रहने से क आदेश नहीं होगा। अपीपचन् (पच्-णिच्-चङ्-लुङ् झि) यहां णिजन्त पच् धातु के णिच् का चङ् परे रहते णेरनिटि से लोप होता है । चङ् के अकार का झि[1] के स्थान में हुए अन्त आदेश के साथ अतो गुणे से पररूप एकादेश हो जाता है। द्वित्व हो कर अभ्यस्त बने हुए पच् से परे अन्त आदेश को स्थानिवदादेशः—से झि मान कर सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से जुस् प्राप्त होता है। पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो णिच् के लोप और अतो गुणे से हुए पररूप एकादेश को स्थानिवत् मानने से उन के व्यवधान में जुस् नहीं होगा।

विधिग्रहण के ये कोई प्रयोजन नहीं। विधिग्रहण के विना भी अचः परस्मिन् पूर्वं ऐसा सूत्र बनायेंगे। उसमें पूर्व यह लुप्तविभक्तिक प्रातिपदिक का निर्देश समझा जायगा। प्रातिपदिक के निर्देश अर्थप्रधान होते हैं। मुख्यतया किसी विशेष विभक्ति के अर्थ का आश्रयण नहीं करते। उसमें पूर्व इस प्रातिपदिक के सामान्य अर्थ निर्देश में जिस २ विभक्ति के अर्थ के निकालने की इच्छा होगी वही २ विभक्ति उसके आगे लगी हुई समझ ली जायगी। पूर्व इसके आगे पूर्वात् और पूर्वस्य ये पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति लगी हुई समझ कर पूर्व के कार्य में और पूर्व से परे के कार्य में स्थानिवद्भाव होता है यह अर्थ निकल आयगा। उससे भिदिता चेच्छिदिता इत्यादि पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा।[2]

---

१. इतश्च से इकार का लोप होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से झि ही समझा जायगा।

२. यदि कहो पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव मानने पर हे गौः बाभ्रवीयाः नैधेयः ये पूर्वोक्त उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे तो उसका उत्तर है कि वहां अच् से जो पूर्व है उसको निमित्त मान कर विधि करने में स्थानिवद्भाव माना जायगा। अच् अथवा अच् के स्थान में हुए आदेश को निमित्त मान कर विधि करने में

इदं तर्हि प्रयोजनम्। विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात्, अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृतौ। वाय्वोः अध्वर्य्वोः, लोपो व्योर्वलीति यलोपो मा भूदिति।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

[अपरविधाविति तु]

अपरविधाविति तु वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। स्वविधावपि स्थानिवद्भावो यथा स्यात्।

अच्छा तो विधिग्रहण का यह प्रयोजन है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय। चाहे उस विधि में प्रकृति (स्थानी) आश्रीयमाण हो या न हो। अर्थात् स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति हो कर स्थानिवत् ही रहे। जैसे वाय्वोः अध्वर्य्वोः (वायु, अध्वर्यु-ओस्) यहां वायु अध्वर्यु शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से वकार यणादेश हुआ है। उस वकार के परे रहते लोपो व्योर्वलि से यलोप प्राप्त होता है। विधिमात्र में स्थानिवत् होने से यणादेश स्थानिवत् मान लिया जायगा तो वल् परे न रहने से यलोप नहीं होता। यहां विधिग्रहण से यह लाभ हुआ कि यणादेश के स्वाश्रय वल् रूप होने से जो यलोप प्राप्त होता था वह विधिग्रहण सामर्थ्य से रुक गया। यलोप विधि में यणादेश की प्रकृति उकार का कार्य के निमित्त के रूप में आश्रयण नहीं किया गया है तो भी वहां स्थानिवद्भाव हो गया। इस प्रकार विधिग्रहण से सर्वत्र स्थानिवद्भाव हो जायगा ; चाहे वहां स्थानिवद्भाव से शास्त्र लगता हो या रुकता हो।

विधिग्रहण का यह प्रयोजन है तो, किन्तु पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ ऐसा कह देना चाहिये। जिस से पर विधि को छोड़ कर शेष सब विधियों में चाहे आदेश से पूर्व को कार्य हो या स्वविधि अर्थात् स्वयं आदेश को ही कार्य करना हो वहां भी स्थानिवद्भाव हो जावे। न परविधौ=अपरविधौ। अर्थात् परविधि में स्थानिवद्भाव न होवे।

स्थानिवद्भाव नहीं माना जायगा। हे गौः में गो शब्द के ओकार रूप अच् से पूर्व गकार है उसको निमित्त मान कर सुलोप नहीं प्राप्त होता इस लिये वहां स्थानिवद्भाव नहीं होगा। बाभ्रवीयाः में भी बभ्रो के ओकार रूप अच् से पूर्व रेफ है और नैधेयः में भी निधि के धा धात्वस्थ आकार रूप अच् से पूर्व धकार है उसको निमित्त मान कर यलोप अथवा ढक् प्रत्यय नहीं विहित है अतः स्थानिवद्भाव नहीं होगा।

कानि पुनः स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति । कृण्वन्ति । दध्यत्र मध्वत्र । चक्रतुः चक्रुः । इह तावद् आयन् आसन् इति इणस्त्योर्यण्लोपयोः कृतयोरनजादित्वादाडजादीनामित्याद् न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति । धिन्वन्ति कृण्वन्ति । यणादेशे कृते वलादिलक्षण इट् प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । दध्यत्र मध्वत्र । यणादेशे कृते संयोगान्तस्य लोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । चक्रतुः चक्रुः । यणादेशे कृतेऽनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

स्वविधि में स्थानिवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति कृण्वन्ति । दध्यत्र मध्वत्र । चक्रतुः चक्रुः ये स्वविधि में स्थानिवद्भाव के प्रयोजन हैं । आयन् आसन् (इण्, अस्-लङ् झि) यहां आयन् में इणो यण् से इण् को यणादेश और आसन् में अस् के अकार का श्नसोरल्लोपः से लोप होने पर अजादि न रहने से आडजादीनाम् से आडागम नहीं प्राप्त होता । स्वविधि में स्थानिवद्भाव होने से अजादि मान कर आट् हो जाता है । यहां आदेश से पूर्व कुछ न होने से स्वयं आदेश को ही आडागम कार्य करना है ।

धिन्वन्ति कृण्वन्ति (धिन-उ-अन्ति, कृण-उ-अन्ति) यहां धिन्व् कृण्व् धातुओं से परे आर्धधातुक उ प्रत्यय को इको यणचि से वकार यणादेश हुआ है । उस के वलादि आर्धधातुक हो जाने से आर्धधातुकस्येड्वलादेः से इट् प्राप्त होता है । आदेश से पूर्व को कुछ कार्य न होने से स्वयं वकार आदेश को ही इडागम रूप कार्य प्राप्त है । तो स्वविधि में स्थानिवद्भाव हो कर वलादि न रहने से इडागम नहीं होता । दध्यत्र मध्वत्र (दधि, मधु-अत्र) यहां इको यणचि से यणादेश हो कर ध् य् का संयोग हो जाने से संयोगान्तस्य लोपः से य का लोप प्राप्त होता है । स्वयं यणादेश को ही कार्य होने से स्वविधि में स्थानिवद्भाव हो कर य का लोप नहीं होता ।

चक्रतुः चक्रुः (कृ-लिट् तस् अतुस्, झि उस्) यहां कृ के ऋ को इको यणचि से रेफ यणादेश हो कर अच् न रहने से लिटि धातोरनभ्यासस्य से एकाच् को कहा गया द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्वयं आदेश को ही कार्य होने से स्वविधि में स्थानिवद्भाव मान कर अच् आजाने से द्वित्व हो जाता है[1] ।

---

१. यदि कहो कि अपरविधौ कहने पर यद्यपि स्वविधि में स्थानिवद्भाव

यदि तर्हि स्वविधावपि स्थानिवद्भावो भवति। द्वाभ्यां देयं लवनम् अत्रापि प्राप्नोति । द्वाभ्यामित्यत्रात्वस्य स्थानिवद्भावाद् दीर्घत्वं न प्राप्नोति । देयमितीत्त्वस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न प्राप्नोति। लवनमित्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भावादवादेशो न प्राप्नोति।

यदि स्वविधि में भी स्थानिवद्भाव मानते हैं तो द्वाभ्याम् । देयम्। लवनम् यहां भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है।

द्वाभ्याम् में द्वि शब्द के इकार को त्यदादीनामः से अकार हो कर स्वयं अकार आदेश को ही सुपि च से दीर्घ करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अकार न रहने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता।

देयम् (दा-यत्) में दा के आ को ईद्यति से ईकार हुआ है। स्वयं ईकार आदेश के ही कार्य करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो इगन्त न रहने से सार्वधातुक गुण नहीं प्राप्त होता।

लवनम् (लू-ल्युट्+अन) में लू धातु के ऊकार को ओकार गुण हुआ है । स्वयं ओकार रूप आदेश के कार्य में ही स्थानिवद्भाव हो जायगा तो ओकार न रहने से एचोऽयवायावः से अवादेश नहीं प्राप्त होता।

सिद्ध हो जाता है तो भी बेभिदिता चेच्छिदिता इत्यादि परविधियों में स्थानिवद्भाव कैसे सिद्ध होगा तो उस का उत्तर है, उक्त स्थलों में निमित्त की अपेक्षा परविधि मानी जायगी । बेभिदिता में यङ् के अकारलोप का निमित्त तृच् आर्धधातुक है उस से परे कोई विधि नहीं करनी बल्कि उसी को इडागमरूप विधि करनी है इसलिये स्थानिवद्भाव हो जायगा । इसी प्रकार माथितिकः अपीपचन् ये भी स्वविधि बन जायेगी। परविधि न होगी तो वहां भी स्थानिवद्भाव हो जायगा। हे गौः में यद्यपि अपरविधि हो जाने से स्थानिवद्भाव प्राप्त है क्योंकि वहां णित् सु प्रत्यय रूप निमित्त से परे किसी को कोई विधि नहीं करनी इस लिये अपरविधि होने से स्थानिवत् हो जायगा तो सुलोप प्राप्त होगा तो भी वहां एङ् प्रत्याहार ग्रहण सामर्थ्य से दोष न होगा । बाभ्रवीयः में योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यह पूर्वोक्त समाधान है ही। नैधेयः में भी निधि के इकार रूप निमित्त से परे ढक् प्रत्यय का विधान करना है इस लिये परविधि हो जाने से स्थानिवद्भाव न होगा । इस प्रकार पूर्वविधौ या अपरविधौ इन दोनों न्यासों में कहीं दोष नहीं आता।

नैष दोषः। स्वाश्रया अत्रैते विधयो भविष्यन्ति।

तत्तर्हि वक्तव्यम् अपरविधाविति ?

न वक्तव्यम्। पूर्वविधावित्येव सिद्धम्। कथम्। न पूर्वग्रहणेनादेशोऽभिसम्बध्यते। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवति। कुतः पूर्वस्य, आदेशादिति। किं तर्हि निमित्तमभिसम्बध्यते। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति। कुतः पूर्वस्य, निमित्तादिति।

अथ निमित्तेऽभिसम्बध्यमाने यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदा-

यह कोई दोष नहीं। द्वाभ्याम् इत्यादि विधियां स्वाश्रय हो जायेंगी। स्वाश्रय का अर्थ यहां ज्ञापकाश्रय है। विधिग्रहण का प्रयोजन स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति पहले कह चुके हैं इस लिये यहां स्व शब्द से आदेश का ग्रहण नहीं करना बल्कि अपने २ ज्ञापकों के सहारे द्वाभ्याम् इत्यादि बन जायेंगे। किं यत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् यहां द्वयोः यह निर्देश द्वाभ्याम् में स्थानिवद्भाव के निषेध का ज्ञापक समझा जायगा। देयम् में देयमृणे इस ज्ञापक से तथा लवनम् में किरतौ लवने इस ज्ञापक से स्थानिवद्भाव नहीं होगा।

तो फिर पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ कह दिया जाय? हम तो समझते हैं कि—

अपरविधौ कहने की आवश्यकता नहीं। पूर्वविधौ से ही काम चल जायगा। उसीसे स्वविधि में भी स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा। कैसे? पूर्वविधौ में पूर्व शब्द का सम्बन्ध आदेश के साथ कर के यह अर्थ नहीं करेंगे कि पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह आदेश से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है। बल्कि पूर्वविधौ में पूर्व शब्द का सम्बन्ध निमित्त के साथ कर के सूत्र का यह अर्थ करेंगे कि पर निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है। उससे आयन् आसन् आदि स्वविधियों में भी स्थानिवत् हो जायगा। जब आदेश से पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् मानते हैं तब स्वविधि में स्थानिवद्भाव कहना पड़ता है। निमित्त से पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् मानने पर स्वविधि में भी स्थानिवत् सिद्ध हो जाता है उसके लिये अलग स्थानिवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि आयन् आसन् आदि सब विधियां निमित्त से पूर्व विधियां हैं।

निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् मानने पर इस सूत्र का जो

हरणं तदपि संगृहीतं भवति ?

पट्व्या मृद्व्येति।

बाढं संगृहीतम्।

ननु च ईकारयणा व्यवहितत्वात् नासौ निमित्तात् पूर्वो भवति ?

व्यवहितेपि पूर्वशब्दो वर्तते। तद्यथा पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति। अथवा पुनरस्तु आदेश एवाभिसम्बध्यते इति।

कथं यानि स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

नैतानि सन्ति। इह तावत्—आयन् आसन् धिन्वन्ति कृण्वन्ति

मूर्धाभिषिक्त सब से प्रसिद्ध मुख्य उदाहरण है, क्या वह भी संगृहीत हो जाता है ? उसकी सिद्धि भी हो जाती है या नहीं ?

वह कौन सा उदाहरण है ? (भाष्य में अथ शब्द प्रश्नार्थक है)।

पट्व्या मृद्व्या।

हां, पट्व्या मृद्व्या यह प्रसिद्ध उदाहरण भी निमित्त से पूर्व विधि में स्थानिवत् मानने पर ठीक सिद्ध हो जाता है।

पट्व्या मृद्व्या (पटु ई आ, मृदु ई आ) यहां पटु ई आ इस अवस्था में टा के आ को निमित्त मान कर इको यणचि से ई को यण् होता है। उस यणादेश को इस सूत्र से स्थानिवत् मान कर पटु के उकार को भी यण् हो जाता है। किन्तु पटु का उकार निमित्त भूत आ से अव्यवहित पूर्व में नहीं है। उसके बीच में ई के यण् का व्यवधान है इस लिये निमित्त से पूर्वविधि में स्थानिवत् मानने पर यहां स्थानिवत् कैसे होगा ?

पूर्वशब्द का प्रयोग व्यवधान में भी होता है। जैसे मथुरा से पूर्व पटना है ऐसा कहते हैं पर बीच में बहुत से अन्य नगरों का व्यवधान होता है। इसी प्रकार पट्व्या में पटु का उकार व्यवधान होने पर भी है तो आ से पूर्व ही। परे तो नहीं है। इस लिये निमित्तभूत आ से पूर्वविधि मान कर स्थानिवत् हो जायगा। अथवा आदेश से पूर्वविधि में ही स्थानिवद्भाव मानिये। उसमें भी दोष न होगा।

आदेश से पूर्वविधि में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वविधि में कैसे स्थानिवद्भाव होगा। स्वविधि के आयन् आसन् आदि प्रयोजन कैसे सिद्ध होंगे ?

आयन् आसन् आदि जो स्वविधि में स्थानिवद्भाव के प्रयोजन कहे हैं वे

इति। अयं विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनो विधीयते विधिरिति। अस्ति भावसाधनः। विधानं विधिरिति। तत्र कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्वमिष्टं संगृहीतमिति कृत्वा भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादानं विज्ञास्यते। पूर्वस्य विधानं प्रति पूर्वस्य भावं प्रति, पूर्वः स्यादिति स्थानिवद् भवतीति। एवमाट् भविष्यति। इट् च न भविष्यति। दध्यत्र मध्वत्र चक्रतुः चक्रुरित्यत्र परिहारं वक्ष्यति।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

कुछ नहीं। उनकी अन्यथा सिद्धि हो जायगी। पहले आयन् आसन् धिन्वन्ति कृण्वन्ति इनको लीजिये। इनकी सिद्धि इस प्रकार होगी कि हम पूर्वविधौ में विधि शब्द को कर्मसाधन न मान कर भावसाधन मान लेंगे। क्योंकि विधि शब्द एक तो कर्मसाधन है। विधीयते इति विधिः इस प्रकार कर्मवाच्य में कि प्रत्यय करके बनता है। एक भावसाधन है। विधानमेव विधिः इस प्रकार भाव में कि प्रत्यय करके बनता है। कर्मसाधन पक्ष में पूर्वविधि शब्द का अर्थ होता है—पूर्व को कोई विधि (=कार्य) करने में आदेश स्थानिवत् होता है। भावसाधन पक्ष में अर्थ होगा—पूर्व का विधान करने में, पूर्वता लाने में, किसी को पूर्व बनाने में स्थानिवत् होता है। कर्मसाधन पक्ष में आयन् आसन् आदि इष्ट सिद्ध नहीं होते क्योंकि वहां आदेश से पूर्व कुछ है ही नहीं जिसको विधि करनी हो। इस लिये भावसाधन पक्ष वहां मानेंगे। उससे आयन् आसन् में आट् की पूर्वता लाने में यणादेश और अल्लोप को स्थानिवद्भाव हो जायगा तो आट् हो जायगा। धिन्वन्ति कृण्वन्ति में इट् की पूर्वता लाने में यणादेश स्थानिवत् हो जायगा तो वलादि न रहने से इट् न होगा। दध्यत्र मध्वत्र, चक्रतुः चक्रुः यहां भी आगे समाधान कहेंगे।[1]

इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं ?

---

1. वह समाधान यही है कि दध्यत्र मध्वत्र में प्राप्त संयोगान्त लोप का संयोगान्तलोपे यणः प्रतिषेधो वाच्यः इस वार्तिक से निषेध हो जायगा। चक्रतुः चक्रुः में क्र को यण् हो कर अच् रहित हो जान पर भी द्विर्वचनेचि सूत्र से यणादेश को स्थानिवत् मान कर क्र रूप हो जाने से द्वित्व सिद्ध हो जायगा। द्विर्वचनेचि सूत्र में कार्यातिदेश न मान कर रूपातिदेश माना गया है। उससे क्र इस रूप का ही स्थानिवत् से अतिदेश हो जाता है। इस प्रकार स्वविधि के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। कहीं दोष नहीं रहता। अतः अपरविधौ न कह कर पूर्वविधौ कहना ही ठीक है।

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततःश्वोभूते शातनीं पातनीं च ।
नेतारावागच्छतं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च ॥

इह तावत् पादिकम्, औदवाहिम्, शातनीम्, पातनीम्, धारणिम्, रावणिम् इति । अकारलोपे कृते पद्भावः, ऊठ्, अल्लोपः, टिलोपः इत्येते विधयः प्राप्नुवन्ति । स्थानिवद्भावान्न भवन्ति । स्रंस्यते ध्वंस्यते इत्यत्र णिलोपे कृते अनिदितां हल उपधायाः क्ङितीति नलोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवतीति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । 'असिद्धवदत्राभादि'त्यनेनाप्येतानि

हे श्वोभूति नामक शिष्य ! और नेता नामक दोनों शिष्य ! तुम आओ । मैं तुम्हें इस सूत्र के प्रयोजन कहूँगा । पादिकः, औदवाहिः, शातनी पातनी, धारणिः रावणिः, स्रंस्यते ध्वंस्यते ये इस सूत्र के प्रयोजन हैं । पादिकः (पादोस्यास्तीति, पाद-ठन्) यहां पाद शब्द से मत्वर्थीय ठन् प्रत्यय परे रहते यस्येति च से पाद के अकार का लोप हो कर पादः पत् से पदादेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । औदवाहिः (उदवाहस्यापत्यम्, उदवाह-इञ्) यहां उदवाह[1] शब्द से इञ् परे रहते यस्येति च से उदवाह के अकार का लोप हो कर वाह ऊठ् से ऊठ् आदेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । शातनी पातनी (शातन पातन-ङीष्) यहां शातन पातन शब्द जो गौरादिगण पठित हैं उनसे स्त्रीलिङ्ग में ङीष् परे रहते यस्येति च से अकार लोप हो कर अल्लोपोऽनः से अन् के अकार का लोप प्राप्त होता है । अकार लोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । धारणिः रावणिः (धारणस्य रावणस्य अपत्यम्, धारण रावण-इञ्) यहां धारण रावण शब्दों से इञ् परे रहते यस्येति च से अकार का लोप हो कर नस्तद्धिते से टिसंज्ञक अन् शब्द का लोप प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । स्रंस्यते ध्वंस्यते (स्रंस् ध्वंस्-णिच्-यक् त) यहां णिजन्त स्रंस् ध्वंस् धातुओं से यक् परे रहते णेरनिटि से णि का लोप हो कर स्रंस् ध्वंस् का नकार उपधा में आ जाने से अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति से नकारलोप प्राप्त होता है । णिलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

ये कोई प्रयोजन नहीं । असिद्धवदत्राभात् इस सूत्र से भी ये सब सिद्ध हैं ।

---

१. उदकस्योदः संज्ञायाम् इस सूत्र से उदक को उद आदेश हुआ है । उदवाहो नाम कश्चित् ।

सिद्धानि ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । याज्यते वाप्यते णिलोपे कृते यजादीनां कितीति सम्प्रसारणं प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । यजादिभिरत्र कितं विशेषयिष्यामः । यजादीनां यः किदिति । कश्च यजादीनां कित् ? यजादिभ्यो यो विहित इति । न चायं यजादिभ्यो विहितः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । पट्व्या मृद्व्येति । परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति । ईकारयणा व्यवहितत्वात् । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

किं पुनः कारणं परस्य तावद् भवति न पुनः पूर्वस्य ?

नित्यत्वात् । नित्यः परयणादेशः । कृतेपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति ।

क्यों कि पादः पत् वाह ऊठ् आदि सभी सूत्र आभीय प्रकरण के हैं । उनके करने में यस्येति च और णेरनिटि से हुए अकारलोप तथा णिलोप भी आभीय होने से असिद्ध हो जायेंगे तो पादिकः औदवाहः आदि में पदादि आदेश नहीं होंगे ।

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । याज्यते वाप्यते (यज् वप्-णिच् यक्-त) यहां णिजन्त यज् वप् धातुओं से यक् परे रहते णि का लोप हो कर वचिस्वपि० से सम्प्रसारण प्राप्त होता है णिलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । वचिस्वपि सूत्र में यजादि धातुओं से कित् प्रत्यय को विशेषित करेंगे । यजादि सम्बन्धी कित् परे होने पर सम्प्रसारण होता है । जो कित् प्रत्यय यजादियों से विहित है ऐसा मानेंगे । याज्यते वाप्यते में यज् वप् धातुओं से कित् प्रत्यय यक् का विधान नहीं है किन्तु णिजन्त याजि वापि से है इस लिये यहां सम्प्रसारण नहीं होगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पट्व्या मृद्व्या । यहां पटु ई आ इस अवस्था में आ परे रहते पहले ई को यणादेश हो कर उस का व्यवधान हो जाने से पूर्ववर्ती पटु के उकार को यणादेश नहीं प्राप्त होता । ई के यण् को इस सूत्र से स्थानिवत् मान कर हो जाता है ।

क्या कारण है जो पट्व्या मृद्व्या में आप पहले ई को यण करते हैं पटु के उकार को नहीं करते ?

पट्व्या, मृद्व्या में हम नित्य होने से पहले ई को यण् करते हैं । ई का यण् नित्य है । पटु के उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है ।

अकृतेपि प्राप्नोति। नित्यत्वात् परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति। स्थानिवद्भावाद् भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। 'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्ग-लक्षणे' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य परयणादेशस्य अन्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति। अवश्यं चैषा परिभाषा आश्रयितव्या स्वरार्थम्। कर्त्र्या हर्त्र्येति। 'उदात्तयणो हल्पूर्वाद्' इत्येष स्वरो यथा स्यात्।

अनेनापि सिद्धः स्वरः। कथम्।

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ।

और न करने पर भी। इस लिये पटु के उकार को पहले यण् न कर के नित्य होने के कारण ई को यण् करना पड़ता है। ई को यण् करने पर उस का व्यवधान हो जाने से पटु के उकार को यण् नहीं प्राप्त होता। स्थानिवत् मान कर हो जाता है।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा से परवर्ती ई का यण् बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जायगा। पूर्ववर्ती पटु के उकार का यण् पूर्वं पूर्वमन्तरङ्गं परं परं बहिरङ्गम् इस न्याय के अनुसार प्रथमोपस्थित होने से अन्तरङ्ग है। इस लिये पहले वही होगा। ई का यण् उस के बाद में होगा। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का अर्थ है कि बहिरङ्ग लक्षण कार्य अन्तरङ्ग लक्षण कार्य करने में असिद्ध रहता है। अन्तरङ्ग से पहले बहिरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस लिये पहले पट्वी बना कर फिर पट्व्या बनाया जायगा। उस में स्थानिवत् की आवश्यकता ही नहीं है। असिद्ध परिभाषा का मानना, स्वर के लिये भी आवश्यक है। जिस से कर्त्र्या हर्त्र्या यहां उदात्तयणो हल्पूर्वात् से टा विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो सके। कर्तृ ई आ इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने से कर्तृ के ऋ[1] को पहले यणादेश रेफ हो कर फिर ई को यण् होगा तो उदात्तयणो हल्पूर्वात् से ई को उदात्त हो कर फिर आ विभक्ति को भी उसी सूत्र से उदात्त सिद्ध हो जायगा। अन्यथा पहले ई को यण् हो कर फिर ऋ को यण् होगा तो ई के यण् का व्यवधान होने से आ विभक्ति को उदात्त न हो सकेगा।

कर्त्र्या, हर्त्र्या में विभक्ति स्वर तो इस सूत्र से भी सिद्ध हो जायगा। कैसे? अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इस स्थानिवत्सूत्र के बना देने पर पूर्वयणादेश

---

१. कर्तृ हर्तृ तृजन्त होने से अन्तोदात्त हैं। चितः सूत्र से ऋ उदात्त है।

आरभ्यमाणे त्वस्मिन् योगे नित्यः पूर्वयणादेशः। कृतेपि परयणादेशे प्राप्नोति। अकृतेऽपि।

परयणादेशोऽपि नित्यः। कृतेपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति, अकृतेपि।

परश्चासौ व्यवस्थया।

व्यवस्थया चासौ परः।

युगपत् संभवो नास्ति।

न चास्ति यौगपद्येन संभवः। कथं च सिध्यति।

बहिरङ्गेण सिध्यति।

असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इत्यनेन सिध्यति।

एवं तर्हि योऽत्रोदात्तयण् तदाश्रयः स्वरो भविष्यति।

ईकारयणा व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति।

भी नित्य हो जायगा। कर्तृ ई आ इस अवस्था में परवर्ती ई के यण् को स्थानिवत् मान कर पूर्ववर्ती ऋ का यण् भी नित्य हो जाता है। ई को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी। नित्य होने से ऋ का यण् ही पहले हो जायगा तो विभक्ति स्वर निर्बाध है।

कर्त्र्या, हर्त्र्या अथवा पट्व्या, मृद्व्या में परवर्ती ई का यण् भी नित्य है। पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी। दोनों के विप्रतिषेध की व्यवस्था से ई का यण् परे भी है। एक साथ दोनों यणों का संभव नहीं है। ऐसी विषम स्थिति में कैसे सिद्ध होगा? असिद्ध परिभाषा से ही सिद्ध होगा। परवर्ती ई का यण् बहिरङ्ग होने से असिद्ध है। उस के असिद्ध होने के कारण पहले पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार का यण् हो जायगा। उस से कर्त्र्या हर्त्र्या में स्वर भी अव्याहत रहेगा और पट्व्या मृद्व्या में स्थानिवत् के विना ही काम चल जायगा।

असिद्ध परिभाषा न भी मानें तो भी कर्त्र्या हर्त्र्या में स्वर सिद्ध हो जायगा। कर्तृ ई आ इस अवस्था में पहले ई को यण् करने पर फिर ऋ को यण् हो जायगा। ऋ का यण् उदात्त स्थानिक होने से उदात्तयण् है उस से परे विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा।

ई के यण् का व्यवधान होने से कर्त्र्या हर्त्र्या में विभक्ति को उदात्त

'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवती'ति नास्ति व्यवधानम्।

सा तर्हि एषा परिभाषा कर्तव्या।

ननु चेयमपि कर्तव्या असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इति।

बहुप्रयोजनैषा परिभाषा। अवश्यमेवैषा कर्तव्या। सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा। कथम्। प्रत्यङ्गवर्ती[1] लोको लक्ष्यते। तद्यथा पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं[2] कार्याणि तानि तावत् करोति। ततः

स्वर नहीं प्राप्त होता। यदि आप अन्तरङ्ग होने से ऋ के यण् को पहले कर लें तब तो बाद में हुआ ई का यण् भी उदात्तयणो हल्० से उदात्त हो कर उस से परे विभक्ति को उदात्त कर सके। किन्तु पहले ई को यण् मानने पर उस का व्यवधान हो जायगा तो विभक्ति स्वर कैसे होगा।

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से यण् रूप व्यञ्जन का व्यवधान नहीं होता तो विभक्ति स्वर हो जायगा। इस परिभाषा का अर्थ है कि स्वर करने में व्यञ्जन विद्यमान नहीं माना जाता। कर्त्र्या हर्त्र्या में पहले ई को यण् करने पर भी यण् रूप व्यञ्जन विद्यमान न माना जायगा तो उस का व्यवधान न होने से टा विभक्ति को उदात्त स्वर अव्याहत सिद्ध हो जायगा।

तो फिर आप को कर्त्र्या हर्त्र्या में स्वर सिद्ध करने के लिये स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् यह परिभाषा बनानी पड़ेगी?

आप को भी तो कर्त्र्या हर्त्र्या या पट्व्या मृद्व्या की सिद्धि के लिये असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे यह परिभाषा बनानी पड़ेगी। हमारे पक्ष में तो स्थानिवत्सूत्र से ही कर्त्र्या हर्त्र्या में स्वर और पट्व्या मृद्व्या में पूर्वयणादेश दोनों सिद्ध हो जाते हैं।

असिद्ध परिभाषा बहुत प्रयोजनों वाली है इस लिये यह परिभाषा अवश्य ही बनानी चाहिये और माननी चाहिये। वैसे यह परिभाषा लोकव्यवहार से भी सिद्ध है। कैसे? लोक प्रत्यङ्गवर्ती अपने निकट में व्यवहार वाला देखा जाता है। मनुष्य सवेरे उठ कर पहले अपने शरीर-सम्बन्धी शुद्धि आदि कार्य करता है। उन से निबट कर फिर अपने मित्रों के और फिर

---

१. अङ्ग शब्द प्रत्यासत्ति (समीपता) का लक्षक है, अङ्ग अङ्गी के प्रति प्रत्यासन्न होते हैं।

२. प्रति शरीरम्—यहाँ प्रति शब्द के योग में द्वितीया हुई है।

सुहृदां ततः सम्बन्धिनाम्। प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते[1]। व्यक्तस्य सतो लिङ्गसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति। यथैव चानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावस्तथैव शब्दानामपि, तद्वत् कार्यैरपि भवितव्यम्।

इमानि तर्हि प्रयोजनानि। पटयति। लघयति। अवधीत्। बहुखट्वकः। पटयति लघयतीति णिचि टिलोपे कृते 'अत उपधाया' इति वृद्धिः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति। अवधीदित्यकारलोपे कृते 'अतो हलादेर्लघोरिति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति। बहुखट्वक इति 'आपोऽन्यतरस्यामि'ति ह्रस्वे कृते ह्रस्वान्तेऽन्त्या-

---

अन्य सम्बन्धियों के काम देखता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में प्रातिपदिक भी पहले सामान्य अर्थ का वाचक होता है। सामान्य से विशेष व्यक्ति (द्रव्य) का। फिर उस का लिङ्ग और संख्या के साथ योग हो कर बहिर्भूत कर्ता कर्म करण आदि अर्थ जो दूसरे की (क्रिया की) अपेक्षा रखने वाले हैं उन से योग हो जाता है। जिस क्रम से पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी क्रम से शब्दों का तथा तत्सम्बन्धी कार्यों का योग भी होना चाहिये। इस प्रकार लोकसिद्ध असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का आश्रयण कर के पट्व्या मृद्व्या में पहले पूर्ववर्ती पटु के उकार को यण् हो कर पट्वी बनायेंगे। फिर आ परे रहते ई को यण् हो कर पट्व्या बन जायगा। प्रथमोपस्थित यणादेश अन्तरङ्ग है इस लिये पहले वही होगा। उस अवस्था में स्थानिवत् की आवश्यकता नहीं रहती।

अच्छा तो ये प्रयोजन लीजिये। पटयति लघयति। अवधीत्। बहुखट्वकः। पटयति लघयति (पटुं लघुं वा आचष्टे, पटु लघु-णिच्) यहां पटु शब्द से णिच् परे रहते टेः से पटु के टि संज्ञक उकार का लोप हो कर उपधा में अकार हो जाने से पट् को अत उपधायाः से उपधावृद्धि प्राप्त होती है। उकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होती। अवधीत् (हन्+वध्-सिच्-लुङ्) यहां सिच् परे रहते वध के अकार का अतो लोपः से लोप हो कर अतो हलादेर्लघोः से विकल्प से वृद्धि प्राप्त होती है। अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होती। बहुखट्वकः (बह्वयः खट्वाः यस्मिन् सः) यहां बहुव्रीहि समास में

---

१. उपजायते का अर्थ उत्पद्यते उत्पन्न होता है नहीं। बोध का विषय होता है ऐसा अर्थ है।

त्पूर्वमि'ति एष स्वरः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति।

इह वैयाकरणः सौवश्व इति य्वोः स्थानिवद्भावादायावौ प्राप्नुतस्तयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः।

अचः पूर्वविज्ञानादैचोः सिद्धम्।

योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः। आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वः।

किं वक्तव्यमेतत्?

कप् परे रहते खट्वा को आपोऽन्यतरस्याम् से ह्रस्व हो कर ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम् से ट्व से पूर्व 'ख' को उदात्त स्वर प्राप्त होता है। स्थानिवत् होने से ह्रस्व न रहेगा तो ख पर स्वर न हो कर कपि पूर्वम् से ट्व को इष्ट उदात्त स्वर सिद्ध हो जाता है।

वैयाकरणः सौवश्वः (वि आ करणम्=व्याकरणम्। व्याकरणमधीते वेद वा। सु अश्वः=स्वश्वः। स्वश्वे भवः। व्याकरण, स्वश्व-अण्) यहां वि आ करण, सु अश्व इस अवस्था में इको यणचि से हुए यकार वकार आदेश को इस सूत्र से स्थानिवत् मान कर अच् परे हो जाने से (ऐच् आगम हो जाने पर) वै और सौ के ऐ औ को आय् आव् आदेश प्राप्त होते हैं उन का निषेध कहना चाहिये।

वैयाकरणः, सौवश्वः में आय् आव् आदेश के निषेध की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यहां पूर्वविधि न होने से यकार वकार आदेश स्थानिवत् न होंगे। अनादिष्ट जो अच् है अर्थात् जब तक अच् के स्थान में आदेश नहीं हुआ उस से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में ही स्थानिवद्भाव होता है। आदिष्ट हुए अच् से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में स्थानिवत् नहीं होता। यहां यकार वकार आदेश होने के बाद न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् से ऐ औ हुए हैं। इस लिये आदिष्ट अच् से पूर्व ऐ औ होने से यहां स्थानिवद्भाव न होगा तो आय् आव् आदेश न होंगे।

क्या यह बात कहनी होगी कि अनादिष्ट अच् से पूर्व विधि में ही स्थानिवद्भाव होता है, आदिष्ट अच् से पूर्व की विधि में नहीं होता?

---

१. अनादिष्टादचः—अविद्यमानम् आदिष्टमादेशो यस्याचः, तस्मात्। आदिष्ट यहां भावे क्त समझना चाहिये।

नहि।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

अच इति पञ्चमी। अचः पूर्वस्य।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति।

आदेशश्च विशेषितः। कथम्। न ब्रूमो यत् षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तत् पञ्चमीनिर्दिष्टं कर्तव्यमिति।

किं तर्हि। अन्यत् कर्तव्यम् ?

अन्यच्च न कर्तव्यम्। यदेवादः षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तस्य दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी भविष्यति। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधिं प्रति स्थानिवद् भवति। कुतः पूर्वस्य ?. अच इति। तद्यथा आदेशः

इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं।

विना कहे कैसे समझी जायगा ?

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इस सूत्र में अचः यह पञ्चमी षष्ठी दोनों का रूप संभव है। हम अचः को यहां पञ्चमी मानेंगे। सूत्र का अर्थ होगा अच् से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवत् होता है। आदेश से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवत् नहीं होगा तो वैयाकरणः सौवश्वः इकार उकार रूप अच् से पूर्व ऐ औ के न होने से स्थानिवत् नहीं होगा।

यदि अचः को पञ्चमी मानेंगे तो षष्ठी न रहने से अच् के स्थान में जो आदेश वह स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकेगा। अच् द्वारा आदेश विशेषित न होगा तो हल् के स्थान में हुआ आदेश भी स्थानिवत् होने लगेगा।

अच् से आदेश भी विशेषित हो जायगा ? कैसे ? हम यह नहीं कहते कि अचः परस्मिन् में अचः जो षष्ठी विभक्ति का निर्देश है उसे पञ्चमी विभक्ति का निर्देश बना लिया जाय।

तो फिर क्या दूसरा अचः यह पञ्चमी विभक्ति के लिये पढ़ना चाहिये ?

पञ्चमी के लिये दूसरा अचः पढ़ने की आवश्यकता नहीं। षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट यह अचः शब्द ही पूर्व इस दिक्शब्द के योग में पञ्चमी विभक्त्यन्त बन जायगा। पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश वह पूर्व विधि करने में स्थानिवत् होता है। किस से पूर्व को विधि करने

प्रथमानिर्दिष्टः। तस्य दिक्शब्दयोगे पञ्चमी भवति। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति। कुतः पूर्वस्य? आदेशादिति।

तत्रादेशलक्षणप्रतिषेधः।

तत्रादेशलक्षणं कार्यं प्राप्नोति। तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। वाय्वोः अध्वर्य्वोः। 'लोपो व्योर्वली'ति लोपः प्राप्नोति।

असिद्धवचनात् सिद्धम्।

में स्थानिवत् होता है जब यह विचार होगा तो साक्षात् उच्चरित अच् शब्द ही पञ्चमी में बदल जायगा। अर्थ होगा– अच् के स्थान में हुआ आदेश, अच् से पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् होता है। जिस प्रकार अब सूत्र के अर्थ में (पूर्वसूत्र से अनुवृत्त) प्रथमा निर्दिष्ट आदेश शब्द पूर्व इस दिक् शब्द के योग में पञ्चमी में बदल जाता है। सूत्र का अर्थ होता है– पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह आदेश से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवत् होता है। इस प्रकार एक ही अचः यह शब्द आदेश को भी विशेषित कर देगा और पूर्वता में निमित्त भी बन जायगा।

आदेश को स्थानिवत् कहने में स्वयं आदेश के आश्रित जो कार्य हैं वे भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि स्थानिवत् इस अतिदेश से स्थानी के कार्य आदेश में हो जावें किन्तु आदेश के अपने कार्य भी होते रहें। उनका निषेध कहना चाहिये। जैसे—वाय्वोः अध्वर्य्वोः यहां वायु अध्वर्यु शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से वकार रूप यणादेश हुआ है। उसको स्थानिवत् मान कर भी वकार आदेश के स्वयं वलादि होने से उसके परे रहते लोपो व्योर्वलि से यकार का लोप प्राप्त होता है।[1]

---

१. यह दोष वार्तिककार की तरफ से समझना चाहिये। भाष्यकार तो विधिग्रहण को स्वाश्रयनिवृत्त्यर्थ पहले कह चुके हैं। उन के मत में यह दोष नहीं आता। विधिग्रहण के सामर्थ्य से स्थानी के कार्य ही आदेश में अतिदिष्ट होंगे। आदेश सम्बन्धी अपने कार्यों की निवृत्ति हो जायगी। यहां भाष्यकार का वह वचन स्मरण रखना चाहिये—

विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात्। अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृतौ। वाय्वोः अध्वर्य्वोः इति।

अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रत्यसिद्धो भवतीति वक्तव्यम्।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः कर्तव्यः। पट्व्या, मृद्व्येति।

ननु चैतदप्यसिद्धवचनात् सिद्धम्।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेन्नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेत् तन्न। किं कारणम्। नान्यस्या-

आदेश को स्थानिवत् न कह कर असिद्ध कहना चाहिये उससे उक्त दोष न होगा। वाय्वोः अध्वर्य्वोः में वकार रूप आदेश के असिद्ध होने से वकार परे न होगा तो यकार का लोप न होगा। सूत्र का अर्थ इस प्रकार करेंगे—पर को निमित्त मान कर हुआ अच् के स्थान में आदेश पूर्व को कार्य करने में असिद्ध होता है।

यदि स्थानिवत् की जगह असिद्ध कह कर उक्त दोष का समाधान करेंगे तो उत्सर्गलक्षण कार्य नहीं सिद्ध होते। उन का अतिदेश भी करना होगा। यहाँ उत्सर्ग का अर्थ स्थानी है। आदेश में हम स्थानी के कार्य भी चाहते हैं और आदेश के स्वाश्रय कार्यों की निवृत्ति भी चाहते हैं। स्थानिवत् की जगह असिद्ध कहने से केवल आदेशाश्रित कार्यों की निवृत्ति तो हो जायगी। किन्तु स्थानी के कार्य न हो सकेंगे क्योंकि स्थानिवद्भाव तो आप मानते ही नहीं। उस से पट्व्या मृद्व्या इन पूर्वोक्त उदाहरणों में परवर्ती ई के यण् आदेश को स्थानिवत् न होने से पूर्ववर्ती पटु मृदु के उकार को यण् न हो सकेगा। असिद्ध कहने से ई का यण् असिद्ध हो जायगा तो परे अच् न मिलने से पूर्व उकार को यण् कैसे होगा।

पटव्या मृद्व्या में भी असिद्ध कहने से दोष न होगा। क्योंकि पटु ई आ इस अवस्था में शास्त्रासिद्धत्व पक्ष को मानते हुए परवर्ती ई के स्थान में प्राप्त यणादेश विधायक शास्त्र को ही असिद्ध कर देंगे तो अच् परे मिल जाने से पूर्ववर्ती उकार को यण् हो जायगा।

पट्व्या मृद्व्या में जो समाधान किया है वह नहीं बनता। क्योंकि अन्य के

---

१. अनुदेशः=अतिदेशः।

२. उत्सृज्यते निवर्त्यत इत्युत्सर्गः स्थानी।

सिद्धवचनादन्यस्य भावः। न ह्यन्यस्यासिद्धत्वादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति। तद्यथा नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति।

तस्मात् स्थानिवद्वचनमसिद्धत्वं च।

तस्मात् स्थानिवद्भावो वक्तव्यः असिद्धत्वं च। पट्व्या मृद्व्येति स्थानिवद्भावः। वाय्वोरध्वर्य्वोरित्यत्रासिद्धत्वम्।

उक्तं वा।

किमुक्तम्। 'स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वादि'ति।

विषम उपन्यासः। युक्तं तत्र यदेकादेशशास्त्रं तुक्शास्त्रे असिद्धं स्यात्। अन्यदन्यस्मिन्। इह पुनरयुक्तम्। कथं हि तदेव नाम तस्मिन्नसिद्धं स्यात्।

असिद्ध कहने से अन्य की सत्ता नहीं हो सकती। पट्व्या में हुए ई के यणादेश के विधायक सूत्र को असिद्ध कहने से ईकार नहीं आ सकता। ई को तो यणादेश नष्ट कर चुका है। अब उस नष्ट करने वाले को नष्ट करने से ई कैसे प्रादुर्भूत हो सकता है। जैसे देवदत्त को मारने वाले को मार देने पर देवदत्त जीवित नहीं हो सकता। इस लिये केवल असिद्ध न कह कर स्थानिवत् भी कहना चाहिये। आदेश स्थानिवत् होता है और असिद्ध भी होता है। लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था होने पर पट्व्या मृद्व्या में स्थानिवत् हो जायगा और वाय्वोः अध्वर्य्वोः में असिद्ध हो जायगा।

षत्वतुकोरसिद्धः, सूत्र पर यह वचन कहा गया है कि स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वात्॥ कार्यासिद्धत्व पक्ष न मान कर हम शास्त्रासिद्धत्व पक्ष मानेंगे। उस में यण् विधान करने वाला इको यणचि यह शास्त्र ही असिद्ध हो जायगा तो कार्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। पट्व्या मृद्व्या में ई को यण् करने के लिये प्रवृत्त हुए इको यणचि को ही असिद्ध कर देंगे तो ईकार के अव्याहत रहने से परे ईकार मिल जायगा। उस से पूर्ववर्ती उकार को यण् सिद्ध हो जायगा।

षत्वतुकोरसिद्धः के असिद्ध वचन के समान यह असिद्ध वचन नहीं हो सकता। वहां तो एकादेशविधायक सूत्र अन्य है। और तुक् विधायक अन्य है। इस लिये तुक् शास्त्र करने में एकादेश शास्त्र असिद्ध हो सकता है। अन्य शास्त्र का अन्य शास्त्र के प्रति असिद्ध होना युक्त है। किंतु यहां पटव्या

तदेव चापि तस्मिन्नसिद्धं भवति। वक्ष्यति ह्याचार्यः 'चिणो लुकि तग्रहणानर्थक्यं संघातस्याप्रत्ययत्वात् तलोपस्य चासिद्धत्वादि'ति। चिणो लुक् चिणो लुक्येवासिद्धो भवति।

कामममतिदिश्यतां वा सच्चासच्चापि नेह भारोस्ति।

कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्त्रर्यधीनं हि ॥

अथवा वतिनिर्देशोऽयम्। कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। तद्यथा उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति। मातृवदस्याः कलाः। सन्ति न सन्तीति। एवमिहापि। स्थानिवद् भवति स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे। इह तावत् पट्व्या मृद्व्येति यथा स्थानिनि यणादेशो भवति एवमादेशेपि भवति। इहेदानीं

मृद्व्या में एक ही इको यणचि शास्त्र स्वयं इको यणचि शास्त्र के प्रति असिद्ध कैसे होगा ?

वही शास्त्र स्वयं अपने प्रति भी असिद्ध हो जाता है। आगे चिणो लुक् सूत्र पर यह वचन कहेंगे कि चिणो लुक् चिणो लुक्येवासिद्धो भवति। वहां चिणो लुक् शास्त्र को स्वयं चिणो लुक् शास्त्र के प्रति ही असिद्ध माना गया है। वैसे यहां भी पट्व्या मृद्व्या में ई को यण् करने वाला इको यणचि शास्त्र उ को यण् करने वाले इको यणचि के प्रति असिद्ध हो जायगा। अथवा असिद्ध न कह कर स्थानिवत् ही रहने दीजिये। स्थानिवत् में वतिप्रत्यय का निर्देश है। और वतिप्रत्यय में प्रयोग करने वाले की इच्छा है—वह भाव या अभाव दोनों में किसी का भी अतिदेश कर लेवे। कामम्=इच्छानुसार। अतिदिश्यताम्=अतिदेश कर लेवे। सच्च असच्च अपि=भाव और अभाव का भी। नेह भारोऽस्ति=इस सूत्र में अभाव का अतिदेश करने में कोई भार या कष्ट नहीं है अर्थात् कोई अधिक सूत्र नहीं बनाना पड़ता। क्योंकि वाक्य वक्ता के अधीन होता है इस लिये वह अपनी इच्छा के अनुसार वाक्यशेष की कल्पना कर ले। जैसे मद्र देश में उशीनर देश की तरह यव हैं ऐसा कहने पर यह अर्थ समझा जाता है कि यदि मद्र देश में यव हैं तो उशीनर में भी हैं। यदि वहां नहीं हैं तो वहां भी नहीं हैं। माता के समान इस कन्या के अङ्ग हैं ऐसा कहने पर यही समझा जाता है कि यदि माता के अङ्ग सुन्दर हैं तो इसके भी हैं। यदि वे सुन्दर नहीं हैं तो इसके भी नहीं हैं। इसी प्रकार स्थानिवत् कहने पर यह समझा जायगा कि जैसा स्थानी है वैसा

वाय्योरध्वर्य्वोरिति यथा स्थानिनि यलोपो न भवति एवमादेशेऽपि न भवतीति।

किं पुनरनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः, आहोस्वित् पूर्वमात्रस्य। कश्चात्र विशेषः ?

अनन्तरस्य चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानम्।

अनन्तरस्येति चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। एकाननुदात्ते—लुनीह्यत्र। पुनीह्यत्र। अनुदात्तं पदमेकवर्ज-

---

आदेश है। यदि स्थानी में स्थानी के रहते किसी कार्य की सत्ता है तो आदेश में आदेश होने पर भी उस की सत्ता का अतिदेश हो जायगा। और यदि स्थानी में कोई कार्य नहीं दीखता तो आदेश में भी उस के अभाव का अतिदेश समझा जायगा। उस से पट्व्या मृद्व्या में स्थानी में यण् दीखता है तो आदेश में भी यण् का भावातिदेश हो जायगा। वाय्वोः अध्वर्य्वोः में स्थानी उ के परे रहते य का लोप नहीं दीखता तो आदेश में भी उसके अभाव का अतिदेश हो जायगा।

क्या अनन्तर अर्थात् व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिवत् होता है या पूर्वमात्र में अर्थात् व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी ?

दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

यदि व्यवधानरहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिवत् मानते हैं तो एकाननुदात्त=एक अक्षर को छोड़ कर सारे पद को अनुदात्त करने वाले अनुदात्तं पदमेकवर्जम् इस सूत्र के स्वर में तथा इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ इस द्विगुस्वर में और तिङि चोदात्तवति से विधीयमान गति के निघात स्वर में स्थानिवत् कहना होगा। एकानुदात्त जैसे— लुनीह्यत्र पुनीह्यत्र। (लुनीहि+अत्र पुनीहि+अत्र) यहां लुनीहि पुनीहि में सेर्ह्यपिच्च से हुआ सिप् के स्थान में हि आदेश अपित् कहा गया है। इस लिये अनुदात्तौ सुप्पितौ से वह अनुदात्त न हो कर आद्युदात्तश्च इस प्रत्ययस्वर से उदात्त है। उस के स्थान में इको

---

१. एकम् अननुदात्तं यस्मिन् स एकाननुदात्तः स्वरः। एक है अनुदात्त-भिन्न अर्थात् उदात्त या स्वरित स्वर जिस में वह शास्त्रीय स्वर एकाननुदात्त कहाता है। उदात्त या स्वरित को छोड़ कर शेष निघात करने वाले सूत्र को एकाननुदात्त स्वर कहते हैं।

मित्येष स्वरो न प्राप्नोति। द्विगुस्वर—पञ्चारत्न्यः। दशारत्न्यः। इगन्त-कालेत्येष स्वरो न प्राप्नोति। गतिनिघात—यत् प्रलुनीह्यत्र। यत् प्रपुनीह्यत्र। तिङि चोदात्तवतीत्येष स्वरो न प्राप्नोति।

अस्तु तर्हि पूर्वमात्रस्य।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वम्।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वं वक्तव्यम्। वादितवन्तं प्रयोजितवान्।

यणचि से यणादेश हो कर उदात्त न रहने से शेष अचों को अनुदात्तं पद-मेकवर्जम् से अनुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त अच् मानें तो लुनी, पुनी के व्यवधान रहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। द्विगुस्वर जैसे—पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः। (पञ्च अरत्न्यः प्रमाणमेषां ते दश, अरत्न्यः प्रमाणमेषां ते) यहां प्रमाण रूप तद्धित के अर्थ में पञ्चन् अरत्नि शब्दों का द्विगुसमास हो कर प्रमाणे द्वयसज् दघ्नच् मात्रचः से मात्रच् प्रत्यय होता है। प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् से मात्रच् का लुक् हो जाता है। पञ्चा-रत्नि शब्द से जस् परे रहते जसि च से प्राप्त गुण का जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः इस वचन द्वारा अभाव होकर इको यणचि से यणादेश होता है। यणादेश हो कर इगन्त न रहने से इगन्तकालकपाल० इस सूत्र से द्विगुसमास में होने वाला पूर्वपदप्रकृति स्वर नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानि-वद्भाव से इगन्त मानें तो पञ्चन्, दशन् शब्दों के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। गतिनिघात जैसे—यत् प्र लुनीह्यत्र। यत् प्र पुनीह्यत्र। यहां लुनीहि पुनीहि ये तिङन्त क्रियायें हैं। प्र उपसर्ग गति संज्ञक है। यत् शब्द का योग तिङ्ङतिङः से प्राप्त निघात को रोकने के लिये है। क्योंकि निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेचेत्० इस सूत्र से तिङन्त क्रिया के निघात का यत् के योग में निषेध होता है। लुनीहि के उदात्त हि शब्द में इको यणचि से यणादेश होकर उदात्त न रहने से तिङि चोदात्तवति से विहित गति संज्ञक प्र शब्द को निघात (अनुदात्त) नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त तिङ् परे मानें तो प्र शब्द के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। इस प्रकार व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वर-सम्बन्धी उक्त तीनों स्थलों में स्थानिवद्भाव नहीं प्राप्त होता। वहां स्थानि-वद्भाव का उपसंख्यान करना होगा।

तो फिर पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मान लें।

यदि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी स्थानिवत् मानते हैं तो

अवीवदद् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

योऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति ।

गुरुसंज्ञा च ।

गुरुसंज्ञा च न सिध्यति । श्लेष्मघ्न । पित्तघ्न । दध्यश्व । मध्वश्व । 'हलोऽनन्तराः संयोग' इति संयोगसंज्ञा । 'संयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।

ननु च यस्याप्यनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्तस्याप्यन-

उपधाह्रस्वत्व कहना होगा । वादितवन्तं प्रयोजितवान् = अवीवदत् । (वद्-णिच्-णिच्-चङ्-लुङ् तिप्) यहां णिजन्त वादि धातु के उपधाभूत आकार को णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः से उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

क्या कारण है जो अवीवदत् में उपधाह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता ?

अवीवदत् में णिजन्त वद् धातु से दूसरा णिच् परे रहते जो पहले णिच् का णेरनिटि से लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर णिच् का व्यवधान हो जायगा तो वादि के आकार के उपधा में न रहने से णौ चङ्युपधायाः से उपधा ह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने पर गुरुसंज्ञा भी नहीं सिद्ध होती । श्लेष्मघ्न । पित्तघ्न । (श्लेष्माणं पित्तं वा हन्ति इति तत्सम्बुद्धौ प्लुतः) यहां हन् धातु से अमनुष्यकर्तृके च से विहित टक् प्रत्यय परे रहते गमहनजनखन॰ से हुए अकारलोप को स्थानिवत् मानने से घ्न शब्द की संयोगसंज्ञा न होगी तो संयोगे गुरु से पूर्व की गुरु संज्ञा नहीं प्राप्त होती । गुरुसंज्ञा न होने से गुरोरनृतः॰ से प्लुत न हो सकेगा । इसी प्रकार दध्यश्व । मध्वश्व । यहां दधि मधु के यणादेश को स्थानिवत् मानने से ध्य, ध्व शब्दों की संयोग संज्ञा न होगी । क्योंकि हलोऽनन्तराः संयोगः सूत्र से व्यवधानरहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है संयोगसंज्ञा न होने से पूर्व की गुरु संज्ञा न होगी । गुरु संज्ञा न होने से गुरोरनृतः से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

गुरुसंज्ञा की असिद्धिरूप दोष तो व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने में भी है । क्योंकि व्यवधान रहित हलों की संयोग संज्ञा कही है । वह व्यवधान रहित पूर्व का कार्य है । उसमें अकार लोप और यणादेश

मित्येष स्वरो न प्राप्नोति। द्विगुस्वर—पञ्चारत्न्यः। दशारत्न्यः। इगन्त-कालेत्येष स्वरो न प्राप्नोति। गतिनिघात—यत् प्रलुनीह्यत्र। यत् प्रपुनीह्यत्र। तिङि चोदात्तवतीत्येष स्वरो न प्राप्नोति।

अस्तु तर्हि पूर्वमात्रस्य।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वम्।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वं वक्तव्यम्। वादितवन्तं प्रयोजितवान्।

यणचि से यणादेश हो कर उदात्त न रहने से शेष अचों को अनुदात्तं पद-मेकवर्जम् से अनुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त अच् मानें तो लुनी, पुनी के व्यवधान रहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। द्विगुस्वर जैसे—पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः। (पञ्च अरत्न्यः प्रमाणमेषां ते दश, अरत्न्यः प्रमाणमेषां ते) यहां प्रमाण रूप तद्धित के अर्थ में पञ्चन् अरत्नि शब्दों का द्विगुसमास हो कर प्रमाणे द्वयसज् दघ्नच् मात्रचः से मात्रच् प्रत्यय होता है। प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् से मात्रच् का लुक् हो जाता है। पञ्चा-रत्नि शब्द से जस् परे रहते जसि च से प्राप्त गुण का जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः इस वचन द्वारा अभाव होकर इको यणचि से यणादेश होता है। यणादेश हो कर इगन्त न रहने से इगन्तकालकपाल० इस सूत्र से द्विगुसमास में होने वाला पूर्वपदप्रकृति स्वर नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानि-वद्भाव से इगन्त मानें तो पञ्चन्, दशन् शब्दों के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। गतिनिघात जैसे—यत् प्र लुनीह्यत्र। यत् प्र पुनीह्यत्र। यहां लुनीहि पुनीहि ये तिङन्त क्रियायें हैं। प्र उपसर्ग गति संज्ञक है। यत् शब्द का योग तिङ्ङतिङः से प्राप्त निघात को रोकने के लिये है। क्योंकि निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेत्० इस सूत्र से तिङन्त क्रिया के निघात का यत् के योग में निषेध होता है। लुनीहि के उदात्त हि शब्द में इको यणचि से यणादेश होकर उदात्त न रहने से तिङि चोदात्तवति से विहित गति संज्ञक प्र शब्द को निघात (अनुदात्त) नहीं प्राप्त होता। यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त तिङ् परे मानें तो प्र शब्द के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं है। इस प्रकार व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वर-सम्बन्धी उक्त तीनों स्थलों में स्थानिवद्भाव नहीं प्राप्त होता। वहां स्थानि-वद्भाव का उपसंख्यान करना होगा।

तो फिर पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मान लें।

यदि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी स्थानिवत् मानते हैं तो

अवीवदद् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

योऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति ।

गुरुसंज्ञा च ।

गुरुसंज्ञा च न सिध्यति । श्लेष्मऽघ्न । पित्तऽघ्न । दऽध्यश्व । मऽध्वश्व । 'हलोऽनन्तराः संयोग' इति संयोगसंज्ञा । 'संयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।

ननु च यस्याप्यनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्तस्याप्यन-

उपधाह्रस्वत्व कहना होगा । वादितवन्तं प्रयोजितवान् = अवीवदत् । (वद्-णिच्-णिच्-चङ्-लुङ् तिप्) यहां णिजन्त वादि धातु के उपधाभूत आकार को णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः से उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

क्या कारण है जो अवीवदत् में उपधाह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता ?

अवीवदत् में णिजन्त वद् धातु से दूसरा णिच् परे रहते जो पहले णिच् का णेरनिटि से लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर णिच् का व्यवधान हो जायगा तो वादि के आकार के उपधा में न रहने से णौ चङ्युपधायाः से उपधा ह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता । इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने पर गुरुसंज्ञा भी नहीं सिद्ध होती । श्लेष्मऽघ्न । पित्तऽघ्न । (श्लेष्माणं पित्तं वा हन्ति इति तत्सम्बुद्धौ प्लुतः) यहां हन् धातु से अमनुष्यकर्तृके च से विहित टक् प्रत्यय परे रहते गमहनजन-खन० से हुए अकारलोप को स्थानिवत् मानने से घ्न शब्द की संयोगसंज्ञा न होगी तो संयोगे गुरु से पूर्व की गुरु संज्ञा नहीं प्राप्त होती । गुरुसंज्ञा न होने से गुरोरनृतः० से प्लुत न हो सकेगा । इसी प्रकार दऽध्यश्व । मऽध्वश्व । यहां दधि मधु के यणादेश को स्थानिवत् मानने से ध्य, ध्व शब्दों की संयोग संज्ञा न होगी । क्योंकि हलोऽनन्तराः संयोगः सूत्र से व्यवधानरहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है संयोगसंज्ञा न होने से पूर्व की गुरु संज्ञा न होगी । गुरु संज्ञा न होने से गुरोरनृतः से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

गुरुसंज्ञा की असिद्धिरूप दोष तो व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने में भी है । क्योंकि व्यवधान रहित हलों की संयोग संज्ञा कही है । वह व्यवधान रहित पूर्व का कार्य है । उसमें अकार लोप और यणादेश

न्तरलक्षणो विधिः संयोगसंज्ञा विधेया।

न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वात्।

न वा एष दोषः। किं कारणम्। संयोगस्यापूर्वविधित्वात्। न पूर्वविधिः संयोगः। किं तर्हि। पूर्वपरविधिः संयोगः।

एकादेशस्योपसंख्यानम्।

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। आयसौ गौमतौ। चातुरौ।

को स्थानिवत् मानने से व्यवधान हो जायगा तो श्लेष्म३घ्न, द३ध्यत्व यहां अनन्तर हल् न होने से संयोग संज्ञा न हो सकेगी। संयोग संज्ञा न होने से गुरु संज्ञा न होगी और गुरु संज्ञा न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता। इस लिये दोनों पक्षों में गुरुसंज्ञा की असिद्धि रूप दोष का उचित समाधान यही है कि—

श्लेष्म३घ्न, द३ध्यश्व यहां घ्न और ध्य की संयोगसंज्ञा केवल पूर्वविधि नहीं है बल्कि परविधि भी है। अकारलोप और यणादेश से पूर्व घ् और ध् हैं। उनसे पर न और य हैं। दोनों मिल कर संयोग होते हैं। इस लिये संयोगसंज्ञा में केवल पूर्वविधि न होने से स्थानिवत् न होगा तो संयोगसंज्ञा हो कर गुरुसंज्ञा और प्लुत सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार दोनों पक्षों में गुरुसंज्ञा की असिद्धि रूप दोष का समाधान हो जाता है।[1]

पूर्व पर के स्थान में हुए एकादेश में स्थानिवद्भाव कहना चाहिये। सूत्र में परस्मिन् यह अवधारणार्थ है। अर्थ है—आदेश के केवल परनिमित्तक होने पर।

---

१. पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मानने पर केवल अवीवदत् वाला दोष रहता है। उसका भी समाधान आगे न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र पर करेंगे— क्विलुगुपधात्व-चङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् इस वार्तिक से चङ्परक णि परे रहते उपधा ह्रस्व करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता। उससे अवीवदत् में पहला णिलोप स्थानिवत् न होगा तो वादि का आकार उपधा में आ जाने से णौ चङ्युपधायाः से उपधाह्रस्व निर्बाध सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मानने में कोई दोष नहीं रहता। वस्तुतः अनन्तर पूर्व विधि में स्थानिवद्भाव मानने में भी कोई दोष नहीं है। एकाननुदात्तस्वरादि तीनों दोष असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का आश्रयण न करने से प्राप्त होते हैं। लुनीह्यत्र आदि तीनों स्वरस्थलों में द्विपदाश्रय होने से यण् बहिरङ्ग हो कर असिद्ध हो जायगा तो उदात्त अच् मिलने से अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जायेंगे।

आनडुहौ। पादे। उदवाहे। एकादेशे कृते नुमामौ पद्भावः ऊठ् इत्येते विधयः प्राप्नुवन्ति।

किं पुनः कारणं न सिध्यन्ति?

उभयनिमित्तत्वात्।

अजादेशः परनिमित्तक इत्युच्यते। उभयनिमित्तश्चायम्।

उभयादेशत्वाच्च।

अच आदेश इत्युच्यते। अचोश्चायमादेशः।

श्रायसौ गौमतौ (श्रेयसि गोमति च भवौ। श्रेयस्, गोमत्-अण्) यहां श्रेयस् गोमत् शब्द क्रम से ईयसुन् और मतुप् प्रत्ययान्त हैं। उनसे भवार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय कर के श्रायस[1] गौमत बनते हैं। और विभक्ति परे रहते वृद्धि एकादेश होता है। उसे परादिवद्भाव से औ मान कर श्रायस् गौमत् को उगिदचां० से नुम् प्राप्त होता है। वृद्धि एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो नुम् नहीं होता। चातुरौ आनडुहौ (चतुर्षु, अनडुहि च भवौ। चतुर्, अनडुह्-अण्) यहां भवार्थक अण् प्रत्ययान्त चातुर आनडुह शब्दों से औ विभक्ति परे रहते वृद्धि एकादेश होता है। उसे परादिवद्भाव से औ मान कर चातुर् आनडुह् को चतुरनडुहोरामुदात्तः से आम् प्राप्त होता है। वृद्धि एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो आम् नहीं होता। पादे उदवाहे। यहां पाद और उदवाह शब्दों से ङि विभक्ति परे रहते गुण एकादेश होता है। उस को परादिवद्भाव से ङि मान कर भसंज्ञक पाद् को पादः पत् से पदादेश, उदवाह् को वाह ऊठ् से ऊठ् आदेश प्राप्त होता है। गुण एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो पदादेश और ऊठ् आदेश नहीं होता।

श्रायसौ गौमतौ आदि एकादेश में स्थानिवद्भाव द्वारा नुम् आदि का अभाव क्यों नहीं सिद्ध होता? अचः परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवत् सिद्ध है तब एकादेश में स्थानिवद्भाव के उपसंख्यान की क्या आवश्यकता है?

श्रायसौ गौमतौ आदि एकादेश के स्थलों में अचः परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता। क्योंकि परनिमित्तक अच् के स्थान में हुआ

---

१. श्रेयसि भवः श्रायसः। अण्। देविकाशिंशपा—इत्यादि सूत्र से ए को आकार हुआ है।

नैष दोषः। यत्तावदुच्यते उभयनिमित्तत्वादिति। इह यस्य ग्रामे नगरे वा अनेकं कार्यं भवति, शक्नोत्यसौ ततोऽन्यतरतो व्यपदेष्टुम्। तद्यथा गुरुनिमित्तं वसामः। अध्ययननिमित्तं वसामः इति। यदप्युच्यते—उभयादेशत्वाच्चेति। इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति, लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति।

आदेश स्थानिवत् कहा है। आयसौ आदि में उभयनिमित्तक अजादेश है। आयस का अकार और औ विभक्ति का औकार ये दोनों मिल कर आदेश हुए हैं। उस में जहां पर औ को निमित्त मान कर आदेश हुआ है वहां पूर्व अकार को भी निमित्त मान कर हुआ है। क्योंकि पूर्व पर के स्थान एकादेश होता है। इस लिये केवल पर को निमित्त मान कर अजादेश न होने से अचः परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता। इस के साथ यह भी है कि एक अच् के स्थान में आदेश नहीं हुआ है बल्कि पूर्व और पर इन दो अचों के स्थान में हुआ है। अच् के स्थान में होने वाला आदेश स्थानिवत् कहा है। यहां अचों के स्थान में आदेश है। अतः उक्त सूत्र से स्थानिवद्भाव की सिद्धि न होने से एकादेश के उपसंख्यान की आवश्यकता है।

एकादेश में स्थानिवद्भाव के उपसंख्यान की कोई आवश्यकता नहीं। अचः परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा। यह जो कहा कि एकादेश, पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होता है केवल पर को निमित्त मान कर नहीं होता तो यह कोई बात नहीं। जैसे किसी मनुष्य को गांव या नगर में अनेक काम होते हैं। वह उन में से किसी एक काम का नाम लेकर भी कह सकता है कि मैं यहां पढ़ने के लिये रह रहा हूं या गुरु की सेवा के निमित्त रह रहा हूं। उसी प्रकार पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होने वाला एकादेश, पर को निमित्त मान कर होने वाला भी कहा जा सकता है। और जो यह कहा कि दो अचों के स्थान में आदेश होने से केवल अच् के स्थान में आदेश नहीं, सो भी कुछ नहीं। जो दो षष्ठीविभक्त्यन्तों के स्थान में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है। जैसे देवदत्त और देवदत्ता से हुआ पुत्र उन दोनों में से किसी का भी कहा जाता है वैसे दो अचों के स्थान में हुआ एकादेश, दोनों में से किसी भी अच् का माना जायगा इस लिये अचः परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध होने पर एकादेश के लिये पृथक् उपसंख्यान व्यर्थ है।

अथ हलचोरादेशः स्थानिवद् भवति उताहो न।

कश्चात्र विशेषः ?

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेशः।

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेशो वक्तव्यः। विंशकम्। विंशं शतम्। विंशः।

हल् और अच् दोनों के स्थान में हुआ आदेश अजादेश मान कर स्थानिवत् होता है या नहीं ? क्योंकि उस मिश्रित आदेश में अच् का भी सम्बन्ध है।[1]

इस में क्या विशेष है ?

यदि हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् होता है तो ये दोष आते हैं—विंशति शब्द के ति का लोप होने पर पररूप एकादेश कहना होगा। विंशकम्। (विंशत्या क्रीतम्। विंशति-ड्वुन्) यहां विंशति शब्द से क्रीत अर्थ में विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् से ड्वुन् प्रत्यय हो कर तिविंशतेर्डिति से ति शब्द का लोप हुआ है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अतो गुणे से पररूप एकादेश नहीं प्राप्त होता। वह कहना होगा। ति शब्द में तकार और इकार ये हल् अच् हैं इनका लोप-रूप आदेश हुआ है। इसी प्रकार विंशं शतम् (विंशतिः अधिका यस्मिन् शते। विंशति-ड) यहां विंशति शब्द से शदन्तविंशतेश्च से ड प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है। विंशः (विंशतेः पूरणः। विंशति डट्) यहां तस्य पूरणे डट् से डट् प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है। उसको स्थानिवत् मानने से पररूप नहीं प्राप्त होता। स्थूल आदि शब्दों को यणादिलोप होने पर अवादेश कहना होगा। स्थवीयान्। दवीयान् (अयमनयोः अतिशयेन स्थूलः दूरे वा। स्थूल, दूर-ईयसुन्) यहां स्थूल दूर शब्दों से ईयसुन् प्रत्यय परे रहते

---

१. शास्त्र में दोनों प्रकार का व्यवहार दीखता है। उरण् रपरः में अण् को रपर करते हुए अण् और अनण् के समुदाय को अण् नहीं माना गया है। इसी लिये सौधातकिः यहां सुधातृ के ऋ के स्थान में हुए अकङ् आदेश को रपर नहीं होता। इस के विरुद्ध नाग्लोपिशास्वृदिताम् में अक् अनक् के लोप में अक् लोप को स्वीकार किया है। जैसे अत्यरराजत् (राजानमतिक्रान्तवान्) यहां राजन् की अन् संज्ञक टि के लोप को अक्लोप मान कर उपधा ह्रस्व का निषेध होता है। इस प्रकार हल् अच् के आदेश को अच् आदेश मान कर वहां स्थानिवद्भाव की शङ्का संभव है।

स्थूलादीनां यणादिलोपेऽवादेशः।

स्थूलादीनां यणादिलोपे कृते अवादेशो वक्तव्यः। स्थवीयान् दवीयान्।

केकयमित्रय्वोरियादेशे एत्वम्।

केकयमित्रय्वोरियादेशे कृते एत्वं न सिध्यति। कैकेयः। मैत्रेयः। अचीत्येत्वं न सिध्यति।

उत्तरपदलोपे च।

उत्तरपदलोपे च दोषो भवति। दध्युपसिक्ताः सक्तवो दधिसक्तवः। अचीति यणादेशः प्राप्नोति।

यङ्लोपे यणियङुवङः।

यङ्लोपे यण् इयङ् उवङो न सिध्यन्ति। चेच्यः। नेन्यः। चेक्षियः।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः से स्थूल दूर के ल र शब्दों का लोप और स्थू दू को गुण होता है। ल र शब्दों का लोप हल् अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो उससे पूर्व स्थो दो को अवादेश नहीं प्राप्त होता। वह कहना होगा।

केकय मित्रयु शब्दों में इयादेश होने पर एत्व नहीं सिद्ध होता। वह कहना होगा। कैकेयः मैत्रेयः (केकयस्य मित्रयोश्च अपत्यम्। केकय-अञ्। मित्रयु-अण्) यहां केकय मित्रयु शब्दों में केकय शब्द जनपदक्षत्रिय वाची है। उससे अपत्य अर्थ में जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् से अञ् प्रत्यय और मित्रयु से सामान्य प्राग्दीव्यतीय अण् प्रत्यय परे रहते केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः से यथाक्रम य यु शब्दों के स्थान में इय आदेश हुआ है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे न रहने से आद् गुणः से एकार गुण नहीं प्राप्त होता। वह कहना होगा।

उत्तरपद का लोप होने पर भी दोष होगा। दधिसक्तवः (दध्ना उपसिक्ताः सक्तवः) यहां दधि से परे उपसिक्त शब्द का लोप समानाधिकरणाधिकारोक्त-स्तृतीयापूर्वपदे उत्तरपदलोपश्च इस वार्तिक से हुआ है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच परे हो जाने से इको यणचि से दधि के इकार को यण् प्राप्त होता है। वह रोकना होगा।

यङ् का लोप (लुक्) होने पर यण् इयङ् उवङ् नहीं सिद्ध होते। वे कहने

चेक्रियः । लोलुवः । पोपुवः । अचीति यण् इयङ् उवङो न सिध्यन्ति ।

अस्तु तर्हि न स्थानिवत् ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धिप्रतिषेधः ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोलुवः पोपुवः । सरीसृपः मरीमृज इति ।

नैष दोषः । 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति प्रतिषेधो भविष्यति ।

किं पुनराश्रीयमाणायां प्रकृतौ स्थानिवद् भवति आहोस्विद-

होंगे। चेच्यः नेन्यः। चेचीयते नेनीयते इति चेच्यः नेन्यः। (चेचीय, नेनीय-अच्) यहां यङन्त चेचीय नेनीय धातुओं से पचाद्यच् परे रहते यङोचि च से यङ का लुक् होता है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे न रहने से एरनेकाचो० से यण् नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार चेक्षियः चेक्रियः (चेक्षीयते चेक्रीयते-अच्) यहां यङ् लुक् के स्थानिवत् होने से अचिश्नुधातु० से इयङ् नहीं प्राप्त होता। लोलुवः पोपुवः (लोलूयते पोपूयते-अच्) यहां यङ् लुक् के स्थानिवत् होने से उवङ् नहीं प्राप्त होता।

हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता। केवल अच् के स्थान में हुआ आदेश ही स्थानिवत् होता है ऐसा मानने पर ये दोष न होंगे।

यदि हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता है तो लोलुवः पोपुवः सरीसृपः मरीमृजः यहां यङ् का लुक् होने पर गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं। उन का निषेध कहना होगा। (लोलूयते पोपूयते सरीसृप्यते मरीमृज्यते-अच्) लोलूय आदि यङन्त धातुओं से पचाद्यच् कर के उस के परे रहते यङोचि च से यङ् का लुक् होता है। वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् न होगा तो ङित् परे न रहने से लोलुवः पोपुवः में सार्वधातुकगुण, सरीसृपः में लघूपधगुण और मरीमृजः में मृजेर्वृद्धिः से वृद्धि प्राप्त होती है। स्थानिवत् होने पर तो क्ङिति च से गुण वृद्धि का निषेध संभव है।

यह कोई दोष नहीं। लोलुवः आदि में यङ् लुक् के स्थानिवत् न होने पर भी गुण वृद्धि नहीं होंगे। न धातुलोपे आर्धधातुके से गुण वृद्धि का निषेध हो जायगा। इस लिये हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता यही पक्ष निर्दोष होने से ग्राह्य है।

क्या जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण किया है वहीं स्थानिवद्भाव

विशेषेण ?

कश्चात्र विशेषः ?

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः ।

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिर्न सिध्यति। श्लेष्मघ्न । पित्तघ्न । दध्य्यश्व । मध्व्वश्व । 'हलोनन्तराः संयोग' इति संयोगसंज्ञा। 'संयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञा। गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति।

द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे ।

द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे वक्तव्याः । द्विर्वचनवरेयलोप इति ।

होता है या सामान्यतया सर्वत्र । जहां स्थानी का आश्रयण नहीं किया है वहां भी स्थानिवद्भाव होता है। प्रकृतिः=स्थानी। तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय कार्य में ही स्थानिवद्भाव मानते हैं या शास्त्रीय अशास्त्रीय दोनों में ही। यहां स्थानिवत् मानने से शास्त्र रुकता है वह अशास्त्रीय कार्य है क्योंकि शास्त्र की प्रवृत्ति का न होना अशास्त्रीय है। और जहां स्थानिवत् मानने से शास्त्र लगता है उस की प्रवृत्ति होती है वह शास्त्रीय कार्य है। इस प्रकार आश्रीयमाण और अनाश्रीयमाण स्थानियों में स्थानिवद्भाव संभव है ।

जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण नहीं किया गया अथवा स्थानी को निमित्त नहीं माना है यदि वहां भी स्थानिवत् होता है तो लोप और यणादेश होने पर गुरु संज्ञा का कार्य नहीं सिद्ध होता। श्लेष्मघ्न, दध्य्यश्व, यहां क्रम से हन् के अकारलोप और यणादेश का स्थानी अकार और इकार संयोगसंज्ञा में निमित्त नहीं माना गया है । क्योंकि अचों के व्यवधान से रहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है। वहां भी स्थानिवत् हो जायगा तो अच् का व्यवधान होने से संयोग संज्ञा नहीं प्राप्त होती। संयोग संज्ञा के न होने से गुरु संज्ञा और गुरु संज्ञा के न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति में स्थानिवद्भाव मानने पर न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र में द्विर्वचनवरेयलोप आदि भी पढ़ने होंगे। जिस से वहां स्थानिवद्भाव का निषेध हो सके। अन्यथा दद्ध्यत्र यहां यणादेश का स्थानी इकार अनचि च से द्वित्व करने में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वह अच् परे होने पर द्वित्व का निषेध करता है इस लिये वहां स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे हो जाने से धकार को द्वित्व नहीं प्राप्त होता । यायावरः (यायायवरच्) यहां यङन्त या धातु से वरच् प्रत्यय परे रहते अतो लोपः से यङ्

क्सलोपे लुग्वचनम् ।

क्सलोपे लुग् वक्तव्यः। अदुग्ध अदुग्धाः। 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति ।

हन्तेर्घत्वम् ।

हन्तेर्घत्वं वक्तव्यम्। घ्नन्ति। घ्नन्तु। अघ्नन्।

अस्तु तर्ह्याश्रीयमाणायां प्रकृताविति ।

के अकार का लोप हो कर लोपो व्योर्वलि से य का लोप हो जाता है। यङ् के अकारलोप का स्थानी अकार लोपो व्यो० में निमित्त नहीं माना गया है तो वहां स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से य का लोप नहीं प्राप्त होता उस के लिये न पदान्त सूत्र में वरेयलोप कह कर स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा।

अनाश्रीयमाण प्रकृति में स्थानिवद्भाव मानने पर क्स का लोप न कह कर लुक् कहना होगा। जिससे स्थानिवद्भाव का झगड़ा ही मिट जाय। अदुग्ध, अदुग्धाः (दुह्-क्स-लुङ् त, थास्) यहां दुह् धातु से लुङ् में त, थास् परे रहते लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये से क्स का लुक् होता है। यदि क्स का लुक् न कर के घोर्लोपो लेटि वा से अनुवृत्त लोप ही विकल्प से विधान कर दें तो अलोन्त्य परिभाषा से क्स के अन्त्य अकार का लोप हो कर शेष स् शब्द का झलो झलि से लोप होने से इष्ट रूप बन सकता है किन्तु क्स के अकारलोप का स्थानी अकार झलो झलि में निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर झल् परे न रहने से क्स के सकार का लोप नहीं प्राप्त होता। उसके लिये लुक् ग्रहण कर के सम्पूर्ण क्स शब्द का लुक् करना होगा। जैसे अदुह्वहि अधुक्षावहि यहां वहि प्रत्यय परे रहते क्स का वैकल्पिक लुक् करना आवश्यक भी है। क्योंकि वहि का वकार झल् नहीं है। उसके परे रहते झलो झलि से क्स का लोप नहीं प्राप्त होता।

अनाश्रीयमाण प्रकृति में स्थानिवद्भाव मानने पर हन् के हकार को घकार कहना होगा। घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्। यहां गमहनजनखन० से हुए उपधालोप का स्थानी अकार, हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु में निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से हन् के ह को घ नहीं प्राप्त होता।

अच्छा तो फिर आश्रीयमाण प्रकृति में ही स्थानिवद्भाव मान लीजिये। जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण किया गया है अथवा उसे निमित्त माना गया

ग्रहणेषु[1] स्थानिवदिति चेज्जग्ध्यादिष्वादेशप्रतिषेधः ।

ग्रहणेषु स्थानिवदिति चेद् जग्ध्यादिषु आदेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। निराद्य, समाद्य। 'अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति' इत्यदो जग्धिभावः प्राप्नोति।

यणादेशे युलोपेत्त्वानुनासिकात्त्वप्रतिषेधः ।

यणादेशे युलोपेत्त्वानुनासिकात्त्वानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। यलोप—वाय्वोः अध्वर्य्वोः। 'लोपो व्योर्वली'ति यलोपः प्राप्नोति। उलोप—अकुर्वि आशाम् अकुर्व्याशाम्। 'नित्यं करोतेः ये चे'त्युकारलोपः प्राप्नोति। ईत्व—अलुनि आशाम् अलुन्याशाम्। 'ई हल्यघो'रितीत्वं प्राप्नोति। अनुनासिकात्त्व—अजज्ञि आशाम् अजज्ञ्याशाम्। 'ये विभाषे'त्यनुनासिकात्त्वं प्राप्नोति।

है वहां स्थानिवद्भाव होता है अन्यत्र नहीं ऐसा मान लेवें।

जहां स्थानी का ग्रहण किया गया अथवा उसे निमित्त माना गया है यदि वहीं स्थानिवद्भाव होता है तो जग्धि आदि आदेश का निषेध कहना होगा। निराद्य समाद्य। (निर् सम् अद्-णिच्-ल्यप्) यहां णिजन्त अद् धातु से ल्यप् परे रहते णेरनिटि से णि का लोप हुआ है। णि लोप का स्थानी णि अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति से जग्धि आदेश करने में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से णि का व्यवधान न होगा इस लिये ल्यप् परे रहते जग्धि आदेश प्राप्त होता है। यणादेश होने पर यलोप, उलोप, ईत्व, और अनुनासिक को होने वाले आत्त्व का निषेध कहना होगा। वाय्वोः अध्वर्य्वोः (वायु, अध्वर्यु-ओस्) यहां इको यणचि से हुए यणादेश का स्थानी उकार लोपो व्योर्वलि में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से वल् परे हो कर यकार का लोप प्राप्त होता है। अकुर्वि आशाम्=अकुर्व्याशाम् (कृ-उ लङ् इट्) यहां यणादेश का स्थानी इकार ये च में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से यकार परे हो कर कृ धातु के उकार का लोप प्राप्त होता है। अलुनि आशाम्=अलुन्याशाम्। (लूञ्-श्ना-लङ् इट्) यहां इट् प्रत्यय के स्थान में हुए यणादेश का स्थानी इकार ई हल्यघोः में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से यकार परे हो कर श्ना के आकार को

---

१. ग्रहणेषु=गृह्यमाणेषु स्थानिषु। स्थानियों के गृहीत होने पर। यहां बहुल ग्रहण से कर्म में ल्युट् हुआ है।

रायात्वप्रतिषेधश्च ।

रायात्वस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः। रायि आशाम् राय्याशाम्। 'रायो हली'त्यात्वं प्राप्नोति।

दीर्घे यलोपप्रतिषेधः।

दीर्घे यलोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे। तद्वान् सौर्यी हिमवानिति। सौ इन्नाश्रये दीर्घे कृते 'सूर्यतिष्येति' यलोपः प्राप्नोति।

अतो दीर्घे यलोपवचनम्।

अतो दीर्घे यलोपो वक्तव्यः। गार्गाभ्याम्। वात्साभ्याम्। दीर्घे

ईकार प्राप्त होता है। अजज्ञि आशाम्=अजज्ञ्याशाम्। (जन्-लङ् इट्) यहां जौहोत्यादिक जन् धातु से लङ् में वैदिक व्यत्यय से आत्मनेपद इट् प्रत्यय हो कर शप् को श्लु हुआ है। श्लौ से धातु को द्वित्व हो गया। इट् के स्थान में हुए यणादेश का स्थानी इकार ये विभाषा में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से थकार परे हो कर जन् के अनुनासिक नकार को आत्व प्राप्त होता है। रायो हलि से होने वाले आत्व का निषेध कहना होगा। रायि आशाम्= राय्याशाम्। (रै-ङि) यहां ङि के स्थान में हुए यणादेश का स्थानी इकार रायो हलि में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से हल् परे हो कर रै शब्द को आत्व प्राप्त होता है।

दीर्घ होने पर यलोप का निषेध कहना होगा। सौर्यी हिमवान्। सूर्येण एकदिक् सौर्यम्। (सूर्य-अण्)। सौर्ये शृङ्गे विद्यते यस्य सः सौर्यी (सौर्य-इनि) यहां इन्नन्त सौर्यिन् शब्द से सु परे रहते सौ च से दीर्घ हुए इन् प्रत्यय का स्थानी ह्रस्व इकार सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न होने से ईकार परे हो कर सूर्य के य का लोप प्राप्त होता है।[1]

अकार को दीर्घ करने पर यलोप कहना होगा। गार्गाभ्याम्। वात्साभ्याम्। गार्ग्या अपत्यम् गार्गः ताभ्याम्। (गार्गी-ण) यहां गोत्र स्त्रीप्रत्ययान्त गार्गी शब्द से युवापत्य में गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च से ण प्रत्यय हुआ है। भ्याम् परे

---

१. यदि कहो सूर्यतिष्यागस्त्य० में तो ङी की ई परे रहते यलोप का विधान है यहां ङी की ई नहीं है तब तो यह दोष हट जायगा।

कृते 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाती'ति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नैष दोषः। आश्रीयते तत्र प्रकृतिस्तद्धित इति॥ सर्वेषामेष परिहारः। उक्तं विधिग्रहणस्य प्रयोजनम्—विधिमात्रे स्थानिवद् यथा स्याद् अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृताविति ।

अथवा पुनरस्त्वविशेषेण स्थानिवदिति। ननु चोक्तम्—'अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः। द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे। क्सलोपे लुग्वचनम्। हन्तेर्घत्वम् इति'। नैष दोषः। यत्तावदुच्यते—अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिरिति! उक्तमेतत्। 'न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वादि'ति। यदप्युच्यते द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे वक्तव्या इति। उच्यन्ते न्यास एव। क्सलोपे

रहते उसे सुपि च से दीर्घ हो गया है। दीर्घ हुए ण प्रत्यय के आकार का स्थानी ह्रस्व अकार आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वहां अनाति कह कर अकार परे रहते यलोप का निषेध किया गया है। तो स्थानिवत् न होने से आकार परे हो जायगा उससे गार्ग्यशब्दस्थ यकार के लोप का निषेध प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि आकार परे रहते अपत्य सम्बन्धी तद्धित यकारलोप का निषेध होता है बल्कि यह अर्थ है—आकारभिन्न तद्धित परे रहते अपत्यसम्बन्धी यलोप का विधान होता है। अनाति शब्द में प्रसज्यप्रतिषेध न मान कर पर्युदास मानेंगे। तो गार्गाभ्याम् में ण प्रत्यय को दीर्घ हुए आकार का स्थानी ह्रस्व अकार आकारभिन्न तद्धित है ही। उसका स्थानी में आश्रयण होने से स्थानिवत् हो जायगा। उससे यलोप निर्बाध सिद्ध है। इस पक्ष में कहे गये अन्य सब दोषों का भी यह समाधान है—पहले, सूत्र में विधिग्रहण का यह प्रयोजन कह चुके हैं कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव होता। जहां स्थानी को निमित्त माना गया है वहां भी और जहां निमित्त नहीं माना गया है वहां भी। जहां स्थानी को निमित्त माना गया है वहां स्थानिवद्भाव मानने में भी कोई दोष नहीं होगा। लोप यणादेशे गुरुविधिः, द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे क्सलोपे लुग्वचनम्, हन्तेर्घत्वम् ये

---

२. गार्गी शब्द से ण प्रत्यय होने पर भस्याढे तद्धिते से पुंवद्भाव हो कर गार्ग्य प्रकृति बन जाती है। गार्ग्य अ भ्याम् इस स्थिति में सुपि च से दीर्घ हो कर यलोप की अप्राप्ति है ऐसा समझना चाहिये।

लुग्वचनमिति। क्रियते न्यास एव। हन्तेर्घत्वमिति सप्तमे परिहारं वक्ष्यति।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार-दीर्घजश्चर्विधिषु ॥१।१।५८॥

पदान्तविधिं प्रति न स्थानिवदित्युच्यते। तत्र वेतस्वानिति रुः प्राप्नोति।

जो चार दोष उस पक्ष में कहे थे उनका समाधान इस प्रकार होगा कि श्लेष्मघ्न, दध्यश्व में संयोगसंज्ञा होने में कोई बाधा न होगी। क्योंकि सयोगसंज्ञा बनाने में उक्त स्थलों में केवल पूर्वविधि ही नहीं है अपितु परविधि भी है। पूर्वविधि न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो संयोगसंज्ञा बन जायगी। उससे गुरुसंज्ञा और गुरुत्वप्रयुक्त प्लुत भी हो जायगा। द्विर्वचनवरेयलोप आदि न पदान्तसूत्र में पढ़े ही हैं। इस लिये उनकी भी सिद्धि हो जायगी। दद्ध्यत्र, यायावरः आदि में स्थानिवद्भाव निषेध करने के लिये नया वचन नहीं कहना पड़ेगा। अदुग्ध, अदुग्धाः यहां क्स का लुक् पहले ही लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र से विहित है अतः लुक् का विधान भी अपूर्व नहीं कहना पड़ेगा। घ्नन्ति घ्नन्तु, अघ्नन् में हन् के हकार को घकार करने का समाधान भी सप्तमाध्याय में हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु सूत्र पर कहेंगे[1], इस लिये वह भी कोई दोष नहीं।

इस सूत्र द्वारा पदान्तविधि में अर्थात् (पदान्त विधि शब्द को भाव साधन-निर्देश मानकर) पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है। उस से वेतस्वान् में स् को रु प्राप्त होता है। क्योंकि वेतस शब्द से कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् से तदस्मिन्नस्ति इस चातुरर्थिक अर्थ में ड्मतुप् प्रत्यय कर के टेः से टिसंज्ञक वेतस के अकार का लोप होता है। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से पूर्व की पदसंज्ञा हो जाती है। उस अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कर देने से सकार पदान्त हो जाता है। इस लिये सकार की पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर सकार पदान्त हो जायगा तो ससजुषो रुः से सकार को रुत्व प्राप्त होता है।

---

१. वहां यह समाधान है कि घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन् में उपधा लोप को स्थानिवत् मान कर चाहे अकार का व्यवधान बौद्धिक हो जाय पर श्रौत अव्यवधान तो स्पष्ट है। लिखने सुनने बोलने में तो घ्नन्ति आदि में ह से पर सीधा व्यवधान रहित नकार है ही। स्थानिवद्भाव से तो बुद्धिकृत व्यवधान होगा। श्रुतिकृत तो

नैष दोषः। भसंज्ञाऽत्र वाधिका भविष्यति तसौ मत्वर्थे इति।
अकारान्तमेतद् भसंज्ञां प्रति। पदसंज्ञां प्रति तु सकारान्तम्।
ननु चैवं विज्ञायते यः सम्प्रतिपदान्त इति।
कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने एतदेवं स्यात्। अयं च

यह कोई दोष नहीं। अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर वेतस शब्द सकारान्त हो जायगा तो पद संज्ञा की बाधक तसौ मत्वर्थे से भसंज्ञा हो जायगी उस से पदान्त सकार न होने से रुत्व नहीं होगा। तदस्मिन्नस्ति इस अर्थ में होने वाला वेतस्वान् में ड्मतुप् प्रत्यय भी मत्वर्थ में स्पष्ट है।

भसंज्ञा के विधान में तो अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा। इस लिये भसंज्ञा के प्रति अकारान्त ही वेतस शब्द होगा, सकारान्त नहीं। पदसंज्ञा के विधान में सकार को पदान्त बनाना है इस लिये स्थानिवद् भाव का निषेध हो जायगा। तब अकारलोप स्थानिवत् न होगा तो सकारान्त वेतस् शब्द के स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से पदसंज्ञक होने से रुत्व प्राप्त होता है।

पदान्तविधि का अर्थ सम्प्रतिपदान्त[1] को विधि करने में स्थानिवत् नहीं होता ऐसा यदि मानें तो वेतस्वान् में दोष न होगा। सम्प्रतिपदान्त से तात्पर्य है जो स्थानिवद्भाव के निषेध के बिना ही पदान्त बना हुआ विद्यमान है जैसे कौ स्तः, कानि सन्ति इत्यादि में उस को कोई कार्य करना हो तो स्थानिवत् का निषेध होता है। पदान्तता का विधान करने में नहीं होता। वेतस्वान् में वेतस् यह सकारान्त पद स्थानिवद्भाव के निषेध से पहले नहीं बना हुआ है। इस लिये पदान्तविधि न होने से अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा। तब अकारलोप स्थानिवत् हो जायगा। उस से पदान्त सकार न मिलने से रुत्व न होगा।

कर्मसाधन विधि शब्द को मानने पर सम्प्रतिपदान्त को विधि करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता यह अर्थ हो सकता है। किन्तु भाव साधन विधि

अव्यवधान है। अन्यथा हन् के हकार से पर सीधा नकार कहीं पर भी न मिलने से हो हन्ते० में नकार परे रहते कहा हुआ कुत्वविधान व्यर्थ हो जाता है। इस लिये वहां नकार परे रहते कुत्व विधान के सामर्थ्य से श्रुतिकृत आनन्तर्य माना जायगा उससे घ्नन्ति आदि में ह को घ निर्बाध सिद्ध है।

१. सम्प्रति शब्द का पद शब्द के साथ सुप्सुपा समास होकर अन्त शब्द के साथ षष्ठी समास होता है।

विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनः। विधीयते इति विधिरिति। अस्ति च भावसाधनो विधानं विधिरिति। तत्र भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने एष दोषो भवति। इदं च ब्रह्मबन्ध्वा ब्रह्मबन्ध्वै धकारस्य जश्त्वं प्राप्नोति।

शब्द को मानने पर उक्त अर्थ नहीं हो सकता। कर्मसाधन का अर्थ कर्मवाच्य है। वि पूर्वक धा धातु से कर्मवाच्य में उपसर्गे घोः किः से कि प्रत्यय करके विधि शब्द बनावें तो अर्थ होगा—विधीयते इति विधिः। पदान्तस्य सतः विधिः पदान्तविधिः। पदान्तस्य यह शैषिकी षष्ठी है। पहले से विद्यमान पदान्त को कोई विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। विधि शब्द एक तो कर्मवाच्य है। जैसा कि अभी दिखाया है। और एक भाववाच्य भी है। भाव में कि प्रत्यय करके विधि शब्द बनायेंगे तो अर्थ होगा—विधानं विधिः। पदान्तस्य विधानं पदान्तविधिः। यहां पदान्तस्य यह कर्म में षष्ठी है। पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। भाववाच्य विधि शब्द मानने पर वेतस्वान् में दोष आता है। उसमें पदान्तता का विधान करने में किसी को नया पदान्त बनाने में स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो वेतस्वान् में सकार को पदान्त बनाने के लिये स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा उससे पदान्त सकार हो जाने से रुत्व प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भाववाच्य विधि शब्द मानने पर ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै यहां धकार को झलां जशोन्ते से जश् भी प्राप्त होता है। क्योंकि ब्रह्मबन्धु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङुतः से ऊङ् प्रत्यय कर के सवर्णदीर्घ एकादेश होता है तो ब्रह्मबन्धू ऐसा बनता है। उससे टा ङे विभक्ति परे रहते यण्[1] हो जाता है। यहां ब्रह्मबन्धु के उकार के साथ ऊङ् प्रत्यय के दीर्घ एकादेश को परादिवद्भाव से ऊङ् मान कर उसके परे रहते पूर्व धकार को स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से पदान्त बनाना है इस लिये पदान्तविधि होने से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो धकार पदान्त को जश् प्राप्त होता है। भसंज्ञा के विधान में तो स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा इस लिये एकादेश स्थानिवत् हो जायगा। उससे अजादि ऊङ् परे होने पर ब्रह्मबन्धु उकारान्त रहेगा। उस अवस्था में भ और पद दोनों की अलग २ अवधि हो जाने से ऊङ् परे होने पर भी भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध नहीं सकेगी। इस प्रकार पदान्त विधि में धकार को पदान्त बना कर जश् प्राप्त होता है।

---

१. यणादेश का उच्चारण अकिञ्चित्कर है। एकादेश ही उदाहरण है।

अस्ति पुनः किंचिद् भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने सतीष्टं संगृहीतम्। आहोस्विद् दोषान्तमेवेति।

अस्तीत्याह। इह कानि सन्ति यानि सन्ति कौ स्तः यौ स्तः इति। योऽसौ पदान्तो यकारो वकारो वा श्रूयेत न स श्रूयते[1]। षडिकश्चापि सिद्धो भवति[2]।

वाचिकस्तु न सिध्यति।

भावसाधन विधिशब्द के मानने में कोई इष्ट संगृहीत होता है क्या? उस से कोई लाभ भी है या दोष ही दोष हैं?

भावसाधन विधि शब्द मानने में लाभ भी है। कानि सन्ति, यानि सन्ति। कौ स्तः, यौ स्तः। यहां सन्ति और स्तः में श्नसोरल्लोपः से हुआ अस् धातु के अकार का लोप स्थानिवत् हो जाता है तो कानि में इको यणचि से इ को यकार और कौ में एचोऽयवायावः से औ को आव् हो कर यकार वकार पदान्त बन सकते हैं। उन की पदान्तता के विधान में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से अच् परे न मिलेगा तो यकार वकार पदान्त नहीं सुनाई देते। अर्थात् पदान्तविधान में स्थानिवत् न होने से कानि सन्ति कौ स्तः में यणादेश और आवादेश नहीं होते। इस के अतिरिक्त षडिक भी सिद्ध हो जाता है। अज्ञातः षडङ्गुलिदत्तः षडिकः। (षष्-ठच् इक) यहां षडङ्गुलिदत्त शब्द से अज्ञातादि अर्थ में बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज् वा से ठच् प्रत्यय करके ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः से षड के दूसरे अच् उकारोत्तरवर्ती अकार से परे सारे ङ्गुलिदत्त शब्द का लोप हो कर षड के अकार का यस्येति च से लोप होता है। समास में षष् (अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लेकर) के सुबन्त होने के कारण पहले ही उसकी पद संज्ञा है। उसके द्वितीय ष् को नया पदान्त नहीं बनाना है इस लिये पदान्तविधि न होने से स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा तो अकारान्त षष की ठच् परे रहते भसंज्ञा रहेगी। पदसंज्ञा तो पहले से ही षष् इस षकारान्त की है। इस प्रकार अलग अलग अवधि होने से अपने विषय में भी भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाध सकेगी तो पद संज्ञा होने से झलां जशोन्ते से ष् को ड् होकर षडिकः बन जाता है।

पर वाचिकः यह प्रयोग तो सिद्ध नहीं होता। भावसाधन विधि शब्द मानने पर वाचिक की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि षडिक की तरह यहां भी अज्ञातः

---

१. यह दोनों पक्षों (विधि शब्द को भाव साधन अथवा कर्म साधन मानने) में साँझा प्रयोजन है।

२. यह विधि शब्द भाव साधन है इस पक्ष में ही प्रयोजन बनता है।

अस्तु तर्हि कर्मसाधनः ।

यदि कर्मसाधनः, षडिको न सिध्यति ।

अस्तु तर्हि भावसाधनः ।

वाचिको न सिध्यति ।

वाचिकषडिकौ न संवदेते ।

कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

वागाशीर्दत्तः वाचिकः वाच्-ठच् इक । इस प्रकार वागाशीर्दत्त शब्द से अज्ञातादि अर्थ में ठच् प्रत्यय परे रहते ठाजादा० से शीर्दत्त शब्द का लोप हो कर अवशिष्ट वागा के आकार का यस्येति च से लोप होता है । समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लेकर वाच् पहले ही सुबन्त होने से पद है । इस लिये उस की पदान्तता का विधान न होने से आलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा तो ठच् प्रत्यय परे रहते आकारान्त वाच् की भसंज्ञा और चकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी । दोनों की अलग अलग अवधि होने से भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पदसंज्ञा हो कर चोः कुः से कुत्व प्राप्त होता है ।

तो फिर कर्मसाधन विधि शब्द मान लें ।

यदि कर्मसाधन विधि शब्द मानते हैं तो षडिक नहीं बनता । क्योंकि कर्मसाधन विधि शब्द मानने पर पदान्त को कोई विधि करने में स्थानिवत् का निषेध होगा तो षडिकः में षष् के पदान्त ष् को जश् करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर अकार अन्त में न रहने से भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों षष् इस षकारान्त की हो जायगी । उस समय दोनों की एक अवधि हो जाने से अजादि ठच् परे रहते अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी तो षष् के पद न होने से जश् नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो भावसाधन विधि शब्द मान लें ।

भावसाधन विधि शब्द मानने पर वाचिक नहीं बनता ।

ये वाचिक और षडिक दोनों एक साथ मेल नहीं खाते[1] ।

इनके लिये यत्न करना चाहिये । वह यत्न यही है कि वाचिक में तो एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः इस वार्तिक से उत्तरपद आशीर्दत्त शब्द का लोप मानेंगे । वहां अच् के स्थान में आदेश न होने से स्थानिवद्भाव का

---

१. दोनों एक पक्ष का आश्रयण करने से सिद्ध नहीं होते ।

कथं ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै ।
'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इति ।
कथं वेतस्वान् ? ।
नैवं विज्ञायते पदस्यान्तः पदान्तः। पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः ।

प्रश्न ही नहीं उठता। भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों चकारान्त वाच् शब्द की हो जायगी। तब अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी। उससे वाच् के पद न होने से कुत्व नहीं होगा। षडिक में षषष्ठाजादिवचनात् सिद्धम् इस वचन से ठाजादावूर्ध्वं० से ड्गुलिदत्त शब्द का लोप कर के अवशिष्ट षड के अकार का यस्येति च से लोप मानेंगे। वहां अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवद्भाव हो कर अकारान्त की भसंज्ञा और षष् इस षकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी। इस प्रकार अलग २ अवधि हो जाने से भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पद मान कर ष् को ड् हो जायगा।

भावसाधन विधि शब्द में ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै कैसे बनेंगे ?

उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् इस परिभाषा से ब्रह्मबन्ध्वा ब्रह्मबन्ध्वै में दोष न होगा। वहां ऊङ् का एकादेश परादिवद्भाव से ऊङ् नहीं माना जायगा। उक्त परिभाषा का अर्थ है कि जिस विधि में पूर्व और पर के स्थान में हुए एकादेश को पूर्व के अन्तावयव की तरह भी मानना पड़े और पर के आदि अवयव की तरह भी मानना पड़े वहाँ अन्तादिवद्भाव नहीं होता। क्योंकि स्वादिषु० सूत्र से पदसंज्ञा प्रत्यय परे रहते पूर्व की होती है उस में पूर्व और पर दोनों का आश्रयण होता है। इस लिये सवर्ण दीर्घ हुए एक ही ऊ को पूर्व ब्रह्मबन्धु का उ और पर ऊङ् प्रत्यय का ऊ एक साथ नहीं माना जा सकता तो ब्रह्मबन्धु के ऊकारान्त रहने से धकार अन्त में न मिलेगा इस लिये जश् नहीं होगा। टा ङे विभक्ति परे रहते तो भसंज्ञा निर्बाध है। ऊङ् परे रहते सवर्ण दीर्घ एकादेश को परादिवद्भाव मान कर जो धकार की पदान्तता के विधान में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त होता है वह अन्तादिवद्भाव के निषिद्ध हो जाने से व्यर्थ हो जाता है। ब्रह्मबन्धु का उकार ऊङ् प्रत्यय के साथ मिल कर भी ऊङ् नहीं कहायेगा तो ऊङ् के परे रहते ब्रह्मबन्धु के उकार की भसंज्ञा ही रहेगी। भ और पद दोनों की अवधि अब ब्रह्मबन्धु का उकार ही होने से अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी।

भावसाधन विधिशब्द मानने में वेतस्वान् कैसे बनेगा ?

पदान्तविधि शब्द में पदस्यान्तः पदान्तः तस्य विधिं प्रति इस प्रकार

पदान्तविधिं प्रतीति। कथं तर्हि पदे अन्तः पदान्तः। पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः। पदान्तविधिं प्रतीति। अथवा यथैवान्यान्यपि पदकार्याण्युपप्लवन्ते रुत्वं जश्त्वं च, एवमिदमपि पदकार्यमुपप्लोष्यते। किम्। भसंज्ञा नाम।

वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीत्युच्यते तत्र ते 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्' इति। अवर्णलोपविधिं प्रति स्थानिवत् स्यात्।

षष्ठीसमास मान कर पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे बल्कि पदे अन्तः पदान्तः तस्य विधिं प्रति इस प्रकार सप्तमीसमास मान कर पद परे रहते किसी को अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ मानेंगे तो वेतस्वान् में भी दोष न होगा। वेतस्वान् में वेतस से परे ड्मतुप् प्रत्यय है, पद नहीं है। इस लिये पदान्त-विधि न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर अन्त में सकार न मिलने से रुत्व नहीं होगा।

अथवा जैसे पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध मानने से वेतस्वान् में स् को रु ब्रह्मबन्ध्वा में ध को जश्त्व ये अन्य पद के कार्य प्राप्त होते हैं ऐसे भसंज्ञा भी पद का कार्य होने से पदान्तविधि हो जायगी। क्योंकि पद हो कर भसंज्ञक होता है इस प्रकार भसंज्ञा भी पद का कार्य है। तो भसंज्ञा करने में स्थानिवत् का निषेध हो कर सकारन्त की भसंज्ञा हो जायगी उस से वेतस्वान् में स् को रु नहीं होगा। उपप्लवन्ते=प्राप्त होते हैं। उपप्लोष्यते=प्राप्त हो जायगी। मान ली जायगी। किम्=क्या। भसंज्ञा। इस प्रकार पदान्तविधि शब्द में विधि को भावसाधन या कर्मसाधन कुछ भी मान लेवें, कहीं दोष नहीं आता।

सूत्र में वरे यलोपविधि शब्द से वरच् प्रत्यय परे रहते यकार के लोप में ही स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है। उससे यायावरः (यायाय वरच्) यहां यङन्त या धातु से वरच् प्रत्यय परे रहते अतो लोपः से हुए यङ् के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर अजादि किन् ङित् आर्धधातुक परे हो जाने से आतो लोप इटि च से या के आकार का लोप प्राप्त होता है। इस लिये जैसे लोपो व्योर्वलि से यलोप करने में अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है वैसे आलोप करने में भी अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये।

नैष दोषः। नैवं विज्ञायते वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति। कथं तर्हि। वरे अयलोपविधिं प्रतीति। किमिदमयलोपविधिं प्रतीति। अवर्णलोपविधिं प्रति, यलोपविधिं च प्रतीति।

अथवा योगविभागः करिष्यते। 'वरे लुप्तं न स्थानिवत्' ततो 'यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति।

यलोपे किमुदाहरणम्?

कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूः इति।

नैतदस्ति। क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्।

यह कोई दोष नहीं। वरेयलोप में अकार का प्रश्लेष कर के वरे अयलोप ऐसा समझेंगे। उससे वरच् प्रत्यय परे रहते अवर्णलोप और यलोप दोनों में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा। तो यायावर में या के आ का लोप न होगा।

अथवा वरेयलोप को एक पद न समझ कर वरे यह योगविभाग समझेंगे। वरे यह पृथक् है। यलोप पृथक् है। वरे का अर्थ होगा कि वरच् परे रहते जो भी लुप्त हुआ है वह स्थानिवत् नहीं होता। उससे यायावरः में वरच् परे रहते अकारलोप स्थानिवत् न होगा। तो आतो लोप इटि च से आलोप न होगा और लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जायगा। यलोप विधि का अर्थ होगा कि यलोप करने में जो भी अजादेश है वह स्थानिवत् नहीं होता। उसका उपयोग वरच् प्रत्यय से अन्यत्र भी हो सकेगा।

यलोपविधि में क्या उदाहरण है?

कण्डूयतीति कण्डूः। (कण्डूय-क्विप्) यहां इच्छाक्यजन्त कण्डूय धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ है। कण्ड्वादिभ्यो यक् से यक् कर के यगन्त कण्डूय से तो क्विप् नहीं होता। क्योंकि भाष्यकार ने कण्ड्वादिभ्यो यक् सूत्र पर स्वयं यह कहा है कि—नैतेभ्यः क्विप् दृश्यते इति। अप्रत्यय का अर्थ अविद्यमान प्रत्यय है। अविद्यमानः प्रत्ययः अप्रत्ययः। जो प्रत्यय सर्वथा लुप्त हो कर विद्यमान नहीं रहता जैसे क्विप्, विच्, ण्विन्, विट्, ण्वि आदि, वह अप्रत्यय कहाता है। यहां कण्डूः में क्विप् परे रहते य के अकार का अतो लोपः से लोप हुआ है। उसको स्थानिवत् मान कर लोपो व्योर्वलि से य का लोप नहीं प्राप्त होता। यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से हो जाता है।

यह कोई उदाहरण नहीं। क्विप् परे रहते क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् इस वार्तिक से स्थानिवत् का निषेध किया गया है उसीसे यहां

इदं तर्हि प्रयोजनम्। सौरी बलाका।

नैतदस्ति। उपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवत्।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। आदित्यः।

नैतदस्ति। 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्'।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। कण्डूतिर्वल्गूतिः।

अच्छा यह उदाहरण लीजिये। सौरी बलाका। सूर्येण एकदिक् सौरी (सूर्य-अण्-ङीप्)। यहां अण् प्रत्ययान्त सूर्य शब्द से ङीप् परे रहते अण् के अकार का और अण् परे रहते सूर्य के अकार का यस्येति च से लोप हुआ है। उन दोनों के स्थानिवत् होने से यकार उपधा में न रहेगा तो सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता। यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से अण् के अकार लोप को समानाश्रय होने के कारण असिद्धवदत्राभात् से असिद्ध मान कर यकार उपधा में मिल जायगा तो य का लोप हो जाता है।

यह भी कोई उदाहरण नहीं। यहां उपधा का कार्य होने से क्ङिलुगुपधात्व चङ्पर० से ही स्थानिवत् का निषेध हो जायगा।

तो फिर यह उदाहरण लीजिये। आदित्यः। आदित्ये भवः आदित्यः। आदित्यः (आदित्य-अण्) यहां आदित्य शब्द से भव अर्थ में दित्यदित्यादित्य० से हुए ण्य प्रत्यय के परे रहते यस्येति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर हलो यमां यमि लोपः से आदित्य के यकार का लोप नहीं प्राप्त होता। यलोप में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है।

यह भी कोई उदाहरण नहीं। यहां भी हलो यमां यमि लोपः यह सूत्र पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण का है। और पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के कार्यों में पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इस वार्तिक से ही स्थानिवत् का निषेध कहा गया है। उसी से सिद्ध हो जाने से इस की आवश्यकता नहीं।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। कण्डूतिः वल्गूतिः। (कण्डूय-क्तिन्) यहां यक्प्रत्ययान्त कण्डूय धातु से क्तिन् परे रहते अतो लोपः से यक् के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से यलोप नहीं प्राप्त होता। यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। कण्डूया वल्गूया इति भवितव्यम्।

इदं तर्हि-कण्डूयतेः क्तिच्। ब्राह्मणकण्डूतिः। क्षत्रियकण्डूतिः।

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्।

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम्। स्वर—आकर्षिकः। चिकीर्षकः जिहीर्षकः। यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति। पञ्चारत्न्यो दशारत्न्यः। स्वर। दीर्घ—प्रति-

---

यह भी कोई उदाहरण नहीं। क्योंकि कण्ड्वादियगन्त कण्डूय धातु प्रत्ययान्त है। उस से स्त्रीलिङ्ग में स्त्रियां क्तिन् को बाध कर अ प्रत्ययात् से अ प्रत्यय होगा। उस के बाद टाप् हो कर कण्डूया वल्गूया ये रूप बनेंगे। कण्डूतिः वल्गूतिः नहीं।

तब तो ब्राह्मणकण्डूतिः, क्षत्रियकण्डूतिः यह उदाहरण लीजिये। यहां यगन्त कण्डूय धातु से कर्ता में क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् से क्तिच् प्रत्यय हुआ है। उस के परे रहते अतो लोपः से हुए अकार लोप को स्थानिवत् मान कर यलोप नहीं प्राप्त होता। यलोपविधि में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है। कण्डूति शब्द का ब्राह्मण शब्द के साथ षष्ठीसमास मान कर ब्राह्मणकण्डूतिः यह रूप बनता है।

स्वर, दीर्घ और यलोपविधि में लोप रूप अजादेश ही स्थानिवत् नहीं होता यह कहना चाहिये। लोप से भिन्न अन्य अजादेश तो स्थानिवत् ही होते हैं। स्वर जैसे—आकर्षिकः। आकर्षेण चरति (आकर्ष-ष्ठल्) यहां आकर्ष शब्द से ष्ठल प्रत्यय परे रहते यस्येति च से आकर्ष के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर अकार का व्यवधान हो जायगा तो लिति से ककार के अकार को उदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। स्वर में लोप रूप आदेश होने से स्थानिवत् का निषेध हो कर ककार के अकार को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार चिकीर्षकः जिहीर्षकः (चिकीर्ष जिहीर्ष-ण्वुल्) यहां सन्नन्त चिकीर्ष धातु से ण्वुल् परे रहते सन् के अकार का अतो लोपः से लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर अकार का व्यवधान हो जाने से लिति से की शब्द के ईकार को उदात्त नहीं प्राप्त होता। स्वर में लोपरूप आदेश के स्थानिवत् का निषेध होने से ईकार को उदात्त हो जाता है। किन्तु पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः यहां तो लोपरूप आदेश नहीं है इस लिये वह स्थानिवत् ही हो जायगा। पञ्चारत्नि

दीव्ना। प्रतिदीव्ने। यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवद्देवासौ भवति। किर्योः गिर्योः। दीर्घ। यलोप– ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः। यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवद्देवासौ भवति। वाय्वोः अध्वर्य्वोः इति।

तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। इह हि लोपोपि प्रकृतः। आदेशोपि। विधिग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। दीर्घादयोपि निर्दिश्यन्ते। केवलं तत्राभि-

---

शब्द से जस् परे रहते जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः इस वार्तिक से जसि च से प्राप्त गुण का अभाव हो कर इको यणचि से वेद में यणादेश होता है। वह लोप रूप नहीं है। उसके स्थानिवत् होने से इगन्त हो जायगा तो इगन्तकालकपालभगाल० से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। दीर्घ का उदाहरण प्रतिदीव्ना, प्रतिदीव्ने है। यहां अन्नन्त प्रतिदिवन् शब्द से टा ङे विभक्ति परे रहते अल्लोपोऽनः से अन् के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर हलि च से दीर्घ नहीं प्राप्त होता। लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो दीर्घ हो जाता है। किन्तु किर्योः गिर्योः (किरि गिरि-ओस्) यहां किरि गिरि शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से यण् रूप आदेश हुआ है। उस के लोपरूप न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा तो रेफान्त न मिलने से हलि च से दीर्घ नहीं होता। यलोप का उदाहरण ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः यह कह ही चुके हैं। कण्डूति में यक् के अकार का लोप हुआ है। उस के लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो वल् परे मिलने से लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जाता है। किन्तु वाय्वोः अध्वर्य्वोः यहां वायु अध्वर्यु शब्दों से ओस् परे रहते इको यणचि से यणादेश हुआ है। उस के लोप रूप न होने से स्थानिवद्भाव का निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर वल् परे न मिलेगा। उस से लोपो व्यो० से यलोप नहीं होता है।

तो क्या स्वर दीर्घ यलोप विधि में लोपरूप आदेश ही स्थानिवत् होता है अन्य नहीं यह वचन कहना होगा?

इस वचन के अलग कहने की आवश्यकता नहीं। यहां लोप, आदेश, विधि ग्रहण और स्वर दीर्घ यलोप आदि सभी पढ़े हुए हैं। सूत्र में सभी का निर्देश है। केवल इन सब का आपस में सम्बन्धमात्र करना है कि स्वर

सम्बन्धमात्रं कर्तव्यम्। स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति।

आनुपूर्व्येण संनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। न चैतान्यानुपूर्व्येण संनिविष्टानि।

अनानुपूर्व्येणापि संनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा 'अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः' इति। तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति-उदहारि भगिनि या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः इति।

दीर्घ और यलोप विधि में लोपरूप अजादेश ही स्थानिवत् नहीं होता। अन्य आदेश तो स्थानिवत् ही होते हैं।

किसी आनुपूर्वी एवं क्रम से रखे हुए शब्दों का ही आपस में यथेष्ट सम्बन्ध किया जा सकता है। यहां लोप, आदेश, स्वर, दीर्घ आदि का कोई क्रम नहीं है। ये किसी आनुपूर्वी से निर्दिष्ट नहीं हैं इस लिये इन का अभीष्ट सम्बन्ध कैसे किया जा सकेगा कि स्वर दीर्घ यलोपविधि में लोप रूप अजादेश स्थानिवत् नहीं होता।

आनुपूर्वी अथवा क्रम से रहित रखे हुए शब्दों का भी वक्ता की इच्छा से यथेष्ट सम्बन्ध होता है। जैसे—अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः इस वाक्य में पदों का कोई आनुपूर्व्य नहीं हैं। ये किसी उचित क्रम से नहीं रखे हुए हैं। फिर भी वक्ता अपनी बुद्धि से इन का उचित समन्वय कर के यूं रखता है कि—उदहारि भगिनि या त्वं शिरसा कुम्भं हरसि साचीनमभिधावन्तमनड्वाहमद्राक्षीः। इस वाक्य का अर्थ है कि हे जल लाने वाली बहिन! जो तू सिर पर जल का घड़ा ले जा रही है, क्या तू ने इधर उधर टेढ़े मेढ़े दौड़ता हुआ बैल देखा है? इस प्रकार वाक्य रचना में यद्यपि क्लिष्टत्व दोष तो है फिर भी अभीष्ट अर्थ का सम्बन्ध हो ही जाता है। यहां भी बिना कहे ही स्वर दीर्घ यलोप विधियों में लोप रूप अजादेश के स्थानिवद्भाव का निषेध समझ लिया जायगा। उस के लिये अलग वचन की आवश्यकता नहीं। सूत्रोपात्त शब्दों का ही बुद्धिमान् अपने अनुरूप अन्वय कर के विवक्षित अर्थ निकाल लेगा। क्योंकि पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है।

क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् ।

क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् ।

क्वौ किमुदाहरणम् ?

कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूरिति ।

नैतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः ।

नैतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि लावयते लौः । पावयतेः पौः ।

क्विप्, लुक्, उपधाकार्य, चङ् परे होने वाला ह्रस्व, और कुत्व इन विषयों में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

क्विप् के विषय का क्या उदाहरण है ?

क्यजन्त कण्डूञ् धातु से क्विप् प्रत्यय करके कण्डूः यह रूप बनता है जो क्विप् का उदाहरण है । यहां क्विप् परे रहते क्यच् के अकार का अतो लोपः से लोप होता है । उस अकारलोप को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से यलोप नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । यलोप विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पिपठीः । यहां सन्नन्त पिपठिष धातु से क्विप् प्रत्यय परे रहते सन् के अकार का अतो लोपः से लोप होता है । उस को स्थानिवत् मान कर र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । लौः पौः । (लू-णिच्-क्विप्) यहां णिजन्त लू धातु से क्विप् परे रहते वृद्धि और आवादेश हो कर णिच् का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मानने से णि का व्यवधान हो जायगा तो लाव् के वकार को च्छ्वोः शूडनुनासिके च से ऊठ् नहीं प्राप्त होता । क्विप् में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

नैतदस्ति। अकृत्वा वृद्ध्यावादेशौ णिलोपः। प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिर्भविष्यति।

इदं तर्हि लवमाचष्टे लवयति। लवयतेरप्रत्यये लौः। स्थानिवद्भावाद् णेरूठ् न प्राप्नोति। 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति' भवति।

एवमपि न सिध्यति। कथम्। क्वौ णिलोपो णावकारलोपः। तस्य स्थानिवद्भावादूठ् न प्राप्नोति।

नैष दोषः। नैवं विज्ञायते क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति। कथं तर्हि।

यह भी कोई उदाहरण नहीं। यहां (लू-णिच-क्विप्) इस अवस्था में लू को वृद्धि और आवादेश न करके पहले णि का लोप करेंगे। उसको प्रत्यय लोपे प्रत्ययलक्षणम् से प्रत्ययलक्षण मान कर लू को वृद्धि हो जायगी। एचोऽयवायावः से होने वाला आव् आदेश तो अच् रूप वर्ण के आश्रित होने से प्रत्ययलक्षण मान कर नहीं होगा क्योंकि वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् इस परिभाषा से वर्णाश्रित कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं हुआ करता। उस से लौः पौः बन जायेंगे। इस प्रक्रिया में स्थानिवद्भाव का प्रसङ्ग ही नहीं।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। लवमाचष्टे लवयति। लवयतीति लौः। यहां लव प्रातिपदिक से तत्करोति तदाचष्टे इस वार्तिक से णिच् प्रत्यय हुआ है। णिच् परे रहते टः से टिसंज्ञक लव के अकार का लोप हो कर लव्-इ यह णिजन्त धातु बन जाता है। उस से क्विप् प्रत्यय परे रहते णि का लोप होता है। णिलोप को स्थानिवत् मान कर च्छ्वोः शूडनुनासिके च से होने वाला वकार को ऊठ् नहीं प्राप्त होता। क्विप् परे रहते लुप्त में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है।

उक्त प्रक्रिया में भी लौः पौः में ऊठ् नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि (लव-णिच्-क्विप्) इस अवस्था में क्विप् परे रहते णि का लोप हुआ है। और णिच् परे रहते लव के अकार का लोप हुआ है। णिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध होने पर भी अकारलोप के स्थानिवद्भाव से ऊठ् नहीं प्राप्त होता। क्वौ यह निषेध तो क्विप् परे रहते हुए णिलोप के स्थानिवत्त्व को ही रोक सकेगा। णिच् परे रहते हुए अकारलोप के स्थानिवत्त्व को नहीं रोक सकता।

यह कोई दोष नहीं। क्वि लुगुप० इस वार्तिक से क्विप् परे रहते जो लुप्त हुआ है उसी में स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं माना जाता बल्कि क्विप् परे रहते

क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवदिति।

लुकि किमुदाहरणम्?

बिम्बम्। बदरम्।

नैतदस्ति। पुंवद्भावेनाप्येतत् सिद्धम्।

इदं तर्हि आमलकम्।

नैतदस्ति। वक्ष्यत्येतत् 'फले लुग्वचनानर्थक्यं प्रकृत्यन्तर-

कोई भी विधि करने में स्थानिवद्भाव का निषेध माना जाता है। लौः पौः में क्विप् परे है ही। उस के पर रहते णिच् है। णिच् परे रहते अकारलोप हुआ है वह क्विप् परे रहते हुए विधि है उस में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो णिलोप और अकारलोप दोनों ही स्थानिवत् न होंगे। फिर ऊठ् निर्बाध है।

लुक् विषय में क्या उदाहरण है?

लुक् विषय में बिम्बम्। बदरम्। ये उदाहरण हैं। (बिम्ब्याः बदर्याश्च फलम्) यहां बिम्बी बदरी शब्दों से विकार अर्थ में अनुदात्तादेश्च से अञ् प्रत्यय हो कर उस का फले लुक् से लुक् होता है। साथ ही लुक् तद्धितलुकि से बिम्बी बदरी के ङीष् स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। ङीष् के लुक् को स्थानिवत् मान कर यस्येति च से बिम्ब बदर के अकार का लोप प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता।

यह कोई उदाहरण नहीं। यह तो पुंवद्भाव से भी सिद्ध है। बिम्बी बदरी से अञ् प्रत्यय हुआ है। वह अजादि है। उस के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा हो जायगी तो भस्याढे तद्धिते इस वार्तिक से बिम्बी बदरी को पुंवत् हो कर बिम्ब बदर शब्द बन जायेंगे। तब ङीष् के लुक् का प्रसङ्ग ही न होने से स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं।

तो फिर आमलकम् यह उदाहरण लीजिये। आमलक्याः फलम् इस अर्थ में आमलकी शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से नित्यं वृद्धशरादिभ्यः से मयट् प्रत्यय हो कर उस का फले लुक् से लुक् हो जाता है। मयट् प्रत्यय के अजादि न होने से उस के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा न होगी तो आमलकी को भस्याढे तद्धिते से पुंवत् न हो कर लुक् तद्धितलुकि से ङीष् का लुक् ही करना होगा। लुक् होने पर उसे स्थानिवत् मान कर आमलक के अकार का लोप प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता।

यह भी कोई उदाहरण नहीं। फले लुक् सूत्र पर कहेंगे कि फले लुक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। आमलकम् बिम्बम् बदरम् ये शब्द आमलकी बिम्बी बदरी इन स्त्रीलिङ्ग शब्दों से बने हुए नहीं हैं। बल्कि स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर हैं।

त्वादि'ति।

इदं तर्हि पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः दशपटुरिति।

ननु चैतदपि पुंवद्भावेनैव सिद्धम्।

कथं पुंवद्भावः?

'भस्याढे तद्धिते' पुंवद् भवतीति।

भस्येत्युच्यते। यजादौ च भसंज्ञा भवति। न चात्र यजादिं पश्यामः।

प्रत्ययलक्षणेन यजादिः।

'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्'।

स्वतन्त्र अलग शब्द हैं। उन में स्त्रीप्रत्यय के लुक् का प्रश्न ही नहीं उठता।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये। पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः। दशभिः पट्वीभिः क्रीतः दशपटुः। यहां क्रीत अर्थ में हुए आर्हीय ठक् प्रत्यय का अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् से लुक् हो कर लुक् तद्धितलुकि से पट्वी के ङीप् का लुक् हो जाता है। ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर इको यणचि से पटु के उकार को यणादेश प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता।

पञ्चपटुः यह उदाहरण भी तो पुंवद्भाव से सिद्ध हो सकता है?

यहां पुंवद्भाव कैसे होगा?

भस्याढे तद्धिते इस वार्तिक से पञ्चपटुः में पट्वी को पुंवद्भाव हो जायगा। इस वार्तिक का अर्थ है—ढभिन्न तद्धित प्रत्यय परे होने पर भसंज्ञक स्त्री शब्द को पुंवत् होता है।

भस्याढे तद्धिते यह वार्तिक तो भसंज्ञक स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत् करता है। और भसंज्ञा यचि भम् सूत्र से यकारादि अजादि प्रत्यय परे रहते होती है। पञ्चपटुः में यकारादि अजादि प्रत्यय कुछ नहीं दीखता।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से लुक् हुए ठक् (इक) प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण मान कर अजादि परे हो जायगा तो पूर्व की भसंज्ञा हो जायगी।

वर्ण के आश्रित कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। भसंज्ञा में यकारादि अजादि रूप वर्ण का आश्रयण किया है इस लिये भसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो अजादि परे न मिलने से पूर्व की भसंज्ञा न हो सकेगी। भसंज्ञा न होने से भस्याढे० से पुंवद्भाव नहीं प्रप्त होगा।

एवं तर्हिं 'ठक् छसोश्च' इत्येवं भविष्यति ।

ठक्छसोश्चेत्युच्यते । न चात्र ठक्छसौ पश्यामः ।

प्रत्ययलक्षणेन ।

'न लुमता तस्मिन्निति' प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधः ।

न खल्वप्यवश्यं ठगेव क्रीतप्रत्ययः । क्रीताद्यर्था एव वा तद्धिताः । किं तर्हिं, अन्येपि तद्धिता ये लुकं प्रयोजयन्ति । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति पञ्चेन्द्रः । दशेन्द्रः । पञ्चाग्निः । दशाग्निः ।

पञ्चपटुः में भस्याढे से न सही, ठक्छसोश्च इस वार्तिक से पुंवद्भाव हो जायगा । इस में स्पष्ट ही ठक् और छस् प्रत्यय परे रहते पुंवद्भाव का विधान किया गया है । पञ्चपटुः में ठक् प्रत्यय है ही ।

ठक्छसोश्च इस वार्तिक में ठक् और छस् प्रत्यय परे होने पर पुंवत् कहा है । पञ्चपटुः में ठक् छस् कुछ नहीं परे दीखता । जो ठक् प्रत्यय किया था वह लुप्त हो चुका है ।

प्रत्ययलक्षण मान कर पञ्चपटुः में ठक् प्रत्यय परे है । क्योंकि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से लुप्त होने पर भी प्रत्ययनिमित्त कार्य हो सकता है ।

न लुमताङ्गस्य सूत्र पर कहे हुए न लुमता तस्मिन् इस वार्तिक से प्रत्यय-लक्षण का निषेध हो जायगा तो पञ्चपटुः में ठक् प्रत्यय को निमित्त मान कर पुंवद्भाव नहीं हो सकता । वहां अन्ततो गत्वा लुक्तद्धितलुकि से ङीष् का लुक् ही मानना होगा । ङीष् के लुक् को स्थानिवत् हो कर पटु के उकार को यण् प्राप्त होता है । उस को रोकने के लिये लुक् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना आवश्यक है । न केवल यह पञ्चपटुः ही क्रीतार्थक आर्हीय ठक् प्रत्यय वाला लुक् का उदाहरण है या क्रीताद्यर्थक तद्धित ही लुक् विषय में स्थानिवद्भाव निषेध के उदाहरण हैं बल्कि और अर्थों वाले भी तद्धित हैं जो लुक् के उदाहरण में प्रयोजन रखते हैं । जैसे पञ्चेन्द्रः । पञ्चाग्निः । यहां पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य हविषः इस देवता अर्थ में सास्य देवता से अण् प्रत्यय होता है । इन्द्राणी शब्द इन्द्रस्य स्त्री इस पुंयोग अर्थ में इन्द्रवरुण० से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम कर के बनता है । इसी प्रकार पञ्च अग्नाय्यः देवता अस्य स पञ्चाग्निः । यहां अग्नायी शब्द वृषाकप्यग्नि० से अग्नेः स्त्री इस अर्थ में ङीप् प्रत्यय तथा ऐकार आदेश करके बनता है । देवता रूप तद्धितार्थ में पञ्चेन्द्राणी तथा पञ्चाग्नायी ये दोनों द्विगु समास हैं ।

उपधात्वे किमुदाहरणम् ?

पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीरिति ।

नैतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि सौरी बलाका ।

उस से विधीयमान अण् प्रत्यय का द्विगोर्लुगनपत्ये से लुक् हो जाता है। लुक् तद्धितलुकि से पञ्चेन्द्राणी में ङीष् का तथा पञ्चाग्नायी में ङीप् का लुक् भी साथ ही हो जाता है। ङीष् के साथ संनियोगशिष्ट आनुक् आगम का तथा ङीप् के साथ संनियोग शिष्ट ऐकार आदेश का लुक् स्वयमेव प्रत्ययों के साथ ही हो जाता है। क्योंकि संनियोग शिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः इस परिभाषा से संनियोग शिष्ट=एक साथ विहित कार्यों में एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव भी स्वतः होता है। ङीष् के लुक् को स्थानिवत् मान कर आनुक् आगम का श्रवण प्राप्त होता है। इसी प्रकार ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर ऐकार का श्रवण प्राप्त होता है। लुक् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से नहीं होता। इन्द्राणी अग्नायी शब्दों के भाषितपुंस्क न होने से उन्हें पुंवत् भी नहीं हो सकता। इसलिये यहां आनुक् आगम अथवा ऐकार आदेश का श्रवण रोकने के लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि ङीष्, ङीप् के अभाव में आनुक् अथवा ऐकार आदेश न भी प्राप्त हों तो भी ङीष्, ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर पञ्चेन्द्रः पञ्चाग्निः में अग्नि और इन्द्र के इकार अकार का यस्येति च से लोप तो सर्वथा प्राप्त है ही उस को भी रोकने के लिये लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहना आवश्यक है।

उपधा विषय में क्या उदाहरण है ?

पिपठीः यह उपधा विषयक उदाहरण है। यहां सन्नन्त पिपठिष धातु से क्विप् प्रत्यय परे रहते अतो लोपः से सन् के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर उपधा में इक् न रहेगा तो र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से दीर्घ नहीं प्राप्त होता। उपधा कार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है।

यह कोई उदाहरण नहीं। दीर्घ विधि में स्थानिवत् का निषेध किया है यह उसी से सिद्ध हो जायगा।

तो फिर सौरी बलाका यह उदाहरण लीजिये। सूर्येण एकदिक्, सूर्यो देवता अस्या वा। (सूर्य-अण्-ङीप्) यहां ङीप् परे रहते अण् के अकारलोप को, और अण्

नैतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पारिखीयः ।

'चङ्परनिर्ह्रासे चोपसंख्यानं' कर्तव्यम् । वादितवन्तं प्रयोजितवान् । अवीवदत् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

योऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति ।

परे रहते सूर्य के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उपधा में यकार न मिलने से सूर्यतिष्यागस्त्य० से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता। उपधाकार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यलोपविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह भी सिद्ध हो जायगा।

तो फिर पारिखीयः यह उदाहरण लीजिये । परिखायाः अदूरभवः पारिखः । पारिखे भवः पारिखीयः । यहां परिखा शब्द से अदूरभव अर्थ में चातुरर्थिक अण् प्रत्यय परे रहते यस्येति च से परिखा के आकार का लोप हुआ है। फिर पारिख शब्द के वृद्धसंज्ञक और खकार उपधा वाला होने से उस से परे वृद्धादकेकान्तखोपधात् से शैषिक छ प्रत्यय होता है। परिखा के आकार लोप को स्थानिवत् मान कर पारिख शब्द के खकार उपधा वाला न रहने से छ प्रत्यय नहीं प्राप्त होता। उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ?

चङ् परे रहते होने वाले ह्रस्व में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये वादितवन्तं प्रयोजितवान्=अवीवदत् । यहां णिजन्त वद् धातु से दूसरा णिच् हुआ है। णेरनिटि से दोनों णिच् प्रत्ययों का लोप हो जाता है। चङ्-परक णि परे रहते णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः से वाद् के उपधाभूत आकार को ह्रस्व होता है ।

क्या कारण है जो अवीवदत् में चङ् परे होने वाला ह्रस्व नहीं सिद्ध होता । जिस के लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की आवश्यकता है ।

अवीवदत् में दूसरा णिच् परे रहते जो पहले णिच् का लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर वादि में आकार के उपधा में न आने से णौ चङ्युपधायाः से उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । चङ् परे होने वाले ह्रस्व में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से णि का व्यवधान न रहेगा तो ह्रस्व हो जाता है ।

ननु चैतदप्युपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवदित्येव सिद्धम् ।

विशेषत एव तद् वक्तव्यम् । क्व । प्रत्ययविधौ इति । इह मा भूत् । पटयति लघयति ।

कुत्वे चोपसंख्यानं कर्तव्यम् । अर्चयतेरर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ।

नैतद् घञन्तम् । औणादिक एष कप्रत्ययः । तस्मिन् आष्टमिकं कुत्वम् ।

एतदपि णिचा व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ।

अवीवदत् में उपधा ह्रस्व भी तो उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव के निषेध कथन से ही सिद्ध है। फिर उस के लिये चङ्परक ह्रस्व में पृथक् स्थानिवद्भाव के निषेध कथन की क्या आवश्यकता है ?

उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध विशेष कार्य के लिये कहना होगा। कहां ? जो प्रत्यय विधि है। अर्थात् जहां उपधा मान कर प्रत्यय का विधान किया जायगा वहीं उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध होगा। सर्वत्र नहीं। जैसे— पारिखीयः इस पूर्वोक्त उदाहरण में पारिख शब्द को खोपध मान कर छ प्रत्यय का विधान करने में आकारलोप को स्थानिवत् नहीं माना गया है। किन्तु जहां उपधा कार्य में किसी प्रत्यय का विधान नहीं है वहां स्थानिवत् का निषेध नहीं होगा। जैसे—पटयति लघयति। पटुं लघुं वा आचष्टे। (पटु लघु-णिच्) यहां उपधावृद्धि रूप उपधाकार्य में पटु के उकार लोप में स्थानिवत् का निषेध न होगा तो उकार लोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होती। इस लिये अवीवदत् यहां चङ्परक ह्रस्व में पृथक् स्थानिवद्भाव का निषेध कहना आवश्यक है।

कुत्व में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये। अर्च्यते इति अर्कः। मर्च्यते इति मर्कः। यहां णिजन्त अर्च् मर्च् धातुओं से घञ् प्रत्यय परे रहते णेरनिटि से णि का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत् मान कर णि का व्यवधान हो जायगा तो चजोः कुघिण्ण्यतोः से अर्च् मर्च् के चकार को कुत्व नहीं प्राप्त होता। कुत्व विधान में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है।

अर्कः मर्कः इन उदाहरणों को घञ् प्रत्यय कर के नहीं बनायेंगे। अपि तु णिजन्त अर्च् मर्च् धातुओं से औणादिक क प्रत्यय करके बनायेंगे। क प्रत्यय के झलादि होने से उस के परे रहते अष्टमाध्यायस्थ चोः कुः से चकार को कुत्व सिद्ध हो जायगा। णिलोप भी क प्रत्यय परे रहते हो ही जायगा।

चोः कुः से विधीयमान कुत्व भी अर्चि मर्चि में णिच् का व्यवधान होने से

पूर्वत्रासिद्धे च ।

'पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवदिति' वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं क्सलोपः सलोपे ।

क्सलोपः सलोपे प्रयोजनम् । अदुग्ध अदुग्धाः । 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति लुग्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे प्रयोजनम् । धत्से धद्ध्वे धद्ध्वम् । दधस्तथोश्चेति चकारो न कर्तव्यो भवति ।

नहीं प्राप्त होता । इस लिये कुत्व विधान में स्थानिवद्भाव के निषेध की सर्वथा आवश्यकता है ।

पूर्वत्रासिद्धम् इस सूत्र से ले कर समाप्ति पर्यन्त अष्टाध्यायी के पिछले तीन पाद पूर्वत्रासिद्धीय या त्रिपादी कहाते हैं । उस प्रकरण के सूत्रों के कार्य में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? क्स के अकार का लोप सलोप में प्रयोजन है । अदुग्ध, अदुग्धाः (दुह्-क्स-लुङ् त, थास्) यहां दुह् धातु से लुङ् में च्लि को क्स होता है । त, थास् परे रहते लुग्वा दुहदिहलिहगुहा० से क्स का लुक् न कर के यदि क्स के अकार का लोप करें तो भी दोष न होगा । पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में स्थानिवत् का निषेध कहने से पूर्वत्रासिद्धीय झलो झलि सूत्र से क्स के अवशिष्ट सकार का लोप करने में क्स का अकार लोप स्थानिवत् न होगा तो झल् परे मिल जाने से क्स के सकार का लोप हो जाता है और लुग्वा दुहदिह० सूत्र में लुक् ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । यद्यपि अदुह्वहि यहां वहि प्रत्यय के लिये तो लुक् ग्रहण करना अनिवार्य है क्योंकि वहि में वकार के झल् न होने से झलो झलि से वहां क्स के सकार का लोप नहीं हो सकता । फिर भी त थास् ध्वम् इन तीन दन्त्य आत्मनेपद प्रत्ययों के परे रहते लुक् ग्रहण करना व्यर्थ है । वहां क्स के लोप से भी काम चल जायगा । क्स के अकार लोप में स्थानिवत् का निषेध हो जायगा तो झलो झलि से सकार का लोप निर्बाध सिद्ध हो जायगा ।

द्वित्व हुए धा धातु के आकार का लोप उस के दकार को आदिचतुर्थ धकार अक्षर करने में प्रयोजन है । धत्से । धद्ध्वे । धद्ध्वम् । (धा-लट्-से, ध्वे लोट्-ध्वम्)

हलो यमां यमि लोपे ।

हलो यमां यमि लोपे प्रयोजनम् । आदित्यः । हलो यमां यमि लोपः सिद्धो भवति ।

अल्लोपणिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु ।

प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ।

द्विर्वचनादीनि च ।

द्विर्वचनादीनि च न पठितव्यानि भवन्ति । पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति । किमविशेषेण ? नेत्याह ।

वहां धा धातु से लट् लोट् में से ध्वे परे रहते शप् को श्लु हो कर द्वित्व हो जाता है । श्नाभ्यस्तयोरातः से धा के आकार का लोप हो कर दध् होता है । पूर्वत्रासिद्ध कार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से पूर्वत्रासिद्धीय एकाचो बशो भष्० से दध् के दकार को धकार करने में धा का आकारलोप स्थानिवत् न होगा तो झषन्त हो जाने से एकाचो बशो भष्० से द को ध हो जाता है । इस से दधस्तथोश्च में चकार भी नहीं लगाना पड़ता । क्योंकि से ध्वे परे रहते एकाचो बशो भष्० से ही द को ध हो जायगा ।

हलो यमां यमि लोपः से यकार का लोप होना प्रयोजन है । आदित्यः । आदित्ये भवः (आदित्य-ण्य) यहां आदित्य शब्द से भव अर्थ में दित्यदित्यादित्य० से ण्य प्रत्यय परे रहते यस्येति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है । पूर्वत्रासिद्धीय हलो यमां यमि लोपः से आदित्य के यकार का लोप करने में अकार का लोप स्थानिवत् न होगा तो यम् से परे व्यवधानरहित यम् हो जाने से आदित्य के यकार का लोप हो जाता है ।

संयोगान्तलोप आदि करने में अकारलोप और णिलोप प्रयोजन हैं । पापक्तिः । यायष्टिः । पाक्तिः । याष्टिः । यहां यङन्त पापच्य यायज्य धातुओं से क्तिन् परे रहते अतो लोपः से यङ् के अकार का लोप हुआ है । इसी प्रकार पाक्तिः याष्टिः णिजन्त पच् यज् से क्तिन् परे रहते णिलोप हुआ है । पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के चोः कुः व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० सूत्रों से कुत्व षत्व करने में अकारलोप और णिलोप स्थानिवत् न होंगे तो झल् परे हो जाने से पापक्तिः में कुत्व और यायष्टिः में षत्व हो जाता है । इसी तरह पाक्तिः में कुत्व और याष्टिः में

वेरं यलोपस्वरवर्जम् ।

वरें यलोपं स्वरं च वर्जयित्वा ।

तस्य दोषः[1] संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु ।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु। संयोगादिलोपे-काक्यर्थम् । वास्यर्थम् । 'स्कोः संयोगाद्योरि'ति लोपः प्राप्नोति ।

षत्व होता है। स्कन्दयतीति स्कन्। काष्ठं तक्षयतीति काष्ठतक्। दोहयतीति धोक्। लेहयतीति लेट्। इत्यादि प्रयोगों में णिलोप को स्थानिवत् न मान कर संयोगान्त लोप षत्व ढत्व आदि पूर्वत्रासिद्धीय कार्य हो जाते हैं। पदान्तविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध से भी स्कन् आदि में संयोगान्त लोप आदि सिद्ध हो सकते हैं इसी लिये भाष्यकार ने ये उदाहृत नहीं किये।

पूर्वत्रासिद्धीय कार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से न पदान्त० सूत्र में द्विर्वचन आदि भी नहीं पढ़ने पड़ेंगे। क्योंकि प्रायः सभी पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के हैं। क्या सामान्यतया सभी नहीं पढ़ने पड़ेंगे? नहीं। वरे यलोप और स्वर को छोड़ कर। न पदान्त सूत्र में द्विर्वचन सवर्णानुस्वार दीर्घ जश् और चर् विधियें सब पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण की होने से इन के पढ़ने की आवश्यकता नहीं। पर वरे यलोप स्वर विधि तो पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण की न होने से सूत्र में पढ़नी ही होंगी।

पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से संयोगादिलोप, लत्व और णत्व में दोष प्राप्त होता है। क्योंकि ये कार्य भी पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के हैं किन्तु इन में स्थानिवद्भाव का निषेध इष्ट नहीं है। संयोगादिलोप जैसे—काक्यर्थम्। वास्यर्थम्। (काकी+अर्थम्। वासी+अर्थम्) यहां इको यणचि से यणादेश हुआ है। उस से क्य् स्य् इस पदान्त संयोग में ककार सकार के आदि में हो जाने से स्कोः संयोगाद्योरन्ते च से ककार सकार का लोप प्राप्त होता है। यणादेश को स्थानिवत् मानें तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध प्राप्त होता है। उस निषेध का संयोगादिलोप में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो संयोगादि ककार सकार न मिलने से लोप नहीं होता। लत्व जैसे—निगार्यते निगाल्यते। (नि गॄ णिच् यक्-लट् त) यहां णिजन्त गॄ धातु से यक् परे रहते णिच् का लोप हुआ है। उस से अच्

१. दोषः=अतिप्रसक्ति। संयोगादिलोप आदि विधियों में स्थानिवद्भाव का प्रतिप्रसव (निषेध का निषेध) करना चाहिए।

लत्वम्-निगार्यते निगाल्यते। 'अचि विभाषेति' लत्वं न प्राप्नोति। णत्वम्-माषवपनी। व्रीहिवपनी। 'प्रातिपदिकान्तस्येति' णत्वं प्राप्नोति।

द्विर्वचनेऽचि ॥१।१।५९॥

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्वतो द्विर्वचनम्।

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्वतः। किंवतः। आदेशवतो द्विर्वचनं प्राप्नोति।

तत्र को दोषः?

तत्राभ्यासरूपम्।

तत्राभ्यासरूपं न सिध्यति। चक्रतुः चक्रुः इति।

परे न रहने से अचि विभाषा से गॄ के रेफ का विकल्प से लत्व नहीं प्राप्त होता। णिलोप को स्थानिवत् मानें तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध प्राप्त होता है। उस निषेध का लत्व में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो अच् परे मिल जाने से लत्व विकल्प से हो जाता है। णत्व जैसे—माषवपनी व्रीहिवपनी। (माषाणां व्रीहीणां वा वपनी) यहां ल्युडन्त वपन शब्द से ङीप् परे रहते यस्येति च से अकार का लोप हुआ है। उस से वपन शब्द के नकारान्त हो जाने से प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च से वैकल्पिक णत्व प्राप्त होता है। अकारलोप को स्थानिवत् मानें तो पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध प्राप्त होता है। उस निषेध का णत्व में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार न रहने से णत्व विकल्प नहीं होता।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ की तरह इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव को भी कार्यातिदेश मानते हुए प्रश्न करते हैं कि आदेश में स्थानी के समान कार्य का अतिदेश होने से तद्वतः=उस वाले को। किंवतः=किस वाले को। आदेशवतः=आदेश वाले शब्द को ही द्वित्व प्राप्त होता है। अर्थात् आदेश में स्थानी के कार्य का अतिदेश होने पर भी द्वित्व तो आदेश वाले शब्द को ही होगा।

उस में क्या दोष है?

उस में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता। जैसे—चक्रतुः चक्रुः। यहां कृ—अतुस् इस अवस्था में इको यणचि से यण् हो कर क्र में अच् न रहने से लिटि धातोरनभ्यासस्य से द्वित्व नहीं प्राप्त होता। द्विर्वचनेचि से स्थानिवद्भाव द्वारा यण् में ऋ के अच् कार्य का अतिदेश होने पर भी कृ रूप न होने से यण् युक्त क्र् को ही द्वित्व होगा, जिस से अभ्यास में अकार नहीं सुनाई देगा।[1]

---

१. यद्यपि स्थानिवद्भाव होने पर द्विर्वचन नित्य है, यण् भी तो नित्य है, तो भी पर होने से पहले यण् होगा।

अज्ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य।

यदयमज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो रूपं स्थानिवद्भवतीति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अज्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्। इह मा भूत् जेघ्रीयते देध्मीयते। यदि च रूपं स्थानिवद् भवति ततोऽज्ग्रहणमर्थवद् भवति। अथ हि कार्यं नार्थोऽज्ग्रहणेन। भवत्येवात्र द्विर्वचनम्।

तत्र गाङ्प्रतिषेधः।

तत्र गाङः प्रतिषेधो वक्तव्यः। अधिजगे। इवर्णाभ्यासता प्राप्नोति।

यह कोई दोष नहीं। द्विर्वचनेचि सूत्र में अज्ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि इस सूत्र से पूर्व सूत्र के समान आदेश में स्थानी के कार्य का अतिदेश न होकर स्थानी के रूप का अतिदेश होता है। यह सूत्र कार्यातिदेश नहीं बल्कि रूपातिदेश है। अज्ग्रहण कैसे ज्ञापक हुआ? क्योंकि अज्ग्रहण का यह प्रयोजन है कि जेघ्रीयते देध्मीयते (घ्रा, ध्मा-यङ्) यहां घ्रा धातु से यङ् परे रहते ई घ्राध्मोः से हुआ घ्रा के आ को ईकार आदेश स्थानिवत् न होवे। यङ् प्रत्यय अजादि न होकर हलादि है इस लिये उस के परे रहते स्थानिवत् नहीं होता। यदि यहां रूप स्थानिवत् होकर ईकार आदेश में घ्रा के आकार रूप का अतिदेश होगा तो अभ्यास में ईकार का रूप हट कर आकार रूप आ जाने से जाघ्रीयते दाध्मीयते ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है उस को रोकने के लिये अज्ग्रहण करना सार्थक बनता है। अन्यथा यदि कार्य का अतिदेश है तो ईकार आदेश में घ्रा स्थानी के अच् कार्य का अतिदेश होकर घ्री शब्द को ही द्वित्व हो जायगा। उस से जेघ्रीयते देध्मीयते यह शुद्ध रूप बने रहने से अज्ग्रहण व्यर्थ है। अच् का कार्य द्वित्व तो घ्री को हो ही रहा है। फिर अज् ग्रहण ने क्या व्यावर्त्य किया। इस लिये चक्रतुः चक्रुः में क्र रूप का अतिदेश होगा तो अभ्यास में अकार सुनाई दे जायगा।

इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव में रूपातिदेश मानने पर इङ् के स्थान में हुए गाङ् आदेश में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये। अधिजगे। (अधि इङ् गाङ्- लिट् त एश्) यहां अधिपूर्वक इङ् धातु से लिट् में द्वित्वनिमित्तक अच् प्रत्यय एश् परे रहते गाङ् लिटि से इङ् को गाङ् आदेश हुआ है। उसको द्विर्वचनेचि से स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में इकार रूप का श्रवण प्राप्त होता है।

न वक्तव्यः। गाङ् ल्लिटि इति द्विलकारको निर्देशः। लिटि लकारादाविति।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपम्।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपं न सिध्यति। कृति—अचिकीर्तत्। एजन्त—जग्ले मम्ले। दिवादि—दुद्यूषति। नामधातु—भवनमिच्छति भवनीयति। भवनीयतेः सन् बिभनीयिषति।[1]

गाङ् आदेश में स्थानिवद्भाव के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं। गाङ् लिटि में गाङ् ल्लिटि इस प्रकार दो लकार वाला निर्देश समझ कर लकारादि लिट् की अवस्था में ही इङ् को गाङ् आदेश किया जायगा। एश् परे रहते नहीं। तो द्वित्व का निमित्त अच् परे न होने से स्थानिवद्भाव न होगा।

द्विर्वचनेऽचि सूत्र का यदि यह अर्थ करते हैं कि अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है तो णिजन्त कृति धातु, एजन्त, दिवादि, और नामधातुओं में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता। कृति जैसे—अचिकीर्तत्। (कृत्-णिच्-चङ्-लुङ् तिप्) यहां चुरादिगण-पठित कृत् धातु से लुङ् में णिच् परे रहते उपधायाश्च से कृत् के ऋकार को इकार आदेश हुआ है। उस को द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अभ्यास में इकार न सुनाई देकर अचकीर्तत् ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

एजन्त जैसे—जग्ले मग्ले। (ग्लै म्लै-लिट् त एश्) यहां ग्लै धातु से कर्मवाच्य लिट् में एश् परे रहते आदेच उपदेशेऽशिति से ग्लै के ऐ को आकार हुआ है। उस को द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अभ्यास में आकार न सुनाई देकर जिग्ले मिम्ले ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

दिवादि जैसे—दुद्यूषति सुस्यूषति (दिव्, सिव्-सन्) यहां सन्नन्त दिव् धातु में हलन्ताच्च से सन् को कित् होकर उस के परे रहते च्छ्वोः शूडनुनासिके च से दिव् के वकार को ऊठ् होता है। ऊठ् परे रहते इको यणचि से हुआ यणादेश द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में इकार सुनाई देकर दिद्यूषति सिस्यूषति ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

नामधातु जैसे—भवनमात्मन इच्छति भवनीयति। (भवन अम्-क्यच्) भवनीयितुमिच्छति बिभवनीयिषति। यहां क्यजन्त भवनीय नामधातु से सन् परे रहते भवन शब्द में भू को हुए ओ गुण को द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अभ्यास में उकार सुनाई देकर बुभवनीयिषति ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

---

१. इस सूत्र के अर्थ में पांच पक्ष संभव होते हैं। (१) अच् परे रहते हुआ

एवं तर्हि प्रत्यय इति वक्ष्यामि ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपम् ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपं न सिध्यति । दिवादय एके परिहृताः ।

एवं तर्हि द्विर्वचननिमित्ते अच्यजादेशः स्थानिवदिति वक्ष्यामि ।

अच्छा तो द्विर्वचनेऽचि सूत्र में प्रत्यय शब्द जोड़ कर द्विर्वचनेऽचि प्रत्यये । ऐसा सूत्र बना देंगे । उसका अर्थ होगा—अजादि प्रत्यय परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । उस से दोष न होगा ।

द्विर्वचनेचि प्रत्यये । ऐसा सूत्र बना देने पर भी णिजन्त कृत् धातु, एजन्त और नामधातुओं में दोष रहता है । केवल दिवादियों का ही परिहार हो सकेगा । क्योंकि दुद्यूषति सुस्यूषति में ऊठ् अजादि प्रत्यय नहीं है बल्कि आदेश है । अचिकीर्तत् में णिच्, जग्ले मग्ले में एश्, और बिभवनीयिषति में भवन शब्द का ल्युट् (अन) प्रत्यय ये सब अजादि प्रत्यय हैं । इन में अभ्यासरूप नहीं सिद्ध होता ।

तो फिर द्विर्वचननिमित्तक अच् परे रहते अच् के स्थान में आदेश स्थानिवत् होता है ऐसा कहेंगे । अचिकीर्तत् में णिच्, विभवनीयिषति में ल्युट्, और दुद्यूषति में ऊठ् द्वित्व के निमित्त नहीं हैं इस लिये स्थानिवत् न होने से दोष न होगा । जग्ले मग्ले का परिहार तो अब भी न हो पाया क्योंकि एश् द्वित्व का निमित्त अच् है । उस का परिहार आगे करेंगे ।

जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । (२) अजादि प्रत्यय परे रहते हुआ जो अच् के स्थान् में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । (३) द्वित्व निमित्तक अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह स्थानिवत् होता है । (४) द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते अच् के स्थान में आदेश का निषेध होता है । अर्थात् आदेश नहीं होता । (५) द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में ही स्थानिवत् होता है उस के बाद नहीं । अथवा–द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते द्वित्व करने तक ही अच् के स्थान में आदेश नहीं होता । उसके बाद हो जाता है । इन में पांचवां पक्ष ही निर्दोष होने से स्वीकार किया गया है । क्रम से पांचों पक्षों को दिखाते हुए पहले प्रथम पक्ष को उपस्थित करते हैं—कृत्येजन्त० इत्यादि ।

स तर्हि निमित्तशब्द उपादेयः। नह्यन्तरेण निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते।

अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः। ज्वरनिमित्तमिति गम्यते। नड्वलोदकं पादरोगः। पादरोगनिमित्तमिति गम्यते। आयुर्घृतम्। आयुषो निमित्तमिति गम्यते।

अथवा अकारो मत्वर्थीयः। द्विर्वचनमस्मिन् अस्ति सोऽयं द्विर्वचनः। द्विर्वचने इति।

द्विर्वचननिमित्तक अच् परे रहते स्थानिवत् मानने में सूत्र में निमित्त शब्द पढ़ना चाहिये। द्विर्वचनेऽचि के स्थान में द्विर्वचननिमित्तेऽचि ऐसा सूत्र बनाना चाहिये। क्योंकि निमित्त शब्द बिना पढ़े निमित्त का अर्थ नहीं जाना जायगा।

निमित्त शब्द बिना पढ़े भी निमित्त का अर्थ समझ लिया जायगा। जैसे—दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः ऐसा कहते हैं। उस का अर्थ है—दही और खीरे का एक साथ भोजन प्रत्यक्ष ज्वर है। यहां निमित्त शब्द के बिना भी प्रत्यक्ष ज्वर का निमित्त है यह समझ लिया जाता है। नड्वलोदकम्=बरसाती नड़ों का पानी पैर का रोग है। निमित्त शब्द के बिना भी पैर के रोग का निमित्त समझ लिया जाता है। घी आयु है। यहां निमित्त शब्द के बिना भी आयु का निमित्त समझ लिया जाता है। इसी प्रकार यहां भी द्विर्वचनेऽचि में द्विर्वचननिमित्तक अच् समझ लिया जायगा। कीदृशे अचि। द्विर्वचने। द्विर्वचननिमित्ते इत्यर्थः।[1] उस से द्वित्व का निमित्त अच् परे होने पर अजादेश स्थानिवत होता है यह अर्थ निकल जायगा।

अथवा द्विर्वचन शब्द में अर्श आदि को। आकृतिगण मान कर मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करेंगे तो अर्थ होगा—द्विर्वचनमस्मिन् अस्ति स द्विर्वचनः प्रत्ययः। तस्मिन् द्विर्वचने अचि प्रत्यये। द्विर्वचन जिस के परे होता है, जिस में द्विर्वचन है, जो द्विर्वचन का निमित्त है वह अजादि प्रत्यय द्विर्वचन कहावेगा। उस से द्विर्वचन वाले अजादि प्रत्यय परे होने पर अजादेश स्थानिवत् होता है यह अर्थ निकल जायगा।

---

१. द्विर्वचन का निमित्त होने से अच् को ही द्विर्वचन कह दिया गया है।

अथवा अधिकरण में ल्युट् मान कर (द्विरुच्यतेऽस्मिन्निति द्विर्वचनम्) द्विर्वचन अच् का विशेषण हो जायगा। अस्मिन् यह निमित्त सप्तमी समझी जायगी।

एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालं स्थानिवद्भवतीति। यः पुनराह द्विर्वचने कर्तव्ये इति, कृते तस्य द्विर्वचने स्थानिवन्न भविष्यति।

एवं तर्हि प्रतिषेधः प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते। क्व प्रकृतः। न पदान्तद्विर्वचनेति। द्विर्वचननिमित्ते अचि अजादेशो न भवतीति।

एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालमजादेशो न भवतीति। यः पुनराह द्विर्वचने कर्तव्ये इति। कृते तस्य द्विर्वचने अजादेशो भविष्यति।

एवं तर्हि उभयमनेन क्रियते: प्रत्ययश्च विशेष्यते द्विर्वचनं च।

द्विर्वचन शब्द का अर्थ द्विर्वचननिमित्त मान लेने पर यह नहीं मालूम होगा कि कितने समय तक अजादेश स्थानिवत् रहता है। द्विर्वचन का अर्थ जो द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में स्थानिवत् होगा। द्वित्व करने के बाद स्थानिवत् न रहेगा। किन्तु जब द्विर्वचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना न होकर द्विर्वचन का निमित्त हो गया तब द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता; द्विर्वचनेऽचि में पठित द्विर्वचन शब्द एक ही है उस से एक ही अर्थ निकल सकता है। या तो द्विर्वचन का निमित्त अच् या द्वित्व करना। द्विर्वचन का निमित्त अच् परे रहते अजादेश द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ एक द्विर्वचन शब्द से नहीं निकलेगा तो कब तक स्थानिवत् होता है यह नहीं मालूम हो सकेगा।

अच्छा तो ऊपर से निषेध की अनुवृत्ति कर लेंगे। ऊपर कहां से निषेध आ रहा है? न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप० इस अनन्तर सूत्र से। निषेध की अनुवृत्ति कर के सूत्र का अर्थ होगा द्वित्व निमित्तक अच् परे रहते अच् के स्थान में आदेश नहीं होता। उस अवस्था में आदेश का निषेध हो जाने से आदेश ही न होगा तो स्थानिवद्भाव का प्रश्न ही न उठेगा कि कब तक स्थानिवत् होता है।

द्वित्व-निमित्तक अच् परे रहते अजादेश का निषेध मानने में भी यह नहीं मालूम होता कि कितने समय तक अजादेश का निषेध रहता है। जो तो द्विर्वचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में आदेश का निषेध होगा। द्वित्व करने के बाद निषेध न होगा तो आदेश हो जायगा।

अच्छा तो द्विर्वचनेचि में पठित इस द्विर्वचन शब्द से दोनों बातें की जायेंगी।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह। कथम्। एकशेषनिर्देशात्। एकशेषनिर्देशोऽयम्। द्विर्वचनं च द्विर्वचनश्च द्विर्वचने। द्विर्वचने कर्तव्ये द्विर्वचने अचि प्रत्यये इति।

द्विर्वचननिमित्तेऽचि स्थानिवदिति चेण्णौ स्थानिवद्वचनम्।

द्विर्वचननिमित्तेऽचि स्थानिवदिति चेण्णौ स्थानिवद्भावो वक्तव्यः। अवनुनावयिषति अवचुक्षावयिषति।

यह अच् प्रत्यय का विशेषण भी बनेगा और द्वित्व का वाचक भी होगा। द्विर्वचन-निमित्तक अजादि प्रत्यय परे रहते द्वित्व करने में ही अजादेश स्थानिवत् होगा। द्वित्व के बाद नहीं।

एक द्विर्वचन शब्द से उक्त दोनों अर्थ कैसे निकल सकेंगे ?

एक ही द्विर्वचन शब्द से उक्त दोनों अर्थ निकल आयेंगे। कैसे ? दो द्विर्वचन शब्दों में एकशेष का निर्देश मानने से। द्विर्वचनेचि में जो द्विर्वचन शब्द है यह एकशेष का निर्देश है। द्विर्वचनं च द्विर्वचनश्च इति द्विर्वचनम्। तस्मिन् द्विर्वचने। प्रत्यय का विशेषण एक द्विर्वचन शब्द पुंलिङ्ग है। द्वित्व वाची नपुंसक है। द्विर्वचननिमित्तक अच् प्रत्यय परे रहते और द्विर्वचन करने में अजादेश स्थानिवत् होता है यह अर्थ एकशेषनिर्देश मान कर सिद्ध हो जाता।[1]

द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते स्थानिवत् कहने में णि परे रहते भी स्थानिवत् कहना चाहिये। क्योंकि णि द्वित्व का निमित्त नहीं है। अवनुनावयिषति। अवचुक्षावयिषति। (अव नु, क्षु-णिच्-सन्) यहाँ णिजन्त नु क्षु धातुओं से सन् प्रत्यय हुआ है। सन् परे रहते सन्यङोः से नु क्षु को प्राप्त द्वित्व बहिरङ्ग है। णिच् परे रहते नु क्षु को प्राप्त वृद्धि और आव् आदेश अन्तरङ्ग हैं। इस लिये वृद्धि और आव् आदेश पहले हो जाते हैं। णिच् के द्वित्व का निमित्त न होने से द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवत् न होगा तो नाव् क्षाव् शब्दों को सन्यङोः से द्वित्व होकर अभ्यास में उकार नहीं सुनाई देगा। णि परे रहते स्थानिवद्भाव कहने से स्थानिवद्भाव हो जायगा तो नु क्षु का उकार अभ्यास में सुनाई दे जाता है।

---

१. सहविवक्षा के अभाव में भी दो द्विर्वचन शब्दों का किस प्रकार एकशेष हो सकता है और एकशेष से भाष्यकार का कुछ अन्य भी तात्पर्य है इस विषय को समझने के लिए सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र भाष्य पर दी गई टिप्पणी देखिये।

न वक्तव्यः ।

ओः पुयण्जिषु वचनं ज्ञापकं णौ स्थानिवद्भावस्य ।

यदयमोः पुयण्ज्यपरे इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति णौ स्थानिवद्भाव इति ।

यद्येतज् ज्ञाप्यते अचिकीर्तत् अत्रापि प्राप्नोति ।

तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम् । कश्च तुल्यजातीयः । यथाजातीयकाः पुयण्जयः । कथं जातीयकाश्चैते । अवर्णपराः ।

णि परे रहते स्थानिवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं । ओः पुयण्ज्यपरे सूत्र में पु अर्थात् पवर्ग, यण् (य र ल व) प्रत्याहार, और जकार का ग्रहण करना इस बात का ज्ञापक है कि णि परे रहते स्थानिवत् होता है । अन्यथा बिभावयिषति यियावयिषति रिरावयिषति लिलावयिषति जिजावयिषति (भू, यु, रु, लू, जु-णिच्-सन्) यहां णिच् परे रहते भू आदि को हुआ वृद्धि और आव् आदेश द्वित्व करने में स्थानिवत् न होगा तो अभ्यास में उकार न मिल कर अकार ही मिलेगा । वहां सन्यतः से ही इत्व सिद्ध हो जायगा । पवर्ग यण् प्रत्याहार और जकार ग्रहण करना व्यर्थ है ।[1]

यदि ओः पुयण्० के ज्ञापक से णि परे रहते स्थानिवद्भाव होता है यह बात ज्ञापित होती है तो अचिकीर्तत् यहां भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है । (कृत्-णिच्-लुङ् तिप्) कृत् धातु से णिच् परे रहते उपधायाश्च से हुआ कृत् की ऋ को इकारादेश स्थानिवत् हो जायगा तो अचकीर्तत् ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

ओः पुयण्ज्यपरे यह ज्ञापक तुल्यजातीय का है । अपने समान विषय वाले का है । तुल्यजातीय कौन हैं ? जिस प्रकार के पुयण्जि (पवर्ग, यण्, और जकार)

---

१. पिपविषते यियविषति (पूङ्, यु-इट् सन्) यहां पिपविषते में स्मिपूङ्-रञ्ज्वशां सनि से सन् को इट् होता है । यियविषति में सनीवन्तर्ध० से पाक्षिक इट् होता है । द्वित्वनिमित्तक अजादि सन् परे रहते पू यु को हुआ सार्वधातुकगुण और अवादेश द्विर्वचनेचि से द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में उकार मिलेगा उसे इकार करने के लिये ओः पुयण्० में पू यु का ग्रहण करना आवश्यक है । उस के लिये ओः पययोः इतना सूत्र पर्याप्त है । शेष पवर्ग, यण् प्रत्याहार तथा जकार का ग्रहण तो सर्वथा इस बात का ज्ञापक है कि णि परे होने पर भी स्थानिवद्भाव होता है ।

कथं जग्ले मग्ले ।

अनैमित्तिकमात्त्वं, शिति तु प्रतिषेधः ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । आटिटत् ।

हैं । पुयण्जि किस प्रकार के हैं ? अवर्णपरक हैं । अर्थात् पवर्ग यण् जकार के तुल्यजातीय अङ्ग में ही णि परे रहते स्थानिवद्भाव होगा । जिस प्रकार विभावयिषति आदि में णि परे रहते वृद्धि आव् आदेश होकर भाव् याव् राव् जाव् में अवर्णपरक पुयण्ज् हैं वैसे जहां अवर्ण परे होगा वहीं णिच् में स्थानिवद्भाव होगा । अचिकीर्तत् में इकारादेश के अवर्ण-परत्वसम्पादक न होने से वहां स्थानिवद्भाव नहीं होगा ।

जग्ले मग्ले कैसे बनेंगे । यहां द्वित्वनिमित्तक अच् एश् परे रहते आदेच उपदेशेऽशिति से ग्लै के ऐ को आकार हुआ है । द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है ।

जग्ले मग्ले में आदेच उपदेशे० से ग्लै को आकार आदेश अनैमित्तिक होता है एश् प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ । बल्कि एश् आने से पहले ही विना किसी निमित्त के हो जाता है । उस से द्वित्व निमित्तक अच् परे रहते आदेश न होने से स्थानिवद्भाव नहीं होगा । आदेच उपदेशेऽशिति में अशिति यह पर्युदास न हो कर प्रसज्यप्रतिषेध है । शिद्भिन्न प्रत्यय परे रहते आकार नहीं होता । बल्कि विना निमित्त के होता है । शित् परे रहते आकार का निषेध होता है । इस प्रकार द्विर्वचनेऽचि सूत्र के अर्थ में उक्त सभी दोषों का समाधान हो जाता है ।

इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । चक्रतुः चक्रुः । (पा, स्था, गम्, कृ-लिट् अतुस् उस्) ये इस सूत्र के प्रयोजन हैं ।

पपतुः यहां पा-अतुस् इस अवस्था में आतो लोप इटि च से आ का लोप होकर अच् न रहने से लिटि धातोरन० से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । द्विर्वचनेऽचि से द्वित्व करने में स्थानिवद्भाव हो कर स्थानिरूप पा को द्वित्व हो जाता है ।

जग्मतुः यहां गम्-अतुस् इस अवस्था में गमहनजनखनघसां० से उपधा-लोप हो कर अच् न रहने से लिटि धातो० से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानिवद्भाव से हो जाता है ।

आशिशत् । चक्रतुः चक्रुरिति । आल्लोपोपधालोपणिलोपयणादेशेषु कृतेष्वनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । पूर्वविप्रतिषेधेनाप्येतानि सिद्धानि । कथम् ? वक्ष्यति ह्याचार्यः—'द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनोरुत्वेभ्यः' इति ।

स पूर्वविप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

चक्रतुः यहां कृ-अतुस् इस अवस्था में इको यणचि से यणादेश होकर अच् न रहने से द्वित्व नहीं प्राप्त होता। स्थानिवद्भाव से हो जाता है ।

आटिटत् आशिशत् यहां णेरनिटि से णि का लोप होकर अट् धातु में दूसरा अच् न रहने से चङि से टि शब्द को द्वित्व नहीं प्राप्त होता। स्थानिवद्भाव से हो जाता है। इन सब उदाहरणों में द्वित्व की अपेक्षा आलोप उपधालोप आदि नित्य हैं इस लिये द्वित्व को बाध कर उस से पहले हो जायेंगे। फिर द्वित्व प्राप्त नहीं होता। उस के लिये इस सूत्र से स्थानिवद्भाव की आवश्यकता है ।

ये कोई प्रयोजन नहीं। पूर्व विप्रतिषेध से भी ये सब सिद्ध हो जायेंगे। कैसे ? दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च सूत्र पर आचार्य यह वार्तिक कहेंगे कि—द्विर्वचनं यणयवायावादेश० इत्यादि। इस वार्तिक का अर्थ है—यण्, अय्, अव् आय् आव् आदेश, आकारलोप, उपधालोप, णिलोप और कि किन् प्रत्ययों में उत्त्व इन सब को पूर्व विप्रतिषेध से बाध कर द्वित्व होता है। यह पूर्वविप्रतिषेध वाचनिक है। अन्यथा अनित्य द्वित्व, नित्य आकारलोप आदि से पहले कैसे हो सकता है। इस वचन के सामर्थ्य से आकारलोप उपधालोप आदि से पहले द्वित्व हो जायगा। उस के बाद आकारलोप आदि किये जायेंगे तो पपतुः पपुः आदि सब ठीक बन जायेंगे ।

इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान कर देने से उस पूर्वविप्रतिषेध के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती ।

इन दोनों बातों में कौन अधिक उपयोगी है ? यह स्थानिवद्भाव विधान करें या वह पूर्वविप्रतिषेध पढ़ें ?

स्थानिवद्भाव एव ज्यायान्। पूर्वप्रतिषेधे हीदं वक्तव्यं स्यात्—ओदौदादेशस्य उद् भवति चुट्टुतुशरादेरभ्यासस्येति।

ननु च त्वयापीत्त्वं वक्तव्यम्।

परार्थं मम भविष्यति सन्यत इद् भवतीति।

ममापि तर्हि उत्त्वं परार्थं भविष्यति। 'उत्परस्यातस्ति चेति'।

इस सूत्र से स्थानिवद्भाव विधान करना ही अधिक उपयोगी है। पूर्वविप्रतिषेध पढ़ने पर यह भी कहना होगा कि—ओदौदादेशस्य० इत्यादि। इस वचन का अर्थ है—जहां ओ औ को कोई आदेश हुआ है ऐसे अङ्ग का जो चवर्ग टवर्ग तवर्ग और शर् प्रत्याहार के अक्षर आदि में रखनेवाला अभ्यास है उस के अकार को उकार होता। उस से चुक्षावयिषति ऊर्णुनावयिषति नुनावयिषति तुतावयिषति शुश्रावयिषति पुस्फारयिषति (क्षु, ऊर्णु, नु, तु, श्रु, स्फुर्-णिच्-सन्) इत्यादि में अभ्यास के अकार को उकार किया जाता है। यहां क्षु नु आदि णिजन्त धातुओं से सन् प्रत्यय हुआ है। सन् परे रहते द्वित्व प्राप्त है। और णिच् परे रहते वृद्धि आव् आदेश आदि प्राप्त हैं। अन्तरङ्ग होने के कारण पहले वृद्धि आव् आदि आदेश, इस वाचनिक पूर्वप्रतिषेध के होते हुए भी किये जाते हैं। क्षाव् नाव् ताव् स्फार् आदि शब्दों को द्वित्व होकर अभ्यास में मिले अकार को सन्यतः से इत्त्व की प्राप्ति में उकार विधान किया गया है। स्थानिवद्भाव कहने से तो णिच् परे रहते वृद्धि आव् आदि आदेश को द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो द्वित्व होकर अभ्यास में उकार ही मिलने से ओदौदादेशस्य० इस वचन की आवश्यकता न होगी।

स्थानिवद्भाव मानने वाले आप को भी णिच् में ज्ञापक द्वारा स्थानिवद्भाव सिद्ध करने के लिये ओः पुयण्ज्यपरे यह इत्त्व विधायक सूत्र बनाना पड़ेगा। अन्यथा णिच् में स्थानिवद्भाव न होने से अवनुनावयिषति आदि में भी सन्यतः से इत्त्व प्राप्त होगा।

स्थानिवद्भाव मानने वाले मुझे ओः पुयण० सूत्र द्वारा किसी नये इकार का विधान नहीं करना। किन्तु सन्यतः से कहा गया इकार ही मेरे मत में परार्थ अर्थात् दूसरे विभावयिषति आदि में करने के लिये और चुक्षावयिषति आदि में रोकने के लिये ओः पुयण्० सूत्र में उपयुक्त होगा।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले मुझे भी ओदौदादेशस्य० यह वचन बना कर

इत्त्वमपि त्वया वक्तव्यम्। यत् समानाश्रयं तदर्थम्। उत्पिपविषते संयियविषतीत्येवमर्थम्। तस्मात् स्थानिवदित्येष एव पक्षो ज्यायान्।

किसी नये उकार का विधान नहीं करना। किन्तु उत्परस्यातः ति च इस सूत्र में कहा गया उकार ही मेरे मत में परार्थ अर्थात् दूसरे अवनुनावयिषति आदि में करने के लिये और बिभावयिषति आदि में रोकने के लिये ओदौदादेशस्य॰ इस वचन में उपयुक्त होगा।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले आप को ओदौदादेशस्य॰ इस वचन के साथ ओः पुयण्॰ सूत्र द्वारा इकार भी कहना पड़ेगा। जहां द्वित्व और अव् आदेश आदि दोनों समानाश्रय हैं। समान निमित्त वाले हैं। दोनों में कोई अन्तरङ्ग नहीं है उस के लिये इत्त्व विधान करना होगा। जैसे—उत्पिपविषते। संयियविषति। (उद् पूङ्-इट् सन्) (सम् यु-इट् सन्) यहां पूङ् और यु धातुओं से सन् परे रहते स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि और सनीवन्तर्धभ्रस्ज॰ इन सूत्रों से यथाक्रम इट् का आगम होता है। पू यु को सार्वधातुक गुण हो कर द्वित्व और अवादेश दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं। पूर्वविप्रतिषेध से अवादेश को बाध कर पहले द्वित्व हो जायगा तो अभ्यास में पू यु का उकार सुनाई देगा। उस को रोकने के लिये ओः पुयण्॰ सूत्र से इत्त्व विधान करना होगा। इस प्रकार पूर्वविप्रतिषेध मानना गौरवग्रस्त है। इस लिये उसे न मान कर स्थानिवद्भाव का मानना ही अधिक युक्त है।

---

१. यहां भाष्यकार ने अवनुनावयिषति, बिभावयिषति, दुद्यूषति, अचिकीर्तत् इत्यादि प्रयोगों की इष्ट सिद्धि के लिये बहुत कुछ ऊहापोह कर के स्थानिवद्भाव का विधान ही श्रेयस्कर माना है। जो स्थानिवद्भाव से भी सिद्ध नहीं हुआ उसे तुल्यजातीय ज्ञापक का आश्रयण करके समाहित किया है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव पर आश्रित न रह कर पूर्वविप्रतिषेध आदि द्वारा इष्ट प्रयोगों की सिद्धि का यत्न किया है। इन दोनों के मध्यस्थ होकर यदि हम अति सुगम रीति से पक्षपात छोड़ कर प्रयोगसाधन पर विचार करें तो कुछ अद्भुत तथ्यों का पता लगता है। णिजन्त सन्नन्त आदि मिश्रित प्रक्रिया में अथवा सामान्य प्रयोगों में यदि हम मान लें कि अन्तरङ्ग एवं नित्य सभी विधियों को बाध कर पहले द्वित्व हो जाता है तो इस में विचारना चाहिये कि कहां दोष आता है। पपतुः चक्रतुः जग्मतुः आदि में नित्य आकारलोप आदि को बाध कर पहले द्वित्व हो जायगा तो इष्ट ही सिद्ध

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादेऽष्टमाह्निकम् ।

यहाँ अष्टम आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ ।

होगा। अवजुनावयिषति आदि में अन्तरङ्ग वृद्धि को बाध कर द्वित्व होने से इष्ट सिद्धि ही होती है। बिभावयिषति यियावयिषति आदि में भी पहले द्वित्व होकर अभ्यास में उवर्ण को ओः पुयण् से इत्व किया गया है। वस्तुतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से बिभावयिषति आदि की अपेक्षा बुभावयिषति युयावयिषति आदि ही अधिक अच्छे जंचते हैं। इसी प्रकार दुद्यूषति सुस्यूषति की अपेक्षा दिद्यूषति सिस्यूषति का प्रयोग ही अधिक अच्छा लगता है। ओः पुयण्ज्यपरे यह सूत्र भी संकेत देता है कि अन्तरङ्ग और नित्य विधि को बाध कर पहले द्वित्व करो। फिर उस के बाद जो विधि प्राप्त हो वह कर ली जावे। परन्तु सर्वत्र द्वित्व को प्रथम मानने से इयाय अचिकीर्तत् इत्यादि रूप नहीं बनेंगे। इयाय में पहले द्वित्व कर के पिछले इ शब्द को वृद्धि करने पर उसके स्थानिवत् होने से पूर्व अभ्यास के इ को इयङ् नहीं प्राप्त होता। अचिकीर्तत् के स्थान में अचकीर्तत् प्राप्त होता है। इस लिये लक्ष्यानुरोध से द्वित्व गुण वृद्धि आकारलोप आदि की व्यवस्था माननी होगी। इसके लिये कहीं स्थानिवद्भाव, कहीं पूर्वविप्रतिषेध, कहीं अभ्यास को इत्त्व, कहीं उत्त्व ये सभी यथास्थिति समादरणीय हैं।

नवम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में अदर्शनं लोपः ॥१।१।६०॥ इस सूत्र से ले कर एङ् प्राचां देशे ॥१।१।७५॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार यह है—

अदर्शनं लोपः ॥१।१।६०॥ (क) अदर्शन अर्थ की लोप संज्ञा सिद्ध करके उसमें प्राप्त इतरेतराश्रय दोष का समाधान किया है।

(ख) लोप संज्ञा में अतिव्याप्ति दोष को हटाने के लिये प्रसक्त के अदर्शन की लोप संज्ञा मानी है।

प्रत्ययस्य लुक् श्लु लुपः ॥१।१।६१॥ प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन उत्तरसूत्रार्थ सिद्ध किया है।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१।१।६२॥ (क) प्रथम प्रत्यय ग्रहण को अन्यथा सिद्ध कर के उस का खण्डन किया है। साथ ही द्वितीय प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन स्वीकार किया है।

(ख) सूत्र का सामान्य प्रयोजन बता कर **लुक्युपसंख्यानम्** इस वार्तिक का खण्डन किया है।

(ग) यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों का समाधान करने के लिये **स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ** इस न्यास को प्रदर्शित कर के उस का भी खण्डन कर दिया है। साथ ही वर्णाश्रय में प्रत्ययलक्षण का निषेध स्वीकार किया है।

(घ) सूत्र के विशिष्ट प्रयोजन बता कर उन की स्थानिवद्भाव से अन्यथासिद्धि की है। स्थानिवद्भाव से सिद्ध होने पर सूत्र को नियमार्थ माना है कि जहां प्रत्ययलोप में प्रत्यय का असाधारण रूप आश्रीयमाण है वहीं प्रत्ययलक्षण होता है सर्वत्र प्रत्ययलोप में नहीं।

न लुमताङ्गस्य ॥१।१।६३॥ यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों के समाधान के लिये **न लुमता तस्मिन्** इस न्यास को दिखाया है। साथ ही **उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ** इस वार्तिक की व्याख्या की है। अन्त में **न लुमता तस्मिन्** का खण्डन करके **न लुमताङ्गस्य** से ही सब दोषों का समाधान कर दिया है।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१।१।६५॥ (क) अल् ग्रहण को अन्त्य का विशेषण मानने में प्राप्त दोष का समाधान लोक व्यवहार से किया है।

(ख) नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इस परिभाषा के प्रयोजन बता कर उस का खण्डन भी साथ ही कर दिया है।

(ग) अलः को प्रथमा बहुवचन या षष्ठी एकवचन न मान कर पञ्चमी का एकवचन स्वीकार किया है।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१।१।६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१।१।६७॥ (क) दोनों सूत्रों के सामान्य विशेष दोनों प्रकार के उदाहरण बता कर निर्दिष्ट ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

(ख) दोनों सूत्रों का प्रयोजन बता कर उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमी-निर्देशः इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं।

(ग) पक्षान्तर में दोनों परिभाषासूत्रों को नियामक न मान कर षष्ठीविभक्ति का प्रकल्पक भी स्वीकार कर लिया है।

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१।१।६८॥ (क) रूप ग्रहण को व्यर्थ कर के उस से अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा को ज्ञापित किया है।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस का खण्डन कर दिया है। सूत्र की सत्ता में भी सित् पित् जित् झित् ये निर्देश कुछ विशेष सूत्रों के कार्यार्थ स्वीकार किये हैं।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१।१।६९॥ (क) अप्रत्ययः के स्थान में अप्रत्यया-देशटित् किन्मितः को पढ़ कर उस का भी भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न इस परि-भाषा द्वारा खण्डन कर दिया है। फिर अप्रत्यय ग्रहण से ही उक्त परिभाषा ज्ञापित की है।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस की सत्ता में भी अकः सवर्णे दीर्घः इत्यादि अक् प्रत्याहार में प्रत्याय्यमान इकारादि द्वारा अपने सवर्णी ईकारादि का अग्रहण रूप दोष दिखाया है। साथ ही अस्य च्वौ इत्यादि में अकार के प्रत्याहारचिह्नस्थ अण् न होने से वहां सवर्णग्रहण की अप्राप्ति दिखाई है। इस प्रकार व्यक्ति पक्ष में प्राप्त उक्त दोषों के समाधान के लिये अन्त में जाति पक्ष को स्वीकार कर सूत्र का खण्डन कर दिया है।

तपरस्तत्कालस्य ॥१।१।७०॥ (क) तत्कालस्य निर्देश को शुद्ध सिद्ध कर के इस सूत्र को अण् अनण् सर्वत्र तपरों में व्यापृत मानते हुए विध्यर्थ स्वीकार किया है।

(ख) ध्वनि और स्फोट ये दो प्रकार के शब्द मान कर ध्वनि भिन्न होने पर भी स्फोट की अभिन्नता सिद्ध की है। उस से द्रुत विलम्बित आदि वृत्तियों के भेद होने पर भी शब्द में कोई भेद नहीं होता यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है।

आदिरन्त्येन सहेता ॥१।१।७१॥ आदिरिता सह तन्मध्यस्य इस न्यास का लोक व्यवहार से खण्डन कर के यथास्थित सूत्र से ही संज्ञा के साथ संज्ञी का भी निर्देश अर्थादापन्न सिद्ध किया है।

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१।१।७२॥ (क) **इको यणचि** इत्यादि में तदन्तविधि रोकने के लिये बनाये गये **प्रकृते तदन्तविधिः** इस नये न्यास का खण्डन किया है।

(ख) **ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिप्रसङ्गः** इस वार्तिक का खण्डन कर के **समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः, उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** इन वार्तिकों को स्वीकार किया है।

(ग) सर्वके विश्वके उच्चकैः नीचकैः, भिनत्ति छिनत्ति में तदन्तविधि सिद्ध करते हुए **तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** इस परिभाषा को **नेदमदसोरकोः** इस ज्ञापक से सिद्ध किया है।

(घ) सूत्र के प्रयोजन बताते हुए **पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च** इन सूत्रों से **व्यपदेशि-वद्भावोऽप्रातिपदिकेन** यह परिभाषा ज्ञापित की है।

(ङ) **पदाङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च ग्रहणम् प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति** इन परिभाषाओं के प्रयोजन बताते हुए **अलैवानर्थकेन** इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।

(च) **यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहणे** इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७३॥ (क) सूत्र का पदकृत्य दिखा कर **वृद्धसंज्ञायामजसंनिवेशादनादित्वम्** इस वार्तिक का खण्डन किया है।

(ख) **वा नामधेयस्य, गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत्** इन वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है।

त्यदादीनि च ॥१।१।७४॥ पूर्व सूत्र से **यस्याचामादिः** ग्रहण की अनुवृत्ति मानी है किन्तु उस का इस सूत्र से असम्बन्ध सिद्ध किया है।

एङ् प्राचां देशे ॥१।१।७५॥ एङ् प्राचां देशे शैषिकेषु इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।

नवम आह्निक

अदर्शनं लोपः ॥१।१।६०॥

अर्थस्य संज्ञा कर्तव्या। शब्दस्य मा भूदिति। इतरेतराश्रयं च भवति। का इतरेतराश्रयता। सतोऽदर्शनस्य संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया चादर्शनं भाव्यते। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

लोपसंज्ञायामर्थसतोरुक्तम्।

किमुक्तम्। अर्थस्य तावदुक्तम्—'इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थ' इति। सतोऽप्युक्तम्। सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति। नित्याः शब्दाः। नित्येषु शब्देषु च सतोऽदर्शनस्य संज्ञा क्रियते न हि संज्ञया अदर्शनं भाव्यते।

अदर्शन शब्द का जो अर्थ है न दीखना न सुनाई देना अर्थात् वर्ण का विद्यमान न रहना इस अर्थ की लोप संज्ञा कहनी चाहिये जिस से अदर्शन इस शब्द की लोप संज्ञा न हो। अन्यथा स्वं रूपं शब्दस्य० के नियम से अदर्शन इस शब्द स्वरूप की लोप संज्ञा प्राप्त होती है। इस के अतिरिक्त लोपसंज्ञा में इतरेतराश्रय दोष भी प्राप्त होता है। कैसा इतरेतराश्रय दोष? अदर्शन होने पर तो लोप संज्ञा होगी। और लोप संज्ञा द्वारा अदर्शन होता है। यह इतरेतराश्रय दोष है। एक दूसरे के सहारे से हो सकने वाला कार्य इतरेतराश्रय कहाता है। इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय से होने वाले कार्य निष्पन्न नहीं हो सकते।

लोप संज्ञा में जो दोष कहे हैं उनके विषय में पहले समाधान कर चुके हैं। अदर्शन अर्थ की लोप संज्ञा कहनी चाहिये इस के विषय में तो नवेति विभाषा सूत्र में इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः ऐसा कहा है। जैसे नवेति० में इति शब्द लगने से निषेध और विकल्प इन अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है न वा शब्दों की नहीं होती उसी प्रकार उस इति शब्द की यहां लोप संज्ञा में भी अनुवृत्ति कर के अदर्शनमिति लोपः ऐसा समझेंगे। उस का अर्थ होगा कि अदर्शन इस शब्द से जो अर्थ निकलता है। लोक में अदर्शन कहने पर जो न दीखता अर्थ प्रतीत होता है उस की लोप संज्ञा होती है उस से अदर्शन शब्द की लोप संज्ञा न

सर्वप्रसङ्गस्तु सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् ।

सर्वप्रसङ्गस्तु भवति। सर्वस्यादर्शनस्य लोपसंज्ञा प्राप्नोति। किं कारणम्। सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात्। सर्वो हि शब्दो यो यस्य प्रयोगविषयः स ततोऽन्यत्र न दृश्यते। त्रपु जतु इत्यत्राणोऽदर्शनं तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति[1]।

तत्र को दोषः।

तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः।

तत्र प्रत्ययलक्षणं कार्यं प्राप्नोति। तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।

होकर अदर्शन अर्थ की लोपसंज्ञा सिद्ध हो जायगी। सत् अर्थात् विद्यमान अदर्शन की लोपसंज्ञा विधान में जो इतरेतराश्रय दोष कहा है उस का भी समाधान पहले वृद्धिरादैच् सूत्र पर कह चुके हैं सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्। अर्थात् हम शब्दों को नित्य मानते हैं। नित्य शब्दों में पहले से विद्यमान अदर्शन अर्थ मान कर उस की लोपसंज्ञा की जाती है। लोपसंज्ञा द्वारा नये अदर्शन अर्थ का विधान नहीं किया जाता। प्रागभाव तो अनादि है। वर्णों का अभाव, अदर्शन, अश्रवण अनुच्चारण पहले से विद्यमान है। उस को विद्यमान मान कर लोपसंज्ञा हो जायगी। लोपः कह कर किसी वर्ण का अदर्शन कहने में नये अदर्शन का विधान नहीं होता, इस लिये इतरेतराश्रय दोष न होगा।

सब अदर्शन की लोपसंज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि सब शब्दों का अपने प्रयोगविषय से अन्यत्र अदर्शन है। जिस शब्द का जो प्रयोग का विषय है उस से अन्यत्र वह दिखाई नहीं देता इस लिये अदर्शन होने से उस की वहां लोपसंज्ञा प्राप्त होती है। त्रपु जतु (त्रपु-जतु-सु) यहां नपुंसक लिङ्ग त्रपु जतु शब्दों में तद्धित अण् प्रत्यय या कृदन्त अण् प्रत्यय का अदर्शन है उस की लोपसंज्ञा हो जानी चाहिये।

वहां क्या दोष है। सभी अदर्शनों की लोपसंज्ञा होने में क्या हानि है ?

वहां प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त होता है। उस का निषेध कहना होगा।

---

१. इतरेतराश्रय दोष को हटाने के लिये शब्द नित्यत्व पक्ष का आश्रयण करके स्वभाव से अप्रयुक्त का अन्वाख्यानमात्र शास्त्र करता है, अपूर्व अदर्शन विधान नहीं करता है ऐसा मानने पर भी यह वार्तिकोक्त दोष आता है इसका समाधान होना चाहिये।

'अचो ञ्णितीति' वृद्धिः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । ञ्णित्यङ्गस्याचो वृद्धिरुच्यते । यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गं भवति । यस्माच्च प्रत्ययविधिर्न तत् प्रत्यये परतः । यच्च प्रत्यये परत', न तस्मात् प्रत्ययविधिः ।

क्विपस्तर्ह्यदर्शनम् । तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति । तत्र को दोषः । तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः । तत्र प्रत्ययलक्षणं कार्यं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति तुक् प्राप्नोति ।

सिद्धं तु प्रसक्तादर्शनस्य लोपसंज्ञत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम् ।

त्रपु जतु में अण् के अदर्शन से अण् की लोपसंज्ञा हो जायगी तो प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से प्रत्ययलक्षण मान कर णित् परे हो जाने से अचो ञ्णिति से त्रपु जतु को वृद्धि प्राप्त होती है ।

त्रपु जतु में अचो ञ्णिति से वृद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि ञित् णित् प्रत्यय परे रहते अङ्ग को वृद्धि कही है । और अङ्गसंज्ञा यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् इस सूत्र द्वारा जिस से जो प्रत्यय किया जाय उस प्रत्यय के परे रहते ही उस की होती है । त्रपु जतु में जिस त्रपु जतु शब्द से सु प्रत्यय किया है उस सु के परे रहते ही त्रपु जतु अङ्ग है । वह सुप्रत्यय ञित् णित् नहीं है । और जो अण् प्रत्यय ञित् णित् है वह त्रपु जतु से किया नहीं गया है इस लिये अण् का अदर्शन होने पर भी अङ्ग न होने से त्रपु जतु में वृद्धि नहीं होगी ।

अच्छा तो अण् के अदर्शन में दोष न सही । त्रपु जतु में क्विप् प्रत्यय का भी तो अदर्शन है । उस की लोपसंज्ञा प्राप्त हो कर प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध कहना होगा । त्रपु जतु ह्रस्वान्त हैं । उस से परे क्विप् मान कर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् प्राप्त होता है । तुक् वर्णाश्रय कार्य है, आङ्ग नहीं है इस लिये उस में अङ्ग का झगड़ा नहीं है । क्विप् परे रहते त्रपु जतु के अङ्ग न होने पर भी तुक् हो जाना चाहिये ।

किसी से प्रसक्त अर्थात् प्राप्त या विहित के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने से उक्त दोष न होगा । त्रपु जतु में क्विप् किसी से प्रसक्त नहीं है । विहित नहीं

यदि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते। ग्रामणीः सेनानीः। अत्र वृद्धिः प्राप्नोति।

प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवति षष्ठीनिर्दिष्टस्य। षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते।

षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते। चाहलोप एवेत्यवधारणम्। चादिलोपे विभाषा। अत्र लोपसंज्ञा न प्राप्नोति।

अथ प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यमाने कथमिवैतत् सिध्यति?

को हि शब्दस्य प्रसङ्गः। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते।

है। अविहित होने से उसका स्वतः अदर्शन है। अतः ऐसे अदर्शन की लोपसंज्ञा न होगी तो तुक् न होगा।

यदि प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो ग्रामणीः सेनानीः यहां वृद्धि प्राप्त होती है। ग्रामं नयतीति ग्रामणीः। यहां ग्राम पूर्वक नी धातु से उपपदसमास में कर्मण्यण् प्राप्त है। उस को बाध कर सत्सूद्विषद्रुह० से क्विप् होता है। प्रसक्त अण् का अदर्शन होने से लोपसंज्ञा हो जायगी तो प्रत्ययलक्षण से णित् परे मान कर अचो ञ्णिति वृद्धि हो जानी चाहिये।

षष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानेंगे। ग्रामणीः सेनानीः में प्रसक्त अण् का अदर्शन षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट नहीं है इस लिये वृद्धि न होगी।

यदि षष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो चाहलोप एवेत्यवधारणम् चादिलोपे विभाषा' यहां लोपसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। यहां भी च आदि शब्दों में षष्ठी विभक्ति का निर्देश करके लोप नहीं कहा गया है बल्कि जहां च आदि का अर्थ तो गम्यमान है पर च आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता उसे चादिलोप मान कर प्रथम तिङ् विभक्ति का निघात विकल्प कहा है। यहां लोपसंज्ञा न होने से शुक्ला व्रीहयो भवन्ति श्वेता गा आज्याय दुहन्ति इस वाक्य में भवन्ति इस प्रथम तिङ् विभक्ति को निघात विकल्प न हो सकेगा।

यदि षष्ठीनिर्दिष्ट विशेषण हटा कर केवल प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा मानें तो भी चाहलोप एवेत्यवधारणम्, चादिलोपे विभाषा यहां आप लोपसंज्ञा कैसे सिद्ध करेंगे?

यहां हम शब्द का प्रसङ्ग या प्रसक्ति क्या मानेंगे? यही कि जैसा आप

अस्तु तर्हि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्येव ।
कथं ग्रामणीः सेनानीः ?
योऽत्राणः प्रसङ्गः क्विपासौ बाध्यते ।

प्रत्ययस्य लुक् श्लुलुपः ॥१।१।६१॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लुमति प्रत्ययग्रहणमप्रत्ययसंज्ञाप्रतिषेधार्थम् ।

लुमति प्रत्ययग्रहणं क्रियते । अप्रत्ययस्यैताः संज्ञा मा भूवन्निति । किं प्रयोजनम् ।

ने कहा जहां च का अर्थ तो गम्यमान है, प्रतीत होता है किन्तु च शब्द का प्रयोग नहीं होता । यही शब्द की प्रसक्ति है । प्रसक्त च शब्द का अदर्शन होने से उस की लोपसंज्ञा हो जायगी ।

तो फिर प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा मान लीजिये ।

ग्रामणीः सेनानीः कैसे बनेंगे ?

जो यहां प्राप्त अण् का प्रसङ्ग है अथवा अण् की प्राप्ति है वह क्विप् द्वारा बाध ली जाती है । अतः अण् प्रसक्त ही नहीं हुआ । उस का विधान ही नहीं हुआ तो उस के अदर्शन की लोपसंज्ञा कैसे होगी । लोपसंज्ञा न होने से वृद्धि प्राप्तिरूप दोष भी न होगा । इस प्रकार प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने में कहीं दोष नहीं आता ।

प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

लुक् श्लु लुप् इन तीनों लु शब्द वाले अदर्शनों में प्रत्यय ग्रहण इस लिये किया है कि प्रत्ययभिन्न के अदर्शन की ये संज्ञायें न हो जावें । केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् आदि संज्ञायें होवें । क्या प्रयोजन है ? तद्धित का लुक् होने पर लुक् तद्धितलुकि से विधीयमान स्त्रीप्रत्यय का ही लुक् हो[1] गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य से अनुवृत्त गो शब्द का न हो । क्योंकि गोस्त्रियोः की

---

१. पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः यहां स्त्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द में निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस परिभाषा से केवल आनुक् आगम सहित स्त्रीप्रत्यय ङीष् का ही लुक् होता है । स्त्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द का लुक् नहीं होता ।

प्रयोजनं तद्धितलुकि कंसीयपरशव्ययोर्लुकि च गोप्रकृतिनिवृत्त्यर्थम् ।

तद्धितलुकि गोनिवृत्त्यर्थम् । कंसीयपरशव्ययोश्च लुकि प्रकृतिनिवृत्त्यर्थम् । 'लुक्तद्धितलुकी'ति गोरपि लुक् प्राप्नोति । प्रत्ययग्रहणान्न भवति 'कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् चे'ति प्रकृतेरपि लुक् प्राप्नोति । प्रत्ययग्रहणान्न भवति ।

गोनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

योगविभागात् सिद्धम् ।

योगविभागः करिष्यते । 'गोरुपसर्जनस्य' । गोन्तस्य प्रातिपदिकस्योपसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । ततः 'स्त्रियाः' । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिकस्योपसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । ततो 'लुक्तद्धितलुकी'ति । स्त्रिया इति वर्तते । गोरिति निवृत्तम् ।

अनुवृत्ति से स्त्रीप्रत्यय की तरह गो शब्द का लुक् भी प्राप्त होता है ।[1]

इसी प्रकार कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च से विधीयमान लुक् कंसीय और परशव्य में स्थित छ और यत् प्रत्ययों का ही हो, कंस और परशु प्रकृतियों का न हो । प्रत्ययग्रहण करने से लुक् तद्धितलुकि में गो शब्द का और कंसीयपरशव्ययो० में कंस परशु प्रकृतियों का लुक् न होगा ।

गोशब्द के लुक् की निवृत्ति के लिये तो प्रत्ययग्रहण की आवश्यकता नहीं । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य सूत्र में योगविभाग करेंगे । गोरुपसर्जनस्य यह एक सूत्र होगा । उस का अर्थ होगा—उपसर्जन गोशब्दान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है । जैसे—चित्रगुः । उस के बाद स्त्रियाः यह दूसरा सूत्र होगा । उस का

---

१. यदि कहो लुक्तद्धितलुकि में गो शब्द का भी लुक् मानने पर पञ्चभिः गोभिः क्रीतः पटः पञ्चगुः यहां क्रीतार्थक तद्धित ठक् प्रत्यय का अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुग० से लुक् होने पर लुक्तद्धितलुकि से गो शब्द का भी लुक् हो जायगा तो गो शब्द अन्त में न रहने से गोरतद्धितलुकि से समासान्त टच् प्रत्यय स्वतः ही प्राप्त न होगा उस के लिये अतद्धितलुकि यह निषेध व्यर्थ हो जाता है । वह व्यर्थ न हो इस लिये गो शब्द का लुक् स्वयमेव रुक जायगा सो भी बात नहीं । समासान्त टच् करके फिर गो शब्द का लुक् संभव है । वह न हो बल्कि टच् करने से पहले ही गो का लुक् हो जावे इस लिये भी अतद्धितलुकि यह निषेध रह सकता है । उस के व्यर्थ न होने से वह इस बात में ज्ञापक नहीं हो सकता कि गो शब्द का लुक् नहीं होता ।

कंसीयपरशव्ययोर्विशिष्टनिर्देशात् सिद्धम् ।

कंसीयपरशव्ययोर्विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः। कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ भवतश्छयतोश्च लुग् भवतीति। स चावश्यं विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः। क्रियमाणेऽपि वै प्रत्ययग्रहणे उकारसकारयोर्मा भूदिति। कमेः सः कंसः। परान् शृणातीति परशुः इति।

नैष दोषः। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। स एषोऽनन्यार्थो विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः। प्रत्ययग्रहणं वा कर्तव्यम्।

अर्थ होगा—उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है। जैसे—अतिखट्वः। निष्कौशाम्बिः। तदनन्तर लुक् तद्धितलुकि सूत्र में केवल स्त्रियाः सूत्र की अनुवृत्ति होगी। उस से स्त्रीप्रत्यय का ही लुक् होगा। गो शब्द की अनुवृत्ति न होने से उस का लुक् न होगा। कंसीयपरशव्ययो० में भी विशेष निर्देश करने से दोष न होगा। सूत्र का अर्थ ऐसा करेंगे—कंसीय परशव्य शब्दों से विकार अवयव अर्थ में क्रम से यञ् अञ् प्रत्यय होते हैं साथ ही कंसीय परशव्य में स्थित छ और यत् का लुक् भी हो जाता है। उस से छ और यत् का विशेष निर्देश कर देने से उन्हीं का लुक् होगा। प्रकृतियों का न होगा। छ और यत् के लुक् का विशेष निर्देश करना आवश्यक भी है। अन्यथा लुक् में प्रत्ययग्रहण कर देने पर भी कंस और परशु शब्दों में स्थित स और उ प्रत्ययों का भी लुक् प्राप्त होता है। वह न हो इस लिये छ और यत् का विशेष निर्देश करना चाहिये। कमेः सः और आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च इन उणादि सूत्रों से क्रम से स और उ प्रत्यय कर के कंस और परशु शब्द बनते हैं। काम्यते इति कंसः, जो चाह की वस्तु है। परान् शृणाति इति परशुः। जो दूसरों का हनन करे वह परशु है। प्रत्यय का लुक् कहने पर स और उ प्रत्ययों का लुक् भी प्राप्त होता है।[1] उसे रोकने के लिये छ यत् प्रत्ययों का विशेष निर्देश आवश्यक है।

यह कोई दोष नहीं। कंस और परशु में स और उ प्रत्ययों के लुक् की तो प्राप्ति ही नहीं। क्योंकि उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि[2] इस परिभाषा से

---

१. यञ् अञ् प्रत्ययों का तो विधानसामर्थ्य से लुक् न होगा। यदि लुक् च कहने से छ यत् के साथ यञ् अञ् का भी लुक् हो जावे तो उन का विधान करना ही व्यर्थ है।

२. अतः कृकमिकंसकुम्भपात्र० सूत्र में कमि कंस दोनों का भेद से निर्देश

उक्तं वा।

किमुक्तम्। 'ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थमि'ति।

षष्ठीनिर्देशार्थं तु।

षष्ठीनिर्देशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्। षष्ठीनिर्देशो यथा प्रकल्पेत।

अनिर्देशे हि षष्ठ्यर्थाप्रासिद्धिः।

अक्रियमाणे हि प्रत्ययग्रहणे षष्ठ्यर्थस्याप्रसिद्धिः स्यात्। कस्य। स्थानेयोगत्वस्य।

से उणादि शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं। उन में किसी प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं होता। इस लिये कंस और परशु शब्द स और उप्रत्ययान्त न होंगे तो स और उ प्रत्ययों का लुक् नहीं प्राप्त होगा। उस अवस्था में छ और यत् प्रत्यय के विशिष्ट निर्देश का और कोई प्रयोजन नहीं रहता सिवाय इस के कि वह कंस और परशु इन प्रकृतियों के लुक् को रोके। उस के लिये यहां सूत्र में प्रत्ययग्रहण करें या वहां छ यत् के लुक् का विशिष्ट निर्देश करें। कोई भेद नहीं पड़ता।

कंसीयपरशव्ययोः० सूत्र में छ यत् का विशेष निर्देश किया ही हुआ है जो कि ङ्याप्प्रातिपदिकात् के अधिकार का प्रयोजन है। वार्तिककार ने स्वयं कहा है—ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थम्। इस लिये यहां प्रत्ययग्रहण व्यर्थ है।

अच्छा तो षष्ठी विभक्ति के निर्देश के लिये प्रत्ययग्रहण करना चाहिये। प्रत्ययस्य कहने से षष्ठी का निर्देश हो जाता है। उस से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो अदर्शन उस की लुक् श्लु लुप् संज्ञायें हो जायेंगी। यदि प्रत्ययस्य नहीं पढ़ते हैं तो षष्ठी के अर्थ का अवगम नहीं होता। षष्ठी का अर्थ क्या है? स्थानेयोग। षष्ठी स्थानेयोगा के नियम से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो अदर्शन यह अर्थ बिना प्रत्ययग्रहण किये नहीं हो सकता।

करना ही उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा कंस शब्द के कम् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण कमिग्रहण से ही कंस का ग्रहण भी हो जाता। दोनों का पृथक् २ निर्देश यह सिद्ध करता है कि उणादि शब्द अव्युत्पन्न होते हैं।

क्व पुनरिह षष्ठीनिर्देशेनार्थः प्रत्ययग्रहणेन यावता सर्वत्रैव षष्ठ्युच्चार्यते-अणिञोः, तद्राजस्य, यञञोः, शप इति ।

इह न काचित् षष्ठी । 'जनपदे लुबिति' ।

अत्रापि प्रकृतं प्रत्ययग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । 'प्रत्ययः परश्चेति ।

तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

ङ्याप्प्रातिपदिकादित्येषा पञ्चमी प्रत्यय इति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्येति ।

प्रत्ययविधिरयम् । न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिका भवन्ति ।

नायं प्रत्ययविधिः । विहितः प्रत्ययः । प्रकृतश्चानुवर्तते ।

आप (षष्ठी के अर्थ को समझाने के लिये) कहां षष्ठी विभक्ति निर्देशार्थ प्रत्ययग्रहण करना उचित समझते हैं जब कि सर्वत्र ही लुक् में षष्ठी उच्चारित की हुई है। उदाहरणार्थ देखिये—ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः, तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । यञञोश्च । अदिप्रभृतिभ्यः शपः । यहां अणिञोः, तद्राजस्य, यञञोः, शपः ये सब षष्ठी निर्देश हैं जिन का लुक् होता है ।

यहां कोई षष्ठी नहीं दिखाई देती । जैसे—जनपदे लुप् ।

यहां भी ऊपर से प्रत्ययग्रहण की अनुवृत्ति आ रही है । कहां से ? प्रत्ययः, परश्च से ।

वह तो प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है । यहां हमें षष्ठी के निर्देश से प्रयोजन है ।

ङ्याप्प्रातिपदिकात् इस अधिकार सूत्र में प्रातिपदिकात् यह पञ्चमी प्रत्ययः इस प्रथमा को तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से षष्ठी में बदल देगी। उस से जनपदे लुप् का अर्थ होगा—प्रातिपदिक से परं विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का जनपद अर्थ में लुप् होता है ।

जनपदे लुप् सूत्र तो प्रत्यय विधान प्रकरण में है। प्रत्यय विधान में पञ्चमी विभक्ति किसी विभक्ति को षष्ठी में नहीं बदला करती ।

जनपदे लुप् यह सूत्र प्रत्यय का विधान नहीं करता। प्रत्यय तो पहले से विहित चला आ रहा है। उसकी यहां अनुवृत्ति मात्र करनी है। जो चातुरर्थिक

सर्वादेशार्थं वा वचनप्रामाण्यात् ।

सर्वादेशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्। लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा यथा स्युः ।

प्रत्यय पूर्व सूत्रों से विहित है उसका जनपद अर्थ में लुप् करने के लिये प्रत्ययः यह प्रथमा षष्ठी में बदल सकती है। इस लिये सर्वत्र षष्ठी उच्चारित होने से यहां तदर्थ प्रत्ययग्रहण करना व्यर्थ है।[1]

अच्छा तो सर्वादेश के लिये प्रत्ययग्रहण करना चाहिये। जिस से लुक् श्लु लुप् ये प्रत्यय के अदर्शन सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान में आदेश हो। प्रत्यय के अन्तादेश न हो।

---

१. वस्तुतः षष्ठीनिर्देशार्थ प्रत्ययग्रहण करना ही चाहिये। जिस से प्रत्यय के स्थान में हुए अदर्शन की लुक् आदि संज्ञायें होवें। इसी लिये वार्तिककार ने षष्ठीनिर्देशार्थं तु इस वार्तिक के पश्चात् सर्वादेशार्थं वा इस वार्तिक में वा शब्द पक्षान्तर को दिखाने के लिये प्रयुक्त किया है। अन्यथा आगस्त्यस्य छात्राः आगस्तीयाः यह रूप नहीं बनेगा। प्रत्ययग्रहण के अभाव में लुक् प्रकृति का भी समझा जाने लगेगा तो आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच् इस सूत्र में यदि ऊपर से लुक् की अनुवृत्ति करें तब अगस्ति कुण्डिनच् और लुक् ये तीन आदेश आगस्त्य और कौण्डिन्य इन दो शब्दों को अलग अलग प्राप्त होंगे जो कि सर्वथा अनिष्ट हैं। यदि लुक् की अनुवृत्ति न कर के केवल अगस्ति और कुण्डिनच् ये दो आदेश ही उक्त दोनों शब्दों को बहुवचन में विधान करें तो आगस्तीयाः यहां बहुवचन में आगस्त्य शब्द को अगस्ति आदेश हो जायगा। तब आगस्त्य के वृद्धसंज्ञक न रहने से वृद्धाच्छः से शैषिक छ प्रत्यय नहीं प्राप्त होगा। प्रत्ययग्रहण करने पर लुक् प्रत्यय का ही होगा। प्रकृति को आदेश नहीं होगा तो आगस्तीयाः में शैषिक अजादि प्रत्यय की विवक्षा में गोत्रेऽलुगचि से गोत्रप्रत्यय यञ् का लुक् रुक जाने से आगस्त्य शब्द वृद्धसंज्ञक मिल जायगा। उस से छ प्रत्यय हो कर आगस्तीयाः यह इष्ट रूप बन जाता है। लुक् संनियोगशिष्ट अगस्ति आदेश प्रत्यय के लुक् के साथ ही होगा। यहां प्रत्यय का लुक् न होने से अगस्ति आदेश भी नहीं होगा। भाष्यकार तो षष्ठी निर्देशार्थ प्रत्ययग्रहण नहीं चाहते। उन के मत में आगस्त्यकौण्डिन्ययोः० सूत्र में यस्कादिभ्यो गोत्रे से गोत्रग्रहण तथा पूर्वानुक्रान्त लुक् की अनुवृत्ति आती है। जो गोत्र में विहित है उस का लुक् हो जायगा। गोत्र में विहित प्रत्यय ही है। शेष प्रकृति भाग को अगस्ति कुण्डिनच् आदेश हो जायेंगे। आगस्तीयाः में गोत्र विहित यञ् प्रत्यय का लुक् प्रतिषिद्ध हो जाने से अगस्ति आदेश नहीं होगा तो वृद्धाच्छः से छ प्रत्यय सिद्ध हो जायगा।

अथ क्रियमाणेऽपि प्रत्ययग्रहणे कथमिव लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा लभ्याः।

वचनप्रामाण्यात्। प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात्।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति लुक् श्लु-लुपः सर्वादेशा भवन्तीति। यदयं 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति लोपे प्रकृते लुकं शास्ति।

उत्तरार्थं तु।

उत्तरार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्।

क्रियते तत्रैव प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमिति।

द्वितीयं कर्तव्यम्। कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्। एकदेशलोपे मा भूदिति। आघ्नीत। सं रायस्पोषेण ग्मीयेति।

प्रत्ययग्रहण करने पर लुक् श्लु लुप् कैसे सर्वादेश हो सकेंगे!

वचन के प्रमाण से। प्रत्ययस्य इस वचन के सामर्थ्य से यह समझा जायगा कि अलोन्त्य की बाधा हो कर सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान में लुक् श्लु लुप् आदेश होते हैं। अन्यथा प्रत्ययस्य कहना व्यर्थ है।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि लुक् श्लु लुप् ये सर्वादेश होते हैं। क्योंकि आचार्य जो घोर्लोपो लेटि वा से लोप की अनुवृत्ति आने पर भी लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र में लुक् ग्रहण करते हैं उस से यह बात सिद्ध होती है। यदि लोप के समान लुक् आदि भी अन्त्य के स्थान में आदेश हों तो लुक् ग्रहण करना व्यर्थ है।

अच्छा तो उत्तर सूत्र के लिये यह प्रत्ययग्रहण करना चाहिये। जिस से प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् इस उत्तरसूत्र में प्रत्यय की अनुवृत्ति हो सके।

यह भी प्रयोजन नहीं। उत्तर सूत्र में प्रत्ययग्रहण किया ही हुआ है।

वहां दूसरा प्रत्ययग्रहण करने के लिये यहां प्रत्ययग्रहण करना चाहिये। जिस से सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण हो। प्रत्यय के एकदेश या अवयव का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण न हो। आघ्नीत (आङ् हन्-सीयुट् लिङ् त) संग्मीय (सम् गम्-सीयुट् लिङ् इट्) यहां आङ् पूर्वक हन् धातु और सम् पूर्वक गम् धातुओं से विधिलिङ् में सीयुट् प्रत्यय के सकार का लोप हुआ है। वह

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१।१।६२॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतीयत्युच्यमाने सौरथी वैहतीति गुरूपोत्तमलक्षणः ष्यङ् प्रसज्येत ।

प्रत्यय के एकदेश का लोप है। सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप नहीं है इस लिये वहां प्रत्ययलक्षण न होगा तो झलादि सीयुट् को मान कर अनुदात्तोपदेश वनतितनोत्यादीनां० से हन् गम् के अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता।

प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतना सूत्र होने पर सौरथी वैहती (सुरथस्य विहतस्य चापत्यं गोत्रं स्त्री) यहां अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे से गुरूपोत्तम मान कर होने वाला ष्यङ् आदेश प्राप्त होगा[1]। क्योंकि सुरथ विहत शब्दों से गोत्र में अत इञ् से इञ् प्रत्यय करके सौरथि वैहति रूप होते हैं। रम् धातु से कथन् प्रत्यय परे रहते मकार का लोप हो कर रथ शब्द बनता है। और हन् धातु से क्त प्रत्यय परे रहते नकार का लोप होकर हत शब्द बनता है। मकार नकार प्रत्यय नहीं है। उनके रहते गुरूपोत्तम होने से जैसे—इञन्त सौरथि वैहति शब्दों के इञ को अणिञोरनार्षयोः० से स्त्री अपत्य में ष्यङ् आदेश प्राप्त होता है (गुरूपोत्तम शब्द का अर्थ है—त्रिप्रभृतीनामन्त्यमक्षरमुत्तमम्। तस्य समीपे यत् तदुपोत्तमम्। उपोत्तमं गुरु यस्मिन् प्रातिपदिके तद् गुरूपोत्तमम्। जिस प्रातिपदिक में तृतीय आदि अक्षर के समीपस्थ द्वितीय आदि अक्षर गुरु हो उसे गुरूपोत्तम कहते हैं।) वैसे लोप होने पर भी वह ष्यङ् आदेश हो जायगा। अर्थात् ष्यङ् प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जायगा। जिससे सौरथ्या वैहत्या ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। सिद्धान्ततः स्त्री अपत्य में इतो मनुष्यजातेः से ङीष् होकर सौरथी वैहती ये इष्ट रूप बनते हैं।

---

१. प्रत्ययस्य लक्षणं दर्शनं प्रादुर्भावः प्रत्यय का लक्षण अर्थात् दर्शन, प्रादुर्भाव ऐसा अर्थ कल्पनाकर यह कहा जा रहा है। सूत्रार्थ यह होगा—जिस किसी का लोप है उसके रहते जो प्रत्यय होता है, उसका लोप होने पर भी उस प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जाता है।

नेष दोषः। नैवं विज्ञायते लोपे प्रत्ययलक्षणं भवति प्रत्ययस्य प्रादुर्भाव इति। कथं तर्हि प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तत् लुप्तेपि भवति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। सति प्रत्यये यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्। लोपोत्तरकालं यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं मा भूदिति।

किं प्रयोजनम्?

ग्रामणिकुलं सेनानिकुलम् इत्यत्रौत्तरपदिके ह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति तुक् प्राप्नोति स मा भूदिति।

यदि तर्हि यत् सति प्रत्यये प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणेन भवति,

---

यह कोई दोष नहीं। प्रत्ययलक्षण का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यय का लक्षण दर्शन अथवा प्रादुर्भाव होना। बल्कि प्रत्यय है लक्षण निमित्त जिस कार्य का वह कार्य प्रत्ययलक्षण कहाता है। लोप होने पर प्रत्ययनिमित्तक कार्य का होना ही प्रत्ययलक्षण है। सौरथी वैहती में प्रत्यय को निमित्त मान कर कोई कार्य नहीं करना है इस लिये मकार नकार का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण नहीं होगा।

अच्छा तो प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के रहते जो कार्य प्राप्त हो वह उस प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण अर्थात् प्रत्यय को निमित्त मान कर हो जावे। प्रत्यय का लोप होने पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण से न होवे।[1]

क्या प्रयोजन है?

ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् (ग्रामण्यः सेनान्यः कुलम्) यहां षष्ठी समास में कुल शब्द उत्तरपद परे रहते क्विप् प्रत्ययान्त ग्रामणी सेनानी शब्द को इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य से ह्रस्व करने पर ह्रस्वस्य पिति कृति से तुक् प्राप्त होता है वह न होवे। क्योंकि क्विप् प्रत्यय के रहते तुक् प्राप्त नहीं था वह क्विप् का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण से नहीं होगा।

यदि प्रत्यय के परे रहते जो कार्य प्राप्त हो वही (प्रत्ययलोप होने पर)

---

१. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्—यहाँ प्रत्ययलोपे में प्रत्यय शब्द से सप्तमी का लुक् मान कर प्रत्यये सति तल्लोपे ऐसा वाक्यार्थ समझा जाता है।

लोपोत्तरकालं यत् प्राप्नोति तन्न भवति, जगत् जनगदित्यत्र तुक् न प्राप्नोति। लोपोत्तरकालं ह्यत्र तुगागमः। तस्मान्नार्थ एवमर्थेन प्रत्ययग्रहणेन।

कस्मान्न भवति ग्रामणिकुलं सेनानिकुलम्।

बहिरङ्गं ह्रस्वत्वम्। अन्तरङ्गस्तुक्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्याद् एकदेशलोपे मा भूदिति। आघ्नीत। सं रायस्पोषेण ग्मीय।

पूर्वस्मिन्नपि योगे प्रत्ययग्रहणस्यैतत् प्रयोजनमुक्तम्। अन्यतरच्छक्यमकर्तुम्।

प्रत्ययलक्षण से होता है और प्रत्यय का लोप होने पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण से नहीं होता तो जगत् जनगत् (गच्छतीति जगत्। जनं गच्छतीति जनगत्। गम् क्विप्) यहां क्विप् प्रत्ययान्त गम् धातु से तुक् नहीं प्राप्त होता। क्योंकि यहां अन्तरङ्ग होने के कारण पहले क्विप् का लोप हो जाता है। उसके बाद गमः क्वौ से गम् के मकार का लोप होकर ह्रस्वान्त बन जाने से तुक् होता है। क्विप् प्रत्यय के परे रहते तुक् प्राप्त नहीं था तो क्विप् का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण से नहीं होना चाहिये। इस लिये ऐसे दोषयुक्त प्रत्ययग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। लोप होने पर सर्वत्र प्रत्ययलक्षण मान लेना चाहिये।

ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् में क्विप् प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से तुक् क्यों नहीं होता ?

यहां इको ह्रस्वो० से हुआ ह्रस्व बहिरङ्ग है और तुक् अन्तरङ्ग है। असिद्ध परिभाषा से बहिरङ्ग ह्रस्व असिद्ध हो जायगा तो तुक् नहीं होगा।

तो फिर प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण हो। प्रत्यय के एकदेश या अवयव का लोप होने पर न हो। आघ्नीत सं ग्मीय (आङ् हन्-सीयुट् लिङ् त। सम् गम्-सीयुट् लिङ् इट्) यहां सीयुट् प्रत्यय के एकदेश सकार का लोप हुआ है सम्पूर्ण सीयुट् का लोप नहीं हुआ है इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो झलादि सीयुट् को मान कर अनुदात्तोपदेशवनति० से अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता।

पहले सूत्र में भी प्रत्ययग्रहण का यही प्रयोजन कहा था। इस प्रत्ययग्रहण का भी आप यही कह रहे हैं। दोनों में से कोई एक प्रत्ययग्रहण अनावश्यक है।[1]

---

१. इस प्रकार भाष्यकार ने यहां प्रथम प्रत्ययग्रहण का खण्डन कर दिया है।

अथ द्वितीयं प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्।

प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात्। वर्णलक्षणं मा भूदिति। गवे हितं गोहितम्। रायः कुलं रैकुलमिति।

द्वितीय प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण कार्य ही हो। वर्णलक्षण कार्य न हो इस लिये प्रत्ययलक्षणम् यह द्वितीय प्रत्ययग्रहण किया है। गवे हितं गोहितम्। रायः कुलं रैकुलम्। यहां गो रै शब्दों के षष्ठीसमास में ङे ङस् विभक्तियों का लुक् हुआ है। उस को प्रत्ययलक्षण मान कर अच् परे हो जाने से एचोऽयवायावः से अव् आय् आदेश प्राप्त होते हैं। वे अच् रूप वर्ण लक्षण कार्य है। प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाले नहीं हैं इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो अव् आय् आदेश नहीं होते।[1]

---

१. एतन्मूलक ही वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् यह परिभाषा है। जहां वर्ण का प्राधान्य है अर्थात् प्रधान रूप से जहां वर्ण का आश्रयण किया है वहीं प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है। किन्तु जहां वर्ण प्रधान न होकर प्रत्यय प्रधान है और अप्रधानता से वर्ण का आश्रयण किया है वहां प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता। जैसे—अतृणेट्। यहां तृह् धातु से लङ् में तिप् का लोप होने पर उसे प्रत्ययलक्षण मान कर तृणह इम् से इमागम हो जाता है। इमागम करने वाले सूत्र में हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय की प्रधानता है हल् रूप वर्ण की प्रधानता नहीं है। वहां हल् वर्ण सार्वधातुक का विशेषण है इस लिये वर्ण की अप्रधानता होने से वर्णाश्रय होने पर भी प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता। वर्ण की प्रधानता में प्रत्ययलक्षण निषेध के समान ही लोपो व्योर्वलि से होने वाला यकार वकार का लोप वल् रूप वर्ण को निमित्त मान कर होने से वर्णाश्रय कहलाता है, प्रत्ययाश्रय नहीं। इसीलिये आस्रेमाणम् (आङ्-स्रिव्-मनिन्) में स्रिव् के वकार का लोप होने पर न धातुलोप आर्धधातुके से प्राप्त सार्वधातुकगुण का निषेध प्रत्ययाश्रयत्वाद-न्यत्र सिद्धम् ऐसा कह कर रोका गया है। वहां लोपो व्योर्वलि से हुआ वकार का लोप आर्धधातुक मनिन् प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ। वल्कि मनिन् में वल् रूप वर्ण को निमित्त मान कर हुआ है। आर्धधातुकनिमित्तक लोप न होने से गुण निषेध नहीं होता यह सिद्ध किया है। यदि इसी प्रकार सुपूर्वक धिन्व् कृण्व् धातुओं से विच् प्रत्यय करें और विच् का सर्वापहारी लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण से विच् परे मानें तो लोपो व्यो० से होने वाला धिन्व् कृण्व् के वकार का लोप आर्धधातुक विच् प्रत्ययाश्रय न होकर वल् रूप वर्णाश्रय होगा। उस अवस्था में

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनं सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमित्युच्यते। सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य। सच्छास्त्रेणान्वाख्यायते। सतो वा शास्त्रमन्वाख्यायकं भवति। सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोरि'ति इहैव स्याद् गोमन्तौ यवमन्तौ। गोमान् यवमान् इत्यत्र न स्यात्। इष्यते च स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्यतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनमित्येवमर्थमिदमुच्यते।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र इस लिये बनाया है कि शास्त्र सत् का ही निमित्तत्वेन अन्वाख्यान करता है। असत् का नहीं। शास्त्र द्वारा विद्यमान का ही प्रतिपादन होता है अविद्यमान का नहीं, या विद्यमान ही शास्त्र द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। जैसे—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः इस शास्त्र से सर्वनामस्थान परे रहते नुम् का विधान किया है वह गोमन्तौ, यवमन्तौ (गोमत्, यवमत्-औ) यहां सर्वनामस्थानसंज्ञक औ प्रत्यय के विद्यमान होने पर ही हो सकता है। गोमान् यवमान् (गोमत्, यवमत्-सु) यहां सु सर्वनामस्थान के विद्यमान न होने से नुम् प्राप्त नहीं हो सकता। इष्ट है यहां भी नुम् हो। वह विना यत्न के सिद्ध नहीं होता इस लिये प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र बनाया है।

आर्धधातुक निमित्तक धातुलोप न होने से न धातुलोप सूत्र से लघूपधगुण का निषेध न हो सकेगा तो गुण होकर सुधेन् सुकर्ण् होंगे। प्रथमा एकवचन सु परे रहते सु लोप नलोप हो जायेंगे तब सुधे सुकः ये इष्ट रूप बनेंगे। न धातुलोप से गुणनिषेध मान कर तो सुधिन् में सौ च से इन्नन्त को दीर्घ होकर विद्यार्थी की तरह सुधी ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। और सुकृण् में नान्त की उपधा को सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से दीर्घ होकर उपधायाश्च से इत्व रपर हो जायगा तो र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से पदान्त में दीर्घ होकर गीः की तरह सुकीः यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। यद्यपि एचोऽयवायावः के उक्त उदाहरण गोहितम् रैकुलम् में अच् रूप वर्णाश्रय होने पर भी अन्ततः ङे ङस् प्रत्ययों का आश्रय भी है पर वह शब्दोपात्त नहीं है इस लिये वहां मुख्य रूप से वर्ण का ही आश्रय मान कर प्रत्ययलक्षण नहीं होता।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

लुक्युपसंख्यानम् ।

लुक्युपसंख्यानं कर्तव्यम् । पञ्च सप्त ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

लोपे हि विधानम् ।

लोपे हि प्रत्ययलक्षणं विधीयते तेन लुकि न प्राप्नोति ।

न वा दर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात् ।

न वा कर्तव्यम् । किं कारणम् । अदर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात् । अदर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते । लुमत्संज्ञाश्चाप्यदर्शनस्य क्रियन्ते । तेन लुक्यपि भविष्यति ।

यद्येवम् ।

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्संज्ञम् ।

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्संज्ञमपि प्राप्नोति ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहना चाहिये । पञ्च सप्त (पञ्चन्, सप्तन्-जस् शस्) यहां षट् संज्ञक पञ्चन् सप्तन् शब्दों से परे षड्भ्यो लुक् से जस् शस् का लुक् हुआ है । लोप नहीं हुआ है । इस लिये प्रत्ययलोप न होने से प्रत्ययलक्षण प्राप्त नहीं होता । प्रत्ययलक्षण न होने से पद संज्ञा न होगी तो नलोप न हो सकेगा । लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहने से पद संज्ञा होकर नलोप हो जाता है ।

क्या कारण है जो लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ?

लोप में प्रत्ययलक्षण कहा है इस लिये लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ।

लुक् में अलग प्रत्ययलक्षण कहने की आवश्यता नहीं । क्योंकि अदर्शन की लोपसंज्ञा कही गई है । लु शब्द वाली लुक् श्लु लुप् ये संज्ञायें भी अदर्शन की ही होती हैं । उस से अदर्शन सामान्य को ले कर लुक् में भी प्रत्ययलक्षण हो जायगा ।

तब तो प्रत्यय के अदर्शन सामान्य को ले कर लुक् श्लु लुप् संज्ञायें भी एक हो जानी चाहियें ।

तत्र को दोषः ?

तत्र लुकि श्लुविधिः प्रतिषेध्यः ।

तत्र लुकि श्लुविधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । अत्ति हन्ति । श्लाविति द्विर्वचनं प्राप्नोति ।[1]

न वा पृथक् संज्ञाकरणात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । पृथक् संज्ञाकरणात् । पृथक् संज्ञाकरणसामर्थ्याल्लुकि श्लुविधिर्न भविष्यति । तस्माददर्शनसामान्याल्लोपसंज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहते ।

यथैव तर्हि अदर्शनसामान्याल्लोपसंज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहते एवं लुमत्संज्ञा अपि लोपसंज्ञामवगाहेरन् ।

वहां क्या दोष है ?

वहां लुक् में श्लु का कार्य प्राप्त होता है । उसका निषेध कहना होगा । अत्ति हन्ति यहां अदिप्रभृतिभ्यः शपः से हुए शप् के लुक् को श्लु मान कर श्लौ से द्वित्व प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । लुक् श्लु लुप् इस प्रकार अलग २ संज्ञायें करने के सामर्थ्य से लुक् में श्लुविधि न होगी । लुक् आदि संज्ञाओं में सांकर्य न होगा । इस लिये अदर्शन सामान्य को लेकर लोपसंज्ञा लुक् आदि संज्ञाओं को व्याप्त कर लेगी । उनको अपनी लपेट में ले लेगी । अर्थात् लोप शब्द से लुक् आदि का भी ग्रहण हो जायगा तो लुक् में प्रत्ययलक्षण के उपसंख्यान की आवश्यकता नहीं ।

जिस प्रकार अदर्शन सामान्य को लेकर लोपसंज्ञा से लुक् आदि संज्ञायें गृहीत हो जाती हैं उसी प्रकार लुगादि संज्ञाओं से भी लोपसंज्ञा गृहीत हो जानी चाहिये ।

---

१. यह उपलक्षण है । श्लु में लुक् का, लुप् में लुक् का, लुक् में लुप् का इस प्रकार तीनों का सांकर्य प्राप्त होने से उसका निषेध कहना होगा । जैसे—जुहोति में जुहोत्यादिभ्यः श्लुः से हुए श्लु को लुक् मान कर उतो वृद्धिर्लुकि हलि से हु को वृद्धि प्राप्त होती है । हरीतक्याः फलं हरीतकी, यहां हरीतक्यादिभ्यश्च से हुए अण् के लुप् को लुक् मान कर लुक् तद्धितलुकि से हरीतकी में स्थित स्त्रीप्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है । लवणेन संसृष्टः लवणः सूपः यहां लवणाल्लुक् से हुए ठक् के लुक् को लुप् मान कर लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने से युक्तवद्भाव प्राप्त होता है ।

तत्र को दोषः।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमती भूतेति 'लुक् तद्धितलुकी'ति ङीपो लुक् प्रसज्येत।

ननु चात्रापि 'न वा पृथक् संज्ञाकरणादित्ये'व सिद्धम्।

यथैव तर्हि पृथक् संज्ञाकरणसामर्थ्यादत्र लुमत्संज्ञा लोपसंज्ञां नावगाहन्ते एवं लोपसंज्ञापि लुमत्संज्ञां नावगाहेत। तत्र स एव दोषो लुक्युपसंख्यानमिति।

अस्त्यन्यल्लोपसंज्ञायाः पृथक् करणे प्रयोजनम्। किम्। लुमत्संज्ञासु यदुच्यते तल्लोपमात्रे मा भूदिति।

वहां क्या दोष है।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमतीभूता (गोमती-च्वि,भू) यहां अभूततद्भाव अर्थ में च्विप्रत्ययान्त गोमती शब्द से परे च्वि का सर्वापहारी लोप हुआ है। उसे लुक् मान कर लुक् तद्धितलुकि से गोमती में स्त्रीप्रत्यय ङीप् का लुक् प्राप्त होता है।[1]

यहां भी लोपसंज्ञा और लुक् संज्ञा के अलग २ विधान करने के सामर्थ्य से लोपसंज्ञा में लुक् संज्ञा का कार्य नहीं होगा।

जैसे लोपसंज्ञा और लुक्संज्ञा के अलग २ विधान करने के सामर्थ्य से यहां लोपसंज्ञा में लुक् संज्ञा का कार्य नहीं होगा वैसे लुक् आदि संज्ञाओं में भी लोपसंज्ञा का कार्य नहीं होना चाहिये। उस अवस्था में वही दोष है कि लुक् में प्रत्ययलक्षण का उपसंख्यान करना होगा।

लोपसंज्ञा के पृथक् विधान करने का तो एक अन्य प्रयोजन है। क्या?

---

१. अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता की तरह अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमतीभूता में पुंवद्भाव नहीं होता। क्योंकि नदीवाचक गोमती शब्द भाषितपुंस्क नहीं है। महती शब्द तो विशेषण होने से भाषितपुंस्क है। प्रदीपकार श्रीकैयट जी की दृष्टि से तो अगोमती और गोमती में सामानाधिकरण्य न होने से पुंवद्भाव का अभाव है। वे अगोमती इस प्रकृति को गोमती इस विकृति से पृथक् मानते हैं। यदि गौणी वृत्ति से विकृत को भी प्रकृति मान लें अथवा प्रकृति विकृति में अभेद विवक्षा कर लें तब तो सामानाधिकरण्य बन जाने से पुंवद्भाव प्राप्त है। वह भाषितपुंस्क न होने से ही रुक सकता है।

लुमति प्रतिषेधाद्वा ।

अथवा यदयं 'न लुमताङ्गस्ये'ति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति लुकि प्रत्ययलक्षणमिति ।

सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः ।

सन् प्रत्ययो येषां कार्याणामनिमित्तं राज्ञः पुरुष इति, स लुप्तोऽप्यनिमित्तं स्याद् राजपुरुष इति ।

अस्तु तस्या अनिमित्तं या स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा । या तु सुप्तिङन्तं पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति ।

प्रत्यय और अप्रत्यय सभी के अदर्शन की लोप संज्ञा होती है । लुक् आदि संज्ञायें केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही होती हैं । जो कार्य लुक् आदि संज्ञाओं में कहा गया है वह लोप मात्र में नहीं हो सकता । लोपसंज्ञा व्यापक है । वह अदर्शनसामान्य की होती है । उस से लुक् आदि संज्ञायें व्याप्त हो जायेंगी किन्तु लुक् आदि संज्ञाओं में लुक् आदि शब्द से भावित प्रत्यय का अदर्शन होता है इस लिये वे लोप संज्ञा में व्यापक नहीं हो सकतीं । अर्थात् लुक् आदि से लोप का ग्रहण नहीं हो सकता ।

अथवा न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा जो लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध किया है वह आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि लुक् में भी प्रत्ययलक्षण होता है । इस लिये लुक् में उपसंख्यान की आवश्यकता नहीं है ।

विद्यमान प्रत्यय जिन कार्यों का निमित्त नहीं है वह लुप्त होकर भी उनका निमित्त नहीं होना चाहिये । जैसे—राज्ञः पुरुषः यहां वाक्य में राज्ञः शब्द में विद्यमान ङस् प्रत्यय राजन् की पदसंज्ञा का निमित्त नहीं है वह राजपुरुषः इस समास में लुप्त हुआ भी पदसंज्ञा का निमित्त नहीं होना चाहिये । पदसंज्ञा न होने से नलोप नहीं प्राप्त होता ।

ठीक है । राजपुरुषः में लुप्त हुआ ङस् प्रत्यय स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से होने वाली पूर्व की पदसंज्ञा का निमित्त न होवे किन्तु सुप्तिङन्तं पदम् से होने वाली सुबन्त की पदसंज्ञा तो निर्बाध है । यह पदसंज्ञा रह जायगी तो नलोप हो जायगा ।

सत्येतत् प्रत्यय आसीत्। अनया भविष्यत्यनया न भविष्यति। लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा तावत एव सुबन्तं पदमिति। अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन यजादिपरतेति कृत्वा भसंज्ञा प्राप्नोति।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवीर् इति।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधो नोपपद्यते। क्व। परिवीरिति। किं कारणम्। एकयोगलक्षणत्वात्। एकयोगलक्षणे हि तुग्दीर्घत्वे। इह लुप्ते प्रत्यये सर्वाणि प्रत्ययाश्रयाणि कार्याणि पर्यवपन्नानि भवन्ति। तान्येतेन प्रत्युत्थाप्यन्ते। अनेनैव तुक्। अनेनैव च दीर्घत्वमिति। तदेकयोगलक्षणं भवति। एकयोगलक्षणानि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते।

ङस् प्रत्यय के विद्यमान रहते तो यह कहा जा सकता था कि इससे पद संज्ञा होगी इससे न होगी। क्योंकि ङस् पर रहते स्वादिष्वसर्व० से प्राप्त पूर्व राजन् शब्द की पदसंज्ञा को भसंज्ञा बाध लेती है। ङस् सहित राज्ञः की सुबन्त होने से पदसंज्ञा स्पष्ट ही है। इस लिये ङस् की विद्यमानता में तो राजन् की न होगी, राज्ञः की होगी यह जाना जा सकता है परन्तु जब ङस् लुप्त हो गया तब राजन् ही सुबन्त है और राजन् ही पूर्व है। दोनों की एक राजन् ही अवधि है। जितनी अवधि की सुबन्तं पदम् से पदसंज्ञा होनी है उतनी की स्वादिष्वसर्व० से प्राप्त है। लुप्त हुए ङस् को प्रत्ययलक्षण से मान कर अच् परे हो जायगा तो यचि भम् से दोनों पदसंज्ञाओं को बाध कर भसंज्ञा प्राप्त होती है।[1] इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि—

तुक् और दीर्घत्व में विप्रतिषेध नहीं बनता। कहां? परिवीः यहां। (परि व्येञ्-क्विप्) परि पूर्वक व्येञ् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ है। वचि स्वपि० से सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर इधर हलः से दीर्घ प्राप्त होता है उधर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक्। क्विप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर दोनों कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं। तुक् और दीर्घ यहां दोनों एकयोगलक्षण हैं। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् इस एक सूत्र द्वारा ही होने वाले हैं। क्योंकि यहां क्विप् प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर सारे प्रत्ययाश्रित कार्य नष्टप्राय से हो जाते

---

१. स्वादिष्वसर्व० से प्राप्त पदसंज्ञा को तो पर होने से भसंज्ञा बाधेगी, सुबन्तं पदम् से प्राप्त को अपवाद होने से बाधेगी

सिद्धं तु स्थानिसंज्ञानुदेशादान्यभाव्यस्य ।

सिद्धमेतत् । कथम् । स्थानिसंज्ञाऽन्यभूतस्य भवतीति वक्तव्यम् । किं कृतं भवति । सत्तामात्रमनेन क्रियते । यथाप्राप्ते तुग्दीर्घत्वे भविष्यतः ।

तद् वक्तव्यं भवति ।

यद्यप्येतदुच्यते । अथवैतर्हि स्थानिवद्भावो नारभ्यते । 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधावि'ति वक्ष्यामि ।

हैं । वे सब इस प्रत्ययलक्षण सूत्र से एक साथ पुनः उत्थापित किये जाते हैं । इसी से तुक् और इसी से दीर्घ । यह एकयोगलक्षण समस्या है । एक ही योग से एक साथ होने वाले कार्य नहीं बन पाते । यहां क्रम तो कोई है ही नहीं; कैसे जानें कि परिवीः में पहले दीर्घ होगा, तुक् न होगा ।

स्थानिसंज्ञानुदेश आन्यभाव्यस्य या स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य ऐसा (नया) वचन बना देंगे । उस से उक्त दोष न होगा । इस वचन का अर्थ है कि आन्यभाव्य (=अन्यभाव) अन्यभूत या अन्य वस्तु जो लोपादि आदेश है उसको क्विप् आदि रूप स्थानी की जो संज्ञा पित् कृत् प्रत्यय इत्यादि जो व्यपदेश उसका अतिदेश होता है । आप पूछेंगे आदेश की स्थानिसंज्ञा का अतिदेश कहने से क्या होगा तो उसका उत्तर है—यह सूत्र प्रत्ययलक्षण कार्य न करके स्थानी की सत्ता मात्र कर देगा । लुप्त हुआ क्विप् स्थानी उपस्थित समझा जायगा । उसकी उपस्थिति में विप्रतिषेधे परं कार्यम् से तुक् और दीर्घत्व में जो परत्वात् प्राप्त होगा वह हो जायगा । पर होने से हलः से दीर्घ पहले हो जायगा तो परिवीः बन जायगा ।

यह भी गौरव ही है कि प्रत्ययलक्षण की जगह स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य यह वचन कहना होगा ।

यद्यपि यह वचन कहना होगा फिर भी उस वचन से एक लाघव हो जायगा कि अलग स्थानिवद्भाव नहीं कहना पड़ेगा । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ ऐसा सूत्र बना देंगे । इसी से स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ का काम चल जायगा ।

---

१. अनुदेशात्=अतिदेशात् ।

२. आन्यभाव्यस्य अन्यभाव एवान्यभाव्यम्, तस्य । स्वार्थे ष्यञ् । अन्यभाव=अन्यवस्तु, अर्थात् आदेश ।

यद्येवमाङो यमहन इत्यात्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्यात्, वधेर्न स्यात्। नहि काचिद् हन्तेः संज्ञास्ति या वधेरतिदिश्येत।

हन्तेरपि संज्ञास्ति। का। हन्तिरेव। कथम्। 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञे'ति वचनात् स्वं रूपं शब्दस्य संज्ञा भवतीति हन्तेरपि हन्तिः संज्ञा भविष्यति।[1]

भसंज्ञा-ङीप्-ष्फ-गोरात्वेषु च सिद्धम्।

भसंज्ञा ङीप्ष्फ गोरात्वेषु च सिद्धं भवति।

भसंज्ञा—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः प्रत्ययलक्षणेन यचीति भसंज्ञा प्राप्नोति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति।

ङीप्—चित्रायां जाता चित्रा। प्रत्ययलक्षणेनाणन्तादितीकारः प्राप्नोति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधविति वचनान्न भवति।

स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ इस वचन में यह दोष होगा कि आङो यमहनः में हन् से कहा हुआ आत्मनेपद हन् से ही हो सकेगा। वध् से न हो सकेगा। क्योंकि हन् की कोई संज्ञा नहीं जो उसके स्थान में हुए वध आदेश को अतिदिष्ट की जाय।

हन् की भी संज्ञा है। क्या? हन् ही। कैसे? स्वं रूपं शब्दस्य० इस वचन से शब्द का अपना स्वरूप संज्ञा होता है इस लिये हन् की हन् ही संज्ञा हो जायगी। इस वचन का यह लाभ भी है कि भसंज्ञा, ङीप्, ष्फ और गो शब्द को आत्व करने में भी स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ इस वचन से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा। भसंज्ञा जैसे—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। यहां समास में लुप्त हुए ङस् को प्रत्ययलक्षण से मान कर यचि भम् से भसंज्ञा प्राप्त होती है। उससे नलोप न हो सकेगा। किन्तु स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से भसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि अजादि प्रत्यय का आश्रयण करने से भसंज्ञा अल्विधि है। अलविधि में लुक् को स्थानीसंज्ञा न होगी तो ङस् परे न होने से भसंज्ञा न होगी। उससे नलोप हो जायगा। ङीप् जैसे—चित्रायां जाता चित्रा। यहां चित्रा शब्द से तत्र जातः अर्थ में हुए अण् का चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम् से लुक् हुआ है। उस को प्रत्ययलक्षण से मान कर चित्र शब्द अण्णन्त हो जायगा तो टाप् को बाध कर टिड्ढाणञ्० से ङीप् प्राप्त होता है।

---

१. सूत्रोपात्त हन् प्रयोगस्थ हन् की संज्ञा है।

ष्फ—वतण्डी। प्रत्ययलक्षणेन यञन्तादिति ष्फः प्राप्नोति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति।

गोरात्वम्—गामिच्छति गव्यति। प्रत्ययलक्षणेनामि 'औतोम्-शसो'रित्यात्वं प्राप्नोति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति।

तस्य दोषो ङौ नकारलोपेत्त्वेम् विधयः।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः। ङौ नकारलोपः। आर्द्रे चर्मन् लोहिते चर्मन्। प्रत्ययलक्षणेन यचीति भसंज्ञा सिद्धा भवति। स्थानिसंज्ञान्य-भूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति। इत्त्वम्—आशीः। प्रत्यय-

---

स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से न होगा। क्योंकि टिड्ढाणञ्० सूत्र में अजाद्यतष्टाप् से अकारान्त की अनुवृत्ति आने से ङीप् अल्विधि है। इस लिये लुक् की अण् संज्ञा न होगी तो अण्णन्त न होने से ङीप् न होगा। ष्फ जैसे—वतण्डी। (वतण्डस्य गोत्रापत्यं स्त्री) यहां वतण्डाच्च से यञ् प्रत्ययान्त वातण्डय शब्द से स्त्री अपत्य अर्थ में लुक् स्त्रियाम् से यञ् का लुक् हुआ है। उसे प्रत्ययलक्षण से यञन्त मान कर आवट्यायनी की तरह प्राचां ष्फ तद्धितः से ष्फ प्राप्त होता है। स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं होता। क्योंकि प्राचां ष्फ० में अजाद्यतष्टाप् से अकार की अनुवृत्ति आने से ष्फ अल्विधि है। इस लिये लुक् की यञ् संज्ञा न होगी तो यञन्त न होने से ष्फ न होगा। गो शब्द को आत्व जैसे—गामिच्छति गव्यति। (गो अम्-क्यच्) यहां नामधातु में सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से अम् का लुक् हुआ है। उसे प्रत्यय-लक्षण से मान कर औतोम्शसोः से गो शब्द को आत्व प्राप्त होता है। स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं होता। क्योंकि औतोम्-शसोः में इको यणचि से अच् की अनुवृत्ति आने से आत्व अल्विधि है। इस लिये लुक् की अम् संज्ञा न होगी तो अम् परे न होने से आत्व नहीं होगा।

स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ इस वचन के बनाने में भी दोष है। ङि परे रहते नकारलोप, इत्त्व और इम्विधि नहीं सिद्ध होती। आर्द्रे चर्मन् यहां चर्मन्-ङि इस अवस्था में सुपां सुलुक्० से लुक् हुए ङि को प्रत्ययलक्षण से मान कर यचि भम् से चर्मन् की भसंज्ञा हो जाती है तो नलोप का अभाव सिद्ध हो जाता है। किन्तु स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से भसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि वह अजादि प्रत्यय का आश्रयण करने से अनल्विधि

लक्षणेन हलीति इत्त्वं सिद्धं भवति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति। इम्—अतृणेट्। प्रत्ययलक्षणेन 'हली'ति इम् सिद्धो भवति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति। सूत्रं च भिद्यते।

यथान्यासमेवास्तु।

ननु चोक्तं सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः। तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवीरिति।

नैष दोषः। वक्ष्यत्यत्र परिहारम्। इहापि परिवीरिति। शास्त्र परविप्रतिषेधेन परत्वात् दीर्घत्वं भविष्यति।

है। भसंज्ञा न होने से नलोप प्राप्त होता है उसके लिये न ङिसम्बुद्धयोः यह सूत्र बनाना पड़ता है। आशीः (आशास्-क्विप्) यहां लुप्त हुए क्विप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल् परे हो जाता है तो शास इदङ्हलोः से शास की उपधा को इत्त्व सिद्ध हो जाता है। किन्तु स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से इत्त्व नहीं प्राप्त होता। क्योंकि हलादि प्रत्यय का आश्रयण करने से इत्त्व अलविधि है। उसके लिये आशासः क्वावुपसंख्यानम् यह वार्तिक बनाना पड़ता है। अतृणेट् (तृह् श्नम्-लङ् तिप्) यहां हल्ङ्याप्० सूत्र से लुप्त हुए तिप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल् परे हो जाता है तो तृणह इम् से श्नम्-विशिष्ट तृह् धातु को इमागम सिद्ध हो जाता है। किन्तु स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन में अनल्विधौ कहने से इम् नहीं प्राप्त होता। क्योंकि हलादि पित् सार्वधातुक का आश्रयण करने से इम् अल्विधि है। इन दोनों के साथ स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन के बनाने से प्रत्ययलक्षण सूत्र भी टूटता है।

अच्छा तो यथान्यास ही रहने दीजिये। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र ही ठीक है।

प्रत्ययलक्षण सूत्र में सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः और तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिः ये जो दोष कहे थे उनका क्या समाधान है?

यह कोई दोष नहीं। सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः इस दोष का समाधान तो अभी इसी सूत्र पर आगे कहेंगे। तुग्दीर्घत्वयोश्च वाले परिवीः में भी उपदेश शास्त्रों के विप्रतिषेध में पर होने से दीर्घ हो जायगा तुक् न होगा।

प्रयोजनमपृक्तशिलोपे नुममामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वमिडाट्श्नम्विधयः।

अपृक्तलोपे शिलोपे च कृते नुम् अमामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वम् इम् अडाटौ श्नम्विधिरिति प्रयोजनानि।

नुम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम्।

अमामौ—हे अनड्वन्। अनड्वान्।

गुणः—अधोक्। अलेट्। वृद्धिः-न्यमार्ट्।

दीर्घत्वम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम्।

इम्—अतृणेट्।

अडाटौ—अधोक्। अलेट्। ऐयः। औनः।

श्नम्विधिः—अभिनोऽत्र। अच्छिनोऽत्र। अपृक्तशिलोपयोः कृतयोरेते विधयो न प्राप्नुवन्ति। प्रत्ययलक्षणेन भवन्ति।

परिवीय (परि व्येञ्-ल्यप्) इत्यादि में प्रत्यय की अविद्यमानता में भी दीर्घ ही होगा। यद्यपि ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् और हलः ये दोनों प्रत्ययलक्षण से उत्थापित होते हैं। उनके एकयोगलक्षण होने पर भी प्रवृत्ति में पूर्व पर का क्रम बन जायगा। दोनों के क्रम में पर होने से दीर्घ ही हो जायगा तुक् न होगा।

अपृक्त का लोप और शि का लोप हो जाने पर नुम्, अम्, आम्, गुण, वृद्धि, दीर्घत्व, इम्, अट्, आट् और श्नम् का होना प्रयोजन है। अग्ने त्री ते इस वेदमन्त्र में त्रीणि के स्थान में त्री यह वैदिक प्रयोग है। शेश्छन्दसि बहुलम् से शि का लोप होकर फिर नुम् उपधादीर्घ और नलोप हो जाता है। लुप्त हुए शि को प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा। तो नपुंसकस्य झलचः से नुम् और सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से उपधादीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार वाजिनानि=वाजिना। सधस्थानि=सधस्था। तानि तानि=ता ता। ये समझने चाहियें। हे अनड्वन्! यहां अनडुह् शब्द से परे सम्बुद्धि के सु का हल्ङ्याप्० से लोप होता है। उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सम्बुद्धि परे हो जायगा तो अम्सम्बुद्धौ से अनडुह् को अमागम हो जाता है। अनड्वान् में हल्ङ्याप्० से हुए सुलोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर चतुरनडुहोरामुदात्तः आमागम हो जाता है। अधोक् अलेट् (दुह्, लिह्-लङ् तिप्) यहां हल्ङ्याप्० से हुए तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर दुह् लिह् धातुओं को लघूपधगुण और लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः से अडागम

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। स्थानिवद्भावेनाप्येतानि सिद्धानि।

न सिध्यन्ति। आदेशः स्थानिवदित्युच्यते। न च लोप आदेशः।

लोपोऽप्यादेशः। कथम्। आदिश्यते यः स आदेशः। लोपोऽप्यादिश्यते। दोषः खल्वपि स्याद् यदि लोपो नादेशः स्यात्। इहाचः परस्मिन् पूर्वविधावित्येतस्य भूयिष्ठानि लोप उदाहरणानि तानि न स्युः।

यत्र तर्हि स्थानिद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः।

हो जाता है। न्यमार्ट् (नि मृज् लङ् तिप्) यहां हल्ङ्याप्० से हुए तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर मृज् को मृजेर्वृद्धिः से वृद्धि हो जाती है। अतृणेट् (तृणह्-लङ् तिप्) यहां हल्ङ्याप्० से हुए तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर हलादि सार्वधातुक परे हो जायगा तो तृणह इम् से इमागम हो जाता है। ऐयः औनः (ऋ-लङ् तिप्। उन्द्-लङ् सिप्) यहां हल्ङ्याप्० से हुए तिप् सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर आडजादीनाम् से ऋ और उन्द् को आट् आगम हो जाता है। अभिनः अच्छिनः (भिद् छिद्-लङ् सिप्) यहां हल्ङ्याप्० से हुए सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर सार्वधातुक परे हो जायगा तो रुधादिभ्यः श्नम् से श्नम् हो जाता है। सर्वप्रथम अपृक्तसंज्ञक सु ति सि का लोप तथा शि का लोप होने पर नुम् आदि उक्त विधियां नहीं सिद्ध होतीं। प्रत्ययलक्षण से सिद्ध हो जाती हैं।

ये कोई प्रयोजन नहीं हैं। ये तो स्थानिवद्भाव से भी सिद्ध हैं।

स्थानिवद्भाव से ये सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि आदेश को स्थानिवत् कहा है। और लोप आदेश है नहीं।

लोप भी आदेश है। कैसे? जो आदिष्ट किया जाय वही आदेश है। लोप भी आदिष्ट किया जाता है, विधान किया जाता है इस लिये वह भी आदेश है। यदि लोप को आदेश नहीं मानेंगे तो दोष भी होगा। यहां पहले व्याख्यात अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इस सूत्र में बहुत अधिक उदाहरण लोप रूप आदेश के ही हैं वे सब गड़ बड़ हो जायेंगे। इस लिये लोप को भी आदेश मानना चाहिये।

अच्छा जहां स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता वहां के लिये यह प्रत्ययलक्षण सूत्र कहना चाहिये।

क च स्थानिवद्भावो नास्ति ।

योऽल्विधिः । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं ङौ नकारलोपेत्वम्विधयः ।

भसंज्ञाङीप्ष्फगोरात्वेषु च दोषः ।

भसंज्ञा ङीप्ष्फगोरात्वेषु च दोषो भवति ।

भसंज्ञायां तावन्न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेन भसंज्ञा भवतीति । यदयं 'न ङिसम्बुद्धयोरि'ति ङौ नलोपप्रतिषेधं शास्ति । ङीप्यपि नैवं विज्ञायते अण्णन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि ? अण् योऽकार इति । ष्फोऽपि नैवं विज्ञायते यञन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि यञ् योऽकार इति । गोरात्वेऽपि नैवं विज्ञायते अमि अचीति । कथं तर्हि अच्यमीति ।

स्थानिवद्भाव कहां नहीं हो सकता ?

जो अल्विधि है । अल्सम्बन्धी विधि में अनल्विधौ इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है इस लिये वहां प्रत्ययलक्षण सूत्र की आवश्यकता है । क्या प्रयोजन है ? पूर्वोक्त ङि परे रहते नकार का लोप, इत्व, और इम्विधि ।

परन्तु प्रत्ययलक्षण सूत्र में पूर्वोक्त भसंज्ञा, ङीप्, ष्फ और गो शब्द के आत्व में दोष भी तो है ?

भसंज्ञा में कोई दोष नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि प्रत्ययलक्षण से भसंज्ञा नहीं होती । यह जो न ङिसम्बुद्धयोः सूत्र द्वारा ङि परे रहते नलोप का निषेध करते हैं । उस से यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा आर्द्रे चर्मन् यहां चर्मन्-ङि इस अवस्था में सुपां सुलुक् पूर्व सवर्णा० से ङि का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से ङि परे हो जायगा तो यचि भम् से चर्मन् की भसंज्ञा होकर पद न रहने से नलोप की प्राप्ति ही नहीं रहती । फिर ङि परे रहते नलोप निषेध करना व्यर्थ है । उससे राजपुरुषः यहां प्रत्ययलक्षण से भसंज्ञा न होगी तो सुबन्त की पद संज्ञा होने से नलोप निर्बाध सिद्ध हो जायगा । सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः इस पूर्वोक्त दोष का यहां यह समाधान हो जाता है । ङीप् में भी दोष नहीं है । क्योंकि टिड्ढाणञ् सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अण्णन्त जो अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे ङीप् होता है बल्कि

प्रयोजनान्यपि तर्हि नैतानि सन्ति। यत्तावदुच्यते ङौ नकारलोप इति। क्रियते एतन्न्यास एव, न ङि सम्बुद्ध्योरिति। इत्त्वमपि, वक्ष्यत्येतत्—शास इत्त्वे आशासः क्वाविति। इम्विधिरपि हलीति निवृत्तम्।

यदि हलीति निवृत्तम्। तृणहानि अत्रापि प्राप्नोति।

एवं तर्हि अचि नेत्यनुवर्तिष्यते।

प्रातिपदिक के अण् का जो अकार उससे परे ङीप् होता है। उससे चित्रायां जाता चित्रा यहां ङीप् न होगा। क्योंकि अण् रूप अकार के वर्ण होने से तदाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा। यह प्रत्ययग्रहण का प्रयोजन पहले कह चुके हैं कि वर्णाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता। यही बात ष्फ में भी समझ लेनी चाहिये। वहां प्राचां ष्फ० का यह अर्थ नहीं करेंगे कि यञन्त जो अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे ष्फ होता है बल्कि यञ् का जो अकार उस से परे ष्फ होता है। उससे वतण्डी में ष्फ न होगा। अकाररूप वर्ण का आश्रयण करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा। गो शब्द के आत्व में भी दोष नहीं। आत्व करने वाले औतोम्शसोः सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अजादि अम् प्रत्यय परे रहते पूर्व पर को आत्व होता है बल्कि अम् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व पर को एकादेश आत्व होता है। उससे गव्यति में आत्व नहीं होगा। क्योंकि अच् रूप वर्ण का आश्रयण करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा।

इस प्रकार तो प्रत्ययलक्षण सूत्र के प्रयोजन भी अन्यथासिद्ध हो जाते हैं। यह जो ङि परे रहते नकारलोप प्रयोजन कहा है उसके लिये न ङिसम्बुद्ध्योः यह सूत्र बनाया ही हुआ है। आशीः में इत्व के लिये भी शास इदङ्हलोः सूत्र पर आशासः क्वावुपसंख्यानम् यह वार्तिक कहेंगे। अतृणेट् में इम्विधि भी सिद्ध हो जायगी। इम तृणह इम् में उतो वृद्धिर्लुकि हलि से हलि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे। पित् सार्वधातुक परे रहते तृणह को इम् कह देंगे। उससे तिप् आदि पित् सार्वधातुक का लोप होने पर भी उसको स्थानिवत् मान कर इमागम हो जायगा।

यदि तृणह इम् में हलि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो तृणहानि (तृणह्-लोट् आट् मिप्) में अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते भी इमागम प्राप्त होगा।

तो फिर नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके से अचि न की अनुवृत्ति करेंगे उसका अर्थ होगा—अजादि पित् सार्वधातुक परे रहते इमागम नहीं होता उससे तृहणानि में इम् नहीं होगा।

न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः। वक्तव्यश्च। किं प्रयोजनम्। प्रत्ययं गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात्। शब्दं गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति। किं प्रयोजनम्। शोभना दृषदोऽस्य ब्राह्मणस्य सुदृषद् ब्राह्मणः। 'सोर्मनसी अलोमोषसी' इत्येष स्वरो मा भूत्।

न लुमताङ्गस्य ॥१।१।६३॥

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसंख्यानम्।

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। एकपदस्वरे च लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्।

तो क्या फिर यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये। हम तो समझते हैं कि बनाना चाहिये। क्या प्रयोजन है? प्रत्यय का नाम लेकर जो कार्य कहा गया है वही प्रत्ययलक्षण हो। जो प्रत्यय अप्रत्यय साधारण शब्द को लेकर कार्य कहा गया है वहां प्रत्ययलक्षण न हो। स्थानिवद्भाव से सिद्ध होने पर यह सूत्र नियमार्थ है कि जहां प्रत्यय का असाधारण रूप आश्रीयमाण है वहीं प्रत्ययलक्षण होगा। जहां तो प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों के साधारण रूप का आश्रयण है वहां प्रत्ययलक्षण न होगा। उससे शोभना दृषदोऽस्य ब्राह्मणस्य स सुदृषद् ब्राह्मणः यहां बहुव्रीहि समास में शोभन (सु) जस्-दृषद् जस् इस अवस्था में सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से लुक् हुए जस् को प्रत्ययलक्षण से मान कर सुदृषद् यह असन्त नहीं बनेगा तो सोर्मनसी अलोमोषसी से विधीयमान उत्तरपद आद्युदात्त स्वर नहीं होगा। यह इष्ट सिद्ध हो जायगा। क्योंकि सोर्मनसी० सूत्र में अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति इस परिभाषा बल से मन् और अस् ये अर्थवान् या अनर्थक प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण शब्द लिये गये हैं। अस् प्रत्यय भी हो सकता है और प्रत्ययभिन्न भी। केवल प्रत्यय का ही असाधारण रूप यहां आश्रीयमाण नहीं है। इस लिये लुप्त अस् वाले सुदृषद् शब्द में स्थानिवद्भाव से उत्तरपदत्व होते हुए भी प्रत्ययलक्षण से असन्तत्व न होगा तो उत्तरपद आद्युदात्तस्वर न होकर नञ्सुभ्याम् से उत्तरपद अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा।

लुमान् के प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध में एकपदाश्रय स्वर में भी प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये। अर्थात् एक पद के स्वर में जहां लुमान् शब्द से प्रत्यय लुप्त हुआ है वहां भी प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहना चाहिये।

---

१. स्वर का कार्य अङ्गाधिकारीय न होने से वहां न लुमताङ्गस्य यह निषेध

किमविशेषेण ?

नेत्याह ।

सर्वामन्त्रितसिज्लुक्स्वरवर्जम् ।

सर्वस्वरमामन्त्रितस्वरं सिज्लुक्स्वरं च वर्जयित्वा। सर्वस्वर—सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः । 'सर्वस्य सुपी'त्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् । आमन्त्रितस्वर—सर्पिरागच्छ। सप्तागच्छत । 'आमन्त्रितस्य चे'त्याद्यु-

---

क्या सामान्यतया सभी एकपद के स्वरों में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये ?

नहीं। सर्वस्वर आमन्त्रितस्वर और सिज्लुक्स्वर को छोड़ कर ।

सर्वस्वर जैसे—सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः। (सर्वः स्तोमः पृष्ठं वा यस्य सः) यहां बहुव्रीहिसमास में बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् से होने वाला पूर्वपद प्रकृति स्वर सर्वस्य सुपि से सुप् परे विहित आद्युदात्त है। समास में विभक्ति का लुक् हो जाता है। उससे यह लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन है। सुप् परे न रहने से सर्व इस एकपद को विधीयमान आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध सर्वस्वर को छोड़ कर होगा तो यहां प्रत्ययलक्षण से सुप् परे मान कर हो जाता है। सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः में प्रत्ययलक्षण होकर जिससे आद्युदात्त हो सके इस लिये एकपद के स्वर विषयक प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध में सर्वस्वर को छोड़ा गया है।

आमन्त्रितस्वर जैसे—सर्पिरागच्छ। सप्तागच्छत (सर्पिस्-सु। सप्तन्-जस्) यहां सर्पिस् सप्तन् शब्दों के सम्बोधन में विभक्ति का लुक् हुआ है। वह लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन है। उससे आमन्त्रित (=सम्बोधन प्रथमा) परे न

प्राप्त नहीं होता इसी लिये यह एकपदाश्रय स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा जा रहा है। एकपद स्वर में ही प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से द्विपदाश्रय स्वर में प्रत्ययलक्षण हो ही जायगा। उससे दधि तिष्ठति यहां तिङ् अतिङः से विधीयमान अतिङ् से परे तिङ् को निघात द्विपदाश्रय है इस लिये दधि से परे लुप्त हुए सु में प्रत्ययलक्षण हो जायगा। तो दधि के पद बन जाने से उससे परे तिष्ठति को निघात सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अह्नो रविधौ यह आगे आने वाला वार्तिक भी अङ्गाधिकारीय कार्य से बाहर होने के कारण प्रत्ययलक्षण निषेध की अप्राप्ति में विधान किया गया समझना चाहिये।

दात्तत्वं यथा स्यात्। सिज्लुक्स्वर—मा हि दाताम्। मा हि धाताम्। 'आदिः सिचोऽन्यतरस्यामि'त्येष स्वरो यथा स्यात्।

किं प्रयोजनम्?

प्रयोजनं ञिनिकिल्लुकि स्वराः।

ञिनिकित्स्वरा लुकि प्रयोजयन्ति। गर्गा वत्साः। विदा उर्वाः।

रहने से षष्ठाध्यायस्थ आमन्त्रितस्य च इस सूत्र से सर्पिस् सप्तन् आदि एकपद को विधीयमान आद्युदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता। एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध आमन्त्रितस्वर को छोड़ कर होगा तो यहां प्रत्ययलक्षण से आमन्त्रित परे मान कर हो जाता है।

सिज्लुक्स्वर जैसे—मा हि दाताम्। मा हि धाताम्। (माङ् हि दा, धा-सिच् लुङ् तस् ताम्) यहां दा धा धातुओं से लुङ् में अडागम निषेध के लिये माङ् का योग है। तिङ्ङतिङः से निघात रोकने के लिये हि शब्द का योग है। हि च सूत्र से तिङ् के निघात का निषेध होता है। गातिस्थाघुपा० से सिच् का लुक् हुआ है। सिच् परे न रहने से आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् से विधीयमान दा धा आदि एकपद को आद्युदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता। एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध सिज्लुक् स्वर को छोड़ कर होगा तो यहां प्रत्ययलक्षण से सिच् परे मान कर हो जाता है।[1]

एकपद के स्वर में प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध का क्या प्रयोजन है?

प्रत्यय का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से प्राप्त ञित् नित् कित् इन एकपद के स्वरों का न होना प्रयोजन है।

---

१. मा हि दाताम्, मा हि धाताम् यहां सिचूलुक्स्वर में तो ज्ञापक से भी प्रत्ययलक्षण का होना सिद्ध हो जाता है। क्योंकि गातिस्था० सूत्र में च्लि का लुक् न विधान करके जो सिच् का लुक् विधान किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि सिच्लुक् में प्रत्ययलक्षण होता है। अन्यथा च्लि के लुक् में लाघव था। मन्त्रे घसह्वरणश० इस उत्तर सूत्र में लेः ग्रहण भी न करना पड़ता। लाघव को छोड़ कर जो गौरव का आश्रयण किया है वह सिच् का लुक् होने पर भी सिच् के कार्य करने में ही ज्ञापक हो सकता है।

उष्ट्रग्रीवा वामरज्जुः। ञ्नितीत्याद्युदात्तत्वं मा भूदिति। इह चात्रयः 'कित' इत्यन्तोदात्तत्वं मा भूदिति।

पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुकि।

पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुकि प्रयोजनम्। पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्। पथिप्रियो मथिप्रियः। पथिमथोः सर्वनामस्थाने इत्येष स्वरो मा भूदिति।

ञित्स्वर जैसे—गर्गा वत्साः। बिदा उर्वाः उष्ट्रग्रीवा वामरज्जुः। (गर्गस्य वत्सस्य च गोत्रापत्यानि बहूनि) यहां गर्गादि यञन्त गर्ग वत्स शब्दों से प्रथमाबहुवचन जस् परे रहते यञञोश्च से यञ् का लुक् हुआ है। उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर ञित् यञ् परे हो जायगा तो ञ्नित्यादिर्नित्यम् से गर्ग वत्स को आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है। एकपद के स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से नहीं होता इसी प्रकार बिदा उर्वाः (बिदस्य उर्वस्य च गोत्रापत्यानि बहूनि) यहां बिदादि अञ्प्रत्ययान्त बिद उर्व शब्दों से जस् परे रहते यञञोश्च से अञ् का लुक् हुआ है। उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर ञित् परे हो जायगा तो ञ्नित्यादिर्नित्यम् से आद्युदात्त प्राप्त होता है। एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से नहीं होता।

उष्ट्रग्रीवा इव उष्ट्रग्रीवा। वामरज्जुरिव वामरज्जुः। यहां उष्ट्रग्रीवा वामरज्जु शब्दों से इवार्थ में इवे प्रतिकृतौ से हुए कन् प्रत्यय का देवपथादिभ्यश्च से लुप् हुआ है। उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर नित् परे हो जायगा तो ञ्नित्यादि॰ से आद्युदात्त प्राप्त होता है। एकपदस्वर में प्रत्यययक्षण का निषेध कहने से नहीं होता।

अत्रयः यहां कितः से अन्तोदात्त न हो इस लिये भी एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा है। अत्रेरपत्यानि बहूनि इस अर्थ में इतश्चानिञः से ढक् प्रत्ययान्त अत्रि शब्द से जस् परे रहते अत्रिभृगुकुत्स॰ से ढक् का लुक् हुआ है। उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर कित् परे हो जायगा तो कितः सूत्र से अन्तोदात्त प्राप्त होता है। एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से नहीं होता।

पथिमथोः सर्वनामस्थाने से होने वाले एकपदस्वर में भी प्रत्ययलक्षण का निषेध प्रयोजन है। पथिप्रियः, मथिप्रियः (पन्थाः मन्थाः प्रियो यस्य) यहां बहुव्रीहि समास में पथिन् मथिन् से परे सु विभक्ति का लुक् हुआ है। उसे प्रत्ययलक्षण से मान

अह्नो रविधौ ।

अह्नो रविधाने लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम् । अहर्ददाति । अहर्भुङ्क्ते । रोऽसुपीति प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो मा भूदिति ।[1]

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ ।

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति

कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा तो पथिमथोः सर्वनामस्थाने से आद्युदात्त प्राप्त होता है । पूर्वपदप्रकृतिस्वर में वही सुनाई देना चाहिये, किन्तु प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त पथि मथि शब्द ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर से रह जाते हैं ।

अहन् शब्द के नकार को रेफ विधान करने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये । अहर्ददाति । अहर्भुङ्क्ते (अहन्-सु) यहां अहन् शब्द से परे स्वमोर्नपुंसकात् से सु का लुक् हुआ है । उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर सुप् परे हो जायगा तो रोऽसुपि से विधीयमान रेफ का असुपि यह निषेध प्राप्त होता है । प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से सुप् परे न होगा तो रेफ सिद्ध हो जाता है ।

उत्तरपद को पद बनाने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में

---

१. रोऽसुपि में असुपि यह प्रसज्यप्रतिषेध माना गया है । पर्युदास नहीं । प्रसज्य में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप् परे रहते रेफ नहीं होता । और पर्युदास में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप्भिन्न परे रहते रेफ होता है । पर्युदास मानने में यह दोष होगा कि दीर्घमहः यस्मिन् निदाघे स दीर्घाहा निदाघः यहां सुप्भिन्न निदाघ शब्द परे रहते भी रेफ हो जायगा तो दीर्घाहर्निदाघः ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है । वस्तुतः यहां अहन् सूत्र से नकार को रुत्व इष्ट है । क्योंकि दीर्घाहन् से परे सु का हल्ङ्याप्० से लोप होकर प्रत्ययलक्षण हो जायगा तो सुप् परे हो जाने से असुपि यह निषेध लग जायगा । उससे रेफ न होकर रुत्व होगा । अहर्ददाति यहां तो स्वमोर्नपुंसकात् से सु का लुक् हुआ है । वह लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन है इस लिये अह्नो रविधौ इस वचन से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो सुप् परे न रहने से रेफ ही होगा । अहरहो रौति । यहां तो अहन् अहन्-रौति इस अवस्था में रोऽसुपि से प्राप्त रेफ रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् इस वचन द्वारा बाधित हो जाता है । वहां रूप आदि शब्द रेफमात्र के उपलक्षण हैं । पक्षान्तर में तो दूसरा समाधान ढूंढना होगा ।

वक्तव्यम् । परमवाचा परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमश्वलिहा परमश्वलिहे । पदस्येति प्रत्ययलक्षणेन कुत्वादीनि मा भूवन्निति ।

अपदादिविधाविति किमर्थम् ?

दधिसेचौ दधिसेचः । 'सात्पदाद्यो'रिति प्रतिषेधो यथा स्यात् ।

यद्यपदादिविधावित्युच्यते उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेत ।

प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये । पदादिविधि को छोड़ कर । जहां पद के आदि अक्षर को कोई कार्य करना हो वहां उत्तरपद में प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता । अर्थात् वहां उत्तरपद, प्रत्ययलक्षण से पद बना नहीं रहता है । परमवाचा परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमश्वलिहा परमश्वलिहे । (परमा चासौ वाक्, परमश्चासौ गोधुक् , परमश्चासौ श्वलिट्) यहां कर्मधारय समास में उत्तरपद वाच्, गोदुह्, श्वलिह् को प्रत्ययलक्षण से सुबन्त मान कर क्रम से चोः कुः, दादेर्धातोर्घः, होढः से कुत्व घत्व ढत्व प्राप्त होते हैं । उत्तरपद के पदत्व में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से नहीं होते । टा ङे विभक्ति परे रहते तो भसंज्ञा होने से कुत्वादि प्राप्त ही नहीं ।

पदादिविधि को क्यों छोड़ा गया ?

जिससे दधिसेचौ, दधिसेचः यहां षष्ठीसमास में उत्तरपद सेच शब्द को प्रत्ययलक्षण से सुबन्त मान कर पदादि सकार हो जायगा तो सात्पदाद्योः से षत्वनिषेध सिद्ध हो जाता है । दधिसेचौ यहां षष्ठीसमास है । उपपदसमास नहीं । पहले सिञ्चतः इति सेचौ । इस प्रकार निरुपपद सिच् धातु से विच् प्रत्यय करके गुण होकर सेचौ बनाया । फिर दध्नः सेचौ दधिसेचौ यह षष्ठी समास किया । दधि सिञ्चतः इस प्रकार उपपदसमास में विच् प्रत्यय करके बनाने में तो गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः इस परिभाषा के नियम से सुबुत्पत्ति से पूर्व सेच् इस विच् प्रत्ययान्त कृदन्त से ही दधि का समास हो जाने से सेच् शब्द पद न बनेगा तो पदादि सकार के अभाव में सात्पदाद्योः से षत्वनिषेध न हो सकेगा ।

यदि उत्तरपद के पदत्व में पदादिविधि को छोड़ कर प्रत्ययलक्षण का निषेध कहते हैं तो उत्तरपदादिः यह समासस्वरविषयक उत्तरपद के अधिकार वाला प्रकरण ही गड़बड़ हो जायगा । क्योंकि वहां भी उत्तरपद के आदि अक्षर

तत्र को दोषः ?

'कर्णो वर्णलक्षणादि'त्येवमादिविधिर्न सिध्यति ।

यदि पुनर्नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीत्युच्येत ।

नैवं शक्यम् । इह राजकुमार्यौ राजकुमार्यः इति शाकलं प्रसज्येत ।

नैष दोषः । यदेतत् सिति शाकलं नेति । एतत् प्रत्यये शाकलं नेति वक्ष्यामि ।

को कोई विधि नहीं करनी इस लिये प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर उत्तरपद नहीं बनेगा । उत्तरपदादिः सूत्र का अर्थ है उत्तरपद के आद्युदात्त का यहां से अधिकार किया जाता है ।

वहां क्या दोष होगा ?

कर्णो वर्णलक्षणात् इत्यादि सूत्रों से कर्ण आदि उत्तरपद को विधीयमान आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होगा ।

यदि उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ की जगह नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते ऐसा कह दें तो कैसा रहेगा ? इस वचन का अर्थ होगा—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से विहित नलोप से लेकर वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः इस प्लुतप्रकरण की समाप्ति तक सब विधियों में लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण नहीं होना । उस से चोः कुः आदि विधियों के तदन्तर्गत हो जाने से परमवाचा आदि में प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कुत्वादि न होंगे ।

ऐसा नहीं कह सकते ! तब तो राजकुमार्यौ राजकुमार्यः यहां उत्तरपद कुमारी में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर कुमारी पदान्त बन जायगा तो इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च से शाकल एवं प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । इकोऽसवर्णे० यह सूत्र नलोपादि प्लुत्यन्त विधियों से बाहर है ।

यह कोई दोष नहीं । इकोऽसवर्णे० सूत्र पर जो सिति शाकलं न यह वचन पढ़ा है उसकी जगह प्रत्यये शाकलं न ऐसा पढ़ देंगे । उसका अर्थ होगा—न केवल सित् प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है, बल्कि प्रत्ययमात्र के परे रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है । उससे राजकुमार्यौ राजकुमार्यः में औ, जस् प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव का निषेध होकर यण् हो जायगा ।

यदि प्रत्यये शाकलं नेत्युच्यते, दधि अधुना। मधु अधुना। अत्रापि प्राप्नोति।

प्रत्यये शाकलं न भवति, कतरस्मिन्, यस्माद्यः प्रत्ययो विहित इति।

इह तर्हि परमदिवा परमदिवे। दिव उदित्युत्वं प्राप्नोति।

अस्तु तर्ह्यविशेषेण।

ननु चोक्तम् उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेतेति।

वचनादुत्तरपदाधिकारो भविष्यति।

यदि प्रत्यये शाकलं न पढ़ेंगे तो दधि अधुना मधु अधुना यहां अधुना प्रत्यय परे रहते भी प्रकृतिभाव का निषेध प्राप्त होगा।

प्रत्यये शाकलं न भवति यह निषेध किस प्रत्यय के परे रहते लगेगा। जिस से जो प्रत्यय विधान किया गया होगा, न कि प्रत्येक प्रत्यय के परे रहते। राजकुमार्यौ में तो औ प्रत्यय राजकुमारी से ही विधान किया गया है इस लिये वहां प्रकृतिभाव का निषेध हो जायगा। किन्तु दधि अधुना में अधुना प्रत्यय दधि से नहीं किया गया है इस लिये यहां प्रकृतिभाव का निषेध नहीं होगा।

तो फिर परमदिवा परमदिवे (परमा द्यौः) यहां कर्मधारयसमास में उत्तरपद दिव् शब्द में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर दिव् पदान्त बन जायगा तो दिव उत् से उकार प्राप्त होता है। क्योंकि दिव उत् भी नलोपादिप्लुत्यन्त विधियों से बाहर है।

अच्छा तो नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते यह वचन न मान कर सामान्य रूप से उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ यही वचन मान लीजिये।

उस वचन में उत्तरपदाधिकार की असिद्धि का जो दोष कहा था उसका क्या समाधान है?

वचनसामर्थ्य से उत्तरपदाधिकारविहित कार्यों की सिद्धि हो जायगी। यदि उत्तरपदाधिकारविहित उत्तरपद के आद्युदात्तस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जावे तो उत्तरपद न मिलने से किसे आद्युदात्त करेंगे। इस लिये भी और वस्तुतः पदादिविधि होने से भी उत्तरपदाधिकार में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होगा। कर्णो वर्णलक्षणात् इत्यादि स्वरविधायक सूत्र उत्तरपद के आदि अक्षर को ही

तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। अनुवृत्तिः करिष्यते। इदमस्ति, 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'। 'सुप्तिङन्तं पदम्' यस्मात् सुप्तिङ्विधिस्तदादि सुवन्तं तिङन्तं च। 'नः क्ये'। नान्तं क्ये पदसंज्ञं भवतीति। यस्मात् क्यविधिस्तदादि सुबन्तं च। सिति च। पूर्वं पदसंज्ञं भवति। यस्मात् सिद्विधिस्तदादि सुबन्तं च। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने पूर्वं पदसंज्ञं भवति। यस्मात् स्वादिविधिस्तदादि सुवन्तं च। यचि भम्। यजादिप्रत्यये पूर्वं भं भवति। यस्माद् यजादिविधिस्तदादि सुवन्तं च।

इदं तर्हि परमवाक्। असर्वनामस्थाने इति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

अस्तु तस्याः प्रतिषेधः या स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा। या तु सुवन्तं पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति।

उदात्त करते हैं। स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से शुक्लकर्णः इत्यादि में ककार व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से स्वर पदादिविधि हो जाता है।

तो फिर उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ यह वचन कह दिया जाय?

कहने की कोई आवश्यकता नहीं। हम परमवाचा परमवाचे इत्यादि का समाधान अन्य ढंग से करेंगे। वह यह है कि अनुवृत्ति की जायगी। पहले यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् यह सूत्र है। इसके बाद सुप्तिङन्तं पदम् है। उसमें यस्मात्प्रत्ययविधि० से तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति करके जिससे सुप् तिङ् किये जायें वह, और तदादि वह है आदि में जिसके ऐसे सुबन्त तिङन्त भी पद संज्ञक होते हैं ऐसा अर्थ करेंगे। आगे नः क्ये, सिति च, स्वादिष्वसर्वनामस्थाने, यचि भम् इन सब सूत्रों में तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति होगी तो यचि भम् का अर्थ होगा—यादि अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की तथा जिससे यादि अजादि प्रत्यय किये हैं वह है आदि में जिसके ऐसे सुबन्त की भी भसंज्ञा होती है। उससे परमवाचा आदि में टा परे रहते पूर्व सुबन्त की भसंज्ञा होकर पदसंज्ञा की बाधा हो जायगी तो कुत्वादि न होंगे।

फिर भी परमवाक् यहां प्रत्ययलक्षण से सु सर्वनामस्थान परे रहते असर्वनामस्थाने यह निषेध हो जायगा तो स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से सुबन्त की पदसंज्ञा नहीं प्राप्त होती।

हो जावे उस पदसंज्ञा का निषेध, जो स्वादिष्वसर्व० से होती है। जो तो

सत्येतत् प्रत्यये आसीत्। अनया भविष्यत्यनया न भविष्यतीति। लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा, तावत एवाऽवधेः सुबन्तं पदमिति। अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन सर्वनामस्थानपरतेति कृत्वा प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्तीति प्रतिषेधः प्राप्नोति।

नाप्रतिषेधात्।

नायं प्रसज्यप्रतिषेधः सर्वनामस्थाने नेति। किं तर्हि पर्युदासोऽयं यदन्यत् सर्वनामस्थानादिति। सर्वनामस्थाने अव्यापारः। यदि केनचित् प्राप्नोति तेन भविष्यति। पूर्वेण च प्राप्नोति।

अप्राप्तेर्वा।

अथवा अनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। कुत एतत्। 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वे'ति। पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया भविष्यति।

परमवाक् में परम सु वाच् सु=परमवाक्। परमवाच्-सु यहां सुबन्तं पदम् से परमवाच् की होने वाली पदसंज्ञा है वह रह जायगी।

सु प्रत्यय की विद्यमानता में तो यह कहा जा सकता था कि इससे पदसंज्ञा होगी, इससे न होगी। अब जब कि सु प्रत्यय लुप्त हो गया है परमवाक् यह अवधि दोनों की अर्थात् स्वादिष्वसर्व० की भी और सुप्तिङन्तम् की भी समान है। उस अवस्था में स्वादिष्व० की भी प्राप्ति हो जाती है। लुप्त हुए सु प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा तो निषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति इस परिभाषाबल से असर्वनामस्थाने यह निषेध प्राप्त होगा ही।

असर्वनामस्थाने को हम प्रसज्यप्रतिषेध नहीं मानेंगे जिससे यह अर्थ हो कि सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती। अपितु पर्युदास मान कर यह अर्थ करेंगे कि सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है। पर्युदास मानने से सर्वनामस्थान में पदसंज्ञा का व्यापार नहीं रहता। उस पक्ष में सर्वनामस्थानभिन्न में पदसंज्ञा का व्यापार रहेगा। सर्वनामस्थान में यदि किसी से प्राप्त होती है तो हो जायगी। सुप्तिङन्तं पदम् इस पूर्व सूत्र से प्राप्त होती है वह हो जायगी। यदि पक्षान्तर में असर्वनामस्थाने को प्रसज्य प्रतिषेध ही मान लें तो भी परमवाक् में पदसंज्ञा का निषेध न होगा। क्योंकि

नन्वु चेयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधेत।

नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम्।

यद्येवं परमवाचौ परमवाच इति सुप्तिङन्तं पदमिति पदसंज्ञा प्राप्नोति।

एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते। स्वादिषु पूर्वं पदसंज्ञं भवति। ततः सर्वनामस्थाने अयचि। पूर्वं पदसंज्ञं भवति। ततो भम्। भसंज्ञं भवति यजादावसर्वनामस्थाने इति।

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा इस परिभाषाबल से अनन्तर अव्यवहित जो पदसंज्ञा है उसी का असर्वनामस्थाने से निषेध होगा। व्यवहित पदसंज्ञा का नहीं। स्वादिषु से प्राप्त पदसंज्ञा अनन्तर है। सुप्तिङन्तम् से प्राप्त व्यवहित है। इस लिये स्वादिषु की पदसंज्ञा का निषेध होने पर भी सुप्तिङन्तम् की पदसंज्ञा रह जायगी। वह अप्रतिषिद्ध है।

स्वादिषु वाली पदसंज्ञा सुप्तिङन्तम् वाली पदसंज्ञा को बाध लेवे और सर्वनामस्थान में स्वयं निषिद्ध हो जावे तो परमवाक् में कैसे पदसंज्ञा हो सकेगी?

असर्वनामस्थाने से प्रतिषिद्ध होने वाली स्वादिषु यह पदसंज्ञा सुप्तिङन्तम् इस पदसंज्ञा को कैसे बाध सकती है। जो स्वयं बाध्य है वह दूसरे की बाधक कैसे होगी इस लिये परमवाक् में सुप्तिङन्तम् वाली पदसंज्ञा निर्बाध सिद्ध है।

इस प्रकार तो परमवाचौ परमवाचः यहां औ, जस् परे रहते परमवाक् इस सुबन्त की सुप्तिङन्तं पदम् से पदसंज्ञा प्राप्त होती है। उससे कुत्व प्राप्त होगा।

अच्छा तो योगविभाग करेंगे। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने में स्वादिषु इतना एक सूत्र होगा। उसका अर्थ होगा—स्वादिप्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है। इसके बाद असर्वनामस्थाने का अकार यचि भम् के यचि में मिला कर सर्वनामस्थाने अयचि ऐसा सूत्र बनायेंगे। उसका अर्थ होगा—यादि अजादि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है। या यों कहिये कि यादि अजादि सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती। उससे परमवाचौ परमवाचः परमवाचम् इन सब अजादि सर्वनामस्थानों के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा न होगी। केवल परमवाक् यहां हलादि सु सर्वनामस्थान के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होगी। यह कितने लाघव से इष्ट सिद्ध किया गया है। इसके बाद भम् यह सूत्र

यदि तर्हि सावपि पदं भवति। एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणं चोदयिष्यति। इह मा भूत् भद्रं करोषि गौरिति। तस्मिन् क्रियमाणेपि प्राप्नोति।

वाक्यपदयोरन्त्यस्येत्येवं तत्।

इह तर्हि दधिसेचः[1] 'सात्पदाद्यो'रिति पदादिलक्षणः षत्वप्रतिषेधो न प्राप्नोति।

मा भूदेवं पदस्यादिः पदादिः पदादेर्नेति। कथं तर्हि पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्येवं भविष्यति।

होगा। जिसका अर्थ होगा—सर्वनामस्थानभिन्न यादि अजादि परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होती है। पदसंज्ञा में नञ् का सम्बन्ध यचि के साथ है। भसंज्ञा में सर्वनामस्थान के साथ है। इस प्रकार भ पद संज्ञाओं का सांकर्य हट कर कहीं दोष न होगा।

उक्त प्रकार से यदि सु सर्वनामस्थान परे रहते भी पूर्व की पदसंज्ञा मानते हैं तो एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ इस सूत्र में जो एचों को इकार उकार रूप प्लुतविकार करने में पदान्त ग्रहण किया है जिससे भद्रं करोषि गौः यहां गोशब्दस्थ औकार के पदान्त न होने से वहां उकार रूप प्लुत विकार नहीं होता वह अब पदान्त ग्रहण करने पर भी प्राप्त होता है। क्योंकि गौः यहां सु परे रहते गो की पदसंज्ञा हो जायगी तो औकार के पदान्त हो जाने से प्लुत-विकार प्राप्त होता है।

समस्त वाक्यस्थ पदों के अन्त में आने वाले एचों को वह प्लुतविकार कहा गया है। गौः यहां गौ का औकार पदान्त होने पर भी भद्रं करोषि गौः इस समस्त वाक्य के अन्त में नहीं है। वाक्य के अन्त में तो विसर्ग है। इस लिये सु परे रहते पदसंज्ञा होने पर भी गौः में प्लुतविकार न होगा।

फिर भी दधिसेचौ दधिसेचः यहां औ जस् परे रहते उत्तरपद सेच् शब्द की पदसंज्ञा न होने से पद के आदि सकार को मान कर होने वाला सात्पदाद्योः से षत्व का निषेध नहीं प्राप्त होता।

सात्पदाद्योः में पदस्यादिः पदादिः पदादेः (पद का आदि जो सकार) इस

---

१. उत्तरपदत्वे इस वार्तिक के रहने पर अपदादिविधौ ऐसा कहने से यह दोष नहीं आता। वार्तिक का प्रत्याख्यान होने पर दोष है।

नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत। ऋक्षु वाक्षु कुमारीषु किशोरीष्विति।

सात्प्रतिषेधो ज्ञापकः स्वादिषु पदत्वेन येषां पदसंज्ञा, न तेभ्यः प्रतिषेधो भवतीति।

इह तर्हि बहुसेचौ बहुसेचः। बहुजयं प्रत्ययः। तत्र पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्युच्यमानेऽपि न सिध्यति।

एवं तर्हि।

उत्तरपदत्वे च पदादिविधौ।

लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं भवतीति वक्ष्यामि। तन्नियमार्थं भविष्यति पदादिविधावेव। न पदान्तविधाविति।

प्रकार षष्ठी समास मान कर दधिसेचौं में पदत्व न होने से षत्वनिषेध न होवे किन्तु पदात् आदिः पदादिः पदादेः (पद से परे जो आदि सकार) इस प्रकार पञ्चमी समास मान कर षत्वनिषेध हो जायगा। क्योंकि दधिसेचौं में दधि इस पूर्व पद से परे सेच् का आदि सकार है।

ऐसा नहीं हो सकता। सात्पदाद्योः में पदादादिः पदादिः इस प्रकार पञ्चमी समास नहीं मान सकते। ऐसा मानने पर ऋक्षु वाक्षु कुमारीषु किशोरीषु यहां भी स्वादिष्वसर्व० से पदसंज्ञक ऋच् वाच् आदि से परे सुप् का आदि सकार होने से षत्वप्रतिषेध प्राप्त होगा।

सात्पदाद्योः में सात् प्रत्यय परे रहते जो षत्वनिषेध किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि स्वादिष्वसर्व० से जिनकी पदसंज्ञा है उनसे परे सकार को षत्वनिषेध नहीं होता। अन्यथा अग्निसात् यहां भी साति प्रत्यय परे रहते अग्नि शब्द की स्वादिष्वसर्व० से पदसंज्ञा होने से पदाद्योः से ही षत्वनिषेध सिद्ध है तो सात् ग्रहण व्यर्थ है।

फिर भी बहुसेचौ बहुसेचः (ईषदसमाप्तौ सेचौ बहुसेचौ) यहां सेच् शब्द से ईषदसमाप्ति अर्थ में विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु से बहुच् प्रत्यय हुआ है। वह प्रातिपदिक से पूर्व विहित होता है। प्रत्यय है। पद नहीं है। उससे परे सेच् के सकार को पदादादिः पदादिः इस प्रकार पञ्चमी समास मानने पर भी षत्वनिषेध नहीं प्राप्त होता।

अच्छा तो उत्तरपदत्वे च पदादिविधौ प्रत्ययलक्षणं भवति। ऐसा वचन कह

कथं बहुसेचौ बहुसेचः।

बहुच्पूर्वस्य च।

बहुच्पूर्वस्य च पदादिविधावेव। न पदान्तविधाविति।

द्वन्द्वेऽन्त्यस्य।

द्वन्द्वेऽन्त्यस्य लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्। वाक्स्रक्त्वचम्।

देंगे। वह नियमार्थ होगा कि उत्तरपद के पदत्व में पदादिविधि में ही लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण होता है। उससे परमवाचा परमवाचे इत्यादि में प्राप्त कुत्वादि पदान्तविधियों में प्रत्ययलक्षण न होगा तो वहां पद न होने से कुत्वादि न होंगे। दधिसेचौ इत्यादि पदादिविधियों में प्रत्ययलक्षण होने से षत्वनिषेध सिद्ध हो जायगा।

बहुसेचौ बहुसेचः यहां बहुच् प्रत्यय के पद न होने से पदादि मान कर होने वाला सात्पदाद्योः से षत्वनिषेध कैसे होगा? बहुसेच् शब्द में समास न होने से न पूर्वपद है न उत्तरपद है।

बहुच्प्रत्ययपूर्वक में भी पदादिविधि में ही लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण कह देंगे। उससे बहुसेचौ में षत्वनिषेध हो जायगा और बहुवाचा बहुवाचे में कुत्वादि न होंगे।

द्वन्द्व समास में कई पद संभव होने पर अन्तिम पद में ही लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये।[१] उससे वाक्स्रक्त्वचम् (वाक् च स्रक् च त्वक् च) यहां समाहार द्वन्द्व में वाच् स्रज् इन पूर्वपद तथा मध्यम पदों में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होने से कुत्वादि हो जाते हैं। त्वच् इस अन्तिम पद में प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर पदत्व न होने से कुत्व नहीं होता।

---

१. प्रदीपकार श्री कैयट के मत में द्वन्द्वेऽन्त्यस्य यह वचन अनावश्यक है। वे कहते हैं कि उत्तरपद शब्द की मुख्यवृत्ति अन्तिम पद में ही होती है। इस लिये पूर्वपद की अपेक्षा मध्यमपद को उत्तरपद नहीं माना जायगा तो उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ इसी पूर्वोक्त वचन से द्वन्द्व के अन्तिम पद में भी प्रत्ययलक्षण का निषेध सिद्ध हो जायगा।

इहाभूवन्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस्भावः प्राप्नोति ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्ग आकारप्रकरणात् ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्गः । किं कारणम् । आकारप्रकरणात् । आत इति वर्तते तन्नियमार्थं भविष्यति । आत एव सिज्लुगन्तान्नान्यस्मादिति ।

इह च इति युष्मत्पुत्रो ददाति । इत्यस्मत्पुत्रो ददाति इत्यत्र प्रत्ययलक्षणेन युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ इति वांनावादयः प्राप्नुवन्ति ।

युष्मदस्मदोः स्थग्रहणात् ।

स्थग्रहणं तत्र क्रियते । तच्छ्रूयमाणविभक्तिविशेषणं विज्ञास्यते ।

अभूवन् (भू-सिच् लुङ् झि) यहां भू धातु से लुङ् में गातिस्था० से सिच् का लुक् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सिच् परे हो जायगा तो सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से झि को जुस् आदेश प्राप्त होता है ।

अभूवन् में सिच् को मान कर जुस् का अप्रसङ्ग है । जुस् की अप्राप्ति है । क्योंकि आकार का प्रकरण है । आतः यह सूत्र नियमार्थ है कि सिच् का लुक् होने पर यदि झि को जुस् हो तो आकारान्त धातु से ही हो । भू के आकारान्त न होने से जुस् न होगा । यदि प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से जुस् करें तो आतः यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है । अदुः अधुः आदि आकारान्तों में भी प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिजभ्यस्त० से जुस् हो सकता है । इस लिये आतः सूत्र के नियमार्थ होने से अभूवन् में जुस् नहीं होगा ।

इति युष्मत्पुत्रो ददाति, इत्यस्मत्पुत्रो ददाति यहां युष्माकं पुत्रः युष्मत्पुत्रः । अस्माकं पुत्रः अस्मत्पुत्रः इस षष्ठीसमास में युष्मद् अस्मद् से परे विभक्ति का लुक् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से परे मान कर युष्मदस्मदोः षष्ठी० की अनुवृत्ति द्वारा बहुवचनस्य वस्नसौ से वस् नस् आदेश प्राप्त होते हैं । पद से परे युष्मद् अस्मद् को दिखाने के लिये इति शब्द का प्रयोग किया है ।

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः० इस सूत्र में स्थग्रहण से युष्मत्पुत्रः अस्मत्पुत्रः में वस् नस् आदेश नहीं होंगे । सूत्र में स्थग्रहण किया है । उसका यही प्रयोजन है कि विभक्ति के श्रूयमाण होने पर ही वाम् नौ आदि आदेश हों । षष्ठी चतुर्थी द्वितीया विभक्तिस्थ युष्मद् अस्मद् को आदेश कहने से उक्त विभक्तियां लुप्त होने पर आदेश नहीं होंगे ।

अस्त्यन्यत् स्थग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्। सविभक्तिकस्य वांनावादयो यथा स्युरिति।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। पदस्येति वर्तते। विभक्त्यन्तं च पदम्। तत्र अन्तरेणापि स्थग्रहणं सविभक्तिकस्यैव भविष्यन्ति।

भवेत् सिद्धं यत्र विभक्त्यन्तं पदम्। यत्र खलु विभक्तौ पदं तत्र न सिध्यति। ग्रामो वां दीयते। ग्रामो नौ दीयते।

सर्वग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। तेन सविभक्तिकस्यैव भविष्यति।

इह चक्षुष्कामं याजयांचकारेति तिङ्ङतिङ इति तस्य च निघातः तस्माच्चानिघातः प्राप्नोति।

वहां स्थग्रहण का तो अन्य प्रयोजन है। क्या? विभक्ति सहित को वाम् नौ आदि आदेश हों। अकेले युष्मद् अस्मद् को न हों।

स्थग्रहण का यह कोई प्रयोजन नहीं। पदस्य सूत्र के अधिकार से विभक्त्यन्त पद को आदेश होंगे तो बिना स्थग्रहण के भी विभक्ति सहित युष्मद् अस्मद् को ही वाम् नौ आदि आदेश हो जायेंगे।

जहां विभक्त्यन्त पद है वहां स्थग्रहण के बिना भी विभक्त्यन्त को ही आदेश सिद्ध हो जावें किन्तु जहां विभक्ति के परे रहते पद है वहां पदाधिकार के होते हुए भी केवल युष्मद् अस्मद् को ही आदेश प्राप्त होते हैं उसके लिये स्थग्रहण रह सकता है। जैसे ग्रामो वां दीयते। नौ दीयते। यहां युवाभ्याम् आवाभ्याम् की जगह वाम् नौ आदेश होते हैं। चतुर्थी का द्विवचन भ्याम् परे रहते युष्मद् अस्मद् की स्वादिष्व० से पदसंज्ञा है। यहां पदसंज्ञक केवल युष्मद् अस्मद् को ही आदेश प्राप्त हैं।

पदस्य के अधिकार के साथ अनुदात्तं सर्वमपादादौ से सर्व शब्द का अधिकार भी तो आ रहा है। उससे सारे पद के स्थान में वाम् नौ आदि आदेश सिद्ध हो सकते हैं जिसमें विभक्ति भी संमिलित है। उस अवस्था में स्थग्रहण करना व्यर्थ है। वह श्रूयमाण विभक्ति के लिये ही चरितार्थ हो सकता है। उसके सामर्थ्य से लुप्त विभक्ति में प्रत्ययलक्षण से विभक्ति मान कर आदेश नहीं होंगे।

यहां चक्षुष्कामं याजयांचकार इस प्रयोग में चक्षुष्कामम् इस अतिङन्त से परे याजयाम् को प्रत्ययलक्षण से तिङन्त मान कर तिङ्ङतिङः से निघात प्राप्त

आमि लिलोपात् तस्य चानिघातस्तस्माच्च निघातः ।

आमि लिलोपात्तस्य चानिघातः तस्माच्च निघातः सिद्धो भविष्यति ।

अङ्गाधिकार इटो विधिप्रतिषेधौ ।

अङ्गाधिकारे इटो विधिप्रतिषेधौ न सिध्यतः । जिगमिष । संविवृत्स । अङ्गस्येतीटो विधिप्रतिषेधौ न प्राप्नुतः ।

क्रमेर्दीर्घत्वं च ।

किं च ।

इटश्च विधिप्रतिषेधौ ।

होता है । और याजयाम् के अतिङन्त न होने से उससे परे चकार इस तिङन्त को निघात नहीं प्राप्त होता । याजयाम् में णिजन्त यज् धातु से लिट् परे रहते कास्प्रत्ययादाम० से आम् विकरण हुआ है । आमः से प्राप्त लिट् के लुक् को परत्वेन बाध कर पहले लिट् के स्थान में तिप् करके फिर उसका आमः से लुक् करने से याजयाम् यह प्रत्ययलक्षण से तिङन्त बन जाता है ।

याजयाम् में लिट् के स्थान में तिप् करने से पहले ही आमः से लिट् का लुक् हो जायगा तो याजयाम् के तिङन्त न होने से उसे निघात न होगा और उससे परे चकार इस तिङन्त को निघात सिद्ध हो जायगा ।

अङ्गाधिकार में प्रत्ययलक्षण का निषेध मानने पर इट् का विधान और निषेध नहीं सिद्ध होते । जिगमिष (गम् सन्-लोट् सिप्) यहां सन्नन्त गम् धातु से लोट् में अतो हेः से हि का लुक् करने पर परस्मैपद परे न रहने से गमेरिट् परस्मैपदेषु से सन् को इट् नहीं प्राप्त होता । प्रत्ययलक्षण से परस्मैपद परे मानें तो उसका न लुमताङ्गस्य से निषेध प्राप्त होता है । इसी तरह संविवृत्स (सम् वृत् सन्-लोट् सिप्) यहां सम् पूर्वक सन्नन्त वृत् धातु से वृद्भ्यः स्यसनोः से परस्मैपद होता है । लोट् में अतो हेः से हि का लुक् होने पर परस्मैपद परे न रहने से न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः से सन् को इट् का निषेध नहीं प्राप्त होता । प्रत्ययलक्षण का न लुमताङ्गस्य से निषेध हो जाता है । इसके अतिरिक्त क्रम् धातु को दीर्घत्व भी नहीं सिद्ध होता ।

और क्या नहीं सिद्ध होता ?

इट् का विधान और निषेध ।

नेत्याह। अदेशेऽयं चः पठितः। क्रमेश्च दीर्घत्वम्। उत्क्राम संक्रामेति।

इह किंचिदङ्गाधिकारे लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणेन भवति। किंचिच्चान्यत्र न भवति। यदि पुनर्न लुमता तस्मिन्नित्युच्यते।

अथ न लुमता तस्मिन्नित्युच्यमाने किं सिद्धमेतद् भवति, इटो विधिप्रतिषेधौ क्रमे दीर्घत्वं च।

बाढं सिद्धम्। न इटो विधिप्रतिषेधौ परस्मैपदेष्वित्युच्यते। कथं

नहीं, ऐसा नहीं। क्रमदीर्घत्वं च यहां च शब्द अयुक्त स्थान में पढ़ा गया है। उसके स्थान में क्रमेश्च दीर्घत्वम् ऐसा पढ़ना चाहिये। उससे समुच्चीयमान क्रम् धातु की ठीक प्रतीति होगी। अर्थ यह निकलेगा कि इट् का विधान और निषेध तो अन्यत्र अङ्गाधिकार में सिद्ध नहीं होता और क्रम् धातु में केवल दीर्घत्व नहीं सिद्ध होता। उत्क्राम, संक्राम। यहां उद् सम् पूर्वक क्रम् धातु से लोट् में हि का लुक् होने पर परस्मैपद परे न रहने से क्रमः परस्मैपदेषु से क्रम् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता। प्रत्ययलक्षण से परस्मैपद परे मानें तो उसका न लुमताङ्गस्य से निषेध प्राप्त होता है।

यहां कुछ तो ऐसे कार्य हैं जैसे जिगमिष संविव्रत्स उत्क्राम आदि जो अङ्गाधिकारीय हैं फिर भी वे लुमान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण से हो रहे हैं। अर्थात् वहां न लुमताङ्गस्य यह निषेध नहीं लग रहा। और कुछ ऐसे कार्य हैं जैसे पूर्वोक्त जित् नित् कित् स्वर आदि जो अङ्गाधिकार से बाहर हैं फिर भी वे लुमान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने से नहीं हो रहे। इन सब के समाधान के लिये यदि न लुमताङ्गस्य की जगह न लुमता तस्मिन्० ऐसा सूत्र बना दें तो कैसे रहेगा। न लुमता तस्मिन् में अङ्गाधिकार का झगड़ा न रह कर उसका अर्थ सब के लिये समान होगा कि लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय को निमित्त मान कर जो कार्य प्राप्त है चाहे वह अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर का हो प्रत्ययलक्षण से नहीं होता।

न लुमता तस्मिन् बना देने पर भी क्या जिगमिष संविव्रत्स उत्क्राम संक्राम ये रूप सिद्ध हो जायेंगे। क्या वहां प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं प्राप्त होगा।

हां, अवश्य सिद्ध हो जावेंगे। जिगमिष संविव्रत्स में क्रम से इट् का विधान और इट् का निषेध परस्मैपद परे रहते नहीं कहा गया है बल्कि सकारादि

तर्हि। सकारादाविति। तद्विशेषणं परस्मैपदग्रहणम्। न खल्वपि क्रमेर्दीर्घत्वं परस्मैपदेष्वित्युच्यते। कथं तर्हि। शितीति। तद्विशेषणं परस्मैपदग्रहणम्।

न लुमता तस्मिन्निति चेद् हनिणिङादेशास्तलोपे।

न लुमता तस्मिन् इति चेद् हनिणिङादेशास्तलोपे न सिध्यन्ति। अवधि भवता दस्युः। अगायि भवता ग्रामः। अध्यगायि भवतानुवाकः। तलोपे कृते लुङीति हनिणिङादेशा न प्राप्नुवन्ति।

नैष दोषः। न लुङीति हनिणिङादेशा उच्यन्ते। किं तर्हि। आर्धधातुक इति। तद्विशेषणं लुङ्ग्रहणम्।

परे रहते कहा गया है। परस्मैपद तो सकारादि का विशेषण है। मुख्य निमित्त तो सकारादि है। वह सकारादि सन् प्रत्यय परे है ही। हि का लुक् हो जाने पर भी कोई हानि नहीं। प्रत्ययलक्षण की भी आवश्यकता नहीं। इसी तरह उत्क्राम संक्राम में क्रमः परस्मैपदेषु से होने वाला दीर्घ भी परस्मैपद परे रहते नहीं कहा गया बल्कि शित् परे रहते कहा गया है। परस्मैपद तो शित् का विशेषण है। मुख्य निमित्त शित् ही है। उत्क्राम संक्राम में शित् प्रत्यय शप् परे है ही।

यदि न लुमता तस्मिन् बनाते हैं तो यह दोष है कि तलोप होने पर हन् इण् इङ् धातुओं के स्थान में क्रम से वध, गा, और गाङ् आदेश नहीं सिद्ध होते। अवधि यहां हन् धातु से कर्मवाच्य लुङ् में चिण् हुआ है। उससे परे चिणो लुक् से तप्रत्यय का लुक् हो जाता है। त का लुक् होने पर न लुमता तस्मिन् से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो लुङ् परे न रहने से लुङि च से हन् को वध आदेश नहीं प्राप्त होता। अगायि यहां इण् धातु से कर्मवाच्य लुङ् में चिण् से परे त का लुक् होने पर न लुमता तस्मिन् से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो लुङ् परे न रहने से इणो गा लुङि से इण् को गा आदेश नहीं प्राप्त होता। अध्यगायि यहां अधिपूर्वक इङ् धातु से कर्मवाच्य लुङ् में चिण् से परे त का लुक् होने पर न लुमता तस्मिन् से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो लुङ् परे न रहने से विभाषा लुङ्लृङोः से इङ् को गाङ् आदेश नहीं प्राप्त होता।

ये कोई दोष नहीं। अवधि आदि में उक्त सूत्रों से वध आदि आदेश लुङ् परे रहते नहीं कहे गये हैं बल्कि आर्धधातुक परे रहते कहे गये हैं। लुङ् तो

इह च सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः 'सर्वस्य सुपी'त्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति। तच्चापि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। न लुमताङ्गस्येत्येव सिद्धम्। कथम्। न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते। किं तर्हि। योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत् कार्यं तन्न भवति।

एवमपि सर्वस्वरो न सिध्यति।

कर्तव्योऽत्र यत्नः।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१।१।६५॥

किमिदमल्ग्रहणमन्त्यविशेषणम्।

आर्धधातुक का विशेषण है। मुख्य निमित्त आर्धधातुक ही है। अवधि आदि में आर्धधातुक प्रत्यय चिण् परे है ही।

इसके अतिरिक्त न लुमता तस्मिन् इस नये सूत्र में यह भी दोष है कि सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः यहां पूर्वोक्त सर्वस्य सुपि से होने वाला आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता। साथ ही न लुमताङ्गस्य सूत्र छोड़ कर नया न लुमता तस्मिन् सूत्र बनाना पड़ता है। इस से अच्छा तो यही है कि यह नया सूत्र न बनाया जाय। न लुमताङ्गस्य से ही सब इष्ट सिद्ध हो जायेंगे। कैसे? न लुमताङ्गस्य में अङ्गस्य का अर्थ अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं लेंगे बल्कि लुमान् शब्द से जो प्रत्यय लुप्त हुआ है उससे परे रहते जो अङ्ग है उसका जो कार्य अङ्गाधिकारीय है या अङ्गाधिकार से बाहर है वह प्रत्ययलक्षण से नहीं होता ऐसा अर्थ करेंगे। इससे सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा। लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसंख्यानम, अहो रविधौ, उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ, द्वन्द्वेऽन्त्यस्य इत्यादि वचनों की कोई आवश्यकता न होगी।

न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध मानने पर भी सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः में सर्वस्य सुपि से आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होता।

इसके लिये यत्न करना चाहिये।[1]

क्या यह अल्ग्रहण अन्त्य का विशेषण है। अर्थात् क्या अन्त्यात् के समान

---

१. वह यत्न यही है कि सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः मानी गई हैं। उससे सुबन्त सर्व शब्द को आद्युदात्त होगा। सुप् परे रहते न होगा तो सर्वस्तोमः के सुबन्त होने से सर्वस्वर सिद्ध हो जायगा।

एवं भवितुमर्हति ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रतिषेधः ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् प्रतिषेधो वक्तव्यः । संघातस्य उपधासंज्ञा प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ?

'शास इदङ्हलोः' शिष्टात् शिष्टाम् । संघातस्येत्त्वं प्राप्नोति ।

यदि पुनरलन्त्यादित्युच्यते ।

अलः यह पञ्चमी का एकवचन है या प्रथमा बहुवचन अथवा षष्ठी का एकवचन है। अन्त्य विशेषण में सूत्र का अर्थ होगा—अन्त्य अल् से पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। प्रथमा बहुवचन में अर्थ होगा—अन्त्य से पूर्व अलों की उपधासंज्ञा होती है। उस पक्ष में पूर्व उपधा इस सन्धि में पूर्वः के समान पूर्वे भी निकल सकता है। अन्त्यात् पूर्वे अलः उपधा। षष्ठी के एकवचन में अर्थ होगा—अल् के मध्य में जो अन्त्य है उससे पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। इस प्रकार तीनों पक्ष संभव हैं।

ऐसा हो सकता है। अन्त्य का विशेषण अल् संभव है।

उपधासंज्ञा में अल्ग्रहण यदि अन्त्य का विशेषण है तो संघात की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध कहना होगा। संघात का अर्थ अल्समुदाय है।

अल्समुदाय की उपधासंज्ञा होने में क्या दोष है ?

शास इदङ्हलोः से शास् की उपधा को इत्त्व कहा है। जैसे शिष्टात्। शिष्टाम् (शास्-लोट् तातङ् ताम्) यहां अन्तिम अल् शास् का सकार है। उससे पूर्व शा यह अल्समुदाय है। उसकी उपधासंज्ञा प्राप्त होगी तो शा को इत्त्व होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

यदि अलः के स्थान में अल् यह प्रथमा का एकवचन पढ़ कर अलन्त्यात् पूर्व उपधा ऐसा सूत्र बनायें तो कैसा रहेगा। उस पक्ष में अन्त्य से पूर्व जो अल् उसकी उपधा संज्ञा होगी। संघात की उपधा संज्ञा न होने से इष्ट सिद्ध हो जायगा।

---

१. अन्त्यनिर्देशः—निर्दिश्यतेऽभिधीयतेऽनेनेति निर्देशः। जिसका अभिधान है अर्थात् यदि अल्ग्रहण से अन्त्य का बोध होता है। अल् अन्त्य का विशेषण रहा, पूर्व का विशेषण नहीं रहता।

एवमप्यन्त्योऽविशेषितो भवति ।

तत्र को दोषः ?

संघातादपि पूर्वस्योपधासंज्ञा प्रसज्येत । तत्र को दोषः । शास इदङ्हलोः । शिष्टः शिष्टवान् । शकारस्य इत्त्वं प्रसज्येत । सूत्रं च भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्तमुपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रतिषेध इति ।

नैष दोषः ।

अलन्त्यात् पढ़ने में भी अन्त्य विशेषित नहीं होता । अन्त्य का विशेषण अल् नहीं रहता । अन्त्य जो है वह अल् लेना है या अल्समुदाय लेना है इसका परिज्ञान कुछ न हो सकेगा । अलः इस पञ्चमी के एकवचन में तो निःसन्देह अन्त्य विशेषित हो जाता था ।

वहां क्या दोष है । यदि अन्त्य से पूर्व अल् की उपधा संज्ञा मानें तो क्या हानि है ?

उस पक्ष में संघात से भी पूर्व की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है । वहां क्या दोष है ? शास इदङ्हलोः से विधीयमान इत्त्व शिष्टः शिष्टवान् (शास्-क्त क्तवतु) यहां शास् में अन्त्य आस् से पूर्व अल् शकार को प्राप्त होगा । इसके साथ सूत्रभेद तो होगा ही । अलोन्त्यात् की जगह अलन्त्यात् पढ़ने में सूत्र टूटता है ।

अच्छा तो जैसा सूत्र है वैसा ही रहने दीजिये । अलन्त्यात् न पढ़िये ।

अलोन्त्यात्पूर्व उपधा इस यथान्यास सूत्र में जो संघात की उपधासंज्ञा प्राप्ति रूप दोष कहा था उसका क्या समाधान है ?[1]

यह कोई दोष नहीं । संघात में भी जो अन्त्य है उसकी उपधासंज्ञा समझ

---

१. अल्समुदाय की उपधासंज्ञा नहीं होती इ विषय में ज्ञापक भी है । पिबति में पिब आदेश को जो अदन्त माना है वही इस बात का ज्ञापक है कि अल्संघात की उपधासंज्ञा नहीं होती । अन्यथा पिब के हलन्त मानने पर भी अल्संघात की उपधासंज्ञा पक्ष में पिब के इकार के उपधा न होने से लघूपध गुण की प्राप्ति ही नहीं तो उसकी निवृत्ति के लिये पिब को अदन्त मानना व्यर्थ है ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धम् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । अनर्थकेऽलोन्त्यस्य विधिर्नेत्येषा परिभाषा कर्तव्या ।

किमविशेषेण ।

नेत्याह । अनभ्यासविकारे । अभ्यासविकारान् वर्जयित्वा । भृञामित् । अर्तिपिपर्त्योश्चेति ।

कान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि ?

ली जायगी । अलोन्त्यस्य इस परिभाषा के नियम से अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् संघात उसके अन्त्य अक्षर की उपधा संज्ञा हो जायगी तो शिष्टः शिष्टवान् में शास् के अन्त्य अल् सकार से पूर्व शा संघात के अन्त्य आकार की उपधासंज्ञा हो जाने से उसे ह्रस्व होकर इष्ट रूप बन जायगा।

यदि संघात के अन्त्य की उपधासंज्ञा मानेंगे तो वह नहीं बनती । क्योंकि अनर्थक शब्द में अलोन्त्यविधि नहीं हुआ करती । शास् यह समुदाय अर्थवान् है । उसका एकदेश आस् या शा ये अनर्थक हैं । उनमें अलोन्त्य० का नियम नहीं हो सकता । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे यह परिभाषा है । इसका अर्थ है—अनर्थक शब्द में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ।

क्या सामान्य रूप से सभी अनर्थकों में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ?

नहीं । ऐसा नहीं । अभ्यासविकारों को छोड़ कर । अभ्यास में क्योंकि शब्द की ही आवृत्ति होती है, अर्थ की नहीं । इस लिये अभ्यास अनर्थक माना जाता है । उस में तो अलोन्त्यविधि इष्ट है । अन्य अनर्थकों में नहीं । जैसे—भृञामित्, अर्तिपिपर्त्योश्च इन अभ्यासविकार सूत्रों के उदाहरण बिभर्ति पिपर्ति में भृ पृ के अनर्थक अभ्यास जो भ प हैं उनके अन्त्य अक्षर अकार को इकार होता है ।

नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इस परिभाषा के क्या प्रयोजन हैं ?

प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात इतौ।

अव्यक्तानुकरणस्यात इताविंत्यन्त्यस्य प्राप्नोति। अनर्थकेऽलोन्त्यविधिर्नेति न दोषो भवति।

नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नान्त्यस्य पररूपं भवतीति। यदयं 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वे'त्याह।

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च।

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेत्यन्त्यस्य प्राप्नोति। अनर्थकेऽलोन्त्यविधिर्नेति न दोषो भवति।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् सर्वस्य भविष्यति।

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ यह सूत्र प्रयोजन है। पटत्-इति पटिति। यहां इति शब्द परे रहते अव्यक्तानुकरण पटत् शब्द के अनर्थक अत् शब्द को कहा हुआ पररूप उसके अन्त्य तकार को प्राप्त होता है। नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य को न हो कर सर्वादेश हो जाता है।

यह कोई प्रयोजन नहीं। आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि पटत् के अन्त्य तकार को पररूप नहीं होता। यह जो नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा इस उत्तर सूत्र द्वारा अन्त्य तकार को विकल्प से पररूप विधान करता है। उससे यह बात सिद्ध होती है।

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च यह सूत्र प्रयोजन है। देहि धेहि यहां घुसंज्ञक दा धा धातुओं से लोट में हि परे रहने घ्वसोरेद्धा० से विधीयमान दा धा के अभ्यास का लोप उनके अन्त्य अक्षर आकार को प्राप्त होता है। नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य को न होकर सर्वादेश हो जाता है।[1]

यह भी कोई प्रयोजन नहीं। लोपो यि से लोप की अनुवृत्ति आने पर

---

१. नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः० इस परिभाषा में अनभ्यासविकारे यह निषेध अभ्यासलोप में नहीं लगेगा। क्योंकि वह निषेध अभ्यास के रूपवान् विकार में ही है। अभ्यास का लोप तो रूप रहित होता है इस लिये अभ्यास विकार में अभ्यास का लोप नहीं माना जायगा तो घ्वसोरेद्धा० से विधीयमान अभ्यासलोप भी नानर्थके० इस परिभाषा का प्रयोजन बन जाता है। लोप और विकार में भेद होता है इस विषय में लोपागमवर्णविकारज्ञः यह भाष्यकार का वचन ही प्रमाण है।

अथवा शिल्लोपः करिष्यते । स शित्सामर्थ्यात् सर्वादेशो भविष्यति ।

स तर्हि शकारः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । द्विशकारको निर्देशः । 'घ्वसो-रेद्धावभ्यालोपश्श्चेति' ।

आपि लोपोऽकोऽनचि ।

तिष्ठति सूत्रम् ।

अन्यथा व्याख्यायते ।

आपि हलि लोप इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति न दोषो भवति ।

घ्वसोरेद्धा० में फिर जो लोप वचन कहा है उसके सामर्थ्य से सर्वादेश हो जायगा ।

अथवा अभ्यास लोप को शित् किया हुआ समझेंगे । उससे अनेकाल्शित्सर्वस्य से सर्वादेश हो जायगा ।

तो फिर अभ्यास लोप में शित् निर्देश करना चाहिये ।

शित् निर्देश की अलग आवश्यकता नहीं । घ्वसोरेद्धा० सूत्र में दो दो शकारवाला अभ्यासलोपश् श्च इस प्रकार निर्देश किया हुआ है । एक शकार सर्वादेश के लिये समझ लिया जायगा ।

आपि लोपोऽकोऽनचि यह सूत्र प्रयोजन है । यह हलि लोपः (७।२।११३) सूत्र का अर्थानुवाद है ।

क्या आपि लोपोक्नोऽनचि से हलि लोपः सूत्र की सत्ता रह जाती है । हलि लोपः सूत्र की स्थिति तो यह नहीं है । उसकी आकृति अन्य है ।

हलि लोपः यह सूत्र ही आपि लोपोऽकोऽनचि कह कर अन्यथा व्याख्यात किया है । हलि लोपः सूत्र को ही तदर्थक अन्य शब्दों में कह दिया है । अनाप्यकः से आपि, अकः ये दो पद लेकर हलि के स्थान में अनचि करके आपि लोपोऽ-कोऽनचि यह निर्देश कर दिया है । हमारा तात्पर्य हलि लोपः सूत्र से ही है । आभ्याम् यहां इदम् शब्द से हलादि विभक्ति भ्याम् परे रहते हलि लोपः से विधीयमान इदम् के इद् भाग का लोप इद् के अन्त्य दकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य दकार का लोप न होकर सम्पूर्ण इद् भाग का लोप हो जाता है ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अन एव लोपं वक्ष्यामि ।

तदनो ग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । अनाप्यक इति ।

तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

हलीत्येषा सप्तमी अनिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।

अन्त्यस्य प्राप्नोति । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अत्र ग्रहणसामर्थ्यात् सर्वस्य भविष्यति ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । हलि लोपः सूत्र से इद् भाग का लोप न कह कर अनाप्यकः से हुए अन् आदेश का ही लोप कह देंगे । आभ्याम् में इदम् के मकार को त्यदाद्यत्व पररूप होकर इद-भ्याम् इस स्थिति में अनाप्यकः से इद् को अन् आदेश होकर हलि लोपः से अन के अन्त्य नकार का लोप हो जायगा तो शेष दोनों अकारों के पररूप हो जाने से आभ्याम् यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा ।

फिर तो हलि लोपः में अन् ग्रहण करना होगा ।

अन् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । ऊपर से प्रकृत चला आ रहा है । कहां से ? अनाप्यकः से । उसी की अनुवृत्ति हलि लोपः में हो जायगी ।

वह तो प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है । यहां षष्ठी से प्रयोजन है ।

हलि लोपः में हलि यह सप्तमी अन् इस प्रथमा को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के नियम से षष्ठी में बदल देगी तो अर्थ होगा—हलादि विभक्ति परे रहते इदम् के स्थान में हुए अन् का लोप होता है ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य यह सूत्र प्रयोजन है । मित्सति दित्सति इत्यादि सन्नन्तों में मी मा घु आदि धातुओं के अभ्यास का अन्त्य अक्षर का लोप प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य का न होकर सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । अत्र लोपोऽभ्यासस्य में अत्र ग्रहण के सामर्थ्य

---

1. इदम्—यह सार्थक शब्द रूप है, इसका इद—यह भाग अनर्थक है ।

अस्त्यन्यदत्रग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्। सन्नधिकारोऽपेक्ष्यते। इह मा भूत्-ददौ दधौ।

अन्तरेणाप्यत्र ग्रहणं सन्नधिकारमपेक्षिष्यामहे।

संस्तर्हि सकारादिरपेक्ष्यते। सनि सकारादाविति। इह मा भूत्-जिज्ञपयिषति इति।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणं सनं सकारादिमपेक्षिष्यामहे।

प्रकृतयस्तर्ह्यपेक्ष्यन्ते। एतासां प्रकृतीनां लोपो यथा स्यात्। इह मा भूत्-पिपक्षति। यियक्षति।

से[२] सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जायगा।

अत्र ग्रहण का तो अन्य प्रयोजन है। क्या? सनि मीमाघुरभलभ० से प्रक्रान्त सन् प्रत्यय का अधिकार अपेक्षित है। अत्र=यहां। अर्थात् सन् प्रत्यय में ही अभ्यास का लोप हो। ददौ, दधौ यहां सन् भिन्न प्रत्यय में अभ्यास का लोप न हो इसके लिये अत्र ग्रहण रह सकता है।

अत्र ग्रहण के बिना भी सन् प्रत्यय का अधिकार स्वरितत्व प्रतिज्ञा से अपेक्षित किया जा सकता है।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सकारादि सन् में ही अभ्यासलोप हो। इडादि सन् में न हो। जैसे—ज्ञपयितुमिच्छति जिज्ञपयिषति यहां णिजन्त ज्ञपि धातु से सन् परे रहते सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भु० से पक्ष में इडागम हुआ है। सकारादि सन् परे न होने से अभ्यासलोप नहीं होता। इडभाव पक्ष में सकारादि सन् होने से ज्ञीप्सति यहां अभ्यासलोप हो जाता है।

अत्र ग्रहण के बिना भी सकारादि सन् की अपेक्षा हो जायगी।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि मी मा घु रभ् लभ् आदि प्रकृतियों से ही सन् में अभ्यासलोप हो। अन्य प्रकृतियों से न हो। जैसे—पक्तुमिच्छति पिपक्षति। यष्टुमिच्छति यियक्षति यहां पच् यज् धातुओं से सन् परे रहते अभ्यासलोप नहीं होता।

---

२. अत्र ग्रहण के सामर्थ्य से। सनि मी मा—इत्यादि सूत्रों में सन् का निर्देश होने पर जो दुबारा अत्र शब्द से सन् का परामर्श किया है उसका यही प्रयोजन है कि सन् परे रहते जितना भी अभ्यास करके गृहीत होता है, उस सारे का लोप होता है।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेताः प्रकृतीरपेक्षिष्यामहे ।

विषयस्तर्ह्यपेक्ष्यते । 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वे'ति । इह मा भूत्-मुमुक्षति गाम् इति ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेतं विषयमपेक्षिष्यामहे । कथम् । अकर्मकस्येत्युच्यते । तेन यत्रैवायं मुचिरकर्मकस्तत्रैव भविष्यति । तस्मान्नार्थोऽनया परिभाषया नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति ।

अलोन्त्यात्पूर्वोऽलुपधेति वा ।

अथवा व्यक्तमेव पठितव्यम् । अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधासंज्ञो भवतीति ।

अत्र ग्रहण के बिना भी मी मा घु रभ् लभ् आदि प्रकृतियां प्रकरण से समझ ली जायेंगी ।

तो फिर अत्र ग्रहण का यह प्रयोजन है कि निश्चित विषय में ही निश्चित प्रकृतियों से सन् में अभ्यास का लोप हो । जैसे—मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा इस सूत्र से अकर्मक विषय में ही मुच् धातु से सन् में अभ्यासलोप होता है । मोक्षते वत्सः स्वयमेव यहां अकर्मक होने से अभ्यासलोप हो गया । किन्तु मुमुक्षति गाम् यहां सकर्मक होनें से मुच् धातु के अभ्यास का लोप नहीं होता ।

अत्र ग्रहण के बिना भी निश्चित विषय समझ लिया जायगा । कैसे ? मुचोऽकर्मकस्य० में अकर्मकस्य कहा है तो जहां मुच् धातु अकर्मक होगी उसी विषय में अभ्यासलोप होगा । अन्यत्र न होगा । इस लिये सब प्रयोजनों के अन्यथा सिद्ध हो जाने से नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है ।[१]

अथवा अलोन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधा इस प्रकार स्पष्ट ही एक और अल् ग्रहण कर देना चाहिये । जिससे उपधा संज्ञा में अन्त्य भी अल् ही लिया जाय और उससे पूर्व भी अल् ही लिया जाय । तब कहीं दोष न होगा ।

---

१. यहां भाष्यकार ने प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि दिखा कर नानर्थके० इस परिभाषा का खण्डन कर दिया है । इससे अल्संघात में भी अलोन्त्यविधि मान कर शिष्टः शिष्टवान् इत्यादि बन जायेंगे ऐसा भाष्यकार को संमत मालूम होता है ।

तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् ।

अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम् ।

अन्तरेणापि वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्। तद्यथा लोके अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथाजातीयकोऽन्त्यस्तथाजातीयकोऽन्त्यात्पूर्व आनीयते ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१।१।६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१।१।६७॥

किमुदाहरणम् ?

तो फिर अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽलुपधा ऐसा कह देना चाहिये ।

नहीं कहना चाहिये। बिना कहे ही लोक-व्यवहार से यह बात जान ली जायगी। जैसे लोक में इन ब्राह्मणों में अन्त्य से पूर्व को लाइये ऐसा कहने पर जिस प्रकार का अन्त्य है उसी प्रकार का उससे पूर्व लाया जाता है। ब्राह्मणों में अन्त्य यदि ब्राह्मण है तो उससे पूर्व भी ब्राह्मण ही लाया जायगा। अथवा जैसे ब्राह्मणों में अन्त्य मनुष्य है तो उससे पूर्व भी मनुष्य ही लाया जायगा, पशु आदि नहीं लाया जायगा। यहां भी अन्त्य अल् से पूर्व अल् ही लिया जायगा, अल् समुदाय नहीं। इस प्रकार सूत्र से ही इष्ट उपधासंज्ञा होकर काम चल जायगा।[1]

इन सूत्रों के क्या उदाहरण हैं ?

---

१. भाष्यकार ने यहां अल् ग्रहण को अन्त्य विशेषण मान कर उक्त दोष के समाधान द्वारा अलः यह पञ्चमी एकवचन स्वीकार किया है। यदि अलः को प्रथमा बहुवचन या निर्धारण षष्ठी का एकवचन मान लें तो भी उक्त लोकव्यवहार से दोष न होगा। प्रथमा पक्ष में अलः यह जाति में बहुवचन निर्देश है। अवधि और अवधिमत् को तुल्यजातीय मानने से अन्त्य अल् से यही अर्थ अवगत होगा। षष्ठी पक्ष में निर्धारण तुल्यजातीय का होता है इस कारण अलों में जो अन्त्य है वह अल् ही लिया जायगा। उससे पूर्व भी तज्जातीय अल् ही गृहीत होगा इस प्रकार तीनों पक्ष निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं।

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'इको यणचि' दध्यत्र मध्वत्र। इह तस्मादित्युत्तरस्येति 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्'। द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्।

अन्यथाजातीयकेन शब्देन निर्देशः क्रियते। अन्यथाजातीयक उदाह्रियते।

किं तर्ह्युदाहरणम्?

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकावि'ति। तस्मादित्युत्तरस्येति। 'तस्माच्छसो नः पुंसी'ति।

इदं चाप्युदाहरणम् इको यणचि, द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईदिति। कथम्। सर्वनाम्नायं निर्देशः क्रियते। सर्वनाम च सामान्यवाची। तत्र सामान्ये निर्दिष्टे विशेषा अप्युदाहरणानि भवन्ति।

किं पुनः सामान्यं, को विशेषः?

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के तो इको यणचि दध्यत्र मध्वत्र ये उदाहरण हैं। और तस्मादित्युत्तरस्य के द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्। द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्। ये उदाहरण हैं। इको यणचि में अचि सप्तमी है। उसके परे रहते अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान में यण् हो जाता है तो दध्यत्र मध्वत्र बन जाते हैं। द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् में द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः यह पञ्चमी है। उससे अव्यवहित परे अप् शब्द के अकार के स्थान में ईकार हो जाता है तो द्वीपम् अन्तरीपम् समीपम् बन जाते हैं।

अन्य प्रकार के शब्द से सूत्रों में निर्देश किया है। अन्य प्रकार के आप उदाहरण दे रहे हैं। ये सूत्र निर्देशानुकूल उदाहरण नहीं हैं।

फिर सूत्र निर्देशानुरूप उदाहरण क्या होने चाहिये?

तस्मिन्निति निर्दिष्टे० का तो तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ और तस्मादित्युत्तरस्य का तस्माच्छसो नः पुंसि ये उदाहरण होने चाहिये।

ये भी उदाहरण ठीक हैं—इको यणचि, द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्। क्योंकि तस्मिन् तस्मात् ये सर्वनामसंज्ञक तद् शब्द के निर्देश हैं। और सर्वनामशब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। उनसे सभी का बोध हो जाता है। उसमें सामान्य तद् शब्द के निर्देश में विशेष उदाहरण भी हो सकते हैं।

सामान्य क्या है और विशेष क्या है?

गौः सामान्यं कृष्णो विशेषः ।

न तर्हीदानीं कृष्णः सामान्यं गौर्विशेषो भवति ।

भवति च ।

यदि तर्हि सामान्यमपि विशेषो, विशेषोपि सामान्यं, सामान्य-विशेषौ न प्रकल्पेते ।

प्रकल्पेते च । कथम् । विविक्षातः । यदास्य गौः सामान्येन विवक्षितो भवति कृष्णो विशेषत्वेन, तदा गौः सामान्यं, कृष्णो विशेषः । यदाऽस्य कृष्णः सामान्येन विवक्षितो भवति गौर्विशेषत्वेन तदा कृष्णः सामान्यं, गौर्विशेषः ।

कृष्ण (काला) बैल यहां गौ सामान्य है कृष्ण विशेष है ।

क्या कृष्ण गौ यहां कृष्ण सामान्य और गौ (बैल) विशेष नहीं हो सकता ?

हो भी सकता है ।

जब सामान्य विशेष और विशेष सामान्य हो सकता है तब सामान्य विशेष का ही निश्चय नहीं होता । इनकी निश्चित व्यवस्था नहीं बनती ।

बनती भी है । कैसे ? विवक्षा से । जब वक्ता की इच्छा गौ को सामान्य और कृष्ण को विशेष कहने की होती है तब गौ सामान्य और कृष्ण विशेष हो जाता है । और जब वक्ता की इच्छा कृष्ण को सामान्य और गौ को विशेष कहने की होती है तब कृष्ण सामान्य और गौ विशेष हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जहां गौ परिच्छेद्य है और कृष्णत्व परिच्छेदक है वहां कृष्णत्व विशेष है गोत्व सामान्य है । जहां कृष्णत्व परिच्छेद्य है, गोत्व परिच्छेदक है वहां गोत्व विशेष है कृष्णत्व सामान्य है । इसी बात को अन्य आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि सामान्य विशेष की व्यवस्था बन सकती है । किस प्रकार ? पिता पुत्र की तरह । जैसे वही किसी के प्रति पिता और किसी के प्रति पुत्र होता है वैसे यहां भी वही किसी के प्रति सामान्य और किसी के प्रति विशेष हो जाता है । अर्थबोध के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों में ये सब से उत्तम प्रयोग हैं जो सर्वनाम संज्ञक शब्दों के होते हैं । इन से बहुत अधिक विषय व्याप्त हो जाता है । इसी लिये सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य पञ्चमीनिर्दिष्टे उत्तरस्य ऐसा निर्देश न करके तस्मिन् तस्मात् यह सर्वनाम से निर्देश किया है ।

अपर आह—प्रकल्पेते च। कथम्। पितापुत्रवत्। तद्यथा स एव कंचित् प्रति पिता भवति। कंचित् प्रति पुत्रो भवति। एवमिहापि स एव कंचित् प्रति सामान्यं कंचित् प्रति विशेषः। एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्ततरका भवन्ति ये सर्वनाम्ना निर्देशाः क्रियन्ते। एतर्हि बहुतरकं व्याप्यते।

अथ किमर्थमुपसर्गनिर्देशः क्रियते?

शब्दे सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं यथा स्यात्। अर्थे मा भूत्। जनपदे अतिशायने इति।

किं गतमेतदुपसर्गेण। आहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम्।

गतमित्याह। कथम्। निरयं बहिर्भावे। तद्यथा निष्क्रान्तो देशात् निर्देशः। बहिर्देश इति गम्यते। शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थोऽबहिर्भूतः।

निर्दिष्ट शब्द में निर् उपसर्ग सहित दिश् धातु का निर्देश किस लिये किया है। अर्थात् सूत्र में निर्दिष्ट ग्रहण का क्या प्रयोजन है? तस्मिन्निति पूर्वस्य इतना ही सूत्र क्यों न बना दिया?

तस्मिन्निति पूर्वस्य इतना सूत्र होने पर सप्तमी के अर्थ में भी अव्यवहित पूर्व को कार्य प्राप्त हो जायगा। इष्ट है कि सप्तमी विभक्ति निर्दिष्ट शब्द में ही अव्यवहित पूर्व को कार्य हो। सप्तमी से कहे हुए अर्थ में पूर्व को कार्य न हो। जैसे—जनपदे लुप्, अतिशायने तमबिष्ठनौ यहां जनपद अतिशायन ये सप्तमी निर्दिष्ट अर्थ हैं इको यणचि आदि में अचि आदि की तरह शब्द नहीं हैं। इस लिये यहां जनपद परे रहते या अतिशय परे रहते अव्यवहित पूर्व को कार्य होता है यह अर्थ न होगा।

क्या यह अर्थ उपसर्ग विशिष्ट निर्दिष्ट शब्द से निकल भी आता है या केवल शब्द के आधिक्य से अर्थ के आधिक्य की कल्पना की जा रही है।

निर्दिष्ट शब्द से यह अर्थ निकल आता है। क्योंकि निर् यह उपसर्ग बहिर्भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—देशात् निर्गतः निर्देशः। यहां देश से बाहर निकला हुआ अर्थ समझा जाता है। शब्द से शब्द ही बाहर निकला हुआ होता है अर्थ नहीं। अर्थ तो शब्द के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है इस लिये निर्दिष्ट ग्रहण से सप्तमी विभक्ति वाले शब्द में ही अव्यवहित पूर्व को कार्य होगा। सप्तमी के अर्थ में पूर्व को कार्य न होगा।

अथ निर्दिष्टग्रहणं किमर्थम् ?

निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम् ।

निर्दिष्टग्रहणं क्रियते। आनन्तर्यार्थम्। आनन्तर्यमात्रे[1] कार्यं यथा स्यात्। इको यणचि। दध्यत्र। मध्वत्र। इह मा भूत् समिधौ। समिधः। दृषदौ। दृषदः।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

तस्मिंस्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थं वचनं दध्युदकं पचत्योदनम् ।

तस्मिन् तस्मात् इति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थोऽ-

फिर भी सूत्र में विशेषरूप से निर्दिष्ट ग्रहण ही क्यों किया। तस्मिन्निति शब्दे पूर्वस्य ऐसा सूत्र क्यों न बनाया। उससे अर्थ की व्यावृत्ति हो जाती।

निर्दिष्टग्रहण विशेष रूप से इस लिये किया है कि सप्तमी निर्देश में अव्यवहित पूर्व को कार्य हो। व्यवधान में पूर्व को कार्य न हो। आनन्तर्य का अर्थ अव्यवधान है। इको यणचि से विधीयमान यण् दध्यत्र मध्वत्र यहां दधि+अत्र, मधु+अत्र इस अवस्था में अत्र का अकार अच् परे रहते अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान में होता है। किन्तु समिधौ समिधः दृषदौ दृषदः यहां समिध्+औ जस्। दृषद्+औ जस् इस अवस्था में औ जस् अच् परे रहते धकार दकार अकार षकार से व्यवहित पूर्व इक् के स्थान में नहीं होता। तस्मिन्निति शब्द कहने पर अव्यवहित अर्थ नहीं निकल सकता था क्योंकि अच् शब्द परे रहते इक् शब्द तो व्यवहित भी प्रयुक्त होता है। निर्दिष्टग्रहण से इक् और अच् दोनों निरन्तर उच्चारित होंगे तो अव्यवधान में ही पूर्व को कार्य होगा। व्यवधान में नहीं। व्यवधान में दोनों का साक्षात् उच्चारण एवं निर्देश नहीं बनता।[2]

ये सूत्र क्यों बनाये हैं।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य और तस्मादित्युत्तरस्य ये दोनों सूत्र क्रम से पूर्व और पर को कार्य का नियम करने वाले इस लिये बनाये हैं कि लोक में

---

१. आनन्तर्यमेव=आनन्तर्यमात्रम्। मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे। मयूरव्यंसकादि समास है।

२. निर्दिष्ट शब्द में निर् आनन्तर्य अर्थ में है, दिश् धातु उच्चारणार्थक है।

यमारम्भः। ग्रामे देवदत्तः। पूर्वः पर इति सन्देहः। ग्रामाद् देवदत्तः पूर्वः पर इति सन्देहः। एवमिहापि दध्युदकं पचत्योदनम्। उभाविकौ। उभावचौ। अचि पूर्वस्य अचि परस्येति संदेहः। तिङ्ङतिङ इति अतिङः पूर्वस्य अतिङः परस्येति सन्देहः। इष्यते चाचि पूर्वस्य स्यात्। अतिङश्च परस्येति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति। अथ यत्रोभयं निर्दिश्यते किं तत्र पूर्वस्य कार्यं भवति आहोस्वित् परस्येति।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति।

सप्तमी और पञ्चमी के निर्देश में पूर्व पर का सन्देह है। ग्रामे देवदत्तः या ग्रामात् देवदत्तः ऐसा कहने पर यह नहीं पता लगता कि ग्राम में देवदत्त पूर्व है या पर है। ग्राम से देवदत्त पूर्व है या पर है। पूर्व और उत्तर अर्थात् पर इन दोनों अर्थों में अविशेष है। कोई विशेष नहीं मालूम होता। इसी तरह यहां भी दध्युदकम् (दधि+उदकम्) पचत्योदनम् (पचति+ओदनम्) में दोनों ही इक् हैं। दोनों ही अच् हैं। दधि का इकार इक् भी है अच् भी है। उदकम् का उकार इक् भी है अच् भी है। इको यणचि से इक् को यण् करने में सन्देह है कि अच् में इक् को यण् हो। पूर्व इक् को या पर इक् को। पचति ओदनम् या ओदनं पचति यहां तिङ्ङतिङः से तिङ् को निघात करने में सन्देह है कि अतिङ् से पूर्व तिङ् को निघात हो या पर तिङ् को। इष्ट है कि अच् परे रहते पूर्व इक् को यण् हो, पर इक् को न हो। अतिङः से परे तिङ् को निघात हो। पूर्व तिङ् को निघात न हो। यह बात विना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये ये दोनों सूत्र नियमार्थ बनाये हैं।

सूत्रों का यह प्रयोजन ठीक है किन्तु जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों का एक साथ निर्देश है वहां क्या पूर्व को कार्य होता है या पर को ?

दोनों विभक्तियों के एक साथ निर्देश में तस्मादित्युत्तरस्य इस पञ्चमी-निर्देश के सूत्र क्रम में पर होने से विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियम से पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् माना जायगा उससे पूर्व को कार्य न होकर पर को ही कार्य होगा। उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः यह परिभाषा है।

किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमतो लसार्वधातुकानुदात्तत्वे ।

वक्ष्यति 'तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थं' इति। तस्मिन् क्रियमाणे तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वधातुकस्य लसार्वधातुके परतस्तास्यादीनामिति सन्देहः। तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वधातुकस्य।

बहोरिष्ठादीनामादिलोपे ।

बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसाम्। इष्ठेमेयःसु परतो बहोरिति सन्देहः। बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसाम्।

गोतो णित् ।

गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य सर्वनामस्थाने परतो गोत इति सन्देहः। गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात्० इस परिभाषा के क्या प्रयोजन हैं ?

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः यह सूत्र प्रयोजन है। तास्यनुदात्तेन्० सूत्र में तासि अनुदात्तेत् ङित् अदुपदेशात् यह पञ्चमी निर्दिष्ट है। लसार्वधातुकम् यह प्रथमान्त है। किन्तु आगे अभ्यस्तानामादिः आदिः सिचः सूत्रों के लिये लसार्वधातुकम् इस प्रथमान्त को सप्तम्यन्त बनाने के लिये यह वचन कहेंगे कि—तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ इति। उससे लसार्वधातुके यह सप्तमी निर्दिष्ट हो जायगा। तब दोनों में सन्देह होता है—तासि आदि से परे लसार्वधातुक को अनुदात्त हो या लसार्वधातुक परे रहते तासि आदि को अनुदात्त हो। पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो लसार्वधातुके यह सप्तमी षष्ठी में बदल जायगी। उससे लसार्वधातुक को अनुदात्त हो जाता है।

बहोर्लोपो भू च बहोः यह सूत्र प्रयोजन है। यहां बहोः यह पञ्चमी है। पूर्वानुक्रान्त इष्ठेमेयःसु यह सप्तमी है। दोनों में सन्देह है कि बहु शब्द से परे इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् का लोप हो या इष्ठन् आदि परे रहते बहु शब्द का लोप हो, पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो बहु शब्द से परे इष्टन् आदि का लोप हो जाता है।

गोतो णित् यह सूत्र प्रयोजन है। गोतः यह पञ्चमी है। पूर्वानुक्रान्त

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ।

रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य । सार्वधातुके परतो रुदादीनामिति सन्देहः । रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य ।

आने मुगीदासः ।

आस उत्तरस्यानस्य । आने परत आस इति सन्देहः । आस उत्तरस्य आनस्य ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ।

सर्वनाम्न उत्तरस्यामः । आमि परतः सर्वनाम्न इति सन्देहः । सर्वनाम्न उत्तरस्यामः ।

सर्वनामस्थाने यह सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि गो शब्द से परे सर्वनामस्थान को णिद्वत् होता है या सर्वनामस्थान परे रहते गो शब्द को णिद्वत् होता है । पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो गो शब्द से परे सर्वनामस्थान को णिद्वत् हो जाता है ।

रुदादिभ्यः सार्वधातुके यह सूत्र प्रयोजन है । रुदादिभ्यः यह पञ्चमी है । सार्वधातुके सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि रुदादि से परे सार्वधातुक को इट् हो या सार्वधातुक से परे रुदादि को इट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो रुदादि से परे वलादि सार्वधातुक को इट् हो जाता है ।

ईदासः यह सूत्र प्रयोजन है । आसः यह पञ्चमी है । आने मुक् से अनुवृत्त आने सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि आस् से परे आन को ईकार हो या आन परे रहते आस् को ईकार हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो आस् से परे आन को ईकार हो जाता है ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् यह सूत्र प्रयोजन है । आमि यह सप्तमी है । सर्वनाम्नः पञ्चमी है । दोनों में सन्देह है कि सर्वनाम से परे आम् को सुट् हो या आम् परे रहते सर्वनाम को सुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो सर्वनाम से परे आम् को सुट् हो जाता है ।

घेर्ङित्याण् नद्याः ।

नद्या उत्तरेषां ङितां, ङित्सु परतो नद्या इति सन्देहः । नद्या उत्तरेषां ङिताम् ।

याडापः ।

आप उत्तरस्य ङितः, ङिति परत आप इति सन्देहः । आप उत्तरस्य ङितः ।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ।

ङम उत्तरस्याचः, अचि परतो ङम इति सन्देहः । ङम उत्तरस्याचः ।

विभक्तिविशेषनिर्देशानवकाशत्वादविप्रतिषेधः ।

विभक्तिविशेषनिर्देशस्यानवकाशत्वादयुक्तो विप्रतिषेधः । सर्वत्रैवात्र कृतसामर्थ्या सप्तमी । अकृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति ।

आण् नद्याः यह सूत्र प्रयोजन है । नद्याः पञ्चमी है । घेर्ङिति से अनुवृत्त ङिति सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि नदी संज्ञक से परे ङित् विभक्ति को आट् हो या ङित् विभक्ति परे रहते नदीसंज्ञक को आट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो नदीसंज्ञक से परे ङित् विभक्ति को आट् हो जाता है ।

याडापः यह सूत्र प्रयोजन है । आपः पञ्चमी है । घेर्ङिति से अनुवृत्त ङिति सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि आबन्त से परे ङित् विभक्ति को याट् हो या ङित् विभक्ति परे रहते आबन्त को याट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो आबन्त से परे ङित् विभक्ति को याट् हो जाता है ।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् यह सूत्र प्रयोजन है । ङमः यह पञ्चमी है । अचि सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि ङम् से परे अच् को ङमुट् हो या अच् परे रहते ङम् को ङमुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो ङम् से परे अच् को ङमुट् हो जाता है ।[1]

उक्त सूत्रों वाले सप्तमी पञ्चमी विभक्तियों के एक साथ निर्देश में

---

१. ये प्रयोजन उदाहरणमात्र हैं । परिगणन नहीं किया गया है । दीर्घो युडचि क्ङिति, ङः सि धुट्, ह्रस्वनद्यापो नुट् आदि अन्य अनेक प्रयोजन हैं ।

यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः ।

यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्यः। यत्र पूर्वस्य कार्यमिष्यते तत्र पूर्वस्य षष्ठी कर्तव्या। यत्र परस्य कार्यमिष्यते तत्र परस्य षष्ठी कर्तव्या।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः।

न कर्तव्यः। अनेनैव प्रक्लृप्तिर्भविष्यति। तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी। तस्मादित्युत्तरस्य षष्ठीति।

तत्तर्हि षष्ठीग्रहणं कर्तव्यम्।

न कर्तव्यम्। प्रकृतमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्। 'षष्ठी स्थानेयोगे'ति।

पञ्चमी विभक्ति के विशेष रूप से अनवकाश होने के कारण यह विप्रतिषेध अयुक्त है। दोनों का विप्रतिषेध ठीक नहीं बनता। जब दोनों सावकाश हों तभी विप्रतिषेध होता है। यहां उक्त सभी उदाहरणों में सप्तमी कृतसामर्थ्य है, सावकाश है। उसका सामर्थ्य अन्यत्र क्षीण हो चुका है। किन्तु पञ्चमी अकृत-सामर्थ्य है। उसका सामर्थ्य कहीं उपक्षीण नहीं हुआ। वह अनवकाश है। इस लिये अनवकाश होने से अपवाद होकर सप्तमी की स्वतः बाधक हो जायगी।

या फिर अर्थानुसार षष्ठी विभक्ति का निर्देश कर देंगे। जहां पूर्व को कार्य इष्ट है वहां पूर्व में षष्ठी और जहां पर को कार्य इष्ट है वहां पर में षष्ठी विभक्ति लगा देंगे।

फिर अर्थानुसार षष्ठी विभक्ति का निर्देश कर दें।

षष्ठी का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं। इन्हीं सूत्रों से षष्ठी की निष्पत्ति हो जायगी। प्रक्लृप्ति=सिद्धि, निष्पत्ति। सप्तमी के निर्देश में पूर्व को कार्य होने से पूर्व में षष्ठी और पञ्चमी के निर्देश में पर को कार्य होने से पर में षष्ठी इन्हीं सूत्रों से सिद्ध हो जायगी।

तो फिर इन्हीं सूत्रों में षष्ठी का ग्रहण कर दें। जिससे ये षष्ठी की निष्पत्ति कर सकें।

उसकी भी आवश्यकता नहीं। षष्ठी ग्रहण प्रकृत चला आ रहा है। कहां से ? षष्ठी स्थानेयोगा से।

प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभावः ।

प्रकल्पकमिति चेत् नियमस्याभावः । उक्तं चैतन्नियमार्थोऽयमारम्भ इति । प्रत्ययविधौ खल्वपि पञ्चम्यः प्रकल्पिकाः स्युः । तत्र को दोषः । 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' । गुप्तिज्किद्भ्य इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति ।

अस्तु । न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सनः सन्नेव भविष्यति ।

नैवं शक्यम् । इत्संज्ञा न प्रक्लृप्येत । उपदेश इतीत्संज्ञोच्यते ।

प्रकृतिविकाराव्यवस्था च ।

प्रकृतिविकारयोश्च व्यवस्था न प्रकल्पते । इको यणचि, अचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति ।

यदि इन सूत्रों को षष्ठी का प्रकल्पक या निष्पादक मानते हैं तो ये नियम सूत्र नहीं रहते । जहां षष्ठी नहीं है वहां ये षष्ठी निष्पन्न करेंगे । किन्तु जहां षष्ठी पहले से विद्यमान है जैसे—इको यणचि यहां इकः, वहां षष्ठी प्रक्लृप्ति की आवश्यकता न होने से नियम न हो सकेगा । एक साथ दो व्यापार ये सूत्र नहीं कर सकते । इधर षष्ठी का निष्पादन भी और उधर नियम भी । अभी ऊपर कह चुके हैं कि ये नियमार्थ बनाये हैं । प्रकल्पक मानने पर ये नियमार्थ नहीं रहते ।

दूसरा दोष यह भी है कि प्रत्ययविधि में भी पञ्चमी विभक्तियां षष्ठी की प्रकल्पिका बन जायेंगी । उसमें क्या दोष है ? यही कि गुप्तिज्किद्भ्यः सन् में गुप्तिज्किद्भ्यः यह पञ्चमी सन् इस प्रथमा को तस्मादित्युत्तरस्य के वचन से षष्ठी बना देगी ।

अच्छा बना देवे । सन् को और कोई आदेश तो कहा ही नहीं इसलिये अन्तरतम परिभाषा से सन् के स्थान में सन् ही आदेश हो जायगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । आदिष्ट हुए सन् में नकार की इत्संज्ञा नहीं हो सकेगी । हलन्त्यम् से उपदेश में हल् की इत्संज्ञा कही गई है । आदिष्ट सन् उपदेश नहीं है । तीसरा दोष यह भी है कि—

प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनेगी । प्रकृति=स्थानी । विकार=

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठी प्रक्लृप्तिस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः ।

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठी प्राप्नोति। तास्यादिभ्य इत्येषा पञ्चमी लसार्वधातुके इत्यस्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत्। तस्मादित्युत्तरस्येति। तथा लसार्वधातुके इत्येषा सप्तमी तास्यादिभ्य इति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति। तत्र को दोषः। तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः। तत्र उभयोः कार्यं प्राप्नोति।

नैष दोषः। यत्तावदुच्यते प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभाव इति। मा भून्नियमः। सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रकल्प्यते। पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य। यावता सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रकल्प्यते पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य नोत्सहते सप्तमीनिर्दिष्टे परस्य कार्यं भवितुम्। नापि पञ्चमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य। यदप्युच्यते प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिकाः स्युरिति।

आदेश। इको यणचि में इक् यह प्रकृति है। यण् विकृति है। अचि यह सप्तमी यण् इस प्रथमा को षष्ठी बना देगी तो इक् के समान यण् भी प्रकृति हो जायगी। चौथा दोष यह भी है कि—

सप्तमी पञ्चमी दोनों विभक्तियां जहां एक साथ निर्दिष्ट हैं वहां दोनों एक दूसरे को षष्ठी बना देंगी तो दोनों के कार्य एक साथ प्राप्त होंगे। तास्यनुदात्तेत्० सूत्र में तासिअनुदात्तेन्ङिद्अदुपदेशात् यह पञ्चमी वक्ष्यमाण लसार्वधातुके यह सप्तमी को तस्मादित्युत्तरस्य के वचन से षष्ठी बना देगी और लसार्वधातुके यह सप्तमी तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात् इस पञ्चमी को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के वचन से षष्ठी बना देगी तो वहां दोनों विभक्तियों के कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं।

ये कोई दोष नहीं हैं। यह जो पहला दोष कहा कि इन सूत्रों को षष्ठी का प्रकल्पक मानने पर ये नियम नहीं रहेंगे। सो नियमार्थ न रहें। प्रकल्पक ही रहें। सप्तमी निर्देश में पूर्व को षष्ठी प्रक्लृप्ति होगी पञ्चमीनिर्देश में पर को। उस अवस्था में जहां षष्ठी की प्रक्लृप्ति हुई है उससे अन्य को कार्य कैसे हो सकता है। सप्तमी निर्देश में पूर्व को षष्ठी बनाया है तो पूर्व को ही कार्य होगा, पर को कदापि नहीं हो सकता। पञ्चमी निर्देश में पर को षष्ठी बनाया है तो वहां पर को ही कार्य होगा। पूर्व को कदापि नहीं हो सकता। जहां षष्ठी पहले से विद्यमान है वहां भी सप्तमी निर्देश में पूर्व को ही षष्ठी और

सन्तु प्रकल्पिकाः। ननु चोक्तं गुप्तिज्किद्भ्यः सन् इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति। परिहृतमेतत्। न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सनः सन्नेव भविष्यति। ननु चोक्तं नैवं शक्यमित्संज्ञा न प्रकल्पेत। उपदेश इति इत्संज्ञोच्यते। स्यादेष दोषो यदीत्संज्ञा आदेशं प्रतीक्षेत। तत्र खलु कृतायामित्संज्ञायां लोपे च कृते आदेशो भविष्यति। उपदेश इति हीत्संज्ञोच्यते। अथवा नानुत्पन्ने सनि प्रक्लृप्त्या भवितव्यम्। यदा चोत्पन्नः सन् तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा प्रक्लृप्तिर्न भविष्यति। यदप्युच्यते प्रकृतिविकाराव्यवस्था चेति। अत्रापि प्रकृतौ षष्ठी इक इति। विकृतौ प्रथमा यणिति। यत्र च नाम सौत्री षष्ठी नास्ति तत्र प्रक्लृप्त्या भवितव्यम्। अथवास्तु तावदिको यणिति यत्र नाम सौत्री षष्ठी। यदि चेदानीमचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति। अस्तु। न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतो यणो यणेव भविष्यति। यदप्युच्यते सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठीप्रक्लृप्तिस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्ग इति। नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोभे युगपत् प्रकल्पिके भवत इति। यदयमेकः पूर्वपरयोरिति पूर्वपरग्रहणं करोति।

पञ्चमीनिर्देश में पर को ही षष्ठी बनाया जायगा। इस प्रकार ये दोनों सूत्र षष्ठी प्रक्लृप्ति रूप एक ही व्यापार करेंगे। जो कार्य नियम मान कर होना है वह प्रकल्पक मान कर हो जायगा। दूसरा जो दोष कहा था कि प्रत्ययविधि में भी पञ्चमी विभक्तियां षष्ठी की प्रकल्पिका बन जायेंगी सो बन जावें। क्या हानि है। यह जो कहा था कि गुप्तिज्किद्भ्यः सन् में गुप्तिज्किद्भ्यः यह पञ्चमी सन् इस प्रथमा को षष्ठी बना देगी तो उसका उत्तर दे दिया गया था कि सन् को सन् ही आदेश हो जायगा। फिर जो कहा था कि आदेश हुए सन् में नकार की इत्संज्ञा न हो सकेगी तो उसका उत्तर यह है कि यह दोष तब हो जब इत्संज्ञा आदेश की प्रतीक्षा करे। सन् में आदेश होने से पहले ही उपदेशावस्था में नकार की इत्संज्ञा और लोप होकर फिर स को स आदेश हो जायगा। इत्संज्ञा उपदेश काल में ही हो जाती है। वह आदेश की प्रतीक्षा नहीं करती। अथवा गुप्तिज्किद्भ्यः सन् इस सूत्र से जब तक सन् उत्पन्न नहीं हुआ तब तक उसे षष्ठी नहीं बनाया जा सकता। जब उत्पन्न हो गया तब गुप्तिज्किद्भ्यः यह पञ्चमी चरितार्थ हो चुकी इस लिये प्रत्ययविधि में स्वतः ही पञ्चमी विभक्ति षष्ठी की प्रकल्पिका नहीं बन सकती। तीसरा जो

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा[1] ॥१।१।६८॥

रूपग्रहणं किमर्थम् ? न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा भवतीत्येव रूपं शब्दस्य संज्ञा भविष्यति। न ह्यन्यत् स्वं शब्दस्यास्ति, अन्यदतो रूपात्।

दोष कहा था कि प्रकल्पक मानने पर प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनती। यहां भी यह उत्तर है कि प्रकृति में तो इकः यह षष्ठी है। विकृति में यण् यह प्रथमा है। दोनों की व्यवस्था स्पष्ट है। जहां किसी सूत्र में षष्ठी नहीं है वहीं ये दोनों षष्ठी के प्रकल्पक होंगे। इको यणचि सूत्र में तो सौत्री षष्ठी श्रूयमाण है वहां प्रक्लृप्ति की क्या आवश्यता है। यदि मान भी लें कि सौत्री षष्ठी में भी प्रक्लृप्ति होती है तो भी इको यणचि में दोष नहीं। अच् परे रहते यण् यह प्रथमा तस्मिन्निति० के वचन से षष्ठी बन जायगी। बन जावे। यण् के स्थान में अन्य कोई आदेश कथित न होने से आन्तर्य से यण् ही हो जायगा। चौथा जो दोष कहा था कि सप्तमी पञ्चमी दोनों के एक साथ निर्देश में दोनों प्रकल्पिका बन जायेंगी तो दोनों के कार्य एक साथ प्राप्त होंगे वह भी कोई दोष नहीं। आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि सप्तमी पञ्चमी दोनों एक साथ षष्ठी प्रकल्पिका नहीं बनतीं। एकः पूर्वपरयोः में जो पूर्व पर ग्रहण किया है उससे यह बात सिद्ध होती है। अन्यथा आद्गुणः इत्यादि में आत् यह पञ्चमी पूर्वानुक्रान्त अचि इस सप्तमी को षष्ठी बना देगी और अचि यह सप्तमी आत् इस पञ्चमी को षष्ठी बना देगी तो पूर्व पर के स्थान में एकादेश स्वतः सिद्ध हो जाने से पूर्व पर ग्रहण व्यर्थ है।[2]

रूपग्रहण किस लिये किया है। क्यों न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इतना ही सूत्र बना दिया। उससे शब्द का अपना रूप ही संज्ञा हो जायगा। क्योंकि रूप से अन्य शब्द का अपना कुछ नहीं है।

---

१. किसी को यह भ्रान्ति हो सकती है कि दीर्घात् छे च यहां दीर्घात् यह पञ्चमी अनवकाश होने से छे इस सावकाश सप्तमी को बाध लेगी तो तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से दीर्घ से परे छ को तुक् प्राप्त होना चाहिये उसका समाधान यह है कि दीर्घात् यह पञ्चमी नहीं है बल्कि षष्ठी है। व्यत्यय से षष्ठी की जगह पञ्चमी कर ली है। इस में विभाषा सेनासुराच्छाया० सूत्र में सुराच्छाया यह छ परे रहते तुक् ही ज्ञापक है। इस लिये छ परे रहते दीर्घ को तुक् होता है। दीर्घ से परे छ को तुक् नहीं होता।

२. कुछ व्याख्याकारों के मत में यह परिभाषा-सूत्र है क्योंकि शब्द के उच्चारण

एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्। अर्थः।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्।

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति।

तो फिर रूपग्रहण के बिनां भी सिद्ध होने पर जो रूपग्रहण किया है वह आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि रूप से अन्य भी शब्द का कुछ हैं। वह क्या है? अर्थ है।

इस बात के ज्ञापक करने का क्या प्रयोजन है?

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य यह परिभाषा इस रूपग्रहण से स्वतः सिद्ध

में उसके स्वरूप, उसके पर्यायवाची, विशेषवाची शब्द, तथा अर्थ इन सबका ग्रहण प्राप्त होने पर केवल शब्द के स्वरूप को ग्रहण करने के लिये यह नियमार्थ बनाया गया है। अन्यों के मत में यह संज्ञा सूत्र ही है। क्योंकि परिभाषा का कोई लिङ्ग या विध्यन्तर शेषभाव इसमें प्रतीत नहीं होता। इसे संज्ञा सूत्र मानते हैं। इसका अर्थ है—शब्द का अपना रूप संज्ञा होता है, ग्राहक होता है। शब्द संज्ञा को छोड़ कर। यहां शब्दस्य यह संज्ञी है। स्वं रूपं यह संज्ञा है। सिद्धान्तकौमुदीकार ने जो स्वं रूपं को संज्ञी माना है वह भाष्य विरुद्ध होने से चिन्त्य है। आगे भी अणुदित् यह संज्ञा है सवर्णस्य संज्ञी है। तपरः यह संज्ञा है, तत्कालस्य संज्ञी है। येन विधिः संज्ञा है तदन्तस्य संज्ञी है। आदिरन्त्येन सहेता यह सम्पूर्ण सूत्र संज्ञा है उसमें संज्ञी का निर्देश नहीं है। वृद्धिर्यस्याचामादिः में यस्य संज्ञी है वृद्ध संज्ञा है। व्याकरणशास्त्र में जो टि घु भ आदि संज्ञायें की गई हैं वहां स्वरूप ग्रहण नहीं होता। बल्कि जिनकी वे संज्ञायें हैं उन संज्ञियों का वहां ग्रहण होता है। अन्यत्र सर्वत्र शब्द विषय में उसके स्वरूप का ग्रहण होगा। न तो उसके पर्यायों का, न विशेषवाची शब्दों का और न अर्थ का। शब्द का अपना स्वरूप क्या है इस विषय में भी बहुत कुछ मत भेद है। कुछ लोग व्यक्ति को ही शब्द का स्वरूप कहते हैं। कुछ जाति को। जैसा कि वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कहा है—स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञाभिधीयते इत्यादि। वस्तुतः व्यक्ति पदार्थ में भी जाति पदार्थ अवश्य अपेक्षित है। और जाति में भी व्यक्ति की नितान्त अपेक्षा है इस लिये व्यक्ति और जाति उभयमिश्रित पदार्थ ही शब्द का स्वरूप मानना उचित है। सरूपसूत्र में भाष्यकार ने स्वयं कहा भी है—न ह्याकृति-पदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः, न वा द्रव्यपदार्थकस्याकृतिर्न पदार्थः उभयोरुभयं पदार्थः इत्यादि।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

शब्देनार्थावगतेः अर्थे कार्यस्यासंभवात् तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् ।

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय दध्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासंभवात् । इह च व्याकरणे अर्थे कार्यस्यासंभवः । अग्नेर्ढगिति न शक्यतेऽङ्गारेभ्यः परो ढक् कर्तुम् । शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासंभवात् यावन्तस्तद्वाचिनः शब्दास्तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् एवमर्थमिदमुच्यते ।

न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः ।

न वा एतत् प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् । शब्दपूर्वको ह्यर्थे

होकर अलग नहीं बनानी पड़ेगी । इसका अर्थ है कि अर्थवान् शब्द के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता । शब्द के स्वरूप के साथ नित्य सम्बद्ध अर्थ भी है इस लिये अर्थ वाले शब्द स्वरूप के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होगा तो काशे कुशे वंशे में अनर्थक शे शब्द का शं सूत्र में ग्रहण न होने से वहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । किन्तु टित आत्मनेपदानां टेरे यहां अनर्थक टि को एत्व विधान में तथा अनर्थक वर्णग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती इस लिये पचेते आदि में अनर्थक टि को भी टेरेत्व हो जाता है ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

क्योंकि लोक में उच्चारित किये हुए शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । गामानय दध्यशान यह शब्द कहने पर गो पदार्थ ही लाया जाता है । दही पदार्थ ही खाया जाता है । किन्तु यहां व्याकरण शास्त्र में कथित कार्य का अर्थ में असंभव है । अग्नेर्ढक् सूत्र द्वारा अग्नि शब्द से परे ढक् प्रत्यय कहा है । वह अग्नि शब्द के अर्थ जो अंगारे हैं उनसे परे नहीं किया जा सकता । तो उस शब्द के जितने पर्यायवाची शब्द हैं उन सब से ढक् की उत्पत्ति प्राप्त होती है । इष्ट है कि उसी अग्नि शब्द से ही ढक् हो । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों से वह कार्य रोकने के लिये स्वरूपसंज्ञाविधायक यह सूत्र बनाया है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि शब्द पूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है ।

सम्प्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वकः। योपि ह्यलावाहूयते नाम्ना। नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति। शब्द-पूर्वकश्चार्थस्य सम्प्रत्ययः। इह च व्याकरणे शब्दे कार्यस्य संभवः, अर्थेऽसंभवः तस्मात् तदर्थनिवृत्तिर्भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। अशब्दसंज्ञेति वक्ष्यामीति। इह मा भूत् दाधा घ्वदाप्। तरप्तमपौ घ इति।

शब्दसंज्ञाप्रतिषेधानर्थक्यं वचनप्रामाण्यात्।

शब्दसंज्ञायाः प्रतिषेधोऽनर्थकः। शब्दसंज्ञायां स्वरूपविधिः कस्मान्न भवति। वचनप्रामाण्यात्। शब्दसंज्ञावचनसामर्थ्यात्।

ननु च वचनप्रामाण्यात् संज्ञिनां सम्प्रत्ययः स्यात् स्वरूप-ग्रहणाच्च संज्ञायाः।

पहले शब्द बोला जाता है तत्पश्चात् उससे अर्थबोध होता है। इस हेतु से तो और भी अच्छी तरह शब्दपूर्वक अर्थ का बोध होता है कि जिस किसी को भी आप नाम लेकर बुलाते हैं उसे जब तक अपना नाम नहीं सुनाई देता वह तब तक यह पूछता है कि आप ने क्या कहा। इससे मालूम हुआ कि शब्द श्रवण के बाद अर्थ का ज्ञान होता है। उससे पूर्व नहीं। किन्तु इस व्याकरण शास्त्र में केवल शब्द में ही कार्य का संभव है, अर्थ में असंभव है। इस लिये अर्थ में कार्य का सर्वथा असंभव होने से अर्थ की निवृत्ति स्वतः होकर प्रत्यासत्त्या उच्चारित शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण हो जायगा।

तो फिर इस सूत्र का यह प्रयोजन है कि सूत्र में अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करेंगे। जिससे दाधा घ्वदाप्, तरप्-तमपौ घः इन घु, घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूप का ग्रहण न हो।

अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करना भी व्यर्थ है। आप पूछेंगे कि फिर घु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण क्यों नहीं होता तो उसका उत्तर है—वचनप्रमाण से। शब्दसंज्ञा के वचन-सामर्थ्य से वहां स्वरूपग्रहण नहीं होता। संज्ञियों का ग्रहण होता है।

शब्दसंज्ञाओं में शब्दसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से तो संज्ञियों का ग्रहण हो जावे किन्तु स्वरूपग्रहण से संज्ञा का भी ग्रहण हो जावे जो कि अनिष्ट

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न शब्द-संज्ञायां स्वरूपविधिर्भवतीति। यदयं ष्णान्ता षडिति षकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञां शास्ति। इतरथा हि वचनप्रामाण्याच्च नकारान्तायाः संख्यायाः सम्प्रत्ययः स्यात्। स्वरूपग्रहणाच्च षकारान्तायाः।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। नहि षकारान्ता संज्ञा। का तर्हि। डकारान्ता।

असिद्धं जश्त्वं, तस्यासिद्धत्वात् षकारान्ता।

मन्त्राद्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यम्। मन्त्रे ऋचि यजुषीति यदुच्यते तन्मन्त्रशब्दे ऋक्शब्दे यजुःशब्दे च मा भूत्।

है उसे रोकने के लिये अशब्दसंज्ञा लगाना अत्यावश्यक होगा। उसके सामर्थ्य से संज्ञाओं में स्वरूपग्रहण रुक जायगा। अतः सूत्रारम्भ अर्थवान् है।

ऐसा नहीं हो सकता। आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि घु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण नहीं होता। यह जो ष्णान्ता षट् सूत्र में षकारान्त संख्या षष् शब्द की षट् संज्ञा की है उससे यह बात सिद्ध होती है। अन्यथा संज्ञा वचन सामर्थ्य से तो नकारान्त संज्ञी का ग्रहण हो जायगा और स्वरूप ग्रहण से षकारान्त षष् संज्ञा का। उस अवस्था में षकार-ग्रहण व्यर्थ है। नान्ता षट् इतना सूत्र ही पर्याप्त है।

यह कोई ज्ञापक नहीं। षकारान्त कोई संज्ञा नहीं है। कौन है? डकारान्त है। षट् संज्ञा है, षष् नहीं है। संज्ञी षष् है। उसका ग्रहण षट्संज्ञा से नहीं हो सकता।

षट् संज्ञा में षष् को झलां जशोन्ते से हुआ जश्त्व असिद्ध है। उस के असिद्ध होने से षष् ही दीखेगा तो षष् का स्वरूपग्रहण षष् संज्ञा से संभव है। इस लिये षकारग्रहण व्यर्थ होकर इसी बात का ज्ञापक रहा कि शब्द संज्ञा में स्वरूपग्रहण नहीं होता।

अच्छा तो मन्त्र आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण रोकने के लिये अशब्द संज्ञा ग्रहण करना चाहिये। मन्त्रे ऋचि यजुषि आदि शब्दों से जो संज्ञायें सूत्रों में कार्यार्थ उपात्त हैं वहां मन्त्रादि शब्द स्वरूप में कार्य न हो अपि तु उनके वाच्य अर्थ में हो।

मन्त्राद्यर्थमिति चेच्छास्त्रसामर्थ्यादर्थगतेः सिद्धम् ।

मन्त्राद्यर्थमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । शास्त्रस्य सामर्थ्यादर्थस्य गतिर्भविष्यति । मन्त्रे ऋचि यजुषीति यदुच्यते मन्त्रशब्दे ऋक् शब्दे यजुःशब्दे च तस्य कार्यस्य संभवो नास्तीति कृत्वा मन्त्रादिसहचारितो योऽर्थस्तस्य गतिर्भविष्यति साहचर्यात् ।

सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् ।

सिन्निर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं तद्विशेषाणां ग्रहणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । वृक्षाद्यर्थम् । विभाषा वृक्षमृगेति । प्लक्षन्यग्रोधं प्लक्षन्यग्रोधाः ।

मन्त्र आदि संज्ञाओं के लिये भी अशब्द संज्ञा की आवश्यकता नहीं । क्योंकि शास्त्र के सामर्थ्य से वहां मन्त्र आदि शब्द[1] न लेकर उनके सहचरित अर्थ[2] लिये जायेंगे । मन्त्र आदि शब्द परे रहते विधीयमान कार्य का असंभव है इस लिये मन्त्रादिसहचरित अर्थ लेकर उसमें कार्य हो जायगा ।[3]

सित् निर्देश करना चाहिये । वृक्षस् मृगस् इस प्रकार सकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहां शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होकर उसके विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । किस लिये ? वृक्ष आदि के लिये । विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशु० यह सूत्र उदाहरण है । यहां वृक्ष मृग

---

१. ऋचितु नुघ०, मन्त्रे घसह्वरणश०, देवसुम्नयोर्यजुषि इत्यादि स्थलों में ऋच् आदि शब्द परे होने पर शास्त्र की प्रवृत्ति का सम्भव ही नहीं, अतः वहाँ ऋच् आदि का स्वरूप ग्रहण नहीं होगा ।

२. शब्द का अर्थ के साथ ऐसा साहचर्य है कि शब्द से अनुविद्ध (ओत प्रोत) अर्थ का बोध होता है, शब्द से पृथक् अर्थ का कहीं नहीं । अतएव भगवान् भर्तृहरि वाक्यपदीय में कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

३. इस प्रकार स्वं रूपं शब्दस्य के साथ ही अशब्दसंज्ञा की भी आवश्यकता नहीं है यह कह कर भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम्।

पिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यम्। पर्यायवचनस्य च तद्विशेषाणां च ग्रहणं भवति स्वस्य च रूपस्येति। किं प्रयोजनम्। स्वाद्यर्थम्। 'स्वे पुषः'। स्वपोषं पुष्यति। रैपोषम्। धनपोषम्। अश्वपोषम्। गोपोषम्।

जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम्।

जिन्निर्देशः। कर्तव्यः। ततो वक्तव्यम्। पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति। किं प्रयोजनम्। राजाद्यर्थम्। सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा। इनसभम्। ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति। राजसभा। तद्विशेषाणां च न भवति। पुष्यमित्रसभा। चन्द्रगुप्तसभा।

आदि शब्दों का ग्रहण न होकर वृक्षादि के विशेषवाचियों का ग्रहण होता है। जैसे—प्लक्षन्यग्रोधं प्लक्षन्यग्रोधाः। (प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्च) प्लक्ष न्यग्रोध ये वृक्षविशेष हैं इनके द्वन्द्व में विकल्प से एकवद्भाव हो जाता है।

पित् निर्देश करना चाहिये। स्वप् इस प्रकार पकार लगाना चाहिये। और फिर कहना चाहिये कि यहां उसके पर्यायवाची विशेषवाची तथा उसके स्वरूप का भी ग्रहण होता है। किस लिये। स्व आदि के लिये। स्वे पुषः यह सूत्र उदाहरण है। यहां स्व शब्द के स्वरूपग्रहण के साथ उसके पर्यायवाची तथा विशेषवाची शब्दों के उपपद होने पर भी पुष् धातु से णमुल् हो जाता है। स्वपोषम् रैपोषम् धनपोषम् इत्यादि।

जित् निर्देश करना चाहिये। राजन् ज् इस प्रकार जकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहां उसके पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है। किस लिये। राजादि के लिये। सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा यह सूत्र उदाहरण है। यहां राजन् शब्द के पर्यायवाचियों का ग्रहण होकर इनसभम्, ईश्वरसभम् इस सभाशब्दान्त षष्ठी तत्पुरुष समास में नपुंसकलिङ्ग हो जाता है। राजन् शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होने से राजसभा यहां नपुंसकलिङ्ग नहीं होता। इसी प्रकार राजन् के विशेषवाचियों का ग्रहण न होने से पुष्यमित्रसभा चन्द्रगुप्तसभा यहां भी नपुंसकलिङ्ग नहीं होता।

झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यार्थम् ।

झिन्निर्देशः। कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं तस्य च ग्रहणं भवति तद्विशेषाणां चेति। किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति'। मात्स्यिकः। तद्विशेषाणाम् शाफरिकः। शाकुलिकः। पर्याय-वचनानां न भवति। अजिह्मान् हन्ति। अनिमिषान् हन्ति। अस्यै-कस्य पर्यायवचनस्येष्यते—मीनान् हन्ति मैनिकः।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१।१।६९॥

अप्रत्यय इति किमर्थम् ?

सनाशंसभिक्ष उः। अ साम्प्रतिके।

अत्यल्पमिदमुच्यते अप्रत्यय इति। अप्रत्ययादेशटित्किन्मितः इति वक्तव्यम्। प्रत्यये—उदाहृतम्। आदेशे—इदम इश्। इतः इह। टिति—लविता लवितुम्। किति—बभूव। मिति—हे अनड्वन्।

झित् निर्देश करना चाहिये। मत्स्य झ इस प्रकार झकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहां उसके स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होता है। किस लिये ? मत्स्य आदि के लिये। पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति यह सूत्र उदाहरण है। यहां मत्स्य के स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होकर मात्स्यिकः शाफरिकः शाकुलिकः में ठक् प्रत्यय हो जाता है। पर्यायवाचियों का ग्रहण न होने से अजिह्मान् हन्ति अनिमिषान् हन्ति यहां ठक् न होकर वाक्य ही रह जाता है। अजिह्म अनिमिष ये मत्स्य के पर्याय हैं। इस एक पर्यायवाची मीन शब्द से तो ठक् प्रत्यय इष्ट है। मीनान् हन्ति मैनिकः यहां ठक् हो जाता है।

अप्रत्यय ग्रहण किस लिये किया है ? क्या जो केवल प्रत्ययसंज्ञक अण् हैं उसका ही सवर्णग्रहण में निषेध है या जो प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः इस प्रकार प्रत्यय शब्द को यौगिक मान कर कोई भी विधीयमान अण् हैं उनका भी सवर्णग्रहण में निषेध है ?

सनाशंसभिक्ष उः, अ साम्प्रतिके इन सूत्रों से विधीयमान उ और अ ये प्रत्ययसंज्ञक अण् हैं इनमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाता है तो दीर्घ प्लुत उ अ नहीं होते।

अप्रत्ययः यह तो बहुत थोड़ा कहा गया है। इससे केवल प्रत्यय में ही

टितः परिहारः—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न रिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति। यदयं ग्रहोऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। नियमार्थमेतत् स्यात्। ग्रहोऽलिटि दीर्घ एवेति।

यत्तर्हि 'वृतो वे'ति विभाषां शास्ति। सर्वेषामेष परिहारः—भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति। प्रत्यये भूयान्

सवर्णग्रहण का निषेध होता है। इसकी जगह अप्रत्ययादेशटित्किन्मितः ऐसा कहना चाहिये। उससे प्रत्यय आदेश टित् कित् मित् इन सब में भी सवर्णग्रहण का निषेध हो जायगा। प्रत्यय में तो अभी सनाशंस० यह उदाहरण दिये हैं। आदेश में—इदम इश् सूत्र का इतः, इह यह उदाहरण हैं। यहां इदम् के स्थान में इश् आदेश हुआ है उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से त्रिमात्रिक इकार नहीं होता। टित् में लविता लवितुम् (लूञ्-इट् तृच्, तुमुन्) यहां लू धातु से तृच् तुमुन् को इडागम हुआ है। वह टित् है। उसमें सवर्ण-ग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घ प्लुत इकार नहीं होता। कित् में—बभूव। यहां भू धातु से लिट् में भुवो वुग्लुङ्लिटोः से वुक् का आगम हुआ है। वह कित् है। उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से सानुनासिक वकार नहीं होता। मित् में – हे अनड्वन्! यहां अनडुह् शब्द से सम्बोधन में अम् सम्बुद्धौ से अम् हुआ है। वह मित् है। उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घ प्लुत अकार नहीं होता।

प्रत्यय के साथ आदेश टित् कित् मित् में भी जो आपने सवर्णग्रहण का निषेध कहा है उनमें टित् का तो यह समाधान है कि आचार्य के व्यवहार से टित् अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करेगा। यह जो ग्रहोऽलिटि दीर्घः सूत्र से इट् को दीर्घ विधान किया है उससे यह बात सिद्ध होती है। अन्यथा टित् इट् का आगम अपने सवर्णी दीर्घ का ग्रहण कर ही लेता तो दीर्घविधान व्यर्थ है।

यह कोई ज्ञापक नहीं। ग्रहोऽलिटि० में दीर्घ विधान तो नियमार्थ भी हो सकता है कि ग्रह् से परे लिट्भिन्न इट् को दीर्घ ही हो। ह्रस्व या प्लुत न हो।

ग्रहोऽलिटि० सूत्र न सही। उससे आगे आने वाले वृतो वा सूत्र में

---

१. इश् के विशेषविहित होने से त्यदाद्यत्व का बाध होकर त्रिमात्रिक इदम् के स्थान में त्रिमात्रिक आदेश प्राप्त होता है।

परिहारः—अनभिधानात् प्रत्ययः सवर्णान् न ग्रहीष्यति। यान् हि प्रत्ययः सवर्णान् गृह्णीयात् न तैरर्थस्याभिधानं स्यात्। अनभिधानान्न भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। इह केचित् प्रतीयन्ते केचित् प्रत्याय्यन्ते। ह्रस्वाः प्रतीयन्ते दीर्घाः प्रत्याय्यन्ते। यावच्च ब्रूते प्रत्याय्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति।

जो इट् को दीर्घ विकल्प कहा है वह इस बात का ज्ञापक है कि इट् अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करता। अन्यथा सवर्णग्रहण होकर ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार का इट् स्वयमेव सिद्ध हो जाता तो विकल्प विधान व्यर्थ है।

अत्र न केवल टित् का अपितु प्रत्यय आदेश कित् मित् सभी का यह समाधान सुनिये कि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न इस परिभाषा से प्रत्यय आदि में सवर्णग्रहण नहीं होगा। इस परिभाषा का अर्थ है जो भाव्यमान अर्थात् विधीयमान है उससे सवर्णियों का ग्रहण नहीं हुआ करता। प्रत्यय आदेश आदि सभी विधीयमान हैं भाव्यमान हैं इस लिये इनमें सवर्णग्रहण न होगा। प्रत्यय में तो विशेष समाधान यह भी है कि प्रत्यय अनभिधान से सवर्णग्रहण नहीं करेगा। यदि प्रत्यय सवर्णग्रहण करे तो वह प्रत्यय ही (प्रत्यायक) न रहे। प्रत्यय अपने जिन सवर्णियों का ग्रहण करेगा उनसे उस अर्थ का अभिधान एवं बोध नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यय यह अन्वर्थ संज्ञा है। प्रतियन्ति अर्थं येन स प्रत्ययः। जिससे अर्थ का सम्प्रत्यय हो ज्ञान हो उसे प्रत्यय कहते हैं। सनाशंसभिक्ष उः में उ प्रत्यय जिस अर्थ को कहता है उसका सवर्णी दीर्घ प्लुत उकार उस अर्थ को नहीं कह सकता। इस लिये प्रत्ययत्व विहत हो जाने के कारण प्रत्यय अपने सवर्ण का ग्रहण नहीं करेगा तो प्रत्यय में सवर्णग्रहण निषेध के लिये सूत्र में अप्रत्यय ग्रहण सर्वथा अनावश्यक है।

अच्छा तो अप्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि यहां कुछ तो प्रतीयमान हैं। साक्षादुच्चारित हैं। कुछ प्रत्याय्यमान हैं। साक्षादुच्चारित वर्ण द्वारा गृहीत किये जाते हैं। अ इ उ आदि ह्रस्व प्रतीयमान हैं। आ ई ऊ आदि दीर्घ प्रत्याय्यमान हैं। जितना अर्थ प्रत्याय्यमान से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता इस वचन का है उतना ही अप्रत्ययः यह कहने से अवगत होता है। अर्थात् अप्रत्याय्यमानः न कह कर अप्रत्ययः कह दिया है। इस अवस्था में अप्रत्याय्यमान और अप्रत्यय समानार्थक हैं। अतः जो प्रतीयमान नहीं बल्कि प्रत्याय्यमान हैं उनमें सवर्ण का ग्रहण नहीं होता ऐसा सूत्रार्थ हो जायगा। यह अप्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन हो सकता है।

कं पुनर्दीर्घः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयात् ?

ह्रस्वम् ।

यत्नाधिक्यान्न ग्रहीष्यति ।

प्लुतं तर्हि गृह्णीयात् ।

अनण्त्वान्न ग्रहीष्यति ।

एवं तर्हि सिद्धे सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति ।

प्रत्याख्यमान दीर्घ अपने किस सवर्णी को ग्रहण करेगा ।

ह्रस्व को ।

द्विमात्रारूप यत्न के आधिक्य से वह एकमात्रिक ह्रस्व को ग्रहण नहीं कर सकता ।

तो फिर प्लुत को ग्रहण कर लेवे ।

अण् न होने से प्लुत को भी ग्रहण नहीं कर सकता । अण् प्रत्याहार में ह्रस्व अकार ही पठित है, दीर्घ नहीं । इस लिये दीर्घ अकार अण् न होने से प्लुत को ग्रहण नहीं करेगा ।

तब तो सिद्ध होने पर जो अप्रत्ययग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा होती है । अर्थात् प्रत्यय शब्द यहां रूढि न मान कर प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः इस प्रकार यौगिक मानेंगे तो जो अप्रत्यय है अविधीयमान है वह अण् अपने सवर्ण का ग्रहण करेगा विधीयमान नहीं करेगा । उससे भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा स्वतः सिद्ध हो जाती है ।[1]

---

१. यह परिभाषा अण् के सवर्णग्रहण में ही भाव्यमान का निषेध करती है । उदित् के सवर्णग्रहण में यह निषेध नहीं करेगी तो कुहोश्चुः चोः कुः यहां विधीयमान चुत्व कुत्व आदि में सवर्ण का ग्रहण होता ही है । इसी लिये कुछ लोग भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति इस प्रकार इस परिभाषा का स्वरूप मान कर पढ़ते हैं । इसकी अपवाद-रूप भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति यह परिभाषा है जो दिव उत् में उकार के तपर करने से ज्ञापित होती है ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

अण् सवर्णस्येति स्वरानुनासिक्यकालभेदात् ।

अण् सवर्णस्येत्युच्यते। स्वरभेदादनुनासिकभेदात् कालभेदाच्च अण् सवर्णान्न गृह्णीयात्। इष्यते च ग्रहणं स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमिदमुच्यते।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णाग्रहणमनुपदेशात्।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति। अकः सवर्णे दीर्घ इति। किं कारणम्। अनुपदेशात्। यथाजातीयकानां संज्ञा कृता तथाजातीयकानां सम्प्रत्यायिका स्यात्। ह्रस्वानां च क्रियते ह्रस्वानामेव सम्प्रत्यायिका स्यात् दीर्घाणां न स्यात्।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?[1]

अण् सवर्णस्य० यह सूत्र इस लिये बनाया है कि उदात्तादि स्वरभेद अनुनासिकभेद तथा मात्रा आदि काल भेद से अण् अपने सवर्णियों को ग्रहण नहीं कर सकता। इष्ट है कि वह अपने सवर्णियों को ग्रहण करे। यह बात विना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये यह सूत्र बनाया है।

सूत्र का यह प्रयोजन है तो, किंतु अक् आदि प्रत्याहारों के ग्रहण में प्रतीयमान इकारादि के द्वारा अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता। क्योंकि अक् आदि में इकारादि का अनुपदेश है। साक्षात् उच्चारण नहीं है। अकः सवर्णे दीर्घः में साक्षादुच्चारित अकार अण् तो अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों को ग्रहण कर लेवे किन्तु अक् में साक्षात् अनुपदिष्ट किन्तु प्रतीयमान इकार उकारादि अण् अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों का ग्रहण नहीं कर सकते। प्रत्याहारग्रहणे सवर्णाग्रहण० इस वार्तिक का यह भाव भी है कि अक् में अनुपदिष्ट ईकार का अक् ग्रहण से ग्रहण नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वर्णमाला या प्रत्याहार में

---

१. यह केवल अण् के विषय में प्रश्न है। उदित् के विषय में नहीं। अण् के सवर्णग्रहण के सम्बन्ध में ही विचार करना है। उदित् में तो सवर्णग्रहण अभीष्ट तथा वाचनिक सिद्ध माना है।

ननु च ह्रस्वाः प्रतीयमाना दीर्घान् संप्रत्याययिष्यन्ति ।

ह्रस्वसम्प्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणशब्दसम्प्रत्यायकत्वाच्छब्दस्यावचनम् ।

ह्रस्वसंप्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः । तद्यथा ऋगित्युक्ते संपाठमात्रं गम्यते ।

एवं तर्हि वर्णपाठ एवोपदेशः करिष्यते ।[1]

वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

वर्णपाठक्रमे उपदेश इति चेद् अवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

दीर्घ प्लुत ईकार अनुपदिष्ट हैं । प्रत्याहार संज्ञा जिस प्रकार के वर्णों की की गई है वह उसी प्रकार के वर्णों की ग्राहिका या बोधिका होगी । ह्रस्वों की संज्ञा की गई है तो अक् से ह्रस्व इकार ही गृहीत होना चाहिये, दीर्घ प्लुत नहीं

अकः सवर्णे॰ में प्रतीयमान ह्रस्व इकारादि अपने सवर्णी दीर्घ प्लुत ईकारादि का सम्प्रत्यायन करा देंगे । अक् से ह्रस्व इकार प्रतीत होकर अपने सवर्णी दीर्घ प्लुत ईकार को भी प्रतीत करा देगा ।

अक् में प्रतीयमान ह्रस्व इकारादि अपने सवर्णियों का प्रत्यायन नहीं करा सकते । क्योंकि साक्षादुच्चार्यमाण वर्ण ही अपने सवर्णी का प्रत्यायक होता है । प्रतीयमान नहीं । जैसे ऋक् ऐसा कहने पर केवल ऋक् शब्द से संहिता-पाठ मात्र ही गम्यमान होता है और उससे अग्निमीळे इत्यादि मन्त्र संनिवेशविशिष्ट ऋचा नहीं जानी जाती ।

अच्छा तो वर्णमाला में ही ह्रस्व अकारादि के साथ दीर्घ अकारादि का भी उपदेश कर देंगे । उपदेश से यहां तात्पर्य प्रत्यायन से है । ह्रस्व अकारादि अपने सवर्णग्रहण सहित प्रत्याहार में उपदिष्ट समझे जायेंगे ।

यदि वर्णमाला में ही सवर्णग्रहण सहित अकारादि वर्णों का उपदेश मानेंगे तो वह बनता नहीं । क्योंकि सवर्णग्रहण कराने वाले इस सूत्र की निष्पत्ति अवरकाल है । प्रत्याहारसंज्ञा के बाद सवर्णग्रहण होने से प्रत्याहार में

---

१. करिष्यते=व्याख्यास्यते ।

किं परा सूत्रात् क्रियते इत्यतोऽवरकाला ।

नेत्याह । सर्वथावरकालैव । वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल 'आदिरन्त्येन सहेते'ति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा । सवर्णसंज्ञोत्तरकाल'मणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' इति । सैषाऽवरकाला उपदेशोत्तरकाला वर्णानामुत्पत्तौ निमित्तत्वाय कल्पिष्यते इत्येतन्न ।

तस्मादुपदेशः ।

कर्तव्यः ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । 'अस्य च्वौ' । 'यस्येति चे'ति । किं कारणम् । अनण्त्वात् । नह्येतेऽणो येऽनुवृत्तौ । के तर्हि ? येऽक्षरसमाम्नाये उपदिश्यन्ते ।

ही सवर्णग्रहण कैसे होगा। प्रत्याहार विधायक सूत्र से यह सवर्णग्रहणपरिभाषा-शास्त्र अथवा ग्रहणकशास्त्र पश्चात् निष्पन्न होता है। इस लिये प्रत्याहार में इस सूत्र से सवर्णग्रहण नहीं हो सकता।

क्या प्रत्याहार सूत्रों के बाद इसका क्रम है इस लिये यह सूत्र अवरकाल है ?

नहीं, सर्वथा यह सूत्र अवरकाल ही है। न केवल सूत्र पाठ के क्रम से अपितु आर्थिक क्रम से भी इसकी उत्पत्ति बाद में है। पहले वर्णों का उपदेश होता है। उपदेश के बाद इत्संज्ञा। इत्संज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहेता से प्रत्याहार। प्रत्याहार के बाद सवर्णसंज्ञा। सवर्णसंज्ञा के बाद कहीं जा कर अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण होता है। इस प्रकार उक्त वाक्यपरिसमाप्ति से सब के बाद में होने वाला यह ग्रहणकशास्त्र वर्णों के उपदेशकाल में ही सवर्णग्रहण कराने में निमित्त बन जायगा ऐसा नहीं हो सकता। इस लिये प्रत्याहार में ही ह्रस्व अकारादि के साथ दीर्घ प्लुत अकारादि भी उपदिष्ट कर देने चाहियें। ह्रस्व अकारादि का पाठ दीर्घप्लुतों का उपलक्षक होगा। उससे दीर्घप्लुत भी उपदिष्ट समझे जायेंगे तो अक् में उच्चार्यमाण अकार से आकार के समान प्रतीयमान इकार से ईकार का भी ग्रहण स्वतः हो जायगा तो प्रत्याहारों के लिये इस ग्रहणक शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं। इसके साथ ही—

अनुवृत्ति निर्देशों में भी इस सूत्र से इष्ट सिद्धि नहीं होती। शास्त्रप्रवृत्ति

एवं तर्हि अनणुत्वादनुवृत्तौ न, अनुपदेशाच्च प्रत्याहारे न। उच्यते चेदमण् सवर्णान् गृह्णातीति तत्र वचनाद् भविष्यति।

वचनाद् यत्र तन्नास्ति[1]।

नेदं वचनाल्लभ्यम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्! किम्। य एते प्रत्याहाराणामादितो वर्णास्तैः सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्।

एवं तर्हि।

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात्।

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम्। कुतः। आकृतिग्रहणात्। अवर्णा-

के अनुकूल निर्देश को अनुवृत्ति निर्देश कहते हैं। जैसे अस्य च्वौ। यस्येति च। यहां जो अकार इकार हैं इन में ण् क् ङ् आदि प्रत्याहार चिह्न न होने से ये अण् नहीं कहे जा सकते। अण् न होने से अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण नहीं प्राप्त होता। अणादि प्रत्याहारों में तो प्रतीयमानों के अनुपदिष्ट होने से वहां इसकी प्रवृत्ति नहीं होती और अस्य च्वौ आद्गुणः इत्यादि अनुवृत्ति निर्देशों में अकारादि के अण् न होने से इसकी प्रवृत्ति नहीं होती इस प्रकार यह सूत्र दोनों ओर से गया। ये अण् नहीं हैं जो अस्य च्वौ यस्येति च आदि अनुवृत्ति निर्देशों में हैं। क्योंकि इनमें प्रत्याहार का कोई चिह्न नहीं है जिससे हम इन्हें अण् समझें। अण् कौन हैं? जो अक्षरसमाम्नाय अथवा वर्णमाला में प्रत्याहार संज्ञक पढ़े हैं।

अच्छा तो अनुवृत्ति निर्देशों में अण् न होने से प्रत्याहारों में अनुपदिष्ट होने से यदि यह सूत्र नहीं लगेगा तो 'अण् सवर्णों का ग्रहण करता है, यह वचन व्यर्थ हो जायगा। उस अवस्था में वचन सामर्थ्य से अस्य च्वौ आदि के अकार को भी अण् मान कर सवर्णग्रहण कर लिया जायगा।

वचन सामर्थ्य से यह बात नहीं हो सकती। क्योंकि इस वचन का अन्य प्रयोजन है। क्या? अकः सवर्णे०, इको यणचि इत्यादि अक इक् प्रत्याहारों में जो आदि के अकार इकारादि वर्ण हैं वे अण् होने से अपने सवर्ण का ग्रहण कर सकें। एतदर्थ यह सूत्र रह सकता है।

यह तो अति लघु प्रयोजन है। इससे तो अच्छा यही है कि व्यक्तिपक्ष

---

१. वचन सामर्थ्य से वहीं सवर्णग्रहण होगा जहाँ अण् भी नहीं है और साक्षात् उच्चारण भी नहीं है, अक् अच् में तो दोनों हैं। ऐसा भाष्य का अक्षरार्थ है।

कृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः। तथोवर्णाकृतिः।

ननु चान्या आकृतिरकारस्य। अन्या चाऽऽकारस्य।

अनन्यत्वाच्च।

अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः।

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्त्वं करोति। तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्त्वं करोति। यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्त्वं करोति। अपर आह—

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्त्वम्।

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम्। आकृतिग्रहणादनन्यत्त्वं भविष्यति। अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्त्वकरः।

यो ह्येनकान्तेन भेदो नासावन्यत्त्वं करोति। तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्त्वं करोति। यस्तु खलु गोश्च अश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्त्वं करोति।

को छोड़ कर आकृतिपक्ष एवं जाति पक्ष मान लिया जाय। उस पक्ष में इस सूत्र की यत्किंचित् भी आवश्यकता नहीं होगी। सवर्णग्रहण करने के लिये अण्ग्रहण वाला यह अणुदित्सूत्र अपरिभाष्य है। अवक्तव्य है। यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि आकृति पक्ष को मान लेंगे। आकृति का अर्थ एकाकारानुगत जाति है। सर्वत्र अवर्ण की जाति का उपदेश मानेंगे वह अत्वजात्याक्रान्त अवर्ण मात्र को ग्रहण कर लेगी। ह्रस्व के साथ दीर्घप्लुत आदि सब का ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार इवर्ण उवर्ण की आकृति का ग्रहण होने से सभी प्रकार के इ, उ का ग्रहण हो जायगा।

जब अकार की आकृति (आकार) अन्य है और आकार की अन्य है तो अकार से आकार का ग्रहण कैसे होगा।

अकार और आकार की आकृति अन्य नहीं है। एक ही है। जो अनियम से भेद है उससे अन्यता नहीं होती। अ और आ के श्रवण लेखन में मात्रा भेद होने पर भी मूलतः अत्व जाति में कोई भेद नहीं है। अनेकान्त=

तद्वच्च हल्ग्रहणेषु ।

एवं च कृत्वा हल्ग्रहणेषु सिद्धं भवति। झलो झलि । अवात्ताम्। अवात्तम्। अवात्त । यत्रैतन्नास्ति-अण् सवर्णान् गृह्णातीति।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर ।

इत्युक्तार्थम् ।

द्रुतविलम्बितयोश्चानुपदेशात् ।

द्रुतविलम्बितयोश्चानुपदेशात् मन्यामहे आकृतिग्रहणात् सिद्धमिति। यदयं कस्यां चिद् वृत्तौ वर्णानुपदिश्य सर्वत्र कृती भवति ।

अनियत[1] । अवयवाननुगत जो भेद है वह अनन्यत्वकर=अभेद कारक होता है। जो काली गौ या सफेद गौ का भेद है वह दोनों गौओं में भेद नहीं करता किन्तु जो गौ और घोड़े का भेद है वह दोनों में भेद करता है। दूसरे आचार्य इसी बात को यूं कहते हैं—सवर्णग्रहण के लिये अणुदित्सूत्र अवक्तव्य है। क्योंकि आकृति पक्ष से वर्णों में अनन्यता एवं अभिन्नता हो जायगी। अकार और आकार की अत्व जाति एक ही है। आगे की व्याख्या पूर्व के समान है।

आकृति या जाति पक्ष को मान कर ही हल् ग्रहणों में भी कार्य सिद्ध किया जाता है। जहां अण् न होने से अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे झलो झलि का उदाहरण अवात्ताम् अवात्तम् अवात्त हैं। (वस्-सिच्-लुङ् ताम् , तम् , त) यहां वस् धातु से लुङ् में सिच् परे रहते सः स्यार्धधातुके से वस् के सकार का तकार हुआ है। दो तकारों के मध्य में स्थित सिच् के सकार का झलो झलि से लोप करने में यह अड़चन आती है कि झल् से परे झल् नहीं है। क्योंकि झल् प्रत्याहार में एक ही तकार पढ़ा है। दूसरे तकार को भी आकृतिपक्ष से झल् मानकर झलो झलि से लोप सिद्ध हो जाता है। भेद अभेद ही होता है यह पहले कह चुके हैं।

आचार्य द्वारा द्रुत और विलम्बित वृत्तियों में वर्णों का उपदेश न करने से भी मध्यम वृत्ति में वर्णों का उपदेश करके सर्वत्र कृतार्थ हो जाते हैं उसका कारण यह आकृतिग्रहण ही है।

---

१. जहाँ केवल भेद की ही प्रतीति न हो किन्तु अभेद की भी हो।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

वृत्तिपृथक्त्वं तु नोपपद्यते ।

वृत्तेः पृथक्त्वं नोपपद्यते ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशात् सिद्धम् ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । अतो भिस ऐस् इति ।

तपरस्तत्कालस्य ॥१।१।७०॥

अयुक्तोऽयं निर्देशस्तत्कालस्येति । तदित्यनेन कालः प्रति निर्दिश्यते । तदित्ययं च वर्णः । तत्रायुक्तं वर्णस्य कालेन सह सामानाधिकरण्यम् ।

आकृति पक्ष का यह प्रयोजन तो ठीक है किन्तु उस पक्ष को मानने पर वृत्तियों की पृथकता नहीं बनती । मात्रा भेद से होने वाली ह्रस्व दीर्घ प्लुतादि वृत्तियों का भेद तो आवश्यक है : वह प्रयोगसाधन में आपको भी अभीष्ट है । परन्तु आकृति पक्ष को मानने पर वह भेद सिद्ध नहीं होता । ह्रस्व अकार से परे जो कार्य विहित है वह आकृति पक्ष में दीर्घ अकार से परे भी प्राप्त होता उससे खट्वाभिः यहां खट्वा शब्द के आकार से परे भिस् को ऐस् हो जाना चाहिये ।

ह्रस्व दीर्घादि वृत्तियों के भेद के लिये वहां तपरनिर्देश कर देंगे । तपर होने से तपरस्तत्कालस्य के नियम से तत्काल का ग्रहण हो जायगा तो आकृति पक्ष से प्राप्त दोष न रहेगा । वैसे तपरनिर्देश करने की आवश्यकता भी नहीं है । जहां तपर अभीष्ट है वहां सूत्र से पहले से किया हुआ ही है । जैसे—अतो भिस एस् यहां अतः में तपर करने से ह्रस्व वृत्ति वाला अकार ही लिया जायगा । दीर्घ वृत्ति वाला न लिया जायगा तो खट्वाभिः में भिस् को ऐस् न होगा ।

तत्कालस्य यह निर्देश ठीक नहीं है । क्योंकि तद् शब्द से आप काल को समानाधिकरण रूप से विशेषित करते हैं । स कालो यस्य स तत्कालः । वह वर्ण है काल जिसका यहां तद् शब्द वर्ण का परामर्शक, बोधक है । उसमें वर्ण का काल के साथ सामानाधिरण्य नहीं बनता । वर्ण काल कैसे हो सकता है ?

कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ।

तत्कालकालस्येति ।

किमिदं तत्कालकालस्येति ।

तस्य कालः तत्कालः । तत्कालः कालो यस्येति सोऽयं तत्कालकालः तत्कालकालस्येति ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य सोऽयमुष्ट्रमुखः । खरमुखः । एवं तत्कालकालः तत्कालः तत्कालस्यति । अथवा साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति । कालसहचरितो वर्णोपि काल एव ।

किं पुनरिदं नियमार्थमाहोस्वित् प्रापकम् ?

कथं च नियमार्थं स्यात् कथं वा प्रापकम् ।

तो फिर कैसा निर्देश करना चाहिये ।

तत्कालकालस्य ऐसा ।

यह तत्कालकालस्य क्या है ?

उस वर्ण का जो काल है । वह तत्काल हुआ । फिर उस वर्ण के काल के समान है काल जिसका वह तत्कालकाल बना । यहां काल के समान काल हो सकता है इस लिये यह निर्देश ठीक है ।

तो फिर तत्कालकालस्य ऐसा निर्देश कर दिया जाय । हम तो समझते हैं कोई आवश्यकता नहीं । यहां उत्तरपद का लोप हुआ समझना चाहिये । जैसे—उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः यहां सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः इस वार्तिक से बहुव्रीहि समास होकर उत्तरपद मुख शब्द का लोप होता है वैसे यहां तत्काल के उत्तरपद काल शब्द का लोप हो गया है । दूसरे काल शब्द का अर्थ गम्यमान होने से उसका अप्रयोग ही यहां लोप समझिये । अथवा काल के साहचर्य से वर्ण को भी उपचार से काल शब्द का व्यपदेश हो जायगा । ताच्छब्द्यम्=तच्छब्दता । उस शब्द का प्रयोग ।

क्या यह सूत्र नियमार्थ है या प्रापक है अर्थात् विध्यर्थ है ।

कैसे यह नियमार्थ हो सकता है और कैसे विध्यर्थ ?

यद्यत्राण्ग्रहणमनुवर्तते ततो नियमार्थम्। अथ निवृत्तं ततः प्रापकम्।

कश्चात्र विशेषः।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नाग्रहणम्।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नानां ग्रहणं न प्राप्नोति। केषाम्। उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकानाम्।

अस्तु तर्हि प्रापकम्।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतप्रतिषेधः।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः।

यदि इसमें पूर्व सूत्र से अण् ग्रहण की अनुवृत्ति लाते हैं तो नियमार्थ है। और यदि अण् की अनुवृत्ति न ला कर अण् अनण् सभी तपरों में इसकी प्रवृत्ति मानते हैं तो विध्यर्थ है।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है?

यदि यह सूत्र नियमार्थ है तो इसकी प्रवृत्ति तपर अणों में ही होगी। तपर अनणों में न होगी तो वृद्धिरादैच् में आत् यह तपर अनण् है। उसमें तत्काल का नियम न होगा तो उदात्त अनुदात्त स्वरित अनुनासिक भेद भिन्न छः प्रकार के सवर्णी आकारों की वृद्धि संज्ञा न हो सकेगी। केवल किसी एक दीर्घ आकार की ही वृद्धि संज्ञा होगी। अणुदित्सूत्र तो अण् में ही सवर्णग्रहण करने से आत् इस अनण् में लग नहीं सकता। इस प्रकार नियमार्थ मानने पर दीर्घ के ग्रहण में स्वर भिन्नों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता।

तो फिर इसे प्रापक या विध्यर्थ मान लीजिये।

यदि इस सूत्र को विध्यर्थ मानते हैं तो इसकी प्रवृत्ति अण् अनण् सभी तपरों में होगी। तब ह्रस्व तपर अणों में अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत का ग्रहण भी प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा। जैसे अतो भिस ऐस् में ह्रस्व तपर अण् अतः में अकार है। उसमें सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत अकार से परे भी भिस् को ऐस् प्राप्त होगा। तपरस्तत्कालस्य यह सूत्र तो वहां तत्काल का नियम कर नहीं सकता क्योंकि यह दीर्घ अनण् तपरों में लगने से चरितार्थ है।

न वक्तव्यः ।

विप्रतिषेधात् सिद्धम् ।

अण् सवर्णान् गृह्णातीत्येतदस्तु । तपरस्तत्कालस्य वा । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन । अण् सवर्णान् गृह्णातीत्यस्यावकाशः ह्रस्वा अतपरा अणः । तपरस्तत्कालस्येत्यस्यावकाशः दीर्घास्तपराः । ह्रस्वेषु तपरेषूभयं प्राप्नोति । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन ।

यद्येवं ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्[1] ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यं, तथा मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः, तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः । किं पुनः कारणं न सिध्यति । कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायां, ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् ।

ह्रस्व तपर अणों में दीर्घप्लुत के ग्रहण का निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । विप्रतिषेध से सिद्ध हो जायगा । अतो भिस ऐस् यहां अतः में अणुदित्सूत्र से सवर्णग्रहण करें या तपरस्तत्कालस्य से तत्काल का विधान करें । दोनों को प्राप्ति में परविप्रतिषेध से तपरस्तत्कालस्य ही हो जायगा तो तत्काल का विधान होकर दीर्घप्लुत अकार से परे भिस् को ऐस् न होगा । अणुदित्सूत्र का अवकाश ह्रस्व अतपर अण् हैं । तपरस्तत्कालस्य का अवकाश दीर्घ तपर हैं । ह्रस्व तपरों में दोनों प्राप्त होते हैं । पर होने से तपरस्तत्कालस्य हो जायगा ।

यदि यह सूत्र तत्काल का विधान करके भिन्न काल की व्यावृत्ति करता है तो द्रुत वृत्ति में तपर करने पर मध्यम और विलम्बित वृत्तियों में तत्कालता नहीं प्राप्त होती । वहां तत्कालता कहनी होगी । इसी प्रकार मध्यम के तपर में द्रुत विलम्बित में और विलम्बित के तपर में द्रुत मध्यम में तत्कालता कहनी होगी । क्या कारण है जो उक्त वृत्तियों में तत्कालता नहीं सिद्ध होती ?

---

१. जिस वृत्ति में तपर किया हो उससे भिन्न वृत्ति में प्रयोग में भिस् को ऐस् आदेश की प्राप्ति न होने से ऐस् आदेश का उपसंख्यान करना चाहिये यह वार्तिकार्थ है ।

सिद्धं त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अवस्थिता वर्णा द्रुतमध्यमविलम्बितासु । किंकृतस्तर्हि वृत्तिविशेषः । वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते । वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति । आशु वर्णानभिधत्ते । कश्चिच्चिरेण । कश्चिच्चिरतरेण । कश्चिच्चिरतमेन । तद्यथा तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति । कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण कश्चिच्चिरतमेन । रथिक आशु गच्छति । आश्विकश्चिरेण । पदातिश्चिरतरेण । शिशुश्चिरतमेन ।

विषम उपन्यासः । अधिकरणमत्राध्वा व्रजिक्रियायाः । तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिह्रासौ स्याताम् ।

कालभेद होने से । द्रुत वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं मध्यम वृत्ति में उससे तीन हिस्से अधिक काल लगता है । और मध्यम वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं विलम्बित वृत्ति में उससे भी तीन हिस्से अधिक काल लगता है ।

द्रुत आदि वृत्तियों में तत्कालता सिद्ध हो जायगी । क्योंकि तीनों वृत्तियों में वर्ण उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं । उनका अपना अपना नियत काल है । फिर वृत्तिभेद क्यों प्रतीत होता है ? वक्ता के देर या जल्दी में बोलने के कारण । वस्तुतः उच्चारण में ही भेद है । वर्ण की स्थिति में कोई भेद नहीं । कोई वक्ता जल्दी बोलने वाला होता है । जल्दी वर्णों को बोल जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में । जैसे एक ही रास्ते को कोई जल्दी पार कर जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में पार कर जाता है । रथवाला जल्दी पार कर जाता है । घोड़े वाला देर में । पैदल उससे देर में । और बच्चा उससे भी देर में पार करता है ।

यह मार्ग का दृष्टान्त ठीक नहीं बनता । मार्ग तो जाने का स्थिर स्थान बना हुआ है । वह बनाया नहीं जाता । जल्दी या देर में जाने से उसका क्या घटना बढ़ना । यहां तो वर्णों का उच्चारण प्रयत्न से करना होता है । उसमें जल्दी या देर करने से वर्णों पर प्रभाव पड़ता है । प्रयत्न भेद से वृत्ति भेद हो जाने से वर्णों के काल में भेद हो जाना चाहिये ।[1]

---

१. चिर और अचिर काल पर्यन्त उपलब्धि का निमित्त वृद्धि व ह्रास वर्णों में होना चाहिये ऐसा आक्षेपक का भाव है ।

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्?

भेर्याघातवत्।

तद्यथा भेर्याघातः भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति। कश्चित् त्रिंशत्। कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः॥

अच्छा तो स्फोट को शब्द मान लीजिये ध्वनि शब्द का गुण है। व्यञ्जक होने से उसका उपकारक है। कैसे? भेर्याघात की तरह। भेरीमाहन्तीति भेर्याघातः। नगाड़ा बजाने वाला। जैसे कोई नगाड़ा बजाने वाला नगाड़ा बजा कर उसकी ध्वनि को सुनाता हुआ बीस कदम जाता है, कोई तीस कोई चालीस। (जितनी दूर तक नगाड़े की आवाज़ जा सकती है वहां तक जा कर आगे आवाज़ पहुंचाने के लिये फिर नगाड़ा बजाता है) स्फोट अर्थात् नगाड़े का विस्फोट सर्वत्र एक समान है। केवल ध्वनि ही घटती बढ़ती प्रतीत होती है। ध्वनि और स्फोट व्यञ्जक और व्यङ्ग्य—ये दो पदार्थ हैं। शब्दों की व्यञ्जक ध्वनि केवल बाहर श्रवणेन्द्रिय से अल्प अथवा महान् लक्षित होती है। स्फोट सब ध्वनयों में अभिन्न ही रहता है। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों स्वभाव से

---

१. ध्वनि दो प्रकार की है—प्राकृत तथा वैकृत। भर्तृहरि ने इनका ऐसे लक्षण किया है—

वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदाय वैकृतः।

२. स्फोट व्यङ्ग्य है। ध्वनि व्यञ्जक है। स्फोट का अर्थ यही है कि स्फुटत्यर्थोऽस्मात्। जिसके उच्चारण करने से अर्थ की स्फुट प्रतीति होती है वह अर्थ का प्रत्यायक व्यञ्जक वाचक जो पदरूप या वाक्यरूप है वही स्फोट है। वह नित्य है। अथ शब्दानुशासनम् सूत्र पर भाष्यकार ने येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल-ककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः और अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते यह कह कर दो प्रकार के शब्द के लक्षण पहले स्पष्ट किये हैं उन्हीं को यहां स्मरण रखना चाहिये।

आदिरन्त्येन सहेता ॥१।१।७१॥

आदिरन्त्येन सहेतेत्यसम्प्रत्ययः संज्ञिनोऽनिर्देशात् ।

आदिरन्त्येन सहेतेति असम्प्रत्ययः। किं कारणम्। संज्ञिनोऽनिर्देशात्। नहि संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते।

सिद्धं त्वादिरिता सह तन्मध्यस्येति वचनात् ।

सिद्धमेतत्। कथम्। आदिरन्त्येन सहेता गृह्यमाणः स्वस्य च रूपस्य ग्राहकः तन्मध्यानां चेति वक्तव्यम्।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत्। तद्यथा सम्बन्धिशब्दाः मातरि वर्तितव्यम्। पितरि शुश्रूषितव्यमिति। न चोच्यते स्वस्यां मातरि

अवस्थित हैं। (इनके अस्तित्व में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं) व्यक्त शब्दों में तो स्फोट और ध्वनि दोनों विद्यमान होते हैं। क्योंकि वहां अर्थ का बोध होता है। किन्तु अव्यक्त शब्दों में अर्थवाचकत्व रूप शक्ति न होने से स्फोट नहीं होता। केवल ध्वनि ही होती है।[1]

आदिरन्त्येन सहेता इस संज्ञा सूत्र में संज्ञी का निर्देश न होने से सूत्र का अर्थ स्पष्ट अवबुद्ध नहीं होता। इतना कहा है कि आदिरन्त्येन सहेता। इसको अन्वित करके बोलें तो अन्त्येन इता सह आदिः यह होता है। संज्ञा का प्रकरण होने से सूत्र का इतना ही अर्थ समझ में आ सकता है कि—अन्तिम इत्संज्ञक के साथ जो आदि वह संज्ञा होता है। किसकी संज्ञा होता है, उस संज्ञी का निर्देश ही नहीं किया। जैसे स्वं रूपं शब्दस्य में शब्दस्य, अणुदित्सवर्णस्य में सवर्णस्य, तपरस्तत्कालस्य में तत्कालस्य, येन विधिस्तदन्तस्य में तदन्तस्य वृद्धिर्यस्याचामादिः में यस्य, इन षष्ठी विभक्तियों से संज्ञी का निर्देश किया है वैसे यहां भी षष्ठी विभक्ति से संज्ञी का निर्देश करना चाहिये।

ठीक है। आदिरिता सह तन्मध्यस्य ऐसा सूत्र बना देंगे। उससे तन्मध्यस्य

---

१. यहाँ भेर्याघात का दृष्टान्त उपलब्धि की समानता दिखाने के लिये दिया गया है। जिस प्रकार प्रयत्न विशेष से उत्पन्न हुआ भेरी का शब्द कोई तो थोड़े समय तक सुनता है। कोई चिर तक और कोई अधिक चिर तक, इसी प्रकार द्रुतादि वृत्तियों में उपलब्धि का भेद है विषय (वर्ण स्फोट) का भेद नहीं।

स्वस्मिन् पितरीति। सम्बन्धाच्च गम्यते या यस्य माता यो यस्य पितेति। एवमिहापि आदिरन्त्य इति सम्बन्धिशब्दावेतौ। तत्र सम्बन्धादेतद् गन्तव्यम्। यं प्रति य आदिरन्त्य इति च भवति तस्य ग्रहणं भवति स्वस्य च रूपस्येति।

इस संज्ञी का निर्देश स्पष्ट हो जायगा। अर्थ होगा—अन्तिम इत्संज्ञक के साथ जो आदि वर्ण वह अपने मध्यगामी वर्णों का तथा स्वरूप का संज्ञा या ग्राहक होता है। संज्ञाभूत आदि अन्त्य वर्णों में स्वरूप भी आदि का ही लिया जायगा, अन्त्य का नहीं। वह तो संज्ञी के प्रत्यायन में उपक्षीण होकर स्वयं निवृत्त हो जायगा। इस प्रकार तन्मध्यस्य इस संज्ञी के निर्देश से अन्य संज्ञा सूत्रों के समान इस संज्ञा सूत्र की रचना हो जायगी तो सूत्र का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

अथवा आदिरन्त्येन सहेता यही सूत्र रहने दीजिये। सम्बन्धी शब्दों के समान वहां भी संज्ञी का निर्देश स्वयं समझ लिया जायगा। जैसे—माता की आज्ञा माननी चाहिये। पिता की सेवा करनी चाहिये इन वाक्यों में माता पिता ये सम्बन्धी शब्द हैं। यहां अपनी माता या अपने पिता इस प्रकार अपना शब्द न लगाने पर भी माता पिता के सम्बन्ध से यह बात समझ ली जाती है कि जो जिसकी माता या जो जिसका पिता है उसको उसकी आज्ञा माननी या सेवा करनी चाहिये। इसी प्रकार यहां भी आदि और अन्त्य ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं। वहां सम्बन्ध से यह बात जान ली जायगी कि जिसके प्रति जो आदि अन्त्य हो सकता है वह यहां संज्ञी है। आदि और अन्त्य ये समुदित संज्ञा अपने मध्यगत संज्ञियों का आक्षेप स्वयं करा देगी। उससे अन्त्य इत्संज्ञक सहित आदि वर्ण अपने मध्यवर्ती वर्णों और अपने स्वरूप का ग्राहक हो जायगा।[१]

---

१. यद्यपि भाष्यकार तथा वार्तिककार ने इस प्रत्याहारसंज्ञा विधायक सूत्र में संज्ञी के निर्देश के लिये उचित शङ्का उठा कर उसका समाधान कर दिया है तो भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट दीख रहा है कि संज्ञी निर्देश के बिना इस सूत्र का अर्थ सर्वथा अस्पष्ट रहता है। आदिरिता सह तन्मध्यस्य इस न्यास में कितना लाघव तथा अर्थ गौरव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह वार्तिककार कात्यायन का वार्तिक सूत्रकार पाणिनि के इस सूत्र से वस्तुतः अधिक स्फुट है।

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१।१।७२॥

इह कस्मान्न भवति। इको यणचि। दध्यत्र मध्वत्र।

अस्तु। अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति।

नैवं शक्यम्। येऽनेकाल आदेशास्तेषु दोषः स्यात्-'एचोऽयवायाव इति।

नैष दोषः। यथैव प्रकृतितस्तदन्तविधिर्भवति एवमादेशतोऽपि भविष्यति। तत्रैजन्तस्यायाद्यन्ता आदेशा भविष्यन्ति।

यदि चैवं क्वचिद् वैरूप्यं तत्र दोषः स्यात्। ब्रह्मोदकम्। ब्रह्मेन्द्रः।

यहां दध्यत्र, मध्वत्र में यण् करने वाले इको यणचि में येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र से तदन्तविधि क्यों नहीं होती? तदन्तविधि होकर इगन्त के स्थान में यण् हो अजादि परे रहते ऐसा अर्थ हो जाना चाहिये। अचि में सप्तमी होने से यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे से तदादिविधि होकर अजादि अर्थ हो जायगा।

हो जावे। अलोन्त्यस्य के नियम से इगन्त दधि मधु शब्दों के अन्त्य इकार उकार के स्थान में यण् हो जायगा।

ऐसा नहीं हो सकता। इको यणचि में दोष न सही। परन्तु जो अनेकाल् आदेश हैं तदन्तविधि मानने पर उनमें दोष हो जायगा। जैसे—एचोय-यावः यहां अय् अव् आदि आदेश अनेकाल् हैं। एचोऽयवायावः में तदन्तविधि होने पर एजन्त के स्थान में अयादि आदेश होंगे तो अनेकाल्शित् सर्वस्य के नियम से अलोन्त्य को बाध कर सर्वादेश प्राप्त होंगे। उस अवस्था में चयनम् के स्थान में अयनम् यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

यह कोई दोष नहीं। जैसे प्रकृति से तदन्तविधि होगी वैसे आदेश से भी हो जायगी तो एजन्त के स्थान में अयाद्यन्त आदेश होकर चयनम् यही शुद्ध रूप रहेगा। प्रकृति=स्थानी।

यदी इस प्रकार प्रकृति और आदेश दोनों में तदन्तविधि मानने से कहीं शब्द में विरूपता आ जायगी तो वहां दोष प्राप्त होता है। जैसे—ब्रह्मेन्द्रः। ब्रह्मोदकम्। यहां आद्गुणः से होने वाले गुण एकादेश में पूर्व पर दोनों में तदन्त तदादिविधि हो जायगी तो सूत्र का अर्थ होगा—अवर्णान्त समुदाय से अजादि समुदाय परे रहते पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है तो अवर्णान्त

अपि चान्तरङ्गबहिरङ्गे न प्रकल्पेयाताम्। तत्र को दोषः। स्योनः स्योना। अन्तरङ्गलक्षणस्य यणादेशस्य बहिरङ्गलक्षणो गुणो बाधकः प्रसज्येत। ऊनशब्दमाश्रित्य यणादेशो नशब्दमाश्रित्य गुणः।

अल्विधिश्च न प्रकल्पेत। द्यौः पन्थाः स इति। तस्मात् 'प्रकृते तदन्तविधिरि'ति वक्तव्यम्।

समुदाय ब्रह्म से परे अजादि समुदाय इन्द्र उदक के रहते पूर्व पर के स्थान में गुण होकर ए ओ रूप ही सुनाई देंगे।

इसके अतिरिक्त सर्वत्र तदन्तविध मानने पर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भी सिद्ध नहीं होंगे। वे भी गड़बड़ा जायेंगे। जो अब अन्तरङ्ग हैं वह तदन्तविधि होने से बहिरङ्ग हो जायगा और जो बहिरङ्ग है वह अन्तरङ्ग हो जायगा। वहां क्या दोष है? स्योनः स्योना (सिव्-न) यहां अन्तरङ्ग यणादेश को बाध कर बहिरङ्ग लघूपधगुण होने लगेगा। सिव् धातु से औणादिक न प्रत्यय परे रहते लघूपधगुण, लोपो व्योर्वलि से वकार का लोप, और च्छ्वोः शूडनुनासिके च से वकार को ऊठ् आदेश ये तीन कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं। उनमें ऊठ् आदेश वलोप को अपवाद होने से और लघूपधगुण को अन्तरङ्ग होने से बाध लेता है। ऊठ् करने पर सिऊन इस अवस्था में लघूपधगुण और यणादेश प्राप्त होते हैं। अब तो इको यणचि इस यणादेश के अन्तरङ्ग होने से लघूपधगुण को बाध कर पहले यण् हो जाता है। स्यू बनने पर सार्वधातुक गुण होकर स्योनः बन जाता है। किन्तु इको यणचि में तदन्त-तदादिविधि मानने पर इगन्त के स्थान में अजादि परे रहते यण् होगा तो सिऊन इस स्थिति में अजादि ऊन शब्द को मान कर सि को यण प्राप्त होता है और न शब्द को निमित्त मान कर सिऊ को लघूपधगुण प्राप्त होता है। दोनों में गुण के अन्तरङ्ग हो जाने से बहिरङ्ग यण् को बाध कर पहले लघूपधगुण हो जायगा तो अनिष्ट रूप प्राप्त होगा।

सर्वत्र तदन्तविधि मानने पर अल्विधि भी नहीं बनेगी। द्यौः पन्थाः सः (दिव्, पथिन्, तद्-सु) यहां दिव औत्, पथिमथ्यृभुक्षामात्, त्यदादीनामः से होने वाले यथाक्रम औ, आ, अ ये आदेश अब तो अलोन्त्य परिभाषा के नियम से दिव् के वकार, पथिन् के नकार, तद् के दकार के स्थान में होते हैं। किन्तु अलोन्त्यस्य सूत्र में भी तदन्तविधि होने पर सूत्र का अर्थ होगा—जो षष्ठी-निर्दिष्ट है उसका अन्त्य अल् है अन्त में जिसके ऐसे अन्त्य अलन्तसमुदाय को आदेश होता है। तब द्यौः आदि में अन्त्य अल् के स्थान में आदेश न होकर

न वक्तव्यम्। येनेति करण एषा तृतीया। अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति। तद्यथा देवदत्तस्य समाशं शरावैरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते। तथा संग्रामं हस्त्यश्वरथपदातिभिः। एवमिहाप्यचा धातोर्यतं विधत्ते। अकारेण प्रातिपदिकस्य इञं विधत्ते।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिप्रसङ्गः।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिताप्रसङ्गः।

दिव् आदि अन्त्य अलन्तसमुदाय को आदेश प्राप्त होंगे तो अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इस लिये प्रकृत में तदन्तविधि कहनी चाहिये। प्रकृत प्रस्तुत अर्थात् जहां तदन्तविधि अभीष्ट है उस प्रस्तुत विषय में ही तदन्तविधि होती है सर्वत्र नहीं होती ऐसा कहना चाहिये।

प्रकृत में तदन्तविधि कहने की आवश्यकता नहीं। येन विधिस्तदन्तस्य यहां येन यह करण कारक में तृतीया है, कर्ता में नहीं है। करण कारक कर्ता का साधक या उपकारक होता है। लोक में अन्य से अन्य का कार्य हुआ करता है। जैसे देवदत्त के घर होने वाले सहभोज को यज्ञदत्त ओदन शकोरे आदि पदार्थों से तैयार करता है। शत्रु के प्रति उसके संग्राम को हाथी घोड़े रथ तथा पैदल सवारों से तैयार करता है। वैसे यहां भी अचो यत् कह कर अच् साधन के द्वारा धातु से यत् विधान किया है। यहां अच्, धातु का विशेषण बन कर उसका उपकारक होता है। उससे विशेषण में तदन्तविधि होती है यह बात सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अत इञ् कह कर अकारविशेषण द्वारा प्रातिपदिक से इञ् विधान किया है। तो अकार प्रातिपदिक का विशेषण बनता है। जहां विशेष्य को किसी विशेषण से विशेषित किया जायगा वहां उस विशेषण में तदन्तविधि हो जायगी सर्वत्र नहीं होगी यह बात सूत्र से ही निकल आती है। उससे इको यणचि एचोऽयवायावः में इक् आदि के विशेषण न होने से तदन्तविधि न होगी। जहां धातु या प्रातिपदिक का कोई विशेषण या उपकारक होगा वहां विशेषण में तदन्तविधि होगी सर्वत्र न होगी इस लिये प्रकृते तदन्तविधिः कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

येन विधिस्तदन्तस्य यह सूत्र होने पर यह दोष है कि जो ग्रहण की उपाधियां हैं वे तदन्त की उपाधियां प्राप्त होती हैं। सूत्र में जो शब्द ग्रहण किया है उसकी जो उपाधि एवं विशेषण हैं वे तदन्तविधि होने पर सूत्रागृहीत

ये ग्रहणोपाधयः ते तदन्तोपाधयः स्युः। तत्र को दोषः। उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वादि'ति असंयोगपूर्वग्रहणमुकारान्तविशेषणं स्यात्। तत्र को दोषः। असंयोगपूर्वग्रहणेन इहैव पर्युदासः स्यात्—अक्ष्णुहीति। इह न स्यात्—आप्नुहि शक्नुहीति। तथा 'उदोष्ठ्यपूर्वस्ये'ति ओष्ठ्यपूर्वग्रहणमृकारान्तविशेषणं स्यात्। तत्र को दोषः। ओष्ठ्यपूर्वग्रहणेन इह प्रसज्येत। संकीर्णं संगीर्णमिति। इह च न स्यात् निपूर्ताः पिण्डा इति।

सिद्धं तु विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। यथेष्टं विशेषणविशेष्ययोर्योगो भवति। यावता यथेष्टम् इह तावदुतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वादिति नासंयोगपूर्वग्रहणेन उकारान्तं विशेष्यते। किं तर्हि। उकार एव विशेष्यते। उकारो

शब्द हैं अन्त में जिसके उसकी उपाधियां प्राप्त होती हैं। वहां क्या दोष है। उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् यहां असंयोगपूर्वात् यह विशेषण अब तो सूत्र में पठित उतः अर्थात् उकार का है। तदन्तविधि होने पर उकारान्त का हो जायगा तो असंयोगपूर्वग्रहण से अक्ष्णुहि, तक्ष्णुहि (अक्ष, तक्ष्-श्नु-लोट् सिप्) यहां ही हिलुक् का निषेध हो सकेगा। आप्नुहि शक्नुहि (आप्, शक्-श्नु-लोट् सिप्) में न हो सकेगा। क्योंकि अक्ष्णुहि में उकारान्त श्नु प्रत्यय से पूर्व क्ष् का संयोग है। किन्तु आप्नुहि में उकारान्त श्नु से पूर्व केवल आपका पकार है, वह संयोग नहीं है। उकार से पूर्व संयोग मानने पर तो दोनों जगह संयोग पूर्व में हो जाने से हिलुक् का निषेध सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार उदोष्ठ्यपूर्वस्य में ओष्ठ्यपूर्व यह विशेषण अब तो सूत्रपठित ऋकार का है। तदन्तविधि होने पर ऋकारान्त का हो जायगा तो संकीर्णम् संगीर्णम् (सम् कॄ गॄ-क्त) यहां इत्व प्राप्त होगा। क्योंकि ऋकारान्त कॄ गॄ से पूर्व सम् का मकार ओष्ठ्यवर्ण पूर्व में है। किन्तु निपूर्ताः (नि पॄ-क्त) यहां ऋकारान्त पॄ से पूर्व नि का इकार ओष्ठ्यवर्ण पूर्व में नहीं है, इस लिये यहाँ उत्व न हो सकेगा। ऋकार से पूर्व ओष्ठ्यवर्ण मानने में तो निपूर्ताः में उत्व हो जायगा। संकीर्णम् में नहीं होगा।

विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध यथेष्ट होने से उक्त दोष न होगा। जब विशेषण विशेष्यभाव हमारी इच्छा के अधीन है तो हम उतश्च प्रत्यया० में असंयोगपूर्व ग्रहण को उकारान्त का विशेषण न बना कर उकार का ही विशेषण बनायेंगे। सूत्र का अर्थ होगा—असंयोगपूर्वक जो प्रत्यय का उकार तदन्त अङ्ग से परे हि का लुक् होता है। उससे अक्ष्णुहि और आप्नुहि दोनों जगह

योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात् प्रत्ययादिति । तथा उदोष्ठ्यपूर्वस्येति नौष्ठ्यपूर्वग्रहणेन ऋकारान्तं विशेष्यते। ऋकारान्तो यो धातुरोष्ठ्यपूर्व इति। किं तर्हि। ऋकार एव विशेष्यते। ऋकारो य ओष्ठ्यपूर्वस्तदन्तस्य धातोरिति।

समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।

समासविधौ प्रत्ययविधौ च प्रतिषेधो वक्तव्यः। समासविधौ तावत्। द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते। कष्टश्रितः। नरकश्रितः। कष्टं परमश्रित इत्यत्र मा भूत्। प्रत्ययविधौ। नडस्यापत्यं नाडायनः। इह न भवति। सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः।

किमविशेषेण ?

उकार से पूर्व संयोग होने से हि का लुक् नहीं होगा। उदोष्ठ्यपूर्वस्य में भी हम ओष्ठ्यपूर्वग्रहण को ऋकारान्त का विशेषण न बना कर ऋकार का ही बनायेंगे तो सूत्र का अर्थ होगा—ओष्ठ्यवर्ण है पूर्व में जिसके ऐसा जो ऋकार तदन्त धातु को उत्त्व होता है। उससे निपूर्ताः में उत्त्व हो जायगा। संकीर्णम् संगीर्णम् में नहीं होगा।

समासविधि और प्रत्ययविधि में तदन्तग्रहण का निषेध कहना चाहिये। समासविधि में जैसे – द्वितीया श्रितातीतपतित० सूत्र से द्वितीया सुबन्त का श्रित आदि सुबन्तों के साथ तत्पुरुष समास होता है। वह कष्टं श्रितः कष्टश्रितः नरकं श्रितः नरकश्रितः यहां केवल श्रित के साथ हो जायगा किन्तु कष्टं परमश्रितः यहां श्रितान्त के साथ न होगा। समास न होकर कष्टं परमश्रितः यह वाक्य ही रह जायगा। प्रत्ययविधि में जैसे—नडस्यापत्यं नाडायनः। यहां नडादिभ्यः फक् से गोत्रापत्य में विधीयमान फक् प्रत्यय केवल नड से तो हो जायगा परन्तु सूत्रनड यहां नडशब्दान्त से न होगा। तो सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः यहां फक् न होकर अत इञ् से इञ् हो जाता है। अनुशतिकादीनां च से उभयपद वृद्धि हो जाती है।

क्या सामान्य रूप से सभी प्रत्ययविधियों में तदन्तविधि का निषेध होता है ?

नेत्याह ।

उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् ।

उगिद्ग्रहणं वर्णग्रहणं च वर्जयित्वा । उगिद्ग्रहणम् 'उगितश्च' । भवती । अतिभवती । महती अतिमहती । वर्णग्रहणम् अत इञ् । दाक्षिः प्लाक्षिः ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलोऽकारः प्रातिपदिकं यदर्थो विधिः स्यात् ।

नहीं । उगिद्ग्रहण और वर्णग्रहण वाली प्रत्ययविधियों को छोड़ कर । उगिद्ग्रहण जैसे—उगितश्च से विधीयमान ङीप्प्रत्यय भवती यहां डवतु प्रत्ययान्त भवतु शब्द से तो होता ही है । तदन्तग्रहण होकर अतिभवतु से भी हो जायगा तो अतिभवती बन जाता है । अतिशयिता भवती अतिभवती । भवन्तम् अतिक्रान्ता अतिभवती । उभयथा समास इष्ट है । शतृ प्रत्ययान्त महती में जैसे ङीप् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर अतिमहती में भी हो जाता है । महान्तमतिक्रान्ता अतिमहती यह प्रादि समास है । उगितश्च सूत्र में अनुपसर्जनात् का अधिकार न होने से उपसर्जन में भी ङीप् हो जाता है ।[1] वर्णग्रहण जैसे—अत इञ् सूत्र के उदाहरण दाक्षिः प्लाक्षिः हैं । (दक्षस्य प्लक्षस्य अपत्यम्) यहां अत इञ् सूत्र में अतः यह अकार वर्ण का ग्रहण है । उसमें तदन्तविधि हो जायगी तो अकारान्त दक्ष प्लक्ष शब्दों से इञ् होकर दाक्षिः प्लाक्षिः बन जाते हैं ।

क्या कोई अकेला अकार रूप प्रातिपदिक भी है जिसके लिये अत इञ्

---

१. जो महत् शब्द का गौरादिगण में पाठ मानते हैं उनके मत में महती में ङीष् होने पर भी अतिमहती में ङीष् नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वहां अनुपसर्जनात् का अधिकार होने से उपसर्जन में ङीष् न होगा । उगितश्च से विधीयमान ङीप् तो उपसर्जन से भी हो जायगा । वहां अनुपसर्जनात् का अधिकार नहीं है । वस्तुतः गौरादिगण में महत् शब्द का पाठ प्रामादिक है इसमें शतुरनुमो नद्यजादी पर कहा गया बृहन्महतोरुपसंख्यानम् यह स्वरविषयक वार्तिक ही ज्ञापक है । अन्यथा ङीष् होने पर नदी को उदात्तस्वर स्वतः सिद्ध था उसके लिये महत् शब्द का उपसंख्यान करना व्यर्थ है । इस लिये अतिमहती के समान महती में भी ङीप् ही करना इष्ट है । ङीष् नहीं ।

अस्तीत्याह । अततेर्डः, अः । तस्यापत्यम् इः ।

अकच् श्नम्वतः सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसंख्यानम् ।

अकज्वतः सर्वनामाव्ययविधौ श्नम्वतो धातुविधावुपसंख्यानं कर्तव्यम् । अकज्वतः—सर्वके । विश्वके । अव्ययविधौ—उच्चकैः नीचकैः । श्नम्वतः—भिनत्ति छिनत्ति ।

सूत्र चरितार्थ हो सकता है। यदि नहीं तो स्वयमेव अकारान्त प्रातिपदिक लिया जायगा उसके लिये वर्णग्रहण में तदन्तविधि का वचन कहना व्यर्थ है।

है। अकेला अकाररूप प्रातिपदिक भी है। जिसके लिये अत इञ् सूत्र से इञ् विधान चरितार्थ हो सकता है। जैसे—अततेर्डः अः। तस्यापत्यम् इः। अत् धातु से उ प्रत्यय करके अ बनता है। उस अ शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् होकर इः बन जाता है। यस्येति च से अ शब्द का लोप होकर इञ् प्रत्ययमात्र शेष रहता है।

अकच् वाले शब्द की सर्वनाम और अव्ययसंज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये। और श्नम् वाले शब्द की धातुसंज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये। अकच् वाले की सर्वनामसंज्ञा में जैसे—सर्वके विश्वके। अज्ञातः सर्वः सर्वकः। यहां सर्व शब्द से अज्ञातादि अर्थ में अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः से अकच् हुआ है। वह सर्व की टि से पूर्व होने से सर्व के मध्य में आ गया है। यह सर्वक शब्द न तो सर्व ही है और न सर्वशब्दान्त है। दोनों से विलक्षण है। इसे तदन्तविधि से सर्वशब्दान्त मान कर सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा हो जायगी तो जसः शी से जस् में शी होकर सर्वके विश्वके बन जाते हैं। अव्ययविधि में जैसे—उच्चकैः नीचकैः। यहां भी उच्चैस् नीचैस् अव्ययों से अव्ययसर्वनाम्नाम्० से टि से पूर्व अकच् हुआ है। उच्चकैस् शब्द न तो उच्चैस् है और न उच्चैस् शब्दान्त है। तदन्तविधि से उच्चैस् शब्दान्त मान कर स्वरादिनिपातमव्ययम् से अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। श्नम् वाले की धातु संज्ञा में जैसे—भिनत्ति छिनत्ति। यहां भिद् छिद् धातुओं से लट् में तिप् परे रहते श्नम् विकरण हुआ है। वह मिदचोऽन्त्यात् परः के नियम से भिद् छिद् के अन्त्य अच् से परे होकर भिनद् छिनद् ऐसा बनता है। यह भिनद् न तो भिद् है और न ही भिद् शब्दान्त है। तदन्तविधि से भिद् शब्दान्त मान कर धातु संज्ञा हो जायगी तो धातोः से अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जाता

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

इह तस्य वा ग्रहणं भवति तदन्तस्य वा । न चेदं तत् । नापि तदन्तम् ।

सिद्धं तु तदन्तान्तवचनात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । तदन्तान्तवचनात् । तदन्तान्तस्येति वक्तव्यम् ।

किमिदं तदन्तान्तस्येति ।

तस्यान्तः तदन्तः । तदन्तोऽन्तो यस्य तदिदं तदन्तान्तं, तदन्तान्तस्येति ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ।

है । यहां श्नम् प्रत्यय होता हुआ भी मित् होने से आगम है । इस लिये आगमा अनुदात्ता भवन्ति इस परिभाषा से प्रत्ययस्वर की बाधा होकर यह अनुदात्त रहेगा तो सतिशिष्ट धातुस्वर ही एष्टव्य होगा । यदि धातुस्वर को बाध कर यहां सतिशिष्ट श्नम् प्रत्यय का स्वर ही एष्टव्य मानें तो अभिनः (भिनद्-लङ् सिप्) यहां लङ् से सिप् परे रहते दश्च से दकारान्त धातु को विधीयमान रुत्व करने के लिये भिनद् की धातुसंज्ञा सर्वथा आवश्यक है ।

क्या कारण है जो अकच् वाले और श्नम् वाले शब्द की उक्त संज्ञायें नहीं सिद्ध होतीं ?

यहां या तो उस पठित शब्द का ग्रहण होता है या तदन्त का । (वह है अन्त में जिसके उसका) अकच् और श्नम् वाला शब्द न तो वह है और न तदन्त है ।

येन विधिस्तदन्तस्य की जगह येन विधिस्तदन्तान्तस्य कहने से उक्त दोष न होगा ।

यह तदन्तान्तस्य क्या है ।

उस शब्द का अन्त तदन्त हुआ । वह है अन्त में जिसके वह तदन्तान्त होगा । सर्व शब्द का अन्त अकार है । वह अकच् वाले सर्वक शब्द के अन्त में है ही । भिद् का अन्त दकार है । वह भिनद् के अन्त में है ही । इस प्रकार अकच् वाले और श्नम् वाले शब्द में भी उक्त संज्ञायें सिद्ध हो जायेंगी ।

तो फिर येन विधिस्तदन्तान्तस्य ऐसा सूत्र बना देवें ।

न कर्तव्यः। उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः तद्यथा उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः। खरमुखः। एवमिहापि तदन्तः अन्तो यस्य सोऽयं तदन्तः तदन्तस्येति।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा सिद्धम्।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा पुनः सिद्धमेतत्। तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। तद्यथा गङ्गा यमुना देवदत्तेति। अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यते। देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणेन गृह्यते।

विषम उपन्यासः। इह केचिच्छब्दा अकृपरिमाणानामर्थानां वाचका भवन्ति। य एते संख्याशब्दाः परिमाणशब्दाश्च। पञ्च सप्तेति। एकेनाप्यपाये न भवन्ति। द्रोणः खारी आढकमिति नैवाधिके भवन्ति न न्यूने। केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेवाहुः। य एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च। तैलं घृतमिति। खार्यामपि भवति द्रोणेपि। शुक्लो नीलः कृष्ण इति हिमवत्यपि भवति वटकणिकामात्रेऽपि द्रव्ये। इमाश्चापि संज्ञा अकृपरिमाणानामर्थानां क्रियन्ते ताः केनाधिकस्य स्युः।

कोई आवश्यकता नहीं। येन विधिस्तदन्तस्य में उत्तरपद अन्त शब्द का लोप हुआ समझिये। जैसे उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः खरमुखः यहां उष्ट्रमुख के उत्तरपद मुख का लोप होता है वैसे यहां भी तदन्त शब्द के उत्तरपद अन्त शब्द का लोप हो गया है। उससे तदन्तान्त का ही अर्थ निकल आयगा।

अथवा तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इस परिभाषा से दोष न होगा। इस परिभाषा का अर्थ है जो जिसका एकदेश एवं अवयव बना होता है वह उसके ग्रहण से गृहीत हो जाता है। जैसे गङ्गा यमुना देवदत्ता इन उदाहरणों में देखिये। अनेक नदियां गङ्गा यमुना में मिलने पर गङ्गा यमुना कहलाती हैं। देवदत्ता स्त्री में स्थित गर्भ देवदत्ता कहलाता है। वहां सर्व में स्थित अकच् और भिद् में स्थित श्नम् भी सर्व एवं भिद् के ग्रहण से गृहीत हो जायेंगे।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं। यहां कुछ शब्द निश्चित परिमाण वाले द्रव्य के वाचक होते हैं। जैसे जो ये संख्या शब्द या परिमाण शब्द हैं। पांच या

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते इति । यदयं 'नेदमदसोरकोरि'ति सककारयोरिदमदसोः प्रतिषेधं शास्ति ।

कथं कृत्वा ज्ञापकम् ?

इदमदसोः कार्यमुच्यमानं कः प्रसङ्गो यत् सककारयोः स्यात् । पश्यति त्वाचार्यस्तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति ततः सककारयोः प्रतिषधं शास्ति ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

सात इन संख्या शब्दों में एक भी संख्या कम होने पर पांच या सात नहीं रहते । द्रोण= १६ सेर) खारी (६४ सेर) आढक (४ सर) ये परिमाण शब्द हैं । जो अपने निश्चित परिमाण से न तो अधिक में प्रयुक्त होते हैं न न्यून में । कुछ ऐसे शब्द होते हैं जो अधिक या न्यून जितना भी हो उस सब में प्रयुक्त हो जाते हैं । जैसे जो ये जातिशब्द या गुणशब्द हैं । तैल या घी ये जातिवाचक शब्द हैं । ये चाहे खारी भर तैल हो या द्रोण भर हो दोनों में समान रूप से व्यवहृत होते हैं । सफेद काला नीला ये गुण वाचक शब्द हैं । ये भी चाहे हिमालय सफेद हो या वटवृक्ष का बीजकण सफेद हो दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं । यहां व्याकरण शास्त्र में ये सर्वनाम आदि संज्ञायें भी निश्चित परिमाण वाले शब्दों की, की जाती हैं वे अधिक की कैसे हो सकती हैं । सर्वनामसंज्ञक सर्वादिगण में सर्व शब्द का निश्चित परिमाण है । सर्वक को सर्व कैसे समझ सकते हैं । इसी प्रकार भिनद् को भिद् नहीं समझ सकते ।

अच्छा तो आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि तदेकदेशभूत-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते यह परिभाषा होती है । यह जो नेदमदसोरकोः में अकोः कह कर ककारभिन्न इदम् अदस् से परे भिस् को ऐस् का निषेध किया है उससे यह बात सिद्ध होती है ।

नेदमदसोरकोः में अकोः कैसे ज्ञापक हुआ ?

केवल इदम् अदस् को कहा हुआ कार्य ककारसहित इदम् अदस् को प्राप्त हो सकता है । किन्तु आचार्य देखते हैं कि जो जिसका एकदेश या अवयव बन जाता है वह उसके ग्रहण से गृहीत हो जाता है तो अकच् सहित इदम् अदस् भी इदम् अदस् के ग्रहण से गृहीत होते हैं । उनसे परे भिस् को ऐस् रोकने के लिये अकोः यह प्रतिषेध करते हैं ।

इस सूत्र के क्या प्रयोजन हैं ?

प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम् ।

सर्वे परमसर्वे । विश्वे परमविश्वे । उच्चैः परमोच्चैः । नीचैः परमनीचैरिति ।

उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भयंकरः । अभयंकरः । आढ्यंकरणम् । स्वाढ्यंकरणम् ।

ङीब्विधावुगिद्ग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भवती अतिभवती । महती अतिमहती ।

प्रतिषेधे स्वस्रादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । स्वसा । परमस्वसा । दुहिता । परमदुहिता ।

सर्वनामसंज्ञा और अव्ययसंज्ञा में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है। जैसे—सर्वे यहां सर्वनामसंज्ञा होकर जसः शी हो जाता है वैसे सर्वशब्दान्त परमसर्वे में भी हो जाता है। उच्चैः यहां जैसे स्वरादिनिपात० से अव्ययसंज्ञा होकर सुप् का लुक् होता है वैसे तदन्तविधि से उच्चैस् शब्दान्त परमोच्चैस् से भी हो जाता है।

भय आढ्य आदि उपपद वाले कृदन्तों में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है। जैसे भयंकरः यहां मेघर्तिभयेषु कृञः से भय उपपद होने पर खच् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से भयशब्दान्त अभय शब्द उपपद होने पर भी खच् प्रत्यय होकर अभंयकरः बन जाता है। आढयंकरणम् में जैसे आढय उपपद होने पर आढय सुभग स्थूल० से ख्युन् प्रत्यय होता है वैसे तदन्त विधि से आढय शब्दान्त स्वाढयं करणम् में भी हो जाता है।

उगितश्च से ङीप् करने में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है। भवती में जैसे उगितश्च से ङीप् होता है वैसे तदन्तविधि से अतिभवती में भी हो जाता है। महती के समान अतिमहती में भी हो जाता है।

न षट् स्वस्रादिभ्यः से ङीप् निषेध में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है। स्वसा में जैसे न षट् स्व० से ङीप् का निषेध होता है वैसे तदन्तविधि से परमस्वसा में भी हो जाता है। दुहिता की तरह परमदुहिता में भी हो जाता है।

अपरिमाणबिस्तादिग्रहणं च ।

अपरिमाणबिस्तादिग्रहणं च ङीप्प्रतिषेधे प्रयोजनम् । 'अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकी'ति । द्विबिस्ता द्विपरमबिस्ता । त्रिबिस्ता त्रिपरमबिस्ता । द्व्याचिता द्विपरमाचिता ।

दिति ।

दितिग्रहणं च प्रयोजनम् । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरपत्यमादित्यः । दित्यदित्यादित्येत्यदितिग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

रोण्या अण् ।

रोण्या अण् ग्रहणं च प्रयोजनम् । आजकरौणः । सैंहिकरौणः ।

ङीप् का निषेध करने वाले अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धिलुकि इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे द्विबिस्ता द्व्याचिता यहां द्विगुसमास में बिस्त आचित शब्दों से परे तद्धित का लुक् होने पर अपरिमाण-बिस्ताचित० से ङीप् का निषेध होता है वैसे तदन्तविधि से बिस्त आचित शब्दान्त द्विपरमबिस्ता द्विपरमाचिता में भी हो जाता है ।

दिति शब्द में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । दितेरपत्यं दैत्यः । जैसे दिति शब्द से अपत्य अर्थ में दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः से ण्य प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से दिति शब्दान्त अदिति से भी होकर आदित्यः बन जाता है । दित्यदित्या० सूत्र में अदिति ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । तदन्तविधि से दिति शब्द से ही अदिति का भी ग्रहण हो जायगा ।

रोणी शब्द से अण् करने में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । रोण्या अदूरभवः रौणः जैसे यहां केवल रोणी शब्द से रोणी इस सूत्र से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से आजकरौणः सैंहिकरौणः में भी हो जाता है ।[१]

---

१. आजकरौणः सैंहिकरौणः यहां अनुशतिकादि के आकृतिगण होने से उभयपद वृद्धि माननी चाहिये । अन्यथा आजकरोणः सैंहिकरोणः यह पाठ भाष्यसम्मत मानना चाहिये । सभी मुद्रित भाष्य पुस्तकों में उभयपद वृद्धि वाला ही पाठ उपलब्ध होता है । वह विद्वानों द्वारा विमृश्य है ।

तस्य च ।

तस्य चेति वक्तव्यम् । रौणः ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति । न तदन्ताच्च तदन्तविधिना सिद्धं केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन ।

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

किं पुनः कारणं[1] व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

इह सूत्रान्ताट्ठग् भवति । दशान्ताड्डो भवतीति केवलादुत्पत्तिर्मा भूदिति ।

तदन्तग्रहण के साथ उस शब्द के अपने स्वरूप का भी ग्रहण होता है यह कहना चाहिये। उससे केवल रोणी शब्द से भी अण् प्रत्यय होकर रौणः बन जाता है।

क्या कारण है जो रोणी आदि शब्दों में तदन्त के साथ उसके स्वरूप का भी ग्रहण नहीं सिद्ध होता? क्या तदन्तविधि द्वारा रोणी शब्दान्त से और व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल रोणी को ही रोणीशब्दान्त मान कर केवल रोणी से अण् सिद्ध नहीं हो सकता?

अमुख्य में मुख्यवत् व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। व्यपदेशिवद्भाव से रोणी को रोणीशब्दान्त मान कर उससे अण् नहीं कर सकते। क्योंकि व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा है। इसका अर्थ है—प्रातिपदिक को छोड़ कर व्यपदेशिवद्भाव होता है। अर्थात् प्रातिपदिक से प्रत्यय करने में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता। उससे केवल रोणी शब्द रोणीशब्दान्त की तरह नहीं माना जा सकता। केवल से अण् करने के लिये तस्य च यह वचन आवश्यक है।

क्या कारण है जो प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता?

यहां क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् इस सूत्र द्वारा सूत्र शब्दान्त से ठक् कहा है। और तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः इस सूत्र द्वारा दशन् शब्दान्त से ड कहा है उसका प्रयोजन यह है कि केवल सूत्र या दशन् शब्द से ठक् या ड प्रत्यय न हो। यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होवे तो केवल सूत्र या दशन् शब्द को भी सूत्रान्त दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय प्राप्त हो जाने चाहियें उस अवस्था में अन्तग्रहण व्यर्थ है। यही अन्तग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता।

---

१. भाष्य में कारण शब्द प्रयोजन वाची है।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन। सोऽयमेवं सिद्धे सति यदन्तग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेवेति।

नात्र तदन्तादुत्पत्तिः प्राप्नोति। इदानीमेव ह्युक्तं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध इति।

सा तर्ह्येषा परिभाषा कर्तव्या।

न कर्तव्या। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेनेति। यदयं 'पूर्वादिनिः सपूर्वाच्चे'त्याह।

यह कोई ज्ञापक नहीं। यहां सूत्र शब्दान्त या दशन् शब्दान्त से तो तदन्तविधिद्वारा उक्त प्रत्यय सिद्ध हैं। केवल सूत्र या दशन् से व्यपदेशिवद्भावद्वारा सूत्रान्त या दशन्-शब्दान्त मान कर सिद्ध हैं फिर जो दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि यहां सूत्रशब्दान्त या दशन्शब्दान्त से ही उक्त प्रत्यय हो। केवल को व्यपदेशिवद्भाव से सूत्रान्त दशान्त मान कर न हो।

उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण के विना तो तदन्त से उक्त प्रत्यय प्राप्त ही नहीं होते। क्योंकि अभी ऊपर कह चुके हैं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः। अर्थात् प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती। इसी को दूसरे शब्दों में इस परिभाषा के नाम से कहते हैं ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति। जब प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध है तो उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किये बिना सूत्रान्त या दशान्त से प्रत्यय न होकर केवल सूत्र या दशन् शब्द से प्राप्त होंगे। वे केवल से न बल्कि सूत्रान्त या दशान्त से ही हों इस लिये वहां अन्तग्रहण करना सफल हो जाता है। उसमें भी यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल सूत्र या दशन् को भी सूत्रान्त या दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय करना चाहें तो अन्तग्रहण सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार इसी अन्तग्रहण से ये दोनों परिभाषायें ज्ञापित हो जाती हैं कि—ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति और व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन।

तो फिर व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा बना देवें।

कोई आवश्यकता नहीं। अन्यत्र भी आचार्य के व्यवहार से यह परिभाषा

नतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। सपूर्वादिनिं वक्ष्यामीति।

यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा पूर्वात् सपूर्वादिनिः इत्येव ब्रूयात्।

किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति।

नेत्याह। यच्चानुक्रान्तं यच्चानुक्रंस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति।

ज्ञापित हो जाती है। आचार्य ने जो पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च यह दो सूत्र बनाये हैं वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होता तो केवल पूर्वशब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्वक (विद्यमानपूर्वक) मान कर सपूर्वाच्च सूत्र से ही केवल पूर्व शब्द से भी इनि सिद्ध हो जाता। और पूर्वात् यह व्यर्थ होता।[1]

यह कोई ज्ञापक नहीं। पूर्वादिनिः सूत्र के पृथक् बनाने का तो अन्य प्रयोजन है। क्या? यह कि आगे सपूर्वादिनिः ऐसा पढ़ेंगे उसमें पूर्वादिनिः के अभाव में विद्यमान पूर्वक पूर्वशब्द व्यतिरिक्त से भी इनि प्रत्यय होने लगेगा, जो अनिष्ट होगा। पूर्वादिनिः के रहने पर तो उसकी अनुवृत्ति होने पर विद्यमानपूर्वक पूर्व शब्दान्त से ही इनि होगा जिससे कृतपूर्वी (कटम्) इत्यादि इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। अतः पूर्वात् यह अंश व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं हो सकता।

पूर्वादिनिः के बनाने का यदि यही प्रयोजन है तो योगविभाग किस लिये किया है। फिर तो पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च ये दो सूत्र न बना कर पूर्वात् सपूर्वादिनिः यह एक सूत्र बनाना ही पर्याप्त है। उस एक सूत्र से भी पूर्वी और कृतपूर्वी यहां दोनों जगह इनि हो सकता है। योगविभाग से स्पष्ट है कि केवल पूर्व को व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्व नहीं माना जायगा। पूर्वादिनिः सूत्र केवल पूर्व से ही इनि करेगा। इष्ट है कि विद्यमानपूर्वक से भी इनि हो। उसके लिये सपूर्वाच्च यह पृथक् सूत्र बनाना सफल हो जाता है।

तस्य च यह वचन क्या केवल रोणी शब्द के ही स्वरूपग्रहण के लिये है?

नहीं। जो कहे जा चुके या कहे जायेंगे उन सभी के स्वरूपग्रहण के लिये तस्य च यह वचन है।

---

१. पूर्वादिनिः सूत्र में पूर्वात् यह अंश ज्ञापक है।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्यः । परमरथ्यः । सीत्यं परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ।

सुसर्वार्धदिक् शब्देभ्यो जनपदस्य ।

सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सु—सुपाञ्चालकः सुमागधकः । सर्व—सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । अर्ध—अर्धपाञ्चालकः । अर्धमागधकः । दिक्शब्द—पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । पूर्वमागधकः । अपरमागधकः ।

ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानाम् ।

ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् । अपरशारदम् । पूर्वनैदाघम् । अपरनैदाघम् ।

रथ सीता हल शब्दों से यत् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे रथ्यम्, सीत्यम्, हल्या यहां क्रम से तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्, नौवयोधर्मविषमूल-मूल०, मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु इन सूत्रों से रथ सीता हल शब्दों से यत् होता है वैसे तदन्तविधि से परमरथ परमसीता परमहल से भी हो जाता है ।

सु सर्व अर्ध दिक-शब्दों से परे जनपदवाची शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाञ्चालकः मागधकः यहां पञ्चाल मगध शब्दों से भव अर्थ में जनपदतदवध्योश्च से अनुवृत्त अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् से वुञ् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से सुपञ्चाल सुमगध; सर्वपञ्चाल, सर्वमगध, अर्धपञ्चाल अर्धमगध, पूर्वपञ्चाल, पूर्वमगध शब्दों से भी हो जाता है । इन सब में सुसर्वार्धाज्जनपदस्य, दिशोऽमद्राणम् इन सूत्रों से यथाविहित उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है ।

अवयवादृतोः से होने वाली उत्तरपदवृद्धि में ऋतु के अवयवों का तदन्त ग्रहण में प्रयोजन है । पूर्वशारदम् इत्यादि । जैसे शरदि भवं शारदम् यहां संधिवेला-वृतुनक्षत्रेभ्योऽण् से अण् होता है वैसे शरदः पूर्वोऽवयवः पूर्वशरत् । यहां एकदेशि तत्पुरुष समास में शरत् शब्दान्त से भी तदन्तविधि से हो जाता है । निदाघे भवम् नैदाघम् । पूर्वनिदाघे भवम् यहां भी सन्धिवेला० से अण् होकर पूर्वनैदाघम् बन जाता है । इन सब में अवयवादृतोः से उत्तरपद वृद्धि होती है ।

ठञ्विधौ संख्यायाः ।

ठञ्विधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विषाष्टिकम् । पञ्चषाष्टिकम् ।

धर्मान्नञः ।

धर्मान्नञः प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः । अधर्मं चरति आधर्मिकः । 'अधर्माच्चे'ति न वक्तव्यं भवति ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ।

संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु इस सूत्र से संख्यावाची शब्द से ठञ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है। जैसे षष्टिः परिमाणमस्य षाष्टिकम् यहां षष्टि शब्द से प्राग्वतीय ठञ् होता है वैसे तदन्तविधि से द्विषष्टि से भी हो जायगा तो द्विषाष्टिकम् बन जाता है। संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च से यहां उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है। द्विषष्टि इस तद्धितार्थ द्विगु समास में हुए ठञ् प्रत्यय का अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् से लुक् तो नहीं होता। क्योंकि तदस्य-परिमाणम् में तद् यह पुनः समर्थविभक्ति का जो निर्देश किया है उससे लुक् का अभाव ज्ञापित होता है। अन्यथा सोऽस्यांसवस्नभृतयः से सोऽस्य की अनुवृत्ति आ ही रही है। फिर तदस्य कहना व्यर्थ है।

नञ् से परे धर्म शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है। जैसे धर्म चरति धार्मिकः यहां धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक् होता है वैसे तदन्तविधि से नञ् पूर्वक अधर्म शब्द से भी हो जायगा तो आधर्मिकः बन जाता है। तदन्त का ग्रहण हो जाने से यह लाभ भी होगा कि अधर्माच्च यह वार्तिक नहीं बनाना पड़ेगा।

पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उस पठित शब्द का तथा वह पठित शब्द है उत्तरपद में जिसके उसका भी ग्रहण होता है ऐसा कहना चाहिये।[1]

---

१. यहां पदाधिकार शब्द से दोनों पद के अधिकार लिये गये हैं। एक तो पदस्य सूत्र से विहित अष्टमाध्यायस्थ पदाधिकार। दूसरा अलुगुत्तरपदे से विहित उत्तरपदाधिकार। उत्तरपद में उत्तर शब्द का लोप करके उसे भी पदाधिकार माना गया है। षष्ठाध्यायस्थ समस्त तृतीय पाद उत्तरपदाधिकार एवं पदाधिकार यहां

पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमिष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ।

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु प्रयोजनम् । इष्टकचितं चिन्वीत । पक्वेष्टकचितं चिन्वीत । इषीकतूलेन । मुञ्जेषीकतूलेन । मालभारिणी कन्या । उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं महदप्स्वसृनप्तॄणां दीर्घविधौ ।

महान् । परममहान् । अप्—आपः तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति । स्वसृ—स्वसा स्वसारौ स्वसारः । परमस्वसा । परमस्वसारौ । परमस्वसारः । नप्तृ—नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एवं परमनप्ता परमनप्तारौ परमनप्तारः ।

पद्युष्मदस्मदस्थ्याद्यनडुहो नुम् ।[1]

पद्भावः प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य ।

पदाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे इष्टकाचितम् इत्यादि में चित आदि उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है वैसे तदुत्तरपद का ग्रहण होने से पक्वेष्टचितम् आदि में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

महत् अप् स्वसृ नप्तृ शब्दों को दीर्घ करने में तदुत्तरपद का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे महान् यहां महत् अङ्ग को सान्तमहतः संयोगस्य से दीर्घ होता है वैसे परममहान् यहां महदुत्तरपद पद में भी हो जाता है । आपः स्वसा नप्ता यहां जैसे अप्तृन्तृच्स्वसृ० से दीर्घ होता है वैसे स्वापः परमस्वसा परमनप्ता यहां तदुत्तरपद में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में पद् आदेश, युष्मद् अस्मद् के आदेश, अस्थि आदि के आदेश,

---

विवक्षित है । अङ्गाधिकार तो अङ्गस्य से विहित षष्ठाध्यायस्थ चतुर्थपाद से लेकर सम्पूर्ण सप्तमाध्याय तक प्रसिद्ध ही है ।

१. यहाँ पद्युष्मदस्मदस्थ्यादि यह एक समस्तपद है, अनडुहः यह दूसरा असमस्त पृथक् पद है । ऐसा होने पर ही नुम् का अन्वय अनडुहः के साथ ही होता है ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलः पाच्छब्दो यदर्थो विधिः स्यात्।

नास्तीत्याह।

एवं तर्हि अङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्य प्रयोजनमुक्तम्। 'हिमकाषिहतिषु च'। यथा पत्काषिणौ पत्काषिणः। एवं परमपत्काषिणौ। परमपत्काषिणः।

यदि पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम्। अत्रापि स्यात्—दिग्धपादेनोपहतं दिग्धपदोपहतम् इति।

और अनडुह् शब्द को नुम् आगम ये तदन्त ग्रहण के प्रयोजन हैं। पद्भाव जैसे—द्विपदः पश्य। यहां पाद् शब्दान्त द्विपाद् शब्द को पादः पत् से पद् आदेश हो जाता है। द्वौ पादौ यस्य स द्विपाद्। बहुव्रीहि समास में संख्यासुपूर्वस्य से पाद शब्द के अन्त्य अकार का लोप होकर पाद् बन जाता है। उसे शस् में पद् होता है।

क्या कोई अकेला पाद् शब्द भी है जिसके लिये पादः पत् यह सूत्र चरितार्थ हो सकता हो। यदि नहीं है तो स्वयमेव उत्तरपद में पद् आदेश होगा उसके लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस वचन द्वारा पद्भाव प्रयोजन बताना व्यर्थ है।

नहीं है। अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है।

इस लिये अङ्गाधिकार में यदि पद् आदेश प्रयोजन नहीं है तो पदाधिकार में पदादेश का प्रयोजन कहा हुआ समझ लीजिये। हिमकाषिहतिषु च सूत्र से जैसे पत्काषिणौ पत्काषिणः यहां केवल पाद शब्द को पद् आदेश होता है वैसे पादशब्दोत्तरपद परमपत्काषिणौ परमपत्काषिणः यहां भी हो जाता है। हिमकाषिहतिषु च यह सूत्र षष्ठाध्यायस्थ तृतीय पाद के उत्तरपदाधिकार का है।

यदि पदाधिकार में पाद शब्द से तदन्त का ग्रहण होता है तो जैसे पादेनोपहतं पदोपहतम् यहां पादस्य पदाज्याति० से पद आदेश होता है वैसे दिग्धपादेनोपहतं यहां पादशब्दान्त से भी होकर दिग्धपदोपहतं बन जाना चाहिये।[1]

---

१. वस्तुतः हलन्त पद् आदेश करने में ही वार्तिक में पाद से तदन्तविधि

एवं तर्ह्यङ्गाधिकार एव प्रयोजनम् ।

ननु चोक्तं न केवलः पाच्छब्द इति ।

अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात् । पदः । पदा । पदे ।

युष्मद् अस्मद् । यूयम् वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अस्थ्यादि । अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना । परमास्थ्ना । परमदध्ना । परमसक्थ्ना । अनडुहो नुम् । अनड्वान् । परमानड्वान् ।

ठीक है । इस लिये पदाधिकार को छोड़ कर अङ्गाधिकार में ही पद् आदेश प्रयोजन समझिये ।

यह जो कहा था कि अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है जिसके लिये पद् आदेश प्रयोजन बनता हो ।

अकेला पाद् शब्द भी है देखिये—पादयतेरप्रत्ययः पाद् । णिजन्त पादि धातु से क्विप् प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि और णिलोप होकर पाद् बन जाता है । क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है । अप्रत्ययः=अविद्यमानः प्रत्ययः=क्विप् आदि । पाद् शब्द से शस् आदि परे रहते भसंज्ञा होकर पद् आदेश हो जायगा तो पदः पदा पदे इत्यादि रूप बन जायेंगे । इस प्रकार पद्भाव प्रयोजन अङ्गाधिकार में बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त—युष्मद् अस्मद् के आदेशों में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे यूयम् वयम् यहां युष्मद् अस्मद् को यूय वय आदि आदेश होते हैं वैसे परमयूयम् परमवयम् यहां तदन्त में भी हो जाते हैं । अस्थिदधि० सूत्र से अनङ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।

जैसे अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना में केवल अस्थि आदि शब्दों से भसंज्ञा में अनङ् होता है वैसे परमास्थ्ना आदि तदन्त में भी हो जाता है ।

अनडुह् को नुम् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे अनड्वान् में सावनडुहः से नुम् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर परमानड्वान् में भी हो जाता है ।

का प्रयोजन कहा है । अजन्त पद आदेश करने में नहीं कहा गया है इस लिये दिग्धपादेनोपहतम् में पादशब्दान्त से पद आदेश की प्राप्तिशङ्का ही अनुपपन्न है ।

द्युपथिमथिपुंगोसखिचतुरनडुत्त्रिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । द्यौः : सुद्यौः । पन्थाः सुपन्थाः[1] । मन्थाः परममन्थाः । पुमान् । परमपुमान् । गौः । सुगौः । सखा । सखायौ । सखायः । सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । परमसखा । परमसखायौ । परमसखायः । चत्वारः । परमचत्वारः । अनड्वाहः । परमानड्वाहः । त्रयाणां परमत्रयाणाम् ।

त्यदादिविधिभस्त्रादिस्त्रीग्रहणं च ।

प्रयोजनम् । सः । अतिसः । भस्त्रका । भस्त्रिका । बहुभस्त्रका । बहुभस्त्रिका । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । स्त्रीग्रहणं च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

वर्णग्रहणं च सर्वत्र ।

प्रयोजनम् । क्व । सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे 'अतो दीर्घो यञि सुपि च' । इहैव स्यात् आभ्याम् । घटाभ्याम् इत्यत्र न स्यात् ।

दिव् पथिन् मथिन् पुंस् गो सखि चतुर् अनडुह् और त्रि शब्दों में अङ्गाधिकारीय कार्य करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । द्यौः सुद्यौः आदि सब उदाहरण स्पष्ट हैं । सब में तदन्तविधि होकर यथाविहित कार्य हो रहे हैं । सुपन्थाः सुगौः सुसखा यहां तत्पुरुष समास में न पूजनात् से समासान्त निषेध हो जाता है । परमसखा परमसखायौ में बहुव्रीहि समास है । तत्पुरुष में तो समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

त्यदादि भस्त्रादि और स्त्री शब्द के अङ्गाधिकारीय कार्य में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । सः । अतिसः । शोभनः सः । यहां पूजार्थक अति शब्द में तद् शब्द उपसर्जन नहीं है तो तदन्त ग्रहण से सर्वनामसंज्ञा के कार्य हो जाते हैं । बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका में भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ् पूर्वाणामपि से इत्व-विकल्प हो जाता है । तदन्तविधिका यह लाभ भी है कि नञ्पूर्वाणाम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः में स्त्रियाः से इयङ् हो जाता है ।

वर्णग्रहण में तदन्त का ग्रहण सब जगह प्रयोजन है । सब जगह कहां ?

---

१. न पूजनात् से यहाँ समासान्त का निषेध है । पूजार्थ में यहाँ सु अति का ही ग्रहण इष्ट है ।

प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः ।

प्रत्ययग्रहणं च अपञ्चम्याः प्रयोजनम् । यञिञोः फग् भवति । गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । परमगार्ग्यायणः । परमवात्स्यायनः । दाक्षायणः । परमदाक्षायणः ।

अपञ्चम्या इति किमर्थम् ?

अङ्गाधिकार में और अङ्गाधिकार से बाहर भी। अङ्गाधिकार से बाहर के उदाहरण पहले अत इञ् दाक्षिः प्लाक्षिः ये दिये जा चुके हैं। अङ्गाधिकार का उदाहरण अतो दीर्घो यञि, सुपि च यह है। सुपि च में अतो दीर्घो यञि से अतः की अनुवृत्ति आती है। अतः में अकार यह वर्णग्रहण है। उसमें तदन्तविधि यदि न हो तो आभ्याम् (इदम्, इद्, अ+भ्याम्) यहां इदम् के अकार रूप वर्ण में ही सुपि च से दीर्घ होता। घटाभ्याम् यहां अकारान्त घट शब्द में न होता तदन्तग्रहण से हो जाता है।

जहां पञ्चम्यन्त से परे प्रत्यय को कार्य विधान किया गया है उसे छोड़ कर अन्यत्र सर्वत्र प्रत्ययग्रहण में भी तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है।[1] यञिञोश्च से युवापत्य में फक् होता है वह जैसे गार्ग्यायणः वात्स्यायनः यहां गार्ग्य वात्स्य शब्दों से होता है वैसे परमगार्ग्यायणः परमवात्स्यायनः यहां गार्ग्य वात्स्य शब्दान्त प्रातिपदिक से भी हो जाता है।[2]

पञ्चम्यन्त से परे कार्य विधानार्थ गृहीत प्रत्यय में तदन्तग्रहण का निषेध क्यों किया गया है।

---

१. एतन्मूलक ही प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति। यह परिभाषा है। जो कि यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् सूत्र का परिशेष है। उसी का भावानुवाद है। नवीन लोग प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः ऐसा भी पढ़ते हैं।

इस वार्तिक का यह अर्थ नहीं कि जहाँ पञ्चम्यन्त से प्रत्यय का विधान है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती, किन्तु यह कि जहाँ पञ्चम्यन्त से परे कार्यान्तर विधान के लिये प्रत्यय का ग्रहण (अनुवाद) है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती।

२. प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा के नियम से परमगार्ग्य में भी यञन्त तो गार्ग्य ही है। परमगार्ग्य नहीं

दृषत्तीर्णा। परिषत्तीर्णा।

अल्विानर्थकेन।

अल्विानर्थकेन तदन्तविधिर्भवति नान्येनानर्थकेनेति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्? हन्ग्रहणे प्लीहन् ग्रहणं मा भूत्। उद्ग्रहणे गर्मुद्-ग्रहणम्। स्त्रीग्रहणे शस्त्रीग्रहणम्। संग्रहणे पायसं करोतीति मा भूत्।

दृषत् तीर्णा, परिषत् तीर्णा यहां निष्ठा नत्व करने में केवल क्त प्रत्यय के तकार को ही नत्व होवे। क्तप्रत्ययान्त तीर्ण शब्द के तकार को नत्व न होवे इस लिये अपञ्चम्या: यह निषेध किया गया है। रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः सूत्र में रदाभ्याम् इस पञ्चमी से परे नत्वविधानार्थ निष्ठा प्रत्यय को ग्रहण किया है उसमें तदन्तविधि न होगी तो केवल तृ धातु से विहित निष्ठा प्रत्यय क्त को ही नत्व होगा। निष्ठाप्रत्ययान्त तीर्ण के तकार को नत्व न होगा।

अनर्थक से यदि तदन्तविधि हो तो अल् रूप अनर्थक वर्ण से ही हो। अन्य अनर्थक से न हो यह कहना चाहिये। क्या प्रयोजन है? हन् के ग्रहण

है इस लिये फक् प्रत्यय यञन्त गार्ग्य से ही होगा परम शब्द छूट जायगा। यदि परमगार्ग्य को यञन्त मानें जो कि सर्वथा असंभव है तो उससे फक् करने पर परमशब्द को आदिवृद्धि होकर पारमगार्ग्यायणः ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। इस लिये भाष्यकार का यहां यही तात्पर्य समझना चाहिये कि यञन्त से फक् करने में तदन्तविधि द्वारा यञन्तान्त प्रातिपदिक भी रख सकते हैं। किन्तु फक् प्रत्यय तो तदादिनियम से यञन्त से ही होगा। इसी प्रकार दाक्षायणः परम-दाक्षायणः ये इञन्त के तथा इञन्तान्त से फक् करके बने उदाहरण हैं। प्रत्यय-ग्रहणे यस्मात्० इस परिभाषा से लभ्य तदन्तग्रहण का येन विधिस्तदन्तस्य से लभ्य तदन्त ग्रहण से फलभेद नहीं होना चाहिये। प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करने वाली दो परिभाषायें अन्यत्र प्रसिद्ध हैं। संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति। और उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति। इन में संज्ञाविधौ० यह परिभाषा सुप्तिङन्तं पदम् में अन्तग्रहण से ज्ञापित होती है। और उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय० यह हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु में किये लेख ग्रहण से ज्ञापित होती है। अन्यथा लेख शब्द के अण्प्रत्ययान्त होने से अण् ग्रहण से ही सिद्ध है तो लेखग्रहण व्यर्थ है। स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जने न यह परिभाषा भी प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करती है। इस प्रकार उक्त तीनों परिभाषाओं के विषय को छोड़ कर सर्वत्र प्रत्ययग्रहण में प्रत्ययग्रहणपरिभाषा प्रवृत्त होती है।

किमर्थमिदमुच्यते। न पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेत्येव सिद्धम्। न चेदं तत्, नापि तदुत्तरपदम्।

तत्र वक्तव्यं भवति।

किं पुनरत्र ज्यायः?

तदन्तविधिरेव ज्यायान्। इदमपि सिद्धं भवति। परमातिमहान्। एतद्धि नैव तत्। नापि तदुत्तरपदम्।

में प्लीहन् में स्थित अनर्थक हन् का ग्रहण न होगा। क्योंकि यह अल्रूप नहीं है अल्समुदाय है। उससे इन् हन् पूषार्यम्णां शौ, सौ च यह हन् का दीर्घ-नियम प्लीहन् में न लगेगा तो प्लीहानौ प्लीहानः यहां उपधा दीर्घ हो जाता है। उद् के ग्रहण में गर्मुद् के अनर्थक उद् का ग्रहण न होगा। क्योंकि यह अनर्थक अल्रूप नहीं है अल्समुदाय है। उससे गर्मुत् स्थाता यहां उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य से पूर्वसवर्ण नहीं होता है। स्त्री के ग्रहण में शस्त्री के अनर्थक स्त्री शब्द का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि यह अनर्थक अल् रूप नहीं है। उससे शस्त्र्यौ शस्त्र्यः यहां स्त्रियाः से इयङ् नहीं होता है। सम् के ग्रहण में पायसम् करोति के अनर्थक सम् का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि यह अनर्थक अल्रूप नहीं है। उससे पायसं करोति यहां सम् से परे कृ को सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे से सुट् नहीं होता है।

अलैवानर्थकेन यह नियमार्थ वचन विशेषरूप से किस लिये बनाया है? क्या पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च से इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता? क्योंकि प्लीहन् इत्यादि में हन् इत्यादि न तो हन् आदि रूप ही हैं और न हन् आदि उत्तरपद वाले हैं। प्लीहन् में समास न होने से हन् उत्तरपद में नहीं है। इसी प्रकार गर्मुद्, शस्त्री, पायसम् में उद्, स्त्री और सम् उत्तरपद नहीं हैं।

अलैवानर्थकेन इस नियम वचन के बना देने पर पदाङ्गाधिकारे तस्य० यह वचन नहीं बनाना पड़ेगा। इसी से सर्वत्र काम चल जायगा।

इन दोनों वचनों में कौन अधिक उपयुक्त है।

अलैवानर्थकेन इस नियम वचन द्वारा विधि करना ही अधिक उपयुक्त है। इससे परमातिमहान् भी सिद्ध हो जाता है अतिशयितो महान् अतिमहान्। परमश्चासौ अतिमहान् परमातिमहान्। यहां न तो केवल महत् शब्द है। और

अनिनस्मन्ग्रहणानि च ।

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति । अन्—राज्ञेत्यर्थवता, साम्नेत्यनर्थकेन । इन्—दण्डीत्यर्थवता, वाग्ग्मीत्यनर्थकेन । अस्—सुपयाः इत्यर्थवता, सुस्रोताः इत्यनर्थकेन । मन्—सुशर्मा इत्यर्थवता, सुप्रथिमा इत्यनर्थकेन ।

यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ।

यस्मिन् विधिस्तदादाविति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङाविति इहैव स्यात् श्रियौ । भ्रुवौ । श्रियो भ्रुवः इत्यत्र न स्यात् ।

न ही महत् शब्द उत्तरपद में है । उत्तरपद में तो अतिमहत् शब्द है । इस लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च० से यह गृहीत नहीं होगा तो सान्तमहतः संयोगस्य से दीर्घ नहीं सिद्ध होता । अलैवानर्थकेन से तदन्तविधि होकर दीर्घ सिद्ध हो जाता है ।

अन् इन् अस् मन् ये अर्थवान् या अनर्थक कैसे भी हों तदन्तविधि में ले लिये जाते हैं । अन् जैसे—राज्ञा । यहां राजन् में अन् शब्द कनिन् प्रत्यय रूप होने से अर्थवान् है । साम्ना यहां सामन् में मन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को अन्नन्त मान कर अल्लोपोऽनः से अकारलोप हो जाता है । इन् जैसे—दण्डी । यहां दण्डिन् में इन् प्रत्यय अर्थवान् है । वाग्ग्मी यहां वाग्ग्मिन् में ग्मिन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को इन्नन्त मान कर सौ च से दीर्घ हो जाता है । अस् जैसे—सुपयाः । यहां असुन् प्रत्यय का अस् अर्थवान् है । सुस्रोताः यहां तुट् आगम सहित अनर्थक है । दोनों को असन्त मान कर अत्वसन्तस्य चाधातोः से दीर्घ हो जाता है । मन् जैसे—सुशर्मा । यहां मनिन् प्रत्यय का मन् अर्थवान् है । सुप्रथिमा यहां इमनिच् का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को नान्त मान कर सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से उपधादीर्घ हो जाता है ।

वर्ण सम्बन्धी सप्तम्यन्त विशेषण परे रहते यदि कोई विधि की जावे तो उस विशेषण में तदादिविधि होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? अचि श्नु धातु० में अचि यह अच् वर्ण सम्बन्धी सप्तमी विभक्ति प्रत्यय का विशेषण है उसमें तदादिविधि होकर अजादि प्रत्यय परे रहते यह अर्थ हो जायगा । नहीं तो अच् परे रहते यही अर्थ रहता । उससे श्रियौ भ्रुवौ यहां

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७३॥

वृद्धिग्रहणं किमर्थम् ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने दात्ताः राक्षिताः अत्रापि प्रसज्येत। वृद्धिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति।

अथ यस्यग्रहणं किमर्थम् ?

यस्येति व्यपदेशाय।

अथाज्ग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने इहैव स्यात्—ऐतिकायनीयाः। औपगवीयाः। इह न स्याद्—गार्गीयाः वात्सीयाः इति। अज्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति।

औ रूप अच् पर रहते ही इयङ् उवङ् होते। किन्तु श्रियः भ्रुवः यहां जस् परे रहते न होते। क्योंकि जस् अजादि तो है पर अच् नहीं है। तदादिविधि हो जाने से अजादि जस् परे रहते भी इयङ् उवङ् हो जाते हैं।

वृद्धिग्रहण किस लिये किया है ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर दात्ताः राक्षिताः (दत्तस्य रक्षितस्य च छात्राः। दत्त रक्षित-अण्) यहां भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त होती है। वृद्धसंज्ञा होकर वृद्धाच्छः से अण् का बाधक छ प्रत्यय प्राप्त होगा। वृद्धिग्रहण करने पर दोष नहीं होगा क्योंकि दत्त रक्षित शब्दों में आदि अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं है।

यस्य ग्रहण किस लिये किया है ?

यस्य ग्रहण संज्ञी के व्यपदेश एवं बोध के लिये किया है। जैसे—स्वं रूपं शब्दस्य, अणुदित्सवर्णस्य, तपरस्तत्कालस्य, येन विधिस्तदन्तस्य इत्यादि में षष्ठी विभक्ति से संज्ञी का निर्देश है ऐसे ही यहां वृद्धसंज्ञा में भी यस्य यह षष्ठी विभक्ति संज्ञी के निर्देश के लिये है। उससे सूत्र का अर्थ होगा—जिस शब्दसमुदाय के अचों में आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द समुदाय वृद्धसंज्ञक होता है।

अच् ग्रहण किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर ऐतिकायनीयाः औपगवीयाः

अथादिग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने सभासंनयने भवः साभासंनयनः इत्यत्रापि प्रसज्येत। आदिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति।

वृद्धसंज्ञायामजसंनिवेशादनादित्वम्।

वृद्धसंज्ञायामजसंनिवेशाद् आदिरित्येतन्नोपपद्यते। नह्यचां संनिवेशोऽस्ति।

ननु चैवं विज्ञायते अजेवादिरिति।

(ऐतिकायनस्य औपगवस्य छात्राः। ऐतिकायन, औपगव-छ) यहां वृद्धसंज्ञा हो सकेगी। गार्गीयाः वात्सीयाः (गार्ग्यस्य वात्स्यस्य छात्राः) यहां न हो सकेगी। क्योंकि अच् ग्रहण के अभाव में सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय का आदि अक्षर वृद्धि संज्ञक है वह समुदाय वृद्ध संज्ञक होता है। उससे ऐतिकायन औपगव के आदि में ऐ औ ये वृद्धिसंज्ञक अक्षर हैं इस लिये यहां तो वृद्धसंज्ञा हो जायगी किन्तु गार्ग्य वात्स्य के आदि में गकार वकार हैं वह वृद्धिसंज्ञक नहीं हैं इस लिये वहां वृद्धसंज्ञा न हो सकेगी। अच् ग्रहण करने पर दोष नहीं होगा। क्योंकि समुदाय में विद्यमान अचों के मध्य में आदि अच् लिया जायगा तो गार्ग्य वात्स्य समुदाय में विद्यमान अचों में आकार के आदि अच् होने से वृद्धसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

आदिग्रहण किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर सभासंनयने भवः साभासंनयनः यहां सभासंनयन की भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त होगी। क्योंकि इस समुदाय में विद्यमान अचों में भी शब्द का आकार वृद्धिसंज्ञक है। आदिग्रहण करने पर तो दोष नहीं होता। सभासंनयन में भ शब्द का आकार वृद्धिसंज्ञक होता हुआ भी अच् समुदाय के आदि में नहीं है।

वृद्धसंज्ञा में केवल अचों का ही समुदाय संनिविष्ट न होने से अचों के मध्य में आदि होना नहीं बनता। हल् रहित केवल अचों का क्रमवान् समुदाय तो कहीं (किसी प्रातिपदिक में) संनिविष्ट है नहीं। उस अवस्था में आदि अच् का होना कैसे संभव है।

यदि ऐसा मान लें कि अज्हल्समुदाय में जहां आदि अच् वृद्धि है वहां वृद्धसंज्ञा होती है तो क्या हानि ?

नैवं शक्यम्। इहैव प्रसज्येत औपगवीयाः। इह न स्याद् गार्गीयाः।

एकान्तादित्वं तर्हि विज्ञायते।

एकान्तादित्वे च सर्वप्रसङ्गः।

इहापि प्रसज्येत—सभासंनयने भवः साभासंनयनः इति।

सिद्धमजाकृतिनिर्देशात्।

सिद्धमेतत्। कथम्। अच आकृतिर्निर्दिश्यते।

ऐसा भी नहीं हो सकता। वैसा मानने पर औपगवीयाः में ही वृद्धसंज्ञा हो सकेगी। गार्गीयाः में न हो सकेगी। क्योंकि औपगव और गार्ग्य इन दोनों अज्हल्समुदायों में औपगव में ही आदि अच् औकार वृद्धिसंज्ञक है। गार्गीयाः में नहीं है।

तो फिर अज्हल्समुदाय में एकान्त एवं अवयव बना हुआ आदि अच् वृद्धिसंज्ञक देख कर वृद्धसंज्ञा मान लें।

अज्हल्समुदाय के अवयवभूत आदि अच् को वृद्धिसंज्ञक देख कर यदि समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो उन सभी समुदायों की वृद्धसंज्ञा प्राप्त होगी जिनमें कहीं भी वृद्धिसंज्ञक आदि अच् अवयव बना हुआ है। उस अवस्था में सभासंनयन शब्द की भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त हो जायगी। क्योंकि सभासंनयन इस अज्हल्समुदाय में भी वृद्धिसंज्ञक भा का आकार संनयन का आदि अवयव बना हुआ है।

अच् की आकृति का निर्देश मान कर उक्त दोष न होगा। यहां हम अच् व्यक्ति न लेकर सम्पूर्ण अच् जाति लेंगे। जिस अज्हलसमुदाय में अच् जाति की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक होगा उस समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो सभासनयन की वृद्धसंज्ञा न होगी। क्योंकि सभासंनयन में भा का आकार सम्पूर्ण अचों के आदि में नहीं है।[1]

---

१. यद्यपि प्रातिपदिक अज्हल्रूप समुदाय है, तो भी अचाम् इस वचन से अजाकृति का ग्रहण होगा। हलाकृति विद्यमान होती हुई भी विवक्षित नहीं होगी तब सूत्रार्थ होगा—जिस शब्द का उसमें होने वाले सभी अचों की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द वृद्ध संज्ञक होता है।

एवमपि व्यञ्जनैर्व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वं यथान्यत्र ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो वक्तव्यो यथान्यत्रापि व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो भवति । क्वान्यत्र । स्वरे ।

वा नामधेयस्य ।

वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः । याज्ञदत्ताः ।

गोत्रोत्तरपदस्य च ।

गोत्रोत्तरपदस्य च वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । कम्बलचारायणीयाः । ओदनपाणिनीयाः । घृतरौढीयाः ।

फिर भी व्यञ्जनों की आकृति का व्यवधान होने से अन्त्य अच्—आकृति के आदि में न मिल सकेगा ।

व्यञ्जनों की आकृति अविद्यमान मानी जायगी । जैसे अन्यत्र भी व्यञ्जन अविद्यमानवत् माने जाते हैं । अन्यत्र कहां ? स्वरविषय में । इस प्रकार सर्वत्र इष्ट विषय में वृद्धसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

पौरुषेय नाम की वृद्धसंज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये । देवदत्तीयाः दैवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः याज्ञदत्ताः । यहां देवदत्त यज्ञदत्त इन पुरुषनामों की विकल्प से वृद्धसंज्ञा होकर वृद्धसंज्ञा पक्ष में शैषिक छ प्रत्यय हो जाता है । वृद्धसंज्ञा के अभाव में शैषिक अण् हो जाता है ।

गोत्र प्रत्यय है उत्तरपद में जिसके ऐसे शब्द की भी वृद्धसंज्ञा कहनी चाहिये । कम्बलचारायणीयाः । ओदनपाणिनीयाः । घृतरौढीयाः । यहां चरस्य गोत्रापत्यं चारायणः । पाणिनस्य गोत्रापत्यं युवापत्यं वा पाणिनिः । रूढस्य गोत्रापत्यं रौढिः । ये गोत्रप्रत्ययान्त हैं । कम्बलप्रियः चारायणः कम्बलचारायणः । ओदनप्रियः पाणिनिः ओदनपाणिनिः । घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः । तेषां छात्राः कम्बलचारायणीयाः इत्यादि । यहां उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास में वृद्धसंज्ञा होकर शैषिक छ प्रत्यय हो जाता है ।

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् ।

गोत्रान्ताद्वा असमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् । एतान्येवोदाहरणानि ।

किमविशेषेण ?

नेत्याह ।

जिह्वाकात्यहरितकात्यवर्जम् ।

जिह्वाकात्यं हरितकात्यं च वर्जयित्वा । जैह्वाकाताः । हारितकाताः ।

किं पुनरत्र ज्यायः ।

'गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवदि'त्येव ज्यायः । इदमपि सिद्धं भवति । पिङ्गलकाण्व्यस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वाः ।

अथवा गोत्रप्रत्ययान्त को असमस्त की तरह समास रहित की तरह स्वतन्त्र मान कर उससे यथाविहित प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये । यही पूर्वोक्त कम्बलचारायणीयाः आदि उदाहरण हैं । कम्बलचारायण आदि में गोत्रप्रत्ययान्त चारायण आदि को असमस्तवत् मानने पर चारायण आदि स्वयमेव वृद्धिर्यस्याचामादि० से वृद्धसंज्ञक हो जायेंगे । अलग वृद्धसंज्ञा कहने की आवश्यकता न होगी ।

क्या सामान्य रूप से सभी गोत्रप्रत्ययान्तों को असमस्तवत् मान लेना चाहिये ।

नहीं । जिह्वाकात्य और हरितकात्य को छोड़ कर । कतस्य गोत्रापत्यं कात्यः । जिह्वाप्रधानः कात्यः जिह्वाकात्यः । हरितवर्णः कात्यः हरितकात्यः । तस्य छात्राः जैह्वाकाताः, हारितकाताः । यहां गोत्र प्रत्ययान्त कात्य शब्द को असमस्तवत् नहीं माना जायगा तो कात्य के वृद्ध न होने से वृद्धाच्छः से शैषिक छ प्रत्यय नहीं हुआ । बल्कि कण्वादिभ्यो गोत्रे से शैषिक अण् प्रत्यय हो गया । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति से कात्य के यकार का लोप हो जाता है ।

गोत्रोत्तरपदस्य च और गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् इन दोनों वचनों में कौन अधिक उपयुक्त है ?

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् यही वचन अधिक उपयुक्त है । उससे पिङ्गलकाण्व्यस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वाः यह भी सिद्ध हो जाता है । कण्वस्य गोत्रापत्यं

त्यदादीनि च ॥१।१।७४॥

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते उताहो न ।

किं चातः ।

यद्यनुवर्तते, इह च प्रसज्येत त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः । इह च न स्यात् त्वदीयो मदीय इति ।

अथ निवृत्तम्, एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणं कर्तव्यम् ।

एवं तर्ह्यनुवर्तते ।

कथं त्वात्पुत्रा मात्पुत्रा इति ?

काण्व्यः । पिङ्गलश्चासौ काण्व्यः पिङ्गलकाण्व्यः । तस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वाः । यहां गोत्र प्रत्ययान्त काण्व्य शब्द को असमस्तवत् मानने से काण्व्य शब्द स्वतन्त्र हो जाता है तो वृद्धाच्छः से प्राप्त छ को कण्वादिभ्यो गोत्रे से विहित अण् प्रत्यय बाध लेता है । यदि असमस्तवत् न मान करं गोत्रोत्तरपदस्य च से वृद्धसंज्ञा कर दें तो काण्व्य शब्द के स्वतन्त्र न होने से कण्वादिभ्यो गोत्रे से छ प्रत्यय की बाधा न होगी । तब वृद्धाच्छः से छ होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

पूर्वसूत्र से यहां यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति आती है या नहीं ?

इससे क्या ?

यदि अनुवृत्ति आती है तो सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय के अचों के मध्य में त्यदादि शब्द आदि में हों उस समुदाय की वृद्धसंज्ञा होती है । उससे त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः यहां त्वत्पुत्र इस समुदाय के आदि में त्यदादि होने से वृद्धसंज्ञा हो जायगी तो वृद्धाच्छः से अण् को बाध कर शैषिक छ प्रत्यय प्राप्त होगा । और त्वदीयः मदीयः (तव मम इदम्) यहां त्यदादि के किसी समुदाय के आदि में न होने से वृद्धसंज्ञा न होगी तो छ प्रत्यय न हो सकेगा । यदि यस्याचामादि ग्रहण की अनुवृत्ति यहां नहीं आती तो आगे आने वाले एङ् प्राचां देशे सूत्र में यस्याचामादि ग्रहण करना होगा ।

यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति यहां आती है ।

त्वात्पुत्राः मात्पुत्राः कैसे बनेंगे ?

सम्बन्धमनुवर्तिष्यते। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्। त्यदादीनि च वृद्धसंज्ञानि भवन्ति। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्। एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते। वृद्धिग्रहणं निवृत्तम्। तद्यथा कश्चित् कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्क्रान्तकान्तारो भवति तदा सार्थं जहाति।

एङ् प्राचां देशे ॥१।१।७५॥

एङ् प्राचां देशे शैषिकेष्विति वक्तव्यम्।

सैपुरिकी सैपुरिका स्कौनगरिकी स्कौनगरिकेति।

सम्बन्ध का अनुवर्तन करेंगे। वृद्धिर्यस्याचा० यह पहला सूत्र है। उसके बाद त्यदादीनि च यह सूत्र है। इसमें पूर्व सूत्र की सम्पूर्ण अनुवृत्ति आने पर भी केवल वृद्धम् इतने अंश का ही सम्बन्ध करेंगे। अन्य अंश का सम्बन्ध उसी के साथ रहेगा। तो इस सूत्र का अर्थ होगा—त्यदादि शब्दों की वृद्ध संज्ञा होती है। आगे एङ् प्राचां देशे यह सूत्र है। उसमें पूर्व सूत्र के यस्याचामादिग्रहण का ही सम्बन्ध होगा। वृद्धिग्रहण की निवृत्ति हो जायगी तो अर्थ होगा—जिस समुदाय के आदि में एङ् है वह समुदाय प्राग्देश के अभिधान में वृद्धसंज्ञक होता है। जैसे कोई मनुष्य भयंकर जंगल आ जाने पर साथी को सहारे के लिये ले लेता है। वह जब जंगल से निकल जाता है तब आवश्यकता न होने से साथी को छोड़ देता है। इसी प्रकार यहां भी आवश्यकतानुसार सम्बन्ध का अनुवर्तन होगा।

एङ् प्राचां देशे विधीयमान वृद्धसंज्ञा केवल शैषिक प्रत्यय करने में ही कहनी चाहिये। जिससे अपत्य विकारादि अन्य अर्थों में वृद्धसंज्ञा न हो। सैपुरिकी सैपुरिका। स्कौनगरिकी। स्कौनगरिका। (सेपुरे स्कोनगरे च भवा) यहां सेपुर स्कोनगर ये प्राचीन वाहीकग्रामवाची शब्द हैं। उनकी शैषिक प्रत्यय विधान में वृद्धसंज्ञा हो जायगी तो वाहीकग्रामेभ्यश्च से भव अर्थ में ठञ् ञिठ् प्रत्यय हो जाते हैं।[1]

---

१. यहां प्रदीपकार श्री कैयट लिखते हैं कि कुणि नामक किसी प्राचीन व्याख्याकार ने इस सूत्र में प्राचाम् का अर्थ प्राचीन आचार्यों के मत में ऐसा किया है। अन्य व्याख्याकारों ने प्राचाम् को देश का विशेषण मान कर प्राच्य

नवाह्निक महाभाष्य सम्पूर्ण हुआ।

देश के अभिधान में या प्राच्य देश के कथन में ऐसा अर्थ किया है। 'प्राचाम्' को आचार्य का विशेषण मानने पर तो चाहे प्राच्यग्राम हो या उदीच्य हो या दोनों से बहिर्भूत वाहीकग्राम हो सर्वत्र वृद्धसंज्ञा हो जायगी। क्रोडे भवः क्रौडः यहां उदीच्यग्राम में और देवदत्ते भवः दैवदत्तः यहां वाहीक ग्राम में प्राप्त वृद्धसंज्ञा व्यवस्थित-विभाषा से नहीं हुई। जिनके मत में देवदत्त यह प्राच्यग्राम है और जो प्राग् देशाभिधान में वृद्धसंज्ञा मानते हैं उनके मत में देवदत्त की वृद्धसंज्ञा होकर काश्यादिगण में पठित होने से छ को बाध कर काश्यादिभ्य-ष्ठञ् ञिठौ से ठञ् ञिठ् हो जायेंगे तो दैवदत्तिकी दैवदत्तिका ये रूप बनेंगे॥

छात्राणामुपकुर्वती भृशमियं हर्षं हृदस्यन्वती
व्याख्या बोधमभीप्सितं प्रदिशती पूर्वापरं युञ्जती।
भाष्यार्थं च विवृण्वती सुविशदं प्रश्नानभिव्यञ्जती
राराज्यात्सततं विमत्सरबुधां स्वान्तं परं प्रीणती॥

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु नवाह्निकस्य व्याकरणमहाभाष्यस्य सविवरणो हिन्द्यनुवादः पूर्तिमगात्।

शुभं भूयादध्यापकानामध्यायकानां च॥

भगवत्पतञ्जलि-विरचित

व्याकरण-महाभाष्य

(प्रथम नवाह्निक)

त्रिमुनि व्याकरण में पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य का उच्चैस्तम स्थान है। पाणिनि सूत्रों पर लिखे गये उक्त, अनुक्त, दुरुक्त रूप अर्थों का चिन्तन करने वाले वार्तिकों का यह सर्वप्रथम उपलभ्यमान विमर्शक ग्रन्थ है। सभी उपयुज्यमान न्याय बीजों का यह निधान है। सूत्रार्थ-व्याख्यान में उपकारक परिभाषाओं का स्वरुप तथा उनकी प्रवृत्ति का विषय-विवरण यहीं मिलता है। सूत्र-पद-कृत्य सूत्रन्यास के लाघव-गौरव पर गम्भीर चिन्तन भी यहीं मिलता है। लौकिक दृष्टान्तों द्वारा शास्त्रीय अर्थ का समर्थन भी इसका अपूर्व लक्षण है। व्याकरण सिद्धान्तों का इदंप्रथम निरुपण भी प्रसन्न शब्दावली में यहीं हुआ है। सूत्रों व वार्तिकों से अव्युत्पाद्य पदों का साधुत्व भी इष्टिरूप वचनों द्वारा यहीं किया गया है। समस्त [illegible] व्याकरण का एकमात्र आधार भी यही भाष्य है।

ऐसे गम्भीराशय, बहुविषयावगाही इस भाष्य को हिन्दी भाषा में विशद [illegible]रने का यह प्रथम प्रयास है। यह अक्षरार्थानुवादमात्र नहीं है। यह भाष्यार्थ का सप्रपञ्च विवरण है। प्रतिपत्तिसौकर्य के लिए प्रत्येक आह्निक के प्रारम्भ में उसके प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार दिया गया है। परिभाषाओं की प्रवृत्ति व प्रयोजनादि दिखाते हुए उनका अर्थ भी दिया गया है जो उनकी प्रवृत्ति-विषय का अवधारण करने में अत्यन्तोपकारक है। कैयट तथा नागेश की दुरूह उक्तियों को करतलामलकवत् विस्पष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। स्थान-स्थान पर संशयोच्छेदी ग्रन्थग्रन्थिभेदी टिप्पणों से भाष्यार्थ अत्यन्त सुबोध बना दिया गया है जिससे जिन जिज्ञासु जनों को गुरुमुख से भाष्य-श्रवण करने का अवसर प्राप्त नहीं वे भी इसे अनायास सुगृहीत कर सकें।

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना बंगलौर मद्रास

मूल्य : रु० १७० (सजिल्द)
१२० (अजिल्द)